ए० बी० कीथ

संस्कृत साहित्य का इतिहास

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली वाराणसी पटना

संस्कृत साहित्य का इतिहास

मूल लेखक

A. BERRIEDALE KEITH, D. C. L., D. LITT.

OF THE INNER TEMPLE, BARRISTER-AT-LAW AND ADVOCATE
REGIUS PROFESSOR OF SANSKRIT AND COMPARATIVE
PHILOLOGY AND LECTURER ON THE CONSTITUTION
OF THE BRITISH EMPIRE IN THE
UNIVERSITY OF EDINBURGH

भाषान्तरकार

डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री

एम० ए०, डी० फ़िल० (ऑक्सन)

पूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली पटना वाराणसी

२५)

प्रस्तावना

प्रोफ़ेसर कीथ के प्रसिद्ध ग्रन्थ A History of Sanskrit Literature के हिन्दी भाषान्तर को हिन्दी जगत् के संमुख प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता है।

स्व० प्रो० A. Berriedale Keith अपनी बहुमुखी अद्‌भुत प्रतिभा और गम्भीर विद्वत्ता के लिए संस्कृत जगत् में प्रसिद्ध हैं। अनेक प्राचीन वैदिक ग्रन्थों के प्रामाणिक सम्पादन और विद्वत्ता-पूर्ण अनुवाद, अनेक महत्त्व-पूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना और अनेकानेक अनुसन्धानात्मक निबन्धों और लेखों के रूप में उनका उत्कृष्ट साहित्यिक कार्य किससे छिपा है ? भारतीय अनुसन्धान के अनेक क्षेत्रों में उनकी उपेक्षा असम्भव है। उनके विचारों से कोई सहमत हो या न हो, उनकी प्रगाढ विद्वत्ता और विचार की गम्भीरता को सभी स्वीकार करते हैं।

प्रकृत ग्रन्थ उनकी उत्कृष्ट कृतियों में से एक है। उनकी विषय प्रतिपादन की प्रौढ शैली, व्यापक दृष्टि और विद्वत्ता-पूर्ण आलोचना-पद्धति का यह एक निदर्शन है।

उपरि-निर्दिष्ट कारणों से संस्कृत के छात्र और विद्वान्—दोनों की दृष्टि से इस भाषान्तर की उपयोगिता और आवश्यकता के विषय में दो मत नहीं हो सकते।

एक सुदूरस्थ विदेशी भाषा में लिखित उक्त कोटि के ग्रन्थ के भाषान्तर की कठिनाइयाँ स्पष्ट हैं। तब भी इस भाषान्तर में मूलग्रन्थ के अभिप्राय को सर्वत्र यथासंभव सुबोध और स्पष्ट करने का पूरा यत्न किया गया है।

भाषान्तर के कार्य में मेरी पुत्री श्रीमती इन्दु रस्तोगी, M. A., तथा मेरे विद्वान् जामाता श्री रमेशचन्द्र रस्तोगी, B. A. (Hons.), M. A., साहित्याचार्य (अब P. C. S. Deputy Collector, U. P.) से जो अत्यधिक सहायता मुझे प्राप्त हुई है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। अनुवाद का बहुत् बड़ा भाग वास्तव में उन्हीं के द्वारा संपादित हुआ है।

पाठक महोदय अनुभव करेंगे कि पुस्तक का मुद्रण साधारणतः संतोष-जनक हुआ है। फिर भी संभवतः उसमें कुछ त्रुटियाँ मिलेंगी। इसका मुख्य कारण यही है कि पुस्तक का मुद्रण बनारस से सुदूर देहली में हुआ है और इसीलिए प्रूफ़-संशोधन का कार्य यथावश्यक सावधानता के साथ न हो सका है। अगले संस्करण में, आशा है, उन त्रुटियों का परिमार्जन कर दिया जायगा।

प्राच्य अनुसंधान
संस्थान,
वाराणसी छावनी
३०।११।१९५९

मङ्गलदेवशास्त्री

६४टि२

टीका के अनुसार वह किसी भी जाति का हो सकता है।

भ्राता

ALAN DAVIDSON KEITH

(१८८५ - १९२८)

की

स्मृति में

प्राक्कथन

१९२४ में प्रकाशित मेरे *Sanskrit Drama* के साथ यह रचना, वैदिक साहित्य, रामायण-महाभारत और पुराणों को छोड़ कर, लौकिक संस्कृत साहित्य के क्षेत्र को व्याप्त करती है। अपने प्रतिपाद्य विषय को एक ही जिल्द की सीमाओं के अन्दर लाने की दृष्टि से यह आवश्यक हो गया कि शास्त्रीय साहित्य का निरूपण संक्षेप से ही किया जाय, और उसके प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में ऐसे ऊहापोह को बचाया जाय जिसका सम्बन्ध साहित्यिक इतिहास-लेखक की अपेक्षा कहीं अधिक व्याकरण, दर्शन, विधि (धर्मशास्त्र), आयुर्वेद, सिद्धान्त-ज्योतिष, अथवा गणित-शास्त्र के इतिहास -लेखक से है। विषय-निरूपण की इस प्रक्रिया के कारण ही, संस्कृत साहित्य पर इंग्लिश भाषा में लिखे गये किसी भी ग्रन्थ की दृष्टि से प्रथम बार, इस ग्रन्थ में काव्य के साहित्यिक गुणों पर समुचित ध्यान का दिया जाना सम्भव हो सका है। यह ठीक है कि Sir William Jones और H. T. Colebrooke जैसे अंग्रेज़ों द्वारा ही संस्कृत कविता का सर्व-प्रथम ज्ञान हमको प्राप्त हुआ था, तो भी किसी अंग्रेज़ कवि ने उन (संस्कृत) ग्रन्थों के गुणों की महत्ता का Goethe का जैसा अद्भुत रसास्वादन नहीं किया जो उनको केवल अनुवादों के विकृत कर देने वाले द्वार से ही ज्ञात हुए थे। साथ ही, इंग्लैण्ड में विद्वानों का ध्यान तुलनात्मक भाषाविज्ञान, धर्म (religion) का इतिहास, अथवा भारत-यूरोपीय प्राचीनेतिहास के स्रोत के रूप में वैदिक साहित्य में, संस्कृत दर्शन के रहस्य-वाद और अद्वैतवाद में, और अपने पाश्चात्त्य सादृश्यों के साथ सम्बन्ध की दृष्टि से पशुकथाओं और अद्भुत-कथाओं में ही सीमित रहा है।

संस्कृत काव्य की उपेक्षा निस्संदेह स्वाभाविक है। भारत के महान् कवियों ने विशेषज्ञ श्रोताओं के लिए अपनी रचनाएँ की थीं; वे अपने समय की विद्या के अधिकारी विद्वान् थे, और भाषा के व्यवहार में चिरकाल से दक्ष थे, और वे, प्रभाव की सरलता द्वारा नहीं, किन्तु अर्थ की सूक्ष्मता द्वारा प्रसन्न करना चाहते हैं। असाधारण रूप से एक सुन्दर भाषा पर उनको अधिकार था, और वे जटिल और अत्यन्त प्रभावशाली छन्दों का यथेच्छ प्रयोग कर सकते थे। इन परिस्थितियों में यह अनिवार्य था कि उनकी रचनाएँ कठिन हों, परन्तु इस आधार पर जो उनकी उपेक्षा करते हैं उनके सम्बन्ध में औचित्य के साथ कहा जा सकता है *ardua dum metuunt amittunt vera viai* (=कठिनाइयों को पाकर मनुष्य

सच्चे मार्ग को खो बैठता है)। कालिदास-प्रमुख काव्य के महान् रचयिताओं में ही जीवन और प्रकृति के प्रति भावना का गाम्भीर्य पाया जाता है, जिसकी तुलना उन्हीं की शब्द और लय की पूर्णता से की जा सकती है। काव्य के साहित्य में संसार की कुछ उत्कृष्ट कविता सम्मिलित है, तो भी यह कभी पश्चिम में विस्तृत लोकप्रियता पाने की आशा नहीं कर सकता, क्योंकि मौलिक रूप से इसको भाषान्तरित नहीं किया जा सकता है; Ruckert जैसे जर्मन कवि, निश्चय रूप से, संस्कृत मूलग्रन्थों पर अपनी उत्कृष्ट रचना को आधृत कर सकते हैं, परन्तु तज्जनित प्रभाव पूर्णतः भिन्न साधनों से उत्पन्न किये जाते हैं, जबकि पद्यानुवादों की दिशा में अंग्रेज़ी भाषा के प्रयत्न आवश्यक रूप से क्षन्तव्य मध्यम कोटि से नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि उनकी फैली हुई मन्दोष्णता (भावशून्यता) में मूलग्रन्थों की शैलीगत समुज्ज्वल संक्षिप्तता, छन्द का सौन्दर्य और अर्थ के साथ ध्वनि की घनिष्ठ अनुरूपता का कष्ट-प्रद रूप में वैसादृश्य दीखता है। इसीलिए, अपने *Sanskrit Drama* के समान, मैंने कवियों के गुणों को संस्कृत उद्धरणों द्वारा ही प्रदर्शित किया है, साथ में केवल शाब्दिक अंग्रेज़ी अनुवाद दे दिया गया है और उसमें उद्धरणों के पाठान्तरों या अर्थान्तरों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। स्थान के बचाने की दृष्टि से मुख्य रूप से मैंने केवल १२०० ई० से पहले के ग्रन्थों का ही विचार किया है, यद्यपि विशेषतः शास्त्रीय वाङमय के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत परवर्ती काल की महत्त्वयुक्त पुस्तकों का भी संक्षेप में उल्लेख कर दिया गया है।

प्रेस के लिए पूर्ण करके यह पुस्तक जनवरी १९२६ में छपने के लिए भेज दी गई थी, परन्तु **यूनिवर्सिटी प्रेस** में कार्य के आधिक्य से इसकी छपाई १९२७ के ग्रीष्म-काल तक न हो सकी। उस समय छपाई में और अधिक देरी न हो इस दृष्टि से यह ठीक समझा गया कि १९२६ और १९२७ के ऐसे नवीन अनुसन्धानों और वादों का जिनका स्थायी महत्त्व हो सकता है इस प्राक्कथन में ही उल्लेख कर दिया जाय।

काव्य के प्रारम्भिक विकास पर मध्य-एशिया में कुमारलात की **कल्पनामण्डितिका** के प्राप्त खण्डित अंशों के प्रोफ़ेसर H. Lüders द्वारा सम्पादन[१] से अच्छा प्रकाश डाला गया है। जो ग्रन्थ अब तक हमें एक चीनी अनुवाद द्वारा अश्वघोष के **सूत्रालंकार** के रूप में ज्ञात था वास्तव में वह कुमारलात की **कल्पनामण्डितिका** ही है। ऐसा सुझाव दिया गया है कि उस ग्रन्थ का स्वरूप कुमारलात के ग्रन्थ के स्वरूप से बिल्कुल भिन्न था। हो सकता है कि वह सर्वास्तिवादियों की

१. *Bruchstücke der Kalpanāmaṇḍitikā des Kumāralāta*, Leipzig, 1926.

धर्मसंहिता (Canon) का, सम्भवतः गद्यात्मक अंशों के सहित, एक पद्यात्मक व्याख्यान रहा हो, और हो सकता है कि उसके खण्डित अंश अब भी उपलब्ध हों; इस सुझाव की पुष्टि इस बात से हो सकती है कि महायान-सिद्धान्तों के अपने व्याख्यान के लिए असङ्ग ने **महायानसूत्रालंकार** यही नाम पसन्द किया था। परन्तु उक्त सुझाव अभी तक केवल एक कल्पना ही है। और यह मत कि सुबन्धु का **बौद्ध-संगतिमिवालंकारभूषिताम्** यह प्रसिद्ध उल्लेख[1] बुद्धघोष के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ के लिए है और भी कम प्रामाणिक है। कुमारलात अश्वघोष के अपेक्षाकृत अल्प-वयस्क समकालीन हो सकते हैं, जो कनिष्क की मृत्यु के अनन्तर भी जीवित रहे; इस बात से **सूत्रालंकार** में आये हुए उन उल्लेखों को अश्वघोष के साथ लगाने की कठिनता का भी समाधान हो जाता है जिनकी संगति कनिष्क और उसके धर्मगुरु (अश्वघोष) के परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध के साथ आपाततः ठीक नहीं बैठती। **कल्पनामण्डितिका** के चीनी भाषान्तर का **सूत्रालंकार** यह नाम कैसे पड़ गया, इस समस्या का अभी तक समाधान नहीं हुआ है।

उक्त खण्डित अंशों से पद्यों से मिश्रित गद्यात्मक शैली के, जो अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत रूप में **जातकमाला** में पाई जाती है, विकास पर बहुत रोचक प्रकाश पड़ता है। उक्त रचना में, दस दृष्टान्तों के साथ, अस्सी आख्यान हैं। किसी प्रति-पाद्य सिद्धान्त के कथन से उनका प्रारम्भ होता है; तदनन्तर उस प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना एक उपयुक्त आख्यान द्वारा की जाती है। **जातकमाला** के साथ इसका यह वैसादृश्य है कि इसमें प्रत्येक कथा के अन्त में बँधे हुए ढंग से उस नैतिक शिक्षा के निष्कर्ष की योजना का अनुसरण नहीं किया गया है जिसका प्रतिपादन उस कथा से अभिप्रेत है। प्रयुक्त पद्य नियमतः आख्यान के पात्रों के भाषणों के भाग-रूप हैं; यहाँ धर्म-संहिता-सम्बन्धी ग्रन्थों की वह परम्परा विच्छिन्न हो जाती है जिसके अनुसार ऐसे पद्यों का प्रारम्भ **'भाषां भाषते'** इन शब्दों से होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कुमारलात, अथवा आर्यशूर जो **जातकमाला** में इस पद्धति का अनुसरण करते हैं, समस्त प्रयुक्त पद्यों के स्वयं रचयिता हैं; निस्संदेह वे (कुमारलात) प्रायेण प्रचलित नीतिवचनों को अपना लेते हैं या स्वानुरूप कर लेते हैं। आख्यानात्मक[2] अथवा वर्णनात्मक पद्य विरल हैं, और पढ़कर सुनाने वाले

---

१. आगे पृष्ठ ३६४। Lévi (*Sūtrālaṁkāra*, ii. 15 f.) **संगीतिम्** पढ़ते हैं, जो अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। उनके मत में असङ्ग के एक ग्रन्थ से यहाँ अभिप्राय है।

२. तु० आगे, पृ० २९०, ३०५, ३९२। आख्यानात्मक पद्यों के प्रयोग के शनैः शनैः विकास का साक्ष्य स्पष्ट है। **वेस्सन्तर जातक** से आर्यशूर की पूर्ववर्तिता के लिए दे० R. Fick, *Festgabe Jacobi*, pp. 145-59.

की दृष्टि से उन को 'वक्ष्यते हि' इन शब्दों से स्पष्टतया द्योतित कर दिया गया है। इसके विरुद्ध, आर्यशूर एक स्पष्ट प्रगति को दिखाते हैं; वे पद्यों की पूर्णसंख्या के पाँचवें भाग से कुछ अधिक ही संख्या तक वर्णनात्मक अथवा आख्यानात्मक पद्यों का प्रयोग करते हैं, किसी प्रकार के प्रारम्भिक शब्दों को छोड़ देते हैं, और गद्यात्मक आख्यान के सौन्दर्य-सम्पादन के लिए खुले रूप में पद्यों का बीच-बीच में प्रयोग करते हैं। दृष्टान्तों का रूप दूसरा है : उनमें एक गद्यात्मक दृष्टान्त के अनन्तर केवल गद्यात्मक अर्थ (अभिप्राय) दिया हुआ है। अश्वघोष के समान ही, उनकी भाषा शुद्ध संस्कृत है, जिसमें यत्र-तत्र त्रुटियाँ दीख पड़ती हैं। छन्दों की विशेष विविधता है, जिनमें युक्तियुक्त निश्चितता के साथ अब तक जिसका समय नियत किया जा सकता है ऐसे काव्य की प्राचीनतम आर्याएँ भी सम्मिलित हैं। श्लोक, उपजाति, वसन्ततिलक और शार्दूलविक्रीडित प्रयुक्त किये गये हैं। जिस बात का अत्यन्त महत्त्व है वह यह है कि वैयाकरणों की प्राकृत (मध्यम प्राकृत) में लिखे हुए गीतिकाव्य का प्रारम्भ प्राचीन शौरसेनी में लिखित दो प्राकृत आर्याओं से होता है। वे आर्याएँ उस प्रारम्भिक काल में ही लम्बे समासों के प्रति उस अनुराग को दिखलाती हैं जो गउडवहु में अत्यधिकता की सीमा तक ले जाया गया है।

कालिदास के सम्बन्ध में ऐसे प्रयत्न किये गये हैं[1] जिनमें उनको अश्वघोष से पहले रख कर शैली की उपेक्षा की गई है, और रघुवंश में उनके द्वारा दिये हुए भारत के चित्र के आधार पर उनको ५२५—७५ के समय में रखकर, जबकि कोई बड़ा साम्राज्य विद्यमान नहीं था, वत्सभट्टि द्वारा उनके ग्रन्थों के उपयोग पर ध्यान नहीं दिया गया है।[2] उनके निवास-स्थान को कश्मीर में नियत करने का और उसी देश के प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के, उसके अपने ईश्वरीय प्रेम की एकता की स्वीकृति के सिद्धान्त के साथ, छायांकन को उनकी कविता में ढूँढ़ने का प्रयत्न[3] और भी अधिक चातुर्यपूर्ण है। ऐसी स्थिति में कालिदास ध्वनि के सिद्धहस्त लेखक बन जाएँगे, जिस ध्वनि का काव्य के आत्मा के रूप में आगे चलकर कश्मीर में निश्चित रूप से विकास ध्वनिकार ने किया था, जो निस्संदेह आनन्दवर्धन नहीं थे। ऐसा सुझाव भी दिया गया है कि कालिदास ने पद्मपुराण का उपयोग किया था, परन्तु यह

१. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, *Allahabad Univ. Stud.*, ii. 80 ff.; K.G. Śankar, IHQ. i. 309 f. परन्तु इसके विरुद्ध, कालिदास के व्याकरण पर अश्वघोष के प्रभाव के संबन्ध में, तु० IHQ. ii. 660.

२. D. R. Bhandarkar, ABI. viii. 202-4.

३. Lachhmi Dhar Kalla, *Delhi University Publications*, no. 1.

ग्राह्य नहीं है । वाकाटकों के साथ उनके संभावित सम्बन्ध के विषय में अनुसंधान किया गया है, और क्षेमेन्द्र द्वारा किसी कुन्तेश्वरदौत्य को उनकी कृति बतलाने का भी उपयोग किया गया है, परन्तु यह सब कोरी स्थापना ही है।[1]

पशु-कथाओं और दूसरे साहित्य के देशान्तर-गमन-विषयक वाद-विवाद से कोई निर्णीत परिणाम नहीं प्राप्त हुआ है। ईजिप्ट और भारत के सम्बन्धों के विषय में *Oxyrhynchus Papyri*[2] में उपलब्ध साक्ष्य पर हाल में कुछ बल दिया गया है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक ऐसा विश्वास कर लेना कठिन है कि भारत में Isis की पूजा Maia के रूप में[3] होती थी, जैसा कि Isis के कीर्तन में पूर्ण अस्पष्टता के साथ कहा गया है।[4] साथ ही भारतीय महासमुद्र के पास के किसी देश के किनारे पर Charition के साहसिक कार्यों से सम्बद्ध प्रहसन में प्रयुक्त कुछ शब्दों के लिए कनारी भाषा से व्याख्यानों के पाने के Hultzsch के प्रयत्न[5] वैसे ही अग्राह्य हैं जैसे कि संस्कृत व्याख्यानों के पता लगाने के Sir G. Grierson के प्रयत्न। आपाततः ऐसी कल्पना हास्यास्पद प्रतीत होती है कि कोई भी ग्रीक प्रहसन-लेखक दूसरे देश की ऐसी बोलियों की पंक्तियों को अपने ग्रन्थ में स्थान देगा जिनको उसके श्रोता-गण बिलकुल ही न समझ सकेंगे।[6]

निश्चय ही यह सम्भावित है कि कहानियों के आदान के सम्बन्ध में किन्हीं निश्चित परिणामों की आशा नहीं की जा सकती। कुछ 'अभिप्रायों' (mot fs) के आर्येतर प्रारम्भों के सम्बन्ध में Sir Richard Temple के चातुर्य से युक्त सुझाव[7], जिनके साथ प्राचीन भारतीय विचार और भाषा पर आस्ट्रो-

---

१. दे० POCM. 1924, p. 6.

२. ii. no. 300 में एक स्त्री Indike सामने आती है।

३. xi. no. 1380. यहाँ माया से अभिप्राय है, यह संभावित नहीं ह।

४. iii. no. 413.

५. JRAS. 1904, pp. 399 ff.

६. Pischel के इस विचार की कि भाषाओं का संमिश्रण विशेषतया भारतीय ह अयुक्तता को Reich ने सिद्ध किया है, DLZ. 1915, p. 591. ईजिप्ट में भारत का ज्ञान था, परन्तु ऐसा मानने के लिए जरा सा भी आधार नहीं है कि कोई वहाँ कनारी या संस्कृत को इतनी अच्छी तरह जानता था कि उनमें से किसी को एक प्रहसन में प्रस्तुत कर सकता हो।

७. *Ocean of Story*, i. pp. xiv ff.

एशियाटिक (Austro-Asiatic) लोगों के प्रभाव के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर Przyluski[१] के सुझावों की तुलना की जा सकती है, निर्णायक नहीं हैं। यह भी स्पष्ट नहीं है कि, जैसा कि डाक्टर Gaster[२] के मत का झुकाव है, स्वर्ग-भ्रष्ट देवताओं, पृथ्वी पर लौटने वाली आत्माओं, अथवा हास्यास्पद चरम सीमाओं तक ले जाई गई तपस्या के उपाख्यानों का मूलस्रोत भारत है। परन्तु डाक्टर Gaster ठीक ही ऐसा मान लेने की असम्भाव्यता पर बल देते हैं कि भारत ने केवल दिया ही है और आदान नहीं किया है, और उनका आग्रह-पूर्वक कहना है कि जनता में प्रचलित अनेक अद्भुत कथाओं के साहित्यिक प्रारम्भ की सम्भावना के अनुसंधान की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, मुझे तो ऐसा लगता है कि साहित्य-गत विकास के मूल में सादृश्य को प्रायः स्वीकार करना चाहिए। उदाहरणार्थ, भारत के सम्बन्ध में कहानियों के अन्दर कहानियों के गर्भीकरण की प्रवृत्ति के विकास की आगे (पृ० ३७८) दी हुई पद्धति के साथ ग्रीक साहित्य के सम्बन्ध में Schissel von Fleschenberg[३] द्वारा प्रस्तुत पद्धति की तुलना इस सम्बन्ध में शिक्षाप्रद है: साधारण कथा Aristeides के *Milesiaka*, Antonius Diogenes के ग्रन्थ, Apuleius के *Golden Ass* और Petronius के गद्य-काव्य द्वारा प्रदर्शित अवस्थाओं में गुज़रती हुई परवर्ती गद्य-काव्य में परिपूर्णता को प्राप्त होती है। कथासरित्सागर में प्राप्त होने वाले अनेक 'अभिप्राय' (motifs) भी, जिनके लिए Tawney के उत्कृष्ट भाषान्तर के एक नये संस्करण के विद्वान् सम्पादक[४] द्वारा पाश्चात्य साहित्य से सादृश्य उपस्थापित किये गये हैं, इसी तरह संकेतित करते हैं कि सादृश्य के सिद्धान्त के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है।

वेतालपञ्चविंशतिका के शिवदास-कृत पाठ पर Hertel के अनुसंधानों द्वारा[५] बहुत प्रकाश डाला गया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि शिवदास ने एक

---

१. अन्य संभावनाओं (सुमेरियन संबन्ध) के लिए तु० Przyluski, BSL. xxvii. 218-29.

२. *Ocean of Story*, iii. pp. ix ff.

३. *Entwickelungsgeschichte des griechischen Romans im Altertum*, and *Die griechische Novelle*; cf. Reich, DLZ. 1915, pp. 543 f. Helen और सीता के उपाख्यानों के समानान्तर विकास के लिए दे० Printz, *Festgabe Jacobi*, pp. 103 ff.

४. N. M. Penzer, *Ocean of Story*, दस जिल्दें, 1924-8 **अभिप्रायों** पर विस्तृत टिप्पणियों के लिए प्रत्येक जिल्द की सूचियों में स्थल-निर्देशों को देखिए।

५. *Streitberg Festgabe*, pp. 135 ff. वे उनको १४८७ ई० से बहुत पूर्व नहीं रखते हैं।

पद्यात्मक पाठ का उपयोग किया था, जिसमें से कुछ अच्छे पद्य भी, आगे (पृ० ३४३) उद्धृत किये गये पद्यों के साथ, ले लिये गये थे; उनके गद्य में प्राप्त होने वाले अनेक पद्य-खण्डों का कारण उनकी कृति के स्रोत से ही समझा जा सकता है। ऐसे ही लक्षण मेघविजय का **पञ्चाख्यानोद्धार, शुक-सप्तति** का सरल-पाठ, **मदनरेखाकथा, कुसुमसारकथा, अघटकुमारकथा**[1], और **वेतालपञ्चविंशतिका** का वह पाठ जिसका आधार क्षेमेन्द्र का पद्यात्मक रूपान्तर है, जैसे परवर्ती काल के ग्रन्थों में विरल नहीं हैं। परन्तु इससे **वेतालपञ्चविंशतिका** का मूलरूप क्या था, इस प्रश्न का निर्णय नहीं होता; क्षेमेन्द्र और सोमदेव का उभय-साधारण स्रोत गद्य में अथवा गद्य-पद्य दोनों में रहा हो, यह हो सकता है; हमारे पास पर्याप्त साक्ष्य—वह कैसा था—यह सिद्ध करने के लिए नहीं है। विभिन्न ग्रन्थ-पाठों की तुलना से Hertel सिद्ध करते हैं कि शब्दावली तथा वाक्य-रचना में शिवदास प्राचीन गुजराती से अत्यन्त प्रभावित थे, और वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वे अल्पशिक्षित थे, और वे उन लोगों में से थे जो संस्कृत का प्रयोग अपनी 'उच्च भाषा' के रूप में नहीं करते थे, परन्तु उसको साधारणतया समझ लेते थे और अपने विचारों को उसमें अभिव्यक्त करने का यत्न करते थे।

स्वर्गीय टी० गणपति शास्त्री द्वारा भास के नाम से प्रख्यात नाटकों की प्रामाणिकता के प्रश्न पर, मेरे *Sanskrit Drama* के प्रकाशन के बाद से, बारबार विचार किया गया है, परन्तु उससे कोई महत्त्व-युक्त परिणाम नहीं निकला है, अधिकतर इसलिए कि वास्तविक वाद-पदों (issues) को अन्यथा समझ लिया गया है और जो बात स्वयं स्पष्ट है उसे सिद्ध करने के लिए तत्परता से प्रयत्न किया गया है। यह ठीक है कि इस बात का विशेष महत्त्व नहीं है कि उक्त नाटकों को भास की कृति कहा जावे, या किसी अन्य अज्ञात कवि की। परन्तु इस विचार का महत्त्व है कि (१) उन सबको एक ही व्यक्ति की और (२) कालिदास और **मृच्छकटिका** से पूर्ववर्ती ग्रन्थकार की रचना कहा जावे। मुझे तो ये दोनों बातें स्पष्टतया सिद्ध प्रतीत होती हैं, क्योंकि, यद्यपि ऐसा लगता है कि कुछ भारतीय और, कम क्षम्यता के साथ, कुछ यूरोपियन[2] विद्वानों ने भी डाक्टर Morgenstierne द्वारा उपस्थापित साक्ष्य पर ठीक-ठीक विचार नहीं किया है, टी० गणपति शास्त्री की स्थापना के प्रतियोगी उक्त अंग्रेज महाशय यह मानते

---

१. Trans. Ch. Krause, *Ind. Erz.* iv.

२. Nobel, ZII. v. 141 f. वे शूद्रक और मृच्छकटिका को कालिदास से पहले रखते हैं।

हैं कि **चारुदत्त** को **मृच्छकटिका** से पहले रखना आवश्यक है। भास की कालिदास से पूर्ववर्तिता उनके द्वारा किये गये शब्द-प्रयोग, और पारिभाषिकता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन ढंग के, शैली, मुहावरा, छन्द और प्राकृत के रूपों के साक्ष्य से सिद्ध प्रतीत होती हैं; यह बात अर्थपूर्ण है कि कालिदास की माहाराष्ट्री भास को अज्ञात है। इसके अतिरिक्त, यह पूर्णतः स्पष्ट है कि भास की विभिन्न प्राकृत बोलियाँ, जैसी कि वे उनके नाटकों के हस्तलेखों से अभिव्यक्त होती हैं, अश्वघोष और कालिदास की प्राकृत बोलियों की, जैसा कि यूरोप के आलोचनात्मक[1] संस्करणों से देखने में आता है, अन्तराल स्थिति की हैं। उक्त वस्तुस्थिति का इस निर्देश से उत्तर नहीं बनता कि भास के नाटकों के हस्तलेखों के साथ समान उद्गम-स्थान रखने वाले कालिदास के ग्रन्थों के हस्तलेख भास के नाटकों के प्राकृत रूपों के समान ही प्राकृत रूपों को दिखलाते हैं; क्योंकि उक्त आपत्ति का प्रत्यक्षतः यथार्थ समाधान यह है कि इन दक्षिण-भारतीय हस्तलेखों में कालिदास के ग्रन्थ भास के प्रयोगों से प्रभावित हो गये हैं। यह स्पष्ट है कि बिलकुल परवर्ती काल के नाटक, निस्संदेह भास के महान् प्रभाव के परिणामस्वरूप, उनकी प्राकृतों के रूपों का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार जैसे दक्षिणभारतीय हस्तलेखों से हाल ही में प्रकाशित नाटक भास से विचारों और शैली के आदान के लक्षणों को प्रायश दिखलाते हैं, जैसा कि **दामक-प्रहसन** में देखने में आता है, जिसको निरर्थक रूप में भास-कृत बतलाया जाता है।[2] इसके अतिरिक्त, यह ध्यान में रखना चाहिए कि अत्यन्त अनुसन्धानात्मक आलोचना भास द्वारा किये गये कालिदास से आदान के किसी प्रमाण के अथवा कालिदास से परवर्ती विषयों के उल्लेखों के पाने में अभी तक असफल रही है। **राजसिंह** इस शब्द को—जो **राजा** का केवल एक रूपान्तर है—एक व्यक्तिगत नाम का रूप देने के प्रयत्न को कोई सामान्य मान्यता नहीं प्राप्त हुई है. और **प्रतिमानाटक** में निर्दिष्ट मेधातिथि के **न्यायशास्त्र** को मनु पर मेधातिथि की व्याख्या से अभिन्न मानना स्पष्टतः इस बात की विस्मृति[3]

---

१. भारतीय संस्करण, उदाहरणार्थ **आश्चर्यचूडामणि** का संस्करण, इस संबन्ध में एक हस्तलेख का मूल्य भी नहीं रखते हैं।

२. देखिए Jolly का खण्डन, *Festgabe Garbe*, pp. 115-21.

३. दे० Keith, BSOS. iii. 623-5. इसी तरह के प्रमाद से **प्रियदर्शिका** का **रत्नावली** में परिवर्तन हो गया है (JRAS. 1927, p. 862, n. 1) और **त्रिकाण्डशेष**, ii. 1. 11 के बदले में **तैत्तिरीयारण्यक** में ओड्रों को स्थान प्राप्त हो गया है (*Cambridge Hist. of India*, i. 601). *Quandoque bonus dormitat Homerus* ! (कभी कभी श्रेष्ठ होमर भी सो जाते हैं!)

का परिणाम है कि मेधातिथि निस्संदेह **न्यायसूत्र** के प्रसिद्ध ग्रन्थकार गौतम ही हैं। ग्रन्थकर्तृत्व का ऐक्य शैली से सिद्ध है; यह विचार दुर्भाग्यवश प्रायण उपेक्षणीय प्रतीत होता है, जैसा कि, उदाहरणार्थ, हम तब पाते हैं जब गम्भीरतापूर्वक ऐसा सुझाव दिया जाता हुआ दीखता है[1] कि **आश्चर्यचूडामणि**[2] का ग्रन्थकार, शक्तिभद्र, जिसने स्पष्टतः भास का अनुकरण किया था, उक्त नाटकों का ग्रन्थकार हो सकता है। इससे विवेक-बुद्धि की वही विचित्र शून्यता प्रकट होती है जो **अवन्तिसुन्दरीकथा** का कर्तृत्व दण्डी पर आरोपित करती है, **पार्वती-परिणय** को बाण की कृति बतलाती है, और कालिदास के कर्तृत्व से **ऋतुसंहार** को पृथक् कर देना चाहती है।

इन प्राचीन नाटकों का विशेषतः भासकर्तृक कहा जाना मुख्यतः राजशेखर के, जो निश्चय ही लगभग ९०० ई० के आलोचक और नाटककार हैं, साक्ष्य पर निर्भर है, जो हमें बतलाते हैं कि उस समय, जब कि भास के नाटकों की विशेषज्ञों द्वारा कठिन परीक्षा की गई थी, आलोचना की अग्नि से उनकी **स्वप्नवासवदत्ता** ही जीवित बची थी। निश्चय ही यह एक विचित्र समान आकस्मिक घटना होगी यदि किसी अज्ञात नाटककार ने भास के समान कुछ नाटकों को लिखा था, जिनमें से **स्वप्नवासवदत्ता** अनेक आलोचकों के निर्णय में निस्संदेह रूप में सबसे श्रेष्ठ ठहरती है, और प्रत्येक दशा में इतनी प्रशंसनीय है कि उसने राजशेखर की गोष्ठी में उक्त ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ होने के रूप में सरलता से सामान्य मान्यता प्राप्त कर ली। इसके साथ यदि हम इन तथ्यों को जोड़ दें कि कालिदास स्वयं, जो आन्तरिक साक्ष्य से इन नाटकों के साथ स्पर्धा करने का प्रयत्न करते हुए दीखते हैं, खेद-पूर्वक उस महान् कठिनता को स्वीकार करते हैं जिसका अनुभव भास के साथ प्रतियोगिता करने में एक युवक कवि को होना चाहिए, और यह कि इन नाटकों का ग्रन्थकार निश्चित रूप से कालिदास को छोड़ कर किसी भी दूसरे संस्कृत लेखक से बड़ा नाटककार है, तो राजशेखर के साक्ष्य की सबल पुष्टि हो जाती है। पुनश्च, नाटकों के प्रारम्भ के प्रकार के सम्बन्ध में व्यामूढ कल्पनाओं की विस्तृत राशि से यह तथ्य निकल आता है कि भास के नाटकों के विषय में बाण का यह उल्लेख कि उनका आरम्भ सूत्रधार द्वारा होता है इन नाटकों के आरम्भ के ढंग से ठीक-ठीक मिलता है, और, सब कुछ कह चुकने के बाद, उसका अत्यन्त सरल और स्वाभाविक व्याख्यान इसी स्पष्ट मत से होता है कि वे (बाण) उन्हीं नाटकों का उल्लेख कर रहे हैं।

---

१. MASI. xxviii. 10; IHQ. iii. 222.

२. प्राचीन न होते हुए भी इसका समय अनिश्चित है, और उसका साहित्यिक मूल्य साधारण है।

राजशेखर के साक्ष्य की प्रामाणिकता के विरोध में एक तर्क की ओर ध्यान देना चाहिए। ऐसा कहा जाता है[1] कि उक्त स्थल के सन्दर्भ में ही राजशेखर भास को **प्रियदर्शिका, रत्नावली** और **नागानन्द** का कर्ता बतलाते हैं, और, इसलिए, वे विश्वसनीय नहीं हैं। इस तर्क का किसी भी दशा में उपस्थित किया जाना खेदजनक है; उक्त तथाकथित सन्दर्भ स्पष्टतया और निस्संदेह रूप में एक आसन्न-कालीन जालसाज़ी[2] है, और एक ऐसे समालोचक द्वारा प्रस्तुत किये गये दूसरे तर्कों को कोई महत्त्व देना व्यर्थ होगा, जिसमें ऐसी भी योग्यता नहीं है कि वह ऊपर-जैसे साक्ष्य से अपने को धोखा दिये जाने से बचा सके, और जो दुर्भाग्य-वश उसी साक्ष्य से दूसरों को धोखे में डालता है। परन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि उक्त जालसाज़ी इतनी स्थूल और स्पष्ट है कि ऐसी कल्पना की जा सकती है कि ऐसा कभी अभिप्राय नहीं रहा होगा कि कोई उस पर गम्भीरता से ध्यान देगा, और दूसरे भारतीय विद्वानों ने तुरन्त ही उसका खण्डन भी कर दिया है।

ऊपर दिखलाये हुए साक्ष्य द्वारा संकेतित उक्त नाटकों के सम्बन्ध में भास के कर्तृत्व की पुष्टि हाल ही में, अत्यन्त प्रसन्नता-प्रदायक ढंग में, अलंकार-शास्त्र और नाट्य-शास्त्र के, यूरोप में अप्राप्य, ग्रन्थों में नवीन उल्लेखों के पता लगा लेने से हुई है। ग्यारहवीं शताब्दी ई० में भोज का **शृङ्गारप्रकाश** एक ऐसे नाटक के प्रचार को प्रमाणित करता है जो विषय की दृष्टि से आवश्यक अंशों में **स्वप्नवासवदत्ता** के पांचवें अंक से मेल खाता है; शारदातनय (तेरहवीं शताब्दी) का **भावप्रकाश** ऐसे ग्रन्थ से परिचित था जो न केवल वस्तु-विन्यास में ही अधिक समानता रखता था, प्रत्युत जिसमें त्रिवेन्द्रम के पाठ में प्राप्त एक पद्य भी संमिलित था। **नाटकलक्षणरत्नकोश** में सागरनन्दी एक स्थल (passage) को **स्वप्नवासवदत्ता** का बतलाते हैं, जो, जैसा कि टी० गणपति शास्त्री दिखलाते हैं, निःसंदेह रूप से उपलब्ध **स्वप्नवासवदत्ता** के प्रारम्भ के एक स्थल का विवरण

---

१. K. R Pisharoti, IHQ. i. 105. यही लेखक कुलशेखर के समय के संवन्ध में छः शताब्दी की भूल करते हैं। उन्होंनें और भी अनेक भयंकर भूलें की हैं, जिनमें दूसरों ने उनका अनुसरण किया है। एक बात यह भी है कि वे प्राकृत के संवन्ध में समस्याओं को विलकुल नहीं समझते हैं।

२. K. G. Sesha Aiyar, IHQ. i. 361; G. Harihar Sastri, **उसी जगह**, 370-8. इस मूर्खता-पूर्ण और स्पष्ट जालसाज़ी की Dr. Sukthankar द्वारा स्वीकृति खेद-जनक रूप में आलोचना-बुद्धि से रहित है। प्राकृतों के संवन्ध में Mr. Pisharoti का उनके द्वारा अनुसरण भी ऐसा ही है।

है, न कि एक भिन्न पाठ से उद्धरण जैसा कि प्रोफेसर Lévi ने सुझाव दिया था।[1] मैं टी० गणपति शास्त्री के इस कथन से भी सहमत हूँ कि रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा नाट्यदर्पण में भास की **स्वप्नवासवदत्ता** से उद्धृत स्थल सरलता से प्रकृत ग्रन्थ में स्थान पा सकता था, जबकि प्रत्येक दशा में यह स्पष्ट है कि उस नाटक में एक दृश्य प्रकृत नाटक के सदृश ही था। उपर्युक्त तथ्यों से उक्त नाटकों के भास के कर्तृत्व के विरोध में अधिक से अधिक यही बात निकाली जा सकती है कि उक्त नाटकों के सम्भवतः विभिन्न संस्करण विद्यमान थे। यह बात तो निश्चय ही मान लेनी चाहिए; अधिकतया अभ्यस्त और प्रयुक्त प्रत्येक नाटक की यही दशा होती थी, और कालिदास के विषय में तो यह बात पूर्णरूप में दृष्टिगोचर होती है[2]। ऐसा लगता है कि कालिदास के ग्रन्थों के पाठान्तरों से वे लोग अपरिचित हैं, या उन्होंने उनको भुला दिया है, जो इन नाटकों के विषय में भास के कर्तृत्व को नहीं मानते हैं। कोई ऐसा साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जो यह दिखला सके कि **शकुन्तला** के विभिन्न पाठों में से किसी को भी कालिदास के मूल ग्रन्थ के साथ, भास के मूल के साथ त्रिवेन्द्रम की **स्वप्नवासवदत्ता** की अनुकूलता की अपेक्षा, अधिक अनुकूलता रखने का यश दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, ऐसा लगता है कि बहुलता से इस बात को भुला दिया जाता है कि पाठान्तर स्वयं नाटककार के कारण भी हो सकते हैं। ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि किसी भी नाटककार ने अपने नाटक को कोई एक पूर्णतया निश्चित पाठ दिया होगा। हाँ, Hermann Weller[3] के साथ इस मत को स्वीकार करने का प्रलोभन होता है कि भास के नाटकों को संकीर्ण करने का उत्तरदायित्व केरल के अभिनेताओं का है, और यह कि भास के नाटक विकृत रूप में हम तक पहुँचे हैं, और यह भी कि, उदाहरणार्थ मूल में **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** और **स्वप्नवासवदत्ता** दोनों एक ही नाटक के रूप में थे। परन्तु मेरा तो विश्वास है कि इस मत को मान लेना अनालोचनात्मक होने के साथ-साथ वास्तविकता के स्थान में अपनी अभिरुचियों को महत्त्व देना है। भास के कुछ पद्यों के साधारण रूप की व्याख्याएं कहीं अधिक अच्छी तरह सीधे-सादे तथ्य से की जा सकती है कि उनका समय प्राचीन है; कालिदास अपने नाटकों में शैलीगत बड़े

---

१. JA. cciii. 193 ff., जिसका अनुसरण नितरां आलोचना-दृष्टि से रहित MASI. xxviii. 11 में किया गया है।

२. **उत्तररामचरित** के पाठों की भी तुलना कीजिए, Belvalkar, JAOS. xxxiv. 428 ff.

३. Trans. of *Svapnavāsavadattā*, p. 8. **शकुन्तला** के विषय में भी यही विचार लागू होता है।

हुए परिष्कार के प्रभाव को दिखलाते हैं, ठीक उसी तरह जैसे वे अपने पूर्ववर्ती अश्वघोष के काव्यों में सरलता से प्राप्त होने वाले साधारणता के लक्षणों को अपने काव्यों में नियमतः परिवर्जित करते हैं। भास के नाट्य-सम्बन्धी दोषों के लिए अभिनेताओं का उत्तरदायित्व ठहराना आवश्यक नहीं है, क्योंकि शकुन्तला के किसी भी पाठ को लेकर कालिदास को हम पूर्णतः निर्दोष नहीं कह सकते, और Shakespear की कमियाँ प्रसिद्ध हैं। दूसरी ओर, भास के कवित्व की प्रतिभा के स्वरूप के सम्बन्ध में, वास्तविक अन्तर्दृष्टि के साथ,[1] विस्तार से यह दिखाने के लिए कि सुभाषितसंग्रहों में भास के नाम से दिखलाये गये छः पद्य प्रकृत नाटकों के पद्यों के साथ शैली-गत उल्लेखनीय समानता रखते हैं हम Hermann Weller[2] के अत्यन्त ऋणी हैं। सुभाषितसंग्रहों के निर्माताओं ने उक्त पद्यों को भास का इसलिए लिख दिया था क्योंकि उन्होंने उनमें भास की कविता की आत्मा का अनुभव किया था, इस सुझाव की हम एक क्लिष्ट कल्पना कहकर सर्वथा उपेक्षा कर सकते हैं। सामान्य बुद्धि के अनुसार यही मानना चाहिए कि सुभाषित-संग्रहों में भास के नाम से पद्यों का दिया जाना ठीक ही है—इससे उक्त नाटकों के भास-कृत होने के साक्ष्य की शृंखला में एक और कड़ी जुड़ जाती है, और एक भारतीय विद्वान् के सुझाव की यथार्थता सिद्ध हो जाती है।

अवन्तिसुन्दरीकथा और उसके **सार** के साक्ष्य के उपयोग द्वारा दण्डी को भामह के अनन्तर रखने की बात को पुष्ट करने का प्रयत्न[3] स्पष्टतः एक पूर्ण भूल है। एक खण्डित हस्तलेख के आधार पर उक्त कथा को किसी दशा में भी प्रकाशित नहीं करना चाहिए था; उसके पाठ यथावत् रूप में दिये जाने पर भी, दूसरे हस्त-लेखीय साक्ष्य से पहले ही अशुद्ध सिद्ध किये जा चुके हैं।[4] उक्त खण्डित हस्तलेख से ही यह स्पष्ट था कि दण्डी के प्रपितामह भारवि सिद्ध नहीं किये जा सकते, जो दामोदर इस नाम से दिये गये हैं। परन्तु जैसा कि डाक्टर डे[5] (De) ने दिखलाया

---

१. ZII. ii. 250 तथा ABA. viii. 17 ff. के विरोध में तु० Garbe का बलपूर्वक दिया गया साक्ष्य, *Festgabe Jacobi*, p. 126.

२. *Festgabe Jacobi*, pp. 114-25.

३. J. Nobel, ZII. V. 136-52.

४. G. Harihar Sastri, IHQ. iii. 169-71.

५. IHQ. iii. 395 ff. यतः भोज के **शृङ्गारप्रकाश** (BSOS. iii. 282) के अनुसार दण्डी ने एक **द्विसंधानकाव्य** भी लिखा था, वह उनकी तृतीय रचना हो सकती है (तु० आगे पृ० ३५१).

है, उक्त कथा और **दशकुमारचरित** को अत्यन्त सरसरी दृष्टि से पढ़ने वाले को भी इन दोनों ग्रन्थों की शैली में जो असाधारण भेद है उससे अवश्य ही प्रभावित होना चाहिए; उक्त कथा **हर्षचरित** और **कादम्बरी** के अत्यन्त निकृष्ट कोटि के रूढ ढंगों (mannerisms) की असफलता के साथ ही बराबरी करना चाहती है। यदि किसी दण्डी ने ही इस कथा को लिखा था, तो निश्चय ही वह **दशकुमारचरित** का लेखक नहीं था। उसका समय महान् कवि दण्डी से कई शताब्दियों के अनन्तर ही होना चाहिए, क्योंकि इस सुझाव[1] को मान लेने के लिए कोई भी कारण नहीं है कि उक्त कथा का लेखक प्रसिद्ध दण्डी के अनन्तर पर्याप्त रूप से इतने आसन्नकाल में हुआ था कि उसके लिए दण्डी की वंश-परम्परा से सुपरिचित होना और उसको अपनी कथा में निबद्ध कर सकना सम्भव था। यहाँ यह बात भी कह दी जा सकती है कि उक्त कथा के ५।१७ में कालिदास के काव्यत्रय के निर्देश को ढूँढ़ने का प्रयत्न[2], और इस प्रकार **ऋतु-संहार** कालिदास की कृति नहीं है इस बात की पुष्टि करना पूर्णतया असम्भव है और इसमें ग्रन्थ के सम्पादक की भी अनुमति नहीं है। यह कहना बहुत कठिन है कि हम इस कथा से विष्णुवर्धन के साथ भारवि के सम्बन्ध के विषय में कोई पक्का प्रमाण निकाल सकते हैं अथवा विष्णुवर्धन को उस नृपति से अभिन्न मान सकते हैं जो ६१५ ई० में पूरवी चालुक्य नरेश बन गया था और उस पुलकेशी का भाई था जिसका ऐहोल अभिलेख (६३४ ई०) भारवि की प्रसिद्धि का निर्देश करता है। परन्तु यहाँ कम से कम कोई स्पष्ट काल-निर्धारण-सम्बन्धी भूल नहीं है, यद्यपि हम पहले से ही एक साहित्यिक जालसाज़ी[3] से परिचित हैं जो कोंगणि के दुर्विनीत को **किरातार्जुनीय** के पन्दरहवें सर्ग पर एक टीका का लेखक बतलाती है।

नाट्य-शास्त्र पर अभिनवगुप्त की महत्त्वयुक्त व्याख्या के सम्पादन का प्रारम्भ अब हमें उपलब्ध है जो, दुर्भाग्यवश, मौलिक रूप में ही अनालोचनात्मक[4] है, साथ ही **काव्यप्रकाश** की रचना में उसके दो ग्रन्थकारों का ठीक-ठीक कितना भाग है, इसका पता लगाने की दिशा में भी नया प्रयत्न[5] किया गया है, परन्तु इसका

---

१. उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ में, p. 403.

२. ZII. v. 143.

३. *Ep. Carn.*, iii. 107. यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस कथा में भी एक दुर्विनीत का उल्लेख आता है।

४. *Gaekwad Oriental Series* 36, 1926 (i-vii); cf. S. K. Dé, IHQ. iii. 859-68.

५. H. R. Divekar, JRAS. 1927, pp. 505-20; वे समस्त टीका-भाग को और परिकर से लेकर कारिकाओं को भी अलट-कृत बतलाते हैं।

कोई समाधान-कारक परिणाम नहीं निकला है। इस प्रकार के स्थलों में किसी निर्णायक साक्ष्य के कारण-पुरस्सर पाने की आशा करना सम्भवतः असाध्य होता है; कोई सम्पादक जिसे त्रुटित अंशों की पूर्त्ति करनी होती है निश्चय ही समस्त ग्रन्थ को न्यूनाधिक अपनी शैली के अनुसार ही कर लेता है और इस प्रकार उस ग्रन्थ का फिर से मूल स्वरूप में लाना और उस सम्पादक द्वारा ग्रन्थ के बढ़ाये गये भागों का पता लगाना लगभग असम्भव हो जाता है।[1]

वह विचित्र संशयात्मकता, जो भास के सम्बन्ध में भारतीय और कुछ यूरोपीय विद्वानों की दृष्टि में देखने में आई है, **कौटिल्य अर्थशास्त्र** पर किये गये हाल के काम में नहीं देखी गई है, जिस ग्रन्थ पर प्रसिद्ध महान् भारतीय, सर आशुतोष मुकर्जी, के सम्मान में प्रकाशित Patna Memorial Volume में मैंने एक लेख लिखा है। लिखित शब्द को पवित्र मानने की प्रवृत्ति ही विचार में इस भेद-भाव का एकमात्र कारण हो सकती है: क्योंकि यह ग्रन्थ स्पष्टतः परवर्ती काल में जोड़े हुए एक पद्य में हमें विश्वास दिलाता है कि इसकी रचना विष्णुगुप्त, अर्थात् कौटिल्य, ने की थी—**कौटल्य** यह पाठ स्पष्टतः[2] कोई मूल्य नहीं रखता—इसलिए यह बात ऐसी ही होनी चाहिए, यद्यपि यह स्पष्टतया हास्यास्पद लगता है कि एक सम्राट का मन्त्री अपने कार्य को एक परिमित परिमाण के राज्य में ही सीमित रखे, और एक बार भी शब्दतः अथवा अभिप्रायतः उस देश के नाम को प्रकट न करे जिसके लिए अथवा जिसमें वह लिख रहा था। तथापि इससे अधिक वहमीपना और क्या होगा कि उक्त पक्ष के भी पोषक पाये जाते हैं, यद्यपि ऐसा अनुभव न करना कठिन है कि भारतीय राजनीतिक विचारधारा के उत्कृष्टतम रूप का प्रातिनिध्य करने वाले ग्रन्थ के रूप में **अर्थशास्त्र** की प्रशंसा करने के लिए प्रेरणा करने वाली देश-भक्ति

---

१. वल्लभदेव की **सुभाषितावलि** को बारहवीं शताब्दी में रखने का डा० Dé के प्रयत्न का विचार एक छोटे से लेख में किया गया है जो BSOS. Iv. (1928) में प्रकाशित होने को है। कविराज के समय के विषय में (आगे, पृ० १७०), अच्युतचरण चौधरी उनको ग्यारहवीं शताब्दी में Jaintia के राजा कामदेव के आश्रित रूप में रखते हैं, दे० IHQ. iii. 848 f.

२. तु० P. V. Kane, ABI. vii. 89; Jolly, ZII. v. 216-21. भण्डारकर की इस स्थापना की (ABI. vii. 65-84) कि दण्डी इसके किसी पद्यात्मक मूल रूप से परिचित थे सिद्ध नहीं की जा सकती है। Jacobi द्वारा निर्दिष्ट समय का W. Ruben द्वारा समर्थन (*Festgabe Jacobi*, pp. 346 ff.) पर्याप्त नहीं है। **अर्थशास्त्र** के साथ कालिदास के संवन्ध पर तु० K. Balasubrahmanya Ayyar. POCM. 1924, pp. 2-16.

नितरां अस्थान में प्रयुक्त है। Plato के *Republic* के अथवा Aristotle के *Politics* के, अथवा Athens के संविधान पर लिखित पुस्तिका के, जिसको पहले भ्रम से Xenophan द्वारा रचित कहा जाता था, ग्रन्थकार की सामान्य-बुद्धि और लौकिक विद्वत्ता के भी मुकाबले में रखने के लिए भारत के पास सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ यही है, ऐसा मानने की अवस्था निश्चय ही शोकजनक होगी। अपने अनुवाद में, और अपने *Über das Wesen der indischen Rechtsschriften und ihr Verhältnier zu einander und zu Kauṭilya* (1927) नाम के ग्रन्थ में J. J. Meyer द्वारा उपपादित प्रयत्न-साध्य स्थापना निश्चित रूप से कल्पना-मूलक है। बड़ी कठिनताओं के साथ निर्मित ये ग्रन्थ, इनमें अयुक्ति-युक्त बातों के साथ-साथ दृष्टि के उद्वेग-जनक परिवर्तनों के रहने पर भी, कौटिल्य-विषयक हमारे ज्ञान में मूल्यवान् सहायता प्रदान करते हैं, और भारतीय जीवनके अनेक अस्पष्ट पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। परन्तु उक्त ग्रन्थकार का मुख्य निबन्ध, जो साहित्य की विलकुल पृथक्-पृथक् रहने वाली दो धाराओं का—एक ब्राह्मणों की जिसका मूलतः तन्त्र-मन्त्र से सम्बन्ध है, और दूसरी जनता की जो व्यवहार-परक और विधि-सम्बन्धी है— परस्पर भेद करता चाहते हैं, स्पष्टतः एक भ्रान्त नींव पर आधृत है। ब्राह्मणों के विषय में ऐसा समझने का प्रयत्न कि भारतीय जीवन से उनका स्थान बहुत कुछ पृथक् है उन भ्रान्तियों में से एक है, जिनके साथ भारत के ब्राह्मणेतर वर्गों में और यूरोप में भी सहानुभूति भले ही पाई जावे, परन्तु जो भारतीय विचारधारा के विषय में जो कुछ हम जानते हैं उस सबसे विरुद्ध पड़ती हैं; उस विचारधारा ने अपने जीवन और शक्ति को ब्राह्मणों से पाया है, क्षत्रियों अथवा राजाओं से नहीं, और जन-साधारण से तो और भी नहीं। उक्त ग्रन्थकार का यह सिद्ध करने का प्रयत्न[1] कि याज्ञवल्क्य द्वारा **अर्थशास्त्र** का उपयोग किया गया था निश्चय ही कोई महत्त्व नहीं रखता है; उपलब्ध साक्ष्य का झुकाव तो इस बात की ओर है कि आदान दूसरी ओर से हुआ था। एक भी उल्लिखित स्थल वास्तव में **अर्थशास्त्र** की पूर्ववर्तिता के पक्ष में नहीं है, प्रत्युत अनेक स्थलों में **अर्थशास्त्र** की अस्पष्टताएँ इस आधार पर सद्यः समझी जा सकती हैं कि **अर्थशास्त्र** याज्ञवल्क्य से अपने विचारों को ले रहा है। Meyer व्यवस्थित ढंग से इस बात को भी सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते[2] हैं कि **अर्थशास्त्र** की अपेक्षा

१. pp. 65, 69, 70, 71, 77, १२१, 130, 133, 158-79, 179-90, २13, २16, २84, २90, २94, २99, 300.

२. उदाहरणार्थ, पृ० ११२ पर जो कहा गया है वह बिल्कुल अनिर्णायक ह; इसके विरुद्ध देखिए IHQ. iii. 812.

मनुस्मृति परवर्ती है, यद्यपि तिथियों के सम्बन्ध में उनके विचार के आधार पर मनुस्मृति अर्थशास्त्र से कम से कम सौ वर्ष पीछे की है। चाणक्य के[१] ग्रन्थकर्तृत्व के भारतीय समर्थकों के समान वे भी साम्राज्य-सम्बन्धी किसी भी बात के विषय में अर्थशास्त्र की चुप्पी की और पाटलिपुत्र-विषयक तथ्यों की, उसी के द्वारा नितान्त उपेक्षा की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हुए हैं। गौतमधर्मशास्त्र की परवर्ती तिथि सिद्ध करने का उनका प्रयत्न[२] अपने रूप में उतना आक्षेप के योग्य नहीं है, तो भी उनकी विप्रतिपत्तियाँ (contentions) अधिकतर अनिर्णायक हैं[३] और इस बात को, जिसको सदा स्वीकार किया गया है, सिद्ध करने से अधिक कुछ नहीं करतीं कि उक्त धर्मशास्त्र का उपलब्ध पाठ मूलरूप से पर्याप्तरूपेण बदल दिया गया है। धर्मशास्त्रीय साहित्य के विकास के मुख्य सिद्धान्त अब भी उसी रूप में हैं जिसमें उनको Max Müller और Bühler ने सूत्रित किया था और आगे चल कर Oldenberg और Jolly ने दृढ़तया स्थापित किया था। निश्चय ही अब Meyer का निजी मत यह है[४]—उनके निष्कर्षों में ऐसी कोई बड़ी स्थिरता नहीं है जिसको स्वीकार ही कर लिया जाय—कि बौधायन और आपस्तम्ब प्राग्बौद्धकालीन हैं, वसिष्ठ का समय ई० पू० चौथी शताब्दी है, और मनु का समय २०० ई० की अपेक्षा प्रायेण २०० ई० पू० के समीपतर रखा जा सकता है; परन्तु आपस्तम्ब की अपेक्षा वसिष्ठ के परवर्तित्व के पक्ष में कोई सहनीय प्रमाण नहीं है, और आपस्तम्ब के प्राग्बौद्धकालीन होने के पक्ष में तो यह बात और भी कम है। नारद को मनु और याज्ञवल्क्य से पूर्ववर्ती समय में रखने के सम्बन्ध में meyer की उपपत्तियाँ[५] और भी कम समाधान-कारक हैं; यदि उक्त ग्रन्थों के उपलब्ध पाठों को हम तर्क का आधार मानें, तब तो उक्त बात का प्रश्न ही नहीं उठता; यदि हम उक्त तीनों ग्रन्थों के मूलपाठ को फिर से बनाते हैं, उस दशा में तो हम अपने को ऐसी निरर्थक अटकलों में फँसा देते हैं, जो, समस्त अटकलबाजियों के समान, ज्ञान को केवल मलिन कर देती हैं। याज्ञवल्क्य के सम्बन्ध

---

१. Jacobi (IHQ. iii. 669-75) का मत है कि चाणक्य और विष्णुगुप्त भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे जिनका परवर्ती काल में कौटिल्य से संकर कर दिया गया। चाणक्य नहीं, चाणिक्य मूलरूप हो सकता है।

२. पृ० ४१७, ४१८ पर उल्लेखों को देखिए।

३. गौतम के परवर्ती समय के पक्ष में एक और तर्क के लिए, देखिए Bata Krishna Ghosh, IHQ. iii. 607-11.

४. *Altind. Rechtsschriften, p. vii.*

५. उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ में, pp. 82-114.

में एक रोचक प्रयत्न[1] का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। वह प्रयत्न **अग्निपुराण** और **गरुडपुराण** में प्राप्य समानान्तर पाठों के साथ तुलना के आधार पर **मूल-याज्ञवल्क्य-स्मृति** के पुनर्निर्माण का है। यह बहुत सम्भव है कि राजधर्म और व्यवहार का निरूपण करने वाले ग्रन्थ के भागों के साथ गृह्यसूत्रों के विषयों का निरूपण करने वाला एक ग्रन्थ मिला दिया गया है; परन्तु यह बात बहुत संदिग्ध है कि उक्त स्मृति के मूलरूप का पुनरुद्धार किया जा सकता है। हाँ, विनायक-शान्ति, ग्रह-शान्ति जैसे विषयों का निरूपण करने वाले कुछ स्थलों को, जो स्पष्टतः परवर्ती काल के हैं, और तृतीय अध्याय के शरीर-रचना-विषयक अंश को ग्रन्थ से पृथक् कर देना सरल है, परन्तु सुझाये गये और अधिक मौलिक विश्लेषण को उतने संतोषजनक रूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

गौण शास्त्रों में वास्तुशास्त्र पर अन्ततोगत्वा प्रोफ़ेसर प्रसन्नकुमार आचार्य ने अपने *Dictionary of Hindu Architecture* और *Indian Archeitcture*[2] नामक ग्रन्थों में एक विशेषज्ञ की दृष्टि से विचार किया है। ये ग्रन्थ **मानसार** के, जिसके सम्बन्ध में ५००–७०० ई० के समय का सुझाव दिया गया है, भाषान्तर और एक नूतन (सम्पादित) पाठ पर आधृत हैं। **मानसार** के योगों और Vitruvius में उल्लेखनीय समानताएँ निस्संदिग्ध रूप में स्थापित की गई हैं। यह दुःख की बात है कि भोज के **समराङ्गणसूत्रधार**[3] के पाठ की शोचनीय दशा से वास्तु-विद्या, नगर-नियोजन, यन्त्र-शास्त्र (engineering), और विचित्र मशीनों की रचना, जो कि सम्भवतः मध्यकाल के यान्त्रिक खिलौनों से मिलती-जुलती रही होंगी,[4] इनके सम्बन्ध में ग्रन्थकर्ता के लेखों का मूल्याङ्कन करने की कठिनता बढ़ जाती है। **मयशास्त्र** के संस्कृत पाठ के साथ प्रकाशित फणीन्द्रनाथ बोस का *The Principles of Indian Śilpa Śāstra* भी एक मूल्यवान् ग्रन्थ है।[5] रुद्रदेव के **श्यैनिकशास्त्र** में श्येनशिक्षा का विषय है।

---

१. Hans Losch, *Die Yājñavalkyasmṛti* (1927). गरुड में **अष्टाङ्गहृदय** और **अष्टाङ्गसंहिता** के **निदानस्थान** का एक पाठ उपलब्ध है; *Festgabe Garbe*, pp. 102 ff.

२. Oxford, 1927 ff.

३. GOS. 1924-5.

४. *Ocean of Story*, iii. 56 ff.

५. एक शिल्पशास्त्र का संस्कृत पाठ और अनुवाद छप रहा है।

तर्कशास्त्र के प्रारम्भिक विकास पर रोचक प्रकाश प्रोफ़ेसर O. Strauss द्वारा **महाभाष्य**[1] से यह दिखाने से पड़ा है कि पतञ्जलि स्वतः प्रत्यक्ष-योग्य वस्तुओं की कादाचित्क अनुपलब्धि के कारणों के सिद्धान्त से, जिनको हम **सांख्यकारिका**[2] से जानते हैं, अच्छी तरह परिचित थे, और यह भी कि वे अवयवोपेत वाक्य (syllogism) के विचार की भी कुछ जानकारी रखते थे—कितनी जानकारी, यह पूर्णतः निश्चित नहीं है। जो कुछ हो, यह साक्ष्य इस दृष्टि के समर्थन के रूप में उपयोगी है कि उपलब्ध दार्शनिक सूत्र आवश्यक रूप से विकास के एक लम्बे युग के परिणाम हैं, और यह कि, उनके वर्त्तमान रूप में उनका समय जो कुछ भी हो, उनमें ऐसे सिद्धान्त विद्यमान हैं जो समय की दृष्टि से उनसे बहुत प्राचीनतर हैं। स्तरों के पृथक्-करण के प्रयत्न से, सोत्साह अनुसरण किये जाने पर भी, कोई निश्चित बात हाथ नहीं लगती। उदाहरणार्थ, जबकि हम तत्काल मान ले सकते हैं कि **पूर्वमीमांसा-सूत्र** और **वेदान्त-सूत्र** तद्विषयक विचार के एक लम्बे युग का प्रातिनिध्य करते हैं, यह किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि हम सुरेश्वर जैसे परवर्ती लेखक के एक कथन से यह बात निकाल सकते हैं[3] कि **पूर्वमीमांसा** के ग्रन्थकार जैमिनि ने अपेक्षाकृत एक अधिक दार्शनिक **शारीरक-सूत्र** भी लिखा था, जिसके प्रथम दो सूत्र उपलब्ध **वेदान्तसूत्र** के प्रथम दो सूत्रों के सदृश थे। **पूर्वमीमांसा-सूत्र** और **वेदान्त-सूत्र** इन दोनों में जैमिनि और बादरायण दोनों का उल्लेख आता है, इस तथ्य की सबसे अच्छी व्याख्या, अनेक जैमिनियों और बादरायणों की कल्पना से नहीं, किन्तु केवल यह मान लेने से हो जाती है कि उनमें से प्रत्येक ग्रन्थ एक लम्बे पाण्डित्यानुसारी विकास को दिखाता है और यह कि उनमें नामों का उपयोग प्रकृत ग्रन्थकारों के विचारों को, जिस प्रकार, उदाहरणार्थ, Christian Father लोगों के अथवा Scholastic लोगों (मध्यकालीन पण्डित वर्ग) के विचार Aristotle के सिद्धान्तों का, अथवा Neo-Platonist लोगों के विचार Plato के सिद्धान्तों का प्रातिनिध्य करते हैं, उससे अधिक याथार्थ्य के साथ नहीं दिखला सकता है। निश्चय ही अनेक जैमिनियों और बादरायणों के अस्तित्व को मानने के विरोध में कोई निर्णायक बात प्रस्तुत नहीं की जा सकती है, और हाल में इसी उपाय का अवलम्बन इस तथ्य की व्याख्या करने के लिए किया

---

१. *Festgabe Garbe*, pp. 84-94. प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती को भी देखिए, IHQ. ii. 478 ff.

२. कारिका ७; तु० चरक, सूत्रस्थान, ix. 8.

३. S. K. Belvalkar, *Festgabe Garbe*, pp. 162-70; *Ind. Phil. Rev.*, iii 141-54 तद्विरुद्ध नीलकण्ठ शास्त्री, IA. l. 172.]

गया है[1] कि प्रभाकर कभी अनुश्रुति में कुमारिल के पश्चाद्वर्ती दिखाई देते हैं, जबकि उनके ग्रन्थ में जिससे हम परिचित हैं उक्त प्रकार के सम्बन्ध का कोई निश्चित चिह्न दिखाई नहीं देता है। इस सम्बन्ध में उपर्युक्त सुझाव प्रायेण अनावश्यक है। भारतीय तर्क-शास्त्र के इतिहास में दिग्नाग के स्थान के अतीव विवादग्रस्त प्रश्न पर, विशेषतः प्रशस्तपाद के साथ उनके सम्बन्ध पर, दिग्नाग के खण्डों के[2] डाक्टर Randle द्वारा सम्पादन से और भी प्रकाश पड़ा है; मुझे तो ऐसा लगता है कि दिग्नाग की पूर्ववर्तिता अब भी अपेक्षाकृत अधिक सम्भावित है। परन्तु इस प्रश्न को, तथा भारतीय-दर्शन-विषयक हमारे ज्ञान के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर M. Walleser, Th. Stcherbatsky, Louis de la Vallee Poussin, S. Radhakrishnan, Das Gupta, O. Strauss, Masson Oursel, J. W. Hauer, Ryukan Kimura, Kokileswar Sastri, Mahendranath Sircar, तथा दूसरों की महत्त्वयुक्त देनों को हमें अन्यत्र विचार के लिए छोड़ रखना चाहिए। Y. Kanakura[3] ने दिखला दिया है कि शंकर-भाष्य के तथाकथित प्रक्षिप्तांशों से वाचस्पति मिश्र परिचित हैं; साथ ही, शंकर की जो तिथि मैंने मानी है[4] उसका समर्थन जिनविजय के इस प्रमाण से हो जाता है कि हरिभद्र की तिथि, जिनका उपयोग शंकर ने किया था, ७००–७७० ई० के समय में पड़ती है। परन्तु यहाँ उस विवाद का ज़िक्र कर देना चाहिए जो न्यायप्रवेश के ग्रन्थकर्तृत्व के विषय में तीव्रता से चलता रहा है, जिसको समान विश्वास के साथ दिग्नाग की[5] और शंकरस्वामी[6] की रचना बतलाया जाता है; इस विषय में अन्तिम निर्णय देना कठिन है, और इस विषय पर विस्तार के साथ मैंने एक लेख में विचार किया है जो अन्यत्र[7] प्रकाशित होने वाला है। इस बात का भी उल्लेख कर देना चाहिए कि अब प्रोफ़ेसर Jacobi ने[8] स्वीकार कर लिया है कि न्यायसूत्र विज्ञानवाद से परिचित है, क्योंकि ४।२।२६

---

१. Stcherbatsky, *Festgabe Jacobi*. p. 372. POCM. 1924, pp. 475 ff, 523 ff. में जो कुछ कहा गया है वह निर्णायक नहीं है।

२. न्यायप्रवेश अब GOS. 32 (Vol. ii) में प्रकाशित हो चुका है।

३. *Festgabe Jacobi*, pp. 381-5; on आनन्दज्ञान, cf. p. 382, n. 1.

४. IOC. ii. 612.

५. विधुशेखर भट्टाचार्य, IHQ. iii. 152-60.

६. Tubianski, *Bulletin de l'Académic de l'USSR*. 1926, pp. 975 ff.

७. IHQ. 1928.

८. ZII. v. 305 f.

के सूत्र में लङ्कावतार में उपलब्ध विज्ञान-वाद के सिद्धान्त का विचार किया गया है। हम पहले ही इस सुझाव पर विचार कर चुके हैं[1], और दिखला चुके हैं कि वह असङ्गत है। प्रोफ़ेसर Jacobi का दूसरा सुझाव कि वात्स्यायन वसुबन्धु से परिचित थे और उनको ४०० के लगभग रखा जा सकता है उन परिणामों के अनुरूप है जिनको दूसरे साक्ष्य के आधार पर हमने[2] स्वीकार किया है। उद्द्योतकर और धर्मकीर्ति समान-कालीन थे, इसको सिद्ध करने के लिए S.C. Vidyabhusana के सुप्रसिद्ध प्रयत्न की वे इस आधार पर आलोचना करते हैं कि (१) उद्योतकर बाण से अवश्य एक पीढ़ी पहले वर्तमान रहे होंगे क्योंकि सुबन्धु उनसे परिचित थे, और (२) धर्मकीर्ति भारत में Hiuen Tsang की स्थिति से पहले साहित्यिक प्रसिद्धि नहीं पा सकते थे, क्योंकि वे धर्मकीर्ति की एक प्रतिष्ठित ग्रन्थकार के रूप में उपेक्षा करते हैं। ये तर्क निर्णायक नहीं हैं, और यह बहुत सम्भव है कि सुबन्धु, बाण, उद्द्योतकर, और धर्मकीर्ति लगभग समानकालीन थे; इस प्रश्न पर भी हम अन्यत्र विचार करेंगे। परन्तु प्रो० Jacobi के अनुसार यह बहुत सम्भव है कि दिग्नाग, और कदाचित् धर्मकीर्त्ति भी, तामिल भाषा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ *Manimekhalai* को ज्ञात थे।[3]

Schopenhauer पर भारतीय दर्शन के प्रभाव-सम्बन्धी और पाश्चात्त्य विचार की दृष्टि से उस दर्शन के आधुनिक महत्त्व-सम्बन्धी रोचक प्रश्न के विषय में *Fünfzehntes Yahrbuch der Schopenhauer-Gesellschaft*, 1928 का उल्लेख किया जा सकता है। ग्रीक दर्शन पर भारतीय दर्शन के प्राचीन-कालीन प्रभाव के मत के विरुद्ध एक तेजस्वी शास्त्रार्थ Th. Hopfner ने उपस्थित किया है,[4] जिसका कम से कम यह महत्त्व है कि वह ऐसे प्रभाव को मान लेने की संदेहात्मकता का प्रदर्शन कर देता है। भारतीय प्रभाव के पक्ष में जो तर्क है उसका कुछ अंश भारतीय दार्शनिक विचारों की प्राचीनता के विश्वास पर आधृत है, और यह स्पष्ट है कि इस विषय में निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचना बड़ा

१. *Indian Logic and Atomism*, pp. 23 f.

२. उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ में ही, pp. 27 f.

३. ZII. v. 305; *Manimekhalai* (पृ० ३०९) में न्यायप्रवेश का उपयोग किया गया था। शंगम साहित्य की विवाद-ग्रस्त तिथि पर, cf. K. G. Śankar, JRAS. 1924, pp. 664-7.

४. *Orient und griechische Philosophie* (1925). एक संस्कृत ग्रन्थ में Tyana के Apollonius के प्रति एक संभवतः जाली उल्लेख के संबन्ध में दे० M. Hiriyanna, IHQ. ii. 415.

कठिन है। तथा च; प्रो० दास गुप्त[1] **लङ्कावतार** को अश्वघोष से पहले रखते हैं, परन्तु उपलव्ध ग्रन्थ विज्ञानवादी दर्शन और ५०० ई० के लगभग होने वाले म्लेच्छों के आक्रमणों से परिचित प्रतीत होता है। हाल में **चरकसंहिता** में प्रदर्शित सांख्य-दर्शन पर[2] विशेष वल दिया गया है; परन्तु ऐसा लगता है कि इस सम्बन्ध में इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया है कि उक्त ग्रन्थ का यह भाग अथवा कोई भी विशिष्ट भाग वास्तव में चरक की ही रचना है इसका हमारे पास किञ्चिन्मात्र भी प्रमाण नहीं है।[3]

पूर्वी तुर्किस्तान में हस्तलिखित पोथियों की खोजों से **भेडसंहिता**[4] पर कुछ प्रकाश पड़ा है। कागज़ पर लिखे हुए एक हस्तलेख से, जिसमें उक्त ग्रन्थ का एक अंश विद्यमान है और जिसका समय नवीं शताब्दी ई० हो सकता है, यह प्रबल संकेत मिलता है कि एक एकाकी तेलुगु हस्तलेख के आधार पर प्रकाशित उक्त ग्रन्थ **भेडसंहिता** के ऐसे पाठ को प्रस्तुत करता है जो मूल से परिवर्तित है, क्योंकि उसमें निदानस्थान के रक्तपित्त-विषयक अध्याय के स्थान में कास-विषयक अध्याय दिया हुआ है। एक दूसरा हस्तलेख, जो चमड़े पर लिखा हुआ है, जो मूल में दक्षिणी तुर्किस्तान या उत्तरीय भारत का था, और जिसका समय प्रायेण द्वितीय शताब्दी ई० का अन्त, दूसरे शब्दों में **कल्पनामण्डितिका** के हस्तलेख से कोई सौ वर्ष पहले और अश्वघोष के नाटकों के हस्तलेख के पचास वर्ष पश्चात् हो सकता है, अपना आकर्षण रखता है, क्योंकि चरक और सुश्रुत के अभिमत छः रसों के विरोध में, जो साधारणतया भारतीय आयुर्वेद में माने जाते हैं, इसमें आठ या दस रसों के सिद्धान्त की परम्परा सुरक्षित है। सम्भव है कि इस जगह हमें एक प्राचीनतर आयुर्वेदिक सम्प्रदाय का संकेत प्राप्त है, जिसका स्थान अन्ततः आत्रेय के सम्प्रदाय ने ले लिया, जिस पर चरकसंहिता आधृत है।

अंक-प्रणाली के लिए अरब और यूरोप का भारत के प्रति ऋणी होने के विवाद-

---

१. *Hist. of Indian Phil.*, i. 280.

२. उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ में i. 280 f., 312 ff.

३. Cf. Hoernle, *Archiv f. Gesch. d. Medizin.* i. 30 ff.; Jolly, *Munich Catal.*, p. 48. अष्टम स्थान में दी हुई तन्त्रयुक्तियों की सूची निश्चय ही दृढबल द्वारा दी हुई है। उन्होंने सुश्रुत के उत्तरतन्त्र का भी उपयोग किया था; Ruben, *Festgabe Jacobi*, pp. 354-7.

४. H. Lüders, *Festgabe Garbe*, pp. 148 ff.; चरकसंहिता के संदिग्ध स्वरूप पर, see also pp. 154 f.

ग्रस्त प्र॰न पर सुकुमार रंजन दास ने[1] फिर से विचार किया है। उन्होंने डाक्टर Kaye के विचारों की विस्तार से परीक्षा की है। उनके द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य का कुछ अंश स्पष्टतः अनिर्णायक है। **अर्थशास्त्र** (२।७) हिसाव रखने की एक जटिल प्रणाली से परिचित है, परन्तु उसका समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० नहीं माना जा सकता; और किसी भी दशा में हिसाव रखने से, छठी शताब्दी ई० के लिए प्रमाणित प्रणाली के समान, अंकों के उपयोग की किसी व्यवस्थित प्रणाली का अर्थ नहीं लिया जा सकता।[2] बालकों द्वारा संख्यान[3] के सीखने के उल्लेख भी उसी तरह अनिर्णायक हैं, और **ललितविस्तर** का समय भी नितरां अनिश्चित है। परन्तु पिङ्गल के **छन्दःसूत्र**[4] में शून्य के उपयोग को समुचित महत्त्व देना चाहिए, और इस सम्बन्ध के नये अनुसंधानों से भारतीय स्थापना को बल मिला है। परन्तु इससे हम किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाये हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि अलेग्ज़ैंड्रिया के Paulus के साथ पुलिश की अभिन्नता केवल काल्पनिक ही है, तो भी इतना दिखला देने से ही हम उक्त बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि पुलिश सिद्धान्त ज्योतिष का आचार्य था और Paulus फलित ज्योतिष का, क्योंकि कोई ऐसा प्रमाण हमारे पास नहीं है जो यह दिखला सके कि Paulus का सम्बन्ध सिद्धान्त-ज्योतिष से नहीं था। एक प्रख्यात फलित-ज्योतिषी के लिए सिद्धान्त-ज्योतिष से सम्बन्ध रखना बिलकुल स्वाभाविक था।[5]

संस्कृत के प्रारम्भ के प्रश्न पर कोई निर्णायक साक्ष्य हाल में प्रस्तुत नहीं किया गया है। प्रो० Hertel का यह विश्वास कि ऋग्वेद और Zoroaster का सम्बन्ध अपेक्षाकृत परवर्तीकाल से है, अपनी चातुर्य-पूर्णता के होने पर भी,[6] सामान्य

---

१. IHQ. ii. 97-120; iii. 356-75. D. E. Smith, *Hist. of Math.*, Vol, ii, ch. ii. को भी देखिए।

२. सुमेरियन लोगों (लगभग ३००० ई० पू०) और ईजिप्ट के लोगों में हिसाब रखने की जटिल प्रणालियाँ विद्यमान थीं; दे० D. E. Smith, *Hist. of Math.*, i. 37 ff.

३. **अर्थशास्त्र** १।५।; **ललितविस्तर**, १०।१५।

४. ८।२९ आदि; Weber, IS. viii. 169, 444 ff. यह उल्लेखनीय है कि प्रायेण यह भाग प्राचीन नहीं है, और इसको ई० पू० द्वितीय शताब्दी का नहीं कहा जा सकता है (IHQ. iii. 374).

५. केतुओं पर और मनुष्यों के भाग्य पर उनके प्रभाव पर, दे० बल्लालसेन का अद्भुतसागर (१२ वीं शताब्दी) और J. von Negelein, *Festgabe Jacobi*, pp. 440 ff.; *Festgabe Garbe*, pp. 47-53.

६. Zoroaster के समय के संबन्ध में तु० Keith, IHQ. iii. 683-9.

स्वीकृति प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रखता है। यही बात हाल के उस प्रयत्न[1] के, जो किसी प्रकार कम चातुर्यपूर्ण नहीं है,विषय में है,जो यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि आर्य लोग कुछ काल तक प्रबल Mitanni प्रभावों के अन्दर एकत्र रहते रहे थे और ई० पू० चौदहवीं शताब्दी के मध्य में Mitanni उथल-पुथल के पश्चात् ही वे निश्चित रूप से पूर्व की ओर मुड़े और तभी उनमें भारतीयों और ईरानियों के रूप में भेद हो गया। कुछ शब्दों से और एशिया माइनर के आकाशीय और आँधी के देवता के साथ, जिसका Mitanni भाषा में नाम Tesup था, शिव की, और एशिया माइनर की **महामाता** के साथ, जिसको Mitanni में Hepa कहा जाता था, पार्वती की समानता से, और अक्षरात्मक ब्राह्मी लिपि से निकाले हुए अनुमान सब संकेतपूर्ण होते हुए भी प्रामाणिक बल से रहित हैं। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में **अ, ए, ओ** इन तीनों स्वरों का संस्कृत में **अ** रूप में आ जाने के सम्बन्ध में जो मत आजकल स्वीकार किया जाता है उसके खण्डन में, और यह सिद्ध करने के लिए कि सातवीं शताब्दी ई० तक के परवर्ती काल में संस्कृत में ओष्ठ्य मूलकण्ठ्य (labiovelar) व्यञ्जन सुरक्षित थे, प्रोफ़ेसर Max Walleser[2] ने जिन तर्कों को प्रस्तुत किया है, वे बहुत रोचक और गम्भीर विचार के योग्य हैं। एक बात विशेषरूप से रोचक है, क्योंकि उससे उस विचार की पुष्टि होती है जिसके सम्बन्ध में प्रो० Liebich[3] से मेरा मतभेद है, और वह है पाणिनि से **तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य** की पूर्ववर्त्तिता का प्रश्न। यह अत्यधिक सम्भावित है कि **आ** और **अ** के भेद पर, जहाँ तक उसका आधार **आ** की विवृतता और **अ** की संवृतता से है, **ऋक्प्रातिशाख्य** अथवा **तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य** ने नहीं, किन्तु **अथर्व-प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-प्रातिशाख्य** और पाणिनि ने ध्यान दिया था। पाणिनि से **तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य** की पूर्ववर्त्तिता के विरोध में Liebich के तर्क का आधार केवल दोनों ग्रन्थों के कुछ सूत्रों की एकरूपता और **प्रगृह्य** के स्थान में **प्रग्रह** शब्द का प्रयोग ही है। अन्तिम बात से समय की सापेक्ष स्थिति का कोई सम्भव संकेत मिलता हुआ नहीं दीखता है; यह एक स्थानीय भेद हो सकता है, जो बात उक्त ग्रन्थ के स्रोत के सम्बन्ध में अन्य साक्ष्य से मेल खाती है। पहली बात की व्याख्या अत्यन्त स्वाभाविक रूप में इस निश्चितता से हो जाती है कि पाणिनि के ग्रन्थ में बहुत कुछ प्राचीनतर सामग्री सम्मिलित है, जिसका उपयोग

---

१. W. Porzig, ZII. V. 265-80.

२. ZII. v. 193-202; *Zur Aussprache des Sanskrit und Tibetischen* (1926).

३. *Zur Einführung in die indische einheimische Sprachwissenschaft*, ii. 47.

उक्त प्रतिशाख्य ने भी किया था। इसके विरुद्ध दूसरी बात यही हो सकती है कि पाणिनि उक्त प्रातिशाख्य के ही ऋणी हैं।

यास्क के निर्वचनों के निःशेषात्मक विश्लेषण[1] में डाक्टर Hannes Sköld ने सुझाव दिया है कि प्रस्तावित निर्वचनों में से कुछ की व्याख्या इसी आधार पर की जा सकती है कि यास्क किसी प्राकृत भाषा से सुपरिचित थे और उसका प्रयोग करते थे। इस सुझाव के साथ ही प्रो० H. Lüders द्वारा हाल में व्यक्त की हुई[2] यह सम्मति भी रखी जा सकती है कि अशोक के उच्चन्यायालय (Chancery) की भाषा 'एक परिष्कृत उत्कृष्टभाषा' (Art Hochsprache) थी, जब कि वास्तव में बोलचाल की भाषा और अधिक विकसित थी और जो सम्भवतः साहित्यिक प्राकृत भाषाओं से प्रदर्शित अवस्था तक पहुँच चुकी थी, यद्यपि स्पष्टतः यह स्वीकार किया जाता है कि अब तक उक्त दूसरी बात सिद्ध हुई नहीं कही जा सकती है। यह भी कह देना चाहिए कि यास्क के सम्बन्ध में Sköld के प्रमाण अधिक संदेह से रहित नहीं हैं। परन्तु अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व का प्रश्न तो यह है कि क्या इस विषय पर वास्तव में बोल-चाल की भाषा और एक उत्कृष्ट-भाषा के पारस्परिक विरोध की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। हमें तो ऐसा लगता है कि यह विषय बहुत कुछ तत्तद्वर्गीय भाषाओं का है; यास्क प्रायेण उसी भाषा को बोलते थे जिसमें उन्होंने लिखा है, और इसी प्रकार अशोक के अधिकारिवर्ग भी उसी भाषा को बोलते थे जो मूलतः उनके लिखने की भाषा के समान थी, जबकि उसी काल में जनता के निचले दर्जे के लोग उन बोलियों का व्यवहार करते थे जो ध्वन्यात्मक विकार की दृष्टि से कहीं अधिक आगे बढ़ी हुई थीं। यह स्पष्ट है कि आर्य आक्रमण-कर्ता देश के बहुत से प्राचीन-तर निवासियों पर अपनी भाषा को समारोपित करने में सफल हुए थे, और इस स्वाभाविक विश्वास को निर्मूल ठहराने के लिए कोई युक्ति-युक्त तर्क नहीं है कि वे विचित्र प्राकृत शब्द-रूप, जिनको हम यत्र-तत्र ऋग्वेद में भी पाते हैं, यदि वे केवल परवर्ती अपभ्रंश नहीं हैं तो, प्रायेण तत्तद् वर्गों की उन स्थानीय बोलियों से आदान किये हुए शब्द हैं, जिनके साथ भाषा के अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन परम्परानुसारी रूप को बोलने वालों का सम्पर्क था। निम्नस्तरीय भाषा के शब्द-रूपों का प्रभाव निःसन्देह बढ़ने वाला महत्त्व रखता था, क्योंकि उसी से **अष्टाध्यायी** में संगृहीत प्रयत्न-साध्य व्याकरण-सम्बन्धी अध्ययनों को उत्तेजना प्राप्त हुई, जिनसे (संस्कृत) भाषा को विकृत होने से सुरक्षित रखने की पुरोहितों की चिन्ता

१. *The Nirukta*, pp. 128 ff.

२. ZII. v. 259.

प्रमाणित होती है। म्लेच्छत्व (अपशब्द-भाषित्व) की बुराइयों पर पतञ्जलि द्वारा बल दिये जाने से[1] निस्सन्देह रूप से भाषा के अपभ्रंश का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। तो भी तात्कालिक स्थिति के विषय में ऐसा सोचने का कोई आधार नहीं दीखता कि उन दिनों पुरोहितगण धार्मिक कृत्य में ही नियमानुसारिणी (संस्कृत) भाषा का प्रयोग करते थे, परन्तु दैनिक जीवन में वे उसके स्थान में किसी वास्तविक लोकभाषा को ही बोलते थे। इस विषय में एतद्देशीय समाज के उच्चतर वर्गों की प्रधान इंग्लिश के साथ बहुत अच्छा सादृश्य दिखाई देता है; लन्दन नगर के पूर्वीय भाग के पादरी की वास्तविक भाषा प्रधान इंग्लिश होती है, यद्यपि उसके लिए आवश्यक होता है कि, यदि वह एक मिशन में काम करता है तो, उसमें अपनी बोली को जहाजी घाट के श्रमिकों के समझने योग्य बनाने की योग्यता हो, और एक ज़मींदार की वास्तविक भाषा वह होती है जिसका प्रयोग वह स्वभावतः अपने ही समाज में करता है, न कि वह जिसमें वह बिना संकोच के अपने खेतों पर काम करने वालों के साथ अथवा पुराने ढंग के ग्रामीणों के साथ बोलता है, जिनकी स्थानीय बोली प्रायेण प्रधान इंग्लिश से इतनी ही भिन्न होती है जितनी एक प्राचीन प्राकृत संस्कृत से। प्राकृत शब्दों के अनेक संस्कृती-कृत रूपान्तर पाये जाते हैं, जिनमें Zachariae[2] ने प्रोथ[3] शब्द को बढ़ाने का एक रोचक सुझाव दिया है। जहाँ एक ही समाज में भाषाओं के उच्चतर और निम्नतर दो रूप समान काल में रहते हैं वहाँ उक्त स्थिति पूर्णतया स्वाभाविक रूप में देखने में आती है; इसके अतिरिक्त स्थानीय और तत्तद्वर्गीय बोलियों के विकास के कारण होने वाले भाषा-संमिश्रण की सम्भावनाएँ भी हो सकती हैं। कम से कम संस्कृत के लोक-भाषात्व के निषेधार्थ प्रयुक्त तर्कों द्वारा प्रधान इंग्लिश के सम्बन्ध

---

१. पाणिनि १।३।१ पर कात्यायन के वार्त्तिक १२ से यही बात स्पष्ट है। Sköld (IA. iv. 181 ff.) ने, ऋग्वेदप्रातिशाख्य से पाणिनि प्राचीनतर हैं, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर, *Zur Einführung in die ind. einheim. Sprachwissenschaft*, ii. 30 f. में B. Liebich द्वारा दी हुई यक्तियों के सामने उनकी बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२. ZII. V. 228-31.

३. आगे, पृ० ५७ पर, (पाणिनि १।४।५६ के भाष्य से) उद्धृत पद्य में पान्थम् का एक पाठान्तर। इस विचार के लिए तु० शकुन्तला, ४, (ed. Cappeller) पृ० ४८.

में भी, जो निस्सन्देह रूप से एक वास्तविक लोक-भाषा है, उक्त-जैसी स्थापना की सिद्धि पर्याप्तरूपेण की जा सकती है।[1]

इसके अतिरिक्त, लोकभाषाओं पर भाषा के उत्कृष्टतर रूप (संस्कृत) का जो बराबर प्रभाव पड़ता रहता था उसकी व्याख्या में उक्त प्रकार से इस तथ्य से सहायता मिलती है कि बातचीत में उच्चतर वर्गों द्वारा संस्कृत का नियमतः व्यवहार किया जाता था, और उसके फलस्वरूप राज-दरबार से सम्बद्ध मण्डलियाँ इस विषय में ब्राह्मणों के उदाहरण का अनुसरण करती थीं। और बातों के साथ-साथ उक्त प्रभाव लोकभाषाओं में **तत्सम** शब्दों के—उन शब्दों के जिनकी ध्वन्यात्मक स्थिति लोकभाषाओं की प्रवृत्तियों से विरुद्ध थी— बराबर प्रवेश से अपने को व्यक्त कर देता है। इस स्थिति की पर्याप्तरूप से केवल साहित्य से आदान की स्थापना से व्याख्या करना बिलकुल असम्भव है; जिन लोगों ने लोकभाषाओं का किसी रूप में लिखने में अथवा साहित्यिक रचना में व्यवहार किया वे निस्सन्देह बराबर उन मण्डलियों के सम्पर्क में थे जिनमें संस्कृत वास्तव में जीवित रूप में व्यवहृत होती थी। इसमें सन्देह नहीं कि मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप भाषागत महत्त्व-युक्त परिवर्तन हुए, जो बोलचाल की भाषा के रूप में संस्कृत के लिए हानिकर थे। अन्ततोगत्वा इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान शासकों के दरबारों में सरकारी व्यवहार में संस्कृत का स्थान एक नई भाषा ने ले लिया। फिर भी ३०० ई० से १२०० ई० तक के समय में, जिसका इस ग्रन्थ में विचार किया गया है, संस्कृत के प्रयोग के विस्तार या स्वरूप में हुए मौलिक परिवर्तन के विषय में कोई साक्ष्य नहीं है; **कामसूत्र**, जिसका समय लगभग ४०० है, राजशेखर (लगभग ९००) की **काव्यमीमांसा**, और विल्हण (लगभग ११००) से यही मानसिक प्रभाव पड़ता है।

---

१. B. Liebich (*Festgabe Streitberg*, pp. 230-2) ने **कम्पन या कम्पना** (आगे, पृ० २०८) के रूप में एक रोचक आदानशब्द को प्रस्तत किया है। वे उसको *Campus* से निकाला हुआ समझते हैं। Liebich ने एक अत्यन्त विनोद-प्रद टिप्पणी दी है (ZII. V. 153-63), जिसमें दिखाया गया है कि **पञ्चतन्त्र** १।७ (आगे, पृ० ३०७) के मूल पाठ में, पिस्सू (flea) न होकर, **मत्कुण** (bug) पाया जाता है, और यह कि दूसरा पाठ Burzōe के रूपान्तर से ही आया है। Sir E. Denison Ross (*Ocean of Story*. V. pp. v ff.; BSOS. iii. 443) Burzōe के तथाकथित वर्णन को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु एक पहलवी रूपान्तर के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं किया जाता है; भारतीय-विज्ञान के विशेषज्ञों के लिए केवल वही रूपान्तर महत्त्व रखता ह।

Literature के अपने संक्षिप्त रेखाचित्र में मैं उन अनेक विचारों को पूर्वाभाषित कर चुका हूँ जिनका इस ग्रन्थ में विस्तार से प्रतिपादन तथा और भी अधिक युक्ति से समर्थन किया गया है।

इस ग्रन्थ के तथा मेरे *Sanskrit Drama* के प्रकाशनार्थ प्रेस के अधिकारियों के उद्यत होने के लिए, तथा इसकी तैयारी में मेरी पत्नी द्वारा दी गई अधिक सहायता के लिए अत्यन्त सच्ची गुणज्ञता प्रकट करना मेरे लिए आवश्यक है।

UNIVERSITY OF EDINBURGH, A. BERRIEDALE KEITH
फ़र्वरी १९२८.

कनिष्क की तिथि के महत्त्वयुक्त काल-क्रम-संबन्धी विषय में अभी तक निश्चितता नहीं प्राप्त हुई है; उनके समय का प्रारम्भ १२८–९ ई० से होता है[१]—इसको सिद्ध किया गया है, जबकि खोतान में उनकी मृत्यु का समय १५२ रखा गया है।[२] इस प्रकार उनका समय ७८ ई० से अर्धशताब्दी बाद आता है; वर्त्तमान समय में इस विषय में यही कहा जा सकता है कि इस नवीन तिथि-निर्धारण से, इसमें अनेक गुणों के होने पर भी, अनेक कठिनाइयों की व्याख्या नहीं होती और वे ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। हर्ष के जीवन की घटनाओं पर भी हाल में फिर से विचार किया गया है,[३] परन्तु यथारीति उससे कोई निर्णायक परिणाम नहीं निकले हैं।

प्रबल रूप से प्राच्य साहित्य के प्रति जिज्ञासा से हीन एक विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के अल्प साधनों के समान ही, स्थान के संकोच की आवश्यकता के कारण भी (उद्धृत) ग्रन्थों के विवरण से सम्बद्ध उल्लेखों को न्यूनतम सीमा तक घटाना आवश्यक हो गया है; तो भी मुझे विश्वास है, मैंने स्थायी महत्त्व का कोई उल्लेख छोड़ा नहीं है; *Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads* नाम की अपनी पुस्तक के समान, मैंने यहाँ भी ऐसे ग्रन्थ को छोड़ दिया है जिसमें आपाततः केवल कल्पना-शक्ति को दिखलाया गया है अथवा अवैज्ञानिक रूप में प्राचीन भ्रान्तियों को पुनर्जीवित करने का यत्न किया गया है। विशिष्ट आभार-स्वीकृतियाँ टिप्पणियों में प्राप्त होंगी; सामान्य रूप से मैं साहित्य के इतिहास-लेखकों और सुभाषित-संग्रहों के सम्पादकों का ऋणी हूँ, और मैं सर्व-प्रोफेसर Macdonell, Peterson, Thomas, Weber, Oldenberg, von Schroeder और Winternitz के प्रति कृतज्ञतापूर्ण अनेक धन्यवाद समर्पित करता हूँ। शैली और साहित्यिक रूप की बातों पर विशेष ध्यान देते हुए मैंने उन विषयों पर विस्तार के साथ विचार को बचाने का यत्न किया है जिन पर मरे पूर्ववर्त्तियों ने कार्यकर रूप में पहले ही विचार कर लिया है। १९२२ में The Heritage of India Series के लिए लिखे गये *Classical Sanskrit*

---

१. W. E. von Wijk, *Acta Orientalia*, v. 168 ff.

२. S. Konow, IHQ. iii. 851-6. इस लेख के निष्कर्ष निश्चित होने से बहुत दूर ह।.

३. Nihar Ranjan Ray, IHQ. iii. 769-92. इस अत्यन्त रोचक त्रैमासिक पत्रिका के, जिसमें आगे ही विषयों के विस्तृत क्षेत्र में अधिक उपयोगी और सूचना-प्रद सामग्री निकल चुकी है, संपादक, डा० नरेन्द्र नाथ ला, के लिए बधाइयाँ देना समुचित है।

विषय-सूची

भाग ३

शास्त्रीय वाङ्मय

संक्षिप्त संकेत

ABA.	Abhandlungen der Berliner Akademie der Wissenschaften, philol.-histor. Klasse.
ABayA.	Abhandlungen der Bagerischen Akademie der Wissenschaften phil. Klasse.
ABI.	Annals of the Bhandarkar Institute.
AGGW.	Abhandlungen der k¨nigl. Gesellschaft der Wissenschaften zu Göttingen, philol.-histor. Klasse.
AKM.	Abhandlungen für die kunde des Morgenlandes.
AMG.	Annales du Muśee. Guimet.
AMJV.	Sir Asutosh Mookerjee Silver Jubilee Volumes.
ĀnSS.	Ānandāśrama Sanskrit Series, Poona.
ASGW.	Abhandlungen der philol.-histor. Klasse der Königl. Sächs. Gesellschaft der Wissenschaften.
BB.	Bibliotheca Buddhica, St. Petersberg.
BBeitr.	Beiträge zur Kunde der indogermanischen Sprachen, herausgeb. von A. Bezzenberger.
BEFEO.	Bulletin de l'école françaişe d'Extrême Orient.
BenSS.	Benares Sanskrit Series.
BI.	Bibliotheca Indica, Calcutta.
BSGW.	Berichte über die Verhandlungen der Königl. Sächs. Gesellschaft der Wissenschaften zu Leipzig, philol.-histor. Klasse.
BSL.	Bulletin de la Société de Linguistique de Paris.
BSOS.	Bulletin of the School of Oriental Studies, London Institution.
BSS.	Bombay Sanskrit Series.
ChSS.	Chowkhambā Sanskrit Series, Benares.
DLZ.	Deutsche Literaturzeitung.
EHI.	Early History of India, by V. A. Smith, 4th ed., Oxford, 1024.
EHR.	English Historical Review
EI.	Epigraphia Indica.
ERE.	Encyclopaedia of Religion and Ethics.
GGA.	Göttinger gelehrte Anzeigen.
GIL.	Geschichte der indischen Litteratur, by M. Winternitz.
GN.	Nachrichten von der königl. Gesellschaft der Wissenschaften zu Göttingen, philol.- histor. Klasse.
GSAI.	Giornale della Società Asiatica Italiana.
Haeberlin.	Kāvyasaṁgraha, by J. Haeberlin, Calcutta 1847.

H. Prasād, Report I, II. Report on the Search for Sanskrit MSS. 1895-1900, 1901-6.
HOS. Harvard Oriental Studies, ed. Charles Lanman.
IA. Indian Antiquary.
IF. Indogermanishe Forschungen.
IHQ. Indian Historical Quartuly.
IOC. India Office Catalogue of Sanskrit Manuscripts.
IS. Indische Studien, ed. A. Weber.
IT. Indian Thought, Allahabad.
JA. Journal Asiatique.
JAOS. Journal of the American Oriental Society.
JBRAS. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.
JPASB. Jour. and Proceed. of the Asiatic Society of Bengal.
JRAS Journal of the Royal Asiatic Society.
KM. Kāvyamālā, Bombay.
KZ. Zeitschrift für vergleichende Sprachforschung.
MASI. Memoirs of the Archaeological Survey of India.
MSL. Mémoires de la Société de Linguistique de Paris.
NSP. Nirṇaya Sāgara Press, Bombay.
OC. Orientalistenkongresse.
POCM. Proceedings of the Third Oriental Congress, Madras, 1924.
POCP Proceedings and Transactions of the First Oriental Congress, Poona, 1919
RHR. Revue de l'histoire des religions, Paris
RSO. Rivista degli studi orientali, Rome.
SBA. Sitzungsberichte der Berliner Akademie of Wissenschaften.
SBayA. Sitzungsberichte der Bayerischen Akademie der Wissenschaften, philol.-histor. Klasse.
SBE. Sacred Books of the East, Oxford.
SBH. Sacred Books of the Hindus.
SIFI. Study Italiani di Filologia Indo-Iranica.
SWA. Sitzungsberichte der Wiener Akademie der Wissenschaften.
TSS. Trivandrum Sanskrit Series, ed. T. Gaṇapati Śāstri.
VizSS. Vizianagram Sanskrit Series.
WZKM. Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes.
ZDMG. Zeitschrft der DeutschenMorgenländischen Gesellschaft.
ZII. Zeitschrift für Indologie und Iranistik.

भाग · १

भाषा

१

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश

१. संस्कृत का प्रारम्भ

द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० में किसी समय भारत-यूरोपीय जातियों ने, पूर्णरूप में अथवा लगभग पूर्णरूप में, ईरान, एशिया माइनर, और उत्तर-पश्चिम भारत के विस्तृत भू-भागों पर अपना अधिकार जमा लिया था[1]। उनकी गतिविधियों और वंश-मूलक संबन्धों की समस्याओं का अब भी समाधान नहीं हो पाया है, तो भी भाषा-संबन्धी कारणों के आधार पर हम एक मानव-समुदाय की कल्पना करते हैं और सुविधा-वश उसको 'आर्य' नाम देते हैं। उसी मानव-समुदाय की भाषा को हम भारत और ईरान की भाषाओं की मूल-भाषा कह सकते हैं। इन भारतीय भाषाओं[2] के संबन्ध में प्राचीनतम साक्ष्य ऋग्वेद है। वैदिक सूक्तों की इस वृहत् संहिता की भाषा स्पष्टतया पुरोहितों से संवन्ध रखनेवाली और रूढ़ि-मूलक है। इससे प्रमाणित होता है कि चिरकाल से विभिन्न स्थानों के अनेक पृथक्-पृथक् जन-समूहों में प्रतिस्पर्धा की भावना से युक्त पुरोहितों के वंशों द्वारा धार्मिक (अथवा वैदिक) कविता का परिष्कार होता आ रहा था। कुछ सूक्तों की रचना निःसंदेह पंजाब में हुई थी। अन्य सूक्तों की रचना उस प्रदेश में हुई थी जिसको ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुरुओं और पंचालों का निवास-स्थान माना गया है। ऋग्वेद में जिन अनेक जन-समूहों को हम पाते हैं उन्हीं के परस्पर मिल जाने से कुरुओं और पंचालों की उत्पत्ति हुई थी। ऐसा भी कहा जाता है कि ऋग्वेद का छठा मण्डल उस समय से पूर्व की रचना है जब कि उन जन-समूहों ने वास्तविक भारत में प्रवेश किया था। तो भी यह कथन अभी तक अग्राह्य ही है। उक्त परिस्थितियों के कारण यह बिलकुल स्वाभाविक है कि ऋग्वेद की भाषा में विभिन्न स्थानीय बोलियों का मेल दिखाई देता है। इस विवेचन के प्रयत्न में महान् कठिनाइयों के रहने पर भी, ऋग्वेद के मूल में रहने

---

1. Cf. Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, Chap. I.

2. Cf. Wackernagel, *Altind. Gramm.*, i, pp. ixff. ; H. Reichelt, *Festschrift Streitberg* (1824), pp. 238ff.; Macdonell, *Vedic Grammar* (1910) ; Meillet, IF. xxxi. 120ff. ; JA. 1910, ii. 184 ff. ; *Mélanges Lévi*, p. 20 ; Grammont, MSL. xix. 254 ff. ; Bloch, *Formation de la langue marathe* (1920) ; S. K. Chatterji, *Bengali* (1926).

वाली स्थानीय बोली की विशेषताओं के निर्धारण की ओर कुछ प्रगति हो सकी है। उसकी विशेषताएँ थीं—दो स्वरों के मध्य में आनेवाले ध्, भ्, ड् और ढ् का ह्, ळ् और ळ्ह् के रूप में विवृत उच्चारण; ल् का र् में परिवर्तन; सार्वनामिक तृतीया-बहुवचन के एभिः का नाम-रूपों में प्रवेश। दूसरी स्थानीय बोलियों से यत्र-तत्र शब्द-रूपों का आदान निश्चित रूप से माना जा सकता है। कहीं-कहीं इस प्रकार के उद्धृत शब्द-रूप ऋग्वेदीय शब्द-रूपों के समान ही प्राचीन हो सकते हैं, जैसे ल् से युक्त शब्द और जज्झती जिसका ज्झ् आर्य-भाषा के gž̌h के स्थानीय क्ष् का स्थानीय है। इसके विपरीत ऐसे शब्द-रूप[१] भी हम को मिलते हैं जो वर्ण-विज्ञान की दृष्टि से ऋग्वेद में साधारणतया प्राप्त रूपों से अधिक समुन्नत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे शब्द-रूप या तो उन जन-समूहों से लिये हुए हैं जिनकी भाषा में, कदाचित् अनार्य अंशों के साथ अपेक्षाकृत अधिक संमिश्रण के कारण, शीघ्रतर परिवर्तन हो गया था, या जनता के निचले वर्गों से लिये हुए हैं। उदाहरणार्थ, कृत के साथ-साथ प्रयुक्त कट में और कर्त के साथ-साथ प्रयुक्त काट में हम अनियमित मूर्धन्य वर्णों को पाते हैं। इसी प्रकार के अनियमित औच्चारणिक परिवर्तनों के उदाहरण हैं—कृच्छ्र में प्स् के स्थान में छ्; ज्योतिस् में द्य् के स्थान में ज्य्; शिथिर में ऋ के स्थान में इ; बृश के स्थान में बुस, इत्यादि। इन स्थानीय बोलियों के विशिष्ट स्थानों का निर्देश करना असम्भव है। ऋग्वेद में रेफोच्चारण की प्रवृत्ति उसके पाश्चात्य उद्भव के अनुकूल ही है, क्योंकि उक्त प्रवृत्ति का स्वभावतः संबन्ध ईरान से है। आगे चलकर ल् का प्रयोग पूर्वीय संबन्ध का द्योतक है। इसी प्रकार 'सूरे दुहिता' इस बँधे-ढंग के प्रयोग में ए संभवतः az का स्थानीय है, जैसा कि पूर्वीय प्राकृत में देखा जाता है।

ऋग्वेद की भाषा के लगातार विकास का अनुसरण हम, उत्तर-कालीन अन्य वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा, लौकिक संस्कृत तक कर सकते हैं। परन्तु यह विकास एक विशेष प्रकार का है; यह जन-साधारण की भाषा का ऐसा स्वाभाविक विकास नहीं है जो परम्परा प्राप्त रूढि से अप्रभावित और व्याकरण-संबन्धी अध्ययन से अनियन्त्रित हो। उन जन-जातियों की

---

१. कुछ अवस्थाओं में, इसमें सन्देह नहीं, संक्रान्ति के कारण शब्दरूप परिवर्तित हो गये हैं।

भाषा में, जिनके पुरोहितों द्वारा ऋग्वेदीय सूक्तों की प्रवृत्ति हुई, निःसन्देह रूप में भाषागत परिवर्तन के समस्त स्वाभाविक कारण अपना काम कर रहे थे। उस परिवर्तन में, बहुत संभव है, और भी तीव्रता इस कारण से आ गई थी कि उत्तर की प्राचीनतर निवासी मुंडा और द्राविड जन-जातियों के आर्यों के अधिकार में आजाने से जनता में अनार्य अंशों की क्रमशः वृद्धि हो रही थी।[१] परन्तु, कम से कम जनता के उच्चतर वर्गों में, भाषा के परिवर्तन के प्रति विरोध-भावना काम कर रही थी और उसके कारण थे—वैदिक भाषाका सातत्येन प्रयोग और उसका लगन के साथ अध्ययन। भाषा के इस प्रकार के नियन्त्रित विकास के अन्य उदाहरण भी पाये जाते हैं। ग्रीक जगत् की सामान्य भाषा (Koine) का, प्रथम शताब्दी ई० पू० में स्थिरता को प्राप्त लैटिन भाषा का, और आधुनिक इंग्लिश भाषा का इतिहास भाषा के स्वरूप को स्थिर करने में साहित्य के प्रभाव को प्रमाणित करता है। भारत में उक्त प्रवृत्ति को उसके उन प्राचीन वैयाकरणों के विशिष्ट कार्यों से बल मिला था जिनका विश्लेषणात्मक कौशल पाश्चात्य जगत् में बहुत पिछले काल तक प्राप्त कौशल से कहीं बढ़ा-चढ़ा था। भाषा के स्वाभाविक जीवन में विघटन और पुनर्घटन का चक्र बराबर चलता रहता है; अभिव्यक्ति के पुराने ढंग तिरोहित हो जाते हैं और नये आविर्भूत हो जाते हैं; सुबन्त और तिङन्त रूपों के प्राचीन भेद नष्ट हो जाते हैं, और नये भेद चल पड़ते हैं। संस्कृत में वैयाकरणों ने अनियमित प्रयोगों के पृथक्करण और वैकल्पिक रूपों के अप्रयोग के मार्ग को तो अपना लिया और वे उसको समकालीन प्राकृतों की अपेक्षा कहीं अधिक दूर तक भी ले गये, परन्तु उन्होंने किसी नवीन शब्द-रूप को कदाचित ही प्रचलित होने दिया। इस प्रकार उन्होंने एक सुव्यवस्थित और विशुद्ध भाषा को जन्म दिया जो सच्चे अर्थों में संस्कृत थी। सब से प्रथम रामायण में उसको 'संस्कृत' कहा गया है। यज्ञ में अपशब्दों के प्रयोग के प्रायश्चित्तार्थ सारस्वती नामक

1. Cf. W. Peterson, JAOS. xxxii. 414-28; Michelson, JAOS. xxxiii. 145-9; Keith, *Camb. Hist. India*, i. 109ff. सामान्य बुद्धि से द्राविड और मुंडा जनजातियों का प्रभाव अनिवार्य प्रतीत होता है, यद्यपि इसका प्रमाण देना कठिन है; Przyluski, MSL. xxii. 205ff.; BSL. xxiv. 120, 255ff., xx.v.66ff.; Bloch, xxv. 1ff.; Lévi, JA. cciii. 1-56. Przyluski ने संस्कृति पर आस्ट्रो-एशियाटिक प्रभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है; JA. ccv. 101ff.; ccviii. 1ff.; BSL. xxvi. 98ff. Cf. Poussin, *Indo-européens*, pp. 198ff.; Chatterji, i. 170 ff. 199.

एक विशेष इष्टि के विधान से स्पष्ट है कि भाषा की विशुद्धता की रक्षा में याज्ञिक धर्म का भी एक महान् हाथ था। इसी बात की पुष्टि महाभाष्य में पतञ्जलि (१५० ई०पू०) के इस कथन से भी होती है कि किसी समय कुछ ऐसे परावरज्ञ ऋषि थे जो अपनी व्यवहारिक बोलचाल में यद् वा नस् तद् वा नः के स्थान में यर् वा णस् तर् वा णः इस प्रकार अपशब्दों का प्रयोग करते थे, परन्तु याज्ञ कर्म में बिलकुल शुद्ध प्रयोग ही करते थे।

वैयाकरणों के निष्कर्षों को संभवतः चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में पाणिनि की अष्टाध्यायी में संगृहीत किया गया। उनका प्रभाव वाक्य में अथवा किसी छन्द के चरण में शब्दों की सन्धि-विषयक कड़ी योजना में दिखाई देता है। भाषागत एक स्वाभाविक प्रवृत्ति का कुछ असंभव सा यह कड़ा रूपान्तरण स्पष्टतः कृत्रिम है और ऋग्वेद में तो इसके प्रयोग से प्रायेण छन्द का प्रभाव ही नष्ट हो जाता है। प्राचीनतर भाषा के इय् और उव् के स्थान में अनेकत्र य् और व् के प्रयोग की प्रवृत्ति में भी उसी प्रकार की कड़ी नियम-बद्धता दिखाई देती है। अनेक शब्दों में र् के स्थान में ल् के मानने में स्थानीय बोलियों का प्रभाव ही कारण हो सकता है। ऋग्वेद के मूल में रहने वाली स्थानीय बोली और पाणिनि की स्थानीय बोली का कुछ भेद इससे प्रकट हो जाता है कि पाणिनि ने 'ड् और ढ् के स्थान में ळ् और ळ्ह्'[1] हो जाते हैं, इस नियमकी नितरां उपेक्षा की है। ऊपर की बातों को छोड़कर, विकास की मुख्य विशेषता हमें, संभवतः द्राविड प्रभाव के कारण, मूर्धन्यीभाव को प्रवृत्ति के बढ़ने में मिलती है।

रूप-विज्ञान के विषय में, वैकल्पिक रूपों का विलोप हो गया; अकारान्त शब्दों के तृतीया के एकवचन में एन का वैकल्पिक आ विलुप्त हो गया, द्विवचन में अ और आ ने अपना स्थान केवल औ को दे दिया, बहुवचन में आसस् ने आस् को, आ ने आनि को, एभिस् न ऐस् को, और आम् ने आनाम् को स्थान दे दिया; अन् जिनके अन्त में आता है ऐसे शब्दों के सप्तमी के एकवचन में केवल नि का ही प्रयोग हो सकता है; धातुरूप और व्युत्पन्न ईकारान्त शब्दों का कार्यकारी भेद विलुप्त हो जाता है; 'सबल' (strong) और 'दुर्बल' (weak) रूपों का एक दूसरे के क्षेत्र में अनियमित प्रवेश वर्जित कर दिया गया है; अन्त में वन्त् वाले शब्दों के संबोधन का अनियमित वस् छोड़ दिया गया है; सर्वनामों के

1. Cf. Lüders, *Festschrift Wackernagel*, pp. 294ff.

रूपों में प्रथमा के युवम् और पञ्चमी के युवत् इन रूपों के विलुप्त हो जाने से प्रत्येक विभक्ति में नामों के तीन रूपों की सरलता सर्वनामों में भी आगयी है। इसी प्रकार, तिङ्न्त रूपों में भी परस्मैपद के उत्तमपुरुष बहुवचन में वैकल्पिक मसि को छोड़ दिया गया है, आत्मनेपद के प्रथमपुरुष एकवचन के ए ने अपना स्थान ते को दे दिया है। मध्यमपुरुष बहुवचन में ध्व ने अपना स्थान ध्वम् को दे दिया है। प्रथमपुरुष बहुवचन के र् वाले रूप केवल लिट् लकार और शी धातु में पाये जाते हैं। लोट् लकार में ध्वात् को छोड़ दिया गया है, और मध्यमपुरुष में हि की तरह धि का प्रयोग नहीं किया जा सकता। कहीं अधिकतर महत्त्व की बात यह है कि वैदिक लेट् लकार को पृथक कर दिया गया है। ऐसा समझा गया कि उसका काम ठीक तरह से लिङ् लकार से निकल सकता है; हां, लेट् लकार के उत्तम पुरुष के सब रूप लोट् लकार में सम्मिलित कर लिये गये। लिङ् लकार के संबन्ध में भी रूपों के बाहुल्य में गम्भीर न्यूनता आगयी है; केवल सार्वधातुकरूप तथा एक विशिष्ट आशीर्लिङ् ही प्रयुक्त हो सकता है। तुमर्थक प्रत्ययों की अत्यधिक बहुलता में क्रमशः कमी आती गयी है; अन्त में केवल तुम् प्रत्यय ही शेष रह जाता है। पूर्वकालिक क्रिया को बतानेवाले प्रत्ययों (gerunds) में से त्वा, त्वी और त्वाय के स्थान को भी ले लेता है। शब्दरूपों के संबन्ध में उपरिनिर्दिष्ट हानि के मुक़ाबले में नवीन शब्द-रूपों का विकास बहुत ही कम अंश में दिखाया जा सकता है। वह विकास यह है—आत्मनेपद में लुट् लकार के उत्तम पुरुष के एकवचन में ताहे का रूप, द्वितीयान्त नाम रूपों के साथ अनुप्रयुक्त कृ, भू, अथवा आस् इन सहायक क्रियाओं क योग से बना लिट् लकार[१], तव्य और अनीय द्वारा कृत्य प्रत्ययों का विस्तत प्रयोग, कर्तृवाच्य भूतकालिक तवन्त् प्रत्ययान्त प्रयोगों की सृष्टि, लुङ् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन में अदायिषि जैसे कर्मवाच्य अथवा भाववाच्य रूप की कल्पना, और तृतीय कोटि के धातुज रूपों का विकास।

उपरिनिर्दिष्ट हानियों में से कुछ में संस्कृत प्राकृत के साथ-साथ चलती है; परन्तु इस बात को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिए, इसके लिए हमारे पास निर्णयात्मक साक्ष्य विद्यमान है। जहां प्राकृत में नाम और धातु दोनों के द्विवचन, आत्मनेपद, और भूतकालिक धातुरूपों जैसे शब्दों के वर्ग लगभग

---

१. धातुरूपों के प्रयोग के परिवर्तन के विषय में देखिए L. Renou, *La valeur du parfait dans les hymnes védiques* (1925), pp. 88ff., 188ff.

नष्ट हो गये, वहां संस्कृत ने उनकी कड़ाई के साथ रक्षा की है। दूसरी ओर, अनेक अनियमित रूप जो प्राकृत भाषा में जीवित रह सके संस्कृत में छोड़ दिये गये, जैसे—अकारान्त शब्दों के तृतीया के एकवचन में और नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा के बहुवचन में आ, पुंलिङ्ग में प्रथमा के बहुवचन में आसस्, गोनाम् यह रूप, सार्वनामिक बहुवचन अस्मे और युष्मे, यात् और तात् ये संक्षिप्त रूप, और र् से युक्त धातुरूप। इसी प्रकार लेट् लकार के कुछ अवशेष, तुमर्थ में तवे, लुङ् लकार का अकर् और तृतीया के बहुवचन में एभिस् ये रूप प्राकृत में वर्तमान हैं, परन्तु संस्कृत में उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, यद्यपि पाणिनि वैदिक स्वर को पूर्णतया स्वीकार करते हैं, तो भी इस में सन्देह नहीं किया जा सकता कि पाणिनि के समय में ही वास्तविक भाषा में, अनेक प्रदेशों में, वैदिक स्वर का स्थान प्रश्वासमूलक बलाघात ने ले लिया था। इस परिणाम की ओर प्रवृत्ति ऋग्वेद में ही दिखाई देती है। वहां छन्द के साक्ष्य के आधार पर कभी-कभी दुहिता को धिता पढ़ना चाहिए, जिसकी तुलना पालि के धीता से की जा सकती है[1]। इसी प्रकार वहां अनुदात्त अक्षरों के अनन्तर आनेवाले भ् और ध् दुर्बल होकर नियमतः ह् हो जाते हैं[2]। ऐसा भी कुछ कारणों के आधार पर माना जाता है कि शतपथब्राह्मण में स्वर के लिखने के विचित्र प्रकार का कारण गीतात्मक स्वर के उक्त बलाघात में संक्रमण की अवस्था विशेष में पाया जा सकता है।[3]

कुछ लेखकों का कहना है कि लौकिक संस्कृत एक कृत्रिम भाषा है जिसको ब्राह्मणों ने वैदिकभाषा की सहायता से अपनी प्राकृतभाषा को परिष्कृत करके, बौद्धों द्वारा पालि में एक सुन्दर साहित्य के निर्माण की प्रतिक्रिया के रूप में, बनाया था।[4] परन्तु हमें संस्कृत वैयाकरणों के प्रयत्न को इतना अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए कि हम भी उपर्युक्त मत के समान संस्कृत को एक कृत्रिम भाषा ही मान लें। वास्तविक दृष्टि से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि पिछली वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में

1. Lüders, KZ. xlix.236f.
2. Wackernagel, *Altind. Gramm.*, i. 252 f.
3. Leumann, KZ. xxxi.22f.
4. Hoernle and Grierson, *Bihārī* Dict., pp.33ff.; Senart, JA. *sér.* 8, viii. 318ff. Contrast Franke, *B.Beitr.*, xvii. 86; Boxwell, *Trans. Phil. Soc.* 1885—7, pp.656 ff. Poussin (*Indo—européens*, pp. 191 ff.) संस्कृत के साहित्यिक स्वरूप पर बल देते हैं।

वैदिक भाषा का बराबर क्रमिक विकास देखा जाता है। यह भी स्पष्ट है कि पाणिनि-व्याकरण की 'भाषा', ब्राह्मणों और प्राचीन उपनिषदों की भाषा से अभिन्न न होते हुए भी, उससे घनिष्ठतया संबद्ध है। और यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो लौकिक संस्कृत में ऐसा कोई लक्षण भी नहीं दिखाई देता जिस से उसे एक कृत्रिम भाषा कहा जा सके। वैदिक संहिताओं की शब्द-रूपों की अत्यधिक बहुलता की अपेक्षा यद्यपि लौकिक संस्कृत काफ़ी सरल है, तो भी उसमें कृत्रिम एकरूपता नहीं दिखाई देती। इसके विपरीत, उसमें अपवादों की भरमार है। इस से स्पष्ट है कि संस्कृत-वैयाकरण एक कृत्रिम भाषा के जनक नहीं थे। वे एक प्रकार से दुराराध्य सामग्री को सुविधा-जनक रूप में लाने के उद्देश्य से एक महान् प्रयत्न में संलग्न थे।

२. संस्कृत के प्रयोग का स्वरूप ओर विस्तार

हम देख चुके हैं कि वैयाकरणों की संस्कृत अपने मूलरूप में वैदिक भाषा का ही एक न्याय-प्राप्त विकास है। अब पाणिनि के समय में और उसके उत्तरकाल में उसके प्रयोग के विस्तार के विषय में विचार करना अवशिष्ट है। इस विषय के परीक्षण में भारतवर्ष की सामाजिक परिस्थितियों का स्मरण आवश्यक है। ब्रिटेन में आजकल बोली जाने वाली और लिखी जाने वाली इंग्लिश भाषा के विभेदों में जटिलता और बाहुल्य दोनों विद्यमान हैं; भारत में तो जहां जाति-बिरादरी, वंश और मानव-जाति-मूलक भेद कहीं अधिक मुख्य और महत्त्व-युक्त थे, भाषागत वस्तु-स्थिति कहीं अधिक जटिल थी। तो भी यह तो स्पष्ट है[1] कि संस्कृत ब्राह्मणों की सभ्यता की भाषा थी। उस सभ्यता का विस्तार बराबर बढ़ रहा था, यद्यपि ब्राह्मणों के धर्म को पांचवी शताब्दी ई० पू० से नये संप्रदायों के साथ, विशेषतः बौद्ध और जैन संप्रदायों के साथ, प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा था। बौद्ध ग्रंथों से ही हमें ब्राह्मणों के धर्म के प्राधान्य का निश्चायक साक्ष्य मिल जाता है। बुद्ध के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे यह प्रतीत होता है कि उनका प्रयत्न ब्राह्मण-धर्म के आदर्श का उन्मूलन करने के लिए नहीं था। उनका प्रयत्न केवल यही था कि सच्चे ब्राह्मण के विशिष्ट-लक्षण के रूप में जो जन्म का स्थान था वह योग्यता को दिला

1. Thomas, JRAS. 1904, pp. 465 ff.

दिया जाय और इस प्रकार उस धर्म के आन्तरिक स्वरूप को ही बदल दिया जाय। सार्वजनिक धार्मिक कृत्य (श्रौतकर्मकाण्ड) और गृह्य कर्मकाण्ड दोनों का प्रतिपादन और संपादन संस्कृत में होता था और शिक्षा ब्राह्मणों के ही हाथों में थी। बौद्ध ग्रन्थ बारबार ब्राह्मणों के इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि जन-साधारण की शिक्षा (लोकपक्ति) ब्राह्मणों का ही कर्तव्य था। जातकों की कथाओं[1] से पता लगता है कि सब वर्गों के नवयुवक, न केवल ब्राह्मणों के ही अपितु क्षत्रियों और वैश्यों के भी बालक, उत्तर में ब्राह्मण अध्यापकों से शिक्षा ग्रहण करते थे। संस्कृत विज्ञान की भाषा थी—न केवल व्याकरण, छन्द, ज्यौतिष, वर्णशिक्षा, निरुक्त—इन विषयों की ही, किन्तु निःसन्देह रूप से बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित सामुद्रिक-शास्त्र तथा भूतविद्या–जैसी यन्त्र-तन्त्र की ओर अधिक झुकी हुई विद्याओं की भी। इस की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इन्द्रजाल-विद्या, सर्वजनविद्या और देवजनविद्या **शतपथब्राह्मण**[2] में दी हुई उन विषयों की सूची में संमिलित हैं जिनको ब्राह्मण लोग जनता को पढ़ाते थे। शतपथब्राह्मण[3] में ही अनुशासनों, विद्याओं, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसिओं का भी उल्लेख है। अनुश्रुति की यह परम्परा **महाभाष्य**[4] से भी प्रमाणित होती है, जिसमें संस्कृत भाषा के विस्तार के क्षेत्र में चारों वेदों, उनके अङ्गों, रहस्यों, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण और वैद्यक को सम्मिलित कर दिया गया है। **आश्वलायन गृह्यसूत्र**[5] में भी, जिसका समय पाणिनि से अधिक दूर का नहीं है, **शतपथब्राह्मण** की सूची वहुत कुछ दुहरायी गयी है; साथ ही उसमें सूत्रों, भाष्यों, भारत, महाभारत और धर्माचार्यों के ग्रन्थों को भी जोड़ दिया गया है। धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद, वास्तु-विद्या और राजनीति जैसी अन्य विद्याओं का उल्लेख महाभारत[6] में आता है। जहां तक ये विद्याएँ ब्राह्मणों के अधिकार में थीं, इसमें कोई संदेह नहीं कि इनके संबन्ध म भी संस्कृत अपना स्थान रखती थी।

---

1. Fick, *Sociale Gliederung*, p.131.
2. xiii.4.3.9 ff.
3. xi.5.6.8. Cf. *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, ii.4.10; iv.i.2; 5.11; *Chāndogy* vii. 1. 2; Faddegon, *Act. Or.* iv. 4 ff., 133. वाकोवाक्य कदाचित् उन संवादों को कहते हैं जो दर्शन में विकसित हो जाते हैं।
4. i. 9. 5. iii. 3. i; 4. 1. Cf. Utgikar, POCP. 1919, ii. 46ff.
6. Hopkins, *Great Epic*, pp. 11ff.,

ऊपर के तथ्यों के संबन्ध में कोई विवाद नहीं है। उपर्युक्त क्षेत्र में संस्कृत का प्राधान्य अबाधित रूप से, मुसलमानों के आक्रमणों से एक नवीन साहित्यिक भाषा के प्राधान्य के स्थापित होने तक, बराबर बना रहा। प्रमाणों से यह बात स्पष्ट है कि कमसे कम ब्राह्मणों में, पढ़ाने और धार्मिक कृत्यों के कराने के साधन के रूप में, संस्कृत अवश्य ही बराबर प्रयोग में लाई जाती थी। कुछ विद्वानों ने ऐसा मत प्रकट किया है कि न तो पाणिनि के समय में और, अधिक प्रमाणों के आधार पर, न उनके पीछे संस्कृत ब्राह्मणों की बोलचाल की भाषा थी। परन्तु इस मत के पक्ष में कोई सन्तोषजनक साक्ष्य नहीं है। पाणिनि ने संस्कृत के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। उसका स्वाभाविक अर्थ 'बोल-चाल की भाषा' ही है। इसके अतिरिक्त भी, पाणिनि ने ऐसे नियमों का विधान[1] किया है जो, बोलचाल की भाषा से उनका संबन्ध न हो तो, निरर्थक ही हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, भावोद्रेक की भाषा में स्पष्टतया व्यञ्जनों के द्वित्व का निषेध किया गया है, जैसा कि क्रूर माता के लिए प्रयुक्त **पुत्रादिनी** इस आक्रोशात्मक शब्दों में। इसी प्रकार पाणिनि दूर से आह्वान, प्रत्यभिवादन, प्रश्न और प्रश्न-प्रतिवचन में प्लुतत्व का विधान करते हैं; वे पासों के खेल के परिभाषिक शब्दों और चरवाहों की बोली के संबन्ध में सूचना देते हैं। वे वास्तविक दैनिक जीवन से संबन्धित मुहावरों का उल्लेख करते हैं। अनुप्रयुक्त लट् लकार के प्रयोग के साथ में लोट् लकार के मध्यमपुरुष की द्विरुक्ति को दिखाने वाले खाद खादेति खादति (=वह बड़े चाव से खाता है) जैसे मुहावरों की रक्षा हमारे लिए निःसन्देह केवल वैयाकरणों ने ही की है। उसी से बोलचाल की मराठी का खा खा खातो आया है। दूसरे लोक-प्रचलित प्रयोग ये हैं: उदरपूरं भुङ्क्ते, पेट भर के खाता है; **दण्डादण्डि केशाकेशि**, ऐसा संघर्ष जिसमें लाठियां चलती हैं और बाल खेंचे जाते हैं; **अत्र खादत मोदता वर्तते**, यहां तो 'खाओ और मौज करो' यही नियम चल रहा है; **जहिस्तम्बोऽयम्**=यह वह आदमी है जो कहता है "नाज की पूलियों को काटो"। उनके द्वारा निर्दिष्ट अन्य प्रयोग ये हैं: गर्भितवाक्य के रूप में[2] **मन्ये**, 'मैं समझता हूँ'; प्रहास में अपचसि, 'तुम पाचक नहीं हो'; ऐसे विचित्र प्रयोगों का[3] अनुशासन जैसे **यामकि**, 'मैं जाता हूँ'। बड़े विस्तार से

1. Wackernagel, i. p. xliii; Bhandarkar, JBRAS. xvi. 330.
२. जैसे पालि में; Franke, ZDMG. xlvi. 311 f.
3. Keith, JRAS. 1915, pp. 502ff.

प्रतिपादित स्वर-विषयक नियम भी वास्तविक बोल-चाल की भाषा को ही प्रतिबिम्बित करते हैं।

यास्क,[1] पाणिनि और कात्यायन ने उदीच्यों और प्राच्यों के विशिष्ट प्रयोगों का उल्लेख किया है। उस साक्ष्य से भी उपर्युक्त प्रतिपादन की पुष्टि होती है। कात्यायन ने, प्रसिद्धि के रूप में, स्थानीय प्रयोग-विभिन्नताओं की विद्यमानता को भी माना है। पतञ्जलि ने इसको स्पष्ट करते हुए काम्बोज, सौराष्ट्र, प्राच्य-मध्य आदि लोगों के प्रयोग का उल्लेख किया है। यहां हम कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित पाणिनि के समय के अनन्तर होनेवाले शब्द-प्रयोगों का भी निर्देश कर सकते हैं; उदाहरणार्थ, पाणिनि की त्रुटि दिखाते हुए कात्यायन[2] का कहना है कि संबोधन में **नाम** और **नामन्** ये दोनों रूप होते हैं; द्वितीय और तृतीय शब्दों के पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के एकवचनों में सर्वनामों जैसे रूप भी हो सकते हैं, और स्त्रीलिङ्ग में उपाध्याय, आर्य, क्षत्रिय और मातुल शब्दों के **उपाध्यायी, आर्या, क्षत्रिया** और **मातुलानी** ये रूप, नित्य न हो कर, विकल्प से ही होते हैं। पतञ्जलि दिखाते हैं कि उनके समय में तेर, ऊष, पेच जैसे लिट् लकार के मध्यमपुरुष के रूप अप्रयुक्त हो गये थे और उन के स्थान में निष्ठान्त शब्दों से युक्त शब्दसमूहों का प्रयोग होने लगा था। यह स्थिति बोल-चाल की भाषा की ही विशेषता हो सकती है।[3]

और भी सूचना, जिसका स्वरूप निश्चित है, प्रासङ्गिक रूप में हमें पतञ्जलि ने दी है।[4] वे बलपूर्वक कहते हैं कि व्याकरण का लक्ष्य शब्दों का निर्माण न होकर केवल यह बताना है कि शब्दों का शुद्ध प्रयोग क्या है, लोक में मनुष्य किसी वस्तु के विषय में विचार करते हुए, बिना किसी व्याकरण के देखे, उचित शब्दों का प्रयोग करता है; संस्कृत के शब्दों का संबन्ध लोक से है। हम एक वैयाकरण और सूत को संस्कृत में विवाद करते हुए पाते हैं; और उसमें वह सूत सूत शब्द तथा प्राजितृ शब्द के निर्वचन के संबन्ध में अपना निश्चित मत रखता है। भाषा का आदर्श वह भाषा है जिस को शिष्ट बोलते हैं, और शिष्ट वे लोग हैं जो विशेष

---

1. *Nirukta*, ii. 2; v.5; *Mahābhāṣya*, i. 9; v. 8. on vii. 3. 45.
2. Bhandarkar, JBRAS. xvi.273. Cf. Macdonell, *Vedic Grammar*, p.307,n.2.
3. Bloch, MSL. xiv. 97; L. Renou, *La valeur du parfait*, p. 189.
4. vi. 109; Bhandarkar, JBRAS. xvi. 334ff. Grierson (JRAS. 1904,pp. 479ff.) ने इस संदर्भ को उलटा समझकर यह अर्थ किया है कि शिष्टों को संस्कृत पढ़ाये जाने की आवश्यकता होती थी।

शिक्षण के बिना ही शुद्ध संस्कृत बोलते हैं; व्याकरण का प्रयोजन हमें शिष्टों का परिज्ञान कराना है, जिससे उनकी सहायता से पृषोदर जैसे शब्दों के, जो व्याकरण के साधारण नियमों के अन्दर नहीं आते, विशुद्ध रूपों को हम जान सकें। आगे चलकर शिष्टों का लक्षण इस प्रकार दिया है—हिमालय के दक्षिण में, पारियात्र के उत्तर में, आदर्श के पूर्व में और कालकवन के पश्चिम में जो प्रदेश है उसे आर्यावर्त्त कहते हैं। आर्यावर्त के ब्राह्मणों को शिष्ट समझना चाहिए जो लोभ से रहित हैं, जो किसी निम्न स्वार्थ के बिना केवल कर्तव्य-बुद्धि से सदाचार का अनुसरण करते हैं, और जो कुम्भीधान्य हैं। दूसरे लोग अशुद्धि कर सकते हैं; उदाहरणार्थ, वे शश को षष, पलाश को पलाष और मञ्चक को मञ्जक उच्चारण कर सकते हैं, अथवा वे शुद्ध शब्दों के स्थान में अपशब्दों को बोलकर और भी भयानक अशुद्धियां कर सकते हैं, जैसे वे कृषि को कसि, दृशि को दिसि, गौः को गावी, गोणी, गोता या गोपोतलिका, अथवा धातुरूपों में आज्ञापयति को आणपयति[१], वर्तते को वट्टति, और वर्धते को वड्ढति उच्चारण कर सकते हैं। पर शिष्टों से शुद्ध शब्द रूपों को जाना जा सकता है। इससे इंग्लैण्ड की आधुनिक परिस्थितियों के साथ घना सादृश्य प्रतीत होता है। इंग्लैण्ड में उच्चतर शिक्षितवर्ग समाज के निम्नतर वर्गों के लिए एक प्रतिमान या आदर्श उपस्थित करता है; जैसे इंग्लैण्ड के उच्चतर वर्ग की भाषा एक जीवित भाषा है, इसी तरह संस्कृत भी उन दिनों एक जीवित भाषा थी। मध्य-कालीन लैटिन के साथ संस्कृत की आदर्शरूपेण जो तुलना की जाती है, वह बहुत कुछ असन्तोषजनक है; यह स्पष्ट है कि संस्कृत के प्रयोग की प्रारम्भिक अवस्था में निम्नतर वर्ग की जो बोली अपने अनेक भेदों में प्रचलित थी उसके साथ संस्कृत की, मध्यकालीन यूरोप में लैटिन की अपेक्षा, कहीं अधिक समानता थी। अशोक के अभिलेखों की स्थानीय बोलियों के साथ संस्कृत की तुलना इस सम्बन्ध में समुचित होगी; उनका भेद न तो मौलिक है और न वह पारस्परिक अर्थावगति में बाधा डालता है, और हम सरलता से उसकी तुलना आज की इंग्लिश भाषा से कर सकते हैं।

---

१. ऐसा ही अशोक के ब्रह्मगिरि के प्रथम अभिलेख में है; वढति (सामान्येन पाया जानेवाला इकेला व्यञ्जन केवल लिपि-मूलक है; CII. i,p. Lix; दूसरे व्यञ्जनों के लिखने के प्रकार पर अवलम्बित Grierson का तर्क (JRAS. 1925, P. 228) स्पष्टतया दुर्बल ह) Delhi—Toprā, IV. 20 में आता है।

इसके अतिरिक्त, इस प्रकार हम जिन परिणामों पर पहुँचते हैं उनकी पुष्टि, साक्षात् रूप से, रूपकों से प्राप्त साक्ष्य से भी होती है। उनमें ब्राह्मण, राजा और उच्च स्थिति तथा शिक्षा के दूसरे लोग संस्कृत का प्रयोग करते हैं, जब कि निम्न-पात्र प्राकृत के किसी रूप का व्यवहार करते हैं। मूल में रूपक प्राकृत में हुआ करते थे और उन में संस्कृत का प्रवेश तभी हुआ जब कि वह विशेषतः संस्कृति की सामान्य भाषा बन गयी थी—ऐसा मानकर उपर्युक्त दृष्टि के विरुद्ध तर्क उपस्थित करने का यत्न किया गया है। परन्तु उक्त विवाद में इस वस्तु-स्थिति की उपेक्षा कर दी जाती है कि कम से कम एक ओर रूपक का संस्कृत के रामायण-और महाभारत से घनिष्ठ संबन्ध है; भास के एक नाटक में तो प्राकृत है ही नहीं। उसके दूसरे नाटकों में भी जिनका आधार रामायण-महाभारत पर है प्राकृत नाम मात्र को ही है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रारम्भिक अवस्था में प्रेक्षक-गण, जिनमें बिलकुल साधारण स्थिति के लोग भी हो सकते थे, संस्कृत को नहीं समझते थे। नाट्य-शास्त्र में स्पष्टतः इसका विधान है कि संस्कृत ऐसी हो जिसे सब कोई सरलता से समझ लें। नाट्य के पात्रों द्वारा जो भाषा का प्रयोग किया जाता था उस का लक्ष्य वास्तविकता का प्रदर्शन था. इसका जो निषेध किया जाता है वह वस्तुगत साक्ष्य के कारण माननीय नहीं ठहरता; नाटककारों द्वारा प्रयुक्त प्राकृतों में, अश्वघोष से भास और भास से कालिदास तक, बराबर विकास दिखाई देता है। अन्त में कालिदास ने माहाराष्ट्री का, जिसका पहिले कोई महत्त्व न था परन्तु जो इस बीच में शृङ्गार-प्रधान गीतकाव्य के माध्यम के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी,[1] रंग-मंच में प्रवेश किया। अश्वघोष के साक्ष्य का विशेष मूल्य है, क्योंकि उससे प्रमाणित हो जाता है कि १०० ई० के लगभग रंग-मंच की परम्परा दृढ़ता से उच्चतमवर्ग के लोगों द्वारा संस्कृत के प्रयोग के पक्ष में थी। इसी से उन्होंने अपने नाटकों में संस्कृत का प्रयोग किया, यद्यपि उनके नाटकीय विषय का संबन्ध बौद्धधर्म से था, और यद्यपि, अनुश्रुति के अनुसार, बुद्ध स्वयं अपने उपदेशों की रक्षा के माध्यम के रूप में संस्कृत के प्रयोग का निषेध कर चुके थे।[2]

1. Keith, *Sanskrit Drama*, pp. 72 ff., 85 ff., 121f., 140, 155.
2. *Cullavagga*, V. 33. I; Keith, IHQ. i. 501.

कहाँ तक संस्कृत का प्रयोग होता था अथवा उसको समझा जाता था, इसका साक्ष्य रामायण और महाभारत स भी मिलता है। ऐसा अनुमान[1] किया गया है कि रामायण और महाभारत का निर्माण ईसवी संवत् के पश्चात् किसी समय हुआ होगा और वे किसी प्राकृत के शब्दान्तर हैं। इस अग्राह्य अनुमान के विषय में, उसके उल्लेख के अतिरिक्त, कदाचित् और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इस महान् समारम्भ के विषय में इतिहास की चुप्पी को हम नहीं समझ सकते, और यह बात भी विश्वास के योग्य नहीं दीखती कि उक्त भाषान्तर ऐसे समय में हुआ था जब कि बौद्ध धर्म अपने विजय की अवस्था में था और ब्राह्मण-धर्म अपेक्षाकृत म्लान अवस्था का अनुभव कर रहा था। उक्त ग्रन्थों की संस्कृत का जो अपना विशिष्ट स्वरूप है उसको देखते हुए भी भाषान्तर का विचार उपहासास्पद प्रतीत होता है।[2] गाथाओं के ढंग के बौद्ध साहित्य में हमें पर्याप्त साक्ष्य ऐसा मिल जाता है जिसके आधार पर उसे हम संस्कृतीकरण के प्रयत्नों का परिणाम कह सकत हैं। साथ ही जिन तर्कों के बल पर उक्त भाषान्तर की वास्तविकता को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है उनके आधार पर तो हम वैदिक संहिताओं को भी प्राकृत का भाषान्तर सिद्ध कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, इस बात के लिए निर्णायक साक्ष्य विद्यमान है कि पाणिनि[3] संस्कृत में एक महाभारत से या कम से कम भरतों के एक पौराणिक काव्य से परिचित थे, तथा रामायण के एक बड़े भाग की रचना[4] अशोक से बहुत पहले हो चुकी थी। यहां एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिए और वह यह है कि यद्यपि ब्राह्मणों ने रामायण और महाभारत को बहुत कुछ अपना लिया था, तो भी यह बात नहीं है कि इस प्रकार के साहित्य का निर्माण पहले पहल उन्होंने ही किया था। इस बात की पुष्टि उक्त ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा की उस अधिक सरलता और अनवधानता से होती है जिसमें ब्राह्मणों की भाषा के अनेक परिष्कारों की उपेक्षा दिखाई देती है। पाणिनि अपने आदर्श की इन विच्युतियों पर ध्यान

1. Grierson, IA. xxiii. 52; Barth, RHR. xxvii. 288.
2. Jacobi, *Rāmāyaṇa*, p. 117; ZDMG. xlviii. 407 ff.; Keith, JRAS. 1906, pp. [illegible] ff.
3. Hopkins, *Great Epic*, p. 385.
4. Keith, JRAS. 1915, pp. 318 ff.

ही नहीं देते। पुरोहित-वर्ग के क्षेत्र स बाहर प्रचलित भाषा के विषय में अनुशासन करना उनके लक्ष्य से बाहर की बात थी, और उक्त पौराणिक काव्यों में प्रयुक्त भाषा वास्तव में वह भाषा है जो उनके निर्माण के समय में क्षत्रियों और सुशिक्षित वैश्यों में व्यवहृत होती थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि महाभारत और रामायण दोनों मूलतः उच्च संपन्नवर्ग से संबन्ध रखते हैं; उनका स्वरूप ग्रीक भाषा के इलियड (Iliad) और ओडिसी (Odyssey) जैसा ही है, और उन्हीं के समान वे अधिक विस्तृत क्षेत्रों में गंभीर रुचि के विषय बन गये। इधर के समय में, निःसन्देह, श्रोतागण उनको समझ नहीं सकते और उनके लिए उनका अर्थ करना पड़ता है, यद्यपि उस पवित्र भाषा के सुनने मात्र से लोगों को प्रसन्नता होती है। निःसन्देह ऐसी स्थिति प्राचीनकाल में नहीं थी; हमें एक ऐसे लम्बे कालकी कल्पना करनी पड़ती है जब कि जनता के बड़े भाग उक्त पौराणिक काव्यों को सरलता से समझ सकते थे।

निःसन्देह, समय के बीतते बीतते, संस्कृत और तात्कालिक भाषाओं के बीच की खाई क्रमशः बढ़ती गई; पौराणिक काव्य की भाषा और ब्राह्मणों के चरणों की भाषा में भी भेद थे, इसका स्पष्ट उल्लेख रामायण[1] में मिलता है। रूपकों की पद्धति से और ऐसे स्थलों से, जैसा कि कालिदास के कुमार-सम्भव[2] में आता है जहां सरस्वती शिव और उनकी वधू की स्तुति क्रमशः संस्कृत और प्राकृत में करती हैं, इस बात का साक्ष्य हमें मिल जाता है कि बोलनेवालों के पद, लिङ्ग और स्थान के अनुसार बोलने की भाषा में भेद विद्यमान थे। एक अर्थ में, इसमें सन्देह नहीं, संस्कृत में क्रमशः मध्यकालीन लैटिन की समानता आती गयी, परन्तु, लैटिन के समान ही, शिक्षितवर्गों की विद्या-संबन्धी भाषा के रूप में इसकी जीवनी-शक्ति अक्षुण्ण रही, और इसने उन क्षेत्रों में भी जो प्रारम्भ में इसके प्रति विरोधि-भावना रखते थे[3] विजयों को प्राप्त किया। चरक के नाम से प्रचलित वैद्यक-विषयक मूलग्रन्थ से हमें ज्ञात होता है कि तात्कालिक आयुर्वेदिक संस्थाओं के शास्त्रार्थों में संस्कृत का व्यवहार किया जाता था। एक दूसरे ही प्रकार का

---

1. V. 30. 17 f.; IV. 3. 28 f.; ii. 91. 22; vii. 36. 44; Jacobi, *Rāmāyaṇa*, p. 115. Cf. Hopkins, *Great Epic*, p. 364.

2. vii. 87 (? 90).

3. Cf. Jacobi, *Scientia*, xiv. 251 ff.; Oldenberg, *Das Mahābhārata*, pp. 129 ff.

ग्रन्थ, वात्स्यायन का कामसूत्र, अपने सभ्य नागरक को प्ररणा करता है कि वह शिष्ट समाज में अपनी बात-चीत में संस्कृत और देशभाषा दोनों का व्यवहार करे। सातवीं शताब्दी में ह्वेनत्सांग का कहना है कि शास्त्रार्थों में भाग लेनेवाले बौद्ध विद्वान् अपने वाद-विवादों में पदेन संस्कृत का व्यवहार किया करते थे ; जैन विद्वान् सिद्धर्षि अपनी उपमिति-भव-प्रपञ्च-कथा में मानव-जीवन के रूपकात्मक वर्णन के लिए संस्कृत भाषा को पसन्द करने का कारण यही बतलाता है कि शिष्ट लोग संस्कृत से इतर भाषा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उसका यह भी दावा है कि उसकी संस्कृत इतनी सरल है कि उसको वे लोग भी समझ सकते हैं जो प्राकृत को पसन्द करते हैं। भामह ने अपनी अलङ्कारशास्त्र-संबन्धी पुस्तक (लगभग ७०० ई०) में ऐसी काव्यरचना को भी ध्यान में रखा है जिसको स्त्रियां और बच्चे भी—निस्सन्देह उच्चवर्गों के—समझ सकते हैं। बिल्हण (१०६० ई०) हम को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि उनकी मातृभूमि, कश्मीर, की स्त्रियां भी संस्कृत, प्राकृत और अपनी मातृ-भाषा (जन्मभाषा) को समझ सकती थीं। पञ्चतन्त्र-नामक प्रसिद्ध कथासंग्रह का प्रारम्भ, अंशतः सिद्धान्त-रूप में, उसके एक उत्तरकालीन-पाठ के अनुसार, राजकुमारों को संस्कृत तथा व्यावहारिक नीति की शिक्षा देने की आवश्यकता के कारण ही हुआ था।

निश्चयरूप से कुछ क्षेत्र ऐसे थे जिनमें प्रारम्भ में संस्कृत का परित्याग किया गया था ; विशेषतः यही बात जैन और बौद्ध धर्मों के प्रारम्भिक साहित्य के विषय में थी। संभवतः वह साहित्य अर्धमागधी प्राकृत के एक पुराने रूप में निबद्ध किया गया था। परन्तु, जैसा अन्यत्र दिखाया जा चुका है[1], यह प्रश्न प्रारम्भ में ही उठाया गया था, यदि हम बौद्ध अनुश्रुति में विश्वास करें तो, कि क्या संस्कृत भगवान् बुद्ध की शिक्षा की रक्षा के माध्यम का काम नहीं दे सकती। यह सूचना साहित्यिक माध्यम के रूप में संस्कृत के प्राधान्य के संबन्ध में बलवान् साक्ष्य उपस्थित करती है। परन्तु उक्त दोनों विषयों में अन्त में संस्कृत ने अपना स्थान पा लिया, और पहले बौद्धों ने, और तदनन्तर जैनों ने, संस्कृत साहित्य और व्याकरण दोनों की बड़ी सेवाएँ कीं।

परन्तु संस्कृत के विरुद्ध बौद्धों के विद्रोह का एक महत्त्वयुक्त परिणाम हुआ। अशोक की घोषणाएँ, जिन में उसने अपने विस्तृत

1. Keith, IHQ. i. 501 f.

राज्य में सर्वत्र अपनी प्रजाओं को सदाचरण के कर्तव्य की आवश्यकता को बतलाया था, अनिवार्य रूप में, प्राकृत में, न कि संस्कृत में, लिखी गयीं ; और अभिलेखन-सम्बन्धी परम्परा जो इस तरह स्थापित हुई कठिनता से ही समाप्त हुई। परन्तु उसको वस्तु-स्थिति से संघर्ष करना पड़ा ; अभिलेखों का अभिप्राय यही था कि वे समझे जाने के योग्य हों, और अन्त में यह सिद्ध हो गया कि संस्कृत ही वह भाषा है जो उन लोगों के लिए जो अभिलेखों को पढ़ सकते हैं आकर्षक होने की सब से अधिक संभावना रखती है। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में संस्कृत के प्रभाव के चिह्न स्पष्ट हो जाते हैं; एक मत के अनुसार[1] अगली शताब्दी में ऐसा पहला अभिलेख मिलता है जिसको सामान्य रूप से संस्कृत का अभिलेख कहा जा सकता है, और तब से संस्कृत का प्रभाव बढ़ने लगता है[2]। प्रथम शताब्दी ई० में भी प्राकृत का अधिक प्रचार पाया जाता है ; परन्तु, यद्यपि अगली शताब्दी में भी उसका प्राधान्य है, तो भी उस समय का रुद्रदामा का वृहत् संस्कृत अभिलेख हमको मिलता है। उससे स्पष्टतया अलंकृत शैली के संस्कृत साहित्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अगली शताब्दी में संस्कृत और प्राकृत का संघर्ष होता है। चौथी शताब्दी में गुप्त-वंश के आधिपत्य में ब्राह्मणों के पुनर्जागरण के साथ प्राकृत विरल हो जाती है, और पाँचवीं शताब्दी से प्राकृत उत्तरभारत से लगभग लुप्त हो जाती है। साहित्य में भी एक समानान्तर प्रवृत्ति चल रही थी ; **ललितविस्तर** और **महावस्तु** जैसे बौद्ध ग्रन्थों में हमें एक प्राकृत को संस्कृत में परिवर्तन करने के प्रयत्न के परिणाम दिखाई देते हैं। इसी तरह के परिणाम दूसरे क्षेत्रों में भी मिलते हैं, जैसे कि **बावर हस्तलेख** की आयुर्वेद-विषयक पुस्तकों में। यहां से शीघ्र ही बौद्ध लोग उस स्थिति की ओर बढ़े जिसमें वास्तविक संस्कृत का प्रयोग होता

---

१. ईसापुर में एक यज्ञिय यूप पर, वासिष्क का २४वाँ वर्ष, Fleet के अनुसार ३३ ई० पू०, JRAS. 1910, pp. 1315 ff. ; Hoernle, *Bower MS.*, p. 65; *Ann. Rep. A. S., India*, 1910-11, pp. 39 ff. अत्यधिक सम्भावना यह है कि यह द्वितीय शताब्दी ई० (?१०२ ई०) का है; हुविष्क के एक अभिलेख में लगभग शुद्ध संस्कृत पाई जाती है; JRAS. 1924, pp. 400 ff.

2. Franke, *Pāli und Sanskrit*, p. 13, 58 ; Rapson, JRAS. 1904, p. 449.

था, जैसा कि संभवतः द्वितीय शताब्दी ई० के[1] दिव्यावदान में देखा जाता है। जैनों ने अधिक रूढ़िवादिता को दिखाया, परन्तु अन्तमें उन्होंने भी संस्कृत के प्रयोग को न्याय्यत्वेन स्वीकार कर लिया। साहित्य की भाषा के रूप में संस्कृत के साथ पुनः गंभीर प्रतिस्पर्धा तब शुरू हुई जब मुसलमानों की विजयों के कारण फ़ारसी भाषा व्यवहार में आने लगी और जब कि बोलचाल की भाषाएँ, १००० ई० के कुछ ही बाद के समय में, पहले तो संस्कृत को प्रभावित करने लगीं और पीछे से साहित्यिक भाषाओं के रूप में स्वयं विकसित होने लगीं।

पतञ्जलि ने शिष्टों का वास्तविक निवासस्थान आर्यावर्त बतलाया है, परन्तु उनके समय में भी दक्षिण संस्कृत का घर था; ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कात्यायन वहां तीसरी शताब्दी ई० पू० में रहते थे। यास्क[2] (लगभग ५०० ई० पू०) पहले से ही विजामातृ इस वैदिक शब्द के दाक्षिणात्य प्रयोग का उल्लेख करते हैं। पतञ्जलि भी, दाक्षिनात्य तद्धित-प्रिय होते हैं, ऐसा कहते हैं। वे दक्षिण में सरसी (=बड़ा तालाब) शब्द के प्रयोग का भी उल्लेख करते हैं। दक्षिण भारत में भी, प्रबल कनारी और तामिल साहित्य के होने पर भी, प्रायेण द्राविड भाषाओं के शब्द-समूहों से मिश्रित संस्कृत के अभिलेख छठी शताब्दी से मिलने लगते हैं। उनसे संस्कृत के संबन्ध में समस्त देश की एक सामान्य भाषा बनने की प्रवृत्ति प्रमाणित होती है। संस्कृत ने शक्तिशाली द्राविड भाषाओं पर भी गहरा प्रभाव डाला है। सीलोन भी उसके प्रभाव के अन्दर आया और सिंहाली भाषा में उसके प्रभाव के विशिष्ट चिह्न दिखाई देते हैं। सुंडा द्वीपों, बोर्निओ और फिलिपाइन्स में भी संस्कृत पहुँची, और जावा में उ-` कवि भाषा और साहित्य की शक्ल में एक उल्लेखनीय विकास को जन्म दिया। उच्च पद के साहसिक लोगों ने सुदूर-भारत में राज्यों की स्थापना की, जहां के भारतीय

---

१. Przyluski (*La lègande de L'empereur Aśoka*, pp. 14 ff.) के अनुसार इसका बहुत अंशों में कारण मथुरा और उसके सर्वास्तिवादी संप्रदाय का प्रभाव था। वे उसके द्वारा अशोकावदान में संस्कृत के प्रयोग का समय कम से कम द्वितीय शताब्दी ई० पू० में रखते हैं (cf. pp. 166 ff.).

2. VI. 9. cf. Bühler, WZKM. 1.3· आर्यावर्त्त के लिए देखिए IA. XXXIV. 179 (मध्यदेश) और काव्यमीमांसा, p. XXIV.

नामों का उल्लेख भूगोलशास्त्री टालेमी (Ptolemy) ने द्वितीय शताब्दी ई० में ही कर दिया है। चम्पा के संस्कृत अभिलेख संभवतः उसी शताब्दी में प्रारंभ होते हैं, और कम्बोडिया के ६०० ई० से पहले। उनसे संस्कृत व्याकरण और साहित्य का यत्नपूर्वक अध्ययन प्रमाणित होता है। इससे भी अधिक महत्त्व की बात थी संस्कृत ग्रन्थों का मध्यएशिया में जाना और उनका चीन, तिब्बत, तथा जापान पर प्रभाव।

शिक्षित वर्ग की भाषा के रूप में संस्कृत की स्थिति के अनुरूप ही यह बात थी कि प्रयोग के एक क्षेत्र में उसका व्यवहार केवल धीरे-धीरे ही बढ़ा। सिक्के साधारण व्यावहारिक प्रयोग के लिए ही होते थे, और रुद्रदामा के समान, पश्चिमी क्षत्रप भी, जो अभिलेखों के लिए संस्कृत का प्रयोग करते थे, सिक्कों के लेखों के लिए प्राकृत से ही सन्तुष्ट रहे। परन्तु इस क्षेत्र में भी धीरे-धीरे संस्कृत प्रचलित हो गयी।[1]

जिन परिणामों पर हम पहुँचे हैं वे भारतीय शब्दों के ग्रीक भाषान्तरों से प्राप्य साक्ष्य के अनुरूप हैं।[2] ये न तो पूर्णतः संस्कृत रूपों पर आधारित हैं न प्राकृत पर। निःसन्देह रूप में कभी उच्च और कभी निम्न वर्गों की भाषा से निष्पन्न ये शब्दान्तर हमें इस मुख्य वस्तुस्थिति का स्मरण दिलाते हैं कि भारत के किसी भी समय में भाषा के कई रूप वस्तुतः व्यवहार में प्रचलित रहते थे। वे रूप समाज के वर्गों के अनुसार परस्पर भिन्न-भिन्न होते थे। संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी इस दृष्टि का निषेध[3] अधिकतर इस संबन्ध में वस्तुस्थिति के न समझने पर, उस प्राचीनतर समय के जब कि संस्कृत निम्न वर्गों की भाषा के कहीं अधिक समीप थी और पिछले समय के भेद को न समझने पर, अथवा, केवल उसी भाषा में बोलचाल की भाषा की योग्यता हो सकती है जो जनता के निम्न वर्गों की भाषा है—इस भ्रान्त धारणा पर आधारित है। सामान्य रूप से भारत में संस्कृत के अन्धकारग्रस्त हो जाने के समय में वह बोलचाल की भाषाके रूप में कश्मीर में सुरक्षित रही, यह सुझाव[4] और भी कम ग्राह्य है।

1. Bloch, *Mèlanges Lèvi*, p. 16.

2. Lévi, BSL. viii. pp. viii, x, xvii; Franke, ZDMG. xlvii. 596 ff.; Bloch, *Mèlanges Lèvi*, pp. 1 ff.

3. Grierson, JRAS. 1904, p. 481. इस दृष्टि के अनुसार आदर्श इंग्लिश एक बोलचाल की भाषा नहीं होगी।

4. Franke, *Pāli und Sanskrit*, pp. 87 ff.

उक्त दृष्टि की पुष्टि न तो अनुश्रुति से और न कश्मीर की बोलचाल की भाषा के स्वरूप से ही होती है। तथ्य तो यह है कि बौद्ध धर्म ने जिस रूप में कश्मीर में प्रवेश किया उस पर मथुरा का प्रबल प्रभाव था, और मथुरा में बौद्ध धर्म उन लोगों के हाथों में पहुँच चुका था जिन्होंने ब्राह्मणों की संस्थाओं में शिक्षा पायी थी। उन्हों ने अपनी ही भाषा का बौद्धधर्म के प्रचारार्थ उपयोग किया। जो कुछ ऊपर कहा है उससे नीचे की बातों के लिए एक और प्रमाण हमें मिल जाता है: प्रथम यह कि ब्राह्मणों के क्षेत्रों में संस्कृत का प्रभाव था, दूसरे यह कि अर्धमागधी अथवा तत्सदृश किसी स्थानीय बोली की अपेक्षा अध्यात्म-विद्या और दर्शन की भाषा के रूप में संस्कृत कहीं अधिक उपयुक्त थी।

३. साहित्य में संस्कृत की विशेषताएं और विकास

अपनी सच्ची जीवनी-शक्ति से गहरा संबन्ध रखनेवाला, संस्कृत का एक विशिष्ट स्वरूप यह है कि उसमें, मध्यकालीन लैटिन भाषा के विपरीत, अपने लंबे साहित्यिक अस्तित्व के समय में महत्त्वयुक्त परिवर्तन होते रहे हैं, और वह प्रवृत्ति अब भी समाप्त होने से बहुत दूर है। इसके अतिरिक्त, गति की दो धाराओं के अस्तित्त्व को हमें ध्यान में रखना चाहिए, प्रथम, ब्राह्मणों के चरणों की संस्कृत जो पाणिनि के व्याकरण में संगृहीत है, द्वितीय, शासकवर्ग और उसका अनुसरण करनेवाले ब्राह्मणों की कम औपचारिक भाषा जो कि हमें पौराणिक काव्यों (रामायण और महाभारत) में मिलती है। लौकिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ उक्त दोनों दिशाओं में प्रभाव के स्पष्टतम साक्ष्य को प्रस्तुत करते हैं; ब्राह्मण लोग, जिनसे अथवा जिनके प्रभाव और परम्परा से अधिकतर संस्कृत साहित्य का उद्भव हुआ है, व्याकरण में शिक्षित होते थे और व्याकरणाशुद्धि को बचाना चाहते थे। परन्तु उन पर पौराणिक काव्यों का, विशेषतः रामायण का, भी प्रभाव था। उनके लिए अपनी आदर्श संस्कृत के साथ बहुत परिमाण में पौराणिक काव्यों की भाषा के आत्मसात्करण को बचाना संभव नहीं था।

इससे यह बात निकलती है कि पाणिनि और उनके अनुयायिओं के शब्दानुशासन के बड़े अंश का साहित्य में प्रदर्शन नहीं है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, कात्यायन और पतञ्जलि कुछ धातुरूपों के अप्रयोग को स्वीकार

करते हैं; अनेक मुहावरों का भी प्रयोग में आना बन्द हो जाता है[१], जैसे अन्वाजे- अथवा उपाजे-कृ, शक्तिशाली बनाना, निवचने-कृ, चुप होना, मनो- अथवा कणे-हन्, अपनी इच्छा की पूर्त्ति करना, चेलक्नोपं वृष्टः, कपड़ों के भीगने तक बरसा; अनेक शब्द अब प्रयुक्त नहीं होते, जैसे अन्ववसर्ग, कामचारानुज्ञा, निरवसित, बहिष्कृत, अभिविधि, सम्मिलित कर लेना, उत्सञ्जन, उत्क्षेपण, अभ्रेष, न्याय। सार्वनामिक प्रातिपदिक त्य विलुप्त हो जाता है; धातु में तुमर्थक तवै नष्ट हो गया है, जजन्ति जसे अनेक प्रयोग लुप्त हो गये हैं, और आन् में परोक्ष-भूतकालिक आत्मनेपद अब प्रयुक्त नहीं होता। त्रा में क्रिया-विशेषण-सम्बन्धी रूप, जैसे कि देवत्रा में, और परुत् यह प्राचीन शब्द नष्ट हो चुके हैं। नामों से निष्पन्न बहुत-से शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते, और शुक्लीस्यात् जैसे शब्दसमूहों का प्रयोग विलुप्त हो गया है। कारक के अनेक नियम अब प्रयोगों में नहीं दिखाई देते, जैसे कि उक-प्रत्ययान्त विशेषणों के साथ में द्वितीया का प्रयोग; सम्+ज्ञा अथवा सम्+प्र+यम् के साथ में तृतीया; श्लाघ् और स्था के साथ चतुर्थी; तृणंमन् अथवा शुने या श्वानं मन्; दूर या समीपवाची शब्दों के साथ पञ्चमी; स्मृ को–छोड़ कर अन्य स्मरणार्थक धातुओं के साथ, नाथ् के साथ, जस् के साथ और अन्य हिंसार्थक धातुओं के साथ, और भाववचन रुजार्थक कथनों में, जैसे चौरस्य रुजति, षष्ठी; प्रसित और उत्सुक के साथ तृतीया; सामान्य प्रश्नों में उत, और बहुत से अन्य प्रयोग।

तो भी, यह सत्य है कि ऊपर दिखाये गये स्वरूप के साथ-साथ व्याकरण के विधान के अनुकूल ही (अन्यथा लुप्त) अनेक प्रयोगों का जान-बूझ कर कवियों द्वारा किया गया व्यवहार हमें मिलता है, पर वह इतना विरल है कि उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह केवल विद्वत्स्मरणमात्र है। अश्वघोष से लेकर, बड़े ग्रन्थकार अपनी विद्या के प्रदर्शन के लिए उत्सुक देख जाते हैं; कालिदास ने अनुगिरम् पहाड़ पर (यद्यपि पाणिनि[२] ने इसे केवल एक वैकल्पिक रूप में दिया है), और एक वार्त्तिक[३] के आधार पर सौस्नातक (?सौस्नातिक), सुस्नान को पूछने वाला इन शब्दों का प्रयोग किया है। माघ इन बारीकियों में कुशल हैं; वे

१. Bhandarkar, JBRAS. xvi. 272; Speijer, *Sansk. Synt.*, pp. 39, 45, 61f., 65 f., 72, 89 f., 108.

२. ५।४।११२ (Senaka). ३. ४।४।१। वा० ३।

प्रतिषध के अर्थ में क्त्वा के साथ खलु का प्रयोग करते हैं; मा जीवन् 'वह न जिए'; वे वि-ष्वन् (? वि-ष्वण्), शब्द के साथ खाना, और वि-स्वन् कुत्ते आदि का शब्द, इनमें भेद करते हैं; वे लिट् लकार का भाव- अथवा कर्मवाच्य प्रयोग बनाते हैं, लुङ् लकार के प्रयोगों को और वस्त्रक्नोपम् को लेकर अम् में पूर्वकालिक क्रिया (gerund) के प्रयोगों को पुनर्जीवित करते हैं, और खलम् को एक तिङन्त क्रिया (finite verb) के रूप में प्रयुक्त करते हैं। लुट् लकार में आत्मनेपद उत्तमपुरुष के एकमात्र उदाहरण दर्शयिताहे का प्रयोग अब तक केवल नैषधीयचरित के कर्त्ता श्रीहर्ष द्वारा किया हुआ ही मिला है[1]। इस बात की चरम सीमा भट्टि में मिलती है। उनका महाकाव्य कविता होने के साथ-साथ व्याकरण और साहित्य-शास्त्र के नियमों का एक निदर्शन भी है। उन्हीं की नक़ल भौमक के रावणार्जुनीय में और हलायुध के कविरहस्य (दसवीं शताब्दी) में है। लोक-कथा के लेखकों में भी कभी-कभी व्याकरण के ज्ञान का अकस्मात् प्रदर्शन पाणिनि और उनके उत्तरवर्ती वैयाकरणों से लिये हुए गूढ शब्दरूपों को शक्ल में पाया जाता है। शंकर जैसे गंभीर दार्शनिक मा के साथ में समापिका क्रिया का प्रयोग करते हैं---जो मूल में एक हास्यजनक प्रयोग ही रहा होगा---और वे उपपद्येतराम् (?) इस शब्द में क्रिया के तुलनात्मक रूप के प्रयोग के भी अपराधी हैं। इसको अत्यन्त भद्दे प्रकार की भाषा-संबन्धी एक अस्वाभाविक विकृति ही समझना चाहिए।

अलंकृत शैली के गद्य के लेखकों द्वारा खुले रूप में लुङ् लकार के प्रयोग का कारण भी वैयाकरणों का प्रभाव ही था; साथ ही, बाण और दण्डी इतिवृत्त के वर्णन में लिट् लकार का प्रयोग करते हुए वैयाकरणों द्वारा विहित तद्विषयक विशिष्ट नियम का पालन करते हैं। ऐसा कहा गया है कि इसका कारण यह हो सकता है कि गद्य का निकास पद्येतर परम्परा से है, परन्तु यह सुझाव अनावश्यक प्रतीत होता है[2]। सुबन्धु ने लिट् लकार संबन्धी नियम की अपेक्षा की है, और दूसरे लेखकों की विशुद्धता का कारण यही हो सकता है कि वे व्याकरण में अपने नैपुण्य का प्रदर्शन करना चाहते थे। इस बात में उन्हें छन्दः-संबन्धी नियन्त्रण के अभाव से स्वभावतः सुविधा प्राप्त थी।

---

1. तु० व्याकरण-सम्बन्धी उपमाएँ; Walter, *Indica* III. 38.
2. Speijer, *Sansk. Synt.*, §§ 328ff.; Renou, *La Valeur* du parfait, pp. 86ff.

इसी स्वतन्त्रता से वाक्य के अन्त में ही क्रिया के प्रयोग के सम्बन्ध में उनकी प्रवृत्ति की व्याख्या हो जाती है। वास्तव में परम्परा के अनुसार क्रिया का स्थान यही होना चाहिए। परन्तु पद्य में इस परम्परा का पालन करना असंभव था।

अलंकृत शैली के महाकाव्य पर पौराणिक काव्यों के प्रभाव[1] का परिणाम बहुत भिन्न प्रकार का था। पौराणिक काव्यों में, और महाभारत में तो और भी विशेषतया[2], वारीक भेदों की उपेक्षा की और सादृश्य के आधार पर बनाये हुए शब्द-रूपों द्वारा व्याकरण के सरलीकरण की अपरिष्कृत भाषा-संवन्धी प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस प्रकार, संधि के नियमों की प्रायः उपेक्षा की जाती हैं; नाम के संवन्ध में दुर्बल और सबल अथवा पूर्ण और अपूर्ण (weak and strong) विभक्ति रूपों के भेद की जहां-तहां अवहेलना की जाती है; इ और इन् के अन्तवाले प्रातिपदिकों में परस्पर सांकर्म दीख पड़ता है; सादृश्य के आधार पर प्राचीन रूप पूषणम् के स्थान में पूषाणम् का प्रयोग होता है; विभक्ति के प्रयोग में, विशेषकर सर्वनामों में, बड़ी गड़बड़ है; धातु के संवन्ध में मौलिक और अमौलिक प्रत्ययों में कहीं कहीं सांकर्य दिखाई देता है; परस्मैपद और आत्मनेपद का प्रयोग छन्द के कारणों से एक-दूसरे के स्थान में किया गया है; कर्मवाच्य अथवा भाववाच्य प्रयोग कर्तृवाच्य प्रत्ययों के साथ में पाया जाता है; शब्द-रूपों के मध्य में आनेवाले इ के संबन्ध में सूक्ष्म नियमों का जहां-तहां उल्लंघन किया जाता है; शतृ-प्रत्ययान्तों का स्त्रीलिङ्ग का रूप अनियमतः कभी अन्ती से और कभी अती से बनाया जाता है; णिजन्त और नामधातुओं से शानच्-प्रत्ययान्त रूप, कुछ अंशों में निस्सन्देह छन्द की सुविधा के आधार पर, प्रायः आन् से बनाया जाता है; पूर्वकालिक क्रिया का रूप असमास में त्वा से और समास में य से वनता है, इस नियम की बराबर उपेक्षा की गयी है; सृ के लट् लकार के रूप के स्थान में धावति हो जाता है, इस प्रकार के विशिष्ट नियमों की स्वभावतः उपेक्षा की गयी है। अकारान्त प्रकृतियों की ओर अधिक रुचि की प्रवृत्ति समान रूप से धातु और नाम दोनों में देखी जाती है, परिणामतः दिशा और दुहिता (?) जैसे रूप देखने में आते हैं।

---

1. रामायण के विषय में तु० Böhtlingk, BSGW. 1887, pp. 213ff.; ZDMG. xliii. 53ff.; Roussel, *Muséon*, 1911, pp. 89ff.; 1912 pp. 25ff., 201ff.; JA. 1910, i. 1-69; Keith, JRAS. 1910, pp. 468ff., 1321ff.

2. Holtzmann, *Gramm. aus d. M.* (1884).

महाभारत और रामायण जैसे उत्कृष्ट आदर्शों का उत्तरकालीन कवियों पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था, और पतञ्जलि पौराणिक काव्य के एक उद्धरण को देते हुए, जिसमें प्रियाख्याय के स्थान में प्रियाख्य यह अनियमित प्रयोग आया है, स्पष्टतया कहते हैं कि कविजन ऐसे अनियमित शब्दों का प्रयोग कर दिया करते हैं (छन्दोवत्कवयः कुर्वन्ति)। इसलिए हम यत्र-तत्र ऐसी अशुद्धियां पाते हैं, जैसे अन्ति और अति में, त्वा और य में, आत्मनेपद और परस्मैपद में परस्पर सांकर्य, तथा भूत-कालिक लकारों के वैयाकरणों द्वारा विहित परन्तु पौराणिक काव्य में उपेक्षित विशिष्ट अर्थों की बराबर अवहेलना। पौराणिक काव्य की भाँति, इतिवृत्त के वर्णन में सामान्य भूतकाल के रूप में लिट् और लङ् लकारों का एक दूसरे के स्थान में प्रयोग किसी प्रकार के सूक्ष्म अन्तर के बिना खुले रूप में होता है। कालिदास भी सरति का और बभूव के स्थान में आस का प्रयोग करते हैं। श्रीहर्ष ने पाणिनि के कपाट के स्थान में, रामायण की भांति, कवाट का प्रयोग किया है। छोटे कवि, विशेषतया अभिलेखों के निर्माता क्षुद्र कवि, तो स्वभावतः व्याकरण के नियमों का कहीं अधिक उल्लंघन करते हैं, विशेषतः वहां जहां उन्हें छन्दःसंबन्धी कठिनता का बहाना मिल जाता है।

परन्तु उस मौलिक परिवर्तन के लिए जिस ने धीरे-धीरे काव्य-शैली को, सबसे बुरे रूप में गद्य में, परन्तु थोड़ी-बहुत मात्रा में पद्य में भी, आक्रान्त कर लिया, उत्तरदायित्व न तो पौराणिक काव्य का था न वैयाकरणों का। जैसा भण्डारकर[1] ने ठीक ही कहा है, यह परिवर्तन धातु-मूलक शैली से नाम-मूलक शैली का है। वैदिक और पौराणिक संस्कृत मुख्यतया भाषा के ऐसे रूप को दिखाती हैं जो ग्रीक और लैटिन के बहुत सदृश हैं; धातु-रूप बिना किसी नियन्त्रण के प्रयुक्त होते हैं, और संबन्धी अवान्तर वाक्य अथवा संयोजक अव्ययों से प्रारम्भ होनेवाले अवान्तर वाक्य बराबर प्रयोग में आते हैं। नवीन शैली का विशिष्ट रूप है—प्राचीन रूपों के स्थान में समासों का प्रयोग[2]।

---

1. JBRAS. xvi. 266ff.; cf. Bloch, MSL. xiv. 27ff.; Renou, *La valeur du parfait*, pp. 90ff.; Stchoupak, MSL. xxi. 1ff.; Jacobi, IF. xiv. 236 ff.

2. Jacobi (*Compositum und Nebensatz*, pp. 25, 91ff.) ने दिखलाया है कि वास्तव में उसका प्रयोग आलङ्कारिक वर्णनों के लिए होता है, न कि आवश्यक विशेषणों के लिए। उनका कहना है कि उनके अधिक प्रचार का कारण कवियों की सुविधा थी; cf. Chap. II, § 4.

See also Wackernagel, *Altind. Gramm.*, II. i. 25, 27, 159; Whitney, *Sansk. Gramm.*, § 1246.

अपने सरलतमरूप में, यह प्रवृत्ति आक्षेप के योग्य नहीं है और इससे संक्षिप्तता में सहायता मिलती है; 'जिसके पुत्र मारे गये हैं' की अपेक्षा **हतपुत्र** में लाघव स्पष्ट है। परन्तु जब सरलतम समास में अन्यपद जोड़ दिये जाते हैं तब उसमें विभक्तियुक्त भाषा के वे गुण जो उसमें पृथक्त्व से निष्पन्न शब्दों के वाक्यों में वाक्यरचना द्वारा संयोजन के आधार पर रहते हैं तुरन्त नष्ट हो जाते हैं; संक्षिप्तता का जो लाभ होता है उसके लिए स्पष्टता का प्राणनाशक मूल्य देना पड़ता है। **जलान्तश्चन्द्रचपल** (जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र की भाँति चपल) जैसा समास अपेक्षाकृत निर्दोष है, परन्तु कालिदास जैसे शैली-निर्माता भी **वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणा** (तरङ्गों के क्षोभ से शब्दायमान पक्षियों की श्रेणी के रूप में काञ्ची की डोरीवाली) जैसे शब्दसमुदाय का प्रयोग करते हैं। यह ठीक है कि ऐसे स्थलों में अर्थ के संबन्ध में कोई वास्तविक संदेह नहीं होता, परन्तु प्रायेण ऐसा नहीं होता। वास्तव में परवर्ती कवियों को इसमें प्रसन्नता होती है कि वे ऐसे समासों की रचना करें जिनके दो अर्थ हों, क्योंकि उनको दो प्रकार से पढ़ा जा सकता है। इस प्रकार की अस्वाभाविक रचना में सुबन्धु पूर्ण अधिकार रखते हैं। इसके अतिरिक्त, धातु के नामिक रूपों के प्रति विशेष रुचि दिखाई जाती है; भूतकाल की अभिव्यक्ति नियमतः अकर्मक धातु के क्त-प्रत्ययान्त शब्दरूप द्वारा की जाती है, जैसे **गतः** वह गया; अथवा यदि धातु सकर्मक है तो कर्ता को तृतीया विभक्ति में रख कर क्त-प्रत्ययान्त शब्दरूप का प्रयोग किया जाता है, जैसे **मृगेणोक्तम्**, मृग ने कहा। अथवा क्त-प्रत्ययान्त के आगे **वन्त्** को जोड़ कर उसका कर्तृवाच्य रूप बना दिया जाता है, जैसे **कृतवान्**, उसने किया; वैयाकरणों में इस प्रवृत्ति का कुछ दूरी का सादृश्य एक तिङन्त क्रिया के स्थान में पाणिनि द्वारा **दाश्वांस्** जैसे रूपों के प्रयोग की अनुज्ञा में देखा गया है। अथवा सामान्य ढंग के धातु को छोड़ कर किसी भी धातु के प्रयोग को उसके स्थान में अन्य शब्दों के प्रयोग द्वारा बचाया जा सकता है, जैसे **पचति** के स्थान में **पक्वं करोति**, वह पकाता है, या **पच्यते** के स्थान में **पक्वो भवति**, वह पकाया जाता है। इसी प्रकार सामान्य लृट् लकार की अपेक्षा लुट् लकार को अधिक पसन्द किया जाता है। अथवा क्रिया का बिलकुल विलोप हो सकता है, जैसे **अयं मांसं भक्षयति** के स्थान में हम **मांसभोजकोऽयम्**, वह

मांस खानेवाला है, कह सकते हैं। इसी के अनुरूप वह प्रवृत्ति है जो अर्थ की अभिव्यञ्जना के रूप में विभक्तियों के संबन्धों पर बड़ा बल देती है। दर्शन, व्याख्या और तर्कशास्त्र की उत्तरकालीन शैली में उक्त प्रवृत्ति का ही यह परिणाम हुआ है कि हमें बराबर ऐसे वाक्य मिलते हैं। जिनमें कोई क्रिया नहीं होती और जिनमें प्रयोग की दृष्टि से भाववाचक नामों के केवल प्रथमान्त और पञ्चम्यन्त रूप ही होते हैं। अप्रधान अवान्तर वाक्यों के स्थान में क्त्वा-प्रत्ययान्त जैसे रूपों का प्रयोग भी प्रायः देखने में आता है; लोक-कथाओं जैसी रचनाओं में इसका बार-बार इतना प्रयोग होता है कि उससे मन ऊब जाता है।

उक्त प्रवृत्ति का क्या कारण था, इसका हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। संक्षेप की इच्छा पहले से ही वैदिक सूत्रों की शैली में देखी जाती है। वैयाकरण इसको बहुत दूर तक ले गये। उनके ग्रन्थों में ऐसे पर्याप्त स्थल मिलते हैं जहां विशिष्ट अर्थों में विभक्तियों के प्रयोग पर और समासों पर आग्रह दिखाई देता है; कर्मकाण्ड-परक पुस्तकों में पूर्वकालिक क्रिया के द्योतक क्त्वा-प्रत्ययान्त या ल्यप्-प्रत्ययान्त शब्दरूपों का प्रयोग प्रायेण हुआ है। कुछ विद्वानों का सुझाव है कि निष्ठाप्रत्ययान्त या सत्प्रत्ययान्त जैसे कालबोधक कृदन्त शब्दों के प्रयोग के प्रति अनुराग का कारण द्राविड प्रभाव हो सकता है[1]; संस्कृत और द्राविड-भाषा दोनों में प्रपञ्चात्मक भविष्य में सहायक क्रिया का प्रयोग केवल उत्तम और मध्यम पुरुष में होता है; कृतवान् इस नमूने का समानान्तर शब्द शेय्दवन् में पाया जाता है; वाक्य में क्रिया अन्त में और उससे अन्वित शब्द उससे पहले आते हैं, शब्दों के क्रम के संबन्ध में इस नियम का आधार भी द्राविड है। यह खेद की बात है कि ये युक्तियां निर्णायक नहीं हैं[2];

---

1. Konow, LSI. iv. 279 ff.; Grierson, BSOS. I. iii. 72; Carnoy, JAOS. xxxix. 117 ff.; Chatterji, i. 174 ff.

2. Cf. R. Swaminatha Aiyar, POCP. 1919, i, pp. Lxxi ff. जो औचित्य-पूर्वक दिखलाते हैं कि द्राविड साक्ष्य समय की दृष्टि से बहुत पीछे का है, और ये भाषाएँ सम्भवतः आर्य-भाषा की ऋणी हैं। K. G. Śankar (JRAS. 1924, pp. 664 ff.) दिखलाते हैं कि प्राचीनतम तामिल ग्रन्थ तोल्-काप्पिअम् का समय ४०० ई० के अनन्तर होना चाहिए, क्योंकि वह पोरुळधिकारसूत्र, होरा-संबन्धी ज्योतिष, का उल्लेख करता है, और यह कि संगम् के मोरिय कोङ्कण के मौर्य ही हैं, जिनका समय ४९४ ई० के अनन्तर है।

प्रथम पुरुष में सहायक क्रिया का अप्रयोग स्वाभाविक है, क्योंकि इस पुरुष में वाक्य में जो कुछ सामान्यतया छोड़ दिया जाता है वह आसानी से समझा जा सकता है। संस्कृत में जो शब्द-क्रम है उसकी समानता द्राविड भाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक भाषाओं में पायी जाती है, और उसका आधार विचार-विषयक सामान्य नियमों पर है।

काव्यात्मक साहित्य की शुद्ध अथवा अपेक्षाकृत शुद्ध संस्कृत के साथ-साथ, हमें, विशेषतः विशेष-विद्या-संबन्धी और ब्राह्मणों से असंबद्ध ग्रन्थों में, लोक-प्रिय संस्कृत अथवा विभिन्न रूपों में संकीर्ण संस्कृत के संबन्ध में पर्याप्त साक्ष्य मिलता है। सामान्य रूप से वह इसका परिणाम हो सकता है कि कुछ लोगों ने जो संस्कृत के प्रयोग के अभ्यासी नहीं थे उस भाषा में लिखने का प्रयत्न किया है, पर इसके अनेक रूप हैं। प्रारम्भिक बौद्ध लेखकों ने ऐसा निश्चित विचार कर लिया था कि संभवतः अर्धमागधी में उपलब्ध बौद्ध परम्पराओं को विद्वानों की उत्कृष्टतर भाषा (संस्कृत) में लाया जाए। परन्तु इस विचार में उनकी इस इच्छा से बाधा पड़ी कि कम से कम पद्य में उनको अपने आदर्शों से अनुचित रूप से दूर नहीं जाना चाहिए। इसी आधार पर हम उन विचित्र शब्दरूपों को समझ सकते हैं जो विशेष रूप से गाथाओं में, और **महावस्तु** जैसी पुस्तकों के गद्य में भी, पाये जाते हैं।[1] इस प्रभाव के चिह्न अश्वघोष जैसे शिष्टतर बौद्ध लेखकों में भी पाये जाते हैं। **दिव्यावदान** में वही प्रभाव बहुत अंशों तक देखा जा सकता है, यद्यपि वह पुस्तक अंशतः मथुरा में और अन्यत्र प्रचलित संस्कृत गद्य को बौद्धों के काम के अनुकूल बनाने के सफल प्रयत्न की द्योतक है। जो लोग संस्कृत में लिखने का प्रयत्न करते थे उनकी तद्विषयक शिक्षा-दीक्षा में मात्राकृत भेद बहुत हो सकता है; इस प्रकार संभवतः चतुर्थ शताब्दी ई० के बावर हस्तलेख के ग्रन्थों में से आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थों में संस्कृतीकरण अपेक्षाकृत अच्छा है, परन्तु निमित्त-शास्त्र और मन्त्र-शास्त्र के ग्रन्थों में निश्चित रूप से निम्नकोटि का है। व्याकरणों में जिस संस्कृत का विधान है उससे विच्युति का कारण

---

1. Cf. Senart i, pp. iv, xiii ff.; Wackernagel, *Altind. Gramm.*, i. p. xxxix. इसके विरुद्ध देखिए F. W. Thomas, JRAS. 1904, p. 469, जो मिश्रित या संकीर्ण संस्कृत को मध्यम वर्ग की भाषा समझते हैं। Poussin (*Indo-européens*, p. 205) बलपूर्वक रिवाज को स्थिरता को प्राप्त होता हुआ व्यवहार ही बतलाते हैं।

कुछ अंश में स्पष्टतः लगभग अपने ही रूप में प्राकृत शब्द-रूपों का संस्कृत ग्रन्थों में अनधिकृत प्रवेश ही है। अन्य स्थलों में जन-साधारण का प्रभाव ऐसी संस्कृत के रूप में दिखाई देता है जिसमें सूक्ष्म भेदों की उपेक्षा की गयी है और शब्द-रूपों में परस्पर सांकर्य विद्यमान है। प्राकृतीकरण और असावधानी से प्रयुक्त संस्कृत में कोई ऐकान्तिक भेद नहीं है, परन्तु यह भेद सुविधा जनक और न्याय्य भी है।

उदाहरणार्थ, बावर-हस्तलेख में पाई जानेवाली लोक-प्रिय संस्कृत की वर्ण-ध्वनियों में ऋ और रि में, न् और ण् में, श्, ष् और स् में कुछ सांकर्य पाया जाता है; छन्द के कारण स्वरों के दीर्घीभाव और ह्रस्वीभाव की कमी नहीं है; म्ल् के स्थान में म्ब्ल् हो जाता है, और कभी-कभी अलता जैसे शब्दों में प्रारम्भ में अ लगा दिया जाता है। संधि में विवृत्ति और व्यञ्जन-लोप को सीमातक अति-संधि (अश्विभ्यानुमतः) पाई जाती हैं, साथ ही शब्द के आदि में आ का कभी कभी लोप हो जाता है। सुबन्त रूपों में स्त्रीलिङ्ग प्रथमान्त ई और ऊस् के स्थान में ईस् और ऊ पाये जाते हैं; स्त्रीलिङ्ग द्वितीयान्त ईस् के स्थान में प्रायः यस् हो जाता है, और इन्-प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों के रूप इकारान्त प्रातिपदिकों के समान चलाये जाते हैं, जैसे पित्तिनाम् के स्थान में पित्तीनाम्। क्रियाओं में गणों के संवन्ध में सरलता दिखाई देती है, जैसे लिह्यात् के स्थान में लिहेत्, पिस्यात् (?) पिष्यात् के स्थान में पीषेत्; और, पौराणिक काव्य के समान, परस्मैपदी और आत्मनेपदी रूपों में पारस्परिक अधिक अनियन्त्रित परिवर्तन; पूर्वकालिक क्रिया के त्वा और या (?य) में गड़बड़ देखी जाती है। प्रातिपदिकों में प्रायेण अस्, इस्, या उस्, अन्तवाली प्रकृतियों के साथ अ, इ, या उ अन्तवाली प्रकृतियों का संमिश्रण पाया जाता है, और कभी-कभी हन्तृ के द्वितीयान्त रूप से ली हुई हन्तार यह प्रकृति भी देखी जाती है; स्त्रीप्रत्ययों में सांकर्य देखा जाता है, जैसे घ्नी के स्थान में घ्ना, चतुर्थी के स्थान में चतुर्था, और रचना में पूरणार्थक संख्याओं के स्थान में कभी-कभी साधारण संख्याएं प्रयुक्त हुई पायी जाती हैं। लिङ्ग-संबन्धी सांकर्य विशेषतः उल्लेखनीय है; विशेषतः यह सांकर्य पुँल्लिङ्ग और नपुंसक-लिङ्ग में, और बहुत कम पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में या स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक-लिङ्ग में पाया जाता है। विभक्तियों का सांकर्य सामान्य रूप से पाया जाता है। यही स्थिति शब्दों के पारस्परिक आनुरूप्य के नियमों के अपालन तथा वचनों के सांकर्य के संबन्ध में है। इसी

प्रकार समासों अथवा वाक्यों में निपातों का अन्तर्निवेश, सति सप्तमी जैसे शब्दों के ऐकान्तिक अन्वय और अत्यन्त शिथिल रूप से संबद्ध अवान्तर वाक्य सामान्य रूप से पाये जाते हैं।

संस्कृत और स्थानीय प्राकृत बोलियां साथ-साथ विद्यमान थीं। इस लिए दोनों में एक-दूसरे से आदान-प्रदान अनिवार्य था[1], यद्यपि समय-समय पर याज्ञिक विषयों में संस्कृत भाषा के प्रयोग में शुद्धता के लिए दुराग्रही लोगों और वैयाकरणों द्वारा आपत्तियां उठायी जाती थीं[2]। इस प्रकार, यद्यपि लौकिक संस्कृत में पाणिनि-व्याकरण से संबद्ध गणपाठ और धातुपाठ में पढ़े हुए अनेकानेक शब्द और धातुएं नष्ट हो गयीं, तो भी नये शब्दों के आगमन से वह समृद्ध होती गयीं। उन शब्दों में से कुछ का आसानी से, कुछ का कठिनता से, पता लगाया जा सकता है। अनेक अवस्थाओं में प्राकृत शब्द-रूप केवल उतने परिवर्तनों के साथ ले लिये गये जितने कि उनको आपाततः संस्कृत में लगने वाली प्रत्ययों से युक्त दिखाने के लिए आवश्यक थे। ऐसा प्रतीत होता है मानो पाणिनि[3] को भी यह प्रवृत्ति अभिमत थी, क्योंकि उन्होंने अपने नियमों के अनुसार होने वाले ऐ और औ के स्थान में प्राकृत ए और ओ को दिखानेवाले प्राच्यदेशवाची शब्दों को भी शुद्ध मान लिया है। अन्य अवस्थाओं में अनेक प्राकृत शब्दरूप संस्कृत में इस विचार से रहने दिये गये कि वे संभवतः वास्तविक संस्कृत के ही रूप थे; उदाहरणार्थ, अलंकार-शास्त्र के शब्द विच्छित्ति के विषय में, जो कि वास्तव में विक्षिप्ति[4] से निकला है, यही समझा गया कि वह बहुत करके विच्छिद् से निकला है; कृष्ण के पर्य्यायवाची गोविन्द को, जो कि संभवतः गोपेन्द्र का प्राकृत रूप है, गो-विन्द (गौओं का विजेता) समझा गया; उत्तरकालीन ग्रन्थों में आनेवाले भदन्त शब्द की, जोकि अभिवादन के शब्दसमूह भद्रंते से निकला है, सिद्धि भद् धातु से अन्त प्रत्यय को लगाकर की जाती है, और उत्तॄ को प्राकृत ओतरति के द्वारा अवतॄ से निकला हुआ नहीं माना जाता है;

1. Zachariae, *Beitr. z. Lexikogr.*, pp. 53 ff.

2. मीमांसासूत्र १।३।२४ इत्यादि पर शबर स्वामी और कुमारिल को देखिए; दे० सरस्वतीकण्ठाभरण १।१६, महाभाष्य १।५। 3. १।१।७५।

4. Zachariae, *B.Beitr.*, xiii 93.; तु० अग्रलक के लिए, अग्गल के द्वारा अर्गल: (IA. xix. 59) Kielhorn, GN. 1903, p. 308.

दुरुत्तर, दुर्जय, वास्तव में दुष्टर के स्थानीय प्राकृत दुत्तर से निकला है। इसको वास्तव में दुर्+उत्तर समझा गया। अनेक अवस्थाओं में, असंदिग्ध रूप से, प्राकृत शब्दों का शुद्ध संस्कृत समान-शब्दों में शब्दान्तर कर लिया गया। उनके विषय में इस प्रकार के आदान को अब सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु अन्य शब्दों में मिथ्या शब्द-रूपों द्वारा उक्त प्रवृत्ति का कुछ आभास मिल जाता है; उदाहरणार्थ, प्राकृत मारिस (मित्र) को, जिसमें स् श् का स्थानीय है, अबुद्धिपूर्वक मारिष का रूप दे दिया गया; विलुप्त गृप्स के स्थानीय गुच्छ को गुत्स (गुल्म) बना दिया गया; संस्कृत मृत्स्न का स्थानीय मसिण् नये रूप में मसृण् (कोमल) हो गया; रुक्ष अथवा वृक्ष का स्थानीय रुक्ख[1] रूक्ष (वृक्ष) हो गया; और संस्कृत अधस्तात् से निकला हुआ हेट्ठा पुनर्रचना में हेष्ट हो गया। जैन संस्कृत ग्रन्थों में सामान्य रूप से प्रयुक्त विध्यै (चला जाना) का आधार संस्कृत विक्षै का स्थानीय प्राकृत विज्झै है; इसी प्रकार विकुर्व (जादू से उत्पन्न करना) का संबन्ध विउव्वै, विउव्वए के द्वारा विकृ से लगाया जाता है। इसके पश्चात्, गुजराती, मराठी या हिन्दी जैसी सर्व-साधारण की बोलियों से शब्दों का आदान हुआ है[2]। प्रायेण चातुर्य से ऐसा किया जाता है कि संस्कृत शब्दान्तर अपने ही रूप में विशुद्ध मूल शब्द दिखाई दे, जैसा कि पब्भार के रूपान्तर प्राग्भार में पाया जाता है, यद्यपि उसका मूलरूप प्रह्वार है।

कभी-कभी संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति वास्तविक संस्कृत शब्दों में भी काम करती हुई देखने में आती है; संभवतः इसी आधार पर हम इन शब्दों के स्वरूप को समझ सकते हैं—प्र-सह् से प्रसभम्, हठपूर्वक; प्राचीनतर वैयक्तिक नाम नहुष के लिए नघुष, वर्षाहू के लिए वर्षाभू, मेंढक।

उन अवस्थाओं में जब कि, दक्षिण भारत अथवा सुदूर भारत की तरह, एक स्थानीय बोली के साथ-साथ संस्कृत का व्यवहार होता था, विदेशी उद्भवस्थानों से भी स्वभावतः शब्दों का आदान संस्कृत में हुआ था। कुमारिल ने अन्त में संस्कृत प्रत्ययों को लगा कर

1. See Hultzsch, CII. i, pp. Lxx ff., तद्विरुद्ध Turner, JRAS, 1925, p. 177. में ओल्डेनबर्ग (oldenberg) से सहमत हूँ कि ऋग्० ६।३।७ में रुक्ष-वृक्ष नहीं है।

2. Cf. Bloomfield, *Festschrift Wackernagel*, pp. 220-30; Hertel, HOS. xii. 29 f.

द्राविड शब्दों के संस्कृत में समावेश को उचित माना है, और विशेषकर सायण जैसे शब्दों का खुले रूप से इस प्रकार संस्कृतीकरण हो गया था। दक्षिण भारत के ग्रन्थों में[1] उत्तर के ड् या ल् के स्थान में विशेष रूप से पाये जानेवाले ळ् का कारण असंदिग्ध रूप से अंशतः द्राविड प्रभाव है। दूसरी ओर, उत्तर के आक्रमणों के कारण प्राचीन और उत्तरकालीन ईरानी शब्दों का आगमन हुआ, जैसे लिपि, लिखना, प्राचीन फारसी दिपि[2], क्षत्रप,सेट्रप, और कदाचित् मुद्रा, मोहर,[3] या दिविर, लेखक, मिहिर, मित्र (सूर्य), बहादुर, साह, और साहि। उत्तर में ग्रीक आक्रमणों का कोई चिन्ह संस्कृत भाषा में नहीं दिखाई देता, परन्तु संभवतः उत्तरकाल में भारत ने सुरंग के पारिभाषिक अर्थ में syrinx से सुरुङ्गा (? सुरङ्गा) शब्द को, और ज्यौतिष के शब्दों की एक बड़ी संख्या को ले लिया। इन शब्दों में से बहुतों को उन्होंने चातुर्य से ऐसा परिवर्त्तित कर लिया कि वे वस्तुतः संस्कृत शब्द प्रतीत होने लगे, जैसे hydrochoos के स्थान में हृद्रोग, अथवा diametron के स्थान में जामित्र। इसी प्रकार के चातुर्य से उपयोगी ऊँट (camel) वाची शब्द को क्रमेलक में रूपान्तरित कर लिया गया[4], जिससे क्रम्, जाना, के साथ उसका संबन्ध प्रतीत होता है। मुसलमानों के आक्रमण के साथ अरबी और तुर्की शब्द आये, और यूरोप की राजशक्तियों ने भी आधुनिक संस्कृत शब्दकोष को कभी-कभी नवीन शब्द दिये हैं, जिससे उसको आत्मसात् करने की शक्ति का प्रमाण मिलता है। विशेषतः वैज्ञानिक साहित्य ने जिनसे ज्ञान की प्राप्ति हुई है उनके शब्दों को, शब्दों के आदान को छिपाने में बड़ी दक्षता के साथ, अपनाने में अपनी उद्युक्तता दिखलाई है।

समय के वीतने के साथ-साथ संस्कृत उत्तरोतर एक सांस्कृतिक भाषा के रूप में आने लगी। इसी कारण से उस में शब्दों के मुहावरेदार प्रयोग के प्रति उस सूक्ष्म संवेदना का क्रमशः बढ़ता हुआ

---

1. Lüders, *Festschrift Wackernagel*, p. 295.
2. Bühler, *Ind. Stud.*, iii. 21 ff.; Hultzsch, CII. i., p. xlii.
3. Franke, ZDMG. xlvi. 731 ff. हाल में बन्दी (कैदी) आता है। Cf. Weber, *Monatsber. Berl, Ak.*, 1879, pp. 810 ff.
4. Lévi (*De Graecis vet. Ind. Mon., P.56*) को इसमें सन्देह है, परन्तु यह शब्द परवर्तीकाल का है; लोपाक (άλw'π7ξ) दूसरा शब्द है, जैसे लोपाश वैदिक है। हाल ने कलम Κàλaμos और मरगअ ὀμàpaγδos को दिया है।

अभाव दिखाई देता है जो कि सामान्य जीवन से विशेषतः संपृक्त एक जीवित भाषा के व्यवहार से उत्पन्न होती है। परन्तु इस दोष को कभी-कभी बहुत बढ़ा कर दिखाया जाता है, क्योंकि, यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक काल के कवियों की प्रवृत्ति होती है कि वे, प्रभाव-विशेष उत्पन्न करने की इच्छा[१] अथवा छन्द के विचार से, शब्दों को अप्रचलित अर्थों में प्रयुक्त करते हैं और उनके अर्थों को बलात् कुछ बदल देते हैं; पिंदर (Pindar) और प्रौपर्तिसुस (Propertius) उस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं जो थोड़ी बहुत विशेषता के साथ ग्रीक और लैटिन भाषा के सारे उत्कृष्ट साहित्य में पाई जाती है, साथ ही अलेग्जैन्द्रिया का लाइकोफ़न (Lykophron) किसी भी भारतीय कवि के सदृश ही भाषा-संबन्धी स्पष्ट अस्वाभाविकता का अपराधी है। भारतीय कवियों में उक्त प्रवृत्ति के बढ़ने का कारण था, श्लेषालंकार के लिए उनका बढ़ना हुआ प्रेम और समानार्थक शब्दों की सूचियों को देनेवाले कवियों के लिए उपयोगी कोषों के अभ्यास की प्रवृत्ति। स्पष्टतः इन कोषों में इस सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है कि वास्तव में कोई दो शब्द एक ही अर्थ नहीं रखते। कवियों का व्याकरण का ज्ञान भी उनको ऐसे शब्दों के घड़ने की ओर अथवा ऐसे अर्थों में उनके प्रयोग की ओर ले जाता था जो व्युत्पत्ति की दृष्टि से तो ठीक थे, परन्तु व्यवहार से अनुमत नहीं थे।

४. प्राकृत भाषाएँ

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति, जो भारतवर्ष में प्रचलित है और जिसको सब से अधिक मान्यता प्राप्त है, इस प्रकार की जाती है—प्रकृति है संस्कृत, और प्रकृति से निकली हुई भाषा को प्राकृत कहते हैं। दूसरी दृष्टि इस बात को उलट देती है; प्राकृत उस भाषा को कहते हैं जो प्रकृति अर्थात् स्वभाव से प्राप्त हो, जिसको सब लोग विशेष शिक्षा के बिना ही समझ सकते हैं और व्यवहार में ला सकते हैं[२]। किस प्रकार से यह शब्द व्यवहार में आया, यह निर्णय करना असंभव है; कदाचित् संस्कृतेतर भाषाओं को यह नाम दिया गया, क्योंकि

१. *Attis* में Catullus के विचित्र समास इस विषय के उदाहरण उपस्थित करते हैं।

२. Pischel, *Grammatik der Prakrit-Sprachen* (1900) §§ 1. 16.

वे सर्व-साधारण अथवा अशिक्षित लोगों की भाषाएँ थीं, उन लोगों की जो शिक्षितों की अपेक्षा, जो शुद्धभाषा (संस्कृत) बोल सकते थे, निम्न-श्रेणि के थे। वैयाकरणों और अलङ्कार-शास्त्र के लेखकों के लिए प्राकृत से अभिप्राय विशेषरूप से कुछ उन स्पष्टतया कृत्रिम साहित्यिक बोलियों से होता है, जो अपने उपलब्ध रूप में निश्चय-पूर्वक सर्व-साधारण की बोलियां नहीं थीं; परन्तु आजकल के रिवाज के अनुसार इस शब्द का प्रयोग आधुनिक सर्व-साधारण की बोलियों के स्थिर हो जाने के समय से पूर्व की सर्वसाधारण की बोलियों के लिए होता है। सर जार्ज ग्रियर्सन (Sir George Grierson) ने इस शब्द को विस्तृत अर्थ भी दिया है। वे प्राकृतों का तीन बड़ी अवस्थाओं में वर्गीकरण करते हैं: प्राथमिक प्राकृत भाषाएँ, जिनका साहित्यिक रूप वैदिक भाषा में और उसकी उत्तराधिकारिणी संस्कृत भाषा में पाया जाता है; द्वितीयक प्राकृत भाषाएँ, जिनका साहित्यिक रूप पालि में, वैयाकरणों की, रूपकों की, और सामान्येन साहित्य की प्राकृत भाषाओं में, और वैयाकरणों के अपभ्रंशों में पाया जाता है; और तृतीयक प्राकृत भाषाएँ अर्थात् आधुनिक सर्व-साधारण की भाषाएँ। यह संदेहास्पद हो सकता है कि उक्त पारिभाषिक शब्दावली में कोई ऐसी पर्याप्त योग्यता है जिससे उसका प्रचार में लाना वाञ्छनीय कहा जा सके, क्योंकि यह परिवर्तन की सातत्येन गतिशील अविच्छिन्न धारा की प्रवृत्ति को तिरोहित कर देती है और इस बात की ओर संकेत करती है कि विभिन्न कालों में परस्पर भेद जितना है उससे कहीं अधिक होना चाहिए। साथ ही द्वितीयक प्राकृत भाषाओं के काल में जो मौलिक नवीनताएँ हुई थीं उनको कोई विशेष स्थान उक्त शब्दावली के अनुसार नहीं मिलता।

वैदिक साहित्य में आनेवाले बेजोड़ शब्द-रूपों से निकाले हुए निष्कर्षों के अतिरिक्त, प्राकृत भाषाओं के संबन्ध में हमारा वास्तविक ज्ञान अशोक के अभिलेखों से प्राप्त होता है।[१] उनसे निश्चयपूर्वक हम अनुमान कर सकते हैं कि उन दिनों तीन स्थानीय बोलियां[२] विद्यमान थीं—पूर्व की स्थानीय बोली जो कि राजधानी में व्यवहृत होती थी

१. E. Hultzsch का नया संस्करण (१९२५); स्थानीय भाषाओं पर परिच्छेद ६–११ देखिए।

२. Michelson, AJP. xxx. 284ff., 416 ff.; xxxi. 55ff.; JAOS. xxx. 77ff.; xxxi. 233ff.; xxxvi. 210 f.

और जिसको साम्राज्य की अन्तरप्रान्तीय बोली बनाया जाना इष्ट था, उत्तर-पश्चिम की स्थानीय बोली और पश्चिम की स्थानीय बोली। इनमें से उत्तर-पश्चिम की बोली में अत्यन्त प्राचीन स्वरूप सुरक्षित है, क्योंकि इसमें ऋ का र् अंश और संयुक्त व्यञ्जनों का र् विद्यमान हैं, जब कि पश्चिमी बोली में ऋ के स्थान में अ होकर पुनः उसका पूर्वस्वर के साथ समीकरण हो जाता है, जैसे मृगस् के स्थान में मगो, अर्थ के स्थान में अ (त्) थ, और पूर्वीय बोली में ऋ के स्थान में इ या उ तथा अ, और मूर्धन्यीभाव के साथ-साथ समीकरण भी हो जाता है, जैसे अर्थ के स्थान में अ (ट्) ठ, वर्धित के स्थान में व (ड्) ढित, तथा कृत के स्थानीय कट या किट में मूर्धन्यीभाव भी दिखाई देता है; इससे इस बात का संकेत मिलता है कि असाधारण मूर्धन्यीभाव वाले संस्कृत शब्दों का प्रारम्भ पूर्व में हुआ है। उत्तर-पश्चिमी बोली में तीनों श् ष् और स् (अर्थात् शर्) सुरक्षित हैं, यद्यपि समीकरण के कारण उनकी स्वाभाविक स्थिति में परिवर्तन दीख पड़ता है, जैसे शासन के स्थान में शाशन, अथवा विषमीकरण, जैसे शुश्रूषा के स्थान में सुश्रुष; पूर्वीय में स है और पश्चिमीय में भी, परन्तु इसमें कुछ चिह्न बतलाते हैं कि उन (शरों) का भेद अपेक्षाकृत अधिक समय तक स्थित रहा, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि र्श् का परिवर्तन होकर दर्शन जैसे शब्द को दर्षन हो गया था। उस दशा में उसके प्रभाव से, र्ष् को समीकरण द्वारा स्स् होने से पहले, न् का मूर्धन्यीभाव हो गया था।[1] दक्षिण-पूर्व भारत में भट्टिप्रोळु अभिलेखों के निर्माता, जो कि, ऐसा प्रतीत होता है, पश्चिम से आकर वहां बसे थे, एक ऐसी ध्वनि बोलते थे जो श् और ष् के बीच की थी। उसमें उक्त परिवर्तन का आधार मिल जाता है। उत्तर-पश्चिम और पश्चिम में भी, पूर्व के विरुद्ध, इस बात में समानता पाई जाती है कि उनमें त्य् के स्थान में, तिय् की बजाय, च्च्, और क्ष् के स्थान में, क्ख् की बजाय, च्छ् समीकरण द्वारा पाये जाते हैं। पूर्व की विशेषता यह है कि उसमें मौलिक अस् के स्थान में, ओ की बजाय, ए हो जाता है, और र् के स्थान में ल् देखा जाता है। इस पूर्वीय बोली को हम बहुत-कुछ वैयाकरणों की अर्धमागधी का पूर्व-रूप मान सकते हैं, यद्यपि अर्धमागधी अपने पिछले रूप में बहुत अंशों

१. Michelson, JAOS. xxxi. 236f.; Lüders, SBA. 1912, pp. 806 ff.; 1914, p. 843.

तक पश्चिमीय प्रभावों से प्रभावित हुई है। रामगढ़ पहाड़ी की एक गुफा के, संभवतः द्वितीय शताब्दी ई० पू० के, एक अभिलेख से हमें उत्तरकालीन मागधी के पूर्व-रूप का पता लगता है, क्योंकि उसमें ओ के लिए ए, र् के लिए ल्, क्ष् के लिए स्ख्, और स् के लिए श् ये मागधी की विशेषताएँ पाई जाती हैं।

उक्त स्थानीय बोलियों के संबन्ध में निश्चित स्वरूप की और अधिक सूचना हमें अशोक के पश्चात्कालीन अभिलेखों से इतनी नहीं मिलतीं जितनी कि अश्वघोष के रूपकों से मिलती है। इनको हम लगभग १०० ई० के काल के लिए अच्छा साक्ष्य मान सकते हैं। इनमें जो बोलियाँ पाई जाती हैं उनको हम वास्तव में प्राचीन अर्धमागधी, प्राचीन शौरसेनी, और प्राचीन मागधी कह सकते हैं। इनमें से प्रथम वस्तुतः वही बोली हो सकती है जिसमें, जैसा कि अनुश्रुति कहती है, महावीर ने अपने सिद्धान्तों का उपदेश दिया था और जैन धर्म की स्थापना की थी, और जिसमें बौद्ध शिक्षकगणों ने अपना काम किया था।[1] परन्तु यह सब स्वीकार करते हैं कि जैनों की प्रारम्भिक धर्म-पुस्तकें नष्ट हो गयी हैं, और श्वेताम्बरों की वास्तविक धर्म-पुस्तकें जो आजकल उपलब्ध हैं ऐसे रूप में निबद्ध हैं जिसपर उत्तरकालीन दक्षिण-पश्चिमीय भाषा माहाराष्ट्री का बड़ा भारी प्रभाव है, जबकि उनके पिछले ग्रन्थ उस भाषा में लिखे गये हैं जिसको औचित्य से जैन माहाराष्ट्री कहा जाता है। दिगम्बरों ने पश्चिमी प्रभाव के कारण जिस भाषा को अपनाया उसको जैन शौरसेनी कहा जाता है। इसके विपरीत, बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों की भाषा अधिक प्राचीन है; परन्तु वह अर्धमागधी न होकर स्पष्टतया पश्चिमी ढंग की है। किसी अन्य प्रदेश की अपेक्षा वह अवन्ती या कौशाम्बी से अधिक समीपता का संबन्ध रखती है। रहस्यमय पैशाची भाषा का संबन्ध भी प्राचीन प्राकृत भाषाओं के वर्ग से है। गुणाढ्य की प्रसिद्ध बृहत्कथा इसी भाषा में थी। इस भाषा का कौन सा प्रदेश था, यह अब भी अनिश्चित है। सर जी० ग्रियर्सन[2] (Sir G. Grierson) ने

---

१. Cf. Keith, IHQ. i. 501 ff.

२. Piśāca Lang., pp. 1 ff.; ZDMG. lxvi. 49 ff.; JRAS. 1921, pp. 424 ff.; IA. xlix. 114; AMJV. i. 119 ff.

इसका संबन्ध एक ओर अशोक के अभिलेखों की उत्तर-पश्चिमी भाषा से और उत्तर-पश्चिम की आधुनिक भाषाओं से बताया है, जिनको उन्होंने संदिग्ध यथार्थता के साथ पिशाच भाषा का नाम दिया है। इस मत के विरोध में, अन्य बातों में से, यह बात कही जा सकती है कि अशोक-कालीन उत्तर-पश्चिमी बोली में श्, ष्, स् तीनों पाये जाते थे जिन के स्थान में पैशाची में केवल स् पाया जाता है, यद्यपि जिप्सियों की बोली और हिन्दुकुश की बोलियां अब भी एक ओर स्, ष् में और दूसरी ओर स् और श् में भेद करती हैं[1]। पैशाची में ळ् और ल् दोनों पाये जाते हैं और अनुनासिक व्यञ्जनों में से केवल न् ही उसमें प्रयुक्त होता है, इन दो बातों को कोनो[2] (Konow) ने पैशाची के प्रदेश के निर्धारण के लिए तथा पालि के साथ उसके घनिष्ठ संबन्ध की पुष्टि के लिए प्रमाणरूप में उपस्थित किया है। उक्त लक्षण आधुनिक मालवी में सुरक्षित हैं और उसमें पाया जाने वाला कोमल (सघोष) व्यञ्जनों का कठोरीभाव (अघोषी-भाव) संभवतः द्राविड प्रभाव का द्योतक है, इन कारणों से भारतीय परम्परा के अनुसार पैशाची का स्थान विन्ध्य-प्रदेश ही माना गया है। अभिलेखों से भी यह संकेत मिलता है कि नर्मदा के दक्षिण में भाषा का कुछ अंशों में स्वतन्त्र विकास हुआ था, और इस प्रकार ऊपर के तीन बड़े वर्गों के साथ एक दक्षिण-पश्चिमीय वर्ग और जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार दक्षिण में (दुहिता के स्थान में) हम दुहुतुय पाते हैं, और उत्तरकालीन माहाराष्ट्री में धूआ। स्पष्टतः दुहुतुय अर्धमागधी धूया का उद्भव है। उससे विपरीत उत्तरीय अभिलेखों में धिता, पालि में धीता, शौरसेनी (दुहिदा के साथ-साथ) और मागधी में धीदा, वेद में साधारण दुहिता के साथ-साथ धिता ये रूप पाये जाते हैं।[3]

इन प्राचीन प्राकृत भाषाओं की विशेषताएँ सरल हैं[4]। उनमें ये

---

१. Reichelt, *Festschrift Streitberg*, p. 245.

२. ZDMG. lxiv. 95; JRAS. 1921, pp. 244 ff.; cf. Ranganathaswami Aryavaraguru, IA. xlviii. 211 f. Przyluski (*La le'gende de l'empereur Aśoka*, p. 72) का विचार है कि पालि का संबन्ध कौशाम्बी से हो सकता है।

३. Lüders, KZ. xlix, 233 f.

४. Lüders, *Bruchstücke buddh. Dramen*, pp. 29 ff.; Keith, *Sanskrit Drama*, pp. 72 ff., 85 ff., 121 ff. Contrast Michelson, AJP. xli. 265 ff.; Bloch, JA. 1911, ii. 167. Dutreuil de Rhins की हस्तलिखित पोथी में उपलब्ध धम्मपद पश्चिमी पंजाब की एक प्राकृत में लिखा हुआ है Konow, *Festschrift Windisch*, pp. 85 ff. (प्रथम शताब्दी ई०); Lüders, SBA. 1914; pp. 101 ff. (तृतीय शताब्दी ई०)

बातें संमिलित हैं— ॠ औ ॡ स्वरों का विलोप, तथा ऐ और औ इन संध्यक्षरों का भी विलोप ; शरों (श्, ष्, स्) तथा अनुनासिक व्यञ्जनों की संख्या में कमी ; और व्यञ्जनों का समीकरण। उनमें हमें गीतात्मक स्वर के स्थान में प्रश्वास-मूलक बलाघात का हो जाना भी दिखाई देता है। इस काल की संस्कृत में भी यह बात स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त, वे एक अत्यन्त महत्व के नियम के भी अधीन हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक अक्षर (स्वरसहित व्यञ्जन) घटकर एक ह्रस्व स्वर या दीर्घ स्वर, एक या दो व्यञ्जन जिससे परे हैं ऐसे ह्रस्व-स्वर, या एक व्यञ्जन जिससे परे है ऐसे दीर्घ स्वर के रूप में आ जाता है ; उक्त प्रकार के रूप-परिवर्तनों में और भी तीव्रता उस गड़बड़ी के कारण आ जाती है जो मूल में दो व्यञ्जनों के सहित एक ह्रस्व स्वर के स्थान में केवल एक व्यञ्जन के सहित एक दीर्घ स्वर के हो जाने से, अथवा एक दीर्घ स्वर के स्थान में, या एक दूसरे व्यञ्जन के परे होने पर एक ह्रस्व स्वर और एक व्यञ्जन के स्थान में, एक अनुनासिक स्वर के हो जाने से उत्पन्न होती है।

यह बहुत संभव है कि द्वितीय शताब्दी ई० तक इन प्राचीन प्राकृत भाषाओं में लौकिक (secular) प्रकार का साहित्य लिखा जाता रहा। परन्तु उस समय के लगभग वैयाकरणों की और अधिकतर उपलब्ध प्राकृत साहित्य की मध्य-प्राकृत में मौलिक परिवर्तन हुए, इस के लिए हमारे पास स्पष्ट साक्ष्य विद्यमान है। इस परिवर्तन का स्वरूप है—दो स्वरों के मध्य में आनेवाले व्यञ्जनों का कोमल-भाव अथवा विलोप। यह प्रवृत्ति दक्षिण-पश्चिम के शातवाहनों के राज्य में माहाराष्ट्री में चरम सीमा तक पहुँच गई थी। वैयाकरणों द्वारा अभिस्वीकृत मागधी और शौरसेनी प्राकृतों में भी उक्त प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। एक ओर अश्वघोष और दूसरी ओर कालिदास की तुलना में भास के नाटकों में संक्रमण का स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध होता है, जैसे कि दो स्वरों के मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप, अघोषों का सघोषों में कोमलीभाव, सोष्म वर्णों (श्, ष्, स्) का ह् के रूप में आ जाना, य् का ज् में परिवर्तन, न् के स्थान में ण् का हो जाना, दो व्यञ्जनों के स्थान में एक व्यञ्जन का हो जाना और और बदले का दीर्घीभाव। अभिलेखों के साक्ष्य से उस दृष्टि की

पुष्टि होती है जिसके अनुसार दो स्वरों के मध्यवर्त्ती व्यञ्जनों के लोप को द्वितीय शताब्दी ई०[1] में रखा जाता है, जबकि, जैसा कि हाल के सुभाषितसंग्रह से हमें पता लगता है, माहाराष्ट्री गीत-काव्य ने अपना सफल जीवन शुरू किया था। किसी अनिश्चित समय में एक बार वैयाकरणों द्वारा उनके स्वरूप के स्थिर हो जाने पर, प्राकृत भाषाओं का महत्त्व शीघ्रता से नष्ट होने लगा, क्योंकि बोलचाल की भाषा से वे क्रमशः दूर होती गयीं। साथ ही वे न तो संस्कृत की जैसी पवित्रता की भावना ही रखती थीं, और न उसकी जैसी रचना की स्पष्टता या रूप का सौन्दर्य।

रूपकों में प्रयुक्त होने से और प्राकृत महाकाव्यों में अपनाये जाने से प्राकृत भाषाओं में माहाराष्ट्री का स्थान सब से ऊँचा था। रूपक में उसका प्रवेश संभवतः कालिदास ने गीतिकाव्य से किया था। सामान्य रूप में शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग गद्य के लिए होता था, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वह कभी कभी पद्य के लिए भी प्रयुक्त की जाती थी। संभवतः पिछले काल की अपेक्षा, जबकि गद्य और पद्य दोनों के लिए जैन लोग माहाराष्ट्री के एक रूप का व्यवहार करते थे, शौरसेनी का रूपक के अतिरिक्त गद्य के लिए प्रयोग किसी समय कहीं अधिक होता था। जैनों द्वारा गद्य के लिए प्रयुक्त माहाराष्ट्री में शौरसेनी के रूपों की विद्यमानता से इस बात का संकेत मिलता है कि वहाँ माहाराष्ट्री ने पीछे से अनधिकृत प्रवेश किया है।[2] माहाराष्ट्री की अपेक्षा शौरसेनी विशेष रूप से संस्कृत के साथ समीप का संबन्ध रखती है; उसके उद्भव का स्थान संस्कृत के प्रबलतम प्रभाव के क्षेत्र के अन्दर था, और शब्दरचना, वाक्यविज्ञान और शब्दकोष की दृष्टि से उसका संस्कृत के साथ विशेष रूप से घनिष्ठ संबन्ध रहा। इस लिए रूपकों में यह औचित्येन अच्छी स्थिति रखनेवाले लोगों के लिए प्रयुक्त होती थी। इसके विपरीत, मागधी निम्न स्थिति के लोगों के

---

१. Bloch, *Mélanges Lévi*, pp. 12 ff. (परन्तु कमार कर्मार से बना है). मूर्धन्यीभाव के विषय में तु० Turner, JRAS. 1924, pp. 555 ff., 582 ff. (परन्तु दण्ड दन्द्र का स्थानीय नहीं है; दे० Lidén, *Stud, z. altind. und vergl Sprachg.*, p. 80).

२. Jacobi, *Bhavisatta Kaha*, pp. 88 ff.; RSO. ii. 231 ff.

लिए रखी गयी थी, और यद्यपि कहानियों की[१] रचना उसमें होती थी, उसका महत्त्व अपेक्षाकृत कम था। नाट्यशास्त्र में, संभवतः तृतीय शताब्दी ई० में, नाट्य से संबन्ध रखनेवाली अन्य विभाषाओं को गिनाया गया है। स्पष्टतः उनका प्रारम्भ वास्तव में जन-साधारण से नहीं था। उनमें से दक्षिणात्या, प्राच्या, आवन्ती और ढाक्की या टाक्की केवल शौरसेनी के भेद हैं, जब कि चाण्डाली और शाकारी मागधी के उपभेद[२] हैं। उपलब्ध रूपकों में प्रायोगिक दृष्टि से पैशाची का कोई स्थान नहीं है, तो भी ऐसा प्रतीत होता ह कि लोकप्रिय कथाओं में उसका पर्याप्त प्रचार था। इसका कारण, निस्सन्देह, बृहत्कथा की प्रसिद्धि थी।

चिरकाल तक माहाराष्ट्री रूपकों से निष्कासित रही। इससे प्रतीत होता ह कि अपेक्षाकृत अधिक पीछे के काल में ही माहाराष्ट्री को प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि इसके प्रसिद्धि में आने से पूर्व कोई अन्य प्राकृत कविता के काम में लाई जाती थी।. नाट्यशास्त्र में[3] उद्धृत पद्यों में याकोबी (Jacobi) ने उस प्रकार की प्राकृत के चिह्न पाये हैं। दो स्वरों के मध्यवर्ती व्यञ्जनों का ऐच्छिक रूप से रखना या परिवर्तन या लोप उसकी विशेषता थी। एक ओर वह सदृश के लिए सदिस और पूर्वकालिक क्रिया के इय जैसे रूपों में शौरसेनी के साथ समानता रखती थी। दूसरी ओर, सप्तमी विभक्ति के अम्मि और पूर्वकालिक क्रिया के ऊण में उसका माहाराष्ट्री के साथ ऐक्य था। इन स्थानीय लक्षणों के

---

१. माहाराष्ट्री और अपभ्रंश कहानियों के समान, सम्भवतः पद्य में; दण्डी १।३८; रुद्रट १६।२६। दण्डी की गौडी प्राकृत मागधी हो सकती है। वे लाटी का भी उल्लेख करते हैं।

२. Cf. Keith, *Sanskrit Drama*, pp. 140 ff., 337; Gawron'ski, KZ. xliv. 247 ff. शाकारी में ईरानी लक्षण सिद्ध न हो सके हैं (JRAS. 1925, pp. 237 ff.); बतलाये हुए सब लक्षण मूलतः मागधी से सम्बन्ध रखते हैं (तु० वहीं, पृ० २१८ इत्यादि।).

३. भविसत्तकह पृ० ८४ इत्यादि। वे पालि के साथ इसके सम्बन्ध के विषय में कुछ नहीं कहते हैं।

आधार पर याकोबी (Jacobi) के मतानुसार उसका केन्द्र उज्जयिनी में था। याकोबी का कहना ह कि त् का द् में कोमलीभाव, जिसका अश्वघोष में कठिनता से कोई चिह्न दिखाई देता है, इसी विभाषा से शौरसेनी में तथा उस विभाषा में गया, जो अन्यथा जैन माहाराष्ट्री से समानता रखती है, परन्तु जिसको उक्त कारण से पिशेल (Pischel)[१] ने जैनशौरसेनी का नाम दिया है। कविता से संबन्ध रखनेवाली यह प्राकृत, शौरसेनी के समान, मलतः संस्कृत स घनिष्ठ संवन्ध रखती है।

५. अपभ्रंश

पिशेल[२] (Pischel) और सर जी० ग्रियर्सन[३] (Sir G. Grierson) ने इस दृष्टि को प्रचारित किया है कि अपभ्रंश इस शब्द से अभिप्राय, साहित्यिक प्राकृतों से विपरीत, वास्तविक जन-साधारण की बोलियों से है। ग्रियर्सन ने विभिन्न स्थानीय अपभ्रंशों से आधुनिक जन-साधारण की भाषाओं के निकालने की एक योजना भी बनाई ह; इस प्रकार पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती का निकास शौरसन (या नागर) अपभ्रंश से हुआ है; मराठी का माहाराष्ट्र अपभ्रंश से; बंगाली, बिहारी, आसामी, और उड़िया का मागध अपभ्रंश से; पूर्वीय हिन्दी का अर्धमागध अपभ्रंश से; सिंधी का व्रांचड अपभ्रंश से; और लंहदा का कैकेय अपभ्रंश से। दुर्भाग्यवश यह कल्पना-मूलक योजना परीक्षण के सामने नहीं ठहर सकेगी, क्योंकि ग्रन्थों के और साहित्य के साक्ष्य से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि अपभ्रंश का अर्थ ऊपर के अर्थ से भिन्न है[४]।

अपभ्रंश के संबन्ध में आवश्यक तथ्य यह ह कि यह एक सामुदायिक पद है जो संस्कृत और प्राकृत से भिन्न साहित्यिक भाषाओं के निर्देशार्थ प्रयुक्त होता है। भामह[५] शब्दतः इस त्रिविध विभाजन

---

१. उल्लिखित ग्रन्थ में, § २१.

२. *Gramm. der Prakrit-Sprachen*, § 4.

३. BSOS. I. iii. 62ff.; cf. IA. li 13ff.

४. Jacobi, *Bhavisatta Kaha*, pp. 53ff.; *Santakumāracaritam*, pp. xviiiff.; *Festschrift Wackernagel*, pp. 124ff.

५. १।१६।

को देते हैं, और दण्डी[1] स्पष्टतः कहते हैं कि अपभ्रंश यह पद कविता में प्रयुक्त आभीर आदि की बोलियों के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसा कहा जाता है कि वलभी के गुहसेन ने, जिसके अभिलेखों का समय ५५९ ई० से ५६९ ई० तक है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं में कविताएं रची थीं। नवीं शताब्दी में, निस्सन्देह दण्डी से सहमति रखते हुए, रुद्रट[2] का कहना है कि प्रदेशों के भेद से अपभ्रंश अनेक प्रकार का है। हेमचन्द्र भी अपभ्रंश को जन-साधारण की बोलियों से अभिन्न नहीं समझते। जन-साधारण की बोली (देश-भाषा) एक दूसरी वस्तु है; जैनों के धर्मसूत्रों के अनुसार वेश्याओं के लिए अठारह देश-भाषाओं में दक्ष होना आवश्यक है; चौंसठ कलाओं को गिनाते हुए, कामसूत्र ने उनमें देश-भाषाओं तथा साहित्यिक भाषाओं (काव्यक्रिया) के ज्ञान को भी सम्मिलित माना है; इसके अतिरिक्त, कामसूत्र इस रोचक सूचना को भी देता है कि एक सहृदय व्यक्ति संस्कृत के साथ, न कि अपभ्रंश के साथ, अपनी देश-भाषा को भी मिश्रित कर देता है, जैसी प्रवृत्ति आजकल की जन-साधारण की बोलियों के साथ भी देखी जाती है। प्राकृतपिङ्गल के टीकाकार ने जनसाधारण की भाषाओं के साथ अपभ्रंश की अभिन्नता की बात कुछ लेखकों की सम्मति के रूप में दी है, और दूसरे परवर्ती लेखकों ने इसी दृष्टि को अपना लिया है। परन्तु इस पक्ष में जो प्राचीनतम ग्रन्थकार उद्धृत किये जाते हैं[3] वे कश्मीर के क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शताब्दी) हैं; और यह अत्यन्त संदिग्ध है कि जन-साधारण की भाषा की कविताओं के उल्लेख से उनका अभिप्राय कुछ इसी पक्ष के अनुकूल था; यह हो सकता है कि, महाराष्ट्र के समान, कश्मीर में भी अपभ्रंश कभी एक साहित्यिक भाषा नहीं रही, क्योंकि वहां प्राकृत कविता के अनन्तर ही जन-साधारण की भाषा में कविताएं प्रारम्भ हो गयीं।

---

१. १।३२। दण्डी और भामह ने 'अपभ्रंश' का प्रयोग पृथक् पृथक् अर्थों में किया है, इसको दिखाने के लिए Nobel का प्रयत्न (*Indian Poetry*, pp. 132,159) असफल ही रहा है।

२. २।१२।

३. Jacobi, *Bhavisatta Kaha*, p. 69, corrected. p. 214.

अपभ्रंश के सबसे प्रारम्भ के वास्तविक सुरक्षित अवशेष हमको आनन्दवर्धन के देवीशतक के एक उद्धरण में और रुद्रट में मिलते हैं। ॠ और र् के सुरक्षण से यह स्पष्ट है कि ये पद्य प्राकृत के उस भेद से संवन्ध रखते हैं जिसको वैयाकरणों की पूर्वीय शाखा (क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय, राम तर्कवागीश) व्राचट यह नाम देती है, जिसको आभीरों की भाषा भी कहा जाता है। एसा प्रतीत होता है कि इस जन-जाति ने भारत में १५० ई० पू० से कुछ समय पूर्व प्रवेश किया था, जब कि पतञ्जलि ने उसका उल्लख किया है। उसका प्रारम्भिक निवास-स्थान सिन्धुदेश में था, जिससे अभिप्राय[1], सिन्ध का नहीं, किन्तु रावलपिण्डी मण्डल के पेशावर ज़िले स ह, जहाँ गुर्जर[2] उनके पूर्वीय पड़ोसी थे। पीछे से दोनों जातियों का फैलाव हुआ; गुर्ज़र उत्तरप्रदेश में गूजरों के रूप में पाये जाते हैं; परन्तु मुख्य रूप से वे दक्षिण की ओर गये और गुजरात में बस गये। महाभारत में आभीर लोग पंजाब में दिखाये गये हैं, पीछे से वे कुरुक्षेत्र में सुने जाते हैं, और उनके वंशज, अहिर लोग, पूर्व में बिहार तक फैले हुए हैं; कुछ दक्षिण की ओर चले गये और गुजरात के पश्चिम में समुद्र के किनारे बस गये; उन्होंने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की, और बिष्णु-पुराण के कथनानुसार एक आभीर वंश अन्ध्रभृत्यों का उत्तराधिकारी बना। पश्चिमीय पंजाब की भाषा लहंदा में पाये जानेवाले दरद-संबन्धी प्रबल प्रभाव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आभीर और गुर्जर दोनों जातियों का संबन्ध संभवतः भारतीय जाति की दरद शाखा से था। उनमें सभ्यता के विकास के साथ-साथ साहित्य-निर्माण की भावना भी उत्पन्न हुई होगी; यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पहले-पहल उन्होंन अपनी बोली में ही साहित्य-निर्माण का प्रयत्न किया और पीछे से अपभ्रंश को वनाया; तो भी इतना स्पष्ट है कि मूल में अपभ्रंश

१. Jacobi, *Festschrift Wackernagel*, p. 124. n. 2; तु० रघुवंश १५। ८७, ८९। दे० महाभाष्य १।२।७२। वा० ६।

२. EHI, pp. 427ff. में उल्लेखों को देखिए R.C. Majumdar, *The Gurjara-Pratihāras* (1923). वे खज़र या हूण थे—यह मत सिद्ध नहीं हो सका है, और उनके प्रारम्भ का ठीक ठीक समय अज्ञात है। परन्तु अलेग्जैण्डर ने उनको पंजाब में नहीं पाया था। Cf. Grierson, IA. xliii. 141ff., 159 ff.

प्राकृत में उनकी अपनी बोल-चाल की भाषा के अंश के मिश्रण के लिए किये गये प्रयत्न का ही परिणाम था।

प्राकृत भाषा को जनता के लिए अधिक सरलता से बोधगम्य बनाने का प्रयत्न नवीन नहीं था; विमलसूरि के **पउमचरिअ**[1] में, जो संभवत: ३०० ई० से प्राचीन नहीं है और जो जैन माहाराष्ट्री का हमको विदित सबसे पुराना महाकाव्य है, हम उन शब्दों का खुला प्रयोग पाते हैं, जिनको वैयाकरण देशी-शब्द कहते हैं अर्थात् ऐसे शब्द जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से स्पष्ट नहीं है या साधारणतया संभव नहीं है। इसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि **अनुयोगद्वार** (पांचवीं शताब्दी) में उल्लिखित पादलिप्त की **तरङ्गवती** में, यद्यपि वह प्राकृत में लिखी गयी थी, बहुत अधिक देशी शब्द सम्मिलित थे। हेमचन्द्र की **देशीनाममाला** में सुरक्षित देशी शब्दों की बड़ी संख्या, लगभग चार सहस्र, किसी समय में उक्त प्रवृत्ति के प्रसार को प्रमाणित करती है। उक्त प्रवृत्ति पीछे से लोक-प्रिय नहीं रही। इसके कारण का हम आसानी से अनुमान कर सकते हैं। जन-साधारण की बोलियों से लिए हुए शब्द रचनाओं के विस्तृत क्षेत्र में समझे जाने में बाधक होते थे। साथ ही उन बोलियों में शीघ्र परिवर्तन के कारण कवि के अपने ही प्रदेश में वे शब्द अस्पष्टार्थक हो जाते थे। इसलिए वे कवि, जो चाहते थे कि उनकी कीर्त्ति स्थिर रहे और उनकी रचनाओं के पढ़ने वालों का विस्तृत क्षेत्र हो, अपने को उन्हीं शब्दों से सन्तुष्ट कर लेते थे जिनका व्यापक प्रचार था। परन्तु अपभ्रंश में जन-साधारण की भाषा को व्याकरण का आधार मानकर प्राकृत को सरल बनाने का प्रयत्न किया गया था। उसमें प्राकृत शब्द-संग्रह का मुख्य रूप से और कुछ सीमा तक प्राकृत रूपावली का भी प्रयोग किया जाता था। अपभ्रंश का कुछ सादृश्य आधुनिक जन-साधारण की भाषाओं में पाया जाता है; वे प्राकृत के स्थान में संस्कृत से शब्दों को खुले रूप में लेती हैं, परन्तु संस्कृत रूपावली का वे बिलकुल प्रयोग नहीं करतीं।

अपभ्रंश की प्रारम्भिक अवस्था में जिस प्राकृत का उपयोग उसके आधार के रूप में किया जाता था वह प्रायेण माहाराष्ट्री ही प्रतीत होती है, परन्तु कभी-कभी शौरसेनी भी। परन्तु, जब एक बार, कदाचित् आभीर और गुर्जर राजाओं के प्रयत्न द्वारा, अपभ्रंश लोक-प्रिय हो गया, इसका विस्तार

१. Jacobi, ERE. vii. 467.

पश्चिम से बाहर भी होने लगा और, जैसा कि रुद्रट ने माना है, विभिन्न स्थानीय अपभ्रंश उत्पन्न हो गये। ऐसी कल्पना की जा सकती है कि व्राचट या व्राचड अपभ्रंश के जो विशिष्ट लक्षण थे उनको इन अपभ्रंशों में परिष्कृत कर लिया गया। हम इस सांकर्य-युक्त परिस्थिति को वैयाकरणों में प्रतिबिम्बित पाते हैं। हेमचन्द्र, जिनका संबन्ध पीछे वाल्मीकि सूत्रों तक जानेवाली पश्चिमी शाखा से था, एक प्रकार के अपभ्रंश का वर्णन करते हैं, परन्तु दूसरे अपभ्रंशों का उद्धरण देते हैं; पूर्वीय शाखा में हम व्राचट, नागर और उपनागर का भेद पाते हैं। इन सब में व्यञ्जनों के बाद र् अपरिवर्तित रहता है, जबकि प्रथम में र् व्याञ्जनों के पूर्व में भी अपरिवर्तित रहता है। इस नियम के पालन के धुंधले चिह्न हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत कुछ पद्यों में पाये जाते हैं; भविसत्तकह और नेमिनाहचरिउ नामक बड़ी कविताओं में र् का समीकरण हो जाता है, और इसलिए उनका संबन्ध अपभ्रंश के पिछले प्रकार से है। बंगाल में अपभ्रंश का एक प्रकार चिरकाल से बौद्ध ग्रन्थों में प्रयुक्त होता आया है, और उसका एक बहुत ही विकृतरूप, अवहट्ठा, प्राकृतपिङ्गल (१४ वीं शताब्दी) में दृष्टिगोचर होता है। परन्तु इस अपभ्रंश का आधार भी माहाराष्ट्री है, मागधी नहीं, जिससे इसका अन्ततोगत्वा पश्चिमी उद्‌भव ही सिद्ध होता है।

यह बात स्वभावतः अपभ्रंश के स्वरूप के अनुकूल ही है कि प्राचीन गुजराती में हम शब्दों की रूपावली में बड़ा भारी सादृश्य अपभ्रंश के साथ पाते हैं। और यह ठीक ही है, क्योंकि बोलचाल की गुजराती अधिक परिमाण में उस जन-साधारण की भाषा की वंशज है जिसका प्राकृत के साथ सहयोग प्रारम्भिक अपभ्रंश को बनाने के लिए लिया गया था। दूसरी अवस्थाओं में हम इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण समान घटनाओं की आशा नहीं कर सकते; तथा च, बंगाल में प्रयुक्त अपभ्रंश स्थानीय प्राकृत के साथ बोलचाल की बोली की रूपावली के सहयोग से नहीं बना था; अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि पश्चिम से आनेवाली भाषा को कुछ स्थानीय रूप दे दिया गया था। यही बात दूसरे अपभ्रंशों के विषय में कही जा सकती है। सर जो० ग्रियर्सन (Sir G. Grierson) ने प्राकृत और मराठी के बीच में, एक संयोजक कड़ी के रूप में, माहाराष्ट्र अपभ्रंश को स्थापित करन का जो प्रयत्न किया था[1] वह स्पष्टतः असफल रहा। यहाँ यह

१. BSOS. I. iii. 63.

भी कह देना चाहिए कि प्राकृतों और जन-साधारण की भाषाओं के जिन पारस्परिक संबन्धों का उन्होंने सुझाव दिया है उनके विषय में भी अभी तक कोई समुचित प्रमाण नहीं है[1]। तथा च, बंगाली में मागधी के चिह्नों को किसी उपयुक्तता के साथ स्थापित करना अत्यन्त कठिन है।[2]

जन-साधारण की भाषाओं के बनाने में अपभ्रंश का आवश्यक रूप से हाथ था, ऐसी कल्पना के लिए कोई विशेष कारण नहीं है, और ऐसा प्रतीत होता है कि महाराष्ट्र तथा कश्मीर में अपभ्रंश था ही नहीं। साथ ही ऐसा दीखता है कि कश्मीर में ग्यारहवीं शताब्दी में जन-साधारण की भाषा में कविता प्रचलित थी। जन-साधारण की भाषाओं में रचनाओं के विषय में जो साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध है, वह फुटकर है; परन्तु हिन्दी साहित्य कम से कम बारहवीं शताब्दी से बनने लगा था। एवं मराठी साहित्य तेरहवीं शती से बनने लगा था। साहित्यिक उपयोग के लिए जन-साधारण की भाषाओं के अपनाये जाने का समय इससे भी पर्याप्ततः पहले रहा होगा, ऐसी बहुत-कुछ संभावना की जा सकती है।[3]

---

१. उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिमी प्राकृत में असंयुक्त व्यञ्जनों के विषय में उनकी दृष्टि (JRAS. 1925, pp 228ff.) स्पष्टतया असंभाव्य है।

2. M. Shahidullah, IHQ. i.433 ff. Bloch (*Formation de la langue marathe*; JA.1912, i.336) का साग्रह कहना है कि आधुनिक स्थानीय बोलियों के प्रारम्भ में एक सामान्य प्राकृत भाषा का मानना आवश्यक है।

3. बंगाल के विषय में दे० Dinesh Chandra Sen, *Hist. of Bengal Lang. and Lit.* (1911) तथा S.K. Chatterji, i. 129ff.

भाग २

ललित साहित्य तथा अलङ्कार-शास्त्र

२

काव्य-साहित्य का प्रारम्भ और विकास

१. काव्य के मूलस्रोत

भारत ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास का कोई लेखक नहीं उत्पन्न किया। ऐसी परिस्थिति में यह बिलकुल स्वाभाविक था कि कालिदास, भारवि और माघ की योग्यता के महाकवियों के उदय होने पर प्राचीनतर कवियों की कृतियां अन्तरित हो गयीं और उनके ग्रन्थ तथा उनके नाम भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये। परिस्थिति-जन्य कारणों से इसमें सहायता मिली; हस्तलिखित पोथियों की संख्या का बढ़ाना और उनकी रक्षा करना भी कठिन था। इस लिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि छोटे कवि विस्मृत हो गये। इसके विरुद्ध, मैक्स म्यूलर की यह प्रसिद्ध प्रस्तावना[1] थी कि छठी शताब्दी में कालिदास और उनके समकालीनों के साथ होनेवाले महान् नवाभ्युत्थान से पहले भारतीय साहित्यिक क्रियाशीलता में आपेक्षिक विराम की अवस्था उपस्थित हो गयी थी। इस प्रस्तावना की पुष्टि के आपाततः दो कारण थे: ईस्वी संवत् से ठीक पहले और पीछे की शताब्दियों के साहित्यिक अवशेषों का अभाव, और ग्रीक, पार्थियन, शक और यू-ची जातियों के विदेशी आक्रमणों का उत्तर-पश्चिम भारत पर गहरा प्रभाव। इस स्थापना में, जिस रूप में यह रखी गयी थी, अब किसी की भी मान्यता नहीं है, कम से कम इस कारण से कि इस में चौथी शताब्दी ई० के प्रारम्भ में गुप्त-साम्राज्य में होने वाले ब्राह्मण-संबन्धी पुनर्जागरण की उपेक्षा की गयी है। परन्तु वह इस सुझाव[2] के रूप में किसी प्रकार अब भी चल रही है कि उक्त पुनर्जागरण से पहले के समय में लौकिक कविता की

---

१. *India* (1883), pp. 281ff. इसके विरुद्ध तु० Lassen, *Ind. Alt.* ii.[2] 1159ff.

२. भण्डारकर, *Early Hist. of India* (1920), pp. 70ff. वे कुछ संस्कृत साहित्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं, परन्तु अश्वघोष को कनिष्क के समय में (लगभग ३०० ई०) मानते हैं। पर १८५ ई० पू० में ही पुष्यमित्र के नेतृत्व में ब्राह्मण-सम्बन्धी पुनर्जाग्रण हुआ था; EHI. pp. 208ff; Przyluski, *La legenda de l'empereur Açoka*, pp. 90ff.

रचना प्राकृत में होती थी और उसके लिए संस्कृत का प्रयोग नहीं होता था। उस के लिए संस्कृत का प्रयोग ब्राह्मणों के पुनर्जागरण के प्रभाव के फल-स्वरूप होनेवाले मौलिक प्राकृत कविता के अनुवाद से महाकाव्य के सर्जन, जनता के साधारण प्राकृत गीतों के स्थान में गीति-काव्य के विकास, और लोक-प्रिय पशुओं की कथाओं तथा अद्‌भुत कहानियों के भाषान्तर के होजाने पर ही होने लगा।

संस्कृत-काल के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के प्राकृत-काल के विषय में उक्त मन्तव्य की पुष्टि में कोई प्रवल प्रमाण नहीं है। महाकाव्य के संबन्ध में अनुवाद का सुझाव तो हास्यास्पद कह कर तिरस्कृत किया जा सकता है, परन्तु साहित्य के दूसरे रूपों की बात अधिक विचार-योग्य है। अद्‌भुत-कहानी का जनता में प्रसार, समाज के उच्चतर वर्गों द्वारा साहित्यिक व्यवहार से उन्नत होने से बहुत पहले ही, आसानी से हो जाता है। वास्तव में ऐसी प्रबल अनुश्रुति है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा के रूप में उक्त कथाओं का एक महान् संग्रह, जिसका संस्कृत साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा, संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-जुलती एक प्राकृत बोली में किया गया था। परन्तु गुणाढ्य का ग्रन्थ अत्यन्त जटिल-कलात्मक रचना है और उसका समय भी अनिश्चित है। बहुत करके उसकी रचना उस समय हुई थी जब कि संस्कृत साहित्य के अस्तित्व के विषय में हमें पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। इसलिए साहित्य के प्राकृत-काल के पक्ष में उसका उदाहरण देना असंगत है। इसी प्रकार प्राकृत गीत-काव्य की पूर्व-स्थिति के संबन्ध में जो युक्ति दी जाती है उसका भी कोई मूल्य नहीं है। उसका आधार हाल के सुभाषित-संग्रह (सत्तसई) की प्राचीनता के संवन्ध में नितान्त मिथ्या धारणा थी। हाल को प्रथम शताब्दी ई० में रखा गया था। इस दृष्टि का माहाराष्ट्री प्राकृत के रूप के साथ विरोध आता है। अभिलेखों और अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत के साक्ष्य[1] पर यदि ध्यान दिया जाय तो यह मानना होगा कि माहाराष्ट्री प्राकृत का रूप उस प्राकृत भाषा के ऐसे विकास को दिखलाता है जिसको द्वितीय शताब्दी ई० के अन्तिम भाग से पहले नहीं रखा जा सकता। यह ठीक है कि वररुचि का प्राकृत-व्याकरण उक्त सुभाषित-संग्रह के ढंग की माहाराष्ट्री को अभिस्वीकार करता है; परन्तु वररुचि की अधिक प्राचीनता म

---

१. *Bruchstücke Budh. Dramen*, pp. 61 ff. सीताबेंगा अभिलेख पर तु० Boyer, *Mélanges Lévi*, pp. 121 ff. खारवेल का समय अभी तक अनिश्चित है।

कोई प्रमाण नहीं है। परवर्ती अनुश्रुति द्वारा पाणिनि के वार्त्तिककार कात्यायन के साथ वररुचि की अभिन्नता की बात का कोई विशेष मूल्य नहीं है। दूसरी ओर याकोबी[1] (Jacobi) हाल को सातवाहन से अभिन्न मानते हैं, जिसके आश्रय में, जैन-अनुश्रुति के साक्ष्य के अनुसार, वीरनिर्वाणसंवत् में ४६७ ई० में कुछ परिवर्तन किया गया था। इस तिथि के पक्ष या विपक्ष में कोई ठीक-ठीक तर्क नहीं है; पर यह स्पष्ट है कि प्राकृत-गीति-काव्य की अधिक प्राचीनता को बतानेवाला कोई भी साक्ष्य नहीं है। ल्यूडर्स (Lüders) के अनुसार द्वितीय शताब्दी ई० पू० के लगभग उसके अस्तित्व के चिह्न रामगढ़ पहाड़ी पर सीताबेंगा और जोगीमारा की गुफाओं के लघु अभिलेखों में पाये जाते हैं। वे कलिङ्ग के खारवेल के हाथिगुम्फा अभिलेख को भी, जिस में संस्कृत गद्य-काव्य की कुछ विशेषताएँ अस्पष्टतः दिखाई देती हैं, उसी शताब्दी का मानते हैं। उक्त साहित्यिक व्यवहार में वे संस्कृत से प्राकृत को पूर्व-स्थिति का दावा नहीं करते; इसके विरुद्ध, वे एक प्रकार के संस्कृत साहित्य के सह-अस्तित्व को पूर्णतया स्वीकार करते हैं।

पशु-कथा के क्षेत्र में प्राकृत की पूर्व-स्थिति के पक्ष की पुष्टि में और भी कम कहा जा सकता है। ऐसी कथाएँ जनता में अनायास प्रवृत्त हो जाती हैं और महाभारत से पता लगता है कि उन वर्गों में जिनमें उसका प्रचार था उन की लोक-प्रियता थी। बौद्धों की जातक-कथाओं से भी स्पष्ट है कि कौशल द्वारा उन कथाओं का उपयोग उस धर्म के हित में किया गया था; परन्तु प्राकृत में लिखित प्राचीन लोक-कथा साहित्य के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। इसके विरुद्ध, संस्कृत साहित्य की यह विशेषता है कि उस में लोक-कथा का उपयोग एक विशेष उद्देश्य के लिए अर्थात् राजकुमारों और उनके साथियों को व्यावहारिक जीवन-चर्या की शिक्षा देने के लिए किया जाता है और इसी कारण से उसे साहित्य का एक विशेष प्रकार समझा जाता है।

संस्कृत साहित्य के उदय के कारण स्पष्ट हैं। उसको प्राकृत के लेखकों द्वारा उपस्थापित निदर्शनों की अपेक्षा नहीं थी। प्राचीनतर पौराणिक काव्य की सरलता से क्रमशः अधिक विशिष्ट कला का विकसित न होना एक

१. *Ausg. Erzählungen in Māhārāshṭri*, p. xvii; cf. *Bhavisatta* Kaha, p. 83. विमलसूरि का पउमचरिय, प्राचीनतम माहाराष्ट्री काव्य, ३०० ई० से पहले का नहीं है। हाँ, उसके बहुत बाद का हो सकता है (तु० वहीं, पृ० ५९).

आश्चर्य की बात होती। उपनिषदों से हमें पता लगता है कि राजाओं के प्रश्रय में प्रतिद्वन्द्वी दार्शनिकों के शास्त्रार्थ होते थे और उनमें जो सफल होते थे उनको बहुमूल्य पारितोषिक दिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि उन राजाओं को अपनी और अपनी जाति या वंश की स्तुतिओं के सुनने की और उनके लिए उसी तरह खुले हृदय से पारितोषिक देने की वैसी ही उत्सुकता रहती थी। साहित्य के विभिन्न प्रकारों की वैदिक सूचियों में नाराशंसियों, प्रशस्तियों,[1] का उल्लेख हमें मिलता है; वे अतिशयोयोक्ति-पूर्ण होती थीं, ऐसा स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। उस प्रकार के कुछ पद्य अब भी सुरक्षित हैं; उनसे हम अनुमान लगा सकते हैं कि उनके रचयिता औचित्यानौचित्य के विवेक के विना ही अपने प्रभुओं की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। ऋगवेद में भी अपने प्रश्रय-दाता प्रभुओं की प्रशंसा के साथ-साथ देवताओं को स्तुति करनेवाले सूक्त और कुशल प्रशस्ति-कर्ताओं को दिये जानेवाले पुष्कल पारितोषिकों का वर्णन करनेवाली दान-स्तुतियां पाई जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक काव्य के केवल आख्यान की साधारण शली की अपेक्षा साहित्यिक शैली की सदा-विकास शील परि-पूर्णता की प्राप्ति की इच्छा का उद्‌गम उपर्युक्त संघर्षों से हुआ होगा।

एक दूसरे क्षेत्र में भी शैलो में उत्कृष्टता लाने के लिए प्रयत्न किया गया होगा। लौकिक उपयोग के लिए प्रेममय कविता का करना उन वैदिक कवियों के सामर्थ्य से वाहर नहीं था जो उषा देवता की तुलना[2] एक सुन्दर नर्तकी अथवा प्रेमी के लिए अपने वक्षःस्थल को दिखानेवाली एक कुमारिका से कर सकते थे। इस में भी कोई सन्देह नहीं कि प्रेममय गीति-काव्य के प्रारम्भिक लेखकों ने ही संस्कृत को जटिल छन्दों की अत्य-धिकता से संपन्न किया था; पौराणिक काव्य के आख्यान के प्रवाह के लिए उक्त प्रकार के छन्द पूर्णतः अनुपयुक्त थे। इसके विरुद्ध, प्रेम जैसे सीमित विषय के समुचित विकास के लिए भावाभिव्यक्ति की विविधता अपेक्षित थी। सुभाषितों ने भी, जिनके कुछ वैदिक उदाहरण ऐतरेयब्राह्मण में

---

१. Macdonell and Keith, *Vedic Index*, i. 445f.

२. Hirzel, *Gleichnisse and Metaphern in Ṛgveda* (1908) स्त्री-सम्बन्धी सौन्दर्य के प्राचीन आदर्श क सम्बन्ध में, जो परवर्ती आदर्श से भिन्न नहीं है, दे० शतपथ-ब्राह्मण १।२।५।१६; ३।५।१।११; अथर्ववेद के प्रेम-सम्बन्धी मन्त्र शृङ्गार-सम्बन्धी कविता के प्रारम्भ को प्रमाणित करते हैं (IS. V. 218ff.).

सुरक्षित हैं, गीति-काव्य के परिष्कार में कुछ भाग लिया होगा। पद्य-शैली के विकास का प्रभाव निश्चय ही गद्य-शैली पर पड़ा और लेखकों ने उस में बहुत कुछ उस सौन्दर्य को लाना चाहा जिसके लिए उस समय कवि-लोग स्वभावतः प्रयत्न-शील रहते थे। ऐसी अवस्था में अविच्छिन्न साहित्यिक परम्परा में किसी विच्छेद की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है। अनेकानेक ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी, हमारे पास इसके लिए असंदिग्ध प्रमाण हैं कि २०० ई० पू० से २०० ई० तक के समय में संस्कृत साहित्य का क्रियाशील विकास चल रहा था, जब कि दूसरे मन्तव्य के अनुसार तब तक उसका जन्म भी नहीं हुआ था और लौकिक साहित्य प्राकृत में ही लिखा जाता था।

२. रामायण का साक्ष्य

काव्य के विकास के साक्ष्य के रूप में **रामायण** के प्रामाण्य का, अधिक परिमाण में उसका समय प्राचीन मान लेने पर भी,[1] इस आधार पर विरोध किया जाता रहा है कि उस में बराबर परिवर्तन होते रहे हैं; और इसी लिए उसके उन अंशों की, जिनको उत्तर-कालीन काव्य का पूर्व रूप कहा जा सकता है और जिनके आधार पर उसको आदि-काव्य का पद दिया जा सकता है, प्रक्षेपों के रूप में उपेक्षा की जा सकती है। परन्तु यह तर्क स्पष्टतः सन्तोषजनक नहीं है और इससे अभीष्ट लक्ष्य की पुष्टि नहीं होती। हम यह झटिति स्वीकार कर सकते हैं कि **रामायण** में पाये जाने वाले शैली-सौन्दर्य के कुछ अंश[2] पीछे से बढ़ाये हुए हैं, तो भी यह मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि वे परिवर्धित अंश द्वितीय शताब्दी ई० पू० से पीछे के हैं; प्रत्युत वे उस समय से पुराने हो सकते हैं। उपलब्ध **रामायण** में हमें वस्तुतः काव्य-शैली में क्रमशः विकासशील सौन्दर्य की प्रवृत्तिका निदर्शन मिलता है, तो भी यह मानना आवश्यक है कि उसके मौलिक रूप में भी बोध-पूर्वक अलंकार की विशेष प्रवृत्ति रही होगी। उसका अपना वर्ण्य-विषय ही, जिसमें अयोध्या के राजकुल के षड्यन्त्रों के तथा—मूल में प्राकृतिक कथारूप-सीता पर अत्याचार के कारण रामरावण के युद्ध के

---

१. Keith, JRAS. 1915, pp. 318ff.

२. Jacobi, *Rāmāyana*, pp. 119ff. श्लोक छन्द के लगभग महाकाव्य-शैली की अवस्था तक के विकास को भी **रामायण** दिखाता है; cf. SIFI. VIII. ii. 38 ff. कृष्णमाचारिअर के **रघुवंशविमर्श** (१९०८) को भी देखिए।

दो स्वतन्त्र उपाख्यानों का संमिश्रण है, एक कलाविद् की कृति है। सरलतर और कम परिष्कृत **महाभारत** कीं तुलना में **रामायण** की भाषा की एकरूपता और छन्दो-विषयक कोमल परिपूर्णता से भी उसका वही स्वरूप प्रकट होता है। वाल्मीकि और संभवतः ४००-२०० ई० पू० के समय में उन की कृति में परिष्कार करने वाले स्पष्टतः राजाश्रित महाकाव्यों के वास्तविक पूर्वज थे।

आनन्दवर्धन[1] ने महाकाव्य और इतिहास के उद्‌देश्यों के भेद को ठीक ही दिखलाया है; इतिहास का उद्‌देश्य पुरावृत्त का वर्णन होता है और महाकाव्य का आधार मौलिक रूप से वर्णन का ढंग होता है। **रामायण** की स्थिति बीच की है, और उसकी शैली-मूलक योग्यता भी कम नहीं है। परन्तु प्रत्येक दशा में यह मौलिक रूप में उन साधनों के पूर्व-रूप को दिखलाती है जिनके द्वारा उत्तर-कालीन कवि अपने प्रतिपाद्य विषय में वैशिष्टय और रमणीयता लाने का यत्न करते हैं। उन्होंने अपने वर्ण्यविषयों को ही **रामायण** से नहीं लिया, अपनी शैली के अलंकारों के आदर्शों को भी उन्होंने उस में पाया। कालिदास के रघुवंश में यदि अयोध्या राजा के संमुख स्त्री-रूप में उपस्थित होती है, तो उसका उदाहरण सुन्दरकाण्ड में वाल्मीकि द्वारा स्त्री-रूपिणी लङ्का के दर्शन में पाया जाता है। उत्तर-कालीन महाकाव्यों में कथावस्तु की प्रगति कवि की वर्णनशक्ति की समृद्धि से बहुत कुछ अवरुद्ध हो जाती है; वाल्मीकि के अनुगामी कवि (रामायण के परिष्कर्ता) उनतीस उपमाओं द्वारा परगृहवास में सीता के दुखों का वर्णन करते हैं, और सोलह उपमाओं द्वारा राम से विरहित अयोध्या की दुर्दशा का वर्णन करते हैं।[2] महाकाव्यों में ऋतुओं, पर्वतों और नदियों का वर्णन बाहुल्य से पाया जाता है; परन्तु इसके निदर्शनों को वाल्मीकि ने वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओं, चित्रकूट पर्वत और मन्दाकिनी नदी के विस्तृत वर्णनों द्वारा उपस्थापित कर दिया है।[3] महाकाव्यों में विकृत रुचि और निरर्थक चातुरी के रूपकों के साथ साथ सुन्दर रूपक प्रायः पाये जाते हैं; रामायण भी इस दोष से मुक्त नहीं है, जैसे—

विशादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि।
किं मां न त्रायसे मग्नां विपुले शोकसागरे?

१. ध्वन्यालोक, पृ० १४८। २. २।१९ तथा ११४।
३. ४।२८; ३।१६; २।९४, ९५। समुद्र की ध्वनि का नतर चित्रण पाया जाता ह: पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः।

'विषाद-रूपी नक्रों से सेवित और भय को तरङ्गमालाओं से युक्त महान् शोक-सागर में डूबी हुई मुझको तुम क्यों नहीं बचाते हो ?'

निम्न-निर्दिष्ट प्रसिद्ध उपमा और भी अधिक रमणीय है —

सागरं चाम्बरप्रख्यमम्बरं सागरोपमम् ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

'सागर अम्बर के समान, और अम्बर सागर के समान है, राम-रावण का युद्ध राम-रावण युद्ध के ही अनुरूप है' । उत्तर काल में साधारणतया प्रचलित उक्ति का पूर्वरूप निम्न-पद्य में पाया जाता है—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्त्ता स विश्वकृत् ।
न हि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने ।।

'मैं समझता हूँ कि सौन्दर्य के निर्माण-कर्ता ब्रह्मा ने तुमको बनाकर फिर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं की। इसीलिए हे सुन्दरि ! तुम्हारे सौन्दर्य की उपमा संसार में नहीं है।' पिछले काल की तरह ही, शुभ शकुनों के रूप में, हम धूलि से रहित वायु का संचार, स्वच्छ आकाश, पृथ्वी पर पुष्पों की वर्षा और देवताओं को दुन्दुभियों को ध्वनि को पाते हैं। इन्द्र की पूजा के उत्सव के अवसर पर इन्द्र-ध्वज का ऊपर उठाना और उतारना उपमाओं का विषय है। हर्ष से आँखें खिलती हैं (हर्षोत्फुल्लनयन) ; मनुष्य आंखों से मुख-सौन्दर्य का पान करते हैं (लोचनाभ्यां पिबन्निव); कुचों में सुवर्ण-कलशों की समानता है (कुचौ सुवर्णकलशोपमौ) ; मनुष्यों की आश्चर्य-समन्वित आँख के सामने अतिथि चित्राङ्कित-सा दीखता है; अपनी तरङ्गों के फेन के रूप में मुसकराती हुई गङ्गा अपने श्वेत दाँतों को दिखाती है (फेननिर्मलहासिनी) ; सुगन्धि शैत्य के साथ वायु बहती है ; जलदों का स्निग्ध तथा गम्भीर घोष सुनाई देता है (स्निग्ध-गम्भीरघोष) ; मूर्ख का व्यापार उड़कर ज्वाला में गिरनेवाले पतङ्ग के समान होता है ; मनुष्य अपने जीर्ण देह को ऐसे ही छोड़ देता है जैसे सर्प अपनी पुरानी केंचुली को। "दक्षिणा दक्षिणं तीरम्" जैसे उदाहरणों में अनुप्रास का प्रेम पहले से ही विद्यमान है। समासोक्ति-नामक अलंकार का भी एक उदाहरण मिलता है, सिसमें प्रातःकालीन (?)* संध्या का प्रेमानुरक्त नव-युवती के सादृश्य पर वर्णन किया गया है ; जैसे

* स्पष्टतया प्रकृत पद्य में सायंकालीन संध्या का वर्णन है। इसलिए मूल ग्रन्थ में 'dawn' के स्थान में evening होना चाहिए। (मं० दे० शास्त्री)

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका।

अहो रागवती संध्या जहातु स्वयमम्बरम्॥

'नृत्य करते हुए चन्द्रमा के कर (किरणों तथा हाथ) के स्पर्श से होनेवाले हर्ष से विकसित तारकाओं (तारों तथा आंख की पुतलियों) से युक्त राग (लालिमा और प्रेम) वाली संध्या स्वयं अम्बर (आकाश तथा वस्त्र) को छोड़ दे, यह आश्चर्य है।' रामायण का झुकाव कामोद्दीपक वर्णनों की ओर नहीं है; उसकी शैली गंभीर और गौरव-युक्त है, तो भी हनुमान् द्वारा रावण की सोई हुई स्त्रियों के देखने के वर्णन जैसे स्थल[1] उस परम्परा के प्रारम्भ का संकेत करते हैं जिसको अश्वघोष ने अपने उत्तरवर्त्ती कवियों को दिया था। उत्तरवर्त्ती कवियों में **रामायण** का तत्तदंशतः अनुकरण स्पष्ट और प्रायः दिखाई देता है। उसकी भाषा और छन्दोरचना की पद्धति ने काव्य के संपूर्ण इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है।

महाभारत के अन्तर्गत विषयों से उत्तरवर्त्ती कवियों को अपनी रचनाओं के लिए स्वभावतः अनन्त सामग्री मिली है; परन्तु पीछे से बढ़ाये गये अंशों को छोड़कर **महाभारत** में शैली का परिष्कार नहीं हुआ। इसी लिए काव्य-शैली के विकास को दिखानेवाले कोई साक्ष्य, **रामायण** के साक्ष्य के समान, उसमें नहीं मिलता।

३. पतञ्जलि और पिङ्गल का साक्ष्य

१५० ई० पू० से पहले लौकिक संस्कृत साहित्य के निर्माण के विषय में साक्षात् और निश्चयात्मक साक्ष्य हमें महाभाष्य के प्रमाण से प्राप्त होता है।[2] यदि हम राजशेखर के, जो बहुत करके नाटककार राजशेखर से अभिन्न हैं, इस कथन[3] को प्रमाण मान लें कि पाणिनि केवल व्याकरण के ग्रन्थकार न थे, अपि तु उन्होंने **जाम्बवती-विजय** को भी लिखा था, तो हमको व्याकरण की दृष्टि से और भी अधिक प्रचीन साक्ष्य मिल सकता है। सुभाषितसंग्रहों में **जाम्बवती-विजय** तथा आपाततः उससे भिन्न **पाताल-विजय**

---

१. वे सम्भवतः वाल्मीकि की कृति नहीं हैं। अनुप्रास और यमकों क प्राचीन वैदिक उदाहरणों के लिए दे० Hillebrandt, *Kālidāsa*, pp. 161 ff.; महाभारत के लिए, Hopkins, *Great Epic*, pp. 200 ff.

२. Cf. Weber, IS. xiii. 356 ff.; Kielhorn, IA xiv. 326f.; Bühler, *Die indischen Inschriften*, p. 72; Bhandarkar, IA. iii. 14.

३. दे० Thomas, **कवीन्द्रवचनसमुच्चय**, पृ० ५१ इत्यादि।

से पद्यों को उद्धृत किया गया है। उनमें उक्त दोनों महाकाव्यों को पाणिनि-रचित कहा गया है। परन्तु पातालविजय से उद्धृत एक पद्य में व्याकरण की अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। इस कारण से, महाकाव्यों में व्याकरणाशुद्धि को क्षम्य मानते हुए भी, उक्त दोनों काव्यों को वैयाकरण पाणिनि द्वारा निर्मित कहना ठीक नहीं प्रतीत होता। यद्यपि पाणिनि यह नाम विरल है, तो भी हम दो या अधिक पाणिनियों की सत्ता को यथार्थतः स्वीकार कर सकते हैं।

परन्तु महाभाष्य का साक्ष्य बिलकुल स्पष्ट है। उसका मूल्य इससे और भी बढ़ जाता है कि वह पाणिनि के विवाद-ग्रस्त सूत्रों के शास्त्रार्थ में प्रसङ्गतः और आकस्मिक रूप में पाया जाता है। पतञ्जलि निश्चयरूप से भारतों के पौराणिक काव्य (महाभारत) से परिचित हैं। परन्तु वे पौराणिक उपाख्यानों के नाटकीय वाचनों का—कदाचित् उनके वास्तविक नाटकीय अभिनयों का—भी उल्लेख करते हैं। उनके विषयों में कृष्ण द्वारा अपने दुष्ट मातुल कंस का वध और विष्णु भगवान् द्वारा बलि का बन्ध भी हैं। महाभाष्य में ऐसे पौराणिक कथा-वाचकों का उल्लेख है जो अपनी कथाओं को प्रातःकाल हो जाने तक सुनाते थे। यवक्रीत, ययाति, प्रियङ्गु, वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भीमरथ के उपाख्यानों की कथाएँ प्रचलित थीं। एक वाररुच काव्य का भी उल्लेख मिलता है; परन्तु दुर्भाग्यवश हम उसके विषय में और कुछ नहीं जानते। परन्तु स्पष्टतः महाकाव्य-शैली की कविताओं से लिये गये पद्यों के आकस्मिक उद्धरण से हमें काव्य के विकास को समझने में अमूल्य सहायता मिलती है। उनमें से अनेकों की संक्षिप्तता से दारुण कष्ट होता है; धन से क्रीत एक नवयुवती का वर्णन हमें मिलता है जो अपने पति को प्राणों से भी अधिक प्यारी थी (सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी)। "वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः" (अयि सुन्दरि! कुक्कुट मिलकर उद्घोषणा कर रहे हैं) इस चरण न उत्तरकालीन ग्रन्थकारों को समस्यापूर्ति[1] में अपना कौशल दिखाने का अवसर प्रदान किया है। "प्रियां मयूरः प्रतिनर्नृतीति" (अपनी प्रिया के समक्ष मयूर नाच रहा है) इस चरण से, और कदाचित् "आ वनान्तादोदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" (=स्त्री?) अपने यात्रोन्मुख प्रिय पान्थ के साथ साथ वन अथवा जलाशय के अन्त (?) तक*

१. दे० परिच्छेद ९, §१.

* वास्तव में इस श्लोकार्ध में यात्रोन्मुख किसी भी प्रियजन के प्रति भारतीय सामान्य शिष्टाचार का उल्लेख है; स्त्री और उसके प्रिय पान्थ से इसका सम्बन्ध नहीं है। साथ ही उसमें आ का प्रयोग मर्यादा के अर्थ में है, अभिविधि के अर्थ में नहीं। (मं० दे० शास्त्री)

जाये) इस श्लोकार्ध से भी प्रेम-काव्य के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। "प्रथते त्वया पतिमती पृथिवी" (तुमको पति-रूप में पाकर पृथिवी ने अपना पथुता-मूलक नाम सार्थक कर लिया है) इस प्रशस्ति में तथा "असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्" (तलवार हाथ में लेकर उसने पाण्डव का पीछा किया), और "जघान कंसं किल वासुदेवः ?" (वासुदेव ने कंस को मारा था) इन पंक्तियों में वीर-काव्य अथवा प्रशस्ति-काव्य विद्यमान है। संक्षिप्त होने पर भी, निम्न-पद्य में करुण-रस पाया जाता है—

यस्मिन् दश सहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति॥

'जिसके जन्म के अवसर पर प्रिय-संवाद देनेवाले ब्राह्मणों के लिए दस हजार गौएँ दी गयीं थीं, वह अब उञ्छवृत्ति से आजीविका करता है।"

सुभाषित-संबन्धी कविता का भी स्पष्ट निदर्शन पाया जाता है :

तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

'तप, अध्ययन और जन्म ये ब्राह्मण को बनाते हैं। जो तप और अध्ययन से रहित वह केवल जातिमात्र का ब्राह्मण है।' अथवा देखिए—"बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्", 'भूखे व्याक्ति को कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती'। बच्चों को शिक्षा के संबन्ध में सालोमन की सदुक्ति की बढ़िया तुल्यरूपता निम्न-पद्य में पाई जाती है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लाडनाश्रयिणो[1] दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

'गुरु-जन अमृतमय, न कि विष-युक्त, हाथों से ताडना किया करते हैं। लाड़ के साथ दोष और ताड़न के साथ गुण रहा करते हैं।' मृत्यु की अनिवार्यता के विषय में कहा गया है—

अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी॥

'दिन प्रतिदिन गौ, अश्व, पुरुष और पशुओं को ले जाते हुए भी विवस्वान् का पुत्र यमराज, शराब से शराबी के सामान, कभी तृप्त नहीं होता।' राजनीतिक बुद्धिमत्ता की उक्ति को भी देखिए—

क्षमे सुभिक्षे कृतसंचयानि पुराणि राज्ञां विनयन्ति कोपम्।

१. *Festschrift Wackernagel* (p. 303) में इसके रूपों को देखिए।

'शान्ति और सुभिक्ष (समृद्धि) में जिनमें अन्नादि का संचय कर लिया गया हैं ऐसे पुर राजाओं के कोप को शान्ति-प्रदान करते हैं।'

यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि पद्यों कि संख्या के कम होने पर भी उनम, साधारण श्लोक और त्रिष्टुभ् के अतिरिक्त, मालती, प्रहर्षिणी, प्रमिताक्षरा और वसन्ततिलक जैसे परिष्कृत छन्दों के नमूने भी पाये जाते हैं। ये नवीन छन्द हमको वैदिक छन्दों की अपेक्षा एक दूसरे क्षेत्र में ले जाते हैं, और इस नये विकास पर व्याकरण के विवादास्पद विषयों पर विचार करनेवाली तथा बहुत करके पतञ्जलि के पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा लिखित कारिकाओं[1] के छन्दों से विशेष प्रकाश पड़ता है। इनमें श्लोक और वक्त्र छन्दों के अतिरिक्त, उत्तरकाल में प्रचलित इन्द्रवज्रा, उपजाति, शालिनी, वंशस्था, और बहुत कम प्रचलित छन्द—समानी (जिसमें चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में गुरु-लघु के क्रम से युक्त चार द्व्यक्षर टुकड़ियाँ होती हैं), विद्युन्माला (जिसमें चार पादों में से प्रत्येक में दो गुरु अक्षरोंवाली चार टुकड़ियां होती हैं), तोटक (जिसके प्रत्येक पाद में चार सगण होते हैं) और दोधक (जिसके प्रत्येक पाद में तीन भगण और दो गुरु होते हैं) सम्मिलित हैं। वैदिक और पौराणिक साहित्य की आपेक्षिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध, छन्दोविषयक उक्त विविधता और जटिलता का प्रारम्भ, निश्चयरूप से, काव्य-गत प्रयोग से हुआ होगा। उसका प्रारम्भ व्याकरण के स्मरणोपयोगी पद्यों के लिए नहीं हो सकता। उनके लिए तो कोई साधारण छन्द ही अधिक उपयुक्त होता। ऐसा सोचा गया है कि तोटक और दोधक ये दो नाम प्राकृत से आये हैं और दोधक मूलतः ग्रीक भाषा से आया है; परन्तु साहित्यिक अथवा दूसरे आधार के न होने से उक्त कल्पनाएँ प्रामाणिक नहीं हैं।

पौराणिक, तथा गीति और सूक्ति-संबन्धी पद्यों की विद्यमानता के उपरि-निर्दिष्ट स्पष्ट संकेतों के अतिरिक्त, हम दूसरे संकेतों से उस सामग्री के अस्तित्व का भी अनुमान कर सकते हैं जिससे उत्तरकाल में पशु-कथा का विकास हुआ। बकरी और कृपाण (अजाकृपाणीय) तथा कौआ और ताड़-फल (काकतालीय) की जैसी लोकोक्ति-संबन्धी कहानियों का, तथा सांप और नेवले की एवं उत्तरकाल में पंचतन्त्र के एक तन्त्र के विषय भप से प्रसिद्ध कौवा और उल्लू की आनुवंशिक शत्रुता का प्रासङ्गिक उल्लेख[2] रूी महाभाष्य में पाया जाता है।

---

१. Cf. Kielborn, IA XV.229ff; Jacobi *Festschift Wackernagel* p, 127

२. महाभाष्य २।१।३; वा० ३।१०६; IS xiii 486

पतञ्जलि के साक्ष्य का समर्थन पिङ्गल के छन्दःसूत्र से होता है। उसको एक वेदाङ्ग का पद प्राप्त है, तो भी उस में मुख्यतया लौकिक छन्दों की ही व्याख्या की गयी है। पिङ्गल को कभी-कभी पतञ्जलि से अभिन्न मान कर एक प्राचीन आचार्य समझा जाता है। उनके ग्रन्थ के स्वरूप से उसकी पर्याप्त प्राचीनता प्रतीत होती है। उसमें ऐसे अनेकों छन्दों का वर्णन है जो निश्चयरूप से उस काव्य-साहित्य से नहीं लिये गये हैं जो हमको परम्परा से प्राप्त है। उनसे उस संक्रमण-काल का संकेत मिलता है जब कि प्रेममय गीति-काव्य[1] के लेखक छन्दों के प्रभाव के संबन्ध में बराबर परीक्षण कर रहे थे। छन्दों के नामों की व्याख्या प्रायेण अत्यधिक ग्राह्यत्वेन प्रेयसी के विशेषणों के रूप में की जा सकती है; तत्तत् शब्दों के पद्यों में आने से उनके लिए वे ही नाम दे दिये गये होंगे। छन्दों के इस प्रकार के नाम हैं: कान्तोत्पीडा अर्थात् अपने प्रेमियों को पीड़ा देनेवाली, कुटिल-गति अर्थात् कुटिल गति वाली, चञ्चलाक्षिका अर्थात् चञ्चल आंखों वाली, तनुमध्या अर्थात् पतली कमर वाली, चारुहासिनी अर्थात् सुन्दर हास्य वाली, और वसन्ततिलका अर्थात् वसन्त की गर्वरूप। दूसरे नामों से कवियों द्वारा पशु-जीवन के निरीक्षण का पता लगता है; उदाहरणार्थ देखिए: अश्वललित अर्थात् घोड़े की चाल, कोकिलक अर्थात् कोइल की कूक, सिंहोन्नता अर्थात् सिंह के समान उन्नत, शार्दूलविक्रीडित अर्थात् शेर का खेल। कुछ नाम वनस्पति-जगत् से लिये गये हैं, जैसे मञ्जरी, माला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईस्वी संवत् के आस-पास और संभवतः उससे बहुत पहले गीति-काव्य का एक प्रबल संप्रदाय विद्यमान था। २०० ई० के लगभग माहाराष्ट्री गीति-काव्य का प्रारम्भ और विकास वास्तव में उसी के प्रभाव से हुआ था।

४. अभिलेखों में काव्य

संयोगवश प्राचीन अभिलेखों[2] में कुछ ऐसा साक्ष्य हमारे लिए सुरक्षित है जिससे भारत पर विदेशी आक्रमणों के काल में संस्कृत की शिथिलता के मत का निश्चित खण्डन हो जाता है। क्षत्रप चष्टन के (जिसको Ptolemy ओजेनी अर्थात् उज्जयिनी का Tiastanes कहता है) पौत्र महाक्षत्रप रुद्रदामा के राज्यकाल में लगभग १५०-२ ई० का गिरनार का एक अभिलेख[3] गद्य (गद्यं काव्यम्) में लिखा हुआ है। वह पौराणिक

1. Jacobi, ZDMG, xxxviii. 615f.

2. Bühler, *Die indischen Inschriften und das Alter der indischen Kunstpoesie* (1890).

3. EI. viii. 36ff.; EHI. pp. 139f.; IA. xlviii. 145f.

काव्य की सरल शैली स महाकाव्य-शैली के विकास को बहुत अच्छी तरह से दिखाता है। उसमें व्याकरण के अनुसरण के साथ-साथ पौराणिक काव्य का नियम-साहित्य भी पाया जाता है; **पत्या** के स्थान में **पतिनाः** के प्रयोग का और **विंशदुत्तराणि** के स्थान में प्राकृत प्रवृत्ति के अनुसार **वीशदुत्तराणि** के प्रयोग का यही कारण है। पौराणिक काव्य द्वारा अनुमत ये प्रयोग व्याकरण के अनुसार नहीं हैं। **'पर्जन्येन एकार्णभूतायामिव पृथिव्यां कृतायाम्'** (जब मेघ ने मानो समस्त पृथ्वी को समुद्र का रूप दे दिया था) में अतिरिक्त-शब्द-प्रयोग पौराणिक काव्य-शैली के अनुसार ही है। परन्तु **'अन्यत्र संग्रामेषु'** (संग्रामों को छोड़ कर) में व्याकरणाशुद्धि स्पष्ट है। समासों के प्रयोग में पौराणिक काव्य-शैली की अपेक्षा एक स्पष्ट नवीनता दिखाई देती है; दण्डी, निस्सन्देह अपने से प्राचीन ग्रन्थकारों का अनुसरण करते हुए, गद्य में खुले रूप से समासों के प्रयोग की अनुमति देते हैं, और वे उनके अनुसार लम्बे भी हो सकते हैं। उक्त अभिलेख में असमस्त पदों की अपेक्षा समासों की ओर अधिक झुकाव है। उसके प्रारम्भ में हम तेईस अक्षरों वाले नौ शब्दों के समास को पाते हैं। राजा के वर्णन में तो और भी अधिक प्रयत्न द्वारा चालीस अक्षरों से युक्त सत्तरह शब्दों का समास दिखाया गया है। वाक्यों की लम्बाई समासों की लम्बाई से होड़ करती है। एक वाक्य की लम्बाई तो तेईस 'ग्रन्थ' है; एक ग्रन्थ से अभिप्राय बत्तीस अक्षरों से होता है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास का प्रयोग, कभी-कभी वास्तविक प्रभाव के साथ, खुले रूप में हुआ है; जैसे **अभ्यस्तनाम्नो रुद्रदाम्नो** इस प्रयोग में। अर्थालकारों की बात यह है कि एक उपमा में, उत्तरकालीन ढंग पर, **पर्वतप्रतिस्पर्द्धि** इस शब्द समूह में, एक जलाशय के बांध की दीवार की तुलना पर्वत के अग्रभाग से की गई है। वर्णन कहीं भी अधिक उत्कृष्ट प्रकार का नहीं है, तो भी उसमें, विशेष कर बाढ़ द्वारा जलाशय के बाँध के विनास के विषद चित्रण में, कुछ विशेषता दिखाई देती है। विशेषतः उल्लेखनीय बात यह है कि लेखक ने महाक्षत्रप रुद्रदामा के संबन्ध में लिखना उचित समझा कि वह गद्य और पद्य दोनों में कविता किया करता था। इसमें चाहे चाटुकारिता हो या न हो, एक विदेशी वंश के क्षत्रप को संस्कृत कविता में दक्षता से युक्त बतलाने में स्पष्टतः कोई वैषम्य नहीं था। इसके अतिरिक्त, उक्त कविताओं को स्फुटता, स्पष्टता, सरसता, वैचित्र्य, सौन्दर्य, कवि संप्रदायानुसारी शब्दावली के प्रयोग से उद्भूत औदार्य से अलंकृत (? तथा अलंकार से विशिष्ट) बतलाते

हुए उनके लिए एक लंबी विशेषणावली का प्रयोग किया गया है (स्फुटलघ मधुरचित्रकान्तश दसामयोदारालंकृत-)। 'अलंकृत' इस शब्द से कविता के अलंकारों को बतलानेवाले अलंकार-शास्त्र से असंदिग्ध रूप से लेखक के परिचय का पता लगता है। दण्डी[1] वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हैं। इसमें उन्होंने उस रीति की जिन विशेषताओं को बतलाया है उनके साथ पूर्वोक्त विशेषताओं की तुलना निश्चित रूप से बोध-जनक है। अर्थव्यक्ति और प्रसाद का दण्डी ने उल्लेख किया है। स्फुटता और स्पष्टता के साथ उनकी समानार्थकता हो सकती है। सरसता और दण्डी का माधुर्य, जिसमें सरस शब्द और अर्थ (रसवत्) की संपन्नता संमिलित है, दोनों एक ही वस्तु हैं। वैचित्र्य बहुत करके दण्डी द्वारा निर्दिष्ट ओजस् से संबन्धित है। दण्डी का यह भी कहना है कि कुछ ग्रन्थकारों के मत में औदार्य गुण की अभिव्यक्ति 'क्रीडासरस्' जैसे कवियों में प्रचलित शब्दों के प्रयोग से होती है।

उक्त अभिलेख के साक्ष्य की पुष्टि और समर्थन नासिक में उपलब्ध प्राकृत गद्य में लिखे हुए सिरि पुळुमायि के लेख[2] से प्राप्त साक्ष्य से भी होते हैं। निस्सन्देह उसका लेखक संस्कृत से परिचित था; यह भी संभव है कि उसने अपने लेख्य को पहले संस्कृत में ही लिखा था और तदनन्तर, तत्कालीन व्यवहार का अनुसरण करते हुए, उसने प्रचार के उद्देश्य से उसका प्राकृत में भाषान्तर कर दिया। सिरि पुळुमायि को हम Ptolemy के बैठन (गोदावरी के तीर पर स्थित प्रतिष्ठान नगर) के सिरो-पोलेमेओस (Siro.Polemaios) से अभिन्न कह सकते हैं। इस अभिलेख के समय का गिरनार के अभिलेख के समय से अधिक अन्तर नहीं है। इसका प्रारम्भ साढ़े आठ पंक्तियों के एक बृहत् वाक्य से होता है; २—६ पंक्तियों में लम्बे समास हैं; तदनन्तर छोटे शब्दों के आजाने से कुछ चैन मिलता है; और वाक्य का अन्त तितालीस अक्षरों से युक्त एक सोलह शब्दों के समास से होता है। हम चाहे इसको बिलकुल पसन्द न करें, परन्तु यह एक विमर्श-सापेक्ष कला है, और इसी पद्धति को हम बाण में संभवतः अधिकतर कौशल के साथ प्रयुक्त हुआ पाते हैं अनुप्रास का प्रयोग स्वतन्त्रता के साथ

---

१. काव्यादर्श १।४० इत्यादि। दे० नीचे, Chap. xviii, § 2.

२. EI. viii. 60 ff.; S. Lévi, *Cinquantenaire de l'école pratique des Hautes Etudes* (1921), pp. 91 ff., जिनका विचार है कि उसके नायक गोतमीपुत की विजयकालीन मृत्यु का वर्णन किया गया है।

किया गया है ; उदाहरणार्थ महारानी के लिए 'महादेवी महाराजमाता महाराजयतामही' कहा गया है। परन्तु इस संबन्ध में विशेषत: रुचिकर बात है, उत्तरकालीन काव्य की रूढियों का पाया जाना। उनके प्रयोग का ढंग तत्तद् विषयों के साथ तत्कालीन परिचय को सूचित करता है। उदाहरणार्थ, राजा को हिमालय, मेरु और मन्दर पर्वतों के समान शक्तिवाला कहने से संक्षेप में इसी विचार की ओर संकेत किया गया है कि राजा हिमालय के समान पुष्कल कोषों का स्वामी है, मेरु के समान पृथ्वी का केन्द्रस्थानीय है और अपनी शक्ति से उसको आक्रान्त किये हुए है, और मन्दर के समान, जिसको देवताओं ने समुद्र के मन्थन के समय मन्थन-दण्ड के रूप में प्रयोग किया था, लक्ष्मी (अथवा राजलक्ष्मी) की उत्पत्ति और संरक्षण (योग-क्षेम) में समर्थ है। इसी प्रकार पौराणिक काव्य के प्रमुख पात्रों के साथ राजा की तुलना जिस ढंग से की गयी है उसे हम सुबन्धु और बाण द्वारा प्रायेण की गयी ऐसी तुलनाओं का उपक्रम कह सकते हैं। अन्त में, एक युद्ध में राजा की विजय का वर्णन किया गया है, जिस (युद्ध) में वायु, गरुड, सिद्ध, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, भूत, गन्धर्व, चारण, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागण भी अद्भुत ढंग से भाग लेते हैं। इस प्रकार यहां हम पहले से ही लौकिक और अलौकिक बातों के उस परस्पर सांकर्य को पाते हैं जिसके आधार पर बिल्हण जैसा व्यक्ति भी जिसको एक इतिहासज्ञ कहा जाता है अपने प्रभु के भाग्य के निर्णय में आवश्यकतानुसार शिव के हस्तक्षेप को स्वीकार करता है।

उक्त अभिलेखों के आधार पर ब्राह्मणों में संस्कृत काव्य तथा निस्संदिग्ध रूप से अलंकारशास्त्र की विद्यमानता के संबन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता।[1] ऐसी दशा में काव्य के प्राचीनतम निदर्शनों के रूप में अश्वघोष के जैसे बौद्ध ग्रन्थों के सुरक्षित रहने को केवल एक आकस्मिक घटना ही समझना चाहिए। साथ ही उक्त आकस्मिक घटना का एक साधारण कारण भी हो सकता है। अश्वघोष बौद्ध जगत् के सुप्रसिद्ध नामों में से एक था; बुद्ध के जीवन-वृत्त के वर्णन-कार्य के संपादन में उसको अतिक्रम कर जानेवाला दूसरा व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ, जबकि प्राचीनतर कवियों की कीर्ति कालिदास

१. जैसे जैन ग्रन्थों में रूढ्यनुसारी वर्णनों में समासों का अत्यधिक प्रयोग होता है, ऐसे ही अभिलेखों में राजाओं, स्थानों आदि की प्रशस्तियों में सुविधाजनक होने से आलङ्कारिक विशेषणों में समासों का प्रयोग अधिक वृद्धि को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है।

की कीर्त्ति से अन्तर्हित हो गयी। इसको केवल स्थापना-मात्र न समझना चाहिए ; हम जानते हैं कि नाटच के क्षेत्र में कालिदास के पूर्ववर्ती कवियों में से, जिनका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है, केवल एक कवि को छोड़कर, सबके ग्रन्थ आपाततः सदा के लिए नष्ट हो चुके हैं।

५. कामसूत्र और कवि का वातावरण

वात्स्यायन के कामसूत्र[1] का समय अनिश्चित है, तो भी उसका कालिदास से प्राचीन होना असंभव नहीं है। यह तो निश्चित ही है कि कामशास्त्र-विषयक प्राचीनतर ग्रन्थों के सार को लेकर इस को बनाया गया है। शृङ्गार-प्रधान कविता के लेखकों के लिए इस विषय के ज्ञान की आवश्यकता के संबन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता, और इस बात के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि जो कवि बनना चाहते थे वे उत्सुकता से व्याकरण, अलंकार-शास्त्र और कोप के समान ही उक्त कामसूत्र का अध्ययन करते थे। भारतीय जीवन के बढ़ते हुए विस्तार ने जिसको जन्म दिया था और जिसकी रुचि के प्रीणनार्थ कवि प्रयत्नशील रहते थे उस नागरक के स्वरूप का विशद चित्रण हमें वात्स्यायन से प्राप्त होता है। हम उसे संपत्तिशाली और नगर का निवासी—जिससे उस को नागरक कहा जाता है—पाते हैं[2], और यदि दुर्भाग्यवश वह ग्राम में बेकारी का जीवन व्यतीत करने को विवश होता है तब, रोम से भागे हुए मार्शल (Martial) के समान, वह इसी खोज में रहता है कि अपने अनुकूल साथी-संगियों को पाकर उनके साथ नागरिक जीवन के आमोद-प्रमोद का उपभोग जारी रख सके। उसके निवास-स्थान को इसका गर्व है कि उसमें उस युग की समस्त सुख-सामग्री विद्यमान है, जैसे मुलायम आसन्दियां, उद्यानगत ग्रीष्मगृह, सकुसुम स्थण्डिलपीठिका, अवकाश के समय में साथ में रहनेवाली और उसका मनोरञ्जन करनेवाली रमणियों के विनोद के लिए दोलाएँ। उसका पर्याप्त समय प्रसाधन में जाता है; यह आवश्यक है कि वह स्नान करे, तल की मालिश की जावे ; सुगन्धित पदार्थों को लगाया जावे और मालाएँ पहनाई जावें ; तदनन्तर वह चारों ओर लटकते हुए पिंजड़ों के पक्षियों को बोलना

---

१. दे० नीचे, chap. xxiv ; तु० Haraprasād, *Magadhan Literature*, chap. iv. प्राचीन भारत की कलाओं के सम्बन्ध में, जो कम से कम चौंसठ थीं, दे० A. Venkatasubbiah और E. Müller, JRAS. 1914, pp. 335-67.

सिखा सकता है अथवा मेषों या कुक्कुटों के युद्ध के क्रूर दृश्य का आनन्द ले सकता है। ये दोनों उस समय के ऐश्वर्य-शाली नवयुवकों के प्रिय मनोरंजन थे। अथवा, वाराङ्गनाओं के साथ में वह नगर के उपवनों में भ्रमणार्थ जाता है और फिर उनके द्वारा अवचित कुसुमों से भूषित होकर घर लौटता है। संगीत-समाजों, नृत्य और नाटकीय अभिनयों में भी उसका जाना होता है; उसके पास में ही वीणा रखी है जिसको वह जब चाहे बजा सकता है; साथ में पुस्तक भी है, अवकाश के समय पढ़ने के लिए। उसकी प्रसन्नता के लिए प्रकृत-विषयक छैल-छबीले दोस्त और तरह-तरह के पिछलग्गू साथी, जिनको ग्रन्थों में विट, पीठमर्द और विदूषक कहा गया है, आवश्यक होते हैं। पान-गोष्ठियाँ भी पाई जाती हैं; तो भी आदर्श के प्रतिबन्ध के कारण गँवारू अनियन्त्रण उनमें नहीं दिखाई देता। अपने आमोद-प्रमोद के संबन्ध में भी नागरक की दृष्टि भद्रता, नियंत्रण और थोड़ी-बहुत मर्यादा की ओर रहती है। वह नम्रता-वश लोक-भाषा का भी प्रयोग करता है, परन्तु उसमें संस्कृत का पुट रहता है जो कि उसकी शिष्ट संस्कृति का द्योतक है। उसके लिए वाराङ्गनाओं का साथ आवश्यक है, परन्तु वे भी गुणों से संपन्न हैं। कामसूत्र के अनुसार उनको साहित्यिक रसास्वाद की योग्यता के साथ-साथ सर्व-विध ज्ञान से भी संपन्न होना चाहिए। मृच्छकटिक की नायिका के भवन के वर्णन से प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्रसिद्ध वेश्याओं के पास बहुत संपत्ति होती थी। साथ ही, Perikles के समय की एथेन्स नगरी की तरह, साहित्य, संगीत और कला के संबन्ध में उनके यहां जो विचार-गोष्ठियाँ होती थीं उनसे उनमें संमिलित होनेवालों को अवश्य ही ऐसा आह्लाद होता होगा जिसकी आशा वे अपनी स्त्रियों से नहीं कर सकते थे। अपनी स्त्रियों से तो वे केवल सन्तानोत्पत्ति और अपने घरों की देखभाल ही चाहते थे।

इस प्रकार का वातावरण, उत्कृष्टतम कविता के लिए नहीं, तो कम से कम प्रयत्न-साध्य कविता के लिए निस्सन्देह अनुकूल होता है। तीव्र आलोचना के सांमुख्य में मनुष्य को सावधान होना पड़ता है। प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों में इसका फल स्वभावतः समुत्कृष्ट होता है। तो भी दूसरी ओर, साहित्यिक क्षेत्र में, इसका परिणाम अनिवार्यतया नीरस शब्दाडम्बर से युक्त शैली के प्रति अत्यधिक अनुराग में देखा जाता है। ऐसी परिस्थिति में, Maecenas समाश्रय में Vergil के समान, वास्तव में महान् कवि उत्पन्न नहीं होते; हाँ, Valerius Flaccus के समान, साधारण कवियों

की भरमार अवश्य देखी जाती है। अधिकतर सुप्रसिद्ध कवियों के अस्तित्व का श्रेय निस्सन्देह भारतीय राजाओं को[1] है। प्रशस्ति-काव्य में कौशल के लिए पुरस्कार के रूप में प्राप्त किसी राजा का समाश्रय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना के लिए अपेक्षित अवकाश पाने का तथा रचित ग्रन्थों की प्रसिद्धि का भी साधन होता था। जहाँ एक ओर राजा का यह कर्तव्य था कि वह संपत्ति और कवि-प्रतिभा के परस्पर विरोध को दूरकर उनमें सामजस्य की स्थापना करे, वहां दूसरी ओर कवि का कर्तव्य था कि वह अपने आश्रय-दाता प्रभु को विस्मृति के उस घोर अन्धकार से बचाए जिसमें कवि-साहाय्य के अभाव में, उसके विनश्वर शरीर के अन्त हो जाने पर, उसका ग्रस्त हो जाना निस्संदेह आवश्यक था। राज-दरबारों में कवियों की परस्पर उत्सुकता-पूर्वक प्रतिस्पर्धा चलती थी; संभवतः काफी प्राचीन समय में ही समस्यापूर्त्ति तथा किसी निर्दिष्ट विषय पर तात्कालिक पद्य-रचना जैसी कलाओं का अभ्यास किया जाता था। प्रतिभास होने वाले सरस्वती के उत्सव से कविता और कलाओं की अधिदेवता के संमानार्थ प्रदर्शनों का अवसर मिल जाता था। यह भी कवियों का सौभाग्य था कि नृपतिगण स्वयं भी काव्य-रचना-मूलक नैपुण्य की प्रसिद्धि पाना चाहते थे। हम देख चुके हैं कि रुद्रदामा के प्रशस्तिकर्त्ता ने इस क्षेत्र में उन की कीर्ति का उल्लेख करना उचित समझा था। आगे चलकर हम यह भी देखेंगे कि महान् गुप्त-वंशीय सम्राट् समुद्रगुप्त एक साहित्यिक की कीर्ति के लिए प्रयत्न-शील रहता था।[2] हर्ष केवल बाण के आश्रयदाता ही नहीं थे, उनको रूपकों और कविताओं के कर्तृत्व का भी दावा था, यद्यपि दुष्ट लोगों ने ऐसा फैला रखा था कि उनका साहित्यिक काम दूसरों का किया हुआ है।[3] चार सौ

---

१. राजशेखर (**काव्यमीमांसा पृ० ५५**) ने वासुदेव (? कण्ववंशीय कुषण), सातवाहन, शूद्रक, और साहसाङ्क (? चन्द्रगुप्त २; Pischel, GN. 1901, pp. 485—7) इन राजाओं को प्रसिद्ध आश्रयदाता बतलाया है।

२. छोटे ग्रन्थकार राजाओं में नाटयकार महेन्द्रविक्रमवर्मा (लगभग ६७५), भवभूति का आश्रयदाता यशोवर्मा (लगभग ७३५), कलचूरि मायुराज (लगभग ८००), और विग्रहराजदेव (११५३) ये सम्मिलित हैं। एक नेपाली राजा (८वीं शताब्दी), अमोघवर्ष (८१५—७७), और मुञ्ज (९७५—९५) के रचित पद्य उपलब्ध हैं; और अमरु (१३वीं शताब्दी) पर अर्जुनवर्मा की टीका भी उपलब्ध है। Cf. Jackson *Priyadarśikā*, pp. xxxvii ff.

३. Cf. Keith, *Sanskrit Drama*, d· oLı ·dff

वर्षों के पश्चात् होनेवाले धाराधिपति भोज इस विषय में अधिक भाग्यशाली थे, क्योंकि हम कोई ऐसी पक्की बात नहीं जानते जिसके आधार पर विभिन्न विषयों के ग्रन्थों द्वारा प्रदर्शित उनके बहुशास्त्रज्ञान के दावे का हम खण्डन कर सकें। बारहवीं शताब्दी[1] में लक्ष्मणसेन के राजदरबार ने हर्ष की कवि-समाश्रय-मूलक कीर्ति को पुनर्जीवित कर दिया था, क्योंकि प्रसिद्ध कवि जयदेव के साथ-साथ उमापतिधर, धोई और गोवर्धन जैसे अन्य कवियों ने भी उससे धन पाकर काव्य-रचना की थी। कश्मीर के नृपति-गण अपने कविराजों के प्रति उदारता के लिए प्रायः प्रसिद्ध हैं। सोमदेव का कथासरित्सागर ऐसी ही बुद्धिमत्तापूर्ण उदारता का परिणाम है। तो भी यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि भारतीय कवियों के शिरोमणि कालिदास को किसी राजा का समाश्रय प्राप्त था, यह बात हम सिद्ध नहीं कर सकते। कल्हण संस्कृत साहित्य में वास्तविक योग्यता से संपन्न इकेले ऐतिहासिक हैं; उनके विषय में भी यही बात है। यह न समझना चाहिए कि राजाओं का समाश्रय केवल संस्कृत कविता को ही प्राप्त था। माहाराष्ट्री पद्यों की सुभाषितावली को राजा हाल अथवा सातवाहन की रचना कहा जाता है। एवं कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के लिए वाक्पति-राज ने गौडवह नामक महाकाव्य की रचना की थी, जिससे कश्मीराधिपति ललितादित्य के हाथों उसकी पराजय हो जाने पर भी उसकी अमरकीर्त्ति अक्षुण्ण रह सकी। इसी प्रकार, यदि हम अनुश्रुति में विश्वास करें तो, राजाश्रित महाकाव्यों में सर्व-प्रथम महान् ग्रन्थ, अश्वघोष-विरचित बुद्धचरित, की रचना भी कदाचित् कनिष्क के संरक्षण में ही हुई थी।

---

१. Smith, EHI. pp. 419 ff., 432, इस राजा को साधारणतया माना हुई तिथि से लगभग पचास वर्ष पहले रखना चाहते हैं, परन्तु वे महत्त्वयुक्त साक्ष्य की उपेक्षा करते हैं; दे० R. C. Majumdar, JPASB. 1921, pp. 7 ff.; C. V. Vaidya, IHQ. i. 126 ff.; C. Chakravarti, iii. 186 ff.

३

अश्वघोष और प्रारम्भिक बौद्ध काव्य

१. अश्वघोष की रचनायें

प्राचीन भारत को अब भी आवृत करने वाले खेदजनक अन्धकार ने कवि और दार्शनिक के रूप में समानतया प्रख्यात अश्वघोष का समय असन्दिग्ध रूप से निश्चित करना असम्भव कर दिया है। परम्परा निश्चित रूप से उन्हें प्रसिद्ध कनिष्क का आश्रित कवि मानती है। परन्तु यदि सूत्रालङ्कार[1] उनका लिखा हुआ ग्रन्थ माना जाय तो इस समस्या का समाधान कठिन हो जाता है, क्योंकि उसमें उनके द्वारा दो कथायें वर्णित हैं, जिनमें कनिष्क के शासन का इस प्रकार उल्लेख किया गया है जैसे कि वह अतीत की घटना हो। इसका समाधान इस मत से हो सकता है कि कनिष्क की मृत्यु कवि के पूर्व हो चुकी थी, जो अनुश्रुति के अनुकल नहीं है। यह भी हो सकता है कि वे कथायें पूर्णतः, अथवा जहां तक कनिष्क के नाम का सम्बन्ध है, प्रक्षिप्त हैं, या कोई दूसरा पूर्ववर्ती कनिष्क रहा हो। इसके अतिरिक्त, एक अभिलेख[2] में, जो कनिष्क के समय का माना जाता है, किसी अश्वघोषराज का उल्लेख है, जिसको हठपूर्वक अश्वघोष से अभिन्न मान लिया जाता है। इन कठिनाइयों के रहने पर भी यदि अनुश्रुति का प्रामाण्य स्वीकार कर लिया जाय, तो अश्वघोष के समय का निर्धारण कनिष्क के समय पर आधारित होगा, जिसके लिए लगभग १०० ई०[3] के समय का अनुमान अब भी ठीक प्रतीत होता है। अनुश्रुति से यह भी ज्ञात

---

१. Nos. 14 and 31 (Huber's trans., Paris, 1908). Cf. Lévi, JA. 1896, ii. 444 ff.; Kimura, IHQ. i. 417. कुमारलात (लगभग १५०) की अधिक सम्भावना है।

२. EI. viii, 171; S. Ch. Vidyabhusana (POCP. 1919, I. xxxiii. ff.) अश्वघोष के आश्रयदाता कनिष्क का समय लगभग ३२० ई० मानते हैं।

३. Cf. Smith, EHI. pp. 272 ff.; Foucher, *L'Art Greco-Bouddhique*, ii. 484 ff.; 506 ff., जो कनिष्क का समय लगभग ८१ ई० मानते हुए, शक संवत् को मौर्य संवत् की पाँचवीं शताब्दी का प्रारम्भमात्र समझते हैं। Cf. D. R. Sahni, JRAS. 1924, pp. 399 ff.

होता है कि अश्वघोष मूलतः ब्राह्मण थे; वे पहले बौद्धों के सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर कालान्तर में बुद्धगत विश्वास की उद्धारक शक्ति के सिद्धान्त ने उन्हें आकृष्ट किया और वे महायान सम्प्रदाय के एक मार्ग-प्रदर्शक आचार्य हो गये। ६७१–९५ ई० में भारत में यात्रा करने वाले इत्सिङ्ग ने प्राचीन काल के एक महान् आचार्य के रूप में उनका उल्लेख किया है और यह भी लिखा है कि उसके समय में भी उनके ग्रन्थों के एक संग्रह का अध्ययन किया जाता था। अश्वघोष के अपने ग्रन्थों की पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है कि उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था और वे साकेत के निवासी थे। पुष्पिकाओं में उन्हें आचार्य और भदन्त की उपाधियां दी गई हैं।

प्रारम्भिक महायान मत की एक प्रसिद्ध पाठ्यपुस्तक, महायानश्रद्धोत्पाद, या ब्राह्मणों की जातिप्रथा के ऊपर एक योग्यतापूर्ण एवं तीक्ष्ण प्रहार करने वाली **वज्रसूची** वास्तव में अश्वघोष द्वारा रचित हैं या नहीं—इस विषय पर विवाद करना आवश्यक नहीं है। उनके रूपकों के भी केवल खण्ड ही अवशिष्ट हैं, जिनके आधार पर उनकी काव्य-चातुरी के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।[1] **गण्डीस्तोत्रगाथा**[2] उनके गीतों के—जो उनकी प्रसिद्धि के कारण थे—महान् छन्दोनैपुण्य को प्रदर्शित करती है और साथ ही उनके संगीत के प्रभावविषयक ज्ञान को प्रमाणित करती है। उक्त रचना में शब्दों द्वारा उस धार्मिक सन्देश के वर्णन का प्रयत्न किया गया है, जो काष्ठ की एक लम्बी पट्टी को एक छोटे से मुद्गर से पीटने की ध्वनियों द्वारा लोगों के हृदय तक पहुँचाया जाता था। **सूत्रालङ्कार या कल्पनामण्डितिका** बाद की लिखी हुई पुस्तक है, जो दुर्भाग्यवश संस्कृत में खण्डित दशा में ही उपलब्ध है, यद्यपि उसके ४०५ ई० के चीनी भाषान्तर का अनुवाद ह्यूबर (Huber) ने फ़्रेन्च भाषा में कर दिया है। **महाभारत**[3], रामायण, सांख्य और वैशेषिक दर्शन तथा जैन सिद्धान्तों के उल्लेखों से ग्रन्थकार का विस्तृत अनुशीलन स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु कथाओं में वे अपने को बुद्धपूजा की उद्धार-शक्ति के सिद्धान्त का दृढ़ विश्वासी दिखाते हैं। इस संग्रह में बौद्ध धर्म में आस्था उत्पन्न करने वाली कथायें हैं जो मुख्यतया अश्वघोष के समय में सुरक्षित साहित्य में पहले से ही प्रचलित थीं।

---

१. Cf. Keith, *Buddh. Phil.*, pp. 252 ff.; *Sanskrit Drama*, pp. 80 ff.
२. Ed. BB. 15, 1913.
३. वज्रसूची में हरिवंश के दो श्लोक मिलते हैं।

उनमें से बहुत सी आकर्षक हैं, कुछ करुणाजनक भी हैं। परन्तु भक्ति के सिद्धान्त से प्रेरित होकर लेखक ने अद्भुत फलों का वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, उसमें एक पापी की कथा है, जिसने जीवन में एक भी अच्छा काम नहीं किया था। परन्तु एक व्याघ्र के आक्रमण से जीवन का घोर भय उपस्थित होने पर उसके मुख से 'बुद्ध को नमस्कार है' ऐसा शब्द निकल गया। अतः उसे संघ में प्रवेश भी मिल गया और वह तत्काल अर्हत्त्व को प्राप्त हो गया। साहित्यिक दृष्टि से आवश्यक बात यह है कि ये कथायें स्पष्टतः महाकाव्यकालीन शैली के गद्य और पद्य में लिखी हुई हैं। इसमें सन्देह की आवश्यकता नहीं है कि लेखक ने पालि में प्रचलित तात्कालिक जातकों से ही गद्य पद्य के इस संमिश्रण को ग्रहण किया है, यद्यपि इस मत की पुष्टि के लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

सूत्रालङ्कार में **बुद्धचरित** का उल्लेख आता है, जो सम्भवतः अश्वघोष की ही कृति है, और हेतुपुरस्सर ऐसी कल्पना की जा सकती है कि यह महाकाव्य **सौन्दरनन्द**[1] के बाद की रचना है। **सौन्दरनन्द** के अन्त में अश्वघोष ने स्पष्ट शब्दों में उस उद्देश्य को प्रकट कर दिया है जिससे प्रेरित होकर उन्होंने काव्यशैली को अपनाया। वे इस बात को मानते हैं कि मनुष्य संसार के सुखों में आनन्द प्राप्त करते हैं, उन्हें निर्वाण की परवाह नहीं है। अतः उन्हों ने सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने वाले सत्य को आकर्षक स्वरूप में इस आशा से उपस्थित किया है कि इससे आकृष्ट होकर मनुष्य ध्येय को प्राप्त कर लें और उनके ग्रन्थ से सारमात्र ग्रहण कर लें। अश्वघोष ने **सौन्दरनन्द** से पूर्वरचित किसी काव्य का उल्लेख नहीं किया है, अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह उनकी प्रथम कृति थी। **सौन्दरनन्द** का प्रतिपाद्य विषय बुद्ध द्वारा उनके सौतेले भाई अनिच्छुक नन्द के धर्मपरिवर्तन का उपाख्यान है, जिसका **महावग्ग** और **निदानकथा** में भी वर्णन है। परन्तु अश्वघोष ने इसका निबन्धन उत्तरकालीन काव्य की सर्वसम्मत पद्धति के अनुसार किया है। उन्होंने काव्य का आरम्भ कपिलवस्तु की स्थापना के वर्णन से किया है, जिससे उनको वीरगाथाओं और पौराणिक कथाओं के सम्बन्ध में अपने ज्ञान के प्रदर्शन का अवसर मिल गया है (सर्ग १)। तदनन्तर राजा शुद्धोदन का वर्णन, और सर्वार्थसिद्ध

१. Ed. Haraprasad Śāstri, BI. 1910. Cf. Baston, JA. 1912, i. 79 ff.; Hultzsch, ZDMG. lxxii-lxxiv; Gawron'ski, *Studies about the Sansk, Buddh. Lit.* pp. 56 ff.

तथा उनके सौतेले भाई नन्द के जन्म का संक्षिप्त वर्णन आता है अगले सर्ग (सर्ग ३) में बुद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। फिर सुन्दरी के सौन्दर्य का और रात्रि एवं चन्द्रमा के संयोग की भाँति नन्द के साथ उसके संयोग की पूर्ण उपयुक्तता का वर्णन है। नन्द सुन्दरी को अनिच्छापूर्वक छोड़ता है (सर्ग ४)। बुद्ध उसकी अभिरुचि के नितांत प्रतिकूल उसे भिक्षुरूप म दीक्षित करने को शीघ्रता करते हैं (सर्ग ५)। सुन्दरी को महान् दुःख होता है (सर्ग ६), और नन्द स्वयं अपनी प्रियतमा के साथ रहने की इच्छा का अनेकों पौराणिक गाथाओं के दृष्टान्तों के आधार पर समर्थन करता है; प्राचीनकाल के अनेक राजा तपस्वि-वेष को त्याग कर आनन्द और उत्साह के संसार में फिर से लौट आये (सर्ग ७)। स्त्रियों के अवगुणों का, उनके अधरों पर मधुर वाणी और हृदय में वञ्चकता का, वर्णन किया गया है, पर उसका फल नहीं होता (सर्ग ८)। प्राचीन काल के वीरों के दुर्भाग्य का उदाहरण लेकर व्यर्थ ही अहंकार के दुर्गुणों के विषय में उसको सावधान किया जाता है (सर्ग ९)। बुद्ध अधिक साहसपूर्ण योजना बनाते हैं। वह नन्द को स्वर्ग ले जाते हैं और रास्ते में हिमालय पर एक नितान्त कुरूप काने बन्दर को दिखा कर उससे पूछते हैं कि क्या सुन्दरी इससे अधिक सुन्दर है। नन्द बलपूर्वक अपनी पत्नी के सौन्दर्य का प्रतिपादन करता है, किन्तु स्वर्गीय अप्सराओं के दर्शन कर उसको मानना पड़ता है कि उनका सौन्दर्य सुन्दरी की तुलना में उन्हें उतना ही ऊपर ले जाता है जितनी उस बन्दर की तुलना में सुन्दरी अधिक ऊपर है। अपनी चंचल बुद्धि के कारण वह एक अप्सरा को पत्नीरूप में प्राप्त करने का निश्चय करता है, परन्तु उसको चेतावनी दी जाती है कि यदि वह इस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपने पुण्यकर्मों से स्वर्ग-जय करना चाहिए (सर्ग १०)। पृथ्वी पर लौट कर वह इस अभीष्ट की प्राप्ति के लिए यत्न करता है, परन्तु आनन्द बहुत से उदाहरणों को देते हुए उसे यह कहकर सावधान करता है कि स्वर्ग के सुख अस्थायी हैं और जब मनुष्य का पुण्य क्षीण हो जाता है तब उसको फिर से पृथ्वी पर लौट आना पड़ता है (सर्ग ११)। इस प्रकार नन्द को स्वर्गीय सुखों के सारे विचार दूर करने और बुद्ध से उपदेश प्राप्त करने के लिये तैयार किया जाता है। वह केवल अर्हत् ही नहीं हो जाता, प्रत्युत बुद्ध के आदेशानुसार न केवल अपने लिए निर्वाण प्राप्त करने के उदात्ततर मार्ग के अनुसरण का ही, अपितु दूसरों को भी उसका उपदेश देने का निश्चय करता है (सर्ग १२–१८)।

बुद्धचरित[1] बुद्ध के जीवन के महत्तर विषय से सम्बन्धित है। यह एक दुर्भाग्य की बात है कि इस महाकाव्य के उपलब्ध रूप में केवल सत्तरह सर्ग मिलते हैं। इनमें से कुछ अपवादों को छोड़कर केवल प्रथम तेरह सर्ग ही वस्तुतः अश्वघोष-रचित हैं। शेष एक शताब्दी पहले अमृतानन्द द्वारा जोड़ दिये गये हैं। अमृतानन्द ने लिखा है कि उनको इसलिए ऐसा करना पड़ा क्योंकि उनको शेषभाग की कोई हस्तलिखित पोथी नहीं मिल सकी। यह महाकाव्य अब वाराणसी में किये गये धर्म-परिवर्तनों पर समाप्त हो जाता है; किन्तु ४१४ और ४२१ ई० के बीच किये गये चीनी अनुवाद में तथा तिब्बती अनुवाद में अट्ठाइस सर्ग हैं और इत्सिङ्ग को भी इस संख्या की जानकारी थी। अश्वघोष को इस विषय के चयन में प्रभावित करनेवाले निश्चित स्रोत का पता नहीं है, क्योंकि यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि ललितविस्तर अपने आधुनिक स्वरूप में उनके समय में वर्तमान था। तो भी, ललितविस्तर और बुद्धचरित का अन्तर ध्यान देने योग्य है। ललितविस्तर मुख्यतया सीधीसादी संस्कृत-गद्य-शैली में लिखा हुआ है, जिसमें गाथा-शैली की मिश्रित संस्कृत में लिखे हुए गीत भी यत्र तत्र मिले हुए पाये जाते हैं। ललितविस्तर की शैली असम्बद्ध है, कम से कम अव्यवस्थित तो है ही। अश्वघोष का महाकाव्य वास्तव में एक कलाकार की रचना है। कथानक के चयन और उसके यथावत् सन्निवेश द्वारा वे अधिकतम प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं और यद्यपि उन्होंने कथानक के आवश्यक अंशों में परम्परा का उल्लंघन नहीं किया है, तो भी उन्होंने वर्णित दृश्यों को विशद और प्रभावजनक बना दिया है। प्रासाद से राज-कुमार को नियति द्वारा निश्चित यात्रा के पूर्व, जिसमें वे जरा के जुगुप्सित दृश्य के सम्पर्क में आते हैं, उन सुन्दरियों का वर्णन है, जो उनकी उक्त यात्रा को देखने के लिये एकत्रित हो जाती हैं। कवि ने अपनी दक्षता उन प्रेमयुक्त कापटिक व्यवहारों को चित्रित करने में भी दिखाई है जिनके द्वारा अन्तःपुर की स्त्रियाँ संसार की असारताओं को त्यागने की उनकी इच्छा से उनको विरत करना चाहती हैं। उस प्रसङ्ग के वर्णन में भी कवि ने कौशल का प्रदर्शन किया है जब कि सोती हुई सुन्दरियों को निहारते

---

1. Ed. E.B. Cowell, Oxford, 1893; trans. SBE.46;, Formichi Bari.1912. See also Hultzsch, ZDMG. lxxii. 145 ff: Cappeller, ZII. ii, I ff.: Speyer, JRAS. 1914, pp. 105 ff.; Gawronski, *Rocznik Oryentalistyczny*.i I ff.; i-v ed. and trans. K. M. Joglekar, Bombay, 1912. बौद्ध संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में तु० G. K. Nariman, *Sanskrit Buddhism* (1923).

हुए राजकुमार प्रासाद से महाभिनिष्क्रमण का निश्चय करते हैं। अश्वघोष केवल कामशास्त्र में ही निष्णात नहीं हैं। उन्होंने उन तर्कों का भी सन्निवेश किया है जिनके द्वारा राजनीति-शास्त्र की शिक्षाओं से सुपरिचित राजपुरोहित लौकिक जीवन और उसके कर्त्तव्यों के परित्याग के संकल्प से राजकुमार को हटाना चाहते हैं। युद्ध के वर्णन को महाकाव्य में आवश्यक बताने वाले नियम का पालन करते हुए उन्होंने दैत्य मार और उसकी राक्षसी सेनाओं के विरुद्ध बुद्ध के युद्ध का ओजस्वी चित्र उपस्थित कर दिया है।

अश्वघोष के बुद्धचरित के एक स्रोत के विषय में जरा भी सन्देह नहीं है। यद्यपि कॉवेल (Cowell) को लोक-प्रचलित रामोपाख्यान के अतिरिक्त, अश्वघोष के **रामायण** से परिचय का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिल सका, तो भी, **सूत्रालङ्कार** में **रामायण** के उल्लेख को छोड़ कर भी, स्वयं बुद्धचरित में प्राप्त होने वाले उल्लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से इस बात में सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता।[1] जब नगरवासी यह देखते हैं कि सिद्धार्थ नहीं लौटे, तब वे उसी प्राचीन समय की तरह रोते हैं, जब कि दशरथ के पुत्र राम का रथ उनके बिना ही लौटा था। शुद्धोदन राम से विरहित दशरथ से अपनी तुलना करते हैं, और उनकी मृत्यु उनके लिए ईर्ष्या का विषय होती है। इनमें और अनेक अन्य स्थलों में संप्रति उपलब्ध **रामायण** के पाठ के सम्बन्ध में अश्वघोष के स्पष्ट ज्ञान का पता लगता है। ऐसी समानता का अश्वघोष पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। राम के बिना सुमन्त्र के अयोध्या में और सिद्धार्थ के बिना छन्दक के कपिलवास्तु में लौटने के प्रसङ्गों की स्पष्ट समानता असन्दिग्ध है; सारथि अपने स्वामी को छोड़कर शोक से परिवर्तित दशा वाली नगरी में लौटता है; उत्कण्ठित पुरवासी उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ते हैं और उससे समाचार को सुन कर विलाप करने लगते हैं; स्त्रियाँ गवाक्षों पर जमा हो जाती हैं और फिर अत्यन्त निराशा से अपने घरों के भीतर लौट आती हैं; सारथि राजा के समक्ष उपस्थित होता है। इसी प्रकार अरण्य में अपने पति के कष्टों से होने वाले सीता के शोक के अनुकरण पर राजकुमार सिद्धार्थ के नये कष्टमय जीवन के दुःखों के लिए यशोधरा के विलाप का निरूपण किया गया है। इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्तःपुर में सोती हुई स्त्रियों के दृश्य के वर्णन का आधार रावण के अन्तःपुर का चित्रण है।[2]

---

१. Gawroński, *Studies about the Sansk. Buddh. Lit*, pp. 27 ff.

२. V. 9-11, जिसको Winternitz (GIL. i. 417) अश्वघोष पर आधारित बतलाते हैं। परन्तु दे० Walter, *Indica*, iii. 13.

अश्वघोष की भाषा और शैली

दण्डी[1] ने अपने समय में प्रचलित गौडी और वैदर्भी, प्राच्य और दक्षिणात्य, इन दो रीतियों के मौलिक भेद को दिखलाया है। उनके वर्णन तथा अन्य साक्ष्य से हमें ज्ञात होता है कि गौडी रीति की ये मुख्य विशेषतायें थीं : न केवल गद्य में, जिसमें वैदर्भी भी लम्बे समासों को स्वीकार करती थी, किन्तु पद्य में भी लम्बे-लम्बे समासों के प्रयोग की प्रवृत्ति ; अनुप्रास और श्रुतिकटु ध्वनियों का प्रेम; गूढ़ार्थक व्युत्पत्तिपरक शब्दों का प्रयोग, और आडम्बर तथा कृत्रिमता में परिणत होने वाली ओज के प्रकाशन की इच्छा। याकोवी (Jacobi)[2] का कहना है कि रीतियों के अन्तर का ऐतिहासिक आधार है ; ऐसा तर्क किया जाता है कि संस्कृत काव्य का अभ्यास पूर्व में उत्साहपूर्वक किया जाता था और पश्चिम तथा दक्षिण में काव्यकला के प्रचलित होने के पहले ही वहाँ संस्कृत काव्य में जीर्णता के दुष्प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगे थे। इस मत के अनुसार दक्षिण की सरलतर शैली जनता के निकट सम्पर्क से उत्पन्न महाराष्ट्र के गीतिकाव्य के अभिनवत्व से भी प्रभावित हुई थी। याकोवी के उक्त निष्कर्ष के विरुद्ध एक गंभीर आपत्ति यह है कि दण्डी ने जिन बातों को वैदर्भी रीति की विशेषता माना है, **नाट्यशास्त्र** में वे सब सामान्यरूप से काव्यशैली की विशेषतायें मानी गई हैं ; इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि **नाट्यशास्त्र** के समय में गौडी रीति की पूर्वोक्त विशेषतायें विकसित नहीं हुई थीं और वे वङ्ग देश के राजाओं के दरबारों में कविता के विकास के साथ शनैः शनैः विकास को प्राप्त हुईं। इस दृष्टि को इस बात से भी समर्थन प्राप्त होता है कि यद्यपि दण्डी वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हैं और स्पष्टतः गौडी रीति उनको अभिमत नहीं है, तो भी उत्तर-कालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रायः गौडी रीति को ही अपनाने का प्रयत्न किया है। वैदर्भी रीति की और भी अधिक प्राचीनता का अधिक निश्चायक प्रमाण अश्वघोष की कविता से मिलता है। उनकी शैली असन्दिग्ध रूप से वैदर्भी के ढंग की है। जैसा बाद में बाण ने पश्चिमी कवियों के विषय में कहा है, अश्वघोष की शैली में भी अलङ्कार की अपेक्षा अर्थ पर अधिक ध्यान दिया गया है। स्वार्थ-परक इच्छाओं का त्याग, सार्वभौम

---

१. **काव्यादर्श**, १।४० इत्यादि।

२. *Ausgewählte Erzählungen in Māhārāshṭrī*, pp. xvi f.

क्रियाशील परोपकार की भावना तथा कल्याण-तत्परता के विचित्र परन्तु अनाकर्षकता से रहित दर्शन का वर्णन, व्याख्यान और उपदेश करना ही अश्वघोष का ध्येय था। वे अपनी शैली की स्पष्टता, सजीवता और सुन्दरता से उन लोगों के मन को आकृष्ट करना चाहते थे, जिनको शुष्क सत्य और नीरस कथन प्रभावित नहीं कर सकते थे। इस उद्देश्य के कारण केवल सौन्दर्य अथवा प्रभावोत्पादकता के निमित्त जान बूझकर यत्न के लिए कोई अवकाश नहीं था। इसी कारण अश्वघोष की रचनाओं में रोचकता अधिक मात्रा में पाई जाती है, यद्यपि उनके दोनों महाकाव्यों के परम्पराप्राप्त पाठ बुरी दशा में ही उपलब्ध हैं। जिस अर्थ में 'सरल' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी कविता के लिए किया जा सकता है, वास्तव में उस अर्थ में तो किसी भी संस्कृत काव्य के लिए उसका प्रयोग समुचित न होगा; परन्तु उत्तरकालीन काव्य के मान की अपेक्षा, कुछ अंशों में कालिदास की तुलना में भी, अश्वघोष की शैली सरल है। हम उनकी शैली को विषय-परायणता और कामोत्तेजकता से रहित भी नहीं कह सकते। अश्वघोष द्वारा खींचे गये शृङ्गार-सुख के चित्र में वर्णन की वे अनेक बारीकियाँ पाई जाती हैं जिन्हें समस्त भारतीय कवि पसन्द करते हैं। परन्तु यही बात उन आलोचकों को बड़ी अरुचिकर प्रतीत होती है, जो Iliad महाकाव्य में चञ्चल Zeus के मोहक चित्रण को भी आपत्तिजनक समझते हैं और जो Odyssey महाकाव्य में Ares और Aphrodite के प्रेमोपाख्यान के लिए उसके रचयिता को दोषी ठहराते हैं। परन्तु अश्वघोष का अपने आदर्श के लिए ज्वलन्त उत्साह है और वह वास्तविक है। वह आदर्श अर्हत् का नहीं है, जो इस दुःखमय संसार में पुनर्जन्म से केवल अपने ही छुटकारे की इच्छा से सन्तुष्ट रहता है, किन्तु भविष्य में बुद्ध बनने वाले बोधिसत्व का है, जो तब तक निर्वाण में प्रविष्ट नहीं होता जब तक कि वह अन्य समस्त प्राणियों को उस मिथ्याज्ञान के बन्धन से मुक्त करने के अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर लेता, जिससे नश्वर जीवन और उसके दुःखों के सम्बन्ध में प्राणियों की जन्म-जन्मान्तरों में आसक्ति बनी रहती है। संस्कृत काव्य में यह एक नई धारा है; वाल्मीकि में प्रभावशालिता और शान्त गाम्भीर्य है, परन्तु वे स्वयं अपने नायक राम की ही भाँति रग से रहित हैं, जो जीवन की अच्छी बुरी घटनाओं का अनुभव करते हुए भी उनसे पृथक् रहते हैं और जिनकी अन्तिम सफलता के विषय में हम कभी सन्देह नहीं करते। नन्द का सुन्दरी को त्यागना हमें भले ही काफी निर्दयता-

पूर्ण लगे और उसके अपने चञ्चल प्रम को अप्सराओं में केन्द्रित करने का हास्यास्पद पक्ष भी है, परन्तु अन्त में वह दूसरों के कल्याण के लिए बुद्ध की भाँति ही प्रयत्नशील दिखाई देता है। इसके विपरीत, राम का, चिरकालीन विरहदुःख सहकर मिली हुई सीता के परित्याग में, इस सिद्धान्त के पालन से बढ़कर और कोई उदात्ततर आदर्श नहीं है कि एक महान् पुरुष की पत्नी का चरित्र सन्देह से ऊपर होना चाहिए ।

जैसे शुद्धोदन हमें दशरथ का स्मरण कराते हैं, वैसे ही सुन्दरी में सीता की समानता दिखाई पड़ती है, परन्तु सुन्दरी में वासना की एक उग्रता है जो सीता में नहीं है, साथ ही उसमें सीता जैसा गौरव और दृढ़तापूर्ण साहस भी नहीं है। केवल वर्ण्य विषय और चरित्र-चित्रण में ही अश्वघोष वाल्मीकि के आभारी नहीं हैं; रामायण[1] की उपमायें और रूपक भी अश्वघोष के काव्य में अधिक परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ते हैं ; अपने पुत्र के अन्तिम निश्चय को सुन कर राजा शोकाभिभूत होकर वैसे ही गिर पड़ते हैं, जैसे उत्सव के समाप्त होने पर इन्द्रध्वज झुका दिया जाता है (**शचीपतेर्वृत्त इवोत्सवे ध्वजः**); कुमारियाँ प्रीति से विकसित अपने निश्चल नेत्रों से राजकुमार के रूप का पान करती हुई खड़ी रहती हैं (**निश्चलैः प्रीति-विकचैः पिबन्त्य इव लोचनैः**); वे स्वर्णकलश सदृश अपने पयोधरों का प्रदर्शन करती हैं (**सुवर्णकलशप्रख्यान् दर्शयन्त्यः पयोधरान्**)। रामायण में समुद्र को अपनी लहरों के फेन द्वारा हँसता हुआ बताया गया है। अश्वघोष ने अन्तःपुर की एक सोती हुई रमणी के वर्णन में इस कल्पना का उपयोग ऐसे लालित्ययुक्त विस्तार से किया है, जो रामायण में उपलब्ध नहीं है :

विबभौ करलग्नवेणुरन्या, स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना।
ऋजुषट्पदपंक्तिजुष्टपद्मा, जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥

'हाथ में वंशी लिये हुए, स्तनों से खिसके हुए श्वेतवस्त्र वाली, सोती हुई एक युवती ऐसी शोभित हो रही थी, मानों वह भ्रमरों की लम्बी पंक्तियों से सेवित कमलों वाली और जल के फेन[2] से हँसते हुए तटों वाली नदी हो।' अश्वघोष की अत्युत्कृष्टता निश्चय ही उस सरल और सुन्दर वर्णन में प्रकट होती है, जिसके द्वारा नेत्रों के समक्ष वर्ण्य विषय का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर दिया जाता है :

---

१. Cf. Walter, *Indica*, iii. 11 ff.
२. तु० मेघदूत, ५०।

तथापि पापीयसि निर्जिते गते, दिशः प्रसेदुः प्रबभौ निशाकरः ।
दिवो निपेतुर्भुवि पुष्पवृष्टयो रराज योषेव विकल्मषा निशा ॥

'उस पापी के पराजित हो कर चले जाने पर, दिशायें प्रसन्न हो गईं, चन्द्रमा चमकने लगा। आकाश से पृथ्वी पर पुष्पवृष्टि होने लगी; निर्दोष नारी की भाँति अन्धकाररहित रात्रि शोभित हुई।' जब सारथि लौटता है तब,

पुनः कुमारो विनिवृत्त इत्यथो गवाक्षमालाः प्रतिपेदिरेऽङ्गनाः।
विविक्तपृष्ठं च निशम्य वाजिनं पुनर्गवाक्षाणि पिधाय चुक्रुशुः॥

'"अरे कुमार फिर लौट आये", यह कहती हुई स्त्रियाँ अपनी अपनी खिड़कियों पर दौड़ गईं, पर घोड़े की पीठ को सूनी देख कर खिड़कियों को फिर से बन्द करके जोर जोर से क्रन्दन करने लगीं।' यशोधरा, जो सुन्दरी की अपेक्षा सीता के अधिक सदृश है, अपने पति के भाग्यविपर्यय को लेकर प्रलाप करती है:

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये, प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती, पटैकदेशान्तरिते महीतले॥

'सुवर्ण के स्वच्छ पलंग पर सोकर, तूर्य की ध्वनियों से जगाये जाने वाले वे मेरे व्रतधारी पति, आज रात में सादी चटाई (?=वस्त्र के एक भाग) से आच्छादित पृथ्वीतल पर हाय! कैसे सोयेंगे?' अश्वघोष अकृत्रिम करुण रस के भी सिद्धहस्त कवि हैं:

महत्या तृष्णया दुःखैर्गर्भेणास्मि यया धृतः।
तस्या निष्फलयत्नायाः क्वाहं मातुः क्व सा मम॥

'बड़ी तृष्णा और दुःखों से जिसने मुझे गर्भ में धारण किया, उस निष्फल यत्न वाली माता का मैं पुत्र कहाँ हूँ और वह मेरी माता भी कहाँ है।' इस विचार का पूर्वरूप, जैसा कि प्रायः देखा जाता है, रामायण[1] में विद्यमान है, परन्तु अश्वघोष ने अपनी कोमल कल्पना के स्पर्श से पूरी उक्ति के प्रभाव को बढ़ा दिया है।

यद्यपि संस्कृत कविता में अन्त्यानुप्रास पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, तो भी उसमें समान स्वर-व्यञ्जन-समूहों की आवृत्ति, विशेषतः अर्थ-परिवर्तन के साथ, अत्यधिक प्रचलित है। इसे यमक कहते हैं और यमक के उदाहरण अश्वघोष के काव्य में दुर्लभ नहीं हैं, जैसे, 'प्रनष्टवत्सामिव वत्सलां गाम्' (एक वत्सला गाय की भाँति, जिसका बछड़ा खो गया हो), जो

१. २।५३।२०।

रामायण के 'विवत्सा वत्सला कृता' का स्पष्टतः परिष्कार है। प्रथम सर्ग अधिक व्यापक प्रभाव उत्पन्न करता है जिसके १४–१६ श्लोकों में अन्त्यानुप्रास की जैसी प्रतीति होती है, जैसे 'उदारसंख्यैः सचिवैरसंख्यैः' (उदार मति वाले असंख्य सचिवों के साथ) अथवा 'समग्रदेवींनिवहाग्रदेवी' (सारी देवियों के समूह की अग्रमहिषी)। परन्तु इस प्रकार के प्रभाव को उत्पन्न करने का कम ही[1] प्रयत्न किया गया है। कभी कभी कोई पदावली अधिक यत्नसाध्य हो गई है, जैसे 'तपःप्रशान्तं स वनं विवेश [जहाँ तप शान्त हो चुका है ऐसे (? = तप से शान्त) वन में उसने प्रवेश किया।] कभी कभी अश्वघोष अपनी विद्वत्ता[2] के प्रदर्शन की गलती कर जाते हैं, जैसे जब वे धातुरूप 'कस्ति' के अव्यय के रूप में प्रयोग को उपमा का आधार बनाते हैं, यद्यपि उनके परवर्ती कवि भी गूढ उल्लेखों द्वारा यह बात सिद्ध करने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं कि वे पाणिनि के ग्रन्थों में निष्णात हैं। उनका अपना कौशल तो विशेषकर सौन्दरनन्द के द्वितीय सर्ग में आविष्कृत हुआ है, जहाँ उन्होंने लुङ् लकार के रूपों के सम्बन्ध में अपने ज्ञान का प्रदर्शन किया है। स्पष्टतः उनको अपने उस कौशल से आनन्द मिलता है, जिससे वे मीयते को मा, मि और मी—इन तीनों धातुओं के कर्मवाच्य के रूप में, अजीजिपत् को जप् और जि, तथा अदीदिपत् को दा और दो के लुङ् लकार के रूप में प्रयुक्त करते हैं। दूसरी ओर हमें ऐसे भी रूप मिलते हैं जो केवल रामायण के आधार पर ही क्षम्य माने जा सकते हैं, जैसे गृह्य और विवर्धयित्वा के पूर्वकालिक रूप; सुनने के अर्थ में साधारण निशम्य के प्रयोग के साथ साथ हमें देखने के अर्थ में निशम्य का भी प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार तद्धितान्त दैशिक का प्रयोग सामान्यतः किया गया है, पर उसके साथ ही सुदेशिक भी प्रयुक्त है। लुट् लकार के प्रवेष्टास्मि का स्थान अहं प्रवेष्टा ने ले लिया है। निपातों के प्रयोग में

---

१. हरितुरगतुरङ्गवत्तुरङ्गः, बुद्धचरित ५।८७।, में विशेष सफलता नहीं मिली है।

२. अश्वघोष ने एक उपमा में गन्धार की नई कला सम्बन्धी अपने ज्ञान का प्रदर्शन किया है। भाव और हाव (४।१२) जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उनके अलङ्कार-विषयक ज्ञान को प्रकट करता है और यथासंख्य का तो उन्होंने पूर्णरूप से प्रयोग किया है, ५।४२; ९।१६। कलात्मक समानताओं के लिए देखिये Foucher, *L'Art Gréco-Bouddhique du Gandhāra,* १।३२१,३३९ इत्यादि।

अश्वघोष ने बौद्ध संस्कृत में प्रायेण पाई जाने वाली अनियमितताओं को स्थान दिया है ; उदाहरणार्थ—किं बत और प्रागेव का प्रयोग 'और कितना अधिक' के अर्थ में किया गया है; चेद् के लिए सचेद् का प्रयोग है; और पौराणिक काव्य की परिपाटी के अनुसार निपातों का कुछ निरर्थक प्रयोग देखा जाता है; यथावस्थित पाठ में हमें अपि की पुनरावृत्ति मिलती है, हि और तु का एक ही वाक्य में एकत्र प्रयोग है, यहां तक कि 'न जहर्ष न चापि चानुतेपे' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं। कुछ बौद्ध शब्द भी मिलते हैं, जैसे, प्रतिवेध, इञ्जित, प्रश्रब्धि, प्रवेरित ; प्रचलित मैत्री के लिये मैत्रा का प्रयोग पालि मेत्ता पर आधारित है। इसके अतिरिक्त अश्वघोष के कुछ शब्दों के लिङ्ग नितान्त अशुद्ध हैं। परन्तु ये अश्वघोष की संस्कृत के, जो सामान्यतः व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है, नितान्त उपेक्षणीय दोष हैं।

वास्तविक दृष्टि से अश्वघोष के छन्दोनैपुण्य के विषय में भी कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है, यद्यपि उनके काव्यों की हस्तलिखित पोथियों में निस्सन्देह ऐसा पाठ है जिसमें छन्दों के दोष प्रायः पाये जाते हैं। अधिक सरल छन्दों के साथ साथ उन्होंने सौन्दरनन्द के तृतीय सर्ग के लिए उद्‌गता छन्द को अपनाया है, जिसका किरातार्जुनीय के बारहवें सर्ग में और शिशुपालवध के पन्द्रहवें सर्ग में अनुसरण किया गया है। उनके काव्य में सुवदना और उपस्थितप्रचुपित[1] का वर्धमान भेद भी पाया जाता है।

३. अवदान

अश्वघोष से सम्बन्धित एक रहस्यमय मातृचेट[2] हैं, जिनको कभी कभी परम्परा अश्वघोष से अभिन्न मानती है। उनके अनेक ग्रन्थों में से उनके शतपञ्चाशतिकस्तोत्र[3] के केवल कुछ खंड संस्कृत में पाये जाते हैं। इनमें धार्मिक भक्ति-स्तोत्रों की सामान्यतः सुन्दर शैली मिलती है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के कर्मफलों के अनन्त विषय से सम्बन्धित कथाओं के वर्णन में उस समय के लोगों की अधिक रुचि थी। साथ ही

---

१. सौन्दरनन्द २।६५। cf. Jacobi, ZDMG. xxxviii. 603 ; SIFI. VIII. ii. 113.

२. Cf. Thomas, ERE. viii. 495.

३. Lévi, JA. 1910, ii. 433-56; Poussin, JRAS. 1911. pp. 759-77. उनके वर्णनार्हवर्णन के लिए देखिए Thomas, IA. xxxiv. 145 ff.

उन बौद्धों की दृष्टि, जो इन अवदानों[1] (महान् कार्यों का वर्णन करने वाली या सम्भवतः मनुष्य के भविष्य के कारणों को दिखाने वाली कथाओं)[2] को पसन्द करते थे, संकुचित रूप से केवल नैतिक नहीं थी। केवल नैतिक दृष्टि से देखे गये मानव-कर्मों के उचित फल के रूखे-से सिद्धान्त के निदर्शन से ही उनको सन्तोष नहीं होता था। वे हृदय से बुद्ध के पूजक थे और उनका यह पूर्ण विश्वास था कि बुद्ध या उनके अनुयायियों के प्रति किये गये किसी भी भक्ति के काम में इतना सामर्थ्य होता है कि वह अपनी शक्ति से सदा मानवजीवन को कल्याणार्थ प्रभावित कर सके। इसी प्रकार उनकी यह भी मान्यता थी कि बुद्ध के प्रति किये गये अपमान का निश्चित ही भयानक फल होता है। उपलब्ध अवदानग्रन्थों में **अवदानशतक**[3] सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। ऐसा कहा जाता है कि तृतीय शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में चीनी भाषा में उसका अनुवाद किया गया था। अवदान-शतक में दीनार शब्द का प्रयोग होने से उसका समय १०० ई० से पूर्व नहीं हो सकता। कला की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। विषय के अनुसार दस दशकों में इसका विभाग योजनामूलक है। कथायें एक नियत ढंग से प्रारम्भ होती हैं, उनके वर्णन भी नियत ढंग से चलते हैं, उदाहरणार्थ, बुद्धके हास का और नैतिक उपदेश का वर्णन। अतिशयोक्ति और अत्यन्त विस्तार सारे ग्रन्थ की विशेषता हैं—तथा उपदेश देने की इच्छा के सामने रूपगत सौन्दर्य को बलि दे दी गई है। उपदेश की दृष्टि से कथाओं में वस्तुतः कुछ सुन्दर विचार पाये जाते हैं। अपनी माँ के प्रति किये गये अपराधों के लिए मैत्रकन्यक को ६६००० वर्ष तक एक तपते हुए लोहे के चक्र को सिर पर रख कर नरक में रहने का दण्ड मिलता है, जब तक कि उसी प्रकार का पाप करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति उसके बोझ को अपने ऊपर लेकर उसे मुक्त न कर दे। वह सदा के लिये उस दुःख को स्वयं सहने का निश्चय करता है, और तत्काल कष्ट के साधनभूत उस चक्र के अन्तर्हित हो जाने से उसे इसका पुरस्कार मिल जाता

१. Przyluski (*La légende de l'empereur Açoka* (1923), pp. viii ff.; 214) का कहना है कि सर्वास्तिवादियों के दो विनय थे, एक मथुरा का जिसमें अवदान या जातक थे और दूसरा कश्मीर का जो उनसे रहित था; **दिव्यावदान** पूरा ही मथुरा के विनय पर आधारित हो सकता है; Lévi, *T'oung Pao*, viii. 105-22; JA. 1914, ii. 494.

२. Zimmer, ZII. iii. 203 ff.

३. Ed. J. S. Speyer, BB. 3, 1902-9; trans. L. Feer, AMG. 18, 1891.

है। बिम्बिसार की पत्नी, श्रीमती, बुद्ध के उन अवशेषों के प्रति सम्मान प्रकट करती है, जिनको राजा ने अपने अन्तःपुर की स्त्रियों द्वारा पूजा किये जाने के लिए एक स्तूप में परिवेष्टित करा दिया था ; पितृघाती अजातशत्रु मृत्युदण्ड का भय दिखा कर उस पूजा पर प्रतिबन्ध लगा देता है, परन्तु श्रीमती उस आज्ञा का उल्लंघन करती है और राजाज्ञा से वध किये जाने पर वह देवताओं के लोक मे जन्म लेती है।

साहित्य की दृष्टि से दिव्यावदान[1] कहीं अधिक रोचक है। यह आख्यानों का संग्रह है, जिसमें अवदानशतक की भाँति बौद्धों के सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय के विनयपिटक से बहुत सी सामग्री ली गई है। दिव्यावदान का समय अनिश्चित है और उसके उद्भव का प्रश्न भी जटिल है। उसका एक भाग निश्चित रूप से एक महायान सूत्र कहा गया है, पर ग्रन्थ का प्रधान अंश अब भी हीनयान सम्प्रदाय का है। ग्रन्थ में दीनार शब्द मिलता है, और शार्दूलकर्णावदान नामक प्रसिद्ध कथा का चीनी भाषान्तर २६५ ई० में किया गया था। इसमें बतलाया गया है कि अपने उपदेश-कौशल से बुद्ध ने किस प्रकार कुमारी प्रकृति को बौद्ध धर्म की अनुयायी बना लिया। प्रकृति बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द को अत्यधिक प्यार करने लगी थी और वह उसको उसके व्रत से डिगा देती, यदि आनन्द ने उस महान् आपत्ति के समय में बुद्ध की शक्ति की शरण न ली होती। दिव्यावदान में अशोक[2] के पुत्र कुणाल के करुणाजनक आख्यान का निस्सन्देह सर्वोत्कृष्ट स्थान है। उसकी झूठी विमाता उसके विरुद्ध उसके पिता के मन को दूषित करके उसको अन्धा करवा देती है; इस पर भी कुणाल अपने मन में घृणा या धिक्कार का भाव नहीं लाता। रूपवती की कथा में हम इससे भी अधिक भीषण और बीभत्स लगनेवाला विषय पाते हैं। रूपवती अपने ही बच्चे को खाने के लिए तत्पर एक भूखी स्त्री की क्षुधा शान्त करने के लिए अपने दोनों स्तन काट कर दे देती है। सारे संसार की रक्षा के लिए यत्नशील बोधिसत्त्व के आदर्श के रूप में रूपवती की प्रशंसा की गई है और उसे रूपवत (? रूपवान्) नामक एक राजकुमार के रूप में फिर से उत्पन्न होने का विलक्षण-सा सम्मान दिया गया है।

---

१. Ed. E. B. Cowell and R. A. Neil, Cambridge, 1886.

२. Przyluski, *La légende de l'empereur Açoka*, 1923, के अनुसार मूल अशोकावदान कनिष्क से लगभग दो शताब्दी पहले (१५०–१०० ई० पू० के बीच में) मथुरा के एक भिक्षु द्वारा लिखा गया था।

मूलस्रोतों की विविधता के कारण ग्रन्थ की शैली सब जगह एक सी नहीं है। जहाँ तहाँ गाथाओं से मिश्रित साधारण सरल संस्कृत गद्य के अतिरिक्त, हमें बीच बीच में बड़े बड़े छन्दों के साथ अलङ्कारशास्त्र के लेखकों द्वारा अनुमत लम्बे लम्बे समासों से युक्त गद्य भी मिलता है। उदाहरणार्थ, अड़तीसवाँ अवदान अवदानशतक में पाई जाने वाली मैत्र-कन्यक की कथा का परिष्कृत शैली में रूपान्तर है। धार्मिक उपगुप्त द्वारा दैत्य मार के धर्म-परिवर्तन के नाटकीय उपाख्यान का अशोक के कथा-चक्र (२६–२९) के भाग के रूप में पाया जाना और भी रुचिकर है। इस अनूठे विचार का निर्वाह ओज और कल्पना के साथ किया गया है। मार बौद्ध धर्म का अनुयायी बन जाता है, और उपगुप्त, जो बहुत दिन पहले दिवंगत बुद्ध को अपनी आँखों से देखना चाहता है, मार से बुद्ध के रूप में अपने समक्ष उपस्थित होने को कहता है। मार उसकी आज्ञा का पालन करता है और भक्त उपगुप्त अपनी श्रद्धा के आस्पद बुद्ध के अद्भुत रूप के सामने अवनत हो कर पूजा करता है। यहाँ हम अश्वघोष से शैली-गत और सूत्रालङ्कार से विषयगत आदान स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। दिव्यावदान की शैली और छन्दोयोजना उसी महाकाव्यशैली के ढंग की है, जो उनके काव्यों में पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त, ग्रन्थ के इस भाग में हमें बुद्धचरित और उसकी अपेक्षा कम प्रचलित सौन्दरनन्द के परिचय के स्पष्ट चिह्न मिल सकते हैं।[१] उदाहरणार्थ, गुप्त के पुत्र को मनुष्यों के सौन्दर्य को अतिक्रान्त करने वाला, पर दिव्य सौन्दर्य को न पा सकने वाला बताया गया है (अति-क्रान्तो मानुषवर्णम् असम्प्राप्तश्च दिव्यवर्णम्)। इस भद्दी-सी शब्दावली के मूल में अश्वघोष की 'अतीत्य मर्त्यान् अनुपेत्य देवान्' यह सुन्दर पदावली ही हो सकती है। इसी प्रकार बाईसवाँ और अड़तीसवाँ अवदान शैली के परिष्कार और वास्तविक शाब्दिक सादृश्य के कारण बुद्धचरित का स्मरण कराते हैं। अड़तीसवें अवदान में निम्न श्लोक है:

तृष्णानि(? = न)लैः शोकशिखाप्रचण्डै-
श्चित्तानि दग्धानि बहुप्रकारम्।
आशावतां स प्रणयाभिरामै-
र्दानाम्बुषे(? = से)कैः शमयाम्बभूव ॥*

१. Gawron'ski, *Studied about the Sank. Buddh, Lit.*, pp. 49 ff.

*. Keith महाशय द्वारा दिये हुए श्लोक के पाठ में उपरि-निर्दिष्ट अशुद्धियों के साथ में 'स प्रणया-' के स्थान में 'सप्रणया-' भी अशुद्ध है। उनके अर्थ में भी वाच्य का भ्रम दीखता है। (मं० दे० शास्त्री)

'शोक की लपटों से प्रचण्ड, तृष्णारूपी अग्नि से अनेक प्रकार से दग्ध, आशान्वित लोगों के चित्तों को उसने प्रणय से अभिराम दान-जल के सेचन द्वारा शान्त कर दिया'।

इस संग्रह के कम परिष्कृत भागों में उनके लेखकों पर पालि और प्राकृत के प्रभाव के अनेक विचित्र निदर्शन पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, सर्पिस् के स्थान में सर्पि, पर्व के स्थान में पर्वः, यत् के स्थान में यम्, तावन्त् (?) के स्थान में तावन्त, और वीथि के स्थान में पीथि का प्रयोग पाया जाता है। निपातों का प्रयोग संस्कृत की पद्धति से कभी कभी दूर चला जाता है: जैसे और...और के अर्थ में अपि...अपि का प्रयोग; अप्येव का अर्थ कदाचित्, प्रागेव का प्रायेण, और यावत् का निश्चय होता है; स्थान का निर्देश करने के लिए बौद्धों का प्रिय प्रयोग येन...तेन साधारणतया मिलता है; और यतः, यद्भूयसा, तत्प्रथमतः तथा यत्खलु संयोजक अव्ययों (conjunctions) की भाँति सामान्यतः प्रयुक्त होते हैं। सर्वान्ते (बाद में), सकामम् (प्रसन्नतार्थ), और स्थापयित्वा (छोड़कर) का प्रयोग सम्बन्धबोधक अव्ययों (prepositions) की भाँति मिलता है। अप्रचलित शब्द और अर्थ बहुत मिलते हैं; जैसे आपत्ति (पाप), कोल (बेड़ा), गुल्म (चुंगीघर), उद्धव (प्रसन्नता), परिभाष (गाली देना), निश्रित्य (जा करके), प्रघरति (प्रक्षरण करता है) (प्रक्षर)[1], व्यतिसारयति कथाम् (वार्तालाप करता है), अन्यतर, अन्यतम (कोई एक), भूयस्या मात्रया (और अधिक)।

४. आर्यशूर और उत्तरकालीन काव्य

अश्वघोष का प्रभाव, आर्यशूर द्वारा रचित जातकमाला[2] में निश्चित रूप से परिलक्षित होता है। इसमें बुद्ध के पूर्वजन्मों के कार्यों की उपदेशपूर्ण लघु कथाओं के रूप में व्याख्यानों या उपदेशों का सुन्दर और रोचक संग्रह है। काव्यशैली की संस्कृत में इन कथाओं का लिखा जाना ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि संस्कृत का प्रयोग राजकीय क्षेत्रों में

१. यदि यह रूप प्राकृत से नहीं आया है, तो वैदिक 'घृ' धातु इसके मूल में हो सकती है; cf. Geiger, Pāli, p. 67.

२. Ed. H. Kern, HOS. i, 1891; trans. J. S. Speyer, London 1895. Cf. Lüders, GN. 1902, pp. 758 ff; F. W. Thomas, *Album Kern*, pp. [illegible] ff.; चीनी अनुवाद के विषय में Ivanovski, RHR. xlvii. 298 ff.; cf. [illegible] Wohlgemuth, *Über die chinesische Version von Aśvaghoaṣ's Buddhacarita* (Leipzig, 1916).

साहित्य-सर्जन और शास्त्रार्थों के लिए होने लगा था, और उन राजकीय क्षेत्रों से आर्यशूर के निकट सम्बन्ध की हम असन्दिग्ध रूप से कल्पना कर सकते हैं। कथाओं की सामग्री पहले से ही प्राप्त थी। लगभग सारी कथायें पालि के जातक ग्रन्थ[1] म मिलती हैं, और उनमें से बारह कथायें पालि चारिय पिटक में भी मिलती हैं। इसके अतिरिक्त, पूर्वोक्त पुस्तक की भाँति ही जातकमाला की कथायें भी बौद्ध मत के अनुसार भविष्य में उत्पन्न होने वाले बुद्ध की विभिन्न पारमिताओं का निदर्शन प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कही गई हैं। आधुनिक रुचि की दृष्टि से इनका मुख्य दोष अरस्तू की मध्यममार्गीय प्रवृत्ति को अस्वीकार करने वाली अत्युक्ति हैं। सबसे पहली ही कथा में, जो पालि के जातक ग्रन्थ में नहीं है, एक भूखी शेरनी की क्षुधा शान्त करने के लिए अपने जीवन के उत्सर्ग का आग्रह करनेवाले बोधिसत्त्व की असाधारण उदारता का वर्णन है। बोधिसत्त्व ने शेरनी को अपने उस बच्चे को खाने के लिए तैयार पाया, जिसका वह बिलकुल भी पेट नहीं भर सकती थी। दूसरी कथाएँ भी बलि दी गई वस्तु के मूल्य और जिसके लिए बलि दी जाती है उस वस्तु के मूल्य के वैषम्य की दृष्टि से कम क्रूरतापूर्ण नहीं हैं। परन्तु ये दोष तो तत्कालीन और उत्तरकालीन रुचि द्वारा गुण माने जाते थे। इत्सिंग ने लिखा है कि जातकमाला उसके समय क बौद्धों में एक लोकप्रिय पुस्तक थी। अजन्ता के रङ्गीन भित्ति-चित्रों में ऐसे चित्र और पद्य हैं जो उस समय जातकमाला का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। दुर्भाग्यवश इस साक्ष्य का काल निश्चित नहीं है, परन्तु लेखशैली से इन भित्तिचित्रों का समय छठी शताब्दी ई० प्रतीत होता है। यह इस बात से भी मेल खाता है कि आर्यशूर के एक अन्य ग्रन्थ का अनुवाद ४३४ ई० में चीनी भाषा में किया गया था। इस लिए आर्यशूर ने तीसरी या सम्भवतः चौथी शताब्दी में अपने ग्रन्थों की रचना की होगी।

आर्यशूर की शैली काव्यशैली है, जो काव्य के उपकरणों पर उनके अधिकार को दिखाती हुई भी उनकी परिष्कृत रुचि के कारण अत्युक्ति से रहित और संयत है। उनका गद्य और पद्य समान रूप से सावधानी के साथ लिखा गया और परिष्कृत है। यद्यपि वे काफी लम्बे समासों का, विशेषतया गद्य में, प्रयोग करते हैं, परन्तु उनका प्रयोग वे स्वाभाविक रीति से करते हैं और उनकी रचना में दुर्बोधता नहीं आने पाती। उनकी परिष्कृत रुचि उन पंक्तियों में स्पष्ट है जो उन्होंने उस पुत्र के मुख से कहलाई है,

१. GN. 1918, pp. 464 ff.

जिसके पिता ने अपनी मूढ़तापूर्ण उदारतावश अपनी पत्नी और सन्तानों को दान कर दिया है। पुत्र सरल किन्तु करुण शब्दों में कहता है :

न वेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः।
नापश्यमम्बां यस्त्वद्य तद् विदारयतीव माम्॥
रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी॥
अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम्?॥
इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये।
अतोऽर्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति॥

'यह मेरे लिए उतने दुःख की बात नहीं है कि यह ब्राह्मण मुझे मार रहा है। परन्तु मैंने जो अपनी माँ को आज नहीं देखा, यह बात मुझे विदीर्ण कर रही है। पुत्रशोक से दीन मेरी माँ निश्चय ही सूने तपोवन में, मृत शिशुओं वाली कोइल (? चातकी) की भाँति, बहुत देर तक रोयेगी। हम लोगों के लिए वन से बहुत-से फल और मूल लाकर और सूने तपोवन को देखकर, मां का क्या हाल होगा? हे पिता, ये हम दोनों के खिलौने—घोड़े, हाथी और रथ—हैं। मां को इनमें से आधे दे देना। इससे वह अपने शोक को दूर कर लेगी।' परन्तु आर्यशूर अधिक प्रयास-सापेक्ष विषयों में भी इसी प्रकार प्रसादयुक्त हैं, जैसे न्यायप्रिय राजा के शासन के वर्णन में :

समप्रभावा स्वजने जने च, धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीतिः।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं सोपानमालेव दिवो बभूव॥

'स्वजनों और अन्यजनों में समान प्रभाववाली, जनता को अधर्म की ओर ले जाने वाले मार्ग को रोक कर धर्म का अनुगमन करने वाली, उसकी दण्डनीति मानों स्वर्ग की सीढ़ी थी।' यह सच है कि उनकी भाषा में यत्रतत्र पालि का प्रभाव[1] दिखाई पड़ता है, परन्तु इससे आर्यशूर की भाषा की शुद्धता में विशेष अन्तर नहीं पड़ता, और उनका छन्दोनैपुण्य भी उत्कृष्ट प्रकार का है।

कभी एक और कभी बहुत से पद्यों से मिश्रित गद्य में लिखी हुई

---

१. सदुक्तिकर्णामृत में उनकी प्रशंसा की गई है, ZDMG. xxxvi.365. उनकी संस्कृत में पालि के प्रभावों के लिए देखिए Franke, IF. V. Anz. 31.

उनकी कथाओं के स्वरूप का ऐतिहासिक महत्त्व है। वास्तव में यह आर्यशूर का आविष्कार नहीं है। इस शैली के प्रयोग में उन्होंने कुमारलात का और निश्चय ही अन्य लेखकों का अनुकरण किया है। परन्तु इस शैली के प्रारम्भ के विषय में विवाद है। अपनी स्वाभाविक चतुरता के साथ ओल्डेनबर्ग (Oldenberg)[१] ने इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि, सम्भवतः और देशों की तरह, भारतवर्ष में भी साहित्य का मूल रूप गद्य ही था, जिसमें बीच-बीच में उन स्थलों पर पद्य जोड़ दिये जाते थे जहां आदिम मानव के मस्तिष्क में अपनी भावनाओं को स्वाभाविक रूप से पद्य में अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति होती है, जैसे, जब किसी देवता का आवाहन किया जाता है, शाप या आशीर्वाद दिया जाता है, या प्रार्थना की जाती है, संक्षेप में किसी भी ऐसे स्थल पर जहाँ भावना को खुल कर अभिव्यक्त किया जाता है और सामान्य गद्य भावाभिव्यक्ति में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार के साहित्य के अस्तित्व के प्रमाण ओल्डेनबर्ग को ऋग्वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थों, महाभारत और जातकों तथा अन्य पालि ग्रन्थों में मिले हैं। सिद्धान्ततः केवल पद्य ही अपने मूलरूप में सुरक्षित रखे जाते थे और उनकी रचना में ही कवि चतुरता और सावधानी से काम लेता था; गद्य को उन कथाओं के कहने वाले अपनी तरफ से जोड़ लिया करते थे। उत्तरकालीन विकास में, एक ओर तो, पद्य ने गद्य का स्थान लेकर उसका लोप कर दिया। ऐसा कहा जाता है कि उस प्राचीन स्थिति का अवशेष महाभारत में पाया जाता है, जहां पारस्परिक वार्तालाप में बोलने वालों का निदश गद्य में पृथक् रूप से किया जाता है। रामायण में, जो अधिक परिष्कृत है, यह ढंग नहीं मिलता; उसमें तो Iliad और Odyssey के लेखकों की भाँति कवि ने पद्य के भीतर ही बोलने वाले का नाम डाल दिया है। दूसरी ओर, पद्य के कलात्मक परिष्कार को गद्य में भी सन्निविष्ट करने का प्रयत्न किया गया। ओल्डेनबर्ग[२] का यह

१. GGA. 1909, pi 66ff.; GN. 1911, pp. 459 ff.; 1919, pp. 79 ff. Cf. Winternitz, WZKM. xxiii. 102 ff.

२. *Altind. Prosa*, pp. 82 ff. वस्तुस्थिति तो यह है कि गद्य-शैली का परिष्कार पद्य के विकास के बाद हुआ है और उस पर आधारित है; Cf. Jacobi, *Compositum und Nebensatz*, p. 93, जो जैन धर्मसूत्रों के समान रूप वर्णकों को और उनके लम्बे समासों को उद्धृत करते हैं (cf. IS. xvii. 389 ff.).

दावा है कि पालि जातक-ग्रन्थ के कुणालजातक जैसे अपवाद को छोड़ कर, जिसमें पद्यों के साथ साथ अलंकृत गद्य का प्रयोग किया गया है, जातकमाला और पञ्चतन्त्र अथवा तन्त्राख्यायिका उक्त प्रकार की शैली के प्राचीनतम उदाहरण हैं।

अन्यत्र दिये गये कारणों[1] से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ओल्डेनबर्ग के उक्त मत की पुष्टि में कोई वैदिक साक्ष्य नहीं है और इसलिए इसका खण्डन या मण्डन इसकी मान्यता सम्पादन करने वाले दूसरे कारणों पर निर्भर है। तुलनात्मक साहित्य का साक्ष्य इसकी पुष्टि के लिए अभी तक बिलकुल अपर्याप्त है, और भारतीय दृष्टि से गद्य और पद्य के मिश्रण की बात अधिक सरलता से समझाई जा सकती है। बीच-बीच में पद्य से मिश्रित गद्य का भारतीय साहित्य में उपलब्ध प्राचीनतम स्वरूप वह प्रतीत होता है, जिसमें गद्य में कही गई बात के निदर्शन के रूप में उपदेशात्मक पद्य उद्धृत किया जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की शैली से इसका सादृश्य दिखाई देता है, जिनमें जहाँ-तहाँ याज्ञिक विचार-विमर्श में यज्ञगाथायें उद्धृत की गई हैं। धर्मसूत्रों की पद्धति से भी इसकी समानता है, जिसमें कहे गये नियम पद्य के उद्धरण द्वारा पुष्ट किये जाते हैं। उपनिषदों में भी यत्र-तत्र हमें इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। वहां गद्य में प्रतिपादित किसी सिद्धान्त के निदर्शन अथवा व्याख्या के लिए पद्य उदधृत किये जाते हैं। उपर्युक्त स्थलों में दिये गये पद्य उद्धृत हैं यह स्पष्ट कर दिया गया है। पीछे से अपने प्रतिपाद्य विषय को रोचक बनाने के लिए अथवा उसको संग्रह-रूप देने के लिए ग्रन्थकार अपने ही पद्य बनाने लगे। महाभाष्य में मिलने वाली कारिकायें यह सिद्ध करती हैं कि वैयाकरण भी विवादग्रस्त विषयों में अपने विचारों को सरलतया स्मरणीय और विशुद्ध रूप में रखने के लिए पद्य-बद्ध करने की उपयोगिता को स्वीकार करते थे। उपलब्ध साक्ष्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता

---

१. Keith, JRAS. 1911, pp. 979 ff.; 1912, pp. 429 ff.; HOS. xxv. 43 ff. दूसरी भाषाओं में भी गद्य और पद्य के संमिश्रण के उदाहरण मिलते हैं, उदाहरणार्थ Latin (Varro's *Saturae Menippeae*, Petronius, Martianus capella (C. A. D. 400), Boethius (480-524), and two novels, Julius Valerius (C. 300) and *Historia Apollonii Tyrii*; Teuffel-Schwabe, *Rom. Lit.*, §§28, 165, 305, 399, 452, 478, and 489); *Norse*; Mediaeval Irish (Windisch, *Irische Texte*, iii, 447ff.); Chinese; Old Picard, *Aucassin et Nicolett*; Boccaccio's *L'Ameto*; Sa'di's *Gulistān*; Basutos and Eskimos (MacCulloch, *Childhood of Fiction*, pp. 480 ff.); Gray, वासवदत्ता, p. 32.

है कि भारतवर्ष में आख्यानात्मक रचनाओं के लिए आरम्भ में पद्य और गद्य का स्वतन्त्र-रूप से अलग अलग प्रयोग किया जाता था। ऐसी स्थिति में यह समझना सरल है कि उन दोनों का मिश्रण कैसे हुआ, विशेषतः उस दशा में जब कि उपर्युक्त उदाहरणों में गद्य और पद्य का मिश्रण साहित्यिक शैली के एक रूप में पहले से ही वर्तमान था। महाभारत में गद्य और पद्य के मिश्रण के कुछ स्थल स्पष्टतया दसरी शैली के बाह्य प्रभाव के उदाहरण हैं, किसी प्राचीन रचना-शैली के अवशेष नहीं। जातकमाला के लेखक आर्यशूर अथवा कुमारलात को पालि में इसके प्रतिरूप कहां तक प्राप्त थे—वस्तुतः इस बात को हम सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि पालि का उपलब्ध जातक ग्रन्थ गम्भीर समस्याएँ उपस्थित करता है जिनका अभी तक समाधान नहीं हो पाया है। परन्तु, कम से कम, कुणालजातक से प्रतीत होता है कि जातक कथाओं के संस्कृत भाषान्तरों को इस परिवर्तन का आदि मानना बुद्धिमानी की बात नहीं होगी।

दसरे बौद्ध लेखकों की देन दर्शन की अपेक्षा साहित्य में बहुत कम है। रहस्यमय नागार्जुन ने, जिनका समय सम्भवतः दूसरी शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध था, अपनी मध्यमकारिकाओं में विरोध दिखाने की विकृत योग्यता का प्रदर्शन किया है। आर्यदेव (लगभग २५० ई०) ने अपनी चतुःशतिका[1] में पाप धोने और पुण्य प्राप्त करने के लिए गंगा में स्नान करने की ब्राह्मणों की रीति के खण्डन में व्यङ्ग करने की विशिष्ट शक्ति दिखाई है। चन्द्रगोमिन् ने शिष्यलेखधर्मकाव्य[2] की रचना की है, जिसमें एक शिष्य को बौद्ध धर्म की मुख्य बातों का उपदेश एक पत्र के रूप में दिया गया है। उक्त पुस्तक के पहले लिखी गई इसी प्रकार की एक और पुस्तक नागार्जुन द्वारा रचित सुहृल्लेख[3] है, जिसमें उन्होंने एक राजा के लिए बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का संक्षेप किया है। उस राजा के विषय में दुर्भाग्यवश हमें कोई जानकारी नहीं है। सुभाषितावली में एक पद्य उद्धृत है जो वस्तुतः शिष्यलेखधर्मकाव्य मे पाया जाता है,

१. Ed. Calcutta, 1914. On his हस्तवालप्रकरणवृत्ति, cf. Thomas and Ui, JRAS. 1918, pp. 267ff. Cf. P. L. Vaidya, *Études sur Āryadeva* (Paris, 1923).

२. Ed. I. P. Minayeff, *Zapiski*, iv.

३. Trans. H. Wenzel, JPTS. 1886, pp. 1 ff.; राजा सातवाहन के विषय में तु० Vidyabhusana, POCP. 1919, ii. 125.

परन्तु उसके तिब्बती अनुवाद में छोड़ दिया गया है। वह पद्य यह है:

विषयस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥

'विष और विषयों में बहुत अधिक अन्तर है। विष के खाने से मृत्यु होती है, पर विषय तो स्मरणमात्र से भी मार डालते हैं।' सुभाषितावली में इस श्लोक के रचयिता का नाम चन्द्रगोपी दिया गया है, परन्तु सब बातों को ध्यान में रख कर चन्द्रगोमी से उसका भिन्न होना असम्भव मालूम होता है। हम चन्द्रगोमी को सातवीं शताब्दी ई० में रख सकते हैं, क्योंकि काशिकावृत्ति में उनके व्याकरण का उपयोग किया गया था। दूसरी ओर, इत्सिंग के आने के समय तक उनका जीवित रहना प्रतीत होता है, यद्यपि इत्सिंग द्वारा उनका उल्लेख सन्देह से शून्य नहीं है। जैसी कि एक वैयाकरण से आशा की जा सकती है, उनका काव्य शुद्ध और प्रवाहपूर्ण संस्कृत में लिखा हुआ है, किन्तु उसमें कोई वैशिष्टच नहीं है।

महायान सम्प्रदाय के बौद्ध सिद्धान्तों पर परिश्रम से लिखी गई संक्षिप्त पुस्तक, शिक्षासमुच्चय, के लेखक शान्तिदेव की दूसरी ही बात है; उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक बोधिचर्यावतार[1] में उस व्यक्ति का चरित्र वर्णन किया है जो अर्हत्त्व के संकीर्ण हीनयान आदर्श के विपरीत बुद्धत्व को प्राप्त करना चाहता है। शान्तिदेव का समय सातवीं शताब्दी है और अनुश्रुति के अनुसार वे एक राजा के लड़के थे। देवी तारा ने पिता को राजकीय अधिकार त्यागने की प्रेरणा दी थी। शान्तिदेव ने अपनी रचना किसी साहित्यिक महत्त्वाकाङ्क्षा से नहीं की है। वे स्वान्तःसुखाय और अपने जैसे स्वभाव वाले व्यक्तियों के लिए रचना करते हैं। उनकी कविता में मनुष्यों को सांसारिक दुःखों से मुक्ति दिलाने में सहायता देने के उद्देश्य के प्रति भावपूर्ण तन्मयता और महायान दर्शन के एकान्त शून्यवाद का अद्भुत संमिश्रण है। कोई भी वस्तु सत्य नहीं है, न कोई लाभ है न हानि, न कोई सम्मानित होता है न अनादृत; हर्ष और शोक, राग और द्वेष, ये सब वास्तविकता के बिना केवल शब्द हैं। कितना ही कोई ढूँढे, पर किसी वस्तुसत् की उपलब्धि नहीं हो सकती। तो भी शान्तिदेव मानवता के उद्धारक होने के उदात्त उद्देश्य से अनुप्राणित प्रतीत होते हैं; अपने प्रयत्नों से हम जो भला करते हैं,

---

१. Ed. de la Vallée Poussin, Bl. 1901 ff.; trans. Paris, 1907.

उससे बुद्धों और बोधिसत्त्वों को प्रसन्नता होती है ; लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्न में हम उनसे संबद्ध हैं। हम अपनी देहों को वास्तव में अपना समझते हैं, यह एक भ्रान्ति है ; हमको समझना चाहिए कि दूसरे का दुःख हमारा ही दुःख है, और दूसरे की प्रसन्नता भी हमसे बाहर नहीं है। शान्तिदेव की काव्यशक्ति का अपना एक विशिष्ट स्थान है, विशेषतः जब कि उसकी तुलना उन स्फूर्तिहीन पद्यों से की जाती है, जिनमें उनके पूर्वज, सम्भवतः चौथी शताब्दी ई० के, वसुबन्धु और उनके भाई असङ्ग ने अपने सिद्धान्तों का उपदेश किया है। असङ्ग ने महायानसूत्रालङ्कार की रचना की है, जो शुद्ध किन्तु वैशिष्ट्यहीन एवं पारिभाषिक शब्दों से अत्यधिक लदी हुई संस्कृत में लिखा हुआ है। यद्यपि इस ग्रन्थ का कलेवर विशाल है और लेखक ने प्रभावपूर्ण ढंग से अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है, फिर भी यह ग्रन्थ अत्यधिक दुर्बोध है। तो भी यह काव्य साहित्यिक दृष्टि से रोचक है, क्योंकि इससे प्रकट होता है कि बौद्ध आचार्यों ने संस्कृत को अपना साहित्यिक माध्यम किस पूर्णता से बना लिया था।

४.

कालिदास और गुप्त नृपतिगण

१. गुप्त नृपतिगण और ब्राह्मणों का पुनर्जागरण

भारत में कनिष्क के उत्तराधिकारियों की शक्ति का ह्रास पूणरूप से अन्धकारमय है[१], किन्तु यह निश्चित है कि ३२० ई० में चन्द्रगुप्त ने, एक लिच्छवि राजकुमारी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के परिणामस्वरूप, एक राजवंश की स्थापना की, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र में थी, और जिसने उसके पुत्र, समुद्रगुप्त (लगभग ३३०–७५ ई०), के आधिपत्य में उत्तर भारत में प्रधान शक्ति का रूप धारण कर लिया। चंद्रगुप्त के पौत्र, चन्द्रगुप्त द्वितीय, ने क्षत्रपों को पराजित करके और मालवा, गुजरात तथा काठियावाड़ को साम्राज्य में मिलाकर उसकी सफलता को पूर्ण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पुत्र और उत्तराधिकारी कुमारगुप्त (४१३–५५ ई०) ने अखंडित उत्कर्ष के साथ राज्य किया, और उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने, अपने राज्यारोहण के कुछ ही समय बाद, उत्तर-पश्चिम की ओर से बढ़ने वाले और भारत के लिए भय की स्थिति उत्पन्न करने वाले आक्रामक हूण पर निश्चित विजय प्राप्त की। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ४६५ और ४७१ ई० के बीच में हूणों का बढ़ाव रोकना दु:साध्य हो गया, और कम से कम ४८० ई० के लगभग स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य का महत्त्व अप्रतिसमाधेय रूप से चला गया, यद्यपि वह राजवंश दुर्भाग्यवश छोटे रूप को प्राप्त प्रदेशों पर कई पीढ़ियों तक शासन करता रहा। ४९९ ई० तक हूणों का नेता, तोरमाण, मालवा के शासक के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। उसके उत्तराधिकारी, मिहिरगुल, की राजधानी पंजाब में स्यालकोट में थी। हूणों का निष्कासन ५२८ ई० के लगभग मध्यभारत के शासक यशोधर्मा और मगध के गुप्त बालादित्य की एक विजय का परिणाम प्रतीत होता है; परन्तु इस सम्बन्ध के लेख न जाने क्यों सन्तोषपूर्ण नहीं हैं। तो भी मिहिरगुल हटकर कश्मीर चला गया और वहाँ उसने अस्पृहणीय ख्याति प्राप्त की[२]। ५५० ई० के कुछ ही बाद तुर्कों

---

१. Smith, EHI. Chaps. X and XI; Bhandarkar, *Early History of India*, pp. 47. ff.

२. ऐसा कहा जाता है कि गन्धार और गन्धार की कला का मिहिरगुल ने नाश किया था; Foucher, *L' Art Gréco-Bouddhique*, ii. 588 ff.

ने ऑक्सस नदी पर हूण राज्य को जीत लिया।

कुषाण शासन बहुत कुछ जातीय भावना से शून्य था, जिसमें यद्यपि बौद्धधर्म निश्चितरूप से विशेष कृपा का पात्र था, तो भी ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म भी अवश्य ही पर्याप्त रूप से फैले हुए थे। इसके विपरीत इसमें सन्देह नहीं कि गुप्त साम्राज्य की स्थापना से स्पष्टतः ब्राह्मणधर्म के पुनर्जागरण और भारतीय जातीयता के पुनरुत्थान को बल मिला। उस काल की कला उच्चकोटि की है और ग्रीक प्रेरणा की प्रवृत्ति का प्रतीकार करने वाली राष्ट्रीय भावना को प्रतिबिम्बित करती है[१], यद्यपि उस समय का स्थापत्य निस्सन्देह उत्तरभारत में मुसलमान आक्रामकों द्वारा किए गए भयानक विनाश के कारण बहुत कुछ विलुप्त हो गया है। परन्तु मूर्तिकला आकृति के असाधारण सौन्दर्य, स्थिति (pose) के गौरव और काम की छोटी-छोटी बातों में संयम और सफ़ाई का प्रदर्शन करती है। सिक्के, जो प्रायेण प्रशंसा के योग्य हैं, तत्कालीन रोम-सम्बन्धी जगत् के साथ पारस्परिक संपर्क के स्पष्ट चिह्नों को प्रकट करते हैं। ३६१ और ५३० ई० में रोम और कुस्तुनतुनिया को भेजे गए शिष्टमंडलों के लेखों से भी उस संपर्क की पुष्टि होती है। गणित, खगोलविद्या, और ज्योतिष ग्रीक प्रभाव के कारण नव-जीवन को प्राप्त करके विकसित हुईं, जैसा कि वराहमिहिर (लगभग ५५० ई०) की पञ्चसिद्धान्तिका और आर्यभट (जन्म ४७६ ई०) के ग्रन्थों से अच्छी तरह सिद्ध होता है। भारत में आने वाले और भारत से जाने वाले बौद्धों की यात्राओं के कारण चीन के साथ संपर्क स्थिर रहा। फ़ाहिएन (४०१-१० ई०) चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के भारतवर्ष का एक बहुत सुन्दर चित्र हमें देता है। सम्पूर्ण मध्यभारत में गमनागमन की स्वतन्त्रता थी; न्याय दया के साथ किया जाता था, मृत्युदण्ड रोक दिए जाने के कारण साधारणतः अर्थदण्ड ही दिया जाता था, और अङ्ग-भङ्ग का दण्ड विद्रोहियों या डाकुओं के लिए ही नियत था; सरकारी मालगुज़ारी मुख्यतया भूमि से ही प्राप्त होती थी, और राजकीय अधिकारियों तथा भृत्यों को नियमित रूप से वेतन मिलता था। कम से कम बौद्धों में—जिनकी संख्या अब भी बहुत अधिक थी—मांसाहार या जीवहत्या के निषेध का नियम सर्वत्र माना जाता था, और अनेक स्थानों पर तो कसाइयों की दूकानों और शराबख़ानों को कोई जानता ही न था। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि केवल वही ब्राह्मणधर्म के पुनर्जागरण के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण का उल्लेख करता

१. Foucher, ii. 756 ff.

है; चाण्डालों या अछूतों को पृथक् रहना पड़ता था, और जब वे किसी शहर या बाज़ार के समीप पहुँचते तो उन्हें अपनी उपस्थिति जताने के रूप में एक लकड़ी के टुकड़े को खटखटाना पड़ता था, जिससे अन्य लोग उनके संपर्क से होने वाली गंदगी को बचा सकें। सम्राट् स्पष्टतया विष्णुभक्त थ और भागवतधर्म में अनुरक्त थे, किन्तु धार्मिक सहिष्णुता उस समय तक भी वर्तमान थी, और बौद्धधर्म की अवनति के चिह्न फ़ाहिएन की आंखों से छिपे हुए थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि यह संभव है कि समुद्रगुप्त स्वयं वसुवन्धु का मित्र था जब कि वह उसके पिता के दरबार में रहता था[1]। परन्तु समुद्रगुप्त ब्राह्मणधर्म के आदर्शों के प्रति अपनी भक्ति को जताने का विशेष ध्यान रखता था; इसी से उसने अपने सर्वोपरि आधिपत्य के चिह्न के रूप में प्राचीन अश्वमेध याग को पुनरुज्जीवित किया, और ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त ने भी उसके उदाहरण का अनुकरण किया। ऐसा स्पष्टतया प्रतीत होता है कि गुप्त शक्ति का केन्द्र जो प्रारम्भ में पाटलिपुत्र में था, चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में, निस्संदेह नए प्राप्त प्रदेशों को मजबूती से साम्राज्य में मिलाए रखने के लिए, उज्जयिनी में ले जाया गया।

ऐसे राजाओं का काव्य तथा ललित कलाओं की ओर झुकाव होना स्वामाविक था। समुद्रगुप्त को अपनी वीणावादन की निपुणता पर गर्व था, और एक सिक्का भी उसे उस वाद्य को बजाते हुए दिखाता है। पर उसकी इन बातों का और भी पुष्ट प्रमाण प्रशस्तिकर्त्ता हरिषेण (लगभग ३५० ई०) के कथन से मिलता है। वह निश्चित रूप से कहता है कि उसके सरक्षक की काव्य-शैली अध्ययन के योग्य थी और वह ऐसी कविताएँ लिखता था जिनसे उसकी आध्यात्मिक संपत्ति की वृद्धि होती थी, और उसको 'कविराज' की उपाधि दूसरों से अनुकरणीय उसकी अनेक कविताओं की रचना के कारण पूर्णतया सार्थक थी। साहित्य के सच्चे अध्येताओं की गोष्ठी में उसे आनन्द मिलता था, पवित्र धर्मग्रन्थों की व्याख्या तथा रक्षा में उसकी रुचि थी, और संगीत में उसको विशेष अनुराग था। इसके अतिरिक्त, कवि की कला और लक्ष्मी का पारस्परिक विरोध मिटाकर उसने प्रसिद्धि प्राप्त की, जो उसके बहुत से प्रशंसकों की दृष्टि में उसका प्रधान गुण था। उसक महान् पुत्र चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में हम जानते हैं कि उसने उज्जयिनी के आख्यान-प्रसिद्ध विक्रमादित्य का स्मरण कराने वाली विक्रमादित्य की उपाधि धारण की, और

---

१. Cf. Vāmana's evidence; Smith, EHI. pp. 346 ff.

यह कहना बहुत कुछ ठीक प्रतीत होता है कि कवियों के आश्रयदाता के रूप में विक्रमादित्य की ख्याति, जिसकी पुष्टि परवर्ती एव नवरत्नों[1] के तत्त्वहीन आख्यान से होती है, वास्तव में चंद्रगुप्त की सभा की साहित्यिक विशेषता के ही कारण थी। इन रत्नों की सूची में धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि आते हैं। इनमें से आयुर्वेदिक निघण्टु के रचयिता धन्वन्तरि अमरसिंह से प्राचीन हैं, जिन्होंने कालिदास का भी उपयोग किया था; चतुर्थ और पञ्चम केवल नाम ही हैं; वराहमिहिर निश्चित रूप से छठी शताब्दी में वर्तमान थे, और कोशकार के रूप में क्षपणक का तथा वररुचि का काल अज्ञात है। परन्तु चन्द्रगुप्त के कवियों के आश्रयदाता होन के विचार का स्पष्ट समर्थन हमें इस तथ्य में प्राप्त है कि उसके परराष्ट्र-मंत्री, वीरसेन कौत्स शाब, की काव्य में रुचि थी। उसके उत्तराधिकारी सम्राटों ने भी सम्भवतः काव्य में वैसी ही अभिरुचि प्रकट की। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि नाटच भी उनके आश्रय में अवश्य पनपा होगा; यह भी विचार प्रकट किया गया है कि चंद्रगुप्त की उपाधि, रूपकृती, नाटचकार का अर्थ सूचित करती है; इससे चन्द्रगुप्त नाटचकार के रूप में हर्ष के पूर्ववर्ती हो जाते हैं; परन्तु 'रूपकृतिन्' शब्द की उक्त व्याख्या की सत्यता शङ्का से रहित नहीं है। यह तो निश्चित ही है कि संस्कृत मुख्यतया राजसभा तथा विद्वज्जनों की भाषा थी; वसुबन्धु और असङ्ग जैसे बौद्ध विद्वान् भी अपने सिद्धान्तो के सम्मानपूर्वक सुने जाने के लिए वस्तुतः इसका आश्रय लिया करते थे। विरोधी सम्प्रदायो में होने वाले शास्त्रार्थ सम्भवतः काफी मित्रता-पूर्ण वातावरण में होते थे; ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं में व्याख्यात सांख्यदर्शन वसुबन्धु के विशेष आक्षेपो का लक्ष्य था, और हो सकता है कि समुद्रगुप्त की ऐसे विषयों में रुचि वसुबन्धु द्वारा ही जागरित की गई हो।

२. हरिषेण और वत्सभट्टि

सौभाग्यवश दो प्रशस्तियों के सुरक्षण से गुप्तकाल की कविता के सम्बन्ध में रोचक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने में हम समर्थ हो सके हैं। इन प्रशस्तियों में लगभग एक शताब्दी का अन्तर है। इनमें से प्रथम इलाहाबाद के एक स्तंभ पर खुदी हुई हरिषेण द्वारा रचित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति है, जो सम्भवतः

१. Weber, ZDMG. xxii. 708 ff.; Zachariae, *Dieindischen Wörterbücher*, pp. 18 ff.; Fleet, IA. xxx. 3 f.

३४५ ई०[1] की है, और द्वितीय ४७३–४ ई० में लिखा हुआ मंदसोर के सूर्य-मन्दिर में वत्सभट्टि का अभिलेख है। केवल ये अभिलेख ही यह भली प्रकार सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि गुप्त-राज्य के सम्पूर्ण काल में विकसित काव्य के ढंग की कविता वर्तमान थी और प्रथम प्रशस्ति का लेखक, हरिषेण, समुद्रगुप्त का परराष्ट्रमन्त्री और सेनापति होते हुए भी वास्तव में एक विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न कवि था।

हरिषेण की कविता में गद्य तथा पद्य दोनों के होने पर भी उसे अभिलेख में काव्य की संज्ञा दी गई है। इसकी रचना सुबन्धु और बाण के गद्य-काव्यों में अपनाये गये राजाओं के वर्णन के सदृश है, जिसमें सब कुछ एक ही लम्बे वाक्य में भरा रहता है, जो एक के बाद एक आने वाले सम्बन्धवाचक अवान्तरवाक्यों, विशेषणों और वर्णनात्मक शब्दों से बनता है। हरिषेण की प्रशस्ति में पूरी कविता एक ही वाक्य है, जिसमें पहले आठ पद्य कविता के हैं, फिर गद्य में लिखा हुआ एक लम्बा वाक्य है और अन्त में एक समाप्ति का पद्य है। कविता की कल्पना भी उसके बाह्यरूप से कम जटिल नहीं है, क्योंकि कवि का कल्पना-चातुर्य स्तम्भ को सम्राट् की कीर्ति से सम्बन्धित करने में अपेक्षित प्रयत्न के समकक्ष ही है। जैसा कि प्राय: काव्य में प्रचलित है, कीर्ति स्त्रीरूप में मानी गई है और ऐसी कल्पना की गई है कि पूरे संसार को आलिङ्गन करने के बाद उसके लिए पृथ्वी पर बिलकुल स्थान नहीं रहता। अत: स्तम्भ के रास्ते वह ऊपर देवलोक तक चली जाती है। वहाँ वह स्वर्गङ्गा के रूप में प्रकट होती है और उसी नदी की भाँति पवित्र वह कीर्ति द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी को आप्लावित करती है। छन्द कल्पना से कम जटिल नहीं है; सुरक्षित सात श्लोकों में चार छन्द हैं, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, मद्राक्रान्ता और पृथ्वी। शैली स्पष्ट और निश्चित रूप से वैदर्भी या दाक्षिणात्या है; पद्यों में लम्बे समास नहीं हैं, जब कि गद्य उनसे भरपूर है, जिनमें से एक समास में १२० अक्षर हैं, किन्तु यह कहना उचित होगा कि उन्हें समझना कठिन नहीं है। शब्दालंकारों में अनुप्रास का प्रयोग किया गया है, किन्तु बहुत कम; अर्थालङ्कारों में रूपकों का प्रयोग सबसे अधिक है और उपमा तथा श्लेष का बहुत कम, जैसा कि समुद्रगुप्त के इस विशेषण में 'साध्वसाधूद्य-प्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य', 'सज्जनों के उदय और दुर्जनों के विनाश के हेतु अचिन्तनीय पुरुष (और इस प्रकार अचिन्तनीय परम पुरुष की प्रतिमूर्ति,

१. Cf. Gawroński, *Festschrift Windisch*, pp. 170ff.; *The Digvijaya of Raghu* (1915); Bühler, *Die indischen Inschriften* (1890); Smith, EHI. pp. 298 ff.

जिस परम पुरुष में अच्छाई और बुराई दोनों रहती हैं और जो संसार की सृष्टि और विनाश का हेतु है)।' परन्तु हरिषेण इस प्रकार के प्रयोग बहुत कम करता है; वह अपना कौशल चातुर्यपूर्ण नवीन कल्पनाओं से प्रकट करता है, और अपनी उस सावधानी से भी, जिससे उसके लम्बे समासों के बीच में छोटे-छोटे शब्द आकर पढ़ने वाले व्यक्ति को साँस लेने का और श्रोता को अर्थ समझने का समय देते हैं। इसी प्रकार छन्द का अधिकाधिक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए समासों में चतुराई से शब्दों को सजाने में भी उसका कौशल परिलक्षित होता है। शब्दों का सुन्दर चुनाव और उनको सजाने का चातुर्य पद्यों में भी उतना ही दृष्टिगत होता है। उनमें से एक तो सर्वश्रेष्ठ भारतीय प्रभावोत्पादक लघु शब्द-चित्रों में रखा जाने योग्य है, जिसमें उस दृश्य का वर्णन है जब उसके प्रतिद्वन्द्वियों और राजसभा के सम्मुख चंद्रगुप्त अपनी वृद्धावस्था में समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करता है:

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति॥

'सभासदों के उच्छ्वसित होने पर 'आर्य' इस प्रकार सम्बोधन करके, भावों को प्रकट करने वाले पुलक से युक्त पिता ने समान कुल वालों के म्लान मुखों से देखे गए जिन (समुद्रगुप्त) का आलिङ्गन किया, और स्नेह से चञ्चल, अश्रुपूर्ण, एवं तत्त्वदर्शी नेत्र से जिनको देखकर इस प्रकार कहा "सारी पृथ्वी की रक्षा करो।"'

वत्सभट्टि की रचना इससे नितान्त भिन्न है[१]। वह किसी सम्राट् का मन्त्री नहीं था, अपितु एक मामूली स्थानीय कवि था, जो एक प्रान्तीय नगर के रेशम के बुनकरों के संघ के लिए रचना करके पारिश्रमिक प्राप्त करने में ही प्रसन्न था। उसके सम्बन्ध में रोचक बात यह है कि वह अपने समय में काव्य के प्रचार का प्रमाण उपस्थित करता है; 'पूर्वा' यह विशेषण उसकी कविता के पर्याप्त वर्णन के रूप में प्रयुक्त किया गया है। उसके साथ के छूटे हुए 'प्रशस्ति' शब्द का अध्याहार तात्कालिक कविता से परिचित लोग स्वभावतः अपनी ओर से कर लेते थे। वत्सभट्टि का कहना है

---

१. Bühler, *Die indischen Inschriften.* pp. 31. ff.

कि उसकी रचना प्रयत्न अथवा सावधानी के साथ (यत्नेन) की गई थी, और इस तथ्य के लिए अपेक्षित प्रत्येक साक्ष्य मौजूद है। अलङ्कार-शास्त्र के नियमों के अनुसार वह अपने ४४ श्लोकों में लाट देश और दशपुर नगर के, तथा ऋतुओं में शिशिर और वसन्त के, वर्णनों का सन्निवेश करता है, और बारह प्रकार के छन्दों के प्रयोग से पद्यरचना में अपने चातुर्य का प्रदर्शन करता है, यद्यपि यति-भङ्ग की बहुलता के कारण उसकी पद्य-रचना का प्रभाव बहुत कुछ नष्ट हो गया है। उसकी शैली पूर्वी या गौड़ी है, जैसा कि पद्यों में दीर्घ समासों के प्रति उसके अनुराग से, और एक ही पद्य में बदलते हुए रस के अनुकूल विभिन्न पादों में वर्णों की योजना के ढंग से स्पष्टतया सिद्ध होता है; वह नायक की मृदुता के वर्णन में कोमल तथा श्रुतिमधुर वर्णयोजना से प्रारम्भ करके उसी को द्विड्दृप्तपक्षक्षपणैकदक्षः (शत्रु के अभिमानी पक्ष के नाश करने में अद्वितीय) इस प्रकार उद्घोषित करते हुए श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग करता है। उसके अनुप्रास, उपमा और रूपक काव्य-शैली में बाहुल्येन उपलब्ध ढंग के ही हैं, किन्तु उसकी काव्य-चातुरी हीन कोटि की है और उसकी कविता का सौन्दर्य पुनरुक्तियों से जैसे कि तुल्योपमानानि में, पादपूरणार्थक शब्दों अथवा निरर्थक निपातों से जैसे ततस्तु में, या उपसर्गों से जैसे अभिविभाति में, या शब्दों से जैसे समुद्भ्रान्त में, बिगड़ गया है। साथ ही अपेक्षित नपुंसक लिङ्ग के स्थान में स्पृशन्निव और न्यबसन्त व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं। परन्तु उसकी प्रशस्ति संस्कृत काव्य के व्यापक अनुशीलन का बहुमूल्य साक्ष्य है और इससे हमें भारतवर्ष के महत्तम कवि का समय निश्चित करने में निश्चित रूप से विशेष सहायता मिलती है।

३. कालिदास का जीवन

परवर्ती स्रोतों से कालिदास[1] के जीवन और चरित्र के संबंध मे हमें कोई महत्त्वपूर्ण बात ज्ञात नहीं होती। छोटी-छोटी कहानियाँ प्रचलित हैं कि वे पहले अत्यन्त मूढ़ थे, और उन्होंने काली के प्रसाद से कविता में कुशलता प्राप्त की, जिसका आधार स्पष्टतः उनका नाम कालिदास 'काली का दास' है। ऐसा भी कहा जाता है

---

१. उनके समय के लिए देखिए Liebich, IF xxxi. 198 ff.; Keith, *Sanskrit Drama*, pp. 143 ff.; Hillebrandt, *Kālidāsa* (1921). S. Ray (POCP. 1919, i, p. lix) उनको अग्निमित्र का राजकवि मानते थे (लगभग १५० ई० पू०), किन्तु K. G. Sankar (IHQ. i. 309 ff.) उनको ७५ ई० पू० से २५ ई० पू० के बीच में रखते हैं।

कि वे, किसी स्थिति का वर्णन करने या किसी अपूर्ण श्लोक को पूरा करने के लिए कहे जाने पर, तत्काल कविता बनाने का विलक्षण चातुर्य दिखाते थे। एक दूसरा अधिक विस्तृत उपाख्यान[1] लङ्का में, जब कि वे राजा कुमारदास के अतिथि थे, एक लोभी वेश्या द्वारा उनकी हत्या का वर्णन करता है। इस कथन को स्वीकार करने के लिए कुछ भी आधार नहीं है, और न कालिदास के समय के विषय में इससे कोई सूचना ही मिल सकती है। इस मत में कालिदास की लंका-यात्रा हूणों के आक्रमण के कारण मानी जाती है। दूसरी ओर, स्वयं उनकी कविताएँ और विशेषतया रघु की विजयों का वर्णन काश्मीर का चन्दन, ताम्रपर्णी के मोती निकालने के स्थान, हिमालय के देवदारु, कलिङ्ग के ताम्बूल तथा नारिकेल, और सिन्धु की सैकत-भमि जैसे बहुत से भारतीय दृश्यों से उनके घनिष्ठ परिचय को प्रमाणित करते हैं। परन्तु समुन्द्रगुप्त की उस महान् विजय-यात्रा में, जिसमें उसने भारत में अपनी सर्वोपरि शक्ति के प्रतीकस्वरूप अश्वमेध याग करने का अधिकार प्राप्त किया था, कालिदास के भाग लेने का कथन सन्देह से शून्य नहीं है।

तो भी कालिदास को गुप्तशक्ति के उत्कर्ष के काल से पृथक् करना कठिन है। वे अश्वघोश और नाटचकार भास के परवर्ती थे; वे ग्रीक शब्दों से परिचित थे, जैसा कि उनके जामित्र के प्रयोग से सिद्ध होता है; उनके नाटकों की प्राकृत निश्चितरूप से अश्वघोष तथा भास की प्राकृत से बाद की है, और उनको गुप्तों के समय से पूर्व नहीं रखा जा सकता। उनका ब्राह्मण धर्म के विधान को पूर्णतया स्वीकार करना, सम्पत्ति तथा शक्ति के वातावरण में रहने की भावना, **मालविकाग्निमित्र** में अश्वमेध याग का उल्लेख, रघुवंश में रघु की विजय, इन सबको एक महान् गुप्त शासक के समाश्रय पाने के आनन्द के परिणाम के रूप में ही ठीक तरह से समझाया जा सकता है, और हमें ध्यान रखना चाहिए कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी, जिसके साथ परम्परा बराबर कालिदास का सम्बंध जोड़ती आई है। और **कुमारसम्भव** इस नाम से युवराज कुमारगुप्त का संकेत देखना अथवा **विक्रमोर्वशीय** इस नाम में विक्रमादित्य इस उपाधि का उल्लेख देखना भी असंगत नहीं है। हूणों को हराने वाले यशोधर्मन् को अनुश्रुति का विक्रमादित्य बना कर छठी शताब्दी में कालिदास का निर्देश करने का प्रयत्न किया गया है[2], परन्तु अब इस मत को

---

१. Geiger, *Lit. und Sprache der Singhalesen*, pp. 3. ff.; Rhys-Davids, JRAS. 1888, pp. 148 ff.; Bendall, p. 440; Nandargikar, *Kumāradāsa*, pp. V ff.; Vidyabhusana, POCP. 1919, i. p. clxxii.

२. Hoernle, JRAS. 1909, pp. 89 ff.

कोई नहीं मानता। परन्तु अपेक्षाकृत इस दृष्टि के प्रति अधिक अभिरुचि[1] दिखाई गई है कि कालिदास कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के शासनकाल में जीवित थे, और इस विचार का मुख्य आधार यह है कि मल्लिनाथ तथा दक्षिणावर्तनाथ मेघदूत के चौदहवें पद्य में बौद्ध तार्किक दिङ्नाग का एक विरोधी आक्षेपकर्ता के रूप में निर्देश करनेवाले श्लष को कालिदास पर आरोपित करते हैं, और रघुवंश में हूणों तथा वंक्षु नदी का स्वयं कालिदास द्वारा उल्लेख उस समय का निर्देश करता है जब कि ये लोग स्कन्दगुप्त द्वारा हराए जाने के ठीक पहले ऑक्सस (oxus) घाटी में ही वर्तमान थे। मेघदूत में उक्त अभव्य संकेत की गंभीर असभाव्यता से और यदि वह ठीक भी हो तो दिङ्नाग का समय ४०० ई० के बाद रखने की अनावश्यकता से प्रथम तर्क अप्रमाणित हो जाता है। दूसरा तर्क कालिदास पर ऐतिहासिक यथार्थता को प्राप्त करने की इच्छा का आरोप करता है, जो उनके काव्य-लक्ष्य से बिलकुल ही असंबद्ध है। साथ ही वह उनके द्वारा किए गए उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर स्थित ग्रीक लोगों, पारसीकों, काम्बोजों और हूणों[2] के उल्लेख के साथ असङ्गत है। कालिदास ने अपने जीवन में हूण विजयों को देखा हो यह बिलकुल असंभावित है। साथ ही उज्जयिनी के लिए उनका स्पष्ट प्रेम सूचित करता है कि चन्द्रगुप्त के संरक्षण में उन्हों ने अपना काफी समय वहाँ व्यतीत किया था।

उक्त परिणाम की पुष्टि वत्सभट्टि से प्राप्त साक्ष्य से भी होती है। उसके दो पद्य इस प्रकार हैं :

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥

कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्या-
न्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि ।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्र-
कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि ॥

'जहाँ अत्यधिक शुभ्र, अत्यन्त ऊँचे, उड़ती हुई पताकाओं वाले और अबलाओं से युक्त गृह विद्युल्लता से चित्र-विचित्र श्वेत जलदखण्डों से स्पर्धा करते हैं। कुछ अन्य गृह कैलास पर्वत के ऊँचे शिखरों के समान शोभित हैं, जो दीर्घ वलभियों

---

१. Gawroński, *The Digvijaya of Raghu*, pp. 1 ff.; Smith, EHI. p. 321, n. 1.

२. रघुवंश में पाया जाने वाला यह शब्द सम्भवतः प्रारम्भ में द्वितीय शताब्दी ई० पू० के ह्युंग-नू (Hiung-nu) के लिए प्रयुक्त किया गया था।

और वेदिकाओं से युक्त, संगीत के शब्द से मुखर तथा चित्रकर्म से युक्त हैं, एवं चञ्चल कदली के बनों से शोभित हैं।' ये पद्य मेघदूत के ६५वें पद्य को अधिक परिष्कृत करने के प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझे जा सकते:

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥

'जहाँ प्रासाद प्रत्येक विशेषता में तुम्हारी बराबरी कर सकते हैं: उनकी सुन्दर स्त्रियाँ तुम्हारी विद्युत् से, उनके चित्र तुम्हारे इन्द्रधनुष् से, संगीत के लिए ताड्यमान उनके मुरज तुम्हारे स्निग्ध और गम्भीर घोष से, उनके मणिमय फ़र्श तुम्हारे जल से और आकाश को छूने वाले उनके शिखर तुम्हारी ऊँचाई से स्पर्धा कर सकने में समर्थ हैं।' यह कल्पना करना हास्यास्पद है कि कालिदास एक अप्रसिद्ध तुकबंदी करने वाले कवि के उक्त बेढङ्गे पद्यों से परिचित थे और उन्होंने उनको अपने अकृत्रिम सौन्दर्ययुक्त पद्य में परिवर्तित कर दिया; इसके विपरीत ऐसा मानना कि एक स्थानीय कवि ने उज्जयिनी के एक महान् कवि के पद्य को अपनाकर उसे परिष्कृत करने का प्रयत्न किया, पूर्णतः स्वाभाविक है। यदि इसकी पुष्टि की आवश्यकता हो, तो वह इस तथ्य[१] से हो सकती है कि अभिलेख का ३१वाँ पद्य ऋतुसंहार के पाँचवें सर्ग के दूसरे और तीसरे पद्यों से इसी प्रकार का सम्बन्ध रखता है। अतः कालिदास का समय ४७२ ई० से पूर्व है, और संभवतः उससे भी पहले है, जिससे ४०० ई० के लगभग उन्हें रखना पूर्णतया न्याय्य प्रतीत होता है।[२]

४. ऋतुसंहार

हाल में ही[३] ऋतुसंहार ऋतुओं का पर्याय, को कालिदास की युवावस्था की

१. Kielhorn, GN. 1890, pp. 251 ff.

२. उत्तरकालीन सम्राटों के लिए, देखिए R. C. Majumdar, JPASB. 1921, pp. 249 ff.

३. Walter, *Indica*, iii, 6 ff.; Nobel, ZDMG. lxvi. 275 ff.; JRAS. 1913, pp. 401 ff.; Hari Chand, *Kālidāsa*, pp. 240 ff. इसके विरुद्ध Keith, JRAS. 1912, pp. 1066 ff.; 1913, pp. 410 ff.; Hillebrandt, *Kālidāsa*, pp. 66 ff. अन्य विद्वानों के साथ Kielhorn, Bühler, Hultzsch, Macdonell, von Schroeder इसको कालिदास द्वारा रचित स्वीकार करते हैं; अनेक संस्करण, e. g. Gajendragadkar, 1916.

रचना ठहराने वाले भारतीय मत के संबंध में कई आधारों पर आक्षेप उपस्थित किये गये हैं। इस प्रकार यह आक्षेप किया जाता है कि यह कविता कालिदास के नैतिक गुणों से रहित है, बहुत साधारण होने के साथ-साथ वैचित्र्य-से रहित है और समझने में बहुत सरल है। इसका सीधा उत्तर यह है कि एक कवि की युवावस्था और प्रौढावस्था में बड़ा भारी भेद होता है, और यह कि Virgil, Ovid, टेनिसन (Tennyson) या गेठे (Goethe) की युवावस्था की कृतियों और उनकी प्रौढावस्था की कविताओं में उतना ही भेद है जितना कि कालिदास की प्राथमिक तथा उनकी अन्य रचनाओं के मध्य में। ऐसा तर्क करना भी व्यर्थ है कि संस्कृत के कवि अन्य कविओं से भिन्न थे, क्योंकि वे आवश्यक रूप से विद्वान् और कृत्रिमतायक्त होते थे; उल्लिखित कवि निश्चित रूप से एकही ढंग के हैं। वे बराबर अपनी कला की साधना में लगे रहे और अंत में अपनी प्रौढावस्था में वे उन रचनाओं को कर सके जिनके कारण उनकी युवावस्था के प्रयत्न बचपन की मूर्खता के समान प्रतीत होते हैं। वास्तव में ऋतुसंहार कालिदास के सर्वथा योग्य है, और, यदि वह काव्य उनकी कृति न ठहराया जाए तो उनकी प्रसिद्धि को यथार्थ रूप में हानि पहुँचेगी। मल्लिनाथ ने उनके अन्य तीन काव्यों पर टीका लिखी, परन्तु इस पर नहीं लिखी, इस आपत्ति का समाधान इस विचार से हो जाता है कि इसकी सरलता के कारण उस विद्वान् टीकाकार को इसकी टीका करना खिलवाड़ के समान प्रतीत हुआ। अलंकार-शास्त्र के लेखक ऋतुसंहार में से उद्धरण नहीं देते, इस बात का भी सीधा उत्तर इसी तथ्य में निहित है; ये लेखक साधारण वस्तु में ज़रा भी रुचि नहीं प्रदर्शित करते, और उदाहरणों के दिखाने के लिए वे बाद की कविताओं से भरपूर सामग्री प्राप्त कर सकते थे। इस संबंध में सौंदर्यशास्त्र-संबंधी तर्क तो और भी अधिक निकम्मे हैं; ऐसा दोषारोपण किया जाता है कि कवि ने ऋतुसंहार का आरम्भ ग्रीष्म से किया है, जब कि सामान्यतः वसन्त से वर्ष का आरम्भ होना चाहिये था। पर ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि कालिदास किसी पञ्चाङ्ग की या Shepheard's Calendar जैसे काव्य की रचना नहीं कर रहे थे। एक आपत्ति यह की जाती है कि प्रथम सर्ग में उष्णता अथवा उससे संबंध रखने वाले 'तप्' धातु से निष्पन्न शब्दों का सात बार प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ मानो यह हुआ कि ग्रीष्मऋतु के साथ उक्त प्रयोगों का वैसा ही सामञ्जस्य नहीं है जैसा कि वर्षा ऋतु के साथ उत्सुकता

का और शरद् के साथ उत्कण्ठा का। इस कथन के कारण कवि की निन्दा की गई है कि हंस गति-सौंदर्य में युवतियों से श्रेष्ठ हैं और शाखाएँ उनकी भुजाओं के सौन्दर्य का अपहरण करती हैं; बाद में उन्होंने कभी ऐसी अशिष्टता नहीं दिखाई। बादलों के वर्णन में वे विद्युत् पर लता का आरोप करते हुए रूपक का सांकर्य उपस्थित कर देते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, वत्सभट्टि ने इस शब्दसमुदाय को यहीं से लिया है, और उन्होंने ऋतुसंहार के दो अन्य श्लोकों का भी उपयोग किया है, जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है और इसका कालिदास रचित होना बहुत अधिक सम्भव ही जाता है। यह आपत्ति की जाती है कि वे इसमें पञ्चमी के स्थान में केवल 'आ मूलतः' जैसा प्रयोग करते हैं, यद्यपि उन्होंने इसी प्रकार केवल एक ही बार **कुमारसम्भव** में 'आमेखलम्' का प्रयोग किया है; सात धातु-रूपों (२।१९) का अभिनवत्व और सौन्दर्य अद्वितीय है, और इसलिए यह कालिदास की रचना नहीं है। अलङ्कारों के परिष्कृत प्रयोग का अभाव भी उनके कर्तृत्व को अप्रमाणित करने के लिए उपन्यस्त किया जाता है, और पुस्तक के नाम में 'संहार' शब्द के विलक्षण प्रयोग पर आपत्ति की गई है। सौभाग्य से कवि अपने को तोतों की भांति बद्ध अनुभव नहीं करते।[1]

ऋतुसंहार में ऋतुओं के केवल बाह्य रूप का ही वर्णन नहीं है। कालिदास सूक्ष्मनिरीक्षण और प्रकृति के साथ भारतीय कवियों की स्वाभाविक प्रेममय सहानुभूति का प्रदर्शन करते हैं। सारी कविता में वे युवक और युवती अथवा पति और पत्नी के प्रेम के साथ ऋतुओं के विभिन्न परिवर्तनों के सम्बन्ध पर बल देते हैं। यद्यपि ग्रीष्म के दिवस भारस्वरूप होते हैं, तथापि रात्रियाँ अधिक आनन्दप्रद होती हैं, जब कि चन्द्रमा चमकता है और शीतलता पृथ्वी में नवीनता का सञ्चार करती है; अर्धरात्रि में युवक लोग गीत, नृत्य तथा सुरा में आनन्द का अनुभव करते हैं; युवकों के प्रेम की ईर्ष्या से शोकाकुल चन्द्रमा छिप जाता है। वर्षाकाल राजा के रूप में आता है, बादल ही उसके हाथी हैं जिन पर वह आरूढ़ है, बिजली उसकी पताका और गर्जन उसकी दुन्दुभि है। पर्वत-शिखरों का चुम्बन करने के लिए झुकते हुए बादलों के दृश्य से प्रेम का भाव जागरित हो उठता है। गन्नों के वस्त्रों को धारण किए, पकते हुए धानों की करधनी पहने और कमल-पुष्पों के मुख वाली शरद् एक युवती वधू की

१. उनकी विकसित शैली वसन्त (कुमारसम्भव ३; रघुवंश ९) और ग्रीष्म (रघुवंश १६) के उनके चित्रों में दिखाई देती है।

भांति आती है। हेमन्त की शीतलता प्रेमियों के आलिङ्गनों को और भी अधिक अभिमत, प्रगाढ़, तथा प्रेममय बना देती हैं। शिशिर में रातें ठंडी होती हैं, चन्द्रमा की शीतलता सिहरन पैदा करती है, प्रेमीजन अपने कमरे की खिड़की बन्द कर देते हैं, अपने को वस्त्रों में लपेट कर उष्णता का अनुभव करते हैं, और सूर्य की अभी तक क्षीण किरणों का प्रत्येक क्षण आनन्द लेते हैं या अग्नि के समीप आराम से बैठते हैं। परन्तु वसन्त उनके लिए तथा सम्पूर्ण प्रकृति के लिए नवजीवन तथा आनन्द लाता है; अब हम समझते हैं कि कवि ने कविता को ग्रीष्म से क्यों आरम्भ किया है; इससे वे उस ऋतु में वर्ष की समाप्ति कर सकते हैं, जिसमें नववर्षारम्भ के सामञ्जस्य में युवकों का प्रेम पूर्णता को प्राप्त करता है। यह काव्य प्रत्येक पंक्ति में यौवन की अभिव्यक्ति करता है; इसमें नैतिक संस्पर्श का अभाव[1] युवकों के दृष्टिकोण से पूर्णतया मेल खाता है। यद्यपि कालिदास ने आगे चलकर अत्यन्त सुन्दर कविता लिखी, परन्तु उनकी प्रसाद गुण की वह पूर्णता नष्ट हो गई, जिसके कारण आधुनिक रूचि वाले लोगों के लिए ऋतुसंहार एक विशेष आकर्षण है, भले ही अलङ्कारशास्त्र के लेखकों को यह गुण रुचिकर न रहा हो।

५. मेघदूत

ऋतुसंहार की तुलना में **मेघदूत**[2] निस्सन्देह कालिदास की प्रौढ काल की रचना है। केवल यही तथ्य, कि वे मन्दाक्रान्ता जैसे जटिल छन्द को उसके लिए अपनाते हैं और कहीं कहीं विद्यमान परुषता को छोड़ कर सारे **मेघदूत** में उसका अच्छी तरह से निर्वाह करते हैं, इस बातका निर्णायक प्रमाण है कि वे अब कोई नौसिखिए नहीं थे, यद्यपि हम इस बात को संभव मान सकते हैं कि वे इस छन्द की कौशलपूर्ण रचना द्वारा अपनी योग्यता को सदा के लिए स्थापित करना और अपने को एक महाकवि के रूप में प्रदर्शित करना चाहते थे। यह हो सकता है कि कथा-वस्तु का सुझाव उन्होंने **रामायण** से लिया हो[3], जिसमें अपहृत सीता के लिए राम की गहरी व्याकुलता अपनी पत्नी के लिए विरही यक्ष के शोक का स्पष्टतः

---

१. Stenzler, ZDMG. xliv. 33, n. 3.

२. Ed. E. Hultzsch, London, 1911 (with Vallabhadeva's comm.); ed. and trans. Pathak, Poona, 1916; ed. TSS. 54, 1919.

३. कामविलाप जातक (ii 443) में इससे एक बहुत दूर का सादृश्य पाया जाता है।

मूलरूप उपस्थित करती है, और उसके चतुर्थकाण्ड के अट्ठाईसवें सर्ग के वर्षा-वर्णन में मेघदूत के साथ अनेक प्रकार की समानता पाई जाती है। परन्तु उस विचार को विशेष मौलिकता तथा सौन्दर्य के साथ निभाया गया है। कर्तव्य-च्युत होने पर अपने स्वामी शिव (? कुबेर) द्वारा एक वर्ष के लिए निर्वासित एक यक्ष को वर्षाकाल के आगमन से अपनी पुरी अलका में विरहविधुरा अपनी पत्नी का स्मरण आता है, और वह उधर से जाते हुए एक मेघ से अपनी पत्नी के पास अपनी कुशलता का समाचार ले जाने और अपने सच्चे प्रेम का विश्वास दिलाने की प्रार्थना करता है। यक्ष के निर्वासन-स्थान रामगिरि से मेघ को, बलाकाओं तथा मानसरोवर को जानेवाले राजहंसों के साथ, माल प्रदेश और वहाँ से आम्रकूट को जाने के लिए कहा जाता है। तदनन्तर उसे विदिशा नगरी वाले दशार्ण देश को जाना है, और फिर निर्विन्ध्या तथा सिन्ध को पार करके उज्जयिनी को जाने से पूर्व वेत्रवती नदी का जल पीना है। उसको महाकाल के मन्दिर का दर्शन अवश्य करना है, चर्मण्वती को पार करना है, और दशपुर को पार करने के उपरान्त पवित्र ब्रह्मावर्त्त में पहुँचना है। वहाँ मेघ अर्जुन के महान् कार्यों की भूमि कुरुक्षेत्र के दर्शन करेगा और सरस्वती के उस जल को पियेगा, जिसके लिए बाँधवों की प्रीति के कारण युद्ध से विरत बलराम ने अपनी प्रिय सुरा का त्याग कर दिया था। वहाँ से उसे उस स्थान को जाना चाहिए जहाँ गङ्गा कनखल पर्वत के समीप हिमालय से उतरती है, और फिर क्रौञ्च पर्वत के उस दर्रे से, जिसको परशुराम ने दक्षिण जाने के लिए मार्ग के रूप में परिणत कर दिया था, कैलास जाना है। तब मानसरोवर का जल मेघ की क्लान्ति दूर करेगा। पर्वत के शिखर पर अलका है जहाँ यक्ष की प्रियतमा वास करती है। उस दिव्य नगरी के आमोद-प्रमोद का पूर्णरूप से वर्णन किया गया है, और तब कवि मेघ के सम्मुख उस घर का वर्णन करता है जिसको उसे ढूँढना है। वह घर अपने तोरण द्वारा बहुत दूर से लक्षित होता है; उसके उद्यान में स्वामिनी का प्रिय मन्दार का वृक्ष है, और मरकत मणि की सीढ़ियाँ एक वापी तक पहुँचती हैं, जिसमें सुनहरे कमल खिले हुए हैं, और जिसमें रहने वाले प्रसन्न हंस अपने प्रिय मानसरोवर का भी स्मरण नहीं करते। वहाँ यक्ष की विषादयुक्त, वियोग से दग्ध और दुर्बल शरीर वाली प्रियतमा अनेक उपायों से अपने पति के लौटने तक लम्बे दिनों को व्यतीत करने के प्रयत्न में संलग्न है। मेघ को उसे निद्रा से जगाना है और उसके पति का, प्रेम

के कोमल भावों से परिपूर्ण, संदेश देना है, तथा उसके प्रेम का आश्वासन और पुर्नमिलन का विश्वास दिलाना है।

प्रथम दृष्टि में यक्ष की उत्कण्ठा में अवास्तविकता का आभास होने के कारण कविता का प्रभाव नष्ट हो गया प्रतीत होता है, क्योंकि यक्ष का वियोग केवल अस्थायी है और उसे शिव (? कुबेर) का भृत्य होने से वास्तव में अपनी अनुपस्थिति के कारण अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध में न मृत्यु का और न किसी अन्य हानि का भय हो सकता है। शिलर (Schiller) के मैरिया स्टुअर्ट (Maria Stuart) की भांति विवशता अथवा निराशा से अनिवार्य मत्युदण्ड की प्रतीक्षा करते हुए किसी निरुपाय वन्दी के द्वारा यदि मेघदूत जैसा सन्देश भेजा गया होता तो उसका बिलकुल दूसरा ही प्रभाव होता। परन्तु इस कविता को उचित रूप से समझने के लिए हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कालिदास के अनुसार, जैसा कि उत्तरकालीन लेखक स्पष्ट रूप से कहते हैं, कवि का कर्तव्य अर्थ की अभिव्यञ्जना करना है, न कि उसे स्पष्टरूप से कह देना। दो अमरों का प्रेम मानवी प्रेम का प्रतीक है; सम्भवतः इस विषय में कालिदास का कुछ निजी अनुभव था[1], जिसको यह कविता सूचित करती है, क्योंकि जैसा स्पष्ट चित्र वे यक्ष के निवासस्थान का खींचते हैं उससे प्रतीत होता है कि वह यथार्थ जीवन से लिया गया है। इस सम्बन्ध में किसी निश्चय तक पहुँचना कठिन है, परन्तु प्रत्येक अवस्था में मेघ के मार्गवर्णन की उज्ज्वलता और शोकाकुल तथा विरहिणी यक्षपत्नी के चित्रण के कारुण्य की जितनी भी प्रशंसा की जाय कम है। भारतीय आलोचकों ने अभिव्यक्ति की संक्षिप्तता, विषय की समृद्धता और भावों को उद्बुद्ध करने की शक्ति के कारण मेघदूत को कालिदास के काव्यों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है और यह प्रशंसा किसी प्रकार भी अनुपयुक्त नहीं है।

लोकप्रियता के कारण मेघदूत में अनेक प्रक्षेप मिल गए हैं। इस सम्बन्ध में प्रचुर उल्लेखनीय साक्ष्य प्राप्य है; आठवीं शताब्दी में समस्या-पूरण की कला का उपयोग करते हुए जिनसेन ने स्वपरिचित १२० पद्यों वाले सम्पूर्ण मेघदूत को जैन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के जीवनवृत्त में परिवर्तित कर दिया था[2]; एक तिब्बती[3] अनुवाद के रूप में यह तञ्जूर (Tanjur)

१. Bhau Daji, *Lit Rem.*, pp. 50 f.

२. पाठक का संस्करण (१९१६) इसी पर आधारित है। १२५ पद्यों में लिखे गये विक्रम के नेमिदूत का प्रत्येक पद्य अंशतः प्रक्षिप्त मेघदूत की एक पंक्ति में समाप्त होता है।

३. H. Beckh, *Ein Beitrag zur Textkritik des Kālidāsas Meghadūta* (1907); G. Huth, SBA. 1895, pp. 268 ff., 281 ff; समय तेरहवीं शताब्दी।

में विद्यमान है, और इसका एक सिंहली अनुवाद भी मिलता है; अलङ्कार-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में इसके अनेक पद्य उद्धृत किए गये हैं; बारहवीं शताब्दी में लिखे गये धोयी के **पवनदूत** से लेकर अनेक ग्रन्थों में इसका बार-बार[1] अनुकरण किया गया है; उस शताब्दी से लेकर **मेघदूत** पर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें वल्लभदेव[2] की टीका में १११ पद्य हैं, दक्षिणावर्तनाथ (लगभग १२०० ई०) ने अपनी टीका में ११० पद्य और मल्लिनाथ[3] ने अपनी टीका में ११८ पद्य दिए हैं।

जैसा कि स्वाभाविक है, बहुत से दूसरे गीतिकाव्य भी कालिदास द्वारा रचित बतलाये जाते हैं, जिनमें से दो, घटकर्पर और शृङ्गारतिलक, कुछ वैशिष्ट्यपूर्ण हैं, परन्तु उनके कालिदास द्वारा रचित सिद्ध किए जाने की कोई वास्तविक सम्भावना नहीं है।

६. कुमारसम्भव

यद्यपि भारतीय विद्वान् **मेघदूत** को, जिसकी प्रशंसा गेठे[4] (Goethe) ने भी की है, ऊँचा स्थान देते हैं, तो भी **कुमारसम्भव**[5] विषय की अधिक विविधता, उज्ज्वल कल्पना और दीप्ततर भावों के कारण आधुनिक रुचि के अधिक अनुकूल है। किसी अन्य भारतीय काव्य की अपेक्षा **मेघदूत** को, हेतुपुरस्सर, अंग्रेजी शोककाव्य (elegy) के अधिक समीप बतलाया गया है; **कुमारसम्भव** में वसन्त की रमणीयता और वैवाहिक प्रेम के आनन्द-प्रमोद से लेकर प्रियतम की मृत्यु से उत्पन्न होनेवाली अत्याधिक शून्यता तक की वर्णन की विविधता पाई जाती है। देवाधिदेव

---

१. Aufrecht, NDMG. liv. 616, दूसरे अनुकरणों का भी उल्लेख करते हैं; cf. IHQ. iii. 273 ff.

२. Hultzsch उनको दसवीं शताब्दी में मानते हैं, परन्तु पाठक का संस्करण देखिए, pp. xiv ff. वे बिल्हण और हेमचन्द्र से परिचित हैं, किन्तु ११४० ई० में उनका स्वयं उल्लेख किया गया है।

३. यह प्रसिद्ध टीकाकार, जिसने कालिदास, भारवि, भट्टि और माघ के महाकाव्यों पर और विद्याधर की **एकावली** (see ed., pp. xxiv ff.) पर टीकाएँ लिखी हैं, लगभग १४०० ई० में विद्यमान था। Madras Catal., xx. 7923 में नलोदय पर लिखी हुई उनकी टीका दी हुई है।

४. Cf. von Schroeder, *Indiens Lit. und Cultur*, p. 548.

५. Ed. NSP. 1906; i-viii, TSS. 1913-14; i-vii, trans. Griffith, London, 1879.

शिव का पार्वती से विवाह और युद्ध के देवता स्कन्द की उत्पत्ति कराने वाली घटनाओं से सम्बद्ध इसका कथानक निस्सन्देह साहसपूर्ण है, और आनन्द-वर्धन[1] हमें बताते हैं कि कुछ ऐसे आलोचक भी थे, जो दो देवताओं की रति के चित्रण को अनुचित मानते थे। जब तक हम यह न समझ लें कि मेघदूत की भांति इस महाकाव्य में भी हमें कवि की व्यञ्जना-शक्ति पर ध्यान देना चाहिए, कुमारसम्भव का कथानक स्वभावतः ही आधुनिक रुचि के और भी कम अनुकल दिखाई देता है। शिव और उमा का विवाह कोई साधारण खेल नहीं है, और न वह Zeus और Danae की तरह के या इसी तरह के अन्य अनेक व्यक्तियों के उथले प्रेम की एक कहानी है। उन दोनों के इस संयोग से, संसार के विनाश का भय उपस्थित करने वाले तारकासुर का वध करने के लिए नियत, एक शक्ति उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त, उन दोनों का विवाह और प्रेम मानवीय विवाह और प्रेम के मौलिक आदर्श का काम करते हैं, और देव-सम्बन्धी पूर्व-दृष्टान्त द्वारा उन प्रवृत्तियों में पवित्रता का आधान करते हैं, जो मनुष्य का गृहनिर्माण करती हैं और मानव-जाति के अस्तित्व को बनाये रखती हैं।

कुमारसम्भव का आरम्भ शिव के निवासस्थान, हिमालय, के उज्ज्वल वर्णन से होता है। कालिदास को, बहुत से प्राचीन और अर्वाचीन पाश्चात्य कवियों के विपरित, पर्वतों से घृणा नहीं थी; उनकी कल्पना पर्वतों को उल्लास-वृत्ति देवयोनियों का आवास बनाती है, जो उनकी कन्दराओं में क्रीड़ा करती हैं, जिनके चारों ओर चक्कर काटते हुए बादल, वस्त्रों को उतारती हुई युवतियों के लिए अभीष्ट तिरस्करिणी का काम देते हैं; स्वर्ग से उतरती हुई गङ्गा के निर्झरसीकरों से आर्द्र वायु देवदारु के तनों को झकझोरती है और मृगों का अन्वेषण करते हुए किरातों के स्वल्प आच्छादन रूप मोरपंखों को विश्लिष्ट कर देती हैं। इस निर्व्याज विहार के वातावरण के सर्वथा विपरीत, शिव अत्यन्त गम्भीर समाधि में मग्न बैठे हैं और हिमालय की पुत्री उमा उनकी पूजा के लिए फूल तोड़कर और सेवा के लिए जल तथा कुश लाकर दूसरी सखियों के साथ उनके समीप उपस्थित रहती हैं। दूसरे सर्ग में देवता लोग महान् संकट में फँसे हुए दिखाये गये हैं, क्योंकि तारकासुर उनको संत्रस्त करने के लिए उत्पन्न हो गया है। ब्रह्मा भी इस विषय में कोई सहायता नहीं कर सकते, क्योंकि वे उसको अपना संरक्षण प्रदान

१. iii. 6, p. 137 मम्मट इससे सहमत नहीं हैं।

कर चुके हैं, और अपने द्वारा बढ़ाये गये विषवृक्ष को भी स्वयं काटा नहीं जा सकता। केवल शिव ही सहायता कर सकते हैं, जो यश में ब्रह्मा और विष्णु से भी बढ़ कर हैं, और यदि उमा उनको अपनी ओर आकृष्ट कर सकें, तो उन दोनों से देवताओं के उद्धारक का जन्म होगा। तब इन्द्र उमा की ओर शिव का हृदय आकृष्ट करने के लिए प्रेम के देवता काम से सहायता चाहते हैं। तृतीय सर्ग में, यदि वसन्त के साथ उसकी अपनी प्रिय पत्नी रति उसकी सहायक बने तो, काम को अभीष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिए उद्यत दिखाया गया है। तत्पश्चात् काम के साथ वसन्त के प्रादुर्भत होने पर प्रकृति में उद्बुद्ध नवजीवन और प्रेम का एक उज्ज्वल चित्र उपस्थित किया गया है, परन्तु निवातनिष्कम्प प्रदीप की भाँति, वर्षारहित मेघ की भाँति, शान्त बैठे हुए शिव के दर्शनमात्र से ही काम का हृदय भयभीत हो जाता है और वह साहस खो बैठता है। किन्तु उमा अपनी सखियों के साथ उपस्थित होती हैं, और शिव से उनकी भक्ति-भावना पर ध्यान देने की प्रार्थना की जाती है; शिव को अपने में अद्भुत विकार दृष्टिगोचर होता है और इधर उधर दृष्टिपात करते हुए वे कामदेव को अपने ऊपर भयङ्कर बाण छोड़ने के लिए बिलकुल उद्यत पाते हैं। शिव के नेत्र से निकली हुई अग्निमय दृष्टि काम को भस्मसात् कर देती है। उसके पश्चात् (चतुर्थ सर्ग) अपने मृत पति के लिए विलाप करती हुई रति का एक उज्ज्वल तथा हृदयस्पर्शी करुण चित्र आता है; वसन्त के द्वारा दी गई सान्त्वना को वह स्वीकार नहीं करती; प्रत्युत वह वसन्त से चिता सजाने को कहती है जिससे कि वह अपने पति का अनुसरण कर सके। परन्तु आकाशवाणी उसे ऐसे सांघातिक कृत्य से रोकती है और उसको उसके प्रियतम के साथ उस समय पुनर्मिलन का विश्वास दिलाती है जब कि शिव दयालु होकर उमा को अपनी पत्नी बना लेंगे। रति शोकपूर्ण आशा के साथ जीवित रहती है।

पहला प्रयास असफल होने पर उमा अत्यन्त निराश तथा लज्जित हो जाती हैं। सब लोगों के विरोध करने पर भी वे फलोदय पर्यन्त तप करने का निश्चय करती हैं; ग्रीष्म ऋतु में वे अपने को चारों ओर रखी हुई अग्नियों के भयङ्कर ताप और धम में तपाती हैं, जाड़े में वे बर्फ की भाँति ठंडे पानी में पड़ी रहती हैं, वर्षा में वे अनावृत शिला पर सोती हैं। इन कार्यों में उनके संलग्न रहते हुए एक तपस्वी उनके सम्मुख उपस्थित होता है और उनसे प्रश्न करता है; उमा के सोष्म

निःश्वासों से उसे ज्ञात होता है कि वे किसी के प्रेम में अनुरक्त हैं और उनकी सखियों से वह उस प्रेमी व्यक्ति की जानकारी प्राप्त करता है। वह तपस्वी उमा के अभीष्ट देवता का उद्वेगजनक चित्रण करना प्रारम्भ करता है, परन्तु वे उग्रता तथा तीक्ष्णता के साथ उसके आरोपों का रोषपूर्ण प्रत्युत्तर देती हैं; प्रसन्न होकर वह तपस्वी अपने को साक्षात् शिव के रूप में प्रकट कर देता है (पञ्चम सर्ग)। विवाह के लिए सब कुछ तैयार है, परन्तु उसके पूर्व के धार्मिक दृश्यों के आनन्दप्रद चित्रों में कालिदास हमें उलझाये रहते हैं। अरुन्धती के साथ स्वयं सप्तर्षि शिव की ओर से उमा के पाणि-ग्रहण सम्बन्ध को तय करने के लिए आते हैं; अपने पिता के पार्श्व में अधोमुखी उमा हाथ के लीलाकमल की पँखुड़ियों को गिनती हुई खड़ी रहती हैं, जब कि उनके पिता की दृष्टि अपनी पत्नी की ओर जाती है, क्योंकि कन्या से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में गृहस्थ लोग अपनी पत्नियों की इच्छा के अनुसार चलने के अभ्यस्त होते हैं (षष्ठ सर्ग)। उसके बाद निस्सन्देह सम्राटों के संस्कारो के अनुकरण पर विवरण के अत्यधिक प्राचुर्य के साथ वर्णित विवाह का प्रसङ्ग आता है; आनन्द और शोक के बीच की उद्विग्नावस्था के कारण मैना की दृष्टि अपनी कन्या के माथे पर ठीक तरह से तिलक अङ्कित करने में काम नहीं करती और वे ऊन से निर्मित विवाहसूत्र को स्थानान्तर में बाँध देती हैं, जिसको अधिक शान्त और व्यवहारकुशल धात्री ठीक करती है।

बहुत-सी हस्तलिखित पोथियों में यहीं पर काव्य की समाप्ति हो जाती है; अन्य पोथियों में दस सर्ग और हैं। इन सर्गों में आठवाँ सर्ग कामशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार विवाहित दम्पति के आनन्द-प्रमोद का वर्णन करता है; ऐसी स्पष्टवादिता निस्सन्दिग्ध रूप से पाश्चात्य रुचि के लिए वैरस्योत्पादक है, परन्तु इसके कालिदास द्वारा रचित होने में जो सन्देह उपस्थित किये गये हैं वे पूर्णतः निराधार हैं; इस सर्ग से भारवि, कुमारदास तथा माघ निश्चित रूप से[1] परिचित प्रतीत होते हैं और अलङ्कार-शास्त्र के लेखकों की कृतियों में इससे उद्धरण मिलते हैं। यह सर्ग काव्य-कौशल में कालिदास की अन्य कृतियों से ज़रा भी हीन कोटि का नहीं है।

---

१. देखिए Walter, *Indica*, iii. 21, 25 f. उनका कथन है कि कालिदास ने कुमारसम्भव के आठवें सर्ग के ६३वें पद्य का उपयोग विक्रमोर्वशी के तृतीय अङ्क के छठे पद्य में किया है।

आगामी सर्गों की बात[1] दूसरी है। उनमें अनेक शताब्दियों तक सम्भोग के आनन्द में निरत रहने वाले शिव से सहायता की प्रार्थना करने वाले अग्नि का पहले कपोत के रूप में और फिर अपने वास्तविक रूप में आने का वर्णन है। गङ्गा में प्रक्षिप्त और छः कृत्तिकाओं द्वारा पिये गये शिव के वीर्य से कुमार की आश्चर्यजनक रूप से उत्पत्ति होती है और वे अपनी बालक्रीड़ा से माता-पिता को आनन्दित करते हुए बड़े होते हैं। किन्तु देवता लोग आतङ्कित हैं, देवताओं की नगरी तारकासुर के कारण त्रस्त है। इन्द्र सहायता की याचना करने आते हैं; शिव उनकी प्रार्थना स्वीकार करके कुमार को उस कार्य के लिए नियुक्त करते हैं। चौदहवें सर्ग में तारकासुर की महती सेना का वर्णन है और पन्द्रहवें में वे अपशकुन वर्णित हैं जो उसे युद्ध न करने की चेतावनी देते हैं (पन्दरहवाँ सर्ग)। गर्व से अन्धा होकर वह अपशकुनों की ओर ध्यान नहीं देता और अपने अल्पवयस्क प्रतिद्वन्द्वी से, युद्ध करने की अपेक्षा, अपने माता-पिता के पास लौट जाने को कहता है। वह अपने बवंडरों और मायामय अग्नि से कुमार पर आक्रमण करता है, परन्तु शक्ति से हृदय में विद्ध होकर गिर पड़ता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार 'कुमारसम्भव' इस नाम से संकेतित कुमार की उत्पत्ति के वर्णन के बाद यह काव्य बहुत दूर तक चला जाता है, और इन नवीन सर्गों की हीनता प्रत्येक दृष्टि से स्पष्ट है। छन्दों के विषय में असावधानी बरती गई है; पाँच स्थानों में श्लोक के प्रथम और तृतीय पाद के अन्त में यतिभङ्ग मिलता है, इस प्रकार की असावधानी कालिदास नहीं कर सकते; उपजाति वृत्त के छः पद्यों में भी वैसी ही असावधानी दृष्टिगोचर होती है, जिनमें शब्द के अन्त का न होकर समास के अन्त का यतिभङ्ग कालिदास की स्वीकृत कृतियों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। छन्दों की रचना में लेखक को पादपूरक शब्दों का सहारा लेना पड़ा है, जिसको वास्तविक अच्छे लेखक पसन्द नहीं करते; सु, सद्यः और अलम् का बार बार इसी दृष्टि से प्रयोग किया गया है; सीधी-सी बात को घुमा-फिरा कर कहने के प्रकार का निरन्तर प्रयोग भी निश्चित रूप से इसी कारण किया गया है: लेखक अपने पात्रों

---

१. Jacobi, OC. V. ii, 2. 133 ff. पहले आठ सर्गों का स्कन्दपुराण की शङ्करसंहिता में उपयोग किया गया है, किन्तु नौ से लेकर सत्रह सर्गों में उल्टे शङ्करसंहिता का उपयोग किया गया है; Weber, ZDMG. xxvii. 179 ff., 190 ff.; *Pandit*, iii. 19 ff., 85 ff.

के लिए नवीन विशेषणों का आविष्कार करने में अपने चातुर्य का बड़ा व्यय करता है, और समासों के अन्त में निरर्थक 'अन्त' के प्रयोग में (जिसे हम वत्सभट्टि में देख चुके हैं) वह इतनी रुचि दिखाता है कि याकोबी (Jacobi) ने मराठी की सप्तमी अांत को ध्यान में रखते हुए उसके मराठा होने का अनुमान किया है। प्रादि-समासों (prepositional compounds) का और तृतीयान्त कर्तृपद के साथ भाववाच्य का अधिक प्रयोग उत्तरकालीन ढंग पर किया गया है; इनमें से पहला तो सर्वप्रथम कालिदास की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है और दूसरा भारवि से लेकर परवर्ती कवियों की कृतियों में सामान्यतः पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, युद्ध का वर्णन जैसे कुछ स्थलों को छोड़कर, इन सर्गों का मूल्य कवित्व की दृष्टि से बहुत कम है, और इस अन्तरङ्ग साक्ष्य की पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि इनमें से न तो टीकाकारों ने और न अलङ्कारशास्त्र के लेखकों ने उद्धरण दिये हैं और परवर्ती कवियों में भी इनका अनुकरण कहीं दृष्टिगत नहीं होता।

कालिदास के इस काव्य का कौन पूर्ववर्ती काव्य आदर्श था, इस विषय में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, किन्तु हम इसमें वाल्मीकि का प्रभाव देख सकते हैं। रामायण[1] में हमें किष्किन्धा-वन में वसन्त के सौन्दर्य का समुज्ज्वल चित्र उपलब्ध होता है जिसका सीता से विरहित राम के अनन्त शोक के साथ वैसा दृश्य प्रदर्शित किया गया है। हम इसमें सन्देह नहीं कर सकते कि कालिदास वसन्त के आगमन और संसार के यौवन और जीवन के पुनर्जागरण का अत्यधिक सुन्दर चित्र खींचने में इससे प्रभावित हुए हैं। रति की निराशा का सादृश्य भी रामायण में प्राप्त होता है[2], जब वाली पृथ्वी पर गिर पड़ता है तब तारा कुछ कम भावपूर्ण शब्दों से उसको सम्बोधित नहीं करती, यद्यपि उन शब्दों में अलंकृत काव्यशैली की छाप विद्यमान है: 'तुम अपनी प्रियतमा से अब कुछ क्यों नहीं बोलते? उठो और इस सुन्दर सेज का मेरे साथ उपभोग करो; उत्तम पुरुष तुम्हारी तरह से पृथ्वी पर नहीं पड़े रहते हैं। हे स्वामी, तुम मृत्यु के समय में भी पृथ्वी को बहुत प्रिय मानते हो, क्योंकि मुझे तो तुम अकेला छोड़ रहे हो और उसको तुमने अपने आलिङ्गन में कस लिया है। इस सुन्दर वन में हम दोनों के साथ साथ आनन्द करने के दिन बीत गये; तुम्हारी मृत्यु के कारण

---

१. iv. 1.

२. iv. 23; cf. vi. III (रावण के संबन्ध में).

आनन्द और जीविका से विहीन मैं गम्भीर शोकसागर में डूब गई हूँ। मेरा यह हृदय पत्थर का है जो तुमको पृथ्वी पर पड़ा हुआ देख कर भी शोक से विदीर्ण नहीं हो जाता।' तारकासुर के लिए भी संकेत स्पष्टतः **रामायण** में रावण के वर्णन से लिए गये हैं।[१] यत्रतत्र निश्चित रूप से अश्वघोष का स्मरण कराने वाले वर्णन मिलते हैं[२], जैसे शिव और पार्वती के नगर में आगमन के समय नारियों की चेष्टाओं[3] का वर्णन, जिसका मूलादर्श **बुद्धचरित**[४] में राजकुमार के प्रवेश का वर्णन है और जिसका अनुकरण **रघुवंश**[५] में अज और इन्दुमती के प्रवेश-वर्णन में भी किया गया है।

इस समस्या का कि लेखक के द्वारा इस काव्य की समाप्ति क्यों नहीं की गई अभी भी कोई समाधान नहीं हो पाया है। एक व्याख्या यह हो सकती है कि इसकी एकमात्र हस्तलिखित पोथी के अन्तिम पृष्ठ खो गये हों; परन्तु इस बात की अधिक सम्भावना है कि दिव्य दम्पती के स्वकृत वर्णन की तात्कालिक समालोचना से बाधित होकर अथवा इस भावना से प्रेरित होकर कि अद्भुतता और चमत्कारों से युक्त जन्म का यह उपाख्यान काव्य के लिए वास्तविक विषय नहीं है, कालिदास ने इस लक्ष्य को त्याग दिया हो और अपने ग्रन्थ को अपूर्ण ही छोड़ दिया हो। यह कहना ठीक नहीं होगा कि बीच में मृत्यु ने बाधा पहुँचाई, क्योंकि **रघुवंश** के **कुमारसम्भव** के बाद की रचना होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता है। **रघुवंश** की शैली में अधिक गम्भीरता के पाये जाने से यही सिद्ध होता है; **रघुवंश** में योगदर्शन के उल्लेखों से और **कुमारसम्भव** में शिव को बहुत बढ़ाकर प्रदर्शित करने की तुलना में **रघुवंश** में ब्रह्माण्ड की कुछ कम वैयक्तिक कल्पना से यही बात प्रदर्शित होती हैं। व्याकरण से ली गई उपमाओं के प्रयोग में दिखाई पड़ने वाले बढ़ते हुए पाण्डित्य-प्रदर्शन से भी, जिसकी **कुमारसम्भव**[६] में केवल प्रारम्भिक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, यही बात सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ, राम की सेना उनका उद्देश्य सिद्ध करने के लिए वैसे ही उनका अनुसरण करती

---

१. Cf. also *Rām*. vi. 124. 45 with xiii. 36.

२. Cf. Walter, *Indica*, iii. II ff.

३. vii. 56-69.

४. iii. 13-24.

५. vii. 5-16.

६. ii. 27; vii. 69; **रघुवंश**, xii. 58; xi. 56; i. I; xv. 7, 9.

है जैसे अध्ययन शब्द को सिद्ध करने के लिए 'इ' धातु 'अधि' उपसर्ग का ; धातु के स्थान में आदेश की भाँति, वाली के स्थान में सुग्रीव राजा के रूप में स्थापित कर दिये जाते हैं, और पति तथा पत्नी प्रकृति और प्रत्यय हैं। इसके अतिरिक्त, उपर्युक्त दोनों काव्यों के निरन्तर सादृश्यों में, जैसे विवाह संस्कार के वर्णन में, कुमारसम्भव का पूर्वरचित होना प्रतीत होता है; यह विचित्र बात है कि एक विषय के लिए एक ही प्रकार का छन्द प्रयुक्त करने में कालिदास अपनी स्पष्ट रुचि प्रदर्शित करते हैं ; उदाहरणार्थ, दोनों महाकाव्यों में प्रार्थनाओं के लिए श्लोक का प्रयोग किया गया है,[1] मृत्यु का वर्णन वियोगिनी छन्द में[2] और उजड़ी हुई दशा का वर्णन उपजाति में है[3]।

७. रघुवंश

कुमारसम्भव की अपेक्षा कुछ हीन कोटि का होने पर भी रघुवंश को यथार्थ में आलङ्कारिकों द्वारा लक्षित महाकाव्य का सर्वोत्तम भारतीय निदर्शन माना जा सकता है। दण्डी[4] के मतानुसार महाकाव्य का कथानक प्राचीन आख्यानों अथवा पौराणिक कथाओं से लिया जाना चाहिए और इसीलिए उसे कविकल्पित नहीं होना चाहिए। नायक को चतर और उदात्त होना चाहिए। उसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय और चन्द्रास्त, सूर्योदय और सूर्यास्त, उद्यानक्रीडा, सलिलक्रीडा, मधुपान, प्रेमोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, मन्त्रणा, दूत, प्रयाण, युद्ध, और नायक के अभ्युदय का वर्णन होना चाहिए, यद्यपि उसमें प्रतिनायक के गुणों की भी प्रशंसा हो सकती है। महाकाव्य अत्यधिक संक्षिप्त नहीं होना चाहिए और उसे रसों एवं भावों से पूर्ण होना चाहिए। उसमें उपयोगी सन्धियाँ होनी चाहिएँ। सन्धियों से अभिप्राय नाटचशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत कार्य की उन पाँच अवस्थाओं से है जिनसे इतिवृत्त की गति आरम्भ होकर, एक बार रुकने के बाद, केन्द्रबिन्दु पर पहुँच जाती है और फिर कुछ ठहर कर परिणाम पर जा पहुँचती हैं। महाकाव्य में रमणीय छन्दों का प्रयोग होना चाहिए और अनतिदीर्घ सर्गों के अन्त में छन्द बदल दिया जाना चाहिए। महाकाव्य का प्रारम्भ आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तु-निर्देश से होना चाहिए और उसे चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—के फलों की प्राप्ति में सहायक होना चाहिए।

---

१. कुमारसम्भव ii. 4-16; रघुवंश x. 16-32.
२. कुमारसम्भव iv; रघुवंश, vii.
३. कुमारसम्भव xiii; रघुवंश, xvi.
४. i. 23 ff.

रघुवंश[1] में महाकाव्य के सारे लक्षण घट जाते हैं, क्योंकि उसके प्रधान पात्र राम हैं, यद्यपि 'रघुवंश' इस नाम को चरितार्थ करने के लिए काव्य में पहले सूर्यवंशी ऐक्ष्वाक राजाओं के वंश के इतिहास का चित्रण किया गया है; इक्ष्वाकु का नाम ऋग्वेद में मिलता है और उनका वंश रामायण और पुराणों में विख्यात है। यह विस्तृत विषय कवि को अपनी वर्णन शक्ति के उपयोग के लिए पूर्ण अवसर प्रदान करता है। युद्ध और राज्याभिषेक, स्वयंवर में एक युवती राजकुमारी के द्वारा अपने पति का चुना जाना, विवाह-संस्कार, एक प्रिय पत्नी का मरण और शोकाकुल पति का शोक, ग्राम और नगर, ऋतुएँ, एक महान् दिग्विजय की घटनायें, पृथ्वी को जीतने की इच्छा वाले एक नृपति की विजय-यात्रा—ये सब कवि के नैपुण्य-प्रदर्शन के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करते हैं। यह महाकाव्य तुरन्त ही हमें एक विचित्र वातावरण में पहुँचा देता है; दिलीप एक राजा हैं किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं है; उनको पता लगता है कि संयोगवश इन्द्र के दर्शन करके लौटते हुए उन्होंने इन्द्र की पवित्र धेनु के प्रति सम्मान नहीं दिखाया था, अतः उस धेनु ने उनको शाप दे दिया है; उस अपराध का परिमार्जन करने के लिए दिलीप पृथ्वी पर उपस्थित उसकी पुत्री नन्दिनी के पूजार्थ अनुगमन का निश्चय करते हैं; वे कर्त्तव्यनिष्ठा से अपने व्रत को निभाते हैं और बदले में अपने शरीर को उपस्थित करते हुए एक सिंह से उसकी रक्षा करते हैं; नन्दिनी उनके हृदय की इच्छा पूर्ण करती है। शीघ्र ही दिलीप निवातपद्मस्तिमित नेत्रों से अपने पुत्र के सुन्दर मुख का पान करते हैं; चन्द्रदर्शन से महोदधि की भाँति उनका हृदय हर्ष से आप्लावित हो जाता है। बालक रघु शीघ्रता से बढ़ने लगता है, उसे युवराज बना दिया जाता है और उसको पिता के अश्वमेध यज्ञ करने के लिए एक वर्ष तक भ्रमण करने वाले यज्ञिय अश्व की रक्षा का भार सौंपा जाता है; अश्व लुप्त हो जाता है, किन्तु नन्दिनी के साहाय्य से रघु के नेत्र खुल जाते हैं और वे पूर्व दिशा में इन्द्र के द्वारा ले जाये गये अश्व को देखते हैं। इन्द्र के विरुद्ध उनका पराक्रम असफल होता है, परन्तु इन्द्र उनके पराक्रम से प्रसन्न होकर अश्व को छोड़ बिना उनकी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करने को तैयार हो जाते हैं और वीर युवक रघु अपने पिता के लिए यज्ञ का अशेष फल माँग लेते हैं। यज्ञ के समाप्त हो जाने पर दिलीप अपने पुत्र को

१. Ed. S. P. Pandit, BSS. 1869-74; Nandargikar, Bombay, 1897; rans. Walter, Munich, 1914.

राजचिह्न के रूप में श्वेत छत्र दे देते हैं और अपने कुलव्रत के अनुसार वन में तपस्वी का जीवन बिताने चले जाते हैं (सर्ग १–३)। चतुर्थ सर्ग में भारत-विजेता के रूप में रघु के साहसिक कृत्यों का वर्णन है; वे सुह्मों के विरुद्ध अभियान करते हैं, बंगाल के राजाओं को पराजित करते हैं और गङ्गा के द्वीपों में अपने विजय-स्तम्भ स्थापित करते हैं; कलिङ्ग के गज या बाणवर्षा उनके मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर पाती, महेन्द्र पर्वत उनके समक्ष झुक जाता है, कावेरी पार करके वे दक्षिण पर आक्रमण करते हैं और पाण्ड्य राजाओं से मुक्ताओं की भेंट प्राप्त करते हैं। वहाँ से रघु उत्तर की ओर मुड़ते हैं और मलय तथा दर्दुर पर्वतों से होकर उनका विशाल सैन्य सह्य पर्वत के लम्बे ढालों को पार करता है, सेना की उड़ाई हुई धूल केरल की नारियों के केशों में भर जाती है, मुरला नदी और त्रिकूट पर्वत उनके यश के साक्षी होते हैं। वहाँ से वे, एक धार्मिक राजा की भाँति, दूपित करने वाले समुद्र के मार्ग को न पकड़ कर, स्थलमार्ग से पारसीकों और यवनों (ग्रीकों) के विरुद्ध अभियान करते हैं; युद्ध की धूल में लड़ती हुई सेनायें छिप जाती हैं, केवल धनुषों की टङ्कार से ही उनकी उपस्थिति का आभास होता है; श्मश्रुल शत्रुओं से धरती पट जाती है, मृत्यु से बचे हुए शत्रु शरणागति के प्रतीक के रूप में अपने शिरस्त्राण उतार देते हैं; थके हुए विजेता सुरापान कर अपनी प्यास बुझाते हैं। उसके बाद रघु अपने अश्वों को सिन्धु (इसके स्थान में कहीं कहीं 'वंक्षु' पाठान्तर है) की सैकत भूमि में बढ़ने की आज्ञा देते हैं और हूणों और काम्बोजों को पराजित करते हैं; हिमालय का पवन कीचकों से उनकी विजय के गीत गवाता है। पर्वतीय जातियाँ उनकी शक्ति का अनुभव करती हैं, भालों और बाणों की वर्षा के नीचे पर्वततटों पर अग्नि चमकती है और उत्सव-नामक गण सदा के लिए उत्सवों के आनन्द से रहित हो जाता है। लौहित्या नदी पार की जाती है, और प्राग्ज्योतिष जीत लिया जाता है, तथा कामरूप रघु को जंगली हाथियों का उपहार प्रदान करता है।

उत्साह और वीररस से परिपूर्ण इस वर्णन में हम कवि के मस्तिष्क में समुद्रगुप्त की महान् विजयों का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।[1] समयप्राप्त

---

१. यह सत्य इस बात को अत्यधिक सम्भाव्य बना देता है कि कालिदास के मस्तिष्क में कुमारगुप्त का अश्वमेध न होकर समुद्रगुप्त का अश्वमेध था, क्योंकि कुमारगुप्त की महान् सैनिक सफलताओं का कोई लिखित वर्णन उपलब्ध नहीं है।

कौशल से पञ्चम सर्ग में एक बिलकुल भिन्न विषय निविष्ट कर दिया जाता है। रघु की उदारता उनको निर्धन बना देती है; जब एक ब्राह्मण कौत्स अपने गुरु को विशाल दक्षिणा देने के लिए उनसे सहायता की प्रार्थना करता है, तब वे धन के देवता कुबेर के कोषगृह पर आक्रमण करने का निश्चय करते हैं। परन्तु सुवर्ण की वृष्टि उनको ऐसा अधार्मिक कृत्य करने से बचा लेती है। ब्राह्मण कौत्स के आशीर्वाद से उनके अज-नामक पुत्र उत्पन्न होता है, जो शीघ्र ही अपने पिता के समान हो जाता है। एक स्वयंवर में, जिसमें एक पड़ोसी राजा की बहिन अपने पति को चुनने वाली थी, सम्मिलित होने की आज्ञा प्राप्त कर अज चल देते हैं; मार्ग में वे एक विकट वन्य गज पर वीरता से आक्रमण करते हैं, जो उनके प्रहार से एक गन्धर्व में परिणत हो जाता है। गन्धर्व को ऐसा आकार धारण करने का शाप दिया गया था, जब तक कि किसी इक्ष्वाकुवंशी के बाण से उसकी मुक्ति न हो जाय; वह गन्धर्व उनको पारितोषिक रूप में संमोहन अस्त्र देता है। छठे सर्ग में स्वयंवर का एक उज्ज्वल चित्र खींचा गया है; अपनी सखी सुनन्दा को पार्श्व में लेकर राजकुमारी सामने खड़े हुए उत्कण्ठित राजाओं को एक एक करके छोड़ती जाती है; कोई उसको अच्छा नहीं लगता; एक जुआरी होने के कारण बुरा आदमी है; सुनन्दा व्यर्थ ही अंगराज के लिए राजकुमारी से आग्रह करती है; उनमें सब गुण उपस्थित हैं, तो भी लोगों की रुचि अलग अलग हुआ करती है। बदले में सुनन्दा इन्दुमती से आगे बढ़ने को कहती है जब वह देखती है कि उसके हृदय को अज ने जीत लिया है, परन्तु राजकुमारी लज्जा त्याग कर उनको पुष्पहार पहना देती है, जो अज को उसका पति सूचित करता है। विवाह-संस्कार सम्पन्न हो जाता है; नवविवाहित दम्पती घर के लिए प्रस्थान करते हैं, पर लज्जित राजाओं ने प्रतिशोध की तैयारी की है और वे राजकुमारी को बलपूर्वक हर ले जाना चाहते हैं। अज उनके साथ घोर युद्ध करते ह, अन्त में गन्धर्व का दिया हुआ अस्त्र उनके काम आता है और वे शत्रुओं से उनका मान छीन लेते हैं, किन्तु उनके जीवन का अपहरण नहीं करते (सप्तम सर्ग)। उनका शासन समृद्धियुक्त है, जब कि रघु एक तपस्वी के रूप में अपनी इन्द्रियों को वश में करते हैं, अज अपने राज्य के शत्रुओं का शमन करते हैं, और जब रघु की मृत्यु होती है तो अज एक योगी की अन्त्येष्टि का पूरा सम्मान उनको प्रदान करते हैं। परन्तु एक भयङ्कर विपत्ति उनकी राह देख रही है; हवा से उड़ाई गई

एक पष्पमाला आकाश से इन्दुमती की छाती पर गिर पड़ती है और उसकी मृत्यु का कारण बनती है, यद्यपि वास्तव में उसके लिए मृत्यु का अर्थ शारीरिक वन्धन से छुटकारा पाना था; वह वस्तुतः अप्सरा थी जिसको शाप के कारण संसार में जन्म लेना पड़ा था। अज को इस विचार से कोई सान्त्वना नहीं मिलती ; स्वजनों के अश्रुओं से सन्तप्त होने वाले मृत-व्यक्ति के लिए शोक करने की मूर्खता का स्मरण कराया जाना भी उनके लिए व्यर्थ होता है ; जीवन की क्षणभङ्गुरता और राजाओं के कर्त्तव्यों के सम्वन्ध में दी गई सान्त्वना का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ; भग्नहृदय अज की मृत्यु हो जाती है और उनके स्थान पर दिलीप (?दशरथ) शासन करते हैं। नवम सर्ग में उनके सम्वन्ध में वतलाने के लिए कोई विशेप वात नहीं हैं, केवल वसन्त के उज्ज्वल वर्णन के पश्चात् हमें एक सांघातिक आखेट की सूचना दी जाती है, जब कि शक्ति और करुणा का समान रूप से प्रदर्शन करने के वाद, एक हाथी का पीछा करते हुए दिलीप (? दशरथ) एक ब्राह्मण युवक को वुरी तरह से घायल कर देते हैं ; वे उस मरते हुए युवक को उसके वृद्ध माता-पिता के पास ले जाते हैं और उन से समान दुर्भाग्यशाली होने का शाप प्राप्त करते हैं। दशम सर्ग में, जीवन की वस्तुस्थितियों को छोड़ कर, हमें दिलीप (? दशरथ) के उत्पन्न हुए पुत्रों में विष्णु के मायामय अवतार का ज्ञान होता है। ग्यारहवें सर्ग में राम की युवावस्था, उनका विश्वामित्र के आश्रम में जाना और राक्षसी ताड़का का वध करना, उनकी जनक की राजसभा की यात्रा और स्वयंवर में सीता का पाणिग्रहण, परशुराम की पराजय और उनका राम को ईश्वर मानना—इन सारी वातों का शीघ्रता से वर्णन किया गया है। कैकेयी के षड्यन्त्र से राम का वनवास, वन में राम और सीता का जीवन, रावण द्वारा सीताहरण, लङ्का की खोज[1], वानरसेना के साथ समुद्र पार करना और राम और रावण के महान् युद्ध का सजीव चित्रण हमें वारहवें सर्ग (? तेरहवें) में ले जाते हैं जहाँ विमान से—जिस पर राम और सीता अयोध्या लौटते हैं—देखे गये भारतवर्ष के दृश्यों के वर्णन में कालिदास की वर्णनशक्ति को उपयुक्त विषय मिल जाता है।

उसके पश्चात् उज्ज्वल चित्रणों की एक परम्परा आती है; राम

१. इसकी स्थिति के लिए तुलना कीजिए M. V. Kibe, *Rawana's Lanka Discovered* (1920). Hopkins (*Great Epic*, p. 80) सीलोन को ही लङ्का मानते हुए प्रतीत होते हैं।

और सीता विधवा राजमाताओं को देखने के लिए जाते हैं, जो अपने आँसुओं के कारण बड़ी कठिनाई से उनको देख पाती हैं; माताओं के वे आँसू शीघ्र ही आनन्द के आँसुओं में बदल जाते हैं। अकेली सीता अपनी सुन्दरता के कारण पति को प्राप्त हुए कष्टों के लिए रोती हैं, जो भावी विपत्ति की सूचना देता है। कुछ समय के लिए सब ओर उल्लास छा जाता है; तत्पश्चात् राज्याभिषेक का अतिशोभन संस्कार सम्पन्न होता है। किन्तु विपत्ति समीप में है; मात्सर्ययुक्त व्यक्ति राजा राम की निन्दा करते हैं, जिनकी एकमात्र पत्नी रावण के घर इतने दिन रही है। राम कर्त्तव्य को प्रेम से बढ़कर मानते हैं; वे उस समय गर्भवती सीता को वाल्मीकि के आश्रम में ले जाने के लिए और वहाँ उनके दुर्भाग्य को उनके सामने प्रकट करने के लिए लक्ष्मण को आज्ञा देते हैं; विक्षुब्ध सीता अपने भाग्य की निन्दा करती हैं, किन्तु पति को कोई उपालम्भ नहीं देतीं। राम एकाकी ही राज्य करते हैं। उनके यज्ञों में सीता की प्रतिकृति ही उनकी सङ्गिनी है (चौदहवां सर्ग)। शोकग्रस्त राम का ध्यान यमुनातीर के राक्षस-शत्रुओं के उन्मूलन की ओर आकृष्ट किया जाता है; उधर आश्रम में सीता दो पुत्रों को जन्म देती हैं, जो वाल्मीकि से अपने पिता के कार्यों की कथा सीख कर और उसे सुना कर सीता के शोक-पीडित हृदय को सान्त्वना देते हैं। वह दिन आता है जब राम अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय करते हैं; वे यज्ञशाला में सीता की हिरण्यमयी प्रतिकृति के समीप विश्राम करते हैं; वे कुश और लव से अपने कार्यों का गान सुनते हैं; जनता और स्वयं राम भी उन दोनों को अपना बेटा समझते हैं, वाल्मीकि राम से सीता को स्वीकार करने की प्रार्थना करते हैं। राम चाहते हैं कि सीता की निष्कलङ्क पवित्रता पौरों के समक्ष स्पष्ट कर दी जाय; सीता उनके सामने आती हैं और पवित्र जल से आचमन करके अपने सतीत्व की शपथ लेती हैं; पृथ्वी देवी प्रकट होती हैं और उनको अपने अङ्क में लेकर पाताल में प्रविष्ट हो जाती हैं। पुनः प्राप्त हुई सीता के सद्यः विरह से शोकातुर राम राज्य का भार अपने पुत्रों को सौंप देते हैं; कालान्तर में सारे पुरवासियों के साथ वे नगर से निकलते हैं और स्वर्गीय विमान पर बैठ कर चले जाते हैं।

सीता के अन्त के प्रभावपूर्ण और करुण चित्रण और राम के स्वर्गारोहण से महाकाव्य की भली प्रकार से समाप्ति की जा सकती थी, परन्तु सोलहवाँ सर्ग भी वैशिष्ट्यहीन नहीं है। राम के पुत्र कुश कुशावती में

शासन करते हैं; स्वप्न में अयोध्या प्रोषितपति का नारी के वेष में उनको दिखाई पड़ती है, अपनी दीनावस्था के लिए उनकी भर्त्सना करती है और उनको लौटने की आज्ञा देती है। कुश आज्ञा का पालन करते हैं, अयोध्या एक बार फिर यश प्राप्त करती है, और ग्रीष्म के आनन्दप्रमोद का वर्णन नवें सर्ग के वसन्तवर्णन से होड़ करता है किन्तु उसकी बराबरी नहीं कर पाता है। रघुवंश के अवशिष्ट भाग में रोचकता कम होती जाती है, क्योंकि कालिदास के पास उन अयोग्य राजाओं के नामों को छोड़ कर और कुछ भी हमें बतलाने को नहीं है, जिनके जीवन की सारी अभिरुचि उनके अन्तःपुरों तक ही सीमित थी। हम अठारहवें और उन्नीसवें सर्गों को कालिदासरचित मानने से इनकार नहीं कर सकते[1]; कोई भी प्राचीन ग्रन्थकार उन सर्गों के विषय में शङ्का नहीं करता, और अलङ्कारशास्त्र के लेखकों ने उनमें से उद्धरण दिये हैं, यद्यपि ऐसे उद्धरण कम ही हैं। परन्तु उनकी संक्षिप्तता और नितरां आकस्मिक समाप्ति, जब कि निकम्मे और विलासी अग्निवर्मा (?-अग्निवर्ण) की विधवा पत्नी पुत्र उत्पन्न होने की राह देख रही है, इस बात को सूचित करते हैं कि हमारे सम्मुख एक कच्चे पाण्डुलेख को छोड़ कर और कुछ भी नहीं है। तथापि जहाँ तक राजाओं के नामों पर आश्रित निरर्थक श्लेषों का सम्बन्ध है, जैसे जब पारियात्र राजा को केवल पारियात्र पर्वत से अधिक ऊँचा बताया गया है, अथवा जहाँ तक एक राजा के कार्य की अविश्वसनीय कुरुचि का सम्बन्ध है, जो लोगों द्वारा चूमे जाने के लिए अपना पैर गवाक्ष के बाहर लटका देता है, हम इन सबको सरलता से एक तुच्छ कवि की रचना मान सकते हैं।

वस्तुतः इस काव्य में कालिदास वाल्मीकि के सबसे अधिक ऋणी हैं[2]। यत्र तत्र एक दूसरे से आगे बढ़ जाता है; यद्यपि साधारण तौर पर कालिदास ही लाभ में रहते हैं, तथापि इसके अपवाद हैं। यद्यपि राम को न पहचानने वाले उनके पुत्रों से उनके मिलने का कालिदास द्वारा

---

१. जैसा कि Hillebrandt का कहना है, *Kālidāsa*, pp. 42 f. वे रविकीर्ति के ऐहोल अभिलेख (EI. vi. 8 f.) को ज्ञात प्रतीत होते हैं, जो रविकीर्ति कालिदास और भारवि के साथ अपनी प्रतिद्वन्द्विता का गर्व करता है। महाकवियों की विषमताओं के लिए *Latin Poetry*, pp. 153 f. में Tyrrell द्वारा आलोचित Aeneid V से तुलना कीजिए।

२. पद्मपुराण के तथाकथित उपयोग पर देखिए H. Śarmā, Calc. Or. *series*, 17.

खींचा गया चित्र सुन्दर है, तो भी रामायण की मन्दमन्द गति वाली शैली में यह और भी अधिक प्रभावोत्पादक है, और कालिदास सीता द्वारा अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के दृश्य को अधिक प्रभावशाली बनाने में असफल सिद्ध हुए हैं। परन्तु अयोध्या को लौटने के वर्णन जैसे स्थलों में उनकी विशेषता स्पष्टरूप से भासित होती है; परवर्ती कवियों ने उनका अनुकरण किया है, पर कोई भी उनकी बराबरी नहीं कर पाया है।

कालिदास-रचित अन्य कोई महाकाव्य हमें प्राप्त नहीं है, और रचना काल के विषय में उनके महाकाव्यों और नाटकों के पारस्पारिक सम्बन्ध की समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता है। यह कहा जाता है कि उन्होंने सेतुबन्ध[1] की भी रचना की है, जिसमें रावण के विरुद्ध प्रयाण और लङ्का के लिए सेतु-निर्माण से लेकर रावण के वध-पर्यन्त राम की कथा वर्णित है, परन्तु अनेकानेक श्लेषों, अनुप्रासों, अस्फुट उपमाओं, अतिशयोक्तियों और दीर्घ-समासों से युक्त उसकी शैली से उसके कालिदास रचित होने की बात सिद्ध नहीं होती। सेतुबन्ध का रचना-काल अनिश्चित है, क्योंकि उसके रचयिता अथवा संरक्षक, कश्मीर के प्रवरसेन[2], के सम्बन्ध में हमें कोई भी निश्चित जानकारी नहीं है। नलोदय[3] के कालिदास द्वारा रचित होने का सुझाव और भी अधिक हास्यास्पद है; असह्य कृत्रिमता से युक्त यह यमक-काव्य, सम्भवतः इसी प्रकार के दोष से युक्त राक्षसकाव्य के लेखक सातवीं शताब्दी के पूर्व के रविदेव की कृति नहीं है, प्रत्युत कुलशेखर और राम के आश्रित कवि वासुदेव की रचना है।

८. कालिदास के विचार

जैसे Sophokles को Perikles के सुखमय समय के एथेन्स नगर में अपने योग्य आदर्श वातावरण मिल गया प्रतीत होता है, वैसे ही कालिदास अपने नाटकों और काव्यों में हमें उस

१. Ed. and trans. S. Goldschmidt, 1880-4. इसका रचना-काल बाण के पूर्व, सम्भवतः छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है, Stein, राजतरङ्गिणी, i. 66, 84 f.

२. वाकाटक प्रवरसेन का इस महाकाव्य से कोई भी सम्बन्ध बिलकुल अप्रमाणित प्रतीत होता है।

३. Ed. and trans. W. Yates, Calcutta, 1844; Bhandarkar, *Report*, 1883-4, p. 16; A. R. S. Ayyar, JRAS. 1925, pp. 263 ff., जो वासुदेव को युधिष्ठिरविजय, त्रिपुरदहन तथा शौरिकथोदय—इन यमक-काव्यों का भी लेखक मानते हैं और उसका समय नवीं शताब्दी निश्चित करते हैं। यह समय असम्भाव्य है; ZII. iv. 226 f.

गुप्तयुग के ब्राह्मणत्व-सम्बन्धी आदर्श की साकार मूर्ति प्रतीत होते हैं, जब कि कष्टमय पृथ्वी पर व्यवस्था का पुनः स्थापन किया जा चुका था, विदेशियों को आत्मसात् कर लिया गया था अथवा उनकी संख्या कम कर दी गई थी और सब ओर समृद्धि का विस्तार हो चुका था[1]। रघुवंश के प्रथम पाँच राजाओं के वृत्तान्त में प्रथम पाँच गुप्त राजाओं के शौर्यकर्मों को देखने की चातुर्यपूर्ण कल्पना[2] की गई है। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि कालिदास हरिषेण से परिचित थे और उन्होंने उसकी साहित्यिक कृतियों का लाभ उठाया था, जो निश्चित ही उपलब्ध अभिलेख के अतिरिक्त अन्य बहुत सी रही होंगी, तथापि उक्त प्रकार के किसी सादृश्य में हम निस्सन्देह शङ्का कर सकते हैं। किन्तु उनकी कविता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कालिदास ने ब्राह्मण, योद्धा अथवा तत्तद्वंशीय क्षत्रिय के लिए निर्धारित कर्त्तव्य कर्मों के पूर्णरूप से पालन किये जाने का वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में कुमारावस्था गुरु से विद्याध्ययन करने का समय है, उसके पश्चात् सुखमय विवाह सम्बन्ध से युक्त यौवन का काल आता है और फिर क्रमशः वानप्रस्थ, जब कि मनुष्य का मन शाश्वत वस्तुओं के चिन्तन में लीन रहता है। अनेक प्रकार से यह योजना भारतीय जीवन के पूर्णतः उपयुक्त है; मनुष्य जीवन का कोई भी पक्ष इसमें उपेक्षित नहीं रहता है। कालिदास ने स्वयं जीवन के ध्येय रूप में चार पुरुषार्थों को स्वीकार किया है और उन्होंने उनको, स्वयं विष्णु के अवतार रूप, दिलीप (? दशरथ) के पुत्रों में मूर्तिमान् पाया है। चार पुरुषार्थों में धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का नियमन करता है, अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का सम्बन्ध उसकी युवावस्था से है, और मोक्ष उसकी वृद्धावस्था के आध्यात्मिक चिन्तन का फल है। भले ही हमें रघुवंश के अन्तिम सर्गों के शृंगारपूर्ण दृश्यों के सम्बन्ध में भारतीय और आधुनिक रुचि के एक वर्गविशेष का अनुराग अच्छा न लगे, परन्तु हमें उनको एक कामुक के मस्तिष्क का उद्गार कदापि न समझना चाहिए। स्वयं उपनिषदों के ऋषियों ने विवाह को आवश्यक माना है और बृहदारण्यक में पुत्रप्राप्ति के लिए टोना-जैसा एक प्रयोग दिया गया है; ऋषिकल्प श्वेतकेतु को कामसूत्र पर एक प्रमाणभूत लेखक माना गया है, और कालिदास ने शिव और उमा के दिव्य उदाहरण को स्पष्टतः

---

१. Cf. M. T. Narasimhiengar, IA. xxxix. 236 ff. with Hillebrandt, *Kālidāsa*, pp. 137 ff.

२. A. Gawroński, *The Digvijaya of Raghu* (1915).

अत्यन्त प्रगाढ वैवाहिक प्रेम के लिए प्रमाण माना है। शासनकला अर्थ और काम रूप पुरुषार्थों का आवश्यक अंग है, और कालिदास ने राम के वर्णन में ही एक आदर्श शासक का चित्रण नहीं किया है, किन्तु सारे रघुवंश में प्रजाओं के प्रति राजाओं के कर्त्तव्य का हमें स्मरण कराया है। यह हमें स्वीकार करना चाहिए कि उनकी दृष्टि ब्राह्मण-धर्म की परम्परा के अनुकूल थी; उन्होंने जान बूझकर रामायण में उल्लिखित शूद्र तपस्वी को दण्ड देने की घटना को दुहराया है, जो तप द्वारा पुण्यार्जन करने के लिए एक वृक्ष से उल्टा लटक कर अपने को अग्नि में तपाने का साहस करता है और इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म की परम्परागत व्यवस्था की सुरक्षा के लिए भय उपस्थित कर देता है। यह बात हमें गुप्त-साम्राज्य में चण्डालों की अधोगति के सम्वन्ध में फाहिएन (Fa-hien)[१] के दृढ़ साक्ष्य का स्मरण कराती है।

कुमारावस्था या यौवन गम्भीर दार्शनिक विचारों के लिए उपयुक्त समय नहीं होता और इसलिए ऋतुसंहार, मेघदूत तथा कुमारसम्भव के कालिदास इस विषय में संकुचित सीमा के भीतर ही रहते हैं। तो भी हमें उनमें शिव की महत्ता और गौरव की विकासशील भावना का अनुभव होता है; मेघदूत के दूरस्थ शिव कुमारसम्भव में निश्चित रूप से हमारे अधिक समीप ले आये जाते हैं। यहाँ तक कि ब्रह्मा और विष्णु भी उनसे निम्नकोटि के हैं और 'ईश्वर' यह शब्द विशेषतः उन्हीं का सूचक है; इसके अतिरिक्त, सर्वव्यापक महत्ता के होने पर भी, वे पूर्णतया पुरुषविध हैं। तो भी, कालिदास ने ब्रह्मा अथवा विष्णु को विस्मृत नहीं किया है; कुमारसम्भव में ब्रह्मा की और रघुवंश में विष्णु की दो उत्तम प्रार्थनायें की गई हैं जिनमें तत्तद्देवता के तात्कालिक परमोत्कर्षवाद की सच्ची भावना से दोनों को क्रम से देवाधिदेव, विश्वाधिक और सब प्रकार के ज्ञान से परे बतलाया गया है। यह परस्पर विरोध केवल आपाततः प्रतीत होता है, इसमें वास्तविकता नहीं है; कालिदास की विश्वविषयक दृष्टि का पर्याप्त निस्सन्दिग्धता के साथ निश्चय किया जा सकना सम्भव है, और इससे उनकी परस्पर विरुद्ध दृष्टियों का समाधान हो जाता है।

दोनों महाकाव्य, विशेषतः रघुवंश यह प्रदर्शित करते हैं कि विश्व के स्वरूप के विषय में सांख्य और योग की दृष्टि कालिदास को मान्य थी। प्रकृति के तीन गुण, सत्त्व, रजस् और तमस् अपने नैतिक पक्ष में उपमाओं

१. Smith, EHI. p. 314; Foucher, *L' Art Gréco-Bouddhique du Gandhāra*, ii. 8.

के लिए विषय प्रदान करते हैं; सरयू के उद्गम के रूप में ब्रह्म-प्रमुख उस अव्यक्त की भाँति है जिससे महत्तत्व उत्पन्न होता है। योगाभ्यास को अभिस्वीकार किया गया है; कुशों पर बैठ कर वृद्ध राजा धारणा का अभ्यास करता है; तपस्वियों के कठिन आसन, वीरासन, की उपमा निश्चलतया स्थित वृक्षों से दी गई है; सीता तपस्या द्वारा अपने अगले जन्म में पति से पुनर्मिलन प्राप्त करना चाहती हैं; योगी बन्द दरवाजे के भीतर प्रविष्ट हो जाने की शक्ति प्राप्त कर सकता है और उसका दाह-संस्कार नहीं होता, प्रत्युत रघु की भाँति उसे पृथ्वी माता के भीतर गाड़ दिया जाता है। परन्तु हम यह नहीं मान सकते कि कालिदास का अभिमत ईश्वर योगदर्शन का साधारण ईश्वर है; कालिदास के अनुसार ब्रह्म में सांख्य के प्रकृति और पुरुष दोनों संयुक्त हैं, और इससे सूचित होता है कि कठोपनिषद् के लेखक की भांति कालिदास भी प्रकृति और पुरुष के ऊपर एक परम तत्त्व को मानते थे, जो उनके लिए विशेष करके शिवरूप है, परन्तु जो ब्रह्मा और विष्णु भी है और जो अन्धकार से परे है और कभी नष्ट नहीं होता। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् इसी परम तत्त्व में मिल जाता है, क्योंकि रघुवंश में 'ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम' का यही अभिप्राय है। यदि तत्त्वज्ञान न होकर केवल पुण्यकर्म ही हों तो मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, क्योंकि ज्ञान से ही कर्म दग्ध होते हैं, अन्यथा वे कर्म मनुष्य को वार वार जन्म लेने को विवश करते हैं। इस मत को स्वीकार करने में हमें विशेष संकोच न होना चाहिए, क्योंकि यह लोकप्रिय वेदान्त की मौलिक दृष्टि है और इससे एक विचारशील और विवेकी व्यक्ति को उक्त तीन महान् देवताओं में विश्वास के सामञ्जस्य को स्थापित करने का एक सफल उपाय प्राप्त होता है। यह स्पष्ट है कि अपनी आयु के बढ़ने के साथ साथ कालिदास का चित्त परमात्मा के सर्वव्यापक स्वरूप की ओर उनसे ऐक्य प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की क्षमता की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता गया।

ऐसे दर्शन से मानव-हृदय के मौलिक द्वन्द्वों का कोई समाधान चाहना अथवा मनुष्य के उद्देश्यों और उसके भाग्य की कोई स्वतन्त्र आलोचना की अपेक्षा करना निरर्थक होगा। भारत में अनेक नास्तिक हुए हैं, परन्तु उनकी सारी कृतियाँ नष्ट हो गईं। पर सौभाग्य से हम ऐसी पूर्णता के साथ ब्राह्मण-धर्म के आदर्श की, उसके सबल और दुर्बल पक्षों के साथ, काव्यात्मक प्रतिमूर्ति की रक्षा कर सके हैं। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि

ऊपर जैसा आदर्श गम्भीर मानवीय संवेदना का निषेध नहीं करता, जैसी कि मेघदूत की उत्कण्ठा में, मृत इन्दुमती के सम्बन्ध में अज द्वारा किये गये विलाप में और निहत काम के लिए किये गये रति के विलाप में हमें दिखाई पड़ती है। किन्तु ऐसे आदर्श में अपने को ईश्वर की इच्छा के अर्पण कर देना आवश्यक है, और यदि स्वरूपगत पूर्णता में कालिदास के काव्य उनको भारत का Virgil घोषित करते हैं, तो हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि Aeneid के छठे खण्ड की दृष्टि और कल्पना कालिदास की शक्ति के बाहर की वस्तु थी।

९. कालिदास की शैली और छन्द

कालिदास निस्सन्देह भारतीय काव्य शैली के सर्वोत्तम आचार्य हैं। वे अपनी रचना की पूर्णता और परिमार्जन की दृष्टि से अश्वघोष से श्रेष्ठ हैं[1] और काव्य के उत्तरकालीन महान् लेखकों की कृतियों की सुन्दरता नष्ट करने वाली अत्युक्तियों से बिलकुल मुक्त हैं। दण्डी ने अपनी प्रिय रीति, वैदर्भी, में जो विशेषतायें बतलाई हैं, वे सामान्यतः निम्न प्रकार से संक्षिप्त की जा सकती हैं—वर्णों का अशैथिल्य और अवैषम्य, निष्ठुर वर्णों का राहित्य और सुकुमार वर्णों का सन्निवेश; शब्दों का उनके साधारण अर्थों में प्रयोग (अनेयार्थत्व) और प्रसाद; रसाभिव्यक्ति की शक्ति; कान्ति, उत्कर्ष और अप्रकृत के धर्मों का प्रकृत में आरोप। उन्होंने उस काव्य को कल्पान्तरस्थायी बताया है, जो महाकाव्य के लक्षणों से युक्त होने के साथ साथ अलङ्कारों से भी समृद्ध होता है। कालिदास ने अपने काव्य की शोभा बढ़ाने वाले इन उपायों की पूरी सहायता ली है। परन्तु उनका मूलभूत गुण यह है कि वे अभिधा की अपेक्षा व्यञ्जना का अधिक

१. समालोचक कभी कभी दोष भी निकालते हैं, उदाहरणार्थ व्यक्तिविवेक (पृ० ६६) में रघुवंश के सोलहवें सर्ग के तेंतीसवें पद्य में तदीये की स्थिति के लिए दोष दिया गया है, परन्तु वे बार बार महाकवियों के अग्रणी के रूप में उनके काव्यों से उद्धरण देते हैं; ध्वन्यालोक, पृ० २९, २०७; काव्यप्रकाश पृ० २। भामह का यह कथन कि मेघ दूतकर्म के योग्य नहीं है मेघदूत की ओर ही संकेत करता है और इस कथन को टी० गणपति शास्त्री द्वारा भासरचित सिद्ध किये गये प्रतिज्ञायौगन्धरायण पर भामह के आक्षेप के समकक्ष रखा जा सकता है; तुलना कीजिए—Thomas JRAS. 1925, p. 103, जिन्होंने (पृ० १०० इत्यादि) भास के रूपकों की प्रामाणिकता पर किये गये आक्षेपों का समाधान करनेवाला प्रत्युत्तर दिया है। उनके पद्य (सुभाषितावली, १३५३) का रघुवंश (८।६६) में अनुकरण किया गया है; GIL. iii. 159, n, 1.

आश्रय लेते हैं; उनके परवर्ती कवि प्रायः समझते थे कि तत्तद् विषय पर कथनीय सब कुछ कहकर ही वे अपनी योग्यता प्रदर्शित कर सकते हैं; किन्तु कालिदास एक निश्चित प्रभाव उत्पन्न करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और शेष सब बातें व्यञ्जना के लिए छोड़ देते हैं; Virgil की भाँति वे भी ग्राम्य सरलता और भद्देपन तथा काव्य के लिए विशेषतः सांघातिक सिद्ध होने वाले अति-परिष्कार के बीच अत्युत्तम मध्यम मार्ग के अनुयायी थे[1]। इसीलिए उनके लघु चित्र अपने परिष्कृत सौन्दर्य में प्रायः आपेक्षिक पूर्णता प्राप्त कर सके हैं।

उनके चित्रण की वास्तविकता मेघदूत में शोक करती हुई यक्षपत्नी के चित्र में दिखाई देती है:

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥

'हे सौम्य, या मैले वस्त्रों वाली अपनी गोद में वीणा रखकर मेरे नाम से युक्त पद रचना करके गीत गाने की इच्छा वाली वह आँसुओं से भीगे हुए तार को जैसे-तैसे पोंछकर अपने द्वारा किये गए स्वरों के आरोहावरोह को बार बार भूल जाती होगी।' या फिर:

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥

'शिला पर गेरू के रङ्ग से तुम्हें प्रणयकुपित चित्रित करके जैसे ही मैं अपने को तुम्हारे पैरों पर गिरा हुआ बनाना चाहता हूँ, वैसे ही बार बार उमड़े हुए आँसुओं से मेरी दृष्टि अवरुद्ध हो जाती है; क्रूर दुर्दैव चित्र में भी हम दोनों के मिलन को नहीं सह सकता।' शिव के अपने को प्रकट कर देने पर उमा के संभ्रम और आनन्द का उज्ज्वल चित्र खींचा गया है:

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।

---

१. अश्वघोष पर उनके द्वारा किये गये परिष्कार अनेक और निर्विवाद हैं; तु० Nandargikar, रघुवंश (ed. 3), pp. 161 ff.; Formichi, *Aśvaghoṣa*, p. 350; cf. also सौन्दरनन्द iv. 42 with कुमारसम्भव v. 45. कुमारसम्भव vii. 56 ff. और रघुवंश vii. 5 ff. का बुद्धचरित iii. 13 ff. के साथ सादृश्य इस विषय में निर्णायक है और Hillebrandt का सन्देह (pp. 102 f.) अतिछिद्रान्वेषण है।

अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥

' "हे झुके हुए अंगों वाली, आज से मैं तप द्वारा खरीदा गया तुम्हारा दास हूँ" इस प्रकार चन्द्रमौलि के कहने पर उन्होंने तुरन्त ही अपने तपोजनित खेद का परित्याग कर दिया, क्योंकि फल-प्राप्ति हो जाने पर क्लेश क्लेशरूप में नहीं प्रतीत होता।' मृत काम के प्रति रति के सम्बोधन में तीव्र उत्कण्ठा का पूर्ण आर्जव विद्यमान है :

कृतवानसि विप्रियं न मे, प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥

'तुमने कभी भी मेरा अपराध नहीं किया और मैंने भी कभी तुम्हारे प्रतिकूल आचरण नहीं किया; तो फिर विलाप करती हुई रति को तुम अकारण ही दर्शन क्यों नहीं देते।' नवोढा वधू की भीरुतायुक्त लज्जा और उसके प्रियतम के छलों का चित्र सुकुमारता के साथ खींचा गया है :

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे, गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

'शिव के पूछने पर वे प्रत्युत्तर नहीं देती थीं, उनके आँचल पकड़ने पर वे जाने लगती थीं, और मुँह फेर कर उनके साथ सोती थीं, तो भी वे शिव को आनन्दित करती थीं।'

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः ॥

'निश्चल एवं विशाल नेत्रों वाली पार्वती ने अपने को दर्पण में शोभित होता हुआ देखकर शिव के पास जाने की शीघ्रता की, क्योंकि स्त्रियों के वेश का फल प्रियतम द्वारा देखा जाना ही है।' रति द्वारा प्राप्त शोकपूर्ण आघात का वर्णन भी अपनी प्रभावशालिता में वैसा ही पूर्ण है :

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्त्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥

'भारी आघात से उत्पन्न हुई और इन्द्रियों की वृत्ति को स्तम्भित करने वाली मूर्च्छा के कारण क्षण भर के लिए पति की मृत्यु को न जान सकने वाली रति मानो अत्यन्त उपकृत हुई।'

अज के आँसुओं का औचित्य तो स्वयं मानवप्रकृति में ही सन्निहित है :

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥

उसने अपनी स्वाभाविक धीरता का परित्याग करके आँसुओं से रुँधे हुए स्वर से विलाप किया। लोहा भी तपाये जाने पर नरम हो जाता है, फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या?' उसको ऐसा लगता है जैसे उसकी पत्नी ने उसके प्रेम पर सन्देह किया है:

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव।
परलोकमसन्निवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः॥

'हे मधुर मुस्कराहट वाली, निश्चय ही तुमने मुझे बहानेबाज़ शठ समझ लिया था। तभी तो बिना मुझसे विदा लिए ही तुम यहाँ से कभी न लौटने के लिए परलोक को चली गई हो।' कोई भी नारी इससे बढ़कर अपनी प्रशंसा नहीं चाह सकती:

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

'तुम मेरी पत्नी, सचिव, एकान्त की सखी और ललितकलाओं में मेरी प्रिय शिष्या थीं। बोलो, निष्करुण मृत्यु ने तुम्हें मुझसे छीन कर मेरा क्या नहीं छीन लिया।' प्राणनाशक उस आघात का इस प्रकार चित्रण किया गया है:

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी॥

'अपने सुडौल स्तनों की क्षणिक सखी उस माला को देखकर व्याकुल होती हुई अज की प्रियतमा ने अन्धकार से अपहृत चन्द्रमा वाली चन्द्रिका की भाँति अपनी आँखों को मूँद लिया।' इसके विपरीत, इन्दुमती द्वारा किए गए अङ्गराज के प्रत्याख्यान में कुछ हास्य का पुट मिलता है:

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत् कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग् द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः॥

'पर अङ्गराज की ओर से दृष्टि हटाकर कुमारी इन्दुमती ने अपनी दासी से आगे बढ़ने को कहा। यह बात नहीं थी कि वह सुन्दर नहीं था या कुमारी ने उसे ठीक से देखा नहीं था। वस्तुतः लोगों की रुचि ही अलग अलग होती है।' निम्न पद में वही शोभाधायक सरलता है जो प्रायः ऋतुसंहार के पद्यों में पाई जाती है:

विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना सपङ्कतोयात्सरसोऽभितापितः।
उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः फणातपत्रस्य तले निषीदति॥

'अतिशय तीक्ष्ण किरणों से शोभित होने वाले सूर्य से तपाया गया मेंढक गन्दे जल वाले पोखरे से उछल कर प्यासे सांप की फन की छतरी के नीचे आकर

बैठता है।' निम्न पद्य कन्योचित त्वरा का एक मनोहर चित्र है :

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत् करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥

'सहसा झरोखे की ओर जाती हुई किसी रमणी ने हाथ से थामे हुए भी उस केश-पाश को बांधने की परवाह नहीं की, जिसके खुल जाने से उसमें गुथी हुई मालाएँ गिर रही थीं।'

इनमें से प्रत्येक चित्राङ्कन की रचना सरल ढंग से हुई है, आदि से अन्त तक कालिदास के ग्रन्थों में प्रत्येक पद्य साधारणतः अपने में पूर्ण है और केवल एक क्रिया पर अनेक विशेषण और विशेषणस्थानीय संज्ञाशब्द (appositions) निर्भर रहते हैं, यद्यपि शब्दोपात्त या अध्याहृत क्रिया से युक्त सम्बन्धवाचक उपवाक्य (relative clauses) भी कम नहीं हैं। प्रायः बहुत बड़े बड़े समासों का प्रयोग नहीं है; मदाक्रान्ता छन्द में अवश्य कहीं कहीं दीर्घ समास प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु तब भी अर्थ की स्पष्टता का ध्यान रक्खा गया है और वह सामान्यतः प्राप्त भी हुई है। शब्दों का क्रम अत्यन्त स्वच्छन्द है, जिसका एक कारण तो निश्चय ही छन्दों की अपनी आवश्यकता है। अलङ्कारों में, शब्दा-लङ्कारों का प्रयोग पर्याप्त रूप से किन्तु प्रायः निपुणता के साथ किया गया है। **निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु** जैसे अनुप्रास के साधारण उदाहरणों के साथ साथ हमें अधिक महत्त्वपूर्ण यमक भी प्राप्त होता है, जिसमें उसी क्रम से अथवा विपरीत क्रम से[1] भिन्न अर्थ में उन्हीं वर्णों की आवृत्ति होती है। आवृत्ति की प्रक्रिया में कुछ उदारता बरती गई है; उदाहरणार्थ कालिदास ने भुजलताम् की जडताम् के साथ समता की है, क्योंकि र और ल तथा ब और व की भाँति ल और ड को भी समान माना गया है, और इसी सिद्धान्त को नीचे की पंक्तियों में भी स्पष्टतया देखा जा सकता है

चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।

'मतवाले चकोर के जैसे नेत्रों वाली लज्जावती उसने अग्नि में लाजों की आहुति दी।' रघुवंश के नवें सर्ग में कालिदास ने जान बूझकर यमक के प्रयोग में अपनी निपुणता का प्रदर्शन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह आनन्दवर्धन के उस निर्दोष सिद्धान्त के विपरीत है, जिसके अनुसार यमकादि का यत्नपूर्वक निबन्धन काव्य के उद्देश्य को ही नष्ट कर देता है, जो मुख्यतः अर्थ की अभिव्यञ्जना है, काव्य के बाह्यरूप का प्रदर्शनमात्र नहीं। हम केवल यह अनुमान

१. अनुप्रास के विपरीत, यमक में आवृत्ति पद्य के नियत भागों में होनी चाहिए (Jacobi, ZDMG. lxii. 303, n. 1).

लगा सकते हैं कि इस सर्ग में, जिसका प्रयुक्त किए गए छन्दों की आश्चर्यजनक विविधता के कारण भी अपना विशिष्ट स्थान है, कालिदास यह सिद्ध करना चाहते थे कि इस प्रकार के बाह्य सौन्दर्योपकरणों में भी वे किसी भी प्रतिद्वन्द्वी से प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं। अठारहवाँ सर्ग भी यमकों से परिपूर्ण है। जो भी हो, हम कालिदास को ध्वनियों और अर्थों की अनुरूपता के लिए प्रयत्न करता हुआ अनुभव करते हैं, जिसके लिए भारतवासियों के कान स्पष्टतः हम लोगों की अपेक्षा अधिक ग्रहण-क्षम थे।

अर्थालङ्कारों में भारतीय मत के अनुसार कालिदास की उपमायें अत्यधिक उत्कृष्ट हैं और यह प्रशंसा सर्वथा न्याय्य है। भारतीयों का उपमा-प्रेम ऋग्वेद में खुलकर दिखाई पड़ता है और भारतीय काव्यशास्त्र में उपमा के भेद-प्रभेदों का विस्तृत विभाग भी इस बात को प्रमाणित करता है। उपमाओं के प्रयोग में कालिदास के ज्ञान का विस्तार और उनके प्रकृति-पर्यवेक्षण का गाम्भीर्य सबसे अच्छी तरह दिखाई देता है। किन्तु उनका संसार हम लोगों के संसार से भिन्न है और निस्सन्देह कभी कभी उनके अलङ्कार[1] हमारी रुचि को भद्दे लगते हैं, उदाहरणार्थ, स्नान करके आये हुए राजा अपनी रानियों से वैसे ही क्रीडा करते हैं जैसे एक गजराज, जिसके कंधे पर अभी भी कमलिनी की एक नई शाखा लगी हुई है, अपने यूथ की हथनियों से क्रीडा करता है। किन्तु साधारणतः उनकी सूझ प्रशंसा के ही योग्य होती है : राजकुमार का रथ उनके शत्रुओं के बाणों से इस प्रकार ढक गया है कि केवल पताका के सिरे से उसके होने का ज्ञान होता है जैसे कुहरे से आवृत उषःकाल का पता सूर्य की दुर्बल रश्मियों से लगता है; बाण द्वारा किया गया घाव मानो मृत्यु का द्वार है; आनन्दपूर्ण नेत्रों से नगर की नारियाँ राजकुमार का ऐसे अनुगमन करती हैं जैसे उज्ज्वलतारका शरद् की रात्रियाँ ध्रुवतारे का। विस्तार के साथ समानता को दिखाने की प्रवृत्ति विशेषतया लक्षित होती है; पाठक के सन्तोष के लिए संकेतमात्र पर्याप्त नहीं समझा जाता, उसके लिए साम्य का पूर्णतया प्रतिपादन होना चाहिए। पाण्ड्य नरेश पर्वतराज की भाँति हैं, उनके कन्धों पर से लटकते हुए हार उसके फेनिल निर्झर हैं और उनके अंगों पर लगा हुआ रक्त-चन्दन पर्वतशिखरों को लाल रँग देने वाला बालातप है। अथवा, दिखावटी

---

१. Cf. Hillebrandt, *Kālidāsa*, pp. 112-20. शकुन्तला के लिए cf. P. K. Gode, POCP. 1919, ii. 205 ff. Lucan की उपमाओं के साथ एक बड़ी रोचक तुलना की जा सकती है (Heitland in Haskins' *Lucan*, pp. lxxxiv ff.).

हर्ष द्वारा अपनी ईर्ष्या को छिपाने वाले राजाओं की उपमा उस सरोवर से दी गई है जिसकी शान्त गम्भीरता में भयानक घड़ियाल छिपे रहते हैं। या फिर, उजड़ी हुई अयोध्या, जिसके कोठे और अटारियाँ टूट गई हैं और घर ढह गए हैं, उस सन्ध्या की भाँति लगती है जिसमें सूर्य पर्वत के पीछे अस्त हो जाता है और प्रचण्ड वायु मेघों को छिन्न-भिन्न कर देती है।

हम लोगों (पाश्चात्यों) को निस्सन्देह उपमा और रूपक दोनों ही कभी कभी दूरतः सम्बद्ध प्रतीत होते ह; व्याकरण से ली गई उपमायें हमें ज़रा भी प्रभावित नहीं करतीं, किन्तु इस कथन में बुद्धिकौशल विद्यमान है कि राम द्वारा शोभा को प्रकाशित करने वाले तपस्विवेश को छोड़कर राजकीय वस्त्रों का धारण करना पुनरुक्त दोष की भाँति है। धनुर्धारी लोग जिनके वाण आपस में लड़ जाते हैं उन वादियों की भाँति हैं जिनके शब्द परस्पर विरुद्ध होते हैं। राजा पारसीकों को वैसे ही जीतना चाहते हैं जैसे एक तपस्वी तत्त्वज्ञान द्वारा इन्द्रियों को जीतना चाहता है। कालिदास की कविता में उत्प्रेक्षाओं की भी वैसी ही बहुलता है; वे सामने जीता-जागता चित्र उपस्थित कर देती हैं; जीवन की परिभाषा में विचार करना और पर्वतों, पवनों तथा नदियों पर मनुष्य की चिन्ताओं, शोकों, आनन्दों और विचारों का आरोप करना उनके लिए स्वाभाविक है। अर्थान्तरन्यास भी उनका प्रिय अलङ्कार है; वस्तुतः **कुमारसम्भव** के अन्तिम सर्गों में इसका असावधान प्रयोग उन सर्गों के किसी कृत्रिम लेखक द्वारा लिखे जाने की बात सूचित करता है। किन्तु श्लेष का बहुत कम प्रयोग किया गया है; इसके बहुत कम उदाहरण मिलते हैं और उनसे इस सुझाव को कोई बल नहीं मिलता कि **मेघदूत** के चौदहवें पद्य में अप्रत्यक्ष रूप से निचुल की प्रशंसा और दिग्नाग की निन्दा करने का प्रयत्न किया गया है। निचुल के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं, और निश्चय ही यह उत्तरकाल का श्लेष-विषयक अनुराग ही था जिससे प्रेरित होकर लोगों ने उन दोनों को कालिदास के काव्य में ढूँढ़ निकाला। जटिल श्लेष का एक भी उदाहरण कालिदास के काव्यों में विद्यमान है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता।[१]

कालिदास की छन्दोविषयक निपुणता सन्देह के परे है। **ऋतुसंहार** में उन्होंने वसन्ततिलक और मालिनी के साथ साथ साधारणतया इन्द्रवज्रा और

---

१. **मेघदूत** १० में आशाबन्ध के दो अर्थ हो सकते हैं; २८ रस; **कुमारसंभव** ८।२२; **रघुवंश** ११।२०। किन्तु **मेघदूत** के चौदहवें पद्य में निचुल को एक मित्र कवि कहा जाता है, अन्य स्थानों में जिसका कहीं कोई पता नहीं है।

वंशस्था के ढंग के वृत्तों का प्रयोग किया है; केवल एक पद्य शार्दूलविक्रीडित में उपलब्ध होता है। मेघदूत में बिना किसी परिवर्तन के अधिक प्रयत्न-साध्य मन्दाक्रान्ता का प्रयोग है; यति-सम्बन्धी कुछ छोटे-मोटे दोषों को इस काव्य को कालिदास की अपेक्षाकृत प्रारम्भिक कृतियों में मानने के लिए प्रमाणरूप में रखा जा सकता है, किन्तु यह साक्ष्य अपने रूप में गम्भीरतापूर्वक विचार किए जाने के लिए अत्यधिक निर्बल है। कुमारसंभव में हम यह सामान्य नियम पाते हैं कि एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है, केवल सर्गान्त में काव्यशास्त्र के लेखकों के मतानुसार छन्दःपरिवर्तन कर दिया गया है। इस प्रकार प्रथम, तृतीय और सप्तम सर्ग इन्द्रवज्रा वृत्त में लिखे गए हैं; द्वितीय और षष्ठ में श्लोक का, चतुर्थ में वैतालीय का, पञ्चम में वंशस्था का और अष्टम सर्ग में रथोद्धता का प्रयोग किया गया है। सर्गान्त के छन्दःपरिवर्तन में पुष्पिताग्रा, मालिनी और वसन्ततिलक प्रयुक्त हुए हैं। रघुवंश में ी साधारणतः इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है, किन्तु उसमें वैविध्य अधिक है और इस कारण वह अपेक्षाकृत अधिक पीछे का काव्य सूचित होता है। दूसरे, पाँचवें से सातवें, तेरहवें, चौदहवें, सोलहवें और अठारहवें सर्ग में इन्द्रवज्रा के प्रकार का, पहले, चौथे, दसवें, बारहवें, पन्द्रहवें और सत्रहवें में श्लोक का, आठवें में वैतालीय का, और ग्यारहवें और उन्नीसवें में रथोद्धता का प्रयोग किया गया है। नवाँ सर्ग चौव्वनवें पद्य तक द्रुतविलम्बित में होने के कारण उपर्युक्त परिपाटी का अनुसरण करता है, पर उसके पश्चात् उसमें नये नये छन्दों के प्रयोग में कवि के नैपुण्य का जान बूझकर प्रदर्शन किया गया है; औपच्छन्दसिक, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मञ्जुभाषिणी, मत्तमयूर, वसन्ततिलक (जिसका प्रयोग पञ्चम सर्ग के ग्यारह पद्यों के लिए भी किया गया है), वैतालीय, शालिनी और स्वागता में से प्रत्येक छन्द में एक या अधिक पद्य लिखे गये हैं। तोटक, मन्दाक्रान्ता और महामालिका में भी रचे हुए कुछ पद्य मिलते हैं; और तृतीय सर्ग वंशस्था में लिखा गया है जिसका अन्तिम पद्य हरिणी में है। इस प्रकार कुमारसंभव के आठ छन्दों की तुलना में रघुवंश में उन्नीस छन्दों का प्रयोग किया गया है। इन छन्दों में से किसी में भी यति इत्यादि के सम्बन्ध में क्रमिक विकास के किसी प्रकार के संकेत को पाने के लिए किये गये विस्तृत प्रयत्न किसी विश्वसनीय परिणाम को देने में असफल सिद्ध हुए हैं।[1]

महाकाव्यों की परम्परा ने पहिले से ही श्लोकविषयक नियमों का स्थिरीकरण

---

१. Huth, *Die Zeit des Kālidāsa* (1890), App.; Hillebrandt, *Kālidāsa*, p. 157. Cf. SIFI. VIII. ii. 40 ff.

कर दिया था, और कालिदास ने उन नियमों का सावधानी से पालन किया है। विपुला के चार भेदों में से उन्होंने अन्तिम भेद का केवल एक बार ही प्रयोग किया है; अवशिष्ट तीन भेदों के लिए, उनके महाकाव्यों के १४१० श्लोकार्धों में संख्याएँ[1] हैं: ४६, २७ और ४१, अर्थात् ८·१५ प्रतिशत। इससे प्रतीत होता है कि तृतीय विपुला कालिदास को अत्यधिक प्रिय थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रथम विपुला के पूर्व में आने वाले अक्षरों के प्रकारों में से कालिदास ने उस प्रकार (⏑ ⏑̲ – –) के चुनने में विशेष सावधानी दिखाई है जिसका द्वितीय विपुला में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है, और उस प्रकार (⏑̲ – ⏑ –) का प्रयोग बहुत कम किया है जिसका दोनों में उपयोग हो सकता है। कुमारसंभव में उक्त द्वितीय प्रकार के ३ उदाहरणों की अपेक्षा में प्रथम प्रकार के ११ उदाहरण हैं और रघुवंश में द्वितीय प्रकार[1] की तुलना में प्रथम के ३१ उदाहरण हैं। इससे स्पष्टतः सौन्दर्य लाने के लिए कालिदास की बढ़ती हुई सावधानता प्रकट होती है और यह बात इस बात से मेल खाती है कि केवल कुमारसंभव में ही चतुर्थ विपुला पाई जाती है।[2]

---

१. रघुवंश के लिए वे संख्यायें १०९६ में से ३२, १८ और २७ हैं; याकोबी (Jacobi) की संख्यायें (IS. xvii. 444f.) SIFI. *l. c.* के आधार पर शुद्ध की गई हैं। भारवि के काव्य में यह प्रतिशत ९·६ है; माघ में २७·१५; विल्हण में ८·६४; श्रीहर्ष में ०·५३; और कुमारदास में २·३५।

२. रघुवंश १२। ७१ में सम्भवतः द्वितीयहेमप्राकारम् पढ़ा जाना चाहिए। कुमारसम्भव, ७। ११ के एक पाठ में अक्षर-सम्बन्धी स्थिति की शिशुपालवध, १०। ६० की भाँति उपेक्षा की गई है। परन्तु दोनों सन्दिग्ध हैं (SIFI. VIII. ii. 7). छन्दों की योजनाओं के सम्बन्ध में देखिए Chap. xx, §4.

५

भारवि, भट्टि, कुमारदास और माघ

१. भारवि

भारवि के जीवन के विषय में हम कुछ नहीं जानते, यद्यपि काव्यलोक के नक्षत्रों में महत्त्व की दृष्टि से उनका दूसरा स्थान है। बहिरङ्ग साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि वे ६३४ ई० के पूर्व हुए थे, क्योंकि उसी समय के ऐहोल के अभिलेख में कालिदास के साथ उनका उल्लेख पाया जाता है, और काशिकावृत्ति में उनका उद्धरण मिलता है। दूसरी ओर, वे स्पष्टतया कालिदास से प्रभावित हैं, और साथ ही माघ पर उनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है[1]। बाण उनका उल्लेख नहीं करते, अतः वे बाण के इतने अधिक पूर्व न हुए होंगे कि उनकी प्रसिद्धिवश बाण को उनका उल्लेख करना आवश्यक हो जाता। इसलिए ५०० ई० की अपेक्षा ५५० ई० के लगभग ही उनके समय को मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

जैसा कि प्रायः काव्यों में देखा जाता है, उनका किरातार्जुनीय[2] पौराणिक काव्य (महाभारत) पर ही आधारित है। महाभारत[3] से पता लगता है कि जब पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदी के साथ बारह वर्षों के निर्वासन की प्रतिज्ञा के अनुसार द्वैतवन को चले जाते हैं, उस समय द्रौपदी, स्त्रियों की स्वाभाविक असत्यप्रियता के अनुसार, अपना वचन भङ्ग करने के लिए उनको प्रेरित करती हैं। वे आपस में मन्त्रणा करते हैं; युधिष्ठिर प्रतिज्ञा-पालन का समर्थन करते हैं; भीम उनकी बातों का विरोध करते हैं। व्यास द्वैतवन छोड़ने की सलाह देते हैं, और पाँचों भाई काम्यक वन चले जाते हैं। वहाँ बुद्धिमत्ता-पूर्वक युधिष्ठिर, युद्ध की तैयारी के रूप में, अर्जुन को शिव से दिव्यास्त्र प्राप्त करने की आज्ञा देते हैं। अर्जुन आज्ञा मानकर हिमालय पर कड़ी तपस्या करते हैं। वहाँ एक किरात से उनकी भेंट होती है जिससे वे युद्ध करते हैं, जो कि वास्तव में शिव ही निकलते हैं। वे अर्जुन को अभीष्ट वर देते हैं और दूसरे देवता और भी पुरस्कार देते हैं। भारवि ने इसी विषय को विस्तारपूर्वक प्रति-

---

१. Cf. Jacobi, WZKM. iii, 121 ff.

२. Ed. NSP. 1907; trans. C. Cappeller, HOS. 15, 1912; i-iii, चित्रभानु की टीका के साथ, TSS. 63.

३. iii. 27-41.

पादन के लिए तथा परिष्कृत और यत्नसाध्य कला के समस्त उपकरणों का निदर्शन उपस्थित करने के लिए चुना है। प्रारम्भ में हमें तत्काल कलाकार की कला का दर्शन होता है। महाभारत में पाण्डवों का पारस्परिक वादविवाद केवल उनकी निराशापूर्ण स्थिति के कारण ही आरम्भ होता है; परन्तु भारवि उसे एक गुप्तचर के लौटने से आरम्भ करते हैं जिसको युधिष्ठिर ने सुयोधन (जिसको सदा इसी नाम से पुकारा जाता है) के कार्यों के विषय में सूचना लेने के लिए भेजा है। गुप्तचर राजा के सदाचार के मार्ग में चलने का और उसके द्वारा लोगों के हृदयों को आकृष्ट किए जाने का अरुचिकर समाचार लाता है। इस पर भविष्य के लिए चिंतित होकर द्रौपदी स्वभावतः युधिष्ठिर को उनकी निन्दनीय स्थिति को लेकर ताने देती हैं और शीघ्र युद्ध के लिए प्रेरित करती हैं (सर्ग १)। भीम समर्थन करते हैं; शिथिल-स्वभाव युधिष्ठिर प्रतिष्ठा को लेकर दुविधा में पड़ जाते हैं (सर्ग २)। परन्तु वे व्यास की सम्मति लेते हैं और व्यास मुनि स्वीकार करते हैं कि युद्ध तो आवश्यक है, परन्तु, क्योंकि शत्रु अधिक बलवान है, वे अर्जुन को हिमालय पर तपस्या करके इन्द्र की सहायता प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं। मुनि तिरोहित हो जाते हैं, पर एक यक्ष अर्जुन को उसका रास्ता दिखाने के लिए प्रकट होता है और वे दोनों अवशिष्ट साथियों के शुभ.शंसनों से प्रोत्साहित होकर चल पड़ते हैं (सर्ग ३)। इस स्थान पर कवि की कल्पना अपना विस्तार दिखाती है; इससे पहले, काम्यक-वनगमन को बिलकुल चर्चा न करके उन्होंने आख्यान के संक्षेप द्वारा प्रभाव में बहुत अधिक वृद्धि की थी; अब इस अवसर पर वे भाषा पर अपने अधिकार का प्रदर्शन करते हैं। चतुर्थ सर्ग में यक्ष अर्जुन का आगे मार्गदर्शन करता है और शरत्कालीन दृश्य का अंशतः कवि के वर्णन द्वारा और अंशतः यक्ष के शब्दों द्वारा एक सुन्दर चित्र खींचा गया है। इसके बाद (सर्ग ५) स्वयं हिमालय का वर्णन आता है। यक्ष उसकी रहस्यमय स्थिति पर तथा शिव और पार्वती के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध पर जोर देता है, और अर्जुन को इन्द्रकील पर तपस्या करने के लिए कह कर अन्तर्हित हो जाता है। अर्जुन की तपस्या इन्द्रकील पर रहने वाले गुह्यकों को भयभीत कर देती है; वे इन्द्र से सहायता के लिए प्रार्थना करते हैं, और वे अपने पर्वत की शांति में विघ्न का भय उपस्थित करने वाले तप को भङ्ग करने के लिए गन्धर्वों और अप्सराओं को भेजते हैं (सर्ग ६)। स्वर्गीय गण वायुमार्ग से इन्द्रकील की ओर शीघ्रता से जाता है और वहाँ अपना डेरा डाल देता है; उनके हाथी विशेष- वर्णन के योग्य हैं (सर्ग ७)। अब अप्सरायें अपनी मायावी शक्ति से तुरन्त बनाए गए महलों को

छोड़कर वनों में पुष्प-चयन के लिए घूमती हैं; तब गङ्गा स्नान के लिए उन्हें आमन्त्रित करती है, और इस स्नान के दृश्य का वर्णन बड़े आकर्षण और सौन्दर्य से किया गया है (सर्ग ८)। संध्या होती है, सूर्य अस्त होता है, चन्द्रमा उदय होता है—कवि के कौशल से साधारण वर्ण्य विषय में नूतन प्रभाव उत्पन्न हो जाता है; अप्सरायें अपने प्रेमियों के साथ सुरापान करती हैं और प्रेम का आनन्द लेती हैं; सवेरा होता है (सर्ग ९)। अप्सरायें अब अपने काम में मन लगाती हैं। अपने प्रयत्नों में योग देने के लिए उपस्थित होने वाली छः ऋतुओं की सहायता से वे युवक तपस्वी पर अपनी सारी मोहक शक्ति लगा देती हैं, पर कोई फल नहीं होता (सर्ग १०)। अर्जुन की दृढता से अपने अनुचरों के प्रयत्नों को इस प्रकार निष्फल हुआ देखकर इन्द्र स्वयं मुनि के वेश में प्रकट होते हैं और अर्जुन के तपस्या के उत्साह की प्रशंसा करते हैं। परन्तु वे साथ ही कहते हैं कि शस्त्र धारण करना और तपस्या करना परस्पर विरोधी हैं। अर्जुन इस अधिक्षेप के तर्क को स्वीकार करते ह, परन्तु कहते हैं कि वे अपने कुटुम्ब के सम्मान की रक्षा के लिए सब कुछ करेंगे। इन्द्र इससे प्रभावित होते हैं, अपने को प्रकट कर देते हैं और उनसे शिव की कृपादृष्टि प्राप्त करने को कहते हैं (सर्ग ११)। यहाँ पर कवि की कल्पना समाप्त हो जाती है, और हमें पुनः महाभारत कवि के स्रोत के रूप में दृष्टिगत होता है। अर्जुन शिव का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए अपनी तपस्या जारी रखते हैं; महर्षिगण व्याकुल होकर शिव से प्रार्थना करते हैं। शिव आदि-पुरुष के अंशभूत नर के अवतार के रूप में अर्जुन के दिव्य स्वरूप को उन्हें समझाते हैं। मूक नामक एक दानव वराह के रूप में उन्हें मारने को तैयार होता है; इसलिए शिव अपने गणों को अर्जुन की रक्षा करने के लिए अपने पीछे आने को कहते हैं (सर्ग १२)। वराह अर्जुन के सामने आता है; वह उनके और शिव के बाण से विद्ध होकर गिर पड़ता है; अर्जुन अपना तीर लेने के लिए आगे बढ़ते हैं, पर एक किरात जो उसको अपने स्वामी के नाम पर माँगता है उन्हें ललकारता है (सर्ग १३)। अर्जुन उस माँग को एक लम्बे भाषण द्वारा अस्वीकार करते हैं; किरात लौट जाता है और शिव अपने गणों को अर्जुन के विरुद्ध व्यर्थ ही भेजते हैं। अर्जुन उनके बाणों की वर्षा को बिना घायल हुए ही झेल लेते हैं (सर्ग १४)। शिव और स्कन्द भागते हुए अपने गणों को पुनः एकत्र करते हैं, और तब शिव अर्जुन से बाणों का घोर युद्ध आरम्भ करते हैं (सर्ग १५)। फिर दोनों मायावी शस्त्रों से युद्ध करते हैं, अर्जुन हार जाते हैं (सर्ग १६), परन्तु वे फिर से अपना धनुष उठा लेते हैं, और तलवार, बड़ी बड़ी चट्टानों, और बड़े बड़े पेड़ों के तनों से शिव पर

आक्रमण करते हैं, पर सब कुछ निष्फल ही होता है (सर्ग १७)। वे मुष्टी-मुष्टि करते हैं और अन्त में मल्लयुद्ध करते हैं; शिव अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देते हैं, और अर्जुन अन्त में नम्र होकर शिव की महत्ता की प्रशंसा करते हैं और उनसे बल तथा विजय की याचना करते हैं; शिव तथा लोकपाल, जो घटना-स्थल पर आते हैं, उनकी भक्ति को स्वीकार करते हैं और उनके अभीष्ट शस्त्र उन्हें प्रदान करते हैं।

शिव के गणों का प्रवेश कराया जाना, स्कन्द के नेतृत्व में अर्जुन से उनका संग्राम, और मायावी शस्त्रों से युद्ध की सम्पूर्ण घटना कवि की कल्पना का परिणाम है। एक कठिनाई स्पष्ट है; तपस्या के प्रभाव के कारण भय उत्पन्न होने और फिर देवताओं द्वारा उसमें विघ्न डालने के प्रसङ्ग की पुनरावृत्ति करना आवश्यक बना दिया गया है, और युद्ध के अति-विस्तार से कुछ विचारों की पुनरुक्ति हो गई है। गन्धर्वों के साथ अप्सराओं के प्रेमविहार और अर्जुन को आकृष्ट करने के उनके प्रयत्नों के वर्णन में भी पुनरावृत्ति हो गई है। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि के कौशल ने उनको उसकी सीमा से अधिक खुलकर प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित किया। मायावी शस्त्रों का समावेश हमें तनिक भी प्रभावित नहीं करता। इस सम्बन्ध में वाल्मीकि का संस्कृत काव्य पर प्रभाव सांघातिक सिद्ध हुआ है; रामकथा की पौराणिक पृष्ठभूमि ने उनके युद्धों को अवास्तविक बना दिया जिसका अनुकरण महाकाव्य लिखने वाले प्रत्येक कवि को करना पड़ा। दूसरा प्रभाव, जो प्रथम दो सर्गों में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है, उस समय के राजनीतिक सिद्धान्तों का है। सुयोधन के शासन के वर्णन में और युधिष्ठिर के उन तर्कों में, जिनसे वे अपने भाइयों द्वारा वचन का पालन किया जाना न्याय्य सिद्ध करना चाहते हैं, उन सिद्धान्तों के निदर्शन का पर्याप्त अवसर मिल गया है।

भारवि की वर्णन-शक्ति में कोई सन्देह नहीं है। अपने सर्वोत्तम स्वरूप में उनकी शैली में एक प्रकार की शान्त गरिमा है जो वस्तुतः आकर्षक है; साथ ही वे प्रकृति और युवतियों के सौन्दर्य के निरीक्षण तथा चित्रण में भी सिद्धहस्त हैं। पहली विशेषता प्रथम सर्ग में बारम्बार दिखाई पड़ती है, जिसकी पहली पंक्ति में ही उच्च राजनीति का सच्चा प्रभाव परिलक्षित होता है; तदनन्तर यह पद्य आता है:

> कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे, जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
> न विव्यथे (तस्य) मनो न हि प्रियम्, प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥

'प्रणाम करके राजा युधिष्ठिर से शत्रु द्वारा जीती गई पृथ्वी के सम्बन्ध में निवेदन करने वाले उसका मन दोलायमान नहीं हुआ, क्योंकि हितैषी लोग झूठी प्रिय बात कहने की चेष्टा नहीं करते।' इसी प्रसङ्ग में दुर्योधन की प्रशंसा की गई है:

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः,
कृतं न वा तेन विजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते,
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥

'उसने कभी भी प्रत्यञ्चा चढ़े हुए अपने धनुष् को मारने के लिए नहीं उठाया है; कभी भी उसने अपने चेहरे को क्रोध से विकृत नहीं किया है, उसके गुणों में अनुराग के कारण नृपतिगण उसकी आज्ञा को माला की भाँति सिर पर धारण करते हैं।' अस्त होते हुए सूर्य तथा उदय होते हुए चन्द्रमा का चित्रण बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया गया है:

अंशुपाणिभिरतीव पिपासुः,
पङ्कजं (?पद्मजं) मधु भृशं रसयित्वा।
वली (?क्षी)बतामिव गतः क्षितिमेष्य-
ल्लोहितं वपुरुवाह पतङ्गः॥

'सूर्य अत्यधिक प्यासा होकर अपने किरण-रूपी हाथों से कमलों की रसरूपी सुरा का खूब पान कर मानो मतवाला हो गया और पृथ्वी पर गिरते हुए उसने रक्त शरीर धारण किया।'

संविधातुमभिषेकमुदासे,
मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः,
सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः॥

'रात्रिरूपी रमणी द्वारा कामदेव का अभिषेक करने के लिए किरणरूपी जल-समूह से शोभित, स्फुट लाञ्छन वाला चन्द्रमा नीलकमलयुक्त चाँदी के घड़े की भाँति ऊपर उठाया गया।' शिशिर ऋतु के आगमन का इस प्रकार स्वागत किया गया है:

कतिपयसहकारपुष्परम्य-
स्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी,
समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः॥

'तब कामदेव का एकमात्र मित्र शिशिर आ गया, जो यत्र-तत्र आम्रमञ्जरियों

क निकलने से सुन्दर प्रतीत होता है, जिसमें जाड़ा कम हो जाता है और कुछ ही सिन्दुवार पुष्प विकसित रहते हैं, और जो जाड़े की समाप्ति तथा वसन्तागमन की सूचना लाने वाला होता है।' जलक्रीडा का दृश्य अत्यन्त सौन्दर्यपूर्ण है :

> तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलै–
> रपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
> ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां,
> द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः।

'जल में अवगाहन करने से नितरां छितरे हुए बड़े बड़े बालों से अंशतः छिपे हुए युवतियों के मुख भ्रमरवृन्द से आच्छन्न कमलों की समानता को प्राप्त हो रहे थे।'

> प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी,
> निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया।
> समादधे नांशुकमाहितं वृथा,
> विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम्॥

'बोलते हुए अपने प्रियतम के ऊपर निबद्ध दृष्टि वाली और ऊपर की मुख उठाए हुए दूसरी स्त्री ने गाँठ के शिथिल होकर खुल जाने पर भी अपना अधोवस्त्र नहीं सँभाला, और न वह फूलों पर व्यर्थ ही प्रसारित अपने पाणि-पल्लव को जान सकी।' महाकाव्य को विशेषता के अनुकूल यही बात इसी सर्ग में आगे चलकर बदल दी गई है :

> विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि,
> प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
> सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता,
> बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम्॥

'अञ्जलि में पानी भरे हुए उसके हाथ को जब प्रिय ने हँस कर पकड़ लिया, तब काम से परवश चित्तवाली वधू के मुक्त नीवीबन्ध वाले वस्त्र को पानी से घनीकृत करधनी ने सखी की भांति संभाल लिया।' उनकी कल्पना की गति निर्बाध तथा विस्तृत है; वात्याओं से उड़ाए गए कमलों के पराग को सोने के आतपत्र की शोभा* धारण करने वाला कहने के कारण (५।३९)

---

*इस प्रसङ्ग में कीथ महाशय का कथन वास्तव में भारवि के अभिप्राय के अनुसार नहीं है। (मं. दे. शास्त्री)

उन्होंने आतपत्रभारवि की उपाधि प्राप्त की थी। व्याकरण में प्रकृति और प्रत्यय के बीच में स्थित अनुबन्ध पर आश्रित उपमा[1] पाश्चात्यों की रुचि के लिए और भी कम आकर्षक है।

भारवि ऐसी विकृत रुचि के भी दोषभागी हैं जिससे कालिदास मुक्त हैं। विशेषतया पन्द्रहवें सर्ग में उन्होंने अत्यन्त मूर्खतापूर्ण ढंग के अत्यधिक श्रम-साध्य चित्रकाव्य की रचना का प्रयत्न किया है जो अलेग्जेंड्रियन (Alexandrian) कवियों की अत्यन्त कृत्रिमता का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार एक पद्य में पहली और तीसरी, तथा दूसरी और चौथी पंक्तियां समान हैं; एक दूसरे पद्य में चारों समान हैं; एक में लगभग च् और र् का ही प्रयोग किया गया है, दूसरे में केवल स्, श्, य् और ल् वर्ण ही हैं; अन्य पद्यों में प्रत्येक पंक्ति उल्टी तरफ़ से ठीक उसी प्रकार पढ़ी जाती है जैसे आगे वाली पंक्ति, या पूरा पद्य ही उल्टा पढ़ा जाने पर अगले पद्य के समान हो जाता है; एक पद्य के तीन अर्थ निकलते हैं; दो में कोई ओष्ठ्य वर्ण नहीं है; अथवा प्रत्येक पद्य सीधी तथा उल्टी ओर से एक ही रूप में पढ़ा जा सकता है। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा :

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो न नुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥

'अरे अनेक प्रकार के मुख वालो ! निकृष्ट व्यक्ति द्वारा विद्ध किया गया पुरुष पुरुष नहीं है और निकृष्ट व्यक्ति को जो विद्ध करता है वह भी पुरुष नहीं है। स्वामी के अविद्ध होने पर विद्ध भी पुरुष अविद्ध ही है और अतिशय पीडित व्यक्ति को पीडा पहुँचाने वाला व्यक्ति निर्दोष नहीं होता।' परन्तु कम से कम वे दीर्घ समासों का प्रयोग नहीं करते, और सम्पूर्ण ग्रन्थ की दृष्टि से उनका काव्य विशेषरूप से अस्पष्ट या दुर्बोध भी नहीं है।

भारवि ने व्याकरण-सम्बन्धी अपनी निपुणता प्रदर्शित करने के अनुराग का बुरा उदाहरण उपस्थित किया है। वे कई प्रकार से उत्तरकालीन कवियों में सधे हुए शब्दों के बार-बार प्रयोग करने की प्रवृत्ति के प्रारम्भ करने वाले हैं। तन् धातु का हास्यास्पद रूप में बारम्बार प्रयोग उन्हीं से आरम्भ होता है[2]; लिट् लकार का कर्मवाच्य और भाववाच्य में प्रयोग उन्हें बहुत प्रिय है। वे कर्मप्रवचनीय-पूर्वपद समासों (prepositional compo-

---

१. xiii. 19; cf. xvii. 6. Cf. माघ, ii. 47, 95, 112; x. 15; xiv. 66; xvi. 80; xix. 75.

२. Walter, *Indica*, iii. 34 f.

unds) का क्रियाविशेषण के रूप में प्रयोग बहुत करते हैं। प्रयोग में कम आने वाले पाणिनि के अनेक सूत्रों[1] का उन्होंने उदाहरण दिया है, जैसे शास् और दर्शयते का द्विकर्मक प्रयोग, अनुजीविसात्कृत, रतनोपपीडम्, दो निषेधों का विध्यर्थ में प्रयोग, और ननिवृतम् में न के साथ समास; लोट् के साथ भी इसका प्रयोग मिलता है। आख्यान-परक लकारों के प्रयोग में भारवि की अत्यधिक सावधानी बड़ी रोचक है, जिनके विषय में कालिदास और अन्य कवियों ने उदासीनता बरती है। भारवि ने लङ् और लुङ् लकारों का आख्यान-परक प्रयोग नहीं किया है। ये दोनों लकार वक्ता के अपरोक्ष अनुभव के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त हुए हैं; लङ् लकार अपेक्षाकृत सुदूर अतीत में हुई (अनद्यतन) घटना को सूचित करता है, और लुङ् लकार अद्यतन भूत (अद्यतन) को; इसके अपवाद अत्यल्प हैं। अतः लुङ् लकार का प्रयोग बहुत ही कम किया गया है; माघ के २७२ प्रयोगों की तुलना में भारवि में इसके केवल दस प्रयोग हैं। लिट् का अर्थ देने वाले लट् लकार के आह और वेद को छोड़कर, आख्यान में सर्वत्र लिट् लकार का प्रयोग किया गया है। भूतकाल में लट् लकार का स्म के साथ आख्यान-परक प्रयोग प्रायः मिलता है; क्तवतु में अन्त होनेवाले शब्दों का प्रयोग केवल भाषणों में किया गया है, और क्तान्त शब्दों का प्रयोग दोनों में। अपने साधारण प्रयोगों के अतिरिक्त, मा के साथ लोट् और लुङ् दोनों लकारों का प्रयोग प्रश्नार्थक वाक्यों में मिलता है, और लब्धा का प्रयोग कर्मवाच्य में किया गया है। लुट लकार का प्रयोग सुदूर भविष्य की घटना को सूचित करने के ठीक अर्थ मे ही सदा किया गया है। व्याकरण की अशुद्धियाँ बहुत कम हैं, किन्तु आजघ्ने को किसी प्रकार भी साधु प्रयोग नहीं माना जा सकता।

छन्दों के स्वरूप के विषय में भारवि उतने ही बढ़े हुए हैं जितने कि अलङ्कारों के प्रयोग में, जिसके बीसों उदाहरण उनके काव्य से दिए जा सकते हैं। केवल एक बार ही वे एक कठिन छन्द उद्गता का एक सम्पूर्ण सर्ग (१२) के लिए प्रयोग करने में प्रवृत्त होते हैं जिसकी समाप्ति केवल एक प्रहर्षिणी से होती है। पाँचवें सर्ग में वे सोलह और अठारहवें में भी सोलह विभिन्न छन्दों का प्रयोग करते हैं। इन्द्रवज्रा की कोटि का उपजाति छन्द तीसरे, सोलहवें और सत्रहवें में प्रधानरूप से प्रयुक्त हुआ है; वंशस्थ पहले,

---

१. Cappeller, pp. 153 ff. लिट् लकार के विषय में तुलना कीजिए, Renou, *La valeur du parfait*, p. 87.

चौथे और चौदहवें में; वैतालीय दूसरे में; द्रुतविलम्बित अठारहवें में, प्रमिताक्षरा छठे में; प्रहर्षिणी सातवें में; स्वागता नवें में; पुष्पिताग्रा दसवें में; श्लोक ग्यारहवें और पन्द्रहवें में; और औपछन्दसिक तेरहवें में प्रयुक्त हुआ है। दूसरे छन्दों में वसन्ततिलक[1] को छोड़कर और कोई अधिक उपयोग में नहीं आए हैं; चन्द्रिका, मत्तमयूर, कुटिल और वंशपत्रपतित की भाँति अपरवक्त्र, जलोद्धतगति और जलधरमाला का भी एक ही बार प्रयोग हुआ है। रथोद्धता तेरहवें सर्ग में अनेक बार प्रयुक्त है; किन्तु शालिनी, मालिनी, प्रभा और शिखरिणी ये सब विरल हैं[2]।

श्लोक में भारवि साधारणतः उन्हीं नियमों का पालन करते हैं जिनका कि कालिदास। किन्तु विपुला के चतुर्थ भेद का प्रयोग वे कभी भी नहीं करते, और अपने २५० श्लोकार्धों में वे प्रथम तीन विपुलाओं का क्रमशः १५, ८ और २ बार प्रयोग करते हैं; इसके विपरीत कालिदास को तृतीय विपुला ही सर्वाधिक रुचिकर है।

२. भट्टि

सामान्यतः केवल भट्टिकाव्य के नाम से अधिकतर प्रख्यात रावणवध[3] के लेखक भट्टि हमें बताते हैं कि उन्होंने श्रीधरसेन द्वारा शासित वलभी में इस काव्य की रचना की। परन्तु इस नाम के चार राजाओं से हम परिचित हैं जिनमें से अन्तिम की मृत्यु ६४१ ई० में हुई थी। अतः इस बात से भट्टि के काल की निचली सीमा के अतिरिक्त हमें और कोई अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती। केवल इसी एक कारण को लेकर कि वत्सभट्टि व्याकरण की अशुद्धियाँ करते हैं, मन्दसोर अभिलेख के लेखक वत्सभट्टि से उनकी अभिन्नता स्थापित करने के सुझाव[4] में किञ्चिन्मात्र भी सत्य का आभास नहीं है। भट्टि भर्तृ शब्द का प्राकृत रूप है और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि परम्परा नें उन्हें भर्तृहरि से अभिन्न माना है अथवा उन्हें उनका

---

१. तीन पद्यों में प्रथम पाद का और एक पद्य में तृतीय पाद का अंतिम अक्षर लघु है।

२. इस प्रकार कालिदास के ६ और माघ के १६ प्रमुख छन्दों की तुलना में भारवि के ११ या १२ प्रमुख छन्द हैं।

३. Ed. with जयमङ्गल's comm., Bombay, 1887; with मल्लिनाथ, BSS. 1898; i-iv ed. and trans. V. G. Pradhan, Poona, 1897. Cf. Hultzsch, EI. i. 92; Keith, JRAS. 1909, p. 435.

४. B. C. Mazumdar, JRAS. 1904, pp. 395-7; 1909, p. 759.

पुत्र या सौतेला भाई बना दिया है। इस सुझाव की पुष्टि नाम-साम्य के अतिरिक्त और किसी बात से नहीं होती। परन्तु हम यह जानते हैं कि माघ नें भट्टि का अनुकरण किया था, और यह सुझाव पूर्णतया न्याय्य है कि जिस सीमा तक माघ ने अपने काव्य में अपना व्याकरण-विषयक नैपुण्य प्रदर्शित किया है वहाँ तक इसकी प्रेरणा उन्होंने भट्टि-काव्य से ही प्राप्त की। भामह भट्टि से परिचित थे, यह स्पष्ट तथ्य और भी अधिक महत्व का है। अपनी कविता को समाप्त करते हुए भट्टि गर्वपूर्वक कहते हैं कि उनकी कविता को समझने के लिए व्याख्या की आवश्यकता है :

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥

'यह काव्य केवल व्याख्या द्वारा ही समझा जा सकता है। बुद्धिमानों के लिए तो यह अत्यधिक उत्सव का विषय है, पर मेरी विद्वत्प्रियता के कारण मूर्खों का तो इस काव्य में प्रवेश ही नहीं हो सकता।' भामह ने कुछ भद्दे ढंग से लगभग इन्हीं शब्दों में इस श्लोक को दोहरा दिया है। भट्टि द्वारा प्रस्तुत अलङ्कारों की सूची दण्डी तथा भामह के अलङ्कारों की सूचियों के साथ तुलना किए जाने पर कुछ अंशों तक मौलिकतापूर्ण ठहरती है। इसका स्रोत अभी तक अज्ञात है।

व्याकरण रूपी नेत्र वाले लोगों के लिए प्रदीप के सदृश और अन्य जनों के लिए अन्धे के हाथ में लिये हुए दर्पण के समान भट्टि के काव्य का मूल उद्देश्य, रामकथा का वर्णन करना और व्याकरण के नियमों का उदाहरण देना, इन दोनों बातों को साथ-साथ निभाना है। व्याकरण के नियमों के प्रदर्शन की दृष्टि से इसके २२ सर्ग चार भागों में विभक्त हैं; प्रथम चार सर्ग विविध प्रकार के नियमों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं; पाँचवें से नवें सर्ग तक प्रमुख नियमों के उदाहरण दिए गए हैं, दसवें से तेरहवें सर्ग तक[1] कविता के अलङ्कारों के उदाहरण हैं। दुर्भाग्यवश अलङ्कारों के नाम केवल टीका में या हस्तलिखित पोथियों में ही दिए गए हैं। शेष काव्य में लकारों के प्रयोग के उदाहरण हैं। आनन्द तथा लाभ के समन्वय का विचार किसी भी प्रकार बुरी सूझ नहीं है, और भारतीय मत

१. दसवाँ सर्ग अलङ्कारों के विषय में है; ग्यारहवाँ माधुर्य गुण पर ; बारहवां सर्ग भाविक (किसी घटना का प्रत्यक्ष रूप में वर्णन) के विषय में है; तेरहवें सर्ग में ऐसे पद्य हैं जो संस्कृत या प्राकृत के रूप में पढ़े जा सकते हैं।

ने बिना किसी संकोच के भट्टि को महाकवि की उपाधि दी है। इसमें सन्देह है कि परिष्कृत रुचि का कोई भी व्यक्ति इस मत को उचित ठहराएगा; तो भी यह सत्य है कि सम्मुख रखी हुई भयावह बाधा को ध्यान में रखते हुए और काव्य द्वारा ग्रहण की गई अतिप्रचलित कथावस्तु को देखते हुए, भट्टि पर्याप्तरूपेण रोचक और विशिष्ट स्थलों में सुन्दर तथा प्रभावपूर्ण कविता प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। कुछ अंशों में उनके लक्ष्य से उनकी शैली को सहायता मिलती है, क्योंकि उसके कारण दीर्घ समासों का या अत्यधिक गूढ़ उल्लेखों अथवा विचारों का समावेश सम्भव नहीं हो पाता।

उस दृश्य के एक खण्ड से, जहां रावण अपनी आवश्यकता के समय कुम्भकर्ण की सहायता चाहता है और लुङ् के प्रयोग में अपनी दक्षता का प्रदर्शन करता है, भट्टि की शैली के गुण-दोषों का निर्णय अच्छी तरह से हो सकता है :

नाज्ञासीस्त्वं सुखी रामो यदकार्षीत् स राक्षसान्।
उदतारीदुदन्वन्तं पुरं नः परितोऽरुधत्॥
व्यज्योतिष्ट रणे शस्त्रैरनैषीद्राक्षसान् क्षयम्।
न प्रावोचमहं किञ्चित्प्रियं यावदजीविषम्॥
बन्धुस्त्वमर्चितः स्नेहान्मा द्विषो न वधीर्मम।
वीर्यं मा न दर्शस्त्वम् मा न त्रास्थाः क्षतां पुरम्॥
तवाद्राक्ष्म वयं वीर्यं त्वमजैषीः पुरा सुरान्।

'क्या तुमने अपनी प्रसन्नता में नहीं जाना कि राम ने राक्षसों का क्या किया? उसने समुद्र पार कर लिया और हमारी नगरी को पूर्णतया घेर लिया। रण में उसने अद्भुत वीरता दिखलाई है और उसने शस्त्रों से राक्षसों का नाश किया है। अपने सारे जीवन में मैंने चाटुकारितापूर्ण एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया है; बन्धु होने के कारण मैंने स्नेहपूर्वक तुम्हें आदर दिया है; मेरे शत्रुओं का वध करने में प्रमाद मत करो। अपने बल का प्रदर्शन करना मत भूलो, बुरी दशा को प्राप्त हमारे नगर की रक्षा करने में असावधानी मत करो; तुम्हारा शौर्य हम देख चुके हैं, तुमने पूर्वकाल में देवताओं को जीता था।' यह स्पष्ट है कि आख्यान का प्रवाह सरल और विमल है, परन्तु उसमें उत्साह तथा वैचित्र्य का अभाव है, और अलङ्कारों को उदाहृत करने का कार्य कवि की इस रचना में आनन्द का आस्वाद लेने वाले टीकाकारों के अतिरिक्त सबके लिए अत्यन्त आयासप्रद है। कुछ पद्य निस्सन्देह पर्याप्त सुन्दर हैं; उनमें से एक में **विक्रमोर्वशी** की

एक लोकोक्ति मिलती है :[1]

> रामोऽपि दाराहरणेन तप्तो,
> वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः ।
> तप्तेन तप्तस्य यथायसो नः,
> सन्धिः परेणास्तु विमुञ्च सीताम् ॥

'राम सीता के हरण से सन्तप्त हैं, और हम अपने ही समान प्रिय अपने बन्धुजनों की मृत्यु से; तप्त लोहे से तप्त लोहे की भाँति हम अपने शत्रु से सन्धि करलें; सीता को छोड़ दिया जाय।' एक दूसरा उदाहरण[2] रावण के आगमन का वर्णन करता है :

> जलद इव तडित्वान् प्राज्यरत्नप्रभाभिः
> प्रतिककुभमुदस्यन्निस्वनं धीरमन्द्रम् ।
> शिखरमिव सुमेरोरासनं हैममुच्चै-
> र्विविधमणिविचित्रं प्रोन्नतः सोऽध्यतिष्ठत् ॥

'असंख्य रत्नों की प्रभा के कारण तड़ित्वान् मेघ के सदृश प्रत्येक दिशा में धीर और गम्भीर ध्वनि करते हुए सुमेरु पर्वत के शिखर समान वह समुन्नत रावण विविध प्रकार की मणियों से विचित्र ऊँचे स्वर्णसिंहासन पर अधिष्ठित हुआ।' अगले उदाहरण में विशाल का प्रयोग इस बात का उदाहरण है कि कवि, भले ही वह वैयाकरण है, कल्पना की किन बारीकियों तक पहुँच सकता है :[3]

> क्व स्त्रीविषह्याः करजाः क्व वक्षो
> दैत्यस्य शैलेन्द्रशिलाविशालम् ।
> सम्पश्यतैतद् द्युसदां सुनीतं
> बिभेद तैस्तन्नरसिंहमूर्तिः ॥

'कहां तो स्त्रियों द्वारा सहन किए जाने योग्य नख और कहां दैत्य का पर्वतेन्द्र की शिला के समान विशाल वक्षःस्थल ! देवताओं की इस सुनीति को तो देखिए कि नरसिंह-मूर्ति (विष्णु) ने उन्हीं नखों से दैत्य के उस वक्षःस्थल को विदीर्ण कर दिया।'

भट्टि द्वारा प्रयुक्त प्रधान छन्द श्लोक है, जिसका ४–९ तथा १४–२२ सर्गों में प्रयोग किया गया है। इन्द्रवज्रा की कोटि के उपजाति छन्द का

---

१. ii. 16 (ed. Pandit).

२. xi. 47; माघ १।१९ में इसका अनुकरण किया गया है।

३. xii. 59; माघ··· i. 47 (नीचे, § 4).

प्रयोग १–२, ११वें और १२वें सर्गों में व्यापक है। आर्या का गीति रूप १३वें में व्याप्त है, और १०वां सर्ग अधिकतर पुष्पिताग्रा छन्द में है; अन्य किसी छन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। केवल प्रहर्षिणी, मालिनी, औपच्छन्दसिक, वंशस्था और वैतालीय छः बार या इससे अधिक आते हैं; अश्वललित नन्दन, पृथ्वी, रुचिरा, और नर्कुटक में से प्रत्येक केवल एक ही बार आता है; दूसरे प्रयुक्त छन्द तनुमध्या, तोटक, द्रुत-विलम्बित, प्रमिताक्षरा, प्रहरणकलिका, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, और स्रग्धरा हैं। अधिक लम्बे छन्दों के बारबार प्रयोग का अभाव वास्तव में शैली की आपेक्षिक सरलता का प्रयोजक है, क्योंकि बड़े छन्दों में विचार तथा अभिव्यक्ति दोनों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

३. कुमारदास

कुमारदास के जानकीहरण[1] के प्रति भाग्य का दीर्घकाल तक कोप रहा, क्योंकि उनका काव्य एक सिंहली शब्दशः अनुवाद में ही सुरक्षित रहा, यद्यपि इस स्रोत से प्रथम बार प्रकाशित होने के बाद दक्षिण भारत में यह काव्य उपलब्ध हुआ है, जहां संस्कृत साहित्य को प्रायः वह सुरक्षा मिली है जो उसे उत्तरी भारत में न मिल सकी। सिंहल द्वीप की परम्परा, जो न तो बहुत पहले की है और न मूल्यवान् ही, सिंहल के एक राजा (५१७–२६ ई०) से कवि कुमारदास की अभिन्नता स्थापित करती है, जिसका, जैसा कि हम देख चके हैं, परम्परानुसार कालिदास की मृत्यु से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह निश्चित है कि कुमारदास कालिदास के उत्साही प्रशंसक थे और, जैसा कि रघुवंश के १२वें सर्ग की जानकीहरण के उसी प्रसङ्ग के अंशों से तुलना करने पर निस्सन्देह रूप से सिद्ध होता है, उन्होंने शैली तथा विषय के सामान्य निर्वाह में कालिदास का खुलकर अनुकरण किया है। दूसरी ओर, यह भी वस्तुतः निस्सन्दिग्ध है कि वे काशिकावृत्ति (लगभग ६५० ई०) से परिचित थे, जब कि दूसरी ओर वामन (लगभग ८०० ई०) उन्हें अवश्य जानते रहे होंगे जिन्होंने कुमारदास की कविता में पाये जाने वाले खलु के पादादि में प्रयोग की निन्दा की है। वामन ने एक पद्य भी उद्धृत किया है जो विषय तथा शैली की दृष्टि से निश्चय ही जानकीहरण के लुप्त भाग का मालूम होता है। अन्त में सम्भवतः वे

१. Ed. Ceylon, 1891; i-x, Bombay, 1907; xvi, BSOS. iv. 285 ff. See Leumann, WZKM. vii. 226 ff.; Thomas, JRAS. 1901, pp. 253 ff.; Keith *Ibid.*, 78 ff.

माघ के भी पूर्ववर्ती थे, जिनके एक पद्य में कुमारदास के एक पद्य की छाया मालूम पड़ती है। कवि राजशेखर (लगभग ९०० ई०) उनकी प्रसिद्धि के विषय में कहते हैं :[1]

जानकीहरणं कर्त्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

'कुमारदास के अतिरिक्त कोई अन्य कवि रघुवंश के वर्तमान रहते हुए जानकीहरण की रचना नहीं कर सकता था, जैसे कि रघु के वंश के पृथ्वी पर वर्तमान रहते हुए रावण के अतिरिक्त और कोई जानकी का अपहरण नहीं कर सकता था।'

जानकीहरण की मुख्य कमी वस्तुतः उसकी जीर्ण कथावस्तु है। संस्कृत काव्य में हमें एक बहुत बड़े लैटिन कवि द्वारा की गई शिकायत की अत्यधिक स्पष्ट व्याख्या मिलती है : cui non dictus Hylas puer et Latonia Delos (—सुन्दर युवक Hylas तथा Zeus की प्रेयसी Latona के द्वीप Delos का किसने वर्णन नहीं किया है), क्योंकि हमें उसी विषय पर वास्तव में इतने अधिक काव्य सुरक्षित मिलते हैं। फिर भी, यह कहना उचित है कि अपनी कथा के निर्वाह में कुमारदास ने बड़ी कुशलता दिखाई है; काव्य की कथावस्तु में कुमारदास द्वारा लायी गई नवीनता उपेक्षणीय है; परन्तु कथानक में प्राप्त होने वाले वर्णन के अनेक अवसरों का उपयोग वे बड़े प्रभावपूर्ण ढङ्ग से करते हैं। इस प्रकार दशरथ, उनकी पत्नियों तथा अयोध्या के कवित्वपूर्ण चित्र हमें प्राप्त होते हैं (सर्ग १); दूसरे सर्ग में विष्णु से सहायता की याचना करते हुए बृहस्पति रावण के साहसपूर्ण कार्यों का चित्र खींचते हैं। तृतीय में कवि शृङ्गारपूर्ण विषयों के वर्णन का आनन्द लेता है; राजा और उसकी रानियाँ उद्यान में विहार करती हैं, तदनन्तर, भारवि के **किरातार्जुनीय** के समान, उस दृश्य का वर्णन हमें राजा के मुख से ही सुनने को मिलता है; फिर कवि जलक्रीडा का वर्णन करता है; राजा के मुख से सूर्यास्त का वर्णन कराया गया है, और उसके बाद रात्रि तथा प्रातःकाल का चित्रण किया गया है। चतुर्थ तथा पञ्चम सर्गों में कथा चलती रहती है, एक में दशरथ के पुत्रों के जन्म से लेकर आश्रम में उपद्रव करने वाली राक्षसी के मारे जाने तक, और दूसरे में राक्षसों के समूह की पराजय तक। छठे सर्ग में मिथिला का नवीन दृश्य आ जाता है जहाँ विश्वामित्र और जनक परस्पर अभिवादन करते हैं। सातवें

---

१. **काव्यमीमांसा** में उन्होंने कुमारदास और साथ ही मेधाविरुद्र के अन्वेपन का उल्लेख किया है (पृ० १२)।

म सीता और राम का मिलन होता है, राम सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं और कवि उन दोनों के प्रेम और विवाह का वर्णन करता है। तब उनके सभोग-सुखों का चित्र आता है जिसकी समाप्ति सूर्यास्त तथा रात्रि के सुन्दर वर्णन से होती है (सर्ग ८)। अगला सर्ग हमें अयोध्या में ले आता है, और दसवें सर्ग में कवि दशरथ द्वारा, जो राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव करते हैं, राजा के कर्तव्यों पर भाषण दिलवा कर राजनीति के सिद्धान्तों की जानकारी के विषय में अपनी दक्षता प्रदर्शित करता है। इस सर्ग में घटनाएँ एक साथ भरी पड़ी हैं, और सर्ग की समाप्ति के पूर्व ही सीता का हरण हो जाता है। उसी शीघ्रता के साथ राम द्वारा इस समाचार के पाने का, और हनुमान के साथ, जो वालि से युद्ध करते हैं, उनकी मैत्री का वर्णन किया गया है; तब कवि वर्षाकाल के अधिक शोभन विषय की ओर ध्यान देता है, जिसका वर्णन बहुत सौन्दर्य के साथ पहले वह स्वयं करता है और फिर राम के मुख से करवाता है। बारहवें सर्ग में शरद् ऋतु का चित्र तीसरे सर्ग में आए हुए वसन्त के वर्णन से होड़ लेता है; अब पुनः नीति की बारी आती है, क्योंकि लक्ष्मण बुरी सलाह देने के कारण सुग्रीव को डांटते हैं। राम खिन्न-हृदय हैं, और उन्हें प्रसन्न करने के लिए सुग्रीव पर्वत का वर्णन करते हैं, और चौदहवें सर्ग में पहले पुल बनाते हुए वानरों का चित्र हमारे सम्मुख आता है, फिर उस दृश्य पर राम के विचार हैं, जिसके बाद कवि पुनः अपना वर्णन प्रारम्भ कर देता है और सेना के समुद्र पार करने की एक सजीव कल्पना उपस्थित करता है। पन्द्रहवें सर्ग में रावण के पास दूतरूप में अङ्गद के भेजे जाने का वर्णन है; सोलहवें सर्ग में राक्षसों की रँगरलियों का और सत्रहवें से बीसवें सर्ग तक राम की विजय का वर्णन किया गया है।

कुमारदास के विषय तथा शैली दोनों पर कालिदास का प्रभाव परिलक्षित होता है; उन्होंने वैदर्भी रीति को ग्रहण किया है[1] और यद्यपि

१. Nandargikar (कुमारदास, पृ०२४) का कहना है कि उन्होंने गौडी रीति का प्रयोग किया है, किन्तु यह कथन अत्युक्तिपूर्ण है, यद्यपि यह हो सकता है कि वे माघ से परिचित रहे हों। इसके वैपरीत्य की अधिक सम्भावना है; cf. *Jān.* iii. 34 f. with माघ, v. 29; below, §4. Walter (*Indica*, iii. 34, 36) का कहना है कि भारवि ने तन् धातु तथा लिट् लकार का भाववाच्य में प्रयोग उन्हीं से ग्रहण किया है, किन्तु यह निश्चित रूप से सत्य के विपरीत है।

उनका अनुप्रास का प्रयोग कृत्रिमता की सीमा तक नहीं पहुँचता जो माघ जैसे कवियों के एकही वर्ण की निरन्तर आवृत्ति से प्रभाव उत्पन्न करने के प्रयत्नों में दिखलाई पड़ती है, तो भी उनका अनुप्रास-विषयक अनुराग पर्याप्त विकसित है। अनुचित मात्रा तक उन्हें यमक भी रुचिकर नहीं है। इसका एक अच्छा उदाहरण यह है :

अतनुनातनुना घनदारुभिः
स्मरहितं रहितं प्रदिधक्षुणा।
रुचिरभाचिरभासितवर्त्मना
प्रखचिता खचिता न न दीपिता ॥

'सुन्दर कान्ति वाली बिजली से मार्गों को प्रकाशित करने वाले बलशाली कामदेव ने बादलरूपी लकड़ियों से विरही प्रेमी को जलाने की इच्छा से आकाशरूपी चिता तैयार करके उसमें आग लगा दी है।' सौन्दर्य सम्भवतः कुमारदास की प्रधान विशेषता है; उनकी कविता में प्रसाद-युक्त शैली में ध्वनि और छन्द के सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त की गई सुरुचि-पूर्ण कल्पनाएं बहुलता से पाई जाती हैं। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा उक्त प्रकार के सौन्दर्य को उत्पन्न कर ही नहीं सकती। इस प्रकार बालरूप में नटखट राम का एक सुन्दर चित्र है :

न स राम इह क्व यात इ—
त्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननो
विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः ॥

'"राम यहाँ नहीं है, वह गया कहाँ?" इस प्रकार सामने ही ढूँढती हुई स्त्रियों से पूछे जाने पर, दोनों हाथों से अपना मुख ढक कर बालक उनसे लुकाछिपी खेलता रहा।' कालिदास का स्पष्ट अनुकरण होते हुए भी, ये पद्य कवि के अयोग्य नहीं हैं :

पुष्परत्नविभवैर्यथेप्सितं
सा विभूषयति राजनन्दने।
दर्पणं तु न चकाङ्क्ष योषितां
स्वामिसम्मदफलं हि मण्डनम् ॥

'राजकुमार द्वारा पुष्पों तथा रत्नों से उसके सजाए जाने पर* उसने दर्पण की कामना नहीं की, क्योंकि कामिनियों के शृङ्गार का फल स्वामी की प्रसन्नता ही है।'

*यहाँ कीथ महाशय के अर्थ में भ्रान्ति स्पष्ट है। (मं० दे० शास्त्री)

कैतवेन कलहेषु सुप्तया,
स क्षिपन् वसनमात्तसाध्वसः ।
चोर इत्युवितहासविभ्रमं,
सप्रगल्भमवखण्डितोऽधरे ॥

'प्रणयकलह में बहाना बना कर सोई हुई उसके वस्त्र का कुछ डरे डरे से प्रेमी ने जैसे ही स्पर्श किया, वैसे ही उसने "चोर"! कह कर विभ्रमयुक्त हास के साथ प्रगल्भतापूर्वक उस प्रेमी के निचले ओठ पर काट लिया।' रतिखेद का वर्णन करने वाला एक अन्य पद्य कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग[1] के उपयोग को सिद्ध करता है:

तस्य हस्तमबला व्यपोहितुं
मेखलागुणसमीपसङ्गिनम् ।
मन्दशक्तिररतिं न्यवेदय-
ल्लोलनेत्रगलितेन वारिणा ॥

'यद्यपि थकावट के कारण उस अबला में इतनी शक्ति नहीं रह गई थी कि वह अपने वस्त्र को ढीला करने के लिए करधनी के समीप स्थित उसके हाथ को हटा सकती, पर अपने चञ्चल नेत्रों से गिरते हुए अश्रुओं द्वारा उसने अपनी उदासीनता प्रकट कर दी।' नारी के सौन्दर्य निर्माण की एक प्रसिद्ध विकट समस्या को उपस्थित किया गया है:

पश्यन् हतो मन्मथबाणपातैः
शक्तो विधातुं न मिमील चक्षुः ।
ऊरू विधात्रा हि कृतौ कथं ता-
वित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः ॥

'बुद्धिमान् पुरुष को भी उसके विषय में यह शङ्का थी कि विधाता ने उसकी वे दोनों जंघाएँ कसे बनाईं। यदि उन्होंने देखते हुए बनाईं, तो कामदेव के बाणों के प्रहारों से वे त्रस्त हो गये होंगे; और यदि उन्होंने आँखें बन्द कर ली थीं, तो बनाने में ही वे कैसे समर्थ हुए।' प्रेम और प्रकृति का अविभाज्य रूप में मिश्रण कर दिया गया है:

प्रालेयकालप्रियविप्रयोग-
ग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद ।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्त-
क्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण ॥

---

१. ८।१४ का कुमारदास के ८।८ और २४ में अनुकरण पाया जाता है।

'शिशिर की ठंडक में अपने प्रेमी से वियुक्त हो कर ग्लान युवती की भाँति रात्रि क्षय को प्राप्त हो गई, और वसन्त के तीव्र आतप से मानो श्रान्त दिवस क्रम से मन्द-मन्द चलने लगा।'

एक दूसरे पद्य में भारवि का स्मरण हो आता है :[1]

> वासन्तिकस्यांशुचयेन भानो-
> र्हेमन्तमालोक्य हतप्रभावम्।
> सरोरुहामुद्धृतकण्टकेन
> प्रीत्येव रम्यं जहसे वनेन।।

'यह देख कर कि हेमन्त का प्रभाव कमलों के कण्टक को निकाल देने वाली वसन्तकालीन सूर्य की किरणों ने नष्ट कर दिया है, वन ने प्रसन्नतापूर्वक मधुर हास किया।'

पण्डितम्मन्य न होते हुए भी कुमारदास व्याकरण के सूक्ष्म अध्येता थे, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्दिग्ध रूपों की शुद्धता का निर्णय करने में उन्हें एक प्रामाणिक ग्रन्थकार माना जाना चाहिए। जो कुकवि तु, हि, न जैसे निपातों[2] के प्रयोग से, धातुओं के अशुद्ध प्रयोग से, और अयुक्त शब्दों द्वारा अपने अभिप्राय को अस्पष्ट कर अपनी रचनाओं को विगाड़ लेते हैं, उनका वे स्वयं एक श्लेष द्वारा उपहास करते हैं। निश्चय ही **हलचर्म** (हल की लीक), जिसमें **चर्म** स्पष्टतः गमनार्थक **चर्** धातु से निकला है, तथा **मरुत्** का रूपान्तर **मरुत** जैसे शब्द-रूपों के लिए उनके पास प्रमाण थे। उन्होंने **वितूस्त्** (उलझे बालों को सुलझाना), **मर्माविध्** (मर्म को बेधने वाला), **सत्याप्** (सत्य को प्रकट करना), इन विरल-प्रयोग शब्दों को और **अचकमत** जैसे लुङ् लकार के रूपों को **काशिका** से ग्रहण किया है। वैयाकरणों से लिए गए कुछ अन्य विरलप्रयोग शब्द ये हैं—**अन्यतरेद्युः** (एक दिन), **आयःशूलिकता** (हिंसा), **इक्षुशाकट** (गन्नेका खेत), **जम्पती** (पति-पत्नी), **नीशार** (चादर), **पश्यतोहर** (सब के समक्ष में लूटनेवाला), **प्रवर** (चादर), **भिदेलिम** (टूटने योग्य), **मुष्टिन्धय** (मुट्ठी चूसनेवाला बच्चा), **शायिका** (तन्द्रा), और **सौखरात्रिक** (अच्छी तरह निद्रा आई या नहीं यह पूछनेवाला)। वाक्यरचना के संबन्ध में उन्होंने क्रियाविशेषणात्मक कर्मप्रवचनीय-

---

१. १०।३६ के साथ जानकीहरण ३।९ की तुलना की गई है; १।४ के साथ ९।२१ को तुलना कीजिए।

२. वासवदत्ता (पृ० १३४) में भी; दे० जानकीहरण १।८९; ८।२९।

पर्वपद समासों (adverbial prepositional compounds) का प्रयोग, लिट् लकार का भाववाच्य में प्रयोग और मुनिना जोषमभूयत (मुनि प्रसन्न हुए) जैसा विचित्र भाव-वाच्य का प्रयोग, खुल कर किया है। सर्वतः और उभयतः के साथ कर्मकारक व्याकरणसङ्गत है; कालस्य कस्यचित् का भी प्रयोग व्याकरण-सम्मत है, परन्तु समाः सहस्राणि का प्रयोग असावधानी से किया हुआ जान पड़ता है, तथा दोषन् शब्द का तृतीया में दोषा यह प्रयोग अन्यत्र अदृष्ट है; पाद के आरम्भ में खलु तथा इव का प्रयोग नितान्त अयुक्त है, और जहां तक खलु का सम्बन्ध है, उसे तो वामन ने भी अनुचित ठहराया है[1]। उन्होंने वाल्मीकि से तनुच्छद (पङ्ख) और कालिदास से अवर्ण (लज्जा) तथा अजर्य (मैत्री) का ग्रहण किया है। किसी बात को घुमा फिराकर कहने के विषय में कवि का उल्लेखनीय अनुराग परिलक्षित होता है: यहां तक कि वे अपने को कुमारदास के स्थान में कुमारपरिचारक भी कह देते हैं।

कुमारदास ने छन्दों का प्रयोग निपुणता के साथ किया है, परन्तु भारवि के समान अनेक बदलते हुए छन्दों के प्रयोग का विस्तार न करके उन्होंने इस विषय में अधिकतर कालिदास के ढंग का ही अनुसरण किया है। दूसरे, छठे और दसवें सर्गों में श्लोक[2] छन्द प्रमुख है; ग्यारहवें में द्रुतविलम्बित; तेरहवें में प्रमिताक्षरा; पहले, तीसरे, और सातवें में इन्द्रवज्रा की कोटि का उपजाति; पांचवें, नवें, बारहवें और तीसरे सर्ग के ६४–७६ तक के पद्यों में वंशस्था; चौथे में वैतालीय; और आठवें में रथोद्धता। गौणरूप से प्रयुक्त छन्द हैं: शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा (सोलहवें सर्ग में), प्रहर्षिणी, वसन्ततिलक, अवितथ, मन्दाक्रान्ता, और मालिनी।

---

१. १३।३९। माघ २।७० में इसका प्रयोग ठीक है, क्योंकि वहाँ खलु अलम् का अर्थ देता है। Nandargikar (pp. XII f.) ने कुछ सन्दिग्ध पद दिये हैं, जैसे बलमथु, लिट् लकार में आम, तपस्यद्भवनम्, जयमानम् में शानच्, आत्मसु में बहुवचन का प्रयोग।

२. द्वितीय, षष्ठ और दशम सर्गों में ४२४ श्लोकार्धों में केवल १० विपुला हैं: ८ प्रथम, १ द्वितीय (अनियमित ◡– – – आरम्भ), १ तृतीय; Nandargikar के संस्करण में चतुर्थ प्रकार की ४ विपुलाओं का होना पाठ की अशुद्धि के ही कारण है। प्रथम विपुला के पूर्व प्रथम गण २ बार ⏑̲– ◡ – के मुकाबले में ६ बार ◡̲ – – – अथवा ◡̲ ◡ – – है। यह स्थिति कालिदास में प्राप्त तथ्यों के सदृश है।

४. माघ

माघ अपने सम्बन्ध में केवल इतना ही बताते हैं कि उनके पिता दत्तक सर्वाश्रय थे, और उनके पितामह सुप्रभदेव एक राजा के मन्त्री थे जिसका नाम हस्तलिखित पोथियों में वर्मलाख्य, वर्मलात आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से प्राप्त होता है। ६२५ ई० के वर्मलात नामक किसी राजा का एक अभिलेख[१] मिलता है और इस प्रकार माघ का काल सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थिर करना आपाततः तर्कसङ्गत प्रतीत होता है। यह बात इस तथ्य से भी संतोषजनक रूप से मेल खाती है कि उनका समय स्पष्टतः भारवि के, जो एक प्रकार से उनके आदर्श थे, भट्टि के, जिनके **मुमुहुर्मुहुः** इस प्रयोग से वे अपनी **किमु मुहुर्मुमुहुर्गतभर्तृकाः** (प्रोषितपतिकाएं बार-बार मूर्छित हुईं, इस बात का क्या कहना) इस पंक्ति में आगे बढ़ जाते हैं, और सम्भवतः कुमारदास के भी बाद का है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि माघ काशिकावृत्ति से परिचित थे। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि शिशुपालवध के दूसरे सर्ग के ११२ वें पद्य की एकमात्र सहज व्याख्या यही हो सकती है कि उसमें काशिका के टीकाकार न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि का उल्लेख है, जिनका समय ७०० ई० के ही लगभग होना चाहिए। उस पद्य की अन्यथा व्याख्या करने के प्रयत्न की अपेक्षा उक्त तिथि को स्वीकार करना और माघ के समय को उसके आसपास रखना अधिक बुद्धिमत्ता का कार्य होगा। इस तिथि को अधिक अर्वाचीन समझने का कोई कारण नहीं है। माघ हर्ष के नागानन्द से अवश्य परिचित थे, किन्तु सवन्धु द्वारा उनके काव्य के उपयोग को सिद्ध किए जाने का प्रयत्न अत्यन्त चातुर्यपूर्ण होते हुए भी निश्चायक नहीं है। यह बहुत सरलता से माना जा सकता है कि दोनों लेखकों की रचनाओं की समानता यदि उनके एक ही क्षेत्र में एक से आदर्शों को लेकर कार्य करने के कारण नहीं है, तो उसका कारण यही है कि माघ वासवदत्ता[२] से परिचित थे।

---

१. Kielhorn, GN. 1906, pp. 143 f.; JRAS. 1908, p. 499. Cf. Jacobi, WZKM. iv. 236 ff.; Bhandarkar, EI. ix. 187 ff.; Hultzsch, ZDMG. lxxii. 147; Walter, *Indica*, iii. 32 (माघ २०।४७, जानकीहरण १।४)।

२. पुस्तक का संस्करण, NSP. १९२३। C. Schütz द्वारा ११।२५ तक अनुवाद, Bielefeld, 1843; उद्धरण Cappeller, बालमाघ (१९१५), और Hultzsch द्वारा समस्त, Asia Major, ii.

भारवि की भाँति माघ ने भी अपनी कथावस्तु महाभारत[1] से ली है, किन्तु जहां भारवि शिव की महिमा का विस्तार करते हैं वहाँ माघ के अभीष्ट देव विष्णु हैं। जिस प्रकार शिशुपालवध के चौथे तथा उन्नीसवें सर्गों में किरातार्जुनीय के चौथे तथा पन्द्रहवें सर्गों से माघ क्रमशः छन्दोवैविध्य और चित्रकाव्य के विषय में स्पर्धा करते हैं, वैसे ही यह अन्तर भी निस्सन्देह जान बूझकर किया गया है। महाभारत की कथा साधारण है; कृष्ण युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने के लिए प्रेरित करते हैं। यज्ञ आरम्भ होता है, और भीष्म की राय से कृष्ण को सम्मान प्रदान किया जाता है। इस पर चेदिराज शिशुपाल क्रुद्ध होता है और सभामंडप का परित्याग कर देता है; युधिष्ठिर उसके पीछे जाकर उसे शान्त करना चाहते हैं, परन्तु भीष्म कृष्ण की प्रशंसा करते हैं और युधिष्ठिर को रोक लेते हैं। शिशुपाल उपद्रव खड़ा कर देता है और यज्ञ को नष्ट करने का प्रयास करता है। सदा की भाँति युधिष्ठिर भीष्म से सम्मति मांगते हैं; उन्हें कृष्ण पर भरोसा रखने और शिशुपाल का विरोध करने की सलाह मिलती है। शिशुपाल भीष्म का अपमान करता है और भीष्म उसकी भर्त्सना करते हैं और बताते हैं कि कृष्ण ने उसकी मां से उसके पुत्र के सौ निन्दनीय कर्म सहने की प्रतिज्ञा की थी। तब शिशुपाल कृष्ण को गालियों का लक्ष्य बनाता है और वे इसका प्रत्युत्तर देते हैं। इस पर शिशुपाल उन पर और नई नई गालियों की बौछार करता है और उन पर अपनी वाग्दत्ता वधू के हरण का दोष लगाता है। कृष्ण उत्तर देते हैं कि अब उनकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई है, और वे चक्र से अपने प्रतिद्वन्द्वी का सिर काट देते हैं। इस कथा के संबन्ध में माघ निश्चय ही मौलिकता प्रदर्शित करते हैं; प्रथम सर्ग में हमें सर्वथा नवीन 'अभिप्राय' (*motif*) उपलब्ध होता है; मुनि नारद वसुदेव के घर आते हैं जहाँ कृष्ण निवास करते हैं, और इन्द्र की ओर से कृष्ण से शिशुपाल का वध करने के लिए कहते हैं जो अपनी शत्रुता के कारण मनुष्यों और देवताओं के लिए भयप्रद हो रहा है। इससे माघ को अपनी राजनीतिविषयक निपुणता प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है; कृष्ण उद्धव तथा बलराम की सम्मति लेते हैं; बलराम उन्हें तुरन्त युद्ध छेड़ने की सम्मति देते हैं और उद्धव उन्हें युधिष्ठिर के यज्ञ का निमन्त्रण स्वीकार करने की सलाह देते हैं। तब चौथे से ग्यारहवें सर्ग तक भारवि का अनुकरण करते हुए, वे अपनी मुख्य कथावस्तु को बिलकुल

१. २।३३-४५।

छोड़ देते हैं और वर्णनों की दीर्घतर परम्परा में अपना वैदग्ध्य प्रदर्शित करना प्रारम्भ करते हैं। इन्द्रप्रस्थ जाने के लिए द्वारका को छोड़ते हुए कृष्ण अपनी राजधानी का एक सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं (सर्ग ३)। वे रैवतक पर्वत पर पहुँचते हैं और उनका सारथि दारुक कृष्ण के सम्मुख उस पर्वत के सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन करता है (सर्ग ४)। सेना पड़ाव डालती है, जिससे माघ को काव्य में वर्णन के लिए अभिषेणनकाल के सम्बन्ध में अपने ज्ञान को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है (सर्ग ५)। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्त्रियों को विस्मृत नहीं किया गया है। सेना के सङ्ग रानियाँ पालकियों में जाती हैं, उनकी परिचारिकाएँ घोड़ों पर या साधारण गधों पर सवार हैं, वेश्याओं का समूह साथ में है और अपने स्वामियों के लिए वे अपना शृङ्गार करती हैं; सैनिकों, हाथियों, तथा स्त्रियों, सभी के लिए स्नान का आनन्द उठाना आवश्यक है। स्वयं कृष्ण को भी आनन्द लेना चाहिए; अतः प्रेम के चित्रणार्थ कवि को एक और अवसर प्रदान करने के लिए छः ऋतुएँ सुन्दर नवयुवतियों की भाँति उपस्थित होती हैं (सर्ग ६) कोई आश्चर्य नहीं कि यादव कृष्ण का अनुकरण करते हैं; सुन्दर स्त्रियों के साथ वे वनों में घूमते हैं (सर्ग ७), और जलविहार करते हैं (सर्ग ८)। इन नायकों के वेश से मोहित हो कर सूर्य को उनका अनुकरण करने की इच्छा होती है और वह पश्चिमी समुद्र के जल में अवगाहन करना चाहता है; इस प्रकार हमें सूर्यास्त और चन्द्रोदय का एक अति प्रयत्नसाध्य और प्रायः मनोहर चित्र प्राप्त होता है; चन्द्रोदय स्त्रियों के हृदय में कामभाव को पुनः जागरित करता है और वे अपने प्रियों की ओर कटाक्ष करती हैं और उन्हें निमन्त्रित करती हैं (सर्ग ९)। प्रेमिजन तो अपनी प्रेमिकाओं का निमन्त्रण स्वीकार करने के लिए अत्यन्त उत्सुक ही हैं, और साथ में मदपान करने के अनन्तर वे सम्भोगसुखों में मग्न हो जाते हैं (सर्ग १०)। सवेरा होता है (सर्ग ११), सेना अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग हो जाती है, और यमुना को पार किया जाता है (सर्ग १२), कृष्ण इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश करते हैं और युधिष्ठिर द्वारा उनका स्वागत किया जाता है; जो स्त्रियां उन्हें नगर में प्रविष्ट होते हुए देखने के लिए एकत्र होती हैं उनकी भावनाओं का वर्णन करने में माघ अश्वघोष तथा कालिदास से स्पर्धा करना नहीं भूलते। अब हम अधिक परिष्कृत रूप में महाभारत के आख्यान की ओर लौटते हैं। यज्ञ संपादित होता है, कृष्ण को सम्मान का पद प्रदान किया जाता है (सर्ग १४)। शिशुपाल विरोध करता है, भीष्म उसे ललकारते हैं,

वह सभामण्डप का परित्याग कर देता है और युद्ध के लिए अपनी सेना को तैयार करता है (सर्ग १५)। उसके बाद शब्दचातुरी का प्रदर्शन है; शिशुपाल का दूत जानबूझ कर सन्दिग्धार्थक सन्देश लाता है और युद्ध अथवा आत्मसमर्पण की मांग करता है; सात्यकि उसका उत्तर देता है, और दूत धृष्टतापूर्वक उसका प्रत्युत्तर देता है (सर्ग १६)। दोनों सेनाएं युद्ध के लिए आगे बढ़ती हैं (सर्ग १७); माघ ने युद्ध का वर्णन योग्यता एवं विस्तार के साथ किया है, यद्यपि, पढ़ने वाले पर यही प्रभाव पड़ता है कि प्रायः प्रत्येक संस्कृत लेखक की भांति उनके भी ये चित्र वास्तविक जीवन और मृत्यु से सम्बन्ध नहीं रखते, प्रत्युत पुस्तकों के आधार पर खींचे गए जान पड़ते हैं। अन्त में दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का सामना होता है, वे पहले बाणों से और फिर दैवी शस्त्रों से तब तक युद्ध करते हैं जब तक कृष्ण अपने शत्रु को मार नहीं डालते! मृत शिशुपाल का तेज विजयी कृष्ण में प्रविष्ट हो जाता है।

माघ ने महाभारत के आख्यान में जो परिवर्तन किए हैं वे उपेक्षणीय नहीं हैं। एक बड़ा भारी परिवर्तन तो प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण भाषणों को छोटा करना है, यद्यपि इस पर भी वे पर्याप्त लम्बे रह जाते हैं। महाभारत में यज्ञ के सम्बन्ध में दी गई केवल एक पंक्ति के स्थान पर माघ ने यज्ञ का विस्तृत चित्र दिया है, और युद्ध का प्रारम्भिक कार्य प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा न किया जा कर दूतों द्वारा सम्पादित किया गया है। द्वन्द्व-युद्ध के पूर्व प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं में युद्ध करवाने की भारवि की रीति का अनुकरण और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह स्वीकार करते हुए भी कि महाभारत से ग्रहण की गई ये कथाएं उच्च कोटि की कविता के लिए पर्याप्त क्षेत्र प्रस्तुत नहीं करतीं, और भारवि के काव्य की भाँति माघ में भी कथावस्तु तथा चरित्रचित्रण विशेष महत्त्व के नहीं हैं, यह कहना पड़ता है कि निस्सन्देह माघ में कवित्वसम्बन्धी गुण कम नहीं हैं, भले ही परवर्त्ती आलोचकों की प्रशंसाओं को हम न मानें, जिनका यह दावा था कि माघ में उनके महत्तम प्रतिद्वन्द्वी कवियों के सम्मिलित गण एकत्र वर्तमान हैं। यदि भारवि के उत्तम स्थलों की संक्षिप्तता, शान्त गाम्भीर्य तथा गरिमा उनमें नहीं है, तो उनमें अभिव्यक्ति और कल्पना की अतीव समृद्धि वर्तमान है, और उनके अपने महाकाव्य के अनेक प्रेम-सम्बन्धी स्थलों में माधुर्य तथा सौन्दर्य की बहुलता है। वे स्पष्टतया कामसूत्र के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं और उसके सविस्तर विवरणों के

विषय में अपना आन्तरिक ज्ञान इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं कि वह पाश्चात्य रुचि को आयासप्रद प्रतीत होता है, परन्तु भारतीय रुचि—homo sum, humani nil a me alienum puto (—मैं मानव हूँ. और मानव से सम्बन्ध रखने वाली कोई भी बात मेरे लिए उपेक्षणीय नहीं है)—सराहनापूर्वक उसे स्वीकार करती है। माघ का सबसे बड़ा दोष उन्नीसवें सर्ग में भाषा को तोड़ने-मरोड़ने का निन्दनीय प्रदर्शन है। वे वास्तव में सेना की व्यूह-रचना की तुलना महाकाव्य के उस स्वरूप से करते हैं जिसमें पद्य सर्वतोभद्र, चक्र, गोमूत्रिका आदि चित्रों के रूप में रखे जाते हैं और अपने काव्य में वे ऐसे चित्रों के उदाहरण भी देते हैं। निस्सन्देह अलेग्जेंड्रियन (Alexandrian) युग में तथा बाद की रोमन कविता[1] में हम इसी प्रकार की स्थिति पाते हैं, जैसे पीछे की ओर पढ़े जाने वाले Sotadean पद्य, Simias की technopaignia नामक कविताएँ जो कुल्हाड़ी या बुलबुल के अण्डे के स्वरूप में रची गईं थीं, और Dosiadas की इसी प्रकार की वेदी आदि के रूप में रचनाएं। सम्भव है कि तलवारों अथवा पत्तियों पर अभिलेख लिखने की पद्धति से इस शब्दचातुरी का प्रारम्भ हुआ हो, परन्तु, जो भी हो, माघ अपने को परिष्कृत रुचि से रहित प्रदर्शित करते हैं। उन्नीसवें सर्ग के तीसरे पद्य की रचना में भी यही बात है। उसके प्रथम पाद में ज् के अतिरिक्त अन्य कोई व्यञ्जन नहीं है। दूसरे में केवल 'त्', तीसरे में 'भ्' और चौथे में अन्त्य विसर्ग के साथ केवल 'र्' वर्ण का प्रयोग है। पन्द्रहवें (?सोलहवें) सर्ग में दूत का भाषण अपेक्षाकृत अधिक चातुर्यपूर्ण है जो ऐसे आरम्भ होता है:

> अभिधाय तदा तदप्रियं
> शिशुपालोऽनुशयं परं गतः।
> भवतोऽभिमनाः समीहते
> सरुषः कर्त्तुमुपेत्य माननाम्॥

(मधुरार्थ) 'उस समय (कृष्ण को अर्घ दिये जाने के समय) उस अप्रिय बात को कह कर शिशुपाल अत्यन्त अनुताप को प्राप्त हुआ है। उत्कण्ठित चित्त वाला वह आकर क्रोधित आपकी (कृष्ण की) पूजा करने की इच्छा करता है।'

---

१. Cf. Martial, ii. 86. 9 f.:

> turpe est difficiles habere nugas
> et stultus labor est ineptiarum.

(—अर्थगौरव से हीन कष्टकर रचना लज्जा की बात है, और कोरा पाण्डित्य-प्रदर्शन मूर्खता का कार्य है।)

(परुषार्थं) 'उस समय उस अप्रिय वचन को कह कर शिशुपाल अत्यन्त क्रोध को प्राप्त हुआ है। वह निर्भय रूप से स्वयं आकर क्रोधित आप का हनन करना चाहता है।'

ये श्लेष भारत में पसन्द किए जाते हैं, और भारवि के काव्य में ये बड़ी संख्या में हैं, परन्तु इनमें निहित कौशल को स्वीकार करते हुए भी ऐसी शब्दचातुरी के लिए वास्तव में रुचि का उत्पन्न करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त, भाषा पर इनका प्रभाव घातक होता है। श्रेष्ठ कवि भी अर्थ, वाक्यरचना तथा शब्दक्रम के विषय में कुछ न कुछ ज़बरदस्ती किए बिना दुहरे अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकते। यह प्रयत्न उन्हें काव्यसम्बन्धी उपलब्ध शब्दकोषों की निरन्तर छानबीन की ओर प्रवृत्त करता है और काव्यरचना की प्रवृत्ति को निम्न स्तर के बौद्धिक व्यायाम का रूप दे देता है, जिससे भाव और विचार बिलकुल नष्ट हो जाते हैं।

सौभाग्यवश माघ के गुण उनके दोषों की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त हैं। वे भारवि के नैतिक भावों की सुबुद्धि और सरलता का अनुकरण करने में समर्थ हैं :

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥

'विद्वान् व्यक्ति केवल भाग्य पर विश्वास नहीं करता, और न पौरुष के ही भरोसे रहता है। सत्कवि की शब्द और अर्थ इन दोनों में अपेक्षा की भांति विद्वान् भी भाग्य और पौरुष दोनों की ही अपेक्षा करता है।' या फिर :

सम्पदा सुस्थिरम्मन्यो भवति स्वल्पयापि यः।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम्॥

'मैं समझता हूँ कि जो मनुष्य थोड़ी सी भी सम्पत्ति से अपने को सुस्थिर मानता है, उतने से ही अपने को कृतार्थ समझता हुआ विधाता उसकी सम्पत्ति का विस्तार नहीं करता।' अर्थ और ध्वनि का परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करने के स्पष्ट उद्देश्य से वे अधिक प्रयत्नसाध्य शैली में भट्टि[१] से स्पर्धा करते हैं और निम्नस्थ पद्य में सम्भवतः कुमारदास[२] के एक शब्दसमूह की प्रतिध्वनि सुनाई देती है :

१. १२।५९; माघ १।४७।
२. ११।४५।

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता,
नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै-
रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः॥

'हे नृसिह! सिंह के विस्तीर्ण शरीर को धारण करते हुए, केसर-समूहों से मेघों को बिखरा देने वाले तुम्हारे द्वारा वह दैत्य मुग्ध प्रियतमा के स्तनों के सम्पर्क से टेढ़े हो जाने वाले नखों से हृदय विदीर्ण कर के मार डाला गया।' अधोलिखित पद्य में वीरता की ध्वनि है :

आयान्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना-
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद् वारिधेरापगानां
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम्॥

'अविच्छिन्न वेग से आती हुई राजाओं की उद्धत सेनाओं का कृष्ण की विशाल तथा तरङ्गवती सेनाओं के साथ महान् कोलाहल से युक्त ऐसा दोलायुद्ध (अनियत जय पराजय वाला युद्ध) हुआ, जैसे अविरत वेग से बहती हुई, क्षुभित नदियों का समुद्र के महान् और तरङ्गवान् प्रवाहों के साथ दोलायुद्ध होता है।' निम्न पद्य का भाव अधिक साधारण होने पर भी परिष्कृत शब्दों में प्रकट किया गया है :

सजलाम्बुधरारवानुकारी,
ध्वनिरापूरितदिङ्मुखो रथस्य।
प्रगुणीकृतकेकमूर्ध्वकण्ठैः
शितिकण्ठैरुपकर्णयाम्बभूव (?-वे)॥

'सजल मेघ के गर्जन का अनुकरण करने वाली, दिगन्तों में व्याप्त रथध्वनि को गर्दन उठाए हुए मयूरों ने सुना और वे चिल्ला कर बोलने लगे।' युद्ध का यह चित्र वस्तुतः ओजस्वी है :

तूर्यारावैराहितोत्तालतालै-
र्गायन्तीभिः काहलं काहलाभिः।
नृत्ते चक्षुःशून्यहस्तप्रयोगं
काये कूजन् कम्बुरुच्चैर्जहास॥

'प्रस्फुट ताल का सम्पादन करने वाली मृदङ्गादि वाद्यों की ध्वनि के कारण और जोर से बजती हुई काहलाओं (मुखवाद्यविशेष) के कारण नेत्रों से शून्य धड़ के हाथ हिला हिलाकर नाचने पर बजता हुआ शङ्ख मानो जोर से हँसने लगा।'

शृङ्गार और युद्ध के सम्मिश्रण की पद्धति अत्यधिक वैशिष्टयपूर्ण है; हमें युद्धक्षेत्र के दो अद्‌भुत चित्र मिलते हैं जो भावना में पूर्णतः भारतीय हैं:

कश्चिन्मूर्च्छामेत्य गाढप्रहारः
सिक्तः शीतैः शीकरैर्वारणस्य ।
उच्छ्वास प्रस्थिता तं जिघृक्षु–
र्व्यर्थाकूता नाकनारी मुमूर्छ ॥

'गाढ प्रहार से मूर्च्छा को प्राप्त होकर कोई वीर हाथी के शीतल जलकणों से छिड़का जाकर होश में आ गया। उसको ग्रहण करने के लिए आई हुई अप्सरा अपने मनोरथ के विफल हो जाने के कारण मूर्च्छित हो गई।'

त्यक्तप्राणं संयुगे हस्तिनीस्था
वीक्ष्य प्रेम्णा तत्क्षणादुद्‌गतासुः ।
प्राप्याखण्डं देवभूयं सतीत्वाद्
आशिश्लेष स्वैव कञ्चित्पुरन्ध्री ॥

'संग्राम में प्राणत्याग करने वाले किसी वीर को हथिनी पर बैठी हुई उसकी अपनी भार्या ने देख कर प्रेम के कारण उसी क्षण अपने प्राण छोड़ दिये और सतीत्व के कारण अखण्ड देवत्व को प्राप्त करके स्वर्ग में उसका आलिङ्गन किया।' जो भी हो, माघ, विशेषतः अपने नायकों के भाषणों में, अत्यधिक प्रभावपूर्ण ओज और सरलता के प्रदर्शन में समर्थ हैं, जैसे युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण को सम्मान दिए जाने पर शिशुपाल के गौरवपूर्ण विरोध में:

यदपूपुजस्त्वमिह पार्थ,
मुरजितमपूजितं सताम् ।
प्रेम विलसति महत्तवहो
दयितं जनः खलु गुणीति मन्यते ॥
अनृतां गिरं न गदसीति
जगति पटहैर्विघुष्यसे ।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयत-
स्तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता ॥

'हे युधिष्ठिर! इस सभा में जो तुमने सज्जनों के अपूज्य कृष्ण की पूजा की है, उससे तुम्हारा अत्यधिक प्रेम प्रकाशित होता है। अहो! लोग प्रियजन को ही गुणी मानते हैं। "तुम असत्य वाणी नहीं बोलते हो" इस प्रकार नगाड़े की चोट पर तुम्हारे विषय में घोषणा की जाती है। किन्तु

निन्दनीय हरि की अर्चना करते हुए तुम्हारे कर्म से ही असत्यता प्रकाशित होती है।' एक पर्वत की, जिसके एक ओर सूर्य अस्त हो रहा है और दूसरी ओर चन्द्रमा उदय हो रहा है, एक हाथी से उपमा देने में, जिसके दोनों ओर दो घण्टे लटक रहे हैं, निपुणता[१] के कारण उन्हें घण्टा-माघ का उपनाम दिलाने वाले उनके कल्पना-चातुर्य की अपेक्षा यह वक्तृता का प्रवाह हमें अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। जैसा कि ऊपर के पद्यों से स्पष्ट है उनका अलङ्कारों का प्रयोग स्वतन्त्र और प्रायः सुन्दर है; उनके अनुप्रास सामान्यतः चुभते हुए तथा प्रभावशाली होते हैं।

माघ भाषा में प्रवीण हैं और बहुत संभव है कि भट्टि के प्रभाव के कारण ही उनके काव्य में व्याकरण के नियमों के काफी दृष्टान्त मिलते हैं।[२] **बिभराम्बभूवे** जैसे कृ, भू, और अस् से अनुप्रयुक्त लिट् लकार का कर्म और भाव में पर्याप्त प्रयोग उन्होंने किया है; **मध्येसमुद्रम्** तथा **पारेजलम्** कम प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं; **वैरायितारः** नामधातु **वैरायते** से निकला है; **अघस्ले**, **निषेदिवान्** और **न्यषायिषाताम्** विलष्ट प्रयोग हैं; प्रथम सर्ग के ५१ वें पद्य में क्रियासमभिहार के अर्थ में लोट् लकार का और अभिज्ञावाचक धातु के अनन्तर लङ् के स्थान में लृट् लकार का प्रयोग पाणिनि से ही लिया गया है।

जहां तक छन्द का सम्बन्ध है माघ का प्रधान कौशल उनके चतुर्थ सर्ग में प्रकट होता है जिसमें भारवि की छन्दो-विषयक चातुरी प्रदर्शित करने वाले केवल १६ छन्दों के मुकाबले में उन्होंने २२ छन्दों का प्रयोग किया है। श्लोक छन्द का सर्वाधिक प्रयोग है और वह दसरे तथा उन्नीसवें सर्ग का आधारभूत छन्द है; वंशस्था कोटि का उपजाति छन्द पहले तथा बारहवें सर्गों में प्रयुक्त है; इन्द्रवज्रा कोटि का उपजाति[३] तीसरे में; उद्गता पन्द्रहवें में; औपच्छन्दसिक बीसवें में; द्रुतविलम्बित छठे में; पुष्पिताग्रा सातवें में; प्रमिताक्षरा नवें में; प्रहर्षिणी आठवें में;

---

१. ४।२०; Peterson, OC. VI, III. ii. 339.

२. Cappeller, बालमाघ, pp. 187 f.

३. इन छन्दों में कभी कभी प्रथम और तृतीय पाद लघु में समाप्त होते हैं। यह नियमभंग नियमतः केवल द्वितीय और चतुर्थ पाद में हो सकता है; तु० वामन v. 1. 2f.; साहित्यदर्पण ५७५। वे प्रथम विपुला में अन्तिम वर्ण तीन बार लघु प्रयोग करते हैं और द्वितीय विपुला में एक बार; भारवि ऐसा कभी नहीं करते और कालिदास केवल एक बार प्रथम विपुला में लघु का प्रयोग करते हैं जो सन्देहास्पद है।

मञ्जुभाषिणी तेरहवें में ; मालिनी ग्यारहवें में ; रथोद्धता चौदहवें में ; और रुचिरा, वसन्ततिलक, वैतालीय तथा शालिनी क्रमशः सत्रहवें, पाँचवें, सोलहवें, और अठारहवें में प्रयुक्त हुए हैं। इस कथन से सर्गों के छन्दों को परिवर्तित करने में माघ का स्वनैपुण्य-मूलक गर्व प्रकाशित होता है। दसवें सर्ग का स्वागता छन्द निस्सन्देह उन्होंने भारवि से ग्रहण किया था, और बाद में बिल्हण ने भी इस विरल छन्द का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया है। आर्या कोटि का गीति छन्द दो वार आता है, जबकि उत्सर, कलहंस, चित्रलेखा, जलधरमाला, जलोद्धतगति, तोटक, दोधक, धृतश्री, पृथ्वी, प्रभा, प्रमदा, भ्रमरविलसित, मञ्जरी, महामालिका, वंशपत्रपतित, वैश्वदेवी, शिखरिणी, स्रग्धरा, स्रग्विणी और हरिणी में से प्रत्येक छन्द का केवल एक ही पद्य है। मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविक्रीडित के क्रमशः दो, तीन तथा चार पद्य हैं।

माघ के श्लोक छन्द के प्रयोग में ४६४ अर्द्ध-श्लोकों में से १२५ विपुला कोटि के हैं, ४७ विपुला के प्रथम भेद के, ४४ द्वितीय, और ३४ तृतीय भेद के हैं। विपुला के चतुर्थ भेद का प्रयोग बिलकुल ही नहीं है[1]। विपुला का यह अधिक प्रयोग कालिदास तथा भारवि से स्पष्टतः भिन्न है, क्योंकि माघ में प्रत्येक तीन या चार पद्यों के बाद एक विपुला मिलती है, जब कि दूसरों में यह औसत १२ या १४ पद्यों में एक का है। इसके अतिरिक्त कालिदास को विपुला के द्वितीय भेद से तृतीय भेद अधिक पसन्द है, जब कि भारवि में तृतीय विपुला का शायद ही कोई उदाहरण मिलेगा, किन्तु माघ ने तीनों भेदों को समान रूप से अपनाया है। माघ बिलकुल उतने परिष्कृत लेखक नहीं हैं जितने कि भारवि, क्योंकि मनागभ्यावृत्त्या वा में उन्होंने दुष्ट यति का सन्निवेश किया है और ११वें सर्ग के अठारहवें और बाईसवें पद्यों में तो यति को पूर्णतया विस्मृत कर दिया गया है, और उसमें उन्नीसवें सर्ग के बावनवें और १०८ वें पद्यों की भांति गूढार्थक शब्दों के प्रयोग का कोई बहाना भी विद्यमान नहीं है। संवेदनशीलता के अपकर्ष का एक और चिह्न प्रथम प्रकार की विपुला के प्रथम चरण में ⏑ ⏑ – – के विरुद्ध ⏑ – ⏑ – का लगभग समान रूप से प्रयोग है, जिनकी संख्याएं २१ की तुलना में २६ हैं। माघ स्पष्टतः विपुला के प्रथम और द्वितीय प्रकारों के प्रयोग में भेद का

---

१. SIFI. VIII. ii. 55 में भिन्न पाठों के आधार पर ४५, ४५, ३३ और ३३ ये संख्यायें दी गई हैं।

औचित्य नहीं मानते थे। हेमचन्द्र के विषय में इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए याकोबी[1] (Jacobi) ने विपुला का अधिक प्रयोग करने के कारण माघ के पश्चिम देश में उत्पन्न होने का सुझाव दिया है। विन्ध्य के विषय में कवि का ज्ञान भी इसी बात की ओर संकेत करता है। परन्तु यह निष्कर्ष अनिश्चित ही समझा जाना चाहिए।

१. IS. xvii. 444. परन्तु उनकी शैली गौडी है, वैदर्भी नहीं। परम्परा उनको श्रीमाल का निवासी बतलाती है और यह सम्भव है कि यह स्थान वर्मलात के शासन में रहा हो।

६

द्वितीय श्रेणी के महाकाव्यकर्ता कवि

महाकाव्य-कालीन अन्य कवियों में से, जिनके काव्य हमको उपलब्ध हैं, कोई भी ऊपर समीक्षित महाकवियों की समकक्षता नहीं कर सकता, और महाकाव्य-कालीन उन प्राचीन कवियों के विषय में, जिनकी कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं, कोई भी सामग्री हमारे पास ऐसी नहीं है जिसके आधार पर उनकी वास्तविक योग्यता के विषय में हम कोई निर्णय कर सकें। मेण्ठ, अथवा भर्तृमेण्ठ, जिनको हस्तिपक यह नाम भी दिया जाता है, के संवन्ध में कल्हण[1] का कहना है कि राजा मातगुप्त ने, जो स्वयं कवि थे, उनके **हयग्रीववध** को इतना ललित पाया कि उन्होंने कवि को एक सोने की थाली देकर पुरस्कृत किया, इसलिए कि पुस्तक को वेष्टन में बांधते समय उसे पुस्तक के नीचे रख दिया जाय जिससे कि उसके रस की रक्षा हो सके। गुण-ग्राहिता के इस प्रतीक से प्रसन्न होकर कवि ने उस पुरस्कार को अनावश्यक समझा। कल्हण के अनुसार मातृगुप्त प्रवरसेन के पूर्ववर्ती थे, और अबुद्धिपूर्वक तर्क के कारण उनके व्यक्तित्व को कालिदास के साथ संकीर्ण कर दिया जाता है। उनका समय संदिग्ध ही है, परन्तु ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने भरत के नाट्य-शास्त्र पर एक टीका लिखी थी जिसके उद्धरण अवशिष्ट हैं। कल्हण ने शब्दतः दो पद्यों को उद्धृत किया है। उनमें से प्रथम भारी और आयास-सिद्ध है, द्वितीय उद्धरण करने के योग्य है :

> नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं
> दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि।
> निःशब्दवर्षणमिवाम्बुधरस्य राजन्
> संलक्ष्यते फलत एव तव प्रसादः॥

'तुम मनोभाव को नहीं दिखाते हो, न आत्मश्लाघा करते हो; तुम देने की इच्छा को प्रकट नहीं करते हो, पर सत्फलों को देते हो; बादल के निःशब्द वर्षण के समान हे राजन्! तुम्हारा प्रसाद फल से ही प्रकट होता है'। वाल्मीकि, मेण्ठ, भवभूति और राजशेखर की आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक वंशपरम्परा

---

१. iii. 125 ff., 260 ff. Cf. Peterson, *Subh.*, pp. 92 ff., 117 ff.; Aufrecht, ZDMG. xxvii. 51; xxxvi; 368. Thomas ने (कवीन्द्रवचनसमुच्चय) इन कवियों के संबन्ध में सुभाषित-संग्रहों के पद्यों के उल्लेख दिये हैं।

में द्वितीय स्थान में रखे जाने का सम्मान मेण्ठ के प्रति प्रदर्शित किया गया है, जबकि मङ्ख ने उसे सुबन्धु, भारवि और बाण के साथ में रखा है। उनके नाम से कुछ सुन्दर पद्य सुभाषित संग्रहों में उद्धृत हैं, परन्तु जैसा कि प्रायः देखा जाता है, वे वास्तव में उन्हीं के हैं, इस बात में संदेह है। तो भी हम एक पद्य उद्धृत कर सकते हैं :

तथाप्यकृतकोत्तालहासपल्लविताधरम् ।
मुखं ग्रामविलासिन्याः सकलं राज्यमर्हति ॥

'तो भी अकृत्रिम उत्ताल हास से पल्लवित अधर से युक्त ग्राम-सुन्दरी के मुख पर समस्त राज्य न्योछावर किया जा सकता है।' कश्मीर के सिंहासन पर मातृगुप्त के उत्तराधिकारी प्रवरसेन के समय[१] के संबन्ध में उपलब्ध साक्ष्य पर यदि विश्वास किया जाय, तो हम मेण्ठ को छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में रख सकते हैं, और इस प्रकार उनको **सेतुबन्ध** के लेखक का समकालीन मान सकते हैं।

मेण्ठ के कुछ ही अनन्तर **रावणार्जुनीय**[२] अथवा **अर्जुनरावणीय** का समय आता है। इसके रचयिता भौमक थे, जिनको भीम, भूम अथवा भूमक भी कहा जाता है, और जिन्होंने कश्मीर में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस महाकाव्य में २७ सर्ग हैं, जिनमें **रामायण** में उपलब्ध अर्जुन कार्तवीर्य और रावण के युद्ध की कथा का वर्णन है। भट्टि के समान इस काव्य का उद्देश्य भी व्याकरण के नियमों के उदाहरणों को दिखाना है। यद्यपि दोनों काव्यों का समय अनिर्णीत है, तो भी यह संभव है कि भट्टि के उदाहरण का अनुसरण इसमें किया गया है। हलायुध का **कविरहस्य**[3] इसके बाद की रचना है। उसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन का प्राधान्य है और उसका उद्देश्य संस्कृत की धातुओं के लट् लकार के रूपों का प्रयोग दिखलाना है। साथ-साथ उसमें राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (९४०–५६ ई०) की प्रशस्ति दी गई है।

नवम शताब्दी की समाप्ति से पहले अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में कश्मीर में **कप्फणाभ्युदय**[४] नाम का एक रोचक बौद्ध महाकाव्य लिखा गया। **अवदानशतक**

---

१. Cf. Stein, *Rājatar.*, i. 83 f.

२. Ed. KM. 68, 1900. तु० त्रिवेदी, भट्टिकाव्य, i. pp. x f.

३. Ed. Greifswald, 1900. महाभारत की कथा तथा व्याकरण और धातुओं के सम्बन्ध में लिखे गये **धातुकाव्य** के सहित एक **युधिष्ठिर-विजय** (KM. x. 52-231) के रचयिता कोई वासुदेव बतलाये जाते हैं; तु० संभवतः अन्त्यानुप्रास-युक्त कविताओं के लेखक वासुदेव (JRAS. 1925, pp. 264 ff.).

४. Śeshagiri, *Report*, 1893-4, pp, 49 ff.; Aufrecht, ZDMG. xxvii. 92 f.; Thomas, कवीन्द्रवचनसमुच्चय, pp. 111 ff.; Mitra, Nep. *Buddh. Lit.*, p. 38 (दक्षिणापथ का कप्फिण).

वर्णित श्रावस्ती के राजा के विरुद्ध दुरभिसंधि रखनेवाले दक्षिण के एक नृपति के धर्म-परिवर्तन के कथानक पर यह आधारित है। इसी कथा-वस्तु को शिवस्वामी ने, स्पष्टतः माघ और भारवि से प्रभावित होकर, पूर्ण महाकाव्य-शैली के अनुसार पल्लवित किया है, क्योंकि इस महाकाव्य की रचना स्पष्टतः **किरातार्जुनीय** और **शिशुपालवध** की रचना पर आधारित है। काव्य का प्रारम्भ कप्फण और उसकी राजधानी लीलावती के वर्णनों से होता है (सर्ग १)। **किरातार्जुनीय** के प्रथम सर्ग के समान एक गुप्तचर प्रसेनजित् के गर्व और न्याय्य शासन का समाचार लाता है। राजदरबार का सामन्त-वर्ग इस समाचार से घबड़ा जाता है (सर्ग ३); युद्ध-परिषद् की बैठक होती है (सर्ग ४), और एक राजदूत प्रसेनजित् के पास युद्ध की भर्त्सना को लेजाने के लिए भेजा जाता है (सर्ग ५)। तदनन्तर साधारण विषयान्तरण हो जाता है; एक विद्याधर राजा को अपने साथ मलय पर्वत पर जाने के लिए और वहाँ युद्ध-काल की योजना बनाने के लिए उद्यत कर लेता है (सर्ग ६)। यह विषयान्तरण वास्तव में कवि को परम्परा से समादृत वर्णनों के लिए अवसर देने के उद्देश्य से है। उन वर्णनों में वे शब्दालंकारों की दृष्टि से **शिशुपालवध** सर्ग ४ और **किरातार्जुनीय** सर्ग ५ की होड़ करते हैं। तदनन्तर सेना के निवेश का (सर्ग ७), ऋतुओं का, जिनको उक्त पर्वत पर इसलिए इकट्ठा कर दिया जाता है जिससे उन सबका वर्णन कवि एक ही सर्ग में कर सके (सर्ग ८), स्त्रियों के साथ सेना की जल-क्रीड़ा का (सर्ग ९), तदनन्तर वन में उनके भ्रमण और फूलों के चुनने के विनोदों का (सर्ग १०) विस्तार से वर्णन दिया गया है। अब सूर्यास्त का समय है (सर्ग ११), और चन्द्रोदय होना चाहिए (सर्ग १२), जिससे युवतियाँ युद्ध से विमुख अपने प्रेमियों के साथ मधुपान की टोलियों में सम्मिलित होने के लिए उद्दीपित हो सकें (सर्ग १३), और तब कामशास्त्रोक्त उत्तम प्रकार से प्रेम के रहस्यों में भाग ले सकें (सर्ग १४)। अब रात्रि का अन्त और प्रभात का वर्णन अनिवार्य है (सर्ग १५)। अपनी लम्पटताओं से विगतश्रम और प्रोत्साहित हो कर सेना कूच करती है (सर्ग १६), और लम्बे काल तक चलने वाला संघर्ष (सर्ग १७-१९) कप्फण के धर्म-परिवर्तन में समाप्त होता है (सर्ग २०)। सुभाषित-संग्रहों में कुछ पर्याप्त सुन्दर पद्य उक्त काव्य के पाए जाते हैं, परन्तु वह सब-कुछ स्वोपज्ञ नहीं है। इस विषय में उक्त काव्य के निर्माता ने अपने सुन्दर विचारों को जिन महाकवियों से लिया है वे निर्विवाद रूप से उससे उत्कृष्ट हैं। ग्रन्थकार ने स्पष्टतः संस्कृत साहित्य का अच्छा अनुशीलन

किया था, और, जैसा कि एक बौद्ध के लिए स्वाभाविक है, वह मलयपर्वत की दूसरी ओर समुद्र के किनारे गरुड द्वारा निहत नागों की संचित हड्डियों की राशियों के निर्देश में हर्ष के नागानन्द का उल्लेख करता है।

राजानक और वागीश्वर पदवियों को रखनेवाले रत्नाकर नामक एक दूसरे काश्मीरी महाकवि की कृति हरविजय[1] पर भी माघ का महान् प्रभाव दिखाई देता है। वे बृहस्पति अथवा चिप्पट जयापीड और अवन्तिवर्मा के राज्यकालों में विद्यमान थे, और इस प्रकार ८५० ई० के लगभग अपनी प्रौढ अवस्था में थे। काव्य का कथानक अतीव लघु है—अन्धकासुर का वध, जो शिव से उस समय उत्पन्न हुआ था जब कि पार्वती ने खिलवाड़ में अपने हाथों से उनकी आँखों को आवृत कर लिया था। वह बच्चा इस प्रकार दुर्भाग्यवश अन्धा पैदा होकर बड़ा होता है, तपस्या द्वारा दृष्टि को प्राप्त करता है, और तीनों लोकों का स्वामी बन जाता है, जब कि, जैसा प्रायः होता है, शिव उसका वध करना आवश्यक समझते हैं। काव्य का ढाँचा उसी योजना के अनुसार है जिसको हम पहले ही देख चुके हैं; शिव की राजधानी का वर्णन होना ही चाहिए (सर्ग १), तब उनके ताण्डव-नृत्य का (सर्ग २), ऋतुओं का (सर्ग ३), और मन्दर पर्वत का (सर्ग ४–५)। तदनन्तर नवीन विजेता से रक्षा के लिए शिव से वसन्त के नेतृत्व में ऋतुओं की अभ्यर्थना का 'अभिप्राय' (motif) उपस्थित होता है। शिव के सचिवगण अब विचार करते हैं, और सोलहवें सर्ग की समाप्ति तक कवि को राजनीति की कला में अपनी पूर्ण अभिज्ञता दिखाने का अवसर मिल जाता है। सारे परामर्श के अनन्तर असुर के पास दूत यह कहने के लिए भेजा जाता है कि वह उन लोकों से हट जाय जिनको उसने अन्याय-पुरस्सर दबा लिया है। इस जगह पर संप्रदायानुसारी विषयान्तरण उपस्थित हो जाता है, और हम तेरह सर्गों में शिव के गणों की उसी प्रकार की क्रीड़ाओं का वर्णन पाते हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है; उसमें सूर्योदय, सूर्यास्त, क्षुब्ध समुद्र, और उन्तीसवें सर्ग में कामशास्त्रीय व्यापार की बड़ी सावधान व्याख्या भी सम्मिलित हैं। दूत अन्त में स्वर्ग में असुर के राज्य में पहुँचता है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन आवश्यकरूप से करना ही चाहिए (सर्ग ३१)। इस के पश्चात् सात सर्गों में दोनों पक्षों के भाषण-प्रतिभाषणों का वर्णन आता है। दूत स्वभावतः अत्यधिक मात्रा में अशोभन वक्तृताओं के सिवा और कुछ किये बिना लौट आता है;

१. अलंक की टीका के साथ संस्करण, KM. 22, 1890. सुभाषितसंग्रह-सम्बन्धी पद्यों के लिए दे० Peterson, सुभाषितावली, pp. 96 ff.; Aufrecht, ZDMG. xxxvi. 372 ff. माघ के अनुकरण के विषय में, तु० Jacobi, WZKM. iv. 240 f.; Dhruva. v. 25.

चार सर्गों में शिव की सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार की जाती हैं—जिस युद्ध के लिए उनकी शृङ्गारमय क्रीड़ाएँ उनकी योग्यता को संदेहात्मक बनाती हुई प्रतीत होती हैं। वे बहुत-कुछ साधारण कोटि के योद्धा सिद्ध होते हैं, परन्तु भयङ्कर चण्डिका देवी की स्तुति के सन्निवेश के कारण सैंतालीसवें सर्ग में एक नवीन वैशिष्ट्य के ले आये जाने के पश्चात् पचासवें सर्ग में दुरात्मा अन्धकासुर को मृत्यु के साथ काव्य को समाप्त करने का अवसर मिल जाता है। कवि का कहना है कि उन्होंने बाण का अनुकरण किया है। सुभाषितसंग्रहों में उन पर कुछ ध्यान दिया गया है। परन्तु, यद्यपि निःसन्देह रूप से उनके कुछ पद्य सुन्दर हैं और वसन्ततिलक वृत्त में उनके कौशल को क्षेमेन्द्र प्रमाणित करते हैं, तो भी उनकी कविता एक निराशाजनक भ्रान्तकृति है और यमकों के लिए उनका अनुराग उसकी स्वाभाविक निरानन्दता को और भी बढ़ा देता है। पुष्कल शास्त्रीय रचना-कौशल और प्रचुर ज्ञान से संपन्न कवियों के चित्त पर आघात करनेवाले अनुपात के अत्यन्त अभाव का इससे अधिक विस्मयोत्पादक उदाहरण विद्यमान नहीं है। एक समकालीन कवि के रूप में राजशेखर का उल्लख करनेवाले और अलंकृत शैली में बाण की कादम्बरी का कादम्बरीकथासार[1] इस नाम से संक्षेप करनेवाले, तार्किक जयन्त भट्ट के पुत्र अभिनन्द इसी शताब्दी में कश्मीर में हुए थे। सीता-हरण से लेकर राम के इतिहास का वर्णन करनेवाले रामचरित के ग्रन्थकार और शतानन्द के पुत्र अभिनन्द के ही नामधारी का समय अज्ञात है; किसी अज्ञात व्यक्ति[2] द्वारा कालिदास के साथ की गयी अभिनन्द की तुलना वास्तव में उपर्युक्त अभिनन्दों में से किसके साथ है, यह भी उसी तरह अनिश्चित है। जो बात निश्चित है वह यह है कि दोनों में से कोई भी उस तुलना के योग्य बिलकुल नहीं है। ग्यारहवीं शताब्दी में कश्मीर ने ही बहुशास्त्राभिज्ञ क्षेमेन्द्र को उत्पन्न किया, जो अत्यन्त अविचल श्रम से युक्त लेखक थे और जिनके लेखों में प्रायः रूक्षता[3] पाई जाती है। उन्होंने १०३७ में **भारतमञ्जरी**[4] को लिखा और १०६६ में **दशावतारचरित**[5] को, जिसमें विष्णु के दसों अवतारों में से प्रत्येक का वर्णन है। उनमें से नवें बुद्ध हैं जो इस प्रकार निश्चितरूप से हिन्दू देवतावृन्द में संमिलित कर लिये गये हैं। उनको

---

१. . Thomas, कवीन्द्रवचनसमुच्चय, p. 20; Bühler, IA. ii. 102 f.

२. शार्ङ्गधर viii. 5, जहां अचल और अमल जोड़ दिये गयें हैं।

३. Cf. Lévi, JA. 1885, ii. 420.

४. Ed. KM. 65, 1898.

५. Ed. KM. 26, 1891.

रामायणमञ्जरी[1] जो रामायण का संक्षेप है, निस्संदेह उनके प्रारम्भिक काल की रचना है। **भारतमञ्जरी** के समान यह शुद्ध है, और महाभारत के मूल ग्रन्थ के इतिहास के लिए जैसे वह वैसे ही रामायण के मूल ग्रन्थ के इतिहास के लिए यह अपना महत्त्व रखती है, परन्तु काव्य की दृष्टि से दोनों का मूल्य बहुत कम है। **पद्यकादम्बरी** में उन्होंने **कादम्बरी** को भी पद्य में परिवर्तित कर दिया है।

कश्मीर ने ही बारहवीं शताब्दी में मङ्ख नाम के एक रोचक लेखक को उत्पन्न किया। ये रुय्यक के शिष्य थे। रुय्यक ने अपने अलंकारसर्वस्व में मङ्ख के महाकाव्य **श्रीकण्ठचरित**[2] का उल्लेख किया है। इस महाकाव्य में, २५ सर्गों में, शिव द्वारा त्रिपुरासुर के नाश की कथा का वर्णन है। कुछ परिवर्तनों के साथ परम्परा-प्राप्त बँधी हुई या रूढ़ शैली में ही यह लिखा हुआ है; तथा च, प्रथम सर्ग में प्रार्थनाओं और स्तुतियों ने पर्याप्त स्थान ले लिया है, द्वितीय और तृतीय सर्गों में सज्जनों और दुर्जनों के वर्णनों आदि के रूप में कुछ नैतिक विषय का सन्निवेश किया गया है। परन्तु चतुर्थ सर्ग से हम फिर कैलास, उसके स्वामी (सर्ग ५), वसन्त ऋतु (सर्ग ६), और तदनन्तर दोला में झूलना, वनों में पुष्पावचय, सह-स्नान जैसी साधारण क्रीड़ाओं का वर्णन पाते हैं (सर्ग ७–१०)। इसके पश्चात् संध्या, चन्द्रोदय, और तत्संबद्ध विषयों के उसी प्रकार के संप्रदायानुसारी वर्णन आते हैं। अठारहवें और उन्नीसवें सर्गों में हम अपेक्षाकृत अधिक युद्ध-संबन्धी पराक्रमों के विषय की ओर लौट आते हैं; साधारण गड़बड़ी के बाद शिव की सेनाएँ व्यवस्थित की जाती हैं और चल पड़ती हैं। दैत्य व्याकुल हो जाते हैं (सर्ग २२), बँधे ढंग पर युद्ध होता है (सर्ग २३), और त्रिपुर को जला दिया जाता है। इसके पश्चात् पचीसवें सर्ग में, सौभाग्यवश मङ्ख एक नया प्रसङ्ग उपस्थित कर देते हैं। वास्तव में ग्रन्थ का यही भाग पढ़ने के योग्य है। उक्त सर्ग में वे विद्वानों के एक दरबार का वर्णन करते हैं जिसको जयसिंह (११२९–५०) के मन्त्री, और उसके भाई, अलंकार ने करवाया था। इस वर्णन में हम उक्त सभा में उपस्थित विद्वानों का, उनकी विशिष्ट योग्यताओं और अभिरुचियों का, वास्तविक जीवन से लिया हुआ, चित्र पाते हैं। अपनी कविता की पूर्त्ति पर उसको अपने मित्रों को पढ़कर सुनाना ही उक्त दरबारका उद्देश्य था। उक्त वर्णन से हमें अनेक रोचक बातों का पता लगता है। उनमें यह तथ्य भी सम्मिलित है कि वह स्वयं चार भाइयों में से

१. Ed. KM. 83, 1903. Cf. Yacobi, Rāmāyaṇa, p. 15,

२. Ed. KM. 3, 1887. Cf. Bühler, *Report*, pp. 50 ff. उनके द्वारा उद्गता छन्द के प्रयोग पर Cf. Yacobi, ZDMG. xliii. 467.

एक था, जो सब के सब लेखक तथा सरकारी अधिकारी भी थे। इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर जैसी सभा अधिक याथार्थ्य के साथ कालिदास के दिनों में और उनसे पहले भी साधारणयता होने वाली सभाओं के आदर्श पर ही की गई होगी; Statius, Juvenal, Martial और Pliny के आधार पर जिन विद्वत्सभाओं से हम परिचित हैं उनके साथ उक्त सभाओं की समानता विस्मयोत्पादक और रोचक है। इसी शताब्दी के काश्मीरी जयरथ के हरचरितचिन्तामणि[1] में वास्तविक जीवन के क्षेत्रों में परिभ्रमण का ऊपर जैसा आनन्द हमें नहीं मिलता। परन्तु यह काव्य धार्मिक दृष्टि से कुछ महत्त्व रखता है। साथ ही यह शैव पौराणिक कथाओं का और शैव आचारों तथा विश्वासों के साक्ष्य का भण्डार है।

जैसा कि सुविदित है, जैनों का बराबर प्रयत्न ब्राह्मणों की पौराणिक कथाओं को लेकर अपनालेने का रहा है। अमरचन्द्र (लगभग १२५०) ने बालभारत[2] नाम के एक काव्य की रचना की, जिसकी विशेपता छन्द को छोड़कर और कुछ नहीं है। आपाततः १०५० के लगभग लोलिम्बराज ने हरिविलास[3] नाम के काव्य को लिखा। इसके तृतीय सर्ग में साधारणतया प्रचलित पद्धति में ऋतुओं का वर्णन दिया गया है, और चतुर्थ सर्ग में कृष्ण का वर्णन है। परन्तु धार्मिक कविता काव्य-शैली के लक्ष्य को लेकर नहीं लिखी जाती थीं; उदाहरणार्थ पुराणों के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप अनेक जैन ग्रन्थ विद्वत्ता-प्रदर्शन की भावना से रहित साधारण संस्कृत में लिखे हुए पाये जाते हैं।

परन्तु बारहवीं शताब्दी में मिथ्या-प्रयुक्त चातुर्य का समुत्कर्ष तीन लेखकों को प्राप्त हुआ। उनमें से समय की दृष्टि से कदाचित् सर्व-प्रथम सन्ध्याकर नन्दी थे। उनके रामपालचरित[4] के प्रत्येक पद्य में राम के चरित का और बंगाल में ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में विद्यमान राजा रामपाल का वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें से जैन लेखक धनञ्जय[5] द्वितीय थे, जिनको कदाचित् श्रुतकीर्त्ति भी कहा जाता है। वे दिगम्बर संप्रदाय के थे और उन्होंने

---

१. Ed. KM. 61, 1897. Cf. Bühler, *Report*, p. 61.

२. Ed. KM. 45. 1894. Cf. Weber, ZDMG. xxvii. 170 ff.; उन्होंने ललिता और स्वागता का प्रयोग किया है।

३. Ed. KM. xi. 94-133.

४. Ed. MASB. iii. 1-56.

५. Ed. KM. 49, 1895 (१८ सर्ग). Cf. Bhandarkar, *Report*, 1884-7, pp. 19 f.; Pathak, JBRAS. xxi 1 ff.; Fleet, IA. xxxiii. 279.

अपने ग्रन्थ ११२३ और ११४० के बीच में लिखे। तीसरे थे कविराज[1], जिनके लिए सूरि अथवा पण्डित की पदवी भी दी जाती है। उनका वास्तविक नाम कदाचित् माधवभट्ट था। उनके आश्रयदाता, जैसा कि वे स्वयं बतलाते हैं, कामदेव थे, जो संभवतः कादम्बवंशीय राजा कामदेव ही (११८२–९७) थे। इन दोनों ग्रन्थकारों ने **राघवपाण्डवीय** इसी नाम से अपने अपने काव्य रचे, जिनमें **रामायण** और **महाभारत** की कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। यह अद्भुत कार्य आपाततः अविश्वसनीय प्रतीत होता है। तो भी संस्कृत भाषा के स्वभाव को देखने से इसकी व्याख्या विशेष कठिनता के बिना हो जाती है। पद्य की प्रत्येक पंक्ति को एक इकाई मान कर, उसका बिलकुल विभिन्न प्रकार से अक्षर-समूहात्मक शब्दों में विश्लेषण किया जा सकता है। साथ ही, समासों के अर्थ पर भी, तदन्तर्गत शब्दों के परस्पर संबन्धों को जिस रूप में समझा जाता है, उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, चाहे शब्दों को एक ही अर्थ में लिया जाय और समास का विश्लेषण भी चाहे एक से ही शब्दों में किया जाय। इसके अतिरिक्त, और यह बात विशेष महत्त्व रखती है, संस्कृत के शब्दकोष एक ही शब्द के अनेक प्रकार के अर्थ देते हैं, और उनमें हमें बड़े विचित्र शब्दों की एक बड़ी संख्या मिलती है। अपने विशेष रूप के कारण वे शब्द इस अभिप्राय से थोड़े बहुत घड़े हुए प्रतीत होते हैं कि उनका अर्थ या रूप या तो केवल समझने की भूल से या कुछ अवस्थाओं में केवल पढ़ने की भूल से ही निष्पन्न हुआ है। इन दो काव्यों जैसे ग्रन्थों की पद्धति का प्रारम्भ सुबन्धु और बाण के शब्दश्लेष से हुआ है, और कविराज स्पष्टतः कहते हैं कि उनका दावा है कि वक्रोक्ति के प्रयोग में उक्त दोनों कवियों को छोड़कर उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। अनिश्चित समय के हरदत्त सूरि का **राघवनैषधीय** राम और नल की कथाओं के लिए इसी अद्भुत कार्य का संपादन करता है। असंदिग्ध रूप से बिलकुल पिछले काल की रचना चिदम्बरकृत **राघवपाण्डवीययादवीय** में तीन कथाओं के कहने की हास्यास्पदता देखी जाती है; तीसरी कथा **भागवतपुराण**[2] से ली हुई है। इन ग्रन्थों की खेदजनक मूर्खता स्पष्ट है। तो भी यह सत्य है कि कम से कम कविराज बड़े अच्छे बुद्धि-वैभव को दिखाते हैं और वे, यदि उनकी

---

१. Ed. KM. 62. भण्डारकर ।रा पृ० २० पर दिये हुए समय, लगभग १०००, पर पिशेल (Pischel) ने विचार किया है (*Die Hofdichter des Lakṣmaṇasena*, pp. 37 f.). Cf. Fleet, *Bombay Gaz.*, i. 2. 563.

२. ३० पद्यों में लिखे हुये वेङ्कटाध्वरिन् के **यादव-राघवीय** में राम की कथा वर्णित है, साथ ही पीछे की ओर उल्टे पढ़ने में उसमें कृष्ण की कथा दी हुई है (*Madras Catal.*, xx. 7956).

रुचि नें उनकी शक्ति का उक्त प्रकार से अपव्यय न कर दिया होता तो, कोई अधिक सम्मानार्ह काव्य-ग्रन्थ लिख सकते थे।

द्वितीय सर्ग के दो पद्यों से उन उपायों को दिखाया जा सकता है जिनके द्वारा दो कथाएँ एक साथ वर्णित की जाती हैं :

नृपेण कन्यां जनकेन दित्सिता–
मयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे।
द्विजप्रकर्षेण (?-प्रवर्येण) स धर्मनन्दनः
सहानुजस्तां भुवमप्यनीयत ॥

'वे धर्म को आनन्दित करनेवाले (राम) भी अपने अनुज के साथ द्विजों में-श्रेष्ठ (विश्वामित्र) द्वारा स्वयंवर में राजा जनक से देने को इष्ट अयोनिजा कन्या (सीता) को प्राप्त करने के लिए उस (स्वयंवर के) स्थान को ले जाये गये।' महाभारत की कथा के अनुसार अर्थ होगा: 'वे धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) भी अपने अनुजों के साथ द्विजों में श्रेष्ठ (व्यास की आज्ञा) द्वारा स्वयंवर में अपने पिता राजा (द्रुपद) से देने को इष्ट अयोनिजा कन्या (द्रौपदी) को प्राप्त कराने के लिए उस (स्वयंवर के) स्थान (पञ्चाल) को ले जाये गये।' सीता हल से उत्पन्न हुई थीं और द्रौपदी यज्ञ-वेदी से।

मार्गेऽथो दीर्घतमःसुतस्य
कलत्रकृत्र (?-कृच्छ्र-) प्रतिमोक्षणेन
अङ्गारवर्णस्य जितात्मनोऽसौ
चकार तोषं नरदेवजन्मा ॥

'तदनन्तर उन राज-पुत्र (राम) ने मार्ग में अङ्गार के समान वर्णवाले जितात्मा दीर्घतमस् के पुत्र (गोतम) को, उनकी पत्नी (अहल्या) को (शिलाभाव को प्राप्त होने के) कष्ट से छुड़ा कर, संतोष प्रदान किया'। महाभारत की कथा के लिए हमें तमःसु और तस्य को पृथक् करके पढ़ना चाहिए। उस दशा में अनुवाद होगा : 'तब उन राजपुत्र (अर्जुन) ने दीर्घ अन्धकार से युक्त मार्ग में जीते हुए उस अङ्गार-वर्ण (नामवाले गन्धर्व) को उसकी पत्नी के कहने पर मृत्युरूपी कष्ट से छुड़ाकर संतोष प्रदान किया।' टीकाकार सरल भाव से कहता है कि महाभारत में जहां से यह कथा ली गयी है 'अङ्गारपर्ण' यह पाठान्तर है, और उस दशा में मारायण की कथा के संबन्ध में इसके लिए दूसरे अर्थ का सुझाव देता है।

उक्त रचनाएँ अन्ततोगत्वा निश्चयरूप से श्लेष की उसी प्रवृत्ति के व्यवस्थित ढंग से विकास का परिणाम हैं जो इतनी पूर्णता के साथ सुबन्धु और बाण में देखी जाती है। १५४२ में, अयोध्या में, लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचन्द्र द्वारा विरचित

विचित्र रसिकरञ्जन[1] काव्य भी इसी प्रकार का है, क्योंकि इस ग्रन्थ के पद्य भी एक प्रकार से पढ़ने पर प्रेमसंबन्धी कविता के रूप में, और दूसरे प्रकार से पढ़ने पर वैराग्य की प्रशंसा के रूप में, प्रतीत होते हैं। ऍल०ऍच० ग्रे[2] (L.H. Gray) के कथनानुसार उक्त प्रकार की रचनाओं का सादृश्य Leon of Medina द्वारा अपने गुरु Moses Bassola के संबन्ध में लिखित शोकगीत में पाया जाता है। उक्त गीत इटैलियन अथवा हेब्र्यू भाषा की रचना के रूप में पढ़ा जा सकता है।[3]

हीर और मामल्लदेवी के पुत्र और नैषधचरित[4] अथवा नैषधीय के रचयिता श्रीहर्ष अलंकृत शैली के काव्य की अन्तिम अवस्था के एक रोचक और विशिष्ट कवि हैं। उन्हों ने संभवतः कन्नौज के विजयचन्द्र और जयचन्द्र के समाश्रय में बारहवीं शताब्दी[5] के उत्तरार्ध में अपनी रचनाएँ की थीं, यद्यपि उक्त समय के विषय में सबका ऐकमत्य नहीं है।[6] उन्हों ने खण्डनखण्डखाद्य के सहित अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी।

खण्डनखण्डखाद्य में उन्होंने निश्चयात्मकता की प्राप्ति के लिए किये गये सब प्रयत्नों की हेत्वाभास-मूलकता दिखाते हुए (अद्वैत) वेदान्त की युक्तियुक्तता स्थापित की है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में नैषधीयचरित का निस्संदिग्ध रूप से निश्चित महत्त्व है। यह महाकाव्य समस्त छात्रों को नल के नाम से सुपरिचित महाभारत की मनोहर कथा क साथ शैली और छन्दो-रचना के एक ऐसे सिद्धहस्त लेखक के पूर्ण साधनों के प्रयोग का प्रदर्शन करता है, जो श्लिष्ट पदों के व्यवहार की कठिन कला में महान् दक्षता से युक्त होने के साथ साथ प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण में और उस निरीक्षण से उत्पन्न भावों को प्रभावजनक ढंग से प्रकट करने

---

१. Ed. and trans. R. Schmidt, Stuttgart, 1896.

२. वासवदत्ता, p. 32, n. 1.

३. होरा ज्योतिष विषय की एक पुस्तक (ed. *Bibl. Sansk.* 63) तथा भारवि की एक टीका के रचयिता विद्यामाधव बाण, सुबन्धु और कविराज के साथ अपने को भी श्लेषकाव्य का आचार्य कहते हैं; उनके पार्वतीरुक्मिणीय में शिव और पार्वती के तथा कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। चुलुक्य-वंश के राजा सोमदेव के आश्रय में उन्हों ने अपने ग्रन्थों की रचना की थी (Madras Catal., xx. 7778 f.).

४. Ed. Bl. 1836 and 1855 (दो भाग) and NSP. 1894.

५. Bühler, JBRAS. x. 31ff.; xi. 279 ff.

६. R. P. Chanda, IA. xlii. 83 f., 286f.

में भी समर्थ हैं। भारतीय रुचि उनको कालिदास, भारवि और माघ का उत्तराधिकारी एक महाकवि कहकर असंदिग्ध रूप से उनके प्रति अपने सम्मान को दिखाती है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि इन भारतीय आलोचकों की दृष्टि में **नलचरित** की मूलकथा श्रीहर्ष के काव्य की तुलना में अत्यन्त नीरस प्रतीत होगी। आधुनिक समय के एक उत्साही महाशय[1] कहते हैं, 'समस्त पौराणिक उपाख्यान उनकी (श्रीहर्षकी) उंगलियों पर हैं। अलंकारशास्त्र पर मानो वे सवार हैं। उनके वर्णन के प्रवाह का अन्त नहीं दीखता।' ये ही ग्रन्थकार महाशय पूर्ण **नैषधीयचरित** में ६० या १२० सर्ग होने की अनुश्रुति का उल्लेख करते हुए हस्तलिखित ग्रन्थों के किसी संग्रह में नष्ट भाग के मिल जाने की आशा प्रकट करते हैं। पर सौभाग्यवश ऐसा विश्वास नहीं होता कि श्रीहर्ष ने भी अपने प्रतिपाद्य विषय को और अधिक विस्तृत करना उचित समझा होगा। अपने वर्तमान रूप में यह लम्बी कविता हमको केवल नल और दमयन्ती के वैवाहिक आनन्द के वर्णन तक ही ले जाती है और शृङ्गारी युगल के पारस्परिक संवाद में किये गये चन्द्रमा के वर्णन के साथ समाप्त हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्रीहर्ष के विवाह-विषयक प्रतिपादन से प्रकट होता है कि वे **कामसूत्र** की समस्त जटिलताओं में परम दक्ष तथा प्रवीण हैं और उनके तार्किक अध्ययन से इसमें कोई बाधा नहीं आई है। श्रीहर्ष के संबन्ध में एक छोटी-सी घटना कभी प्रचलित थी। क्या ही अच्छा होता कि किसी प्रतिष्ठित ग्रन्थकार द्वारा उसकी पुष्टि हो सकती। वह इस प्रकार है: श्रीहर्ष **काव्यप्रकाश** के प्रसिद्ध ग्रन्थकार मम्मट के भानजे थे। गर्व के साथ उन्होंने अपनी कविता मम्मट को दिखलाई। प्रसन्न होने के स्थान में, उनके मामा ने इसके लिए गहरा खेद प्रकट किया कि उन्होंने अपने **काव्यप्रकाश** में काव्यगत दोषों की व्याख्या करनेवाले उल्लास के लिखने से पहले उसको नहीं देखा था, क्योंकि उस दशा में उनका वह सारा श्रम बच जाता जो उनको उन दोषों के उदाहरणों के लिए पुस्तकों के ढूंढने में करना पड़ा।

तो भी, श्रीहर्ष के वैदग्ध्य को स्वीकार करना उचित ही है; उनकी द्वयर्थक भाषा के प्रयोग की शक्ति का पूर्णतया सदुपयोग उस प्रसिद्ध दृश्य के चित्रण में हुआ है जिसमें दमयन्ती अपने सम्मुख आपाततः बिलकुल समान रूप में पाँच व्यक्तियों को देखती है और उनमें से अपना प्रेमी कौन है इसका निर्णय नहीं कर पाती। श्रीहर्ष के वर्णन के अनुसार, सरस्वती दमयन्ती को उक्त पाँचों व्यक्तियों का परिचय कराते हुए प्रत्येक का वर्णन ऐसे शब्दों में करती है जिनको एक प्रकार से पढ़ने पर

१. Krishnamacharya, *Sanskr. Lit.*, p. 45. Nilakamala Bhattacharya (*Naiṣadha and Śrī Harṣa*) का तर्क है कि वे बंगाली थे।

उसका वास्तविक व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है, परन्तु दूसरे प्रकार से पढ़ने पर नल का वर्णन होता है; और इस परिस्थिति में बेचारी दमयन्ती और भी अधिक व्यग्र हो जाती है। इस प्रसङ्ग में इस विचार से कुछ आश्वासन मिलता है कि दमयन्ती यदि संस्कृत जानती भी होती तो भी किसी टीका-टिप्पणी के बिना वह सरस्वती ने जो कुछ कहा था उसको न समझ सकती। इस बात का भी विरोध नहीं किया जा सकता कि अन्तिम सर्ग में रात्रि के वर्णन के अनन्तर चन्द्र-वर्णन का उपक्रम बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है। नल कह उठते हैं कि अपने मित्र (?—शत्रु)* अन्धकार के सौन्दर्य के अत्यधिक लम्बे वर्णन से रुष्ट होकर चन्द्रमा रक्तवर्ण हो गया है, और तब तत्काल, उसके क्रोध को शान्त करने के लिए, वे अरुण शोभा के साथ उदय होते हुए चन्द्रमा की स्तुति प्रारम्भ कर देते हैं।[1]

श्रीहर्ष केवल उन्नीस छन्दों का प्रयोग करते हैं, जो अपेक्षाकृत थोड़ी संख्या है। इनमें से इन्द्रवज्रा की कोटि की उपजाति उनको विशेषतः प्रिय है; सात सर्गों में उसका प्राधान्य है। चार सर्गों में वंशस्था छन्द व्यापक रूप से प्रयुक्त हुआ है और बारहवें सर्ग का वह मुख्य छन्द है। जिसमें भारवि और माघ के आदर्श पर श्रीहर्ष ने अपने ढंग को छोड़ कर कई छन्दों का प्रयोग किया है। श्लोक[2], वसन्ततिलक और स्वागता में से प्रत्येक का, मुख्य छन्द के रूप में, दो-दो सर्गों में प्रयोग हुआ है; और द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वैतालीय और हरिणी में से प्रत्येक का प्रयोग एक-एक सर्ग में हुआ है। अचलधृति, तोटक, दोधक, और पृथ्वी इनमें से प्रत्येक में केवल एक एक पद्य पाया जाता है और मन्दाक्रान्ता में पाँच। पुष्पिताग्रा, मालिनी, शिखरिणी और स्रग्धरा का कुछ अधिक, पर सीमित, प्रयोग हुआ है।

यद्यपि श्रीहर्ष की जटिलता और यमक तथा अनुप्रास के अत्यधिक प्रयोग को सामान्यरूप से दोषयुक्त कहने के लिए हम बाध्य हैं, तो भी, यह मानना चाहिए

---

* स्पष्टया यहाँ भ्रान्तिवश 'शत्रु' के स्थान में 'मित्र' का प्रयोग हो गया है; तु० नैषधीयचरित २२।४०। (मं० दे० शास्त्री)

१. ऐसा कहा गया है (Jackson, प्रियदर्शिका, p. xlv) कि सुप्रभातस्तोत्र भी जिसके लेखक श्रीहर्ष माने जाते हैं (Thomas, JRAS. 1903, pp. 703-22), हर्षवर्धन की कृति है। सोलह सर्गों में एक उत्तरनैषधीय की रचना वन्दारु भट्ट ने की थी (*Madras Catal.*, xx. 7692).

२. वे विपुला का प्रयोग विरले ही करते हैं (सत्तरहवें और बीसवें सर्गों में ७५२ श्लोकार्धों में केवल ४ ही विपुला हैं); SIFI. VIII. ii. 54. सत्तरहव सर्ग के १९९वें पद्य में एक चरण का अन्त सन्धि में यति के साथ होता है।

कि भाषा के प्रयोग में वैदग्ध्य और लालित्य लाने में वे निश्चित रूप से समर्थ थे ; उदाहरणार्थ, उदय होते हुए चन्द्रमा के उनके प्रसिद्ध वर्णन को देखिए —

पश्यावृतोऽप्येष निमेषमद्रे-
रधित्यकाभूमितिरस्करिण्या ।
प्रवर्षति प्रेयसि चन्द्रिकाभि-
श्चकोरचञ्चूचुलुकं प्रतीन्दुः ॥

'अयि प्रेयसि ! देखो, यह चन्द्रमा पर्वत के शिखर रूपी परदे से क्षण भर के लिए आवृत हुआ भी अपनी किरणों द्वारा (प्यासी) चकोरों की चोंचों रूपी चुल्लुओं के प्रति (सुधा की) वर्षा कर रहा है ।'

ध्वान्तद्रुमान्तानभिसारिकास्त्वं
शङ्कस्व संकेतनिकेतमाप्ताः ।
छायाच्छलादुज्झितनीलचेला
ज्योत्स्नानुकूलैश्चलिता दुकूलैः ॥

'ऐसा समझो कि ये किरणें अभिसारिकाओं के रूप में अन्धकार में वृक्षों के नीचे अपने प्रेमियों से मिलने के संकेत-स्थानों को आकर छाया के छल से अपने श्याम वस्त्रों को छोड़ कर ज्योत्स्ना के सदृश वस्त्रों को धारण कर चल रही हैं ।'

त्वदास्यलक्ष्मीमुकुरं चकोरैः
स्वकौमुदीमादयमानमिन्दुम् ।
दृशा निशेन्दीवरचारुभासा
पिबोरु रम्भातरुपीवरोरु ॥

'अयि कदली के तरु के समान पीवर ऊरुओंवाली ! तुम अपने मुख की शोभा के लिए दर्पणभूत और अपनी चन्द्रिका से चकोरों को तृप्त करने वाले चन्द्रमा को रात्रि के नीलोत्पल के समान अपने सुन्दर नेत्रों से अच्छी तरह पीओ ।'

अलंकृत शैली के काव्य की होड़ की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से जैनों में भी वर्तमान थी । द्राविड़ देश के निवासी कनकसेन वादिराज द्वारा रचित यशोधरचरित[1] ऐसा ही काव्य है, जिसमें चार सर्ग और २९६ पद्य हैं । उनके शिष्य श्रीविजय का समय लगभग ९५० ई० है । उसका विषय कुछ ही पीछे होनेवाले सोमदेव के यशस्तिलक के साथ मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय उक्त कथा प्रचलित थी । उक्त दोनों वर्णनों में विषय की दृष्टि से नाममात्र का अन्तर है, पर भाव की दृष्टि से नहीं । इसी उपाख्यान का एक अन्य रूप माणिक्य-

१. Ed. 1910; दे० Hertel, *Pāla und Gopāla*, pp. 91 ff., 146 ff.

सूरि के **यशोधरचरित**[१] में पाया जाता है, जिसका समय अधिक से अधिक संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी है। यह काव्य गुजरात के एक श्वेताम्बर जन की रचना है, जब कि वादिराज का काव्य एक दिगम्बर जैन की रचना है। परन्तु दोनों का वर्णन एक दूसरे से स्वतन्त्र है। हेमचन्द्र (१०८८–११७२) के विशालकाय ग्रन्थ **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित**[२] का समय ११६० से ११७२ तक है। इसमें, दस पर्वों में, जैनधर्म के तिरेसठ महापुरुषों के चरितों का वर्णन है; जिनमें चौवीस जिन, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नौ विष्णुद्विष हैं। यह महाकाव्य लम्बा होने के साथ साथ आयासकर भी है, यद्यपि उसकी भाषा जटिल न होकर सरल है। अन्तिम पर्व में, जिसमें महावीर के जीवन का वर्णन है, बहुत-कुछ संयत ऐतिहासिक दृष्टि पाई जाती है। इससे हमें इन आदरणीय मुनि (हेमचन्द्र) के संबन्ध में, जो अतिविस्तृत लेखक होते हुए भी रोचक नहीं हैं और जिन्हें गुजरात के कुमारपाल को जैनधर्मानुयायी बनाने में सफलता प्राप्त हुई थी, कुछ निश्चित जानकारी प्राप्त होती है। पन्दरहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ के जीवन के संबन्ध में इक्कीस सर्गों में लिखित **धर्मशर्माभ्युदय**[३] के रचयिता हरिश्चन्द्र का समय अज्ञात है। अलंकारशास्त्र पर लिखनेवाले वाग्भट द्वारा संभवतः बारहवीं शताब्दी में लिखित पन्दरह सर्गों के एक काव्य[४] का विषय नेमिनाथ का जीवन है। तेरहवीं शताब्दी में मलधारिन् संघ से संबन्ध रखनेवाले देवप्रभ सूरि द्वारा रचित **पाण्डवचरित** और **मृगावतीचरित**[५] का भी उल्लेख कर देना यहाँ समुचित होगा। चारित्रसुन्दर गणी का **महापालचरित**[६] भी इसी कोटि की रचना है। इसमें चौदह सर्ग और ११५९ पद्य हैं और यह अपने को एक महाकाव्य का पद देता है।

---

१. Ed. Tanjore, 1912; Hertel, pp. 81 ff., 139 ff.

२. Ed. Bombay, 1905. दे० Bühler, *Über Das Leben Des Jaina-Mönches Hemachandra* (1889); Jacobi, ERE. VI. 591.

३. Ed. KM. 1888. तु० Peterson, *Report*, ii, pp. 77 ff. उन्होंने कदाचित् जीवन्धरचम्पू लिखा था, और वे माघ और वाक्पति का उपयोग करते है (WZKM. iii. 136 ff.)। उनके पिता आर्द्रदेव कायस्थ थे।

४. **नेमिनिर्वाण,** ed. KM. 56, 1896. ग्रन्थकार का व्यक्तित्व निश्चित नहीं है। *Madsas Catal.*, xx. 7754 के अनुसार वे प्राग्वादि वंश के दाहट (?बाहट) के पुत्र हैं।

५. Ed. 1909; Hertel, pp. 105 ff., 150 ff. तु० Peterson, *Report*, iii, pp. 273 ff.

६. Ed. 1909; Hertel, pp. 72 ff., 138 ff.

परन्तु इन रचनाओं का महत्त्व उनके साहित्यक गुण की अपेक्षा उनकी कथाओं की दृष्टि से अधिक है। बुद्धघोषाचार्य के नाम से प्रसिद्ध **पद्यचूडामणि**[1] महाकाव्य, यद्यपि इसके विषय में कोई नवीनता नहीं है, तो भी उपर्युक्त दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्व रखता है। यह स्पष्ट है कि उसका ग्रन्थकार अश्वघोष और कालिदास की रचनाओं से अच्छी तरह परिचित था। यह रचना पालि के प्रसिद्ध विद्वान् बुद्धघोष की है, कठिनता से ही कोई गम्भीरतापूर्वक ऐसा कह सकता है; उस योग्य विद्वान् के संबन्ध में उपलब्ध लेखों में इस ग्रन्थ के विषय में कुछ न कहने का कोई कारण नहीं दीखता। ऐसी स्थिति में उक्त काव्य की बुद्धघोष के नाम से प्रसिद्धि यदि निराधार नहीं है तो हमें यही मानना होगा कि उसी नाम का एक दूसरा विद्वान् भी हुआ है जिस के समय का अभी तक हम निश्चित निर्धारण नहीं कर सकते।

---

१. Ed. Madras, 1921.

७

ऐतिहासिक काव्य

१. भारतीय ऐतिहासिक लेख

यह एक पुराना आक्षेप है कि भारतवर्ष में ऐतिहासिकों का और ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव रहा है। इसके विरोध में, बहुत कुछ सत्यता के साथ, कुछ समय से यह कहा जाता है कि कुछ लेखों तथा तथ्यों के आधार पर ऐतिहासिक बुद्धि का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। भारतीय सभ्यता की प्राचीनता को और उस के विकसित रूप को दृष्टि में रखते हुए भारतवर्ष में ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव की अपेक्षा करना वास्तव में उपहासास्पद होगा। तो भी इस संबन्ध में यह अवश्य विचारणीय है कि, भारतीय साहित्य के प्राचुर्य के होने पर भी, इतिहासविषयक ग्रन्थों का ऐसा अत्यन्त दारिद्रय है, तथा संस्कृत साहित्य के समस्त बड़े काल में एक भी ऐसा लेखक नहीं है जिसको हम वास्तव में एक विवेचक ऐतिहासिक कह सकते हैं। महाकवि कल्हण ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसको हम एक सच्चे ऐतिहासिक के अत्यन्त समीप तक पहुँचने वाला कह सकते हैं। वह असाधारण योग्यता, अति परिश्रम और सत्य के प्रतिपादन की इच्छा से युक्त है। तात्कालिक इतिहास के लिए अपेक्षित सूचना के बहुत अच्छे स्रोत उनको उपलब्ध थे। परन्तु कल्हण का अत्यन्त उत्साही प्रशंसक एक क्षण के लिए भी ऐसा दावा नहीं करेगा कि उनकी तुलना Herodotos के साथ भी की जा सकती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कोई दूसरा लेखक तो दूरी से भी कल्हण की योग्यता-संपत्ति के समीप तक नहीं पहुँचता।

इस विशिष्ट परिस्थिति के कारण वातावरण और घटनाओं की प्रगति से सहकृत भारतीय मनोविज्ञान की विशेषताओं में होने चाहिएँ; साथ ही किसी ऐसी व्याख्या के देने की आशा व्यर्थ है जो पूर्णतः सन्तोषजनक हो। हमें स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष ने वक्तृत्वकला को जन्म नहीं दिया, यद्यपि पौराणिक काव्य और अलंकृत काव्य दोनों में किसी विवादग्रस्त विषय के पक्ष और विपक्ष में बोलनेवालों द्वारा वक्तृत्वगुण-विशिष्ट भाषा में प्रतिपादन की स्पष्ट शक्ति का प्रदर्शन प्रायः देखने में आता है। इतिहास से यह सिद्ध है कि वक्तृत्व-कला निश्चयरूप से वहीं समृद्धि को प्राप्त हुई है जहां राजनीतिक स्वतन्त्रता का अस्तित्व रहा है। वक्तृत्वकला के लिए एथेन्स की उतनी ही प्रसिद्धि है जितनी कि स्पार्टा में उसकी न्यूनता थी, और रोम ने अपने उत्कृष्टतम वक्ताओं को उन्हीं दिनों

जन्म दिया था जब कि वहाँ गणतन्त्रात्मक शासन चल रहा था जिसमें कम से कम कुछ वर्ग प्रभावयुक्त राजनीतिक अधिकार रखते थे। संभवतः भारतवर्ष में ऐतिहासिकों के उत्पन्न न होने का कारण यह हो सकता है कि १२०० ई० तक के समय में जिन बड़ी राजनीतिक घटनाओं ने भारतवर्ष को प्रभावित किया उन्होंने जन-साधारण की प्रतिक्रिया को उस अर्थ में नहीं उद्बुद्ध किया जिस अर्थ में ग्रीस देश पर पर्शियन लोगों के आक्रमणों के प्रतिघात ने Herodotos के इतिहास[1] को जन्म दिया था। भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना, जो कम से कम इतिहास के लिखने में प्रबल सहायता प्रदान करती है, उस रूप में उद्बुद्ध नहीं हुई थी जिस रूप में वह तब प्रकट हुई जब कि लोक-तान्त्रिक राज्यों (Democratic states) ने पर्शियन लोगों के आक्रमण के प्रतिरोध का गम्भीरतम रूप उपस्थित किया था, पर जब कि उसी समय अपेक्षाकृत अधिक विशिष्टवर्गीय शासन (Oligarchic governments) राष्ट्रीयता की किसी भी भावना से स्पष्टतः बहुत कम गहराई तक प्रभावित हुए थे।[2]

यह स्वीकार किया जा सकता है कि ईस्वी पूर्व की प्रथम चार शताब्दियों के काल में भारत पर होने वाले विदेशी आक्रमण संभवतः ऐसे नहीं थे कि वे गहरी राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित कर सकते। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् कुछ ही समय के अन्दर उसके द्वारा विजित प्रदेशों में से जो विशेषतया भारतीय थे उनको चन्द्रगुप्त ने फिर से जीत लिया था। यह सब किसी ऐसे संघर्ष के बिना हुआ था कि उससे राष्ट्रीय भय अथवा राष्ट्रीय विजय की भावना के उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिला। ग्रीक, पार्थियन, शक और कुषाण लोगों की सफलताओं का कारण बहुत कुछ उपर्युक्त राष्ट्रीय भावना की अविद्यमानता ही थी; साथ ही आत्मसात्करण की प्रवृत्ति इस प्रकार बराबर जारी रही कि गुप्तकालीन पुनर्जागरण के समय मुश्किल से ही उसे राष्ट्रीय पुनर्जागरण के रूप में अनुभव किया गया होगा, यह दूसरी बात है कि अब पीछे से देखने में हमें वह बहुत कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। तत्पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी तक भारतवर्षीय युद्ध, कौओं और चीलों के युद्धों के समान, केवल प्रतिस्पर्धी राजवंशों के

---

१. परम्परा के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि का होना ग्रीक विचारधारा का एक दूसरा पक्ष था। Miletos के Hekataios में वह पक्ष देखने में आता है। उनके इतिहास के समान उनके देश-प्रेम में भी सावधानता और साक्ष्य का परीक्षण विशेषरूप से पाये जाते हैं। तु० J.B. Bury, *Ancient Greek Historians* (1909).

२. Stein, Rājataraṅgiṇī, i. 28ff.; Oldenberg, *Aus dem alten Indien*, pp. 65ff.

संघर्ष थे जिनका कोई गहरा अर्थ नहीं हो सकता था।[1] मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारतवर्ष को किसी वास्तविक राष्ट्रीय भावना से रहित पाया; उनकी सफलताओं का रहस्य यही था कि भारतीय नृपतिगण जितनी घृणा म्लेच्छों से करते थे उससे कहीं अधिक आपस में एक दूसरे से करते थे। यह स्वाभाविक है कि उक्त संघर्ष के कारण बने हुए गीतों में भी राष्ट्रीय भावना के विकास की केवल प्रवृत्ति ही दिखाई देती है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह समझना कठिन नहीं है कि भारतवर्ष में इतिहास के विषय में इस दृष्टि को कि उसका कोई अर्थ या महत्त्व है स्वीकार किया जाना असंभावित था। देश में फैले हुए सिद्धान्त घटनाओं के इस प्रकार के मूल्यांकन के विरुद्ध थे। कर्म के सिद्धान्त के कठोर तार्किक अर्थ के अनुसार मनुष्यों के समस्त कर्म पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के फल थे; इसलिए उनके विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन था, क्योंकि कोई भी नहीं बतला सकता था कि अत्यन्त भूतकाल में किया हुआ न जाने कौन सा कर्म फलोन्मुख होकर अपने अनिवार्य फल को उत्पन्न कर दे। इस विश्वास के अतिरिक्त, यह दृष्टि भी अनेकों के मन में स्पष्टतः जड़ जमाये हुए थी कि सब कुछ नियति से निर्धारित होता है जिसकी करनी बिल्कुल बुद्धि से अगम्य और भविष्य-दृष्टि से बाहर है। उक्त दृष्टियाँ अपेक्षाकृत तर्कसंगत हैं, उनको थोड़ी सी कल्पना-शक्ति के प्रयोग से परस्पर समन्वित और संगत भी किया जा सकता है। परन्तु भारतीय विचार-धारा ने उन के साथ दैवी हस्तक्षेप और जादू-टोना[2] के रूप में आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास को भी जोड़ दिया था। मन की वह वैज्ञानिक प्रवृत्ति, जो प्राकृतिक घटनाओं के लिए प्राकृतिक कारणों का अनुसन्धान करती है, भारतवर्ष में स्वभावतः नहीं पाई जाती। यह विचार, कि प्रकृति पर दैवी अथवा भूत-प्रेतादि के निमित्तों का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, भारतवर्ष की अत्यधिक जनसंख्या के लिए उपहासास्पद ही प्रतीत होता होगा। बौद्ध और जैन भी ब्राह्मणों के समान ही जनसाधारण के प्रचलित मिथ्या विश्वासों को छोड़ने को तैयार नहीं थे। यही नहीं, उक्त तीनों संप्रदाय तपस्या द्वारा यौगिक शक्तियों की प्राप्ति के संबन्ध में सन्त-महात्माओं की प्रवृत्ति में विश्वास का समर्थन करते थे; यह सिद्धान्त

---

१. इसके विपरीत Lucan के एक भविष्यवक्ता के जैसे शब्दों की तुलना कीजिए (VII. 432f.):

Quod fugiens civile nefas redituraque nunquam
Libertas ultra Tigrim Rhenumque recessit.

२. Thessaly देश की डाकिनियों के विषय में Lucan (VI. 415 ff.) की तुलना कीजिए।

कि उक्त प्रकार की शक्तियाँ विशेष प्रकार के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती हैं उनके दर्शनों में बार बार उपदिष्ट किया गया है। ऐसा विश्वास था कि वे लोग जिन्होंने ये सिद्धियाँ प्राप्त करली हैं प्राकृतिक घटनाओं को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखते हैं। ऐसी दशा में अतिमानव सत्ताओं के संबन्ध में उसी प्रकार की शक्तियों का आरोप करना पूर्णतया स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक प्रकार के दर्शनों का यह कहना था कि संसार में हम लोगों के अर्थ में किसी प्रकार की प्रगति नहीं है; प्रत्येक कल्प में 'यथापूर्वमकल्पयत्' के अनुसार बिलकुल एक रूप में ही घटनाएँ घटित होती हैं; ब्राह्मणों के वैदिकोत्तरकाल के ग्रन्थों का नियतकाल में होने वाले सृष्टि और प्रलय का सिद्धान्त बौद्धों के अनेकानेक भूतकालिक बुद्धों की सत्ता के मन्तव्य और जैनतीर्थङ्करों की लंबी परम्परा के साथ एक ही धरातल पर है।

यह भी बात नहीं है कि भारतीयों के सामने वह वस्तु नहीं थी जिसको वे हम जिसको इतिहास कहते हैं उसका एक उत्कृष्ट स्थानीय न समझते हों। आजकल की तरह, निस्सन्देह शताब्दियों पूर्व के भी एक साधारण भारतीय की दृष्टि में, प्राचीन काल के महापुरुष और कल्पना द्वारा महापुरुषों के रूप में परिवर्त्तित ऐतिहासिक नृपतिगण, यदि अधिक नहीं तो, अपने समकालीन स्थानीय राजाओं के समान ही वास्तविक थे। यही नहीं कि वे उनके समान वास्तविक थे, उनके पक्षमें यह एक और विशेषता थी कि भारत के विभिन्न प्रदेशों में उनके प्रति मान्यता और श्रद्धा की भावना विद्यमान थी। ऐसी स्थिति में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि समकालीन राजाओं के सम्मान में लिखे गये ऐतिहासिक लेखों और प्रशस्तियों की थोड़े काल के अनन्तर ही लिपिकरों द्वारा पुनः प्रतिलिपियों का किया जाना अथवा अध्ययन बन्द हो जाता था और उनके स्थान में **रामायण-महाभारत** जैसे ग्रन्थों को जिनमें लोगों की स्थिर रुचि थी अधिक पसन्द किया जाता था। यह ठीक ही कहा गया है[1] कि जहां एक ओर पण्डितों ने श्रीहर्ष के **नैषधीयचरित** की प्रतिलिपियाँ कीं और उस पर टीकाएँ लिखीं, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने **नवसाहसाङ्कचरित** को, जिसको श्रीहर्ष ने अपने आश्रयदाता के कार्यों को प्रसिद्ध करने के लिए लिखा था, विस्मृति के गर्त में डूब जाने दिया।

भारतीय चिन्तन की इस प्रवृत्ति के लिए भी कुछ स्थान देना चाहिए कि वह विशेष की अपेक्षा सामान्य के प्रति अधिक रुचि दिखाती है। यह प्रवृत्ति ज्ञान के अत्यन्त पृथक् पृथक् क्षेत्रों में दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, बौद्ध ग्रन्थों में कुछ निश्चित विरुद्ध मतों का उल्लेख मिलता है, परन्तु साथ ही हमारे सामने ऐसे

१. Bühler, **विक्रमाङ्कदेवचरित,** p. 2 उनकी दूसरी प्रशस्तियाँ नष्ट हो चुकीं और हमें उनके आश्रयदाता के विषय में भी ठीक परिचय नहीं है।

अयथार्थ दार्शनिक मतों की केवल नाममात्र की सूचियाँ आती हैं जिनके विषय में यह कहा गया है कि उनको दूसरे लोग मानते थे, परन्तु जो अधिकतर स्पष्टतया केवल कल्पनामूलक हैं। भारतीय दर्शन के इतिहास में बराबर यही बात देखी जाती है; सिद्धान्तों के इतिहास में किसी को किञ्चिन्मात्र भी रुचि नहीं है, परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के सारांशों को देने के स्थान में दर्शन के इतिहास का कोई लेखक नहीं मिलता; किसीने राजनीति अथवा आयुर्वेद के वास्तविक इतिहास को लिखने का प्रयत्न भी नहीं किया है। लेखक-गण पूर्वजों के मत-विषयक प्रश्नों में तत्तद्व्यक्ति की दृष्टि से रुचि नहीं रखते। उनकी रुचि प्रारम्भ से ही समुद्भूत रूप में माने हुए सिद्धान्तों के विरोध-विषयक विवादों में ही होती है। कुछ बड़े ग्रन्थकारों के नाम सुरक्षित रह सकते हैं, जैसा कि दर्शन के विभिन्न संप्रदायों में देखा जाता है; परन्तु उनके व्यक्तित्व के संबन्ध में वास्तविकता के नाममात्र को भी कुछ लिखा हुआ नहीं मिलता, और हम उनके समय के संबन्ध में केवल अँधेरे में टटोलते रह जाते हैं। समय-निर्धारण के विज्ञान के संबन्ध में यह उपेक्षा भारत में सर्वत्र देखी जाती है, और अन्ततोगत्वा इसका संबन्ध निश्चित रूप से विभिन्न दर्शनों द्वारा काल को दिये गये बिलकुल गौणरूप से जोड़ना चाहिए।

२. इतिहास का उपक्रम

उपलब्ध पुराणों में धार्मिक और सामाजिक विषयों की अन्य विशाल सामग्री के साथ-साथ वंशावलियों के रचयिता राज-सभाओं से संबद्ध कवियों की क्रिया-शीलता के लक्षण भी पाये जाते हैं, परन्तु उक्त सूचनाओंका मूल्य अत्यन्त सीमित है; अपेक्षाकृत जो अधिक प्रामाणिक साक्ष्य हमारे पास है उसके साथ तुलना में उक्त वंशा-वलियों में साधारणतया दी हुई नामों और समय की सूचियाँ निराशाजनक रूप में नियमतः अशुद्ध हैं। इससे प्रतीत होता है कि उस समय जब कि उक्त सूचियाँ बनाई गई थीं उन के बनानेवालों को ऐतिहासिक तथ्यों के यथार्थ अंकन की अपेक्षा प्रसन्नता देनेवाले वंशों के निर्माण द्वारा संतुष्ट करना ही अधिकतर अभिमत था। इसमें संदेह ही है कि दूसरे स्रोतों से जो कुछ जानकारी हमें प्राप्त है उसके अतिरिक्त वास्तविक महत्त्व की बात कोई अत्यन्त आलोचनात्मक सावधानी द्वारा भी हमको उक्त वंशावलियों से प्राप्त हो सकती है; अब तक उनका अध्ययन विवेचनात्मक विचार या वैदग्ध्य के बिना ही किया गया है।[1] उनके साथ हम आचार्यों की उन सूचियों को रख सकते हैं जो यत्र-तत्र उत्तरकालीन वैदिक ग्रन्थों में दी हुई हैं;

१, जिनको तृतीय शताब्दी ई० का भी कुछ पता नहीं है ऐसे ग्रन्थों को १०००–५०० ई० पू० के काल के सम्बन्ध में प्रमाण मानना मूर्खता ही है। दे० Keith, EHR. 1922, pp. 607 f.

परन्तु उनको भी हम प्रक्षेप और अतिशयोक्ति के संदेह से रहित नहीं कह सकते। तो भी उनसे यह बात सिद्ध हो जाती है, जिसमें कठिनता से ही संदेह का स्थान था, कि उस प्राचीनकाल में आचार्यों और शिष्यों की परम्परा को स्मरण रखने की पद्धति प्रचलित थी। बौद्धों ने बुद्ध के उपाख्यानों में कुछ और अधिक गंभीरता-पूर्वक इतिहास के समीप पहुँचने का प्रयत्न किया था, परन्तु, उनके द्वारा सुरक्षित सामग्री के मूल्यवान् होने पर भी, पाँचवीं शताब्दी ई० में लिखित उनकी सबसे बड़ी रचना[1] महानामा के महावंश से यह स्पष्ट है कि उन अनेक शताब्दियों के संचरण-काल में बौद्धभिक्षु किसी वास्तविक ऐतिहासिक बुद्धि को नहीं प्राप्त कर पाये थे। अशोक जैसा राजा, वास्तव में, सदाचार का एक आदर्श था, तो भी उसकी जीवनी और प्रयत्नों को ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपण करने का ज़रा भी प्रयत्न नहीं किया गया है। उसके स्थान में भोजन के लिए अपने मारे जाने से होने वाले पाप को बचाने के लिए राजा की पाकशाला में स्वयं आकर प्राण देने वाले जंगली पशुओं और पक्षियों के शीलयुक्त व्यवहार का, तथा नास्तिकों से समाज को विशुद्ध करने के उद्देश्य से पृथ्वी पर अवतीर्ण होने वाले मुनियों और आश्चर्ययुक्त काम करने वाले सर्पों का वर्णन हम वहाँ पाते हैं। अपने समय के विषय में भी उक्त कवि के साक्ष्य को हम विश्वसनीय नहीं कह सकते; कवि प्रत्येक वस्तु या स्थिति को तात्कालिक राजा की उस प्रवृत्ति के दृष्टिकोण से देखता है जिसे वह उन भिक्षुओं के विशिष्ट वर्ग के प्रति रखता था जिनसे कवि का स्वयं संबन्ध था। जैनों में, यह निश्चय है, हम और भी कम इतिहास को पाते हैं। उनकी पट्टावलियों में, जिनको, उनकी परम्परा प्राचीनकाल से होते हुए भी, लेखबद्ध अपेक्षाकृत अधिक उत्तरकाल में ही किया गया है, आचार्यों की सूचियाँ सुरक्षित हैं। उन्होंने अपने तीर्थङ्करों की एक ही आकार में ढली हुई (अर्थात् वैयक्तिक वैशिष्ट्य से रहित) जीवनी का वर्णन किया है, और चन्द्रगुप्त[2] के जैसे नामों के साथ जैन उपाख्यानों को जोड़ने का भी यत्न किया है, परन्तु गम्भीर इतिहास से उनको अरुचि ही थी। तत्तत्संप्रदायों में सन्तों की प्रशस्तियाँ प्रायः पाई जाती हैं, परन्तु किसी भी गम्भीर ऐतिहासिक ग्रन्थ का नितान्त अभाव है।

परन्तु अभिलेख भारतीय इतिहास के लिए सबसे अधिक ठोस प्राचीन देन हैं। उनमें समय समय पर साधारण प्रकार की कविता संबन्धी विशेषता भी पाई जाती है। इस दृष्टि से सबसे अधिक मूल्यवान् वे प्रशस्तियाँ हैं जिनके

---

१. Geiger, *Dipavaṃsa and Mahāvaṃsa*; Oldenberg, *Aus dem alten Indien*, pp. 77 ff.

२. Smith द्वारा चन्द्रगुप्त के त्याग के उपाख्यान की स्वीकृति (EHI. p. 154) बिल्कुल सन्तोषजनक नहीं है।

गुप्तकालीन निदर्शनों का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। आदर्शरूप प्रशस्ति[1] की रचना का स्वरूप सरल होता है; मङ्गलाचरण के अनन्तर उसमें दानकर्ता का, और दानकर्ता तथा राजा दोनों एक ही न हों तो, शासन करनेवाले राजा का वर्णन दिया जाता है; दोनों अवस्थाओं में वंशपरक कुछ जानकारी दी जाती है। तब दान के स्वरूप का वर्णन दिया जाता है और दान के साथ संसक्त नियमों तथा विशेषाधिकारों को दिखाया जाता है, जैसे राजकीय अधिकारियों के व्याघात से मुक्ति अथवा करों की छूट। तदनन्तर उस स्मारक की रक्षा के निमित्त देवप्रार्थना और उस दान में बाधा उपस्थित करने वाले के प्रति अनिष्टाशंसन के पश्चात् उस स्मारक की रचना करनेवाले का नाम दिया जाता है और अन्त में उसकी प्रतिष्ठा करनेवाले पुरोहित, पद्यों के रचयिता कवि, और अक्षरों को उत्कीर्ण करने वाले लिपिकर के नामों को देकर प्रायेण समय भी दे दिया जाता है। प्रशस्ति का स्वरूप अवश्य ही देवमन्दिर, साधारण स्थान, ताम्रपत्र, मृतक का स्मारक जैसे पदार्थ के स्वभाव के अनुरूप बदल जाता है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से रुचिकर भाग साधारणतया वंशावली और प्रतिष्ठापयिता यदि राजा हुआ तो उसके कार्यों का वर्णन ही होते हैं। ये प्रशस्तियाँ दस या बारह पंक्तियों की बिलकुल छोटी हो सकती हैं, या उनमें सौ से भी अधिक पंक्तियाँ हो सकती हैं। साथ ही इतिहास और कविता की दृष्टि से उनके महत्त्व में महान् अन्तर हो सकता है। यह बहुत कुछ निश्चित है कि वंशावलियाँ प्रायेण बनावटी होती हैं; जिन राजाओं के लिए वे बनाई गई थीं वे चाहते थे कि उनका संबन्ध प्राचीन उपाख्यानों में प्रसिद्ध महापुरुषों के साथ अथवा प्राचीन क्षत्रियवंशों के साथ जोड़ दिया जाय, अथवा, विशेष कर दक्षिण में, वे चाहते थे कि उनको उत्तर के प्रसिद्ध राजघरानों की सन्तान के रूप में दिखाया जाये। कविता की दृष्टि से वे साधारणतया प्रशंसा के योग्य नहीं होतीं, क्योंकि यदि उन की रचना में कुछ पाण्डित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति रहती भी है तो उनकी शैली निश्चित रूप से जटिल होती है। अपने को कवीश्वर कहने वाले और—माता के दूध के स्वाद को भूल जाने के पहले ही वक्तृत्व की अधिदेवता (सरस्वती) उनके बचपन के मुख में निवास करती थी—बलपूर्वक ऐसा कहनेवाले आठवीं शताब्दी के राम नामक कवि के आत्मविश्वास का हम पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। उनका वैदग्ध्य उस प्रकार का है जिसको भारतवर्ष में प्रशंसा की जाती है परन्तु जो पाश्चात्त्य रुचि के लिए कम आकर्षक है; उन्होंने चौदह पद्यों के एक स्तोत्र की रचना की

१. दे० Bühler, WZKM. ii. 86 ff.; EI. i. 97 ff. उनके गद्यपद्यमयात्मक रूप को उत्तरवर्ती अलङ्कार-शास्त्र के लेखकों ने बिरुद संज्ञा दी है; साहित्यदर्पण, ६।५७०। उनके संग्रह के लिए दे० प्राचीन लेखमाला, KM. 34, 64. 80.

है, उनमें से प्रत्येक पद्य समानरूप से पार्वती और शिव दोनों में घट जाता है। साथ ही गूढ वाक्य-रचनाओं और अप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग से वे प्रदर्शित करते हैं कि उन्होंने व्याकरण और कोष दोनों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया था। नवीं शताब्दी के ललितसुरदेव[1] ने भी एक स्तोत्र को एक अभिलेख में सम्मिलित करने का इसी प्रकार का कौशल दिखाया है। यह कहना उचित होगा कि प्राचीन और उत्तरवर्ती दोनों प्रकार की प्रशस्तियों में कभी-कभी काव्यसंबन्धी विचार सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया हुआ पाया जाता है, परन्तु प्रधानतया उनका रूप अपेक्षाकृत नीरस परम्परानुवर्त्ती लेखों का ही होता है।[2] उनके विषय में महत्त्व की बात यह है कि उनको इतिहास की ओर पहला क़दम ही समझना चाहिए।

बाण के **हर्षचरित** द्वारा हम इतिहास के क्षेत्र में कुछ अधिक दूर तक ले जाये जाते हैं, यह कहना कठिन है, क्योंकि उसमें थानेसर के हर्ष के एकदम पूर्ववर्त्तियों के संबन्ध में बहुत थोड़े-से तथ्यों को छोड़कर हमें उसके कार्यों के बहुत छोटे भाग की केवल अस्पष्ट झाँकी ही दी गयी है, और इस कृति को अधिक से अधिक हम एक अद्‌भुत कथा मान सकते हैं, जो कि मूलतः यह है। वाक्पतिराज के **गौडवह**[3] को हम इतिहास के अधिक समीप तक जाने वाला कह सकते हैं। यह ग्रन्थ कवि के आश्रय-दाता कन्नौज के यशोवर्मा द्वारा एक गौडदेशीय राजा की पराजय के वर्णन के लिए लिखा गया था, परन्तु यशोवर्मा स्वयं कुछ ही दिनों के बाद (लगभग ७४०) कश्मीर के ललितादित्य द्वारा हराया गया और मारा गया। संभवतः उक्त काव्य की विचित्र स्थिति का कारण यही है; उस में कोई इतिहास नहीं है, उसके स्थान में काव्यों के परिचित ढंग के अनुसार उसमें दृश्यों का और ऋतुओं का, तथा राजाओं के आमोद-प्रमोद का विस्तार से वर्णन किया गया है। वह कल्पित कथाओं के कहने में भी संकोच नहीं करता। ऐसा हो सकता है कि अपने आश्रयदाता की मृत्यु के अनन्तर कवि ने काव्य को अपूर्ण ही छोड़ दिया। इसलिए वह केवल बिना हाथ-पैर का धड़ ही है। उक्त काव्य के संबन्ध में दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि अपने वर्तमान रूप में वह रूक्ष ऐतिहासिक विस्तार को छोड़कर केवल उन वर्णनीय विषयों के उद्धरणों का संग्रह है जिनको पण्डितलोग पसन्द करते थे। निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; यह हो सकता है कि वाक्पति जो कुछ भी लिखना चाहते थे वह सब इस काव्य में वर्तमान है।

---

१. IA. XXV. 177 f.

२. हर्ष की कुछ ओजःपूर्ण पंक्तियाँ हैं; Jackson, प्रियदर्शिका, pp. xliii f.

३. Ed, S.P. Pandit, BSS. 34, 1887; cf. Bühler, WZKM. i.324 ff.; ii. 328 ff.; Smith, JRAS. 1908, pp. 765-93. भवभूति और वाक्पति के संबन्ध में Hertel के विचार (*Asia Major*, i) संतोष-जनक नहीं हैं।

यह माहाराष्ट्री प्राकृत में है, और, यद्यपि वक्रोक्ति और श्लेष का प्रयोग इसका लक्ष्य नहीं है, तो भी इसमें गौडी शैली के अनुसार अत्यन्त लम्बे समासों की ओर झुकाव है। साधारणरूप से यह उत्कृष्टता के किसी ऊँचे मान तक भी नहीं पहुँचता, यद्यपि इसमें ग्रामीण जीवन के कुछ विशद चित्र विद्यमान हैं—माहाराष्ट्री कविता सदा धरती से संसक्त रही है—और दक्षिण दिशा में स्थित काली के ऐसे मन्दिर का वर्णन जिस में मनुष्य-बलि होती है विकट भय को उत्पन्न करता है, जो भारतीय रुचि के लिए आकर्षक है। इसका समय अनिश्चित है; इस कविता की यह विशेषता है कि इसमें हमें गौड-राजा का नाम सुनने में भी नहीं आता; यदि यह काव्य यशोवर्मा के पतन के बाद लिखा गया था तो इसे हम ७५० ई० के लगभग रख सकते हैं।

१००५ के लगभग पद्मगुप्त उपनाम परिमल द्वारा अठारह सर्गों में लिखे गये **नवसाहसाङ्कचरित**[1] में भी हम गम्भीर इतिहास से दूर हैं। इसमें राजकुमारी शशिप्रभा की प्राप्ति की कल्पित कथा का वर्णन है, परन्तु साथ-ही-साथ इसका लक्ष्य मालवा के राजा सिन्धुराज नवसाहसाङ्क के इतिहास का उल्लेख करना भी है; इस प्रकार के विचित्र निरूपण का एक समान उदाहरण हमें विल्हण द्वारा रचित **कर्णसुन्दरी** नामक नाटिका में मिलता है। उसमें बिल्हण एक विद्याधर राजा की पुत्री के साथ एक चालुक्य राजा के विवाह के व्याज से एक राजकुमारी के साथ अपने आश्रयदाता के वास्तविक विवाह का वर्णन करता है। यह पद्धति स्पष्टतया ऐतिहासिक निरूपण या परिणामों के अनुकूल नहीं बैठती। प्रकृत कवि (पद्मगुप्त) के काव्य का उसके समग्ररूप में गम्भीरता-पूर्वक विचार करना कितना ही असम्भव हो, तो भी ऐसा नहीं है कि कवि किसी प्रकार लालित्यपूर्ण अभिव्यञ्जना की शक्ति से रहित है। तथा च, उसके एक सुन्दर विचार को देखिए:

चित्रवर्त्तिन्यपि नृपे तत्त्ववेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥

'राजा के चित्रवर्ती होने पर भी अपने चित्त की तन्मयता के कारण उसने विवश होकर ही अपने मुखरूपी चन्द्रमा को लज्जा से अर्धवलित कर लिया।'

आहारं न करोति नाम्बु पिबति स्त्रैणं न संसेवते
शेते यत्सिकतासु मुक्तविषयश्चण्डातपं सेवते ।
त्वत्पादाब्जरजःप्रसादकणिकालाभोन्मुखस्तन्मरौ
मन्ये मालवसिंहगूर्जरपतिस्तीव्रं तपस्तप्यते ॥

---

1. Ed. V. S. Islāmpurkar, BSS. 53, 1895; G. Bühler and Th. Zachariae, *Über das Navasāhasāṅkacharita* (1888), उनके द्वारा उद्गता छन्द के उपयोग पर दे० Jacobi, ZDMG. xliii. 467; SIFI. VIII. ii. 110.

'वह जो न भोजन करता है न पानी पीता है, और न स्त्रियों का सेवन करता है, रेत में शयन करता है और विषयों को छोड़कर तीक्ष्ण आतप का सेवन करता है, सो अयि मालवसिंह ! मानो गूर्जरपति आपके पादकमलों की धूलि के प्रसाद की कणिका के लाभ के लिए उन्मुख होकर मरुप्रदेश में तीव्र तप को तप रहा है।' निम्नलिखित पद्य भी सुन्दर है :

तत्र स्थितं स्थितिमता वरदेव दैवाद्
भृत्येन ते चकितचित्तमियन्त्यहानि।
उत्कम्पिनि स्तनतटे हरिणेक्षणानां
हारान् प्रनर्तयति यत्र भवत्प्रतापः॥

'अयि वरदेव ! आपके भृत्य ने इतने दिनों तक चकित-चित्त होते हुए दैववश उस देश में निवास किया जहाँ आपका प्रताप मृगनयनियों के कम्पनशील स्तनों पर हारों को नचाता है।' अपने पति की पराजय में गूर्जर देश की रानी की दशा के वर्णन में कवि का अधिक जटिल प्रयत्न कम सफल रहा है :

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले
नाथास्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा।
मुग्धा गूर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युःकृपाणे दृशौ॥

'हे देव ! "नाथ ! आपके खड्ग की धारा से आकुल इस संग्राम में शत्रुओं के समूह डूब गए" इस प्रकार अनेक बार पहले सुनी हुई स्तुति-पाठकों की वाणी से मुग्धा गूर्जरराज की महिषी जङ्गल में चकित होकर पानी की प्रत्याशा से पुनः पुनः अपने पति के खड्ग पर दृष्टिपात करती है।' अभागिनी स्त्री मग्नानि और धारा शब्दों की अस्पष्टता से भ्रान्त हो गई है। 'धारा' के अर्थ तेज नदी और खड्ग की धार दोनों हैं।

शंकुक का हम केवल नाम ही जानते हैं। उसने भुवनाभ्युदय लिखा था, जिसमें कल्हण[1] के अनुसार, मम्म और उत्पल (लगभग ८५० ई०) के भयानक युद्ध का वर्णन किया गया था।

रुद्धप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः।

'जिसमें वितस्ता का प्रवाह मारे गये सुभटों के शरीरों से रुद्ध हो गया था।' सुभाषित-संग्रहों में कुछ पद्य किसी शंकुक के नाम से दिये हुए मिलते हैं, परन्तु यह बिलकुल अनिश्चित है कि वह इस ग्रन्थकार से अभिन्न है। उनमें से एक पद्य मयूर के पुत्र शंकुक का बतलाया गया है, और ऐसी कल्पना की गई है कि उपर्युक्त

१. iv. 704 f. तु० Peterson, सुभाषितावली, p. 127; Quackenbos, *The Sanskrit Poems of Mayūra*, pp. 50-2.

मयूर बाण (लगभग ६३० ई०) का समकालीन हो सकता है, यद्यपि यह केवल एक अन्दाज़ा ही है। विक्रमादित्य की राजसभा के रत्नों की सूची में एक शंकु का नाम आता है; यदि उनकी अभिन्नता इष्ट है तो उपर्युक्त दोनों कवियों में से किसी एक की परस्परा के साथ उसका संबन्ध जोड़ा जा सकता है।

३. बिल्हण

इतिहास के संबन्ध में पहली गम्भीरतर रचना के लिए हमें कश्मीर की ओर दृष्टिपात करना चाहिए, क्योंकि बिल्हण—जो कि एक कश्मीरी नाम है—वहीं पैदा हुए थे। कदाचित् कलश के राज्यकाल में ही वे अपना घर छोड़ कर इधर-उधर दूर घूमते-फिरे। उन्होंने मथुरा, कन्नौज, प्रयाग और काशी की यात्रा की और कुछ समय के लिए डाहल[1] के राजा कर्ण के दरवार में, और कदाचित् अणहिलवाड़ के चौलुक्य कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (१०६४–९४) के पास भी रहे। तदनन्तर कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६–११२७) ने उनका विद्यापति के रूप में स्वागत किया। उक्त राजा ने एक नीला छत्र और एक हाथी की भेंट उनको दी और अपने दरवार के साथ उनका दृढ संबन्ध स्थापित कर दिया। कर्ण की राजधानी में रहते हुए उन्होंने एक शास्त्रार्थ में गङ्गाधर नामक कवि को पराजित किया था और ऐसा प्रतीत होता है कि राम पर एक कविता भी लिखी थी; और वे कुछ ऐसा संकेत करते हैं कि धारा के प्रसिद्ध राजा भोज[2] भी उनको अपने दरवार में रखना चाहते थे। कुछ भी हो, उन्होंने अपने आश्रयदाता को उनके संमान में अठारह सर्गों के **विक्रमाङ्कदेवचरित**[3] नामक अपने काव्य की रचना द्वारा प्रसन्न किया। इस ग्रन्थ का समय १०८८ से पहले प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें राजा के उसी समय दक्षिण की ओर महान् अभियान का कोई उल्लेख नहीं है, तथा कश्मीर के हर्षदेव का, जो उसी वर्ष में राजा वना था, राजा के रूप में नहीं, अपि तु राजकुमार के रूप में ही इसमें उल्लेख है। कल्हण[4] से हमें यह भी ज्ञात होता है कि बिल्हण वास्तव में हर्षदेव के राज्याधिरोहण के समाचार को सुनने तक जीवित थे। उनकी वंश-परम्परा के विषय में हम जानते हैं कि उनके निकटतम पूर्वज मुक्ति-

---

१. अनुमानतः चेदि के, और कर्णसुन्दरी के कर्ण से भिन्न (Konow, *Das indische Drama*, p. 112). ऐसा प्रतीत होता है कि चेदि के इस राजा की आयु लम्बी हुई और उसने अनेक परिवर्तनों को देखा था (Duff. *Chronology*, pp. 120, 121, 135)

२. इससे प्रतीत होता है कि भोज १०६० के अनन्तर भी जीवित थे; इसी लिए कल्हण भी ७।२५९ में उसको १०६२ में जीवित मान उसका उल्लेख करते हैं।

३. संपादन, G. Bühler, BSS. 14, 1875. तु० A. V. V. Ayyar, IA. Xlviii. 114 ff., 133 ff.

४. ७।९३६–८।

कलश, राजकलश, और उनके पिता ज्येष्ठकलश ब्राह्मण थे; साथ ही वे वेदाध्यायी और वैदिक अग्निहोत्र के करने वाले थे। उनकी माता नागदेवी और भाई इष्टराम और आनन्द थे, जो दोनों विद्वान् और कवि थे। उनको स्वयं वेद, महाभाष्यान्त व्याकरण और अलङ्कार-शास्त्र पढाये गये थे।

विक्रमाङ्कदेवचरित में मूलतः एक महाकाव्य की रचना की साधारण पद्धति का प्रयोग एक ऐतिहासिक विषय पर किया गया है। इसका प्रारम्भ, इसलिए, संसार के त्राणार्थ एक नायक की उत्पत्ति के लिए साधारणतः प्रचलित एक प्रार्थना से होता है, जो कि यहाँ ब्रह्मा से की गयी है; ब्रह्मा ने प्रार्थना को स्वीकार किया और उनके जलपात्र (चुलुक) से चालुक्य वंश का आदिपुरुष उत्पन्न हुआ। उसका प्रथम निवासस्थान अयोध्या थी। उत्तरवर्ती राजाओं ने उस स्थान को छोड़कर अपनी विजयों को दक्षिण दिशा के सुपारी के वृक्षों तक विस्तृत किया, 'जहाँ चोलदेश-निवासियों(?)† के रहस्यों के साक्षिभूत समुद्रतीर की सिकताओं पर अश्वों की टापों(?)‡ ने विजयों के लेखों को अंकित किया था।' वंश के इस विशुद्ध काल्पनिक प्रारम्भ के अनन्तर, परम्परा में एक बड़ा विच्छेद आ जाता है, और विल्हण तैलप (९७३–९७) से प्रारम्भ करते हुए राष्ट्रकूटों के ऊपर उसकी विजय का तो उल्लेख करते हैं, पर मालव-नरेश द्वारा उसकी पराजय का नहीं। तदनन्तर-भावी राजाओं का, एक को छोड़कर, वर्णन किया गया है। उसके बाद कवि काव्य-नायक के पिता आहवमल्ल (१०४०–६९) का विशेषरूप से वर्णन करता है। इस विजयी राजा के कोई पुत्र नहीं है; वह और उसकी पत्नी नमृता के साथ शिव-मन्दिर में अनुष्ठानतत्पर होकर रहते हैं, और शिव द्वारा अपनी तपश्चर्या के पारितोषिकरूप में दो पुत्रों का वर तथा एक तीसरे पुत्र का विशेष वर पाते हैं। सोमेश्वर, विक्रमादित्य, और जयसिंह नाम के तीन पुत्र उत्पन्न होते हैं। द्वितीय पुत्र के जन्म से पहले उसकी आगामिनी महत्ता की पूर्व-सूचना देनेवाले अद्भुत शकुन होते हैं। जब लड़के बड़े हो गये, आहवमल्ल ने शिव के अभिप्राय की पूर्ति तथा यौवराज्य की स्वीकृति के कर्तव्य को उठाने के लिए बिक्रमादित्य से आग्रह किया। किन्तु धर्मात्मा राजकुमार ने अपने ज्येष्ठ भाई के स्थान को लेना स्वीकार नहीं किया। परन्तु वह अनेक विजयों के करने में प्रवृत्त हुआ और इससे उसके पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु अपनी प्रसन्नता के मध्य में ही वह सांघातिक ज्वर से आक्रान्त हो गया। अत्यन्त पीडा-ग्रस्त होकर उसने अपने प्राणों के परित्याग का निर्णय कर लिया और अपने मन्त्रियों की

†विक्रमाङ्कदेवचरित (१।६५) में 'चोलीरहःसाक्षिणि' पाठ है। (मं. दे. शा.)
‡विक्रमाङ्कदेवचरित (१।६५) में 'करीन्द्रदन्ताङ्कुरलेखिनीभिः' पाठ है। (मं.दे.शा.)

अनिच्छापूर्वक स्वीकृति के साथ दक्षिण की गङ्गा-रूप तुङ्ग-भद्रा की यात्रा की और वहाँ उसके जल में शिव में अपने चित्त को लगाकर प्राणों का विसर्जन कर दिया। इस समाचार से विक्रमादित्य को अत्यन्त क्लेश हुआ। बड़ी कठिनता से उसने जीवित रहना स्वीकार किया। अन्त में वह राजधानी को लौट आया जहाँ कुछ समय तक उसका भाई शान्ति से उसके साथ रहता रहा। परन्तु दोनों के बीच में संदेह उत्पन्न होने लगे, और विक्रमादित्य अपने भाई जयसिंह के साथ वहाँ से हट गया और तुङ्गभद्रा पर उसने अपनी स्थिति कर ली। तब उसने चोल नरेश के साथ सन्धि कर ली। परन्तु उसके मित्र की मृत्यु के अनन्तर, विक्रमादित्य के तद्विरुद्ध प्रयत्नों के करने पर भी, चोलदेश का राजसिंहासन राजिग के हाथों में पड़ गया और उसने विक्रमादित्य के विरोध में सोमेश्वर के साथ संधि कर ली। परन्तु उस संधि का परिणाम दोनों मित्रों के लिए विनाशकारी हुआ; शिव ने विक्रमादित्य को युद्ध करने के लिए प्रेरित किया, और जब विक्रमादित्य ने अपने भाई को बन्दी बना लिया तब शिव ने क्रोध के साथ उसे अपने भाई द्वारा फिर से राज्यशक्ति स्वीकार किये जाने के अपने विचार को छोड़ देने के लिए विवश किया। उसने तब जयसिंह को **बनवास** में अपना राजप्रतिनिधि नियत किया और अन्य विजयों को किया। इस स्थान पर कवि गम्भीर विषयों को छोड़कर यथारीति मनोरञ्जक विषयान्तर को उपस्थित करता है। राजा एक राजपूत राजकुमारी चन्दलदेवी के स्वयंवर के समाचार को सुनता है और उसको अपनी वधू के रूप में प्राप्त करता है। इससे बिल्हण को मनो-भावों पर वसन्त के प्रभाव को और राजकुमारी के सौन्दर्य को विशेष विस्तार से वर्णन करने का अवसर मिल जाता है (सर्ग ८) विवाह हो जाने पर नरेश और वधू दोनों आनन्द विहार करते हैं; वह वधू को स्वयं झूला झुलाता है, वे पुष्पावचय करते हैं, सहस्नान करते हैं, और तदनन्तर पानोत्सव होता है जिसमें राजपूत-रमणियाँ खूब मधु-पान करती हैं (सर्ग ९–११)। राजा अब कल्याण को लौट आता है। इस प्रसङ्ग में एक सर्ग (१२) में नये सिरे से केवल स्नान के दृश्यों का वर्णन किया गया है और तदनन्तर वर्षाकाल के आगमन के उपलक्ष में कविता की गई है (सर्ग १३)। परन्तु जयसिंह उपद्रव करने लगा था; उसका दमन करना पड़ा, परन्तु उसका अपराध क्षमा कर दिया गया (सर्ग १४, १५)। तदनन्तर विक्रमादित्य ने शिकार में मन लगाया, जैसे सिंहों के मारने में, कुत्तों के साथ वराहों की मृगया में और हिरणों पर बाण-प्रहार में (सर्ग १६)। उसके पुत्र उत्पन्न हुए, उसने विक्रमपुर-नामक एक नगर का निर्माण किया और कमलाविलासी विष्णु के एक मन्दिर को बनवाया। परन्तु चोलों का उपद्रव बढ़ने लगा; उनकी पराजय केवल कवि की कल्पना में ही हुई थी,

वास्तव में नहीं। विक्रम को उन्हें एक बार फिर हराना पड़ा। और कुछ काल के लिए काञ्ची को अपने अधिकार में लेना पड़ा। अन्तिम सर्ग हृदय को स्फूर्ति देने वाला तथा रोचक है, क्योंकि उसमें स्वयं विल्हण के वंश का और एक भ्रमणशील पण्डित के रूप में उनकी जीवनी का वर्णन दिया हुआ है, जिससे बिलकुल आधुनिक समय तक प्रचलित पण्डितों की उक्त प्रवत्ति उस समय भी प्रमाणित होती है।

एक ऐतिहासिक के रूप में बिल्हण के विषय में अधिक कहना कठिन है; उसके नायक के मामलों में शिव सन्देहजनक सत्वरता के साथ दखल देते हैं, और इससे निश्चयपूर्वक यही प्रभाव पड़ता है कि इस प्रकार अपने नायक के पक्ष में अलौकिक हस्तक्षेप पर बल देकर कवि इस अशोभन तथ्य के दुष्प्रभाव को कि वह अपने दोनों भाइयों के साथ लड़ा था बचाना चाहता है। काव्य में वास्तविक चरित्र-चित्रण का अभाव है, केवल महाकाव्य का प्रतिबिम्ब ही विद्यमान है; आहवमल्ल और विक्रमादित्य स्वभावतः सद्वृत्त के आदर्श नायक रूप में वर्णित हैं, और दूसरे दुश्चरित्र हैं। यह बात भी बिलकुल महाकाव्य-पद्धति के अनुरूप ही है कि चोल लोग, बार बार निर्मूल किये जाने पर भी, काव्य के अन्त में विक्रमादित्य को तंग करने के लिए पूर्णतः समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त, काव्य की कृत्रिम शैली के कारण अर्थ को ठीक-ठीक समझने में भी प्रायः कठिनता प्रतीत होती है; यह भी निश्चय नहीं है कि कर्ण के दरबार में रहते हुए बिल्हण ने राम के सम्बन्ध में कोई कविता लिखी थी अथवा अयोध्या की यात्रा की थी। बाण में जैसे, घटनाओं के कालक्रम के निदश का पूर्णतः अभाव है; 'कुछ दिनों के बाद' या 'बहुत दिनों के बाद' इस प्रकार की शब्दावली बिलकुल निकम्मी है, और यद्यपि सामान्यतः अभिलेखों द्वारा विल्हण की कथा का समर्थन हो जाता है, तो भी बहुत-कुछ अस्पष्टता और अयथार्थता या कम से कम उसके द्वारा वर्णित गौडदेश की तथोक्त विजयों के समान अतिशयोक्ति उसमें शेष रह जाती है। रोषोत्पादक परन्तु महाकाव्यों के ढंग की अस्पष्टता प्रायेण वर्तमान है; जिन दो कर्णों का उल्लेख किया गया है[1] उनके तादात्म्य के विषय में भी संदेह विद्यमान है, और बिल्हण कम महत्त्व के लोगों के नामों को प्रायः छोड़ ही देते हैं; हम केवल उनके व्यक्तित्व के विषय में अनुमान ही लगा सकते हैं। राजदरबार में साधारणतः प्रचलित आमोद-प्रमोदों के वर्णन सामान्यतः निःसन्देह सत्य हैं, परन्तु वे वर्णन स्पष्टतः उचित स्थान में नहीं दिये गये हैं। स्वयंवर का वर्णन इतनी स्पष्टता के साथ कालिदास पर आधारित है कि हमें उसके, उस रूप में जिसमें उसे चित्रित किया गया है, अस्तित्व में विश्वास नहीं होता, यद्यपि हम जानते हैं

---

१. १।१०२-३; १८।९३।

कि राजपूतों ने इस प्रथा को चिरकाल तक बनाये रखा था। मद्योन्मत्तता के दृश्य को वास्तविक जीवन के अनुसार मानने के लिए भी काफ़ी आधार है, क्योंकि राजपूत लोग चिरकाल से अविनीत क्रीड़ा, कूटोक्ति, इन्द्रियलोलुपता और मद्यपान में अनुरक्त पाये जाते रहे हैं।

परन्तु एक कवि के रूप में विल्हण कहीं अधिक सन्तोषजनक हैं। वे वैदर्भी शैली का अनुसरण करते हैं और बड़े समासों का वर्जन करते हैं; उनकी भाषा साधारणतया सरल और स्पष्ट है, और वे अनुप्रास या शब्दश्लेष के प्रयोग में भी अत्यधिकता नहीं करते। चतुर्थ सर्ग में आहवमल्ल की मृत्यु का चित्रण सर्व-सम्मति से उनकी अत्युत्कृष्ट रचना है; स्वाभाविक कारुण्य का यह एक सुन्दर वर्णन है और इसमें मरणासन्न नरेश की महत्ता और धैर्य का प्रभावोत्पादक ढंग से चित्रण किया गया है। अपेक्षाकृत अधिक यत्न-साध्य प्रभावोत्पादन में भी विल्हण कौशल से रहित नहीं हैं, उदाहरणार्थ कवियों के पक्ष समर्थन में वे कहते हैं:

स्वेच्छाभंगुरभाग्यमेघतडितः शक्या न रोद्धुं श्रियः
प्राणानां सततं प्रयाणपटहश्रद्धा न विश्राम्यति।
त्राणं येऽत्र यशोमये वपुषि वः कुर्वन्ति काव्यामृतै-
स्तानाराध्य गुरून् विधत्त सुकवीन् निर्गर्वमुर्वीश्वराः॥

'अयि पृथिवी-पति राजाओ! स्वेच्छा से भंगुर भाग्यरूपी मेघ की विद्युत् के समान संपत्तियाँ रोकी नहीं जा सकतीं; प्रयाण के नगाड़ों में प्राणों की आस्था कभी श्रान्त नहीं होती है; इसलिए गर्वरहित होकर उन सुकवियों को सम्मानपुरस्सर अपना गुरु बनाओ जो काव्यामृतों से तुम्हारे यशोमय शरीर की रक्षा करते हैं।'

हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं
शुद्धा कीर्त्तिः स्फुरति भवतां नूनमेतत्प्रसादात्।
तुष्टैर्बद्धं तदलघु रघुस्वामिनः सच्चरित्रं
क्रुद्धैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गं दशास्यः॥

'अयि राजाओ! सुकवियों के प्रेमबन्ध में विरोध को छोड़ दो; आपकी विशुद्ध कीर्त्ति उनके प्रसाद से ही स्फुरित होती है; संतुष्ट कवियों ने ही रघुनाथ (राम) का वह प्रसिद्ध महान् सच्चरित्र ग्रन्थ-बद्ध किया है और क्रुद्ध कवियों द्वारा ही त्रिभुवन-विजयी रावण हास्य-मार्ग को प्राप्त हुआ है।' हेमन्त के आगमन का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है:

शरत्कालातपक्लान्त-कान्तवक्त्रेन्दुवल्लभः।†
अथाजगाम हेमन्तः सामन्तः स्मरभूपतेः॥

† १९४५ के बनारस के संस्करण में—'कान्तावक्त्रेन्दुवल्लभः' पाठ है। अर्थ होगा—कान्ता के मुख-रूपी चन्द्रमा का प्यारा (मं.दे.शा.)

'तदनन्तर शरत्काल के आतप से क्लान्त मनुष्यों को प्रिय वक्रेन्दु के कारण प्यारा तथा कामदेवरूपी भूपति का मानो सामन्त-स्थानीय हेमन्त आगया।' उनके पैतृक स्थान खोनमुख का वर्णन भी सुन्दर है :

ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानां
किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरिक्रोडकी(?—ली) लाललाम्नः।
एको भागः प्रकृतिसुभगं कुङ्कुमं यस्य सूते
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम्॥

'अद्भुत कथाओं के प्रथम निवास-स्थान और शिव के श्वशुर हिमालय पर्वत की गोद के लीलामय भूषण उस (खोनमुख) के विषय में हम क्या कहें, जिसके एक भाग में स्वाभाविक सुन्दरता से युक्त कुंकुम पैदा होता है और दूसरे भाग में सरयू के किनारों पर उगनेवाले सरस पौंड़ों के टुकड़े के समान पाण्डु वर्ण के अंगूर उत्पन्न होते हैं।' ऐसा कह सकते हैं कि अद्भुत कथाओं के उल्लेख द्वारा कवि यहाँ अपने जन्मस्थान की बृहत्कथा जैसे ग्रन्थों का उद्गम होने का सम्मान देना चाहता है। आहवमल्ल के अन्तिम शब्द अपनी हृदयस्पर्शी सरलता से परिपूर्ण हैं :

जानामि करिकर्णान्तचञ्चलं हतजीवितम्।
मम नान्यत्र विश्वासः पार्वतीजीवितेश्वरात्॥
उत्सङ्गे तुङ्गभद्रायास्तदेष शिवचिन्तया।
वाञ्छाम्यहं निराकर्तुं देहग्रहविडम्बनाम्॥

'मैं इस तुच्छ जीवन को हाथी के कर्ण के अन्त के समान चञ्चल समझता हूँ; पार्वती के जीवितेश्वर शिव को छोड़कर मेरा अन्यत्र विश्वास नहीं है। सो मैं तुङ्गभद्रा की गोद में देह ग्रहण की विडम्बना को शिव-चिन्तन के साथ दूर करना चाहता हूँ।'

बिल्हण का शब्द-विन्यास साधारणतया शुद्ध है, और इस संबन्ध में उनके यत्र-तत्र अतिक्रमणों के लिए प्राचीन उदाहरण पाये जाते हैं। छन्दों के विषय में उनमें कोई गूढता नहीं है; छः सर्ग इन्द्रवज्रा की कोटि के हैं, तीन वंशस्था के, दो श्लोक[1] और रथोद्धता के; एक मन्दाक्रान्ता में, एक पुष्पिताग्रा में, और एक स्वागता में। शार्दूलविक्रीड़ित और वसन्ततिलक भी जहां-तहां छन्दः-परिवर्तन में प्रयुक्त हुए हैं; मालिनी कभी-कभी प्रयुक्त हुआ है, और औपच्छन्दसिक, पृथ्वी,

---

१. उन्हों ने ४२८ अर्ध-श्लोकों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय विपुलाओं का क्रमशः २०, १०, और ७ बार प्रयोग किया है; और ४।९३ (IS. xvii. 444) में तृतीय विपुला में संधिगत दुष्ट यति विद्यमान है।

शिखरिणी, स्रग्धरा, और हारिणी नाममात्र को प्रयुक्त हुए हैं। पन्दरहवें सर्ग में वैतालीय का प्रधानरूप में प्रयोग हुआ है।

४. कल्हण का जीवन और समय

कश्मीर के कल्हण[1] केवल अकेले बड़े भारतीय इतिहास-लेखक ही नहीं हैं जिनको परम्परया हम जानते हैं; किन्तु यद्यपि हमें कोई साक्षात् जानकारी उनके विषय में नहीं है, उनकी कविताओं से, भारतीय कवियों के विषय में साधारणतया जैसा देखा जाता है उससे कहीं अधिक, निश्चित धारणा भी उनके वैयक्तिक स्वरूप के विषय में हम प्राप्त कर सकते हैं। कालिदास की तुलना में, जो केवल एक नाम है और जो चतुर तथा मूर्खतापूर्ण लघु कथाओं का विषय है, कल्हण एक अधिक निश्चित और बहुत कुछ आकर्षक व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आ खड़े होते हैं। यह अत्यधिक संभव है कि कश्मीर के आन्तरिक संघर्ष ही एक इतिहास लेखक के रूप में उनकी क्रिया-शीलता के कारण थे। उनके पिता चण्पक, जो निश्चितरूप से ब्राह्मण थे, राजा हर्ष (१०८९–११०१) के एक विश्वसनीय अनुजीवी थे; साधारण कश्मीरियों के विपरीत, वे आपत्ति में अपने प्रभु के प्रति सच्चे रहे। राजा की हत्या के समय वे राजा द्वारा सुपुर्द किये गये किसी महत्त्व के कार्य पर ही गये हुए थे; हत्या का विवरण हमको विदित है, क्योंकि अन्त समय में राजा का एक नौकर, मुक्त, उनके साथ था और वह किस ढंग से अपने को बचा कर निकल सका इसका विस्तृत वर्णन कल्हण ने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने स्वामी की मृत्यु के अनन्तर चण्पक बहुत दिनों तक जीवित रहे, पर आपाततः राजनीतिक मामलों में उन्होंने भाग लेना बन्द कर दिया था। यदि हम उनकी स्वामिभक्ति को स्वीकार करते हैं, तो वे कठिनता से ही राजनीतिक कार्य के लिए सुयोग्य थे। इस प्रकार नवयुवक कल्हण, जो ११०० के लगभग उत्पन्न हुआ होगा, अमात्य-संबन्धी पद और राजनीतिक जीवन की संभाव्यता से पृथक् कर दिया गया। उसके पितृव्य कनक भी हर्ष के प्रति गहरा अनुराग रखते थे। राजा को संगीत से बड़ा प्रेम था। उन्होंने हर्ष को प्रसन्न करने की दृष्टि से उससे गाने की शिक्षा ली। इससे हर्ष ने प्रसन्न होकर उनको एक लाख सोने के सिक्के पुरस्कार में दिये। अपने धर्मोन्माद में हर्ष परिहासपुर में, जहाँ संभवतः कल्हण के कुटुम्ब का घर था, स्थित बुद्ध-मूर्ति को नष्ट करना चाहता था। कनक ने ही उसको इस कार्य से रोका। अपने आश्रयदाता की मृत्यु के अनन्तर वे बनारस जाकर रहने लगे। अपने पिता के समान कल्हण शिव का भक्त था, परन्तु, यद्यपि वह शैवशास्त्र अर्थात् शैव-

---

१. M. A. Stein, *Kalhaṇa's Chronicle of Kaśmīr* (1900), and ed. (1892).

दर्शन के गूढ़ सिद्धान्त का, जिसके लिए कश्मीर प्रसिद्ध था, ज्ञाता होने के साथ साथ संमान भी करता था, तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि वह शैवमत-संबन्धी तान्त्रिक कर्मकाण्ड के भक्तों के संवन्ध में तुच्छ संमति रखता था। परन्तु बौद्ध मत के प्रति उसकी दृष्टि विशेषरूप से संमान-युक्त थी। कुछ राजाओं द्वारा आज्ञा से विहित और प्रवर्त्तित अहिंसा का आचरण उसको अभिमत था। उसके वर्णन से स्पष्ट है कि बहुत पहले काल से ही बौद्धधर्म ने हिन्दू धर्म के साथ अपना झगड़ा निवटा लिया था। क्षेमेन्द्र विष्णु के अवतार के रूप में बुद्ध का वर्णन कर चुके थे, और कल्हण के समय से बहुत पहले ही विवाहित बौद्ध-भिक्षुओं से लोग परिचित थे।

राजनीति से निवारित हो जाने पर, कल्हण ने, कदाचित् अपने आश्रयदाता अलकदत्त की प्रेरणा से, कश्मीर के फुटकर ऐतिहासिक लेखों को फिर से लिखने का विचार किया होगा। अलकदत्त का उल्लेख हमें केवल मङ्ख के **श्रीकण्ठचरित**[1] में ही मिलता है। मङ्ख ने कल्हण का उल्लेख उसके और अधिक शोभन नाम कल्याण से किया है। कल्हण कल्याण शब्द का ही लोकभाषा का स्थानीय है। यह स्पष्ट है कि उसने कालिदास के **रघुवंश** और **मेघदूत** जैसी प्राचीन काल की महान् कविताओं का, और स्वभावतः ऐतिहासिक बीज पर आश्रित गद्यकाव्य के आदर्श के रूप में बाण के **हर्षचरित** का गहरा अध्ययन किया था। बिल्हण को वह अच्छी तरह जानता था और उसके महाकाव्य का उपयोग भी उसने किया था। मङ्ख स्पष्ट शब्दों में कहता है कि कल्हण की शैली इतनी परिष्कृत थी कि वह बिल्हण की कविता की सारी पूर्णता को दर्पण के सदृश प्रतिबिम्बित कर सकती थी। परन्तु उसने **रामायण** और **महाभारत** का भी गहरा अध्ययन किया था, जैसा कि उसके द्वारा **महाभारत** के प्रधान पात्रों के बरावर उल्लेख से और **रामायण** के साथ उसके अति परिचय से सिद्ध होता है। स्वभावतः साहित्यिक इतिहास में उसको रुचि थी, और उसने ज्योतिष शास्त्र का भी अध्ययन किया था, जिसका प्रमाण उसके द्वारा वराहमिहिर की **बृहत्संहिता** के उल्लेखों से मिलता है।

समसामयिक इतिहास उपद्रवों और खून-खराबी से युक्त था। हर्ष की मृत्यु के अनन्तर उसके शत्रु उच्चल और सुस्सल ने राज्य को आपस में बाँट लिया; सुस्सल को लोहर का प्रदेश मिला। उच्चल कलहशील डामरों को, जो सामन्तशाही जमीदारों का एक समुदाय था, परस्पर में लड़ाकर ही अपने को शक्ति में रख सकता था, और इस कार्य में लोहर का गर्गचन्द्र उसका मुख्य सहायक था। ११११ में वह

---

१. २५।७८–८०

अपने अधिकारियों के एक षड्यन्त्र द्वारा मार डाला गया। उनमें से रड्ड-नामक एक अधिकारी केवल एक दिन के लिए ही राजसिंहासन पर बैठा। उसके अनन्तर एक अकर्मण्य राजा के नाम पर चार मास तक गर्गचन्द्र ने राज्य किया, परन्तु सुस्सल ने उसके साथ पुनः मित्रता स्थापित कर ली और वह स्वयं राजा हो गया। उसका राज्यकाल संकटों का एक समूह था; हत्या द्वारा गर्गचन्द्र के हट जाने पर, हर्ष के नप्ता भिक्षाचर के नेतृत्व में डामरों ने विद्रोह कर दिया और ११२० से ११२१ तक भिक्षाचर ने शासन किया। पर सुस्सल ने शक्ति पुनः अपने हाथ में ले ली, और देश में गृह-युद्ध छिड़ गया। वह युद्ध ११२८ तक चलता रहा, जब कि एक षड्यन्त्र के फलस्वरूप,जिसको उसने ही अपने प्रतिद्वन्द्वी की हत्या के लिए खड़ा किया था, वह स्वयं मारा गया। उसका पुत्र जयसिंह उसका उत्तराधिकारी बना; वह राज्यसिंहासन को अपने हाथ में रख सका, अपने पिता की अवधानताहीन वीरता द्वारा नहीं, किन्तु सामन्तशाही मुखियों को प्रसन्न रख के और चाणक्य की जैसी कूटनीति के द्वारा। दो वर्ष के अनन्तर भिक्षाचर मार डाला गया, परन्तु एक नया दावादार प्रकट हो गया, और, यद्यपि ११३५ के अनन्तर कुछ समय के लिए शान्ति रहीं, ११४३ में एक नया संकट खड़ा हो गया, जबकि दरद जन-जातियों की सहायता पाकर राजकुमार भोज विद्रोह में खड़ा हो गया। कूटनीति द्वारा यह विद्रोह अन्त में शान्त कर दिया गया। ११४९ में कल्हण ने अपनी महान् कविता को प्रारम्भ किया और अग्रिम वर्ष में उसे समाप्त कर दिया। यह स्पष्ट है कि वह उपर्युक्त संघर्ष से पृथक् रहा; यद्यपि उसने जयसिंह के आश्रय में अपना ग्रन्थ लिखा, तो भी जयसिंह के संबन्ध में उसने जो कुछ लिखा है वह साधारण राजदरबारी कवि की प्रशंसा से भरी प्रशस्ति से बिलकुल विपरीत है। वह कड़ाई के साथ सुस्सल के कार्यों की निन्दा करता है और जयसिंह के राज्य के पहले दावादार लोठन और मल्लार्जुन के प्रति भी उसकी दृष्टि उसी तरह कठोर है। भिक्षाचर के संबन्ध में उसका वर्णन अधिक अनुकूल है; उसकी यह अनुकूलता किसी स्वार्थ के कारण नहीं थी, इसकी पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि उसके लेख से यह स्पष्ट है कि उस राजा के अल्पकालीन शासन में उस को या उसके परिवार को कोई भी लाभ नहीं हुआ। यह स्पष्ट है कि भोज को वह जानता भी था और पसन्द भी करता था, और ११४५ में राजा के साथ उसके मेल के हो जाने से पहले जो लम्बी बातचीतें हुई थीं और कूटनीतिक चालें चली गई थीं उन के विषय में कल्हण को जानकारी स्वयं भोज से ही प्राप्त हुई होगी, जब कि वह दूसरे राज्यलिप्सुओं के साथ मित्रभाव से जयसिंह के दरबार में रहता था।

कल्हण अपनी तटस्थता के कारण अपने देशवासियों के दुर्गुणों को निरपेक्षता स देख सकता था, और उस के साक्ष्य की पुष्टि बहुत अच्छी तरह इतिहास से हो जाती है। कल्हण की दृष्टि के अनुसार कश्मीरियों के संबन्ध में सुन्दर, मिथ्यावादी और चञ्चलचित्त यह वर्णन पूर्णतः ठीक है। उनके अनुशासनहीन और डरपोक सैनिकों से वह पूर्ण हृदय से घृणा करता है; एक गप के आधार पर ही वे भागने को तैयार हो जाते हैं, और, यदि कुछ दृढ निश्चय वाले व्यक्ति राजा की हत्या कर डालते हैं, तो तत्काल रक्षकों, परिचारकों और दरबारियों की भगदड़ शुरू हो जाती है। अधिकतर दरबारियों में स्वामिभक्ति नहीं पाई जाती, और कल्हण विशेष सावधानता से इस पर ध्यान देता है, भले ही उसका विषय एक राजद्रोही ही क्यों न हो। इससे विपरीत, राजपूतों और दूसरे विदेशी भाड़े के सैनिकों की वीरता और स्वामिभक्ति है जिन पर राजालोग गम्भीर युद्ध के लिए बहुत कुछ विश्वास करते थे। नागरिक जनता को अकर्मण्य, आराम-तलब, और नितरां संवेदनाहीन दिखलाया गया है; वह आज एक राजा की स्तुति करने को और दूसरे दिन दूसरे का स्वागत करने को तैयार है। उनके भावोद्वेगों के प्रति इस उच्चकुलीन ब्राह्मण (कल्हण) के मन में घृणा का भाव पैदा होता है। डामरों के प्रति उसमें अत्यन्त कटुता पाई जाती है; इन क्रूर और अत्याचारी लोगों के हाथों कल्हण के परिवार ने निस्सन्देह बड़े कष्ट उठाये थे। उन्होंने ग्रामीणों को कष्ट दिया और जब कभी अवसर मिला राजधानी के अधिकारियों और ब्राह्मणों की जायदादों को लूटा; उनकी असभ्यता और गँवारपन के कारण भी, जो उनके निम्नस्तरीय उद्भव के लक्षण हैं, कल्हण उनसे अप्रसन्न है। परन्तु अधिकारि-वर्ग के विषय में भी उसको भ्रान्ति नहीं है; स्पष्टवादिता के साथ उसने उनकी लोलुपता, धनापहरण और अन्यायपूर्ण कार्यों का भण्डाफोड़ कर दिया है। पुरोहितों को भी नहीं छोड़ा है; कश्मीर उन दिनों पुरोहितों के कृत्यों से अभिशप्त था। बहुमूल्य धर्मस्व उनके अधिकार में थे, और अपने गंभीर उपवासों (प्रायोपवेशन) द्वारा, जो उनकी माँगों की पूर्ति के अभाव में मृत्यु-पर्यन्त चल सकते थे, वे घटनाचक्र की प्रगति को प्रभावित करना चाहते थे। कल्हण उनकी व्यावहारिक अज्ञानता की और अपनी बुद्धि से बाहर के मामलों में हस्तक्षेप के औद्धत्य की खिल्ली उड़ाता है। परन्तु वह केवल अरुचियों का ही संघात नहीं है; वह अमात्य रिल्हण का और अलंकार का, जिसको हम मङ्ख द्वारा कवियों के आश्रयदाता के रूप में जानते हैं, प्रशंसा के साथ उल्लेख करता है; मङ्ख का उल्लेख, एक कवि के रूप में नहीं, किन्तु केवल एक अमात्य के रूप में, किया गया है। सीमा-प्रतिरक्षा के सेनापति उदय के प्रति वह सस्नेह सन्मान का भाव रखता हुआ प्रतीत होता है, और भोज तथा राजवदन, जो जयसिंह पर आक्रमण करने वाले दावा-

दारों में से एक था, दोनों के साथ उसके वैयक्तिक संबन्ध स्पष्ट हैं। जो कुछ हम जानते हैं उससे यही प्रतीत होता है कि कल्हण का चित्त वास्तविकता के साथ व्यस्तता-पुरःसर संपृक्त था, केवल किताबी कीड़ा होने के स्थान में वह तात्कालिक घटनाओं की प्रवृत्ति का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करता था, और अपने कुटुम्ब की परम्परा और अपनी रुचियों के अनुसार मामलों में भाग लेने के स्थान में उसका बराबर यही प्रयत्न था कि उसकी सूक्ष्मवुद्धि को अपने चारों ओर की और पिछले काल की घटनाओं को लेखवद्ध करने से सन्तोष मिल सके।

५. राजतरङ्गिणी और उसके उद्गम

कल्हण स्वयं कहते हैं कि नितरां प्रारम्भिक समय से लेकर कश्मीर क राजाओं के इतिहास को लिखने की इच्छा करनेवाले वे प्रथम व्यक्ति नहीं थे; ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल के वृहद् ग्रन्थों में राजाओं का इतिहास वर्णित था, परन्तु वे ग्रन्थ आपाततः कल्हण के समय में नष्ट हो चुके थे। इसका कारण यह था कि सुव्रत नाम के एक व्यक्ति ने उनके विषय को लेकर एक कविता की रचना कर दी थी। स्पष्टतः यह काव्यशैली में लिखी गई थी और इसी लिए उसको समझना कठिन था। कल्हण का कहना है कि उन्होंने अपने से प्राचीन विद्वानों के ग्यारह ग्रन्थों का और अद्यापि उपलब्ध नीलमतपुराण का भी उपयोग किया था। बहुशास्त्रज्ञ क्षेमेन्द्र ने एक नृपावली लिखी थी। कल्हण उसकी उसके लिखने में अवधानता की कमी के कारण निन्दा करते हैं; परन्तु संभवतः उस में उन्हीं के आधारभूत ग्रन्थों का अवधानता पूर्वक किया गया संक्षेप था। इस लिए उस ग्रन्थ का विलोप एक वास्तविक हानि है। पद्ममिहिर से कल्हण ने लव से लेकर आठ राजाओं को लिया। वे आठ राजे प्रथम भाग (तरङ्ग) में छूटे हुए पैंतीस राजाओं की त्रुटि के अनन्तर ही आते हैं; पद्ममिहिर का आधार कोई एक पाशुपत हेलाराज था जिसकी कृति अवश्य एक वृहद् ग्रन्थ रहा होगा; परन्तु कल्हण उसको नहीं जानते थे। छविल्लाकर से, जिनकी पुस्तक से वे उद्धरण देते हैं, उन्होंने अशोक के नाम और बौद्ध धर्म में उनकी भक्ति के रूप में वस्तुतः कुछ ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त की थी। हम यह नहीं जानते कि दूसरे ग्रन्थकार, जिनका कल्हण न उपयोग किया था, अपने-अपने ग्रन्थ को प्रारम्भ से लेकर अपने समय तक ले गये थे अथवा वे केवल अपने पास की घटनाओं के इतिहास के रूप में ही थे। संभवतः कल्हण ने इस प्रकार के कुछ लेखकों का उपयोग किया था, क्योंकि वे बलपूर्वक इस प्रकार के ग्रन्थ को अपने गौरव के अननुरूप कहते हैं, और उनका आग्रह है कि जहाँ तक उनके उद्गमों के आधार पर संभव है कश्मीर का पूरा इतिहास ही उन्हें लिखना चाहिए।

परन्तु कल्हण ने अपने प्रमाणभूत साहित्यिक ग्रन्थकारों के नियन्त्रण के लिए और भी अधिक मौलिक उद्गमों से काम लिया था। वे हमको बतलाते हैं कि उन्होंने विभिन्न प्रकार के ऐसे अभिलेखों का, जिन में दवमन्दिरों, स्मारकों, अथवा महलों की रचना के लेख उत्कीर्ण किये गये थे, साधारणतया ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण भूम्यनुदान अथवा विशेषाधिकारों के लेखों का, प्रशस्तियों अर्थात् देवमन्दिरों और दूसरी इमारतों पर खुदी हुई स्तुतियों अथवा प्रशंसाओं का, और साहित्यिक ग्रन्थों के हस्तलेखों का, जिनमें राजाओं के नामों का और दिनांकों का प्रायेण अङ्कन होता है, निरीक्षण किया था। उनके ग्रन्थ में भूरिशः पाये जाने वाले पवित्र इमारतों भूम्यनुदानों इत्यादि के संबन्ध में तथ्यों के ठीक ठीक विवरणों से, और ग्रन्थों के इतिहास के संबन्ध में उनके बिलकुल ठीक कथनों से, जो बड़े महत्त्व के हैं, उपर्युक्त दावे की पुष्टि हो जाती है। उन्होंने सिक्कों का अध्ययन और इमारतों का निरीक्षण भी किया था, साथ ही वे स्पष्टतः कश्मीर की घाटी के स्थानों के विवरण के पण्डित थे। इसके अतिरिक्त, उन्होंने प्रत्येक प्रकार की स्थानीय अनुश्रुतियों का और तत्तद्वंश-संबन्धी लेखों का खुली रीति से उपयोग किया था। साथ ही उन्हों ने अपने ग्रन्थ के समय से पहले के पचास वर्षों की घटनाओं के वर्णन में अपेक्षित छोटे से छोटे विवरणों को भी स्वयं अपनी और अपने पिता तथा अनेक दूसरे लोगों की जानकारी से एकत्रित किया था।

कल्हण स्पष्टतःस्वीकार करते हैं कि उनक द्वारा अभिमत पहले बावन राजाओं का, जो स्पष्टतः एक अनुश्रुतिमूलक संख्या है, उनके पूर्ववर्त्ती ऐतिहासिकों ने उल्लेख नहीं किया था। प्रथम चार को उन्होंने नीलमत से लिया। अगले आठ हेलाराज से लिये गए हैं। उनसे पहले पेंतीस राजाओं का स्थान शब्दतः रिक्त बतलाया गया है। तदनन्तर आनेवाले पाँच छविल्लाकर से लिये गये हैं। प्रथम राजा गोनन्द का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यह कहा गया है कि वह राजसिंहासन पर उसी वर्ष अर्थात् कलि संवत् ६५३ में बैठा था जिस में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ था, और कल्हण की कालक्रम से इतिवृत्त-रचना का समस्त निर्माण इसी नितरां निराधार समानकालिकता पर खड़ा किया गया है। गोनन्द द्वारा मथुरा में कृष्ण पर आक्रमण कराया गया है और कृष्ण के भाई बलभद्र द्वारा उसकी मृत्यु दिखलाई गई है। उसके पुत्र दामोदर प्रथम ने उसका बदला लेना चाहा, परन्तु वह मारा गया, और कृष्ण ने उसकी उस समय गर्भवती पत्नी को सिंहासन पर बिठाया। ऐसी अवस्था में उसका पुत्र गोनन्द द्वितीय शिशु होने से महाभारत युद्ध में कोई भाग नहीं ले सका। यह ध्यान देने की बात है कि पुस्तक के तृतीय तरङ्ग में गोनन्द तृतीय की चर्चा प्रकृत वंश के वास्तविक

मूल-पुरुष के रूप में की गयी है, साथ ही इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता है कि भारतवर्ष के पौराणिक आख्यानों में कश्मीर को एक स्थान देने के सदिच्छा-मूलक व्याज ने ही उपर्युक्त कल्पित राजाओं का आविष्कार किया था। प्रथमतरङ्ग में वर्णित अन्य राजाओं में अशोक का पुत्र जलौक है जो अन्यत्र अज्ञात है, और कुषाणों की स्मृति हुष्क, जुष्क, और कनिष्क के नामों में पाई जाती है। वे बौद्ध माने गये हैं, यद्यपि उनके नामों का क्रम ऐतिहासिक क्रम से ठीक उल्टा है। उनके अनन्तर ब्राह्मण-धर्मानुयायी अभिमन्यु आता है। ऐसा कहा जाता है कि उसने महाभाष्य के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया था, परन्तु उस के ऐतिहासिक रूप की पुष्टि किसी दूसरे आधार से नहीं होती। उसके समय में एक धार्मिक ब्राह्मण नीलनाग की सहायता से बौद्ध धर्म के अभिशाप से कश्मीर को मुक्त करता है और साथ ही हिमपात से देशको बचाता है; यह कथा नीलमत के पुराने आख्यान का केवल रूपान्तर है जिस में उत्पात का हेतु पिशाचों को बतलाया गया है। गोनन्द तृतीय के अनन्तर दिये गये गोनन्द-राजाओं की परम्परा में वास्तविकता नहीं दिखाई देती और द्वितीय तरङ्ग में हमें राजाओं की एक नई परम्परा मिलती है, जिसका पिछली परम्परा से कोई संबन्ध नहीं है, और उनकी ऐतिहासिकता म भी आपाततः कोई प्रमाण नहीं है। तृतीय तरङ्ग में मेघवाहन के नेतृत्व में पुनः-स्थापित गोनन्द-वंश का इतिहास दिया हुआ है। इस नई सूची में मातृगुप्त का अल्पकालीन शासन आता है और संभवतः उसके और उसके सम्राट् विक्रमादित्य हर्ष के वर्णन में मालवा के शीलादित्य[1] का निर्देश वर्त्तमान है, जिस से हमें छठी शताब्दी का समय मिल जाता है। गोनन्द की परम्परा में तोरमाण का वर्णन आता है। वह उसी नाम के हूण राजा से भिन्न नहीं हो सकता, और इस तथ्य का प्रामाण्य इस कारण कम नहीं होता कि उसके पिता मिहिरकुल को उससे ७०० वर्ष पहले दिया गया है, क्योंकि कल्हण ने रणादित्य का राज्यकाल ३०० वर्षों का माना है, जो उक्त वंश का तृतीय अन्तिम राजा था और जिसका समय बिलकुल ऐतिहासिक काल में पड़ता है। एक रोमांचक कथा के साथ उक्त वंश का अन्त हो जाता है; अन्तिम राजा बालादित्य ने, उसका जामाता उसका उत्तराधिकारी होगा—इस भविष्य-वाणी की सत्यता को बचाने के लिए, अपनी पुत्री का विवाह एक छोटे अधिकारी दुर्लभवर्धन से कर दिया। परन्तु जामाता राजा का कृपापात्र हो गया। उसने सम्मान की भावना को छोड़कर अमात्य खङ्ख का अपनी पत्नी के साथ गुप्त-प्रणय करने का अपराध क्षमा कर दिया, और वह राजा की मृत्यु पर कार्कोट वंश के प्रथम

---

१. तु० EHI. p. 344.

राजा के रूप में राज्यसिंहासन पर बिठा दिया गया। उक्तवंश के नाम की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि दुर्लभवर्धन वास्तव में किसी नाग कार्कोट का पुत्र था। इस राज-वंश के साथ चौथी तरङ्ग में हम सातवीं शताब्दी ई० में ऐतिहासिक वास्तविकता के समीप आ जाते हैं; क्योंकि ऐसा हो सकता है कि दुर्लभवर्धन ही वह राजा था जो चीनी यात्री हुएन्तसंग की यात्रा के समय राज्य करता था। कश्मीर के लौकिक संवत् (३०७६–३०७५ ई०पू०) में प्रथम तारीख़ चिप्पट जयापीड या वृहस्पति के संवन्ध में दी गई है, जिस को कल्हण ८०१–१३ ई० में रखते हैं; परन्तु निश्चयपूर्वक सिद्ध किया जा सकता है कि यह अशुद्ध है, क्योंकि हरविजय का रचयिता रत्नाकर स्पष्ट शब्दों में कहता है कि उसने उसी राजा के आश्रय में अपने ग्रन्थ की रचना की थी, जब कि कल्हण हमें विश्वास दिलाते हैं कि उसकी प्रसिद्धि अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में थी और अवन्तिवर्मा ने अपना शासन निश्चयपूर्वक ८५५ में प्रारम्भ किया था। स्पष्टतया यहाँ कम से कम पच्चीस या पचास वर्ष की भी भूल है। सुखवर्मा के पुत्र और उत्पल के पौत्र अवन्तिवर्मा द्वारा राज्यापहरण के कारण उक्त राजवंशका अन्त हो गया। उत्पल साधारण कुल का होते हुए भी एक योग्य व्यक्ति था जो पहले से ही राज्य का वास्तविक शासक बन बैठा था। अवन्तिवर्मा के साथ हम इतिहास के पूर्ण प्रकाश में प्रवेश करते हैं; पाँचवें तरङ्ग में इस राजवंश का ९३९ तक का इतिहास दिया गया है, और छठे तरङ्ग में १००३ में रानी दिद्दा की मृत्यु पर वह वंश समाप्त हो जाता है, जब कि उसका भतीजा, लोहर राजवंश का प्रथम राजा, शान्तिपूर्वक राज्यसिंहासन पर बैठता है। सातवां तरङ्ग हर्ष की मृत्यु के दुःख के साथ समाप्त होता है, और आठवें तरङ्ग में विस्तार के साथ (३४४९ पद्यों में) उच्चल की राज्यप्राप्ति से लेकर अर्धशताब्दी की घटनाओं का वर्णन है। एक महत्त्वयुक्त घटना के उल्लेख की छूट सिद्ध की जा सकती है, जो वैचित्र्यमय है। कल्हण ने महमूद ग़ज़नी के नेतृत्व में, जो भारतवर्षीय ग्रन्थों में हम्मीर के नाम से प्रसिद्ध है, मुस्लिम आक्रमण को रोकने के प्रयत्न में शाहि राजा त्रिलोचनपाल को तुङ्ग के नेतृत्व में भेजी गई निरर्थक सहायता का रोचक ढंग से वर्णन किया है। परन्तु वे १०१५ के लगभग कश्मीर के विरुद्ध किये गये मुस्लिम सेनाओं के वास्तविक अभियान का, जिसको लोहर के दुर्ग के दृढ प्रतिरोध ने ही रोका था, उल्लेख नहीं करते। साथ ही अपनी दुर्गम घाटी में रहनेवाले कश्मीर के लोगों की संकीर्ण दृष्टि के फ़लस्वरूप कल्हण भारतवर्ष पर आते हुए नये तूफ़ान के महत्त्व को प्रायः बिलकुल नहीं समझते।

६. कल्हण एक ऐतिहासिक के रूप में

इतिहास के संबन्ध में कल्हण के दृष्टि-कोण को समझने के लिए हमें, निश्चय ही, Thucydides अथवा Polybios का विचार नहीं करना चाहिए; जैसा ठीक ही कहा गया है, हमको स्मरण रखना चाहिए कि, उक्त ऐतिहासिकों के महान् ग्रन्थों के अपने सामने रहते हुए भी, रोमन विचारधारा इसी से सन्तुष्ट थी कि इतिहास में प्रवचन-शास्त्र पर अधिकार के प्रदर्शन के लिए तथा नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा के लिए अवसर मिलना चाहिए। कल्हण का लक्ष्य है ऐसे ग्रन्थ की रचना जो प्रवचन-शास्त्रज्ञों की नहीं—क्योंकि भारतवर्ष में प्रवचन-शास्त्रज्ञ हुए ही नहीं हैं—किन्तु अलङ्कारशास्त्र पर लिखनेवालों की माँगों की पूर्त्ति करने के साथ-साथ अपने पाठकों पर नैतिक सिद्धान्तों का प्रभाव भी डाल सके। अपने प्रथम लक्ष्य को वे स्पष्टतः प्रारम्भ में स्वीकार करते हैं: 'सच्चे कवियों की वह अद्भुत शक्ति प्रशंसा के योग्य है जिस का महत्त्व अमृत-पान के महत्त्व से भी अधिक होता है, क्योंकि उसके द्वारा केवल उन्हीं के यशःशरीर नहीं, अपितु दूसरों के भी, स्थैर्य को पाते हैं। यह कवि की केवल निर्माण की प्रतिभा ही है जो अपनी सौन्दर्य-प्रसूति की शक्ति द्वारा अतीत कालों को मनुष्यों की आँखों के सामने लाकर रख सकती है।' जिस कठिनाई का उन्हें सामना करना है उसे वे स्वीकार करते हैं[1]; उनके कार्य की दीर्घता ग्रन्थ में वैचित्र्य के विस्तार का निषेध करता है, इसका अर्थ यही होता है कि वर्ण्य-विषय की अत्यधिकता के कारण कल्हण अपने काव्य को कवि के चलताऊ वर्णनों से भरने में भारवि और माघ का अनुसरण नहीं कर सकते थे। निस्सन्देह ग्रन्थ में प्रस्तुत विषय से बहिर्गमन देखा जाता है, परन्तु उसकी मात्रा परिमित है, और ऐसे ही प्रासङ्गिक वर्णनों में हम बराबर उन अलङ्कारों का अस्तित्व पाते हैं जो सच्ची काव्य-शैली को परिलक्षित करते हैं। बाण के **हर्षचरित** और बिल्हण की कविता के साथ तुलना करने पर कल्हण के स्वयं अध्यारोपित उक्त संयम को हम बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं।

नैतिक शिक्षा की प्रवृत्ति के रूप में, कल्हण के इतिहास के दूसरे स्वरूप के मूल में **महाभारत** और अलंकारशास्त्र का संयुक्त प्रभाव था। अलंकारशास्त्र के अनुसार प्रत्येक कविता में एक प्रधान रस होना चाहिए, और **राजतरङ्गिणी** का प्रधान रस निर्वेद (या शान्त) है[2]; निश्चित रूप से ग्रन्थ में ऐसा कहा गया है। इसका आधार मन की उस भावना पर है जो जगत् में मनुष्यों की क्षण-भंगुर स्थिति से उत्पन्न होती है। उन राजाओं की कथाओं पर बल देने से

१. १।१६. २. १।२३.

जिनका अन्त वैराग्य अथवा दूसरे कारण से दुःखमय हुआ है, उक्त रस की और भी पुष्टि होती है; और पहली, दूसरी और तीसरी तथा सातवीं तरङ्गों की समाप्ति जान-बूझ कर ऐसी ही कथाओं के वर्णन से की गई है। शक्ति और संपत्ति के अस्थायित्व पर, संसार की सब प्रकार की कीर्त्ति और यश के क्षणपर्यवसायी स्वरूप पर, और पापाचरण करनेवालों को इस लोक में अथवा परलोक में मिलनेवाले फल पर बराबर बल दिया गया है। राजाओं और अमात्यों के कार्यों की समीक्षा और निन्दा अथवा प्रशंसा धर्मशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र के नियमों के आधार पर की गई है; परन्तु ऐसे स्थलों पर सर्वत्र नैतिक झुकाव स्पष्ट दिखाई देता है। इस बात में महाभारत के नैतिक शिक्षा से पूर्ण भागों का और नैतिक शिक्षा देने की उसकी सामान्य प्रवृत्ति का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई देता है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रवृत्ति कल्हण की अपनी ही नवीनता थी अथवा उनके एक अथवा अनेक पूर्ववर्त्तियों के ग्रन्थों में पहले से ही पाई जाती थी।

उक्त कारणों से कल्हण एक वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ता होने का कोई दावा नहीं करते हैं, और इसके साथ पूर्ण सामञ्जस्य का अनुसरण करते हुए वे अपने प्रमाण-भूत ग्रन्थकारों में पाये जाने वाले परस्पर-विरुद्ध साक्ष्य के विषय में भी हमसे कुछ नहीं कहते। वास्तव में यह स्पष्ट है कि नवीं शताब्दी के मध्य में उत्पल-राजवंश के प्रारम्भ तक उनके सामने उनके काम के लिए कोई विश्वसनीय सामग्री नहीं थी। परन्तु उनके सामने जो सामग्री थी उसके सत्यासत्य-परीक्षण के तथा अपने अज्ञान ो स्वीकार करने के स्थान में, उन्होंने किसी प्रकार जोड़-तोड़ कर एक धारावाहिक आख्यान को लिखना ही पसन्द किया। इसके परिणामों को हम ऊपर देख चुके हैं; अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन काल के संबन्ध में उनका ऐतिहासिक कालक्रम निराशाजनक रूप में हास्यापद है और स्वयं कल्हण को इस उपहासास्पदता की कोई प्रतीति नहीं है। इसके अतिरिक्त, महापुरुषों के प्राचीन उपाख्यानों और वास्तविक तथ्यों के संबन्ध में उनकी दृष्टि अपने देश के साधारण लोगों के साथ बिलकुल एक ही स्तर पर है; वे बिना संकोच के रामायण-महाभारत के प्राचीन उपाख्यानों को अपने समय की बातों के समान ही सत्य स्वीकार कर लेते हैं; कुछ अविश्वासी लोगों को तो मेघवाहन के लोकोत्तर कृत्यों की सत्यता में सन्देह होता था, परन्तु कल्हण की दृष्टि उनके विषय में भी ऐसी नहीं थी।[1] एक अवसर पर, हर्ष द्वारा उसके पागलपन में किये हुए कामों को गिनाते हुए, वे कहते भी हैं कि भविष्य की पीढ़ियाँ उसी कारण से उन कामों की सत्यता में मेघवाहन की कहानियों के समान ही

१. ७।११३७ इत्यादि।

सन्देह कर सकती हैं ; ऐसा कहते हुए उन्हें उक्त दोनों प्रकार की कथाओं के स्वरूप में पाये जाने वाले महान् भेद की आपाततः किञ्चिन्मात्र भी चेतना नहीं है। कल्हण की दृष्टि की मन्दता का अनिवार्य रूप से एक कारण उनके निवास-स्थान की संकुचित सीमाएँ और उसकी पृथक्ता भी थी ; इसी लिए हम देखते हैं कि उनको बाह्य संसार के साथ कश्मीर के संबन्ध के विषय में कुछ भी पता नहीं है; कुषाणों और हूणों के आक्रमणों में वे न तो विवेक करते हैं और न उनके स्वरूप को ठीक तरह समझते हैं। काश्मीरी चरित्र की एक दूसरी बात भी उनके ग्रन्थ में सर्वत्र दीख पड़ती है ; मार्कोपोलो (Marco Polo)[1] के ज्ञान में कश्मीर जादू-टोना और 'वशीकरण के पैशाचिक कृत्यों' के लिए प्रसिद्ध था, और कल्हण बड़ी प्रसन्नता से जादू-टोने को मृत्यु के न्याय्य कारण के रूप में स्वीकार करते हैं[2]। इस संबन्ध में हम स्मरण कर सकते हैं कि रोमन लोगों[3] द्वारा और मध्यकाल में भी विष को राजाओं की मृत्यु का एक स्वाभाविक कारण माना जाता था। खेदजनक ऐतिहासिक कालक्रम निस्सन्देह कल्हण की अपनी कल्पना नहीं थी, उन्हों ने उसे जैसे-का-तैसा ले लिया और उसकी स्पष्ट असंभाव्यताओं और लंबे राज्यकालों की हास्यास्पदताओं पर कभी ध्यान नहीं दिया, यद्यपि अपने सम-सामयिक अनुभव के आधार पर वे उनके असंभाव्यरूप को समझ सकते थे।

परन्तु हमको यह समझ लेना चाहिए कि कल्हण पर जीवन के संबन्ध में भारतीय दृष्टियों का पूरा-पूरा प्रभाव था, जिसके कारण ऊपर जैसी बातों में संदेह करना निरर्थक था। संसार के युगों के संबन्ध में जो प्रचलित सिद्धान्त था उसके अनुसार वे कलियुग में रह रहे थे, जब कि प्रत्येक वस्तु अपने प्राचीन गौरवमय स्वरूप से गिरकर अत्यन्त ह्रास की अवस्था में विद्यमान थी ; उस दशा में भूत को वर्तमान से नापना कोई अर्थ नहीं रखता था। दूसरे, केवल ऐहिक जीवन क अभिप्रायों या भावों पर बल देकर मनुष्य के कर्म की बुद्धियुक्त व्याख्या करने का प्रयत्न भी व्यर्थ ही होता, क्योंकि मनुष्य के कर्म पूर्वजन्म के कर्मों के परिणाम होते हैं, वे किसी विस्मृत भूत से प्रकट हो जाते हैं जिससे किसी भी समय ऐसे कर्म सामने आ सकते हैं जिनकी पहले से कोई संभावना नहीं होती और जो कर्म-कर्ता के चरित्र से कोई मेल नहीं रखते। तिस पर भवितव्यता को भी कर्म का एक कारण समझा जाता है; कल्हण

---

१. Yule, i. 175; cf. Bühler, *Report*, p. 24

२. तथा च अर्थशास्त्र शत्रुओं के विरुद्ध इसी उपाय की गंभीरता के साथ प्रशस्ति करता है।

३. उदाहरणार्थ Tacitus., Ann.; iii. 17; Pliny, *H.N.*, xxix. 20; Mayor on Juvenal, xiv. 252 ff.

कहीं यह भी नहीं दिखाते कि कर्म के सिद्धान्त के साथ भवितव्यता का सामञ्जस्य हो सकता है। भवितव्यता के कारण[1] ही हर्ष अपने जीवन के अन्तिम दिनों में बुद्धिमत्ता और नीति की अवहेलना करता है, यद्यपि कवि के वर्णन से ही यह स्पष्ट है कि वह अभागा राजा पागल था। राजा के कृपापात्रों की कृतघ्नता का दोष भी भवितव्यता को ही दिया जाता है। परन्तु संतुष्ट करने में इन सारी व्याख्याओं के असफल हो जाने पर, सहज विश्वास की भारतीय प्रवृत्ति को अवसर मिल जाता है, क्योंकि वह भूतप्रेतावेश (कृत्या) को स्वीकार कर लेती है। कल्हण वास्तव में स्वयं स्पष्टत:एक राजनीतिक हत्या का कारण कृत्या को बतलाते हैं।[2] राजाओं की नीति को प्रभावित करने के लिए ब्राह्मणों द्वारा प्रायोपवेशन की पद्धति को यद्यपि वे घृणा की दृष्टि से देखते थे, तो भी वे मानते थे कि प्रायोपवेशन करनेवाले की शक्ति भयङ्कर प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। देवमन्दिरों को भ्रष्ट करने से स्वभावत: देवता क्रुद्ध हो जाते हैं, और हर्ष तथा सुस्सल मृत्यु के रूप में अपने दुष्कर्मों का फल पाते हैं। कश्मीर के चश्मों के देवतारूप नागों का क्रोध विशेष रूप से प्रायिक और भयानक होता है, साथ ही शकुनों और निमित्तों की निःसंदिग्ध प्रामाणिकता को स्वीकार किया जाता है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कल्हण ईर्ष्यालु राजा द्वारा सूली पर चढ़ाकर मरवाये हुए सन्धिमति के डाइनों द्वारा पुनरुज्जीवन का और उसके द्वारा राज-शक्ति की प्राप्ति का गम्भीर भाव से उल्लेख करते हैं और उनमें विश्वास करते हैं।

हम अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक जगत् में आ जाते हैं जब हम कल्हण को, उन मामलोंकी गणना[3] द्वारा जिनमें राजाओं के लोभ के कारण उनकी प्रजा उनसे विरुद्ध हो गयी थी, यह सिद्ध करते हुए पाते हैं कि दुष्कर्मों का बदला मिलता है। तो भी एक सच्चे ब्राह्मण के रूप में वह यह मानता है कि अन्याय से प्राप्त धन का सदुपयोग, उदाहरणार्थ जब कि उसको ब्राह्मणों को दान में दे दिया जाता है, उसकी प्राप्ति के उपायों में भी पवित्रताधायक होता है। इससे आगे कल्हण इतिहास के किसी दर्शन की ओर नहीं बढ़ते; वे शास्त्रों के स्थिर नियमों के आधार पर केवल व्यक्तिगत कार्यों की समीक्षा करते हैं। इस प्रकार, जो सफलता केवल तलवार से प्राप्तव्य थी उसको कूटनीति से प्राप्त करने के प्रयत्न के लिए कमलवर्धन की मूर्खतापर वे चातुर्य से आलोचना करते हैं,[4] और कृष्णगंगा की घाटी में जयसिंह की असफलता का कारण पर्याप्त सूचना के बिना आक्रमण की मुर्खता

---

१. ७।१४५५ इत्यादि
२. ८।२२४१
३. V. 183 ff., 208 f.
४. V. 456 ff.

और शत्रु के सांमुख्य में समुचित परामर्श का अभाव बतलाते हैं।[१] कश्मीर के शासन की कला के संबन्ध में वे जो कुछ कहना चाहते हैं वह ललितादित्य के मुख से[२] कहलाया गया है। उसका अभिप्राय बहुत कुछ कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार है। पर उसकी यह विशेषता है कि उसमें विशिष्ट परिस्थितियों का उल्लेख है, जो परामर्श दिया गया है उसमें कश्मीर-संबन्धी विशिष्ट रुचि से यह स्पष्ट हो जाता है। सीमावर्त्ती जनजातियों को, भले ही वे कष्टप्रद न हों, कभी चुपचाप न छोड़ देना चाहिए, जिससे वे देश में लूट-मार करके धन-संपन्न न हो जावें। ग्रामीणों को एक वर्ष के खर्च के लिए पर्याप्त अन्न से अधिक जमा नहीं करने देना चाहिए और न उनको अपनी धरती के जोतने की आवश्यकता से अधिक बैल रखने देना चाहिए। उपर्युक्त सिद्धान्त का लक्ष्य डामर लोग थे। वे ग्रामीणों से बलपूर्वक वसूलियाँ करते थे और इससे देश के लिए क्लेशदायक अशान्ति फैलती थी। इसी कारण कल्हण ने उनको दस्यु की उपाधि दी है। सीमावर्त्ती दुर्गों की रक्षा अच्छे ढंग से करनी चाहिए; और उच्च अधिकारों का विभाजन बड़े कुटुम्बों में होना चाहिए, जिससे कि दुर्भावनाओं और षड्यन्त्रों का बचाव हो सके; सब के अन्त में, अस्थिर स्वभाव वाले तथा अविश्वसनीय लोगों की राजभक्ति में विश्वास नहीं करना चाहिए।

हमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है कि कल्हण ने अपने ही इस आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न किया है कि "वही उदार-चित्त कवि प्रशंसा के योग्य होता है जिसका लेख, एक न्यायाधीश के दण्डादेश के समान, भूतकाल के उल्लेख में राग और द्वेष से अपने को पृथक् रखता है।" हर्ष के विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे इस भाव की पुष्टि होती है, क्योंकि कल्हण का पिता हर्ष का एक विश्वासपात्र मन्त्री रह चुका था और स्पष्टतः अपने आश्रयदाता के साथ ही उसका पतन हुआ, परन्तु कल्हण इस भारतीय Nero की भयानक क्रूरताओं की उपेक्षा नहीं करते; यह दूसरी बात है कि उसके अन्त के लिए वे अत्यन्त करुणा का भाव रखते हैं। समीप समय की ऐतिहासिक घटनाओं का उनका वर्णन सत्यता के एक ऊँचे मान को प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है। वह वर्णन ऐसे सूक्ष्म तूलिका-स्पर्शों से पूर्ण है जिनसे वैयक्तिक ज्ञान का अथवा साक्षात् देखने वालों के साक्ष्य की स्वीकृति का अर्थापत्त्या अनुमान होता है, जैसा कि जब वे सूर्यमती के सती होने का अथवा सुस्सल की हत्या[३] का विस्तृत विवरण उपस्थित करते हैं। उनके द्वारा उद्धृत लोक-प्रसिद्ध कहावतों और कथानकों में भी जीवन से

१. VIII. 2521 ff.

२. IV. 344 ff

३. vii. 463 ff. viii. 1287 ff.

उनके लिये जाने का संकेत मिलता है। उनका चरित्रचित्रण भी अत्युत्कृष्ट है। साथ ही पहले की तरङ्गों की अपेक्षा पिछली तरङ्गों में जो पद्धति-विषयक परिवर्तन दीख पड़ता है वह भी साभिप्राय है। पहली तरङ्गों में तुञ्जीन और प्रवरसेन जैसे नायकों का केवल आदर्शरूप काव्यात्मक वर्णन दिया गया है, जब कि पिछली तरङ्गें तुङ्ग, अनन्त, हर्ष और सुस्सल जैसे जीवित-सदृश व्यक्तियों को हमारे सामने रखती हैं; बाण, पद्मगुप्त या बिल्हण में इस प्रकार की कोई बात नहीं है। गौण व्यक्तियों के संबन्ध में उनकी कोमल हास की प्रवृत्ति, जो कभी-कभी ग्राम्य परिहास का रूप धारण कर लेती है, पूर्णतः अवकाश पाती है, जैसा कि उनके समकालीन कुलराज के चित्रण में देखा जाता है, जिसको उसकी योग्यताओं ने एक साहसिक की स्थिति से नगर के अधिनायक पद तक पहुँचा दिया था। वंश-परक जानकारी में उनकी यथार्थता विशेषतः उल्लेखनीय है, और उनका तत्तद्-विशेष-स्थानीय वर्णन Livy जैसे ऐतिहासिक की तुलना में, जिसने आपाततः स्वयं वर्णित युद्ध-क्षेत्रों में से एक को भी कभी साक्षात् नहीं देखा था, उनको उत्कृष्टता प्रदान करता है।

७. कल्हण की शैली

हमें इस बात के लिए खेद करने की आवश्यकता नहीं है कि कल्हण को उनके मुख्य प्रतिपाद्य विषय ने वर्णन की काव्य-शैली में निरत होने का अवसर नहीं दिया। युधिष्ठिर के वनवासार्थ प्रस्थान के और राजधानी में सुस्सल के प्रवेश के जैसे चित्रों में उक्त काव्य-शैली के पर्याप्त उदाहरण हमारे सामने हैं। उनके आधार पर हम सोच सकते हैं कि एक ही आकार में ढले हुए और वैशिष्ट्यहीन ऐसे ही और अधिक अनुकरणों[1] के ग्रन्थ में न देने से हमारी कोई महत्त्व-युक्त हानि नहीं हुई है। शेष कविता का अधिकांश केवल पद्यात्मक गद्य है और उसकी तुलना, केवल भाषा के सौन्दर्य को छोड़ कर, मध्यकालीन पुरावृत्ताख्यानों से की जा सकती है; परन्तु ग्रन्थकार की सच्ची कवित्व-शक्ति अनेक प्रसङ्गों में प्रकट हो उठती है। ११४४ ई० में दरदों के प्रति हिमाच्छन्न पर्वतों पर भोज की भयानक यात्रा का वर्णन[2], अनन्त की अन्त्येष्टि और सूर्यमती का सती होना, जयापीड से आहत ब्राह्मणों और उन ब्राह्मणों के शाप से नष्ट होनेवाले जयापीड का परस्पर संवाद, और सब के अन्त में, हर्ष की अनुचरों द्वारा परित्याग और कष्ट की दुःखमय कथा जिसमें जघन्यता की निष्कृति उसकी अन्तिम आत्मरक्षा की धीरता और उसके हत्यारों में से एक के जीवन के बचाने

१. तु० i. 368 ff.; v. 341 ff.; viii. 947 ff.; 1744 ff. वे खुले रूप में बाण का अनुकरण करते हैं।

२. viii. 2710-14. Stein Claudian, *de bello Getico*, 340 ff. के साथ तुलना करते हैं।

की उदारता में देखने में आती है—ये सब कल्हण के सरल पर गम्भीररूप में प्रभावित करने वाले वर्णन की शक्ति के निर्णायक निदर्शन हैं। संवादों का अथवा व्यवस्थित उक्तियों का प्रयोग ग्रन्थ में केवल शैली-वैविध्य को ही नहीं, अपि तु नाटकीय प्रभाव को भी ला देता है; इस प्रकार उच्चल से राज्यसिंहासन के लिए अपने अधिकार की व्याख्या करवाई गयी है और हर्ष से अपने राजनीतिक आचरण का समर्थन करवाया गया है।[1] अथवा कोई विशिष्ट परिस्थिति अपने स्पष्ट रूप में हमारे सामने लाकर रख दी जाती है, जैसा कि अनन्त और आत्मघात के पूर्व सूर्यमती के संवाद में; अथवा पास में खड़ी हुई जनता के भाव हमारे सामने उपस्थित कर दिये जाते हैं, जैसा कि भिक्षाचर के पतन पर सैनिकों और डामरों की टीकाटिप्पणियों में।[2] दूसरी ओर हम ग्रन्थ की अस्पष्टता को रख सकते हैं जिसके विषय में किसी प्रश्न का अवसर नहीं है। उस अस्पष्टता के कारण हैं—कुछ अंशों में तो किसी तथ्य के कथन में सरल शब्दावली के स्थान में लाक्षणिक भाषा का प्रयोग,और कुछ अंशों में अपने समय के कश्मीर की ठीक-ठीक परिस्थितियों के संबन्धमें भावी सन्तान के अज्ञान के प्रति कवि की उदासीनता। इसी से कल्हण मान लेते हैं कि हमें उन परिस्थितियों का ज्ञान है और इसी लिए उनका उल्लेख ऐसे शब्दों में किया गया है जो अब स्पष्टतया अपने भाव को प्रकट नहीं करते, अथवा किसी व्याख्या के विना पारिभाषिक अर्थों में शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है, जैसे कम्पन, सेना, मुख्य अधिकार; द्वार, सीमान्तवर्त्ती रक्षा-स्थान सीमान्त प्रदेश का अधिकार; पादाग्र, उच्च राज्य-कर-पद; और पर्षद्, पुरोहित-परिषद्। कष्ट का एक दूसरा कारण एक ही नाम के विभिन्न रूपों का प्रयोग है, उदाहरणार्थ लोष्ठक, लोठक और लोठन, और व्यक्तियों का उनके पद के नाम से उल्लेख, या ऐसे पद के नाम से उल्लेख जो अब प्रचलित नहीं है।

कल्हण को अपने वर्णन के प्रवाह में आगे दिखलाये हुए उपायों द्वारा विभिन्नता लाने में आनन्द आता है। वे उपाय हैं—वैदग्ध्य-पूर्ण उपमाएँ, विरोधाभास, शब्दश्लेष अथवा वक्रोक्ति; और श्लोक वृत्त की सादगी को ऐसे नीतिपूर्ण अथवा उपदेशपूर्ण और अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत शैली से युक्त पद्यों को बीच बीच में रख कर बदल देना जिनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक जटिल, पर प्रायः रमणीय और ललित, होती है, और विचार, मौलिक न होने पर भी प्रायः न्याय्य और महत्त्व पूर्ण होते हैं। निम्नस्थ पद्य में वे कविता के मूल्य को प्रभावपूर्ण और सुन्दर ढंग से अनुभव करते हैं :

---

१. vii. 1281 ff., 1416 ff.

२. vii. 423 ff., 1704 ff., 1725 ff.

भुजतरुवनच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया ।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ।।

'हम स्वभाव से महान् उस कवि-कर्म को नमस्कार करते हैं, जिसके अनुग्रह के विना वे नृपतिगण भी विस्मृत हो जाते हैं जिनकी भुजाओं रूपी तरुवन की छाया में समुद्ररूपी मेखला से युक्त यह पृथ्वी सब ओर से निर्भय होकर रही थी।' अथवा, दूसरे रूप में :

येऽप्यासन्निभकुम्भशायितपदा येऽपि श्रियं लेभिरे
येषामप्यवसन् पुरा युवतयो गेहेष्वहश्चन्द्रिकाः ।
ताँल्लोकोऽयमवैति लोकतिलकान् स्वप्नेऽप्यजातानिव
भ्रातः सत्कविकृत्य किं स्तुतिशतैरन्धं जगत्त्वां विना ।।

'जो हस्तियों के कन्धों पर अपने पैरों को रखते थे, जिन्होंने लक्ष्मी को प्राप्त किया था और जिनके घरों में दिन में चन्द्रिका-रूप युवतियाँ निवास करती थीं; ऐसे भुवन-भूषणों को भी यह लोक समझता है मानो वे स्वप्न में भी उत्पन्न नहीं हुए थे। अयि भाई सत्कवि-कृत्य ! अनेक स्तुतियों से क्या, बात तो यह है कि तुम्हारे विना जगत् अन्धा है।' तारापीड के दुष्कृत्यों की समाप्ति उसके द्वारा ब्राह्मणों पर आक्रमण में और उसकी मृत्यु में हुई थी :

यो यं जनापकरणाय सृजत्युपायं
तेनैव तस्य नियमेन भवेद्विनाशः ।
धूमं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्निर्
भूत्वाम्बुदः स शमयेत् सलिलैस्तमेव ।।

'जो जिस उपाय को दूसरे के अपकार के लिए बनाता है उसका अवश्य ही उसी से विनाश हो जाता है। अग्नि आँखों को अन्धा करनेवाले जिस धूम को उत्पन्न करती है, वही मेघ बनकर जलों से उस (अग्नि) को शान्त कर देता है।' जिनका मन्दिर मधुमक्षिकाओं से रक्षित था, जो उसके पास जाने का प्रयत्न करनेवाले मनुष्य को अस्थि-शेष कर देती थीं, वे भ्रमरवासिनी देवी सुन्दर रूप में हमारे सामने आती हैं :

भास्वद्बिम्बाधरा कृष्णकेशी सितकरानना ।
हरिमध्या शिवाकारा सर्वदेवमयीव सा ।।

'भास्वद्बिम्ब के समान अधरवाली, कृष्ण-केशवाली, चन्द्रमा के सदृश मुखवाली, हरि (सिंह) के समान मध्यवाली और शिव आकारवाली वह मानो सर्व-देव-मयी थी।' उक्त पद्य में भास्वद्, कृष्ण, सितकर, हरि और शिव इन विशेषणों से

क्रमशः सूर्य, कृष्ण, सोम, हरि और शिव इन देवों की प्रतीति होती है। स्त्रियों की सुन्दरता के विरोध में उनके चरित्र पर एक तीक्ष्ण आक्रमण इस प्रकार किया गया है:

अवकाशः सुवृत्तानां हृदयेऽन्तर्न योषिताम्।
इतीव विदधे धाता सुवृत्तौ तद्बहिः कुचौ॥

'स्त्रियों के हृदय के अन्दर सुवृत्तों (सद्वृत्तों) के लिए अवकाश नहीं है। इसी कारण से मानो विधाता ने दोनों सुवृत्त (वृत्ताकार) कुचों को उस (हृदय) के बाहर बनाकर रखा है।' बुद्धिमान् राजा संपत्ति के अस्थिर स्वरूप से परिचित था:

गोभुजां वल्लभा लक्ष्मीर्मातङ्गोत्सङ्गलालिता।
सेयं स्पृहां समुत्पाद्य दूषयत्युन्नतात्मनः॥

'गोभुजों (पृथ्वीपतियों अथवा गोमांसभक्षियों) की वल्लभा और मातङ्गों (हस्तियों) के उत्सङ्ग (पृष्ठ) पर लालित (अर्थान्तर में, चाण्डाल की गोद में लालित) वह यह लक्ष्मी स्पृहा को उत्पन्न करके उन्नतात्मा पुरुषों को दूषित कर देती है।' राजाओं के चापलूसों की जोरदार भर्त्सना की गई है:

कर्णे तत्कथयन्ति दुन्दुभिरवैः राष्ट्रे यदुद्घोषितं
तन्नम्राङ्गतया वदन्ति करुणं यस्मात्त्रपावान् भवेत्।
श्लाघन्ते यदुदीर्यतेऽरि(?तु रिपु)णाप्युग्रं न मर्मान्तिकृद्
ये केचिन्ननु शाठ्यमौग्ध्यनिधयस्ते भूभृतां रञ्जकाः॥

'राष्ट्र में जिसकी उद्घोषणा दुन्दुभि द्वारा की जा चुकी है उसको वे राजाके कान में कहते हैं, जिससे उसको लज्जा हो उसको वे दुःख के साथ नीचे झुककर कहते हैं, जिसको शत्रु भी नहीं कहेगा ऐसी मर्मभेद करनेवाली उग्र बात की वे श्लाघा करते हैं; वास्तव में जो शठता और मूर्खता के निधि होते हैं ऐसे ही लोग राजाओं की चापलूसी किया करते हैं।'

८. अप्रधान ऐतिहासिक काव्य

भारत में कल्हण की कृति के साथ तुलना करने के योग्य कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। इसलिए अवशिष्ट ऐतिहासिक काव्यों का केवल संक्षिप्त उल्लेख ही पर्याप्त होगा। एक दूसरे कवि जल्हण ने, जिनका मङ्ख ने अलंकार की सभा के एक सभासद के रूप में वर्णन किया है, अपने **सोमपालविलास**[1] में सुस्सल से पराजित राजपुरी के राजा सोमपालविलास (?=सोमपाल) के जीवन का विवरण दिया है। धर्मात्मा पर अत्यन्त शुष्कलेखक जैन-मुनि हेमचन्द्र (१०८८–११७२) ने अणहिल्वाड़ के चौलुक्य राजा कुमारपाल के सम्मान में, ११६३ के

१. तु० राजतरङ्गिणी, viii. 621 f.

लगभग, जब कि वह जीवित था और अपनी कीर्ति के शिखर पर था, अपना **कुमारपालचरित**[1] अथवा **द्व्याश्रयकाव्य** लिखा। उक्त काव्य को **द्व्याश्रयकाव्य** कहने का कारण यह है कि इसके दो भाग हैं, प्रथम भाग में बीस सर्ग हैं और वह संस्कृत में है और द्वितीय भाग आठ सर्गों में तथा प्राकृत में है ; साथ ही ऐतिहासिक लक्ष्य के साथ-साथ निश्चितरूप से व्याकरण-संबन्धी भी इसका लक्ष्य है, क्योंकि अपने ही व्याकरण में दिये हुए संस्कृत तथा प्राकृत व्याकरणों के नियमों के उदाहरणों को दिखाना भी काव्य का प्रयोजन है। यह ठीक है कि इस काव्य में अपने नायक के पूर्वजों का कुछ वृत्त सम्मिलित है और चौलुक्यों के इतिहास के लिए इसका स्पष्टतया मूल्य है। परन्तु हेमचन्द्र एक सच्चे जैनी थे; वे अपने धर्म के उत्साही प्रचारक थे और अपने धर्म में आस्था के कारण उन्होंने वस्तुओं और घटनाओं को विकृत रूप में देखा है। जैन-धर्म के प्रचार के संबन्ध में उनकी सफलता इससे सिद्ध होती है कि कुमारपाल के शासन का वर्णन करते हुए काव्य के सोलहवें सर्ग से बीसवें सर्ग तक जो कुछ कहा गया है वह कम से कम सारतः यहाँ तक सत्य है कि कुमारपाल जैनधर्म के सिद्धान्तों का सच्चा अनुयायी था, जिसने अत्यन्त कठोर दण्ड का विधान करते हुए पशु-हिंसा का निषेध कर दिया था तथा अनेकानेक जैन-मन्दिरों का निर्माण किया था और जो निश्चितरूप में जैन-धर्म की पक्षपातिनी नीति का अनुसरण करता था।

पृथ्वीराजविजय[2] नामक काव्य का दुर्भाग्य-वश केवल एक खण्डित और भ्रष्ट हस्तलेख अवशिष्ट है। इसका भी कुछ ऐतिहासिक महत्त्व ह। इसमें अजमेर और देहली के चाहमान राजा पृथ्वीराज की विजयों का वर्णन है। पृथ्वीराज ने ११९१ में सुलतान शहाबुद्दीन ग़ोरी पर एक बड़ी विजय प्राप्त की थी, यद्यपि कुछ ही काल के अनन्तर उसका सर्वनाश हो गया और वह मारा गया। यह कविता पृथ्वीराज के जीवनकाल में संभवतः उक्त विजय के ठीक अनन्तर ही लिखी गई थी, यद्यपि इसके अपूर्ण होने से यह केवल अनुमान ही है। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है, परन्तु वह एक कश्मीरी हो सकता है, जैसा कि उसके द्वारा बिल्हण की शैली के अनुकरण से प्रतीत होता है ; अवतरणिका का उसका ढंग, जिसमें उसने भास का उल्लेख किया है (इस बात के पक्ष में है); और इससे भी उक्त बात की पुष्टि होती है कि जयरथ ने अपनी **अलंकारविमर्शिनी** (लगभग १२००) में उसका उल्लेख किया है और कश्मीर के जोनराज (लगभग १४४८) ने उसके ग्रन्थ पर टीका की है।

---

१. Ed. BSS. 60,69,76,1900-21; Bühler, *Hemachandra*, pp. 18 f., 43.

२. Har Bilas Sarda, JRAS. 1913, pp. 259 ff.; ed. BI. 1914-22.

गुजरात के वाघेला नृपतिद्वय लवणप्रसाद और वीरधवल के एक मन्त्री के कारण दो प्रशस्ति-काव्यों की रचना की गई थी। उनमें से प्रथम है, सोमेश्वर-दत्त (?-देव) (११७९–१२६२) की **कीर्त्तिकौमुदी**।[१] उन्होंने अनेक अभिलेखों की भी रचना की थी, जिनमें **कीर्त्तिकौमुदी** के पद्य यत्र-तत्र आजाते हैं; इसमें वस्तुपाल का गुणगान किया गया है, जो स्पष्टतः एक उदाराशय व्यक्ति था, और बहुत करके भारतीय इतिहास में सुप्रसिद्ध आदर्श का एक श्रेष्ठ मन्त्री था। एक काव्य की दृष्टि से **कीर्त्तिकौमुदी** साधारण महत्त्व की रचना है, परन्तु यह भारतीय सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विभिन्न अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। इसी ग्रन्थकार के **सुरथोत्सव**[२] काव्य में पन्दरह सर्ग हैं। आपाततः यह पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है, तो भी हो सकता है कि यह एक राज-नीतिक रूपक ही हो, क्योंकि इसका अन्त कवि के अपने ही जीवन-वृत्त से होता है, जो बात वाण के **हर्षचरित** में और बिल्हण में भी दृष्टिगोचर होती है, और इसमें पुनः वस्तुपाल का निर्देश किया गया है। तेरहवीं शताब्दी में ही लिखा गया अरिसिंह का **सुकृतसंकीर्तन**[३] साक्षात् रूप में एक प्रशस्ति-काव्य है। इसमें ग्यारह सर्ग हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता सोमेश्वर देव के लेखों की परख में सहायक होने में है। एक शताब्दी के बाद लिखा गया सर्वानन्द का **जगडूचरित**[४] उस धर्मात्मा जैन गृहस्थ का एक प्रशस्ति काव्य है जिसने गुजरात में १२५६–८ के भीषण दुर्भिक्ष में नई दीवालों के निर्माण द्वारा तथा और प्रकार से अपने नगर के निवासियों की बड़ी सहायता की थी। सात सर्गों की इस कविता की रोचकता इस बात में है कि इसमें एक साधारण व्यापारी के संबन्ध में प्रायेण प्रचलित आश्चर्यजनक बातों और उपाख्यानों को कहा गया है। परन्तु एक काव्य के रूप में यह ग्रन्थ निकम्मा है, और भाषा तथा छन्द दोनों में यह समकालीन पद्यात्मक जैन उपाख्यानों से किसी प्रकार अच्छा नहीं है।

अन्यत्र अपेक्षाकृत अधिक अस्पष्टता के साथ उल्लिखित ऐतिहासिक घटनाओं के विशेष विवरणों को देने के कारण संध्याकर नन्दी के **रामपालचरित**[५] का कुछ महत्त्व है। इसम लगभग १०८४–११३० के समय में राज्य करने वाले

---

१. Ed. A. V. Kathvate, BSS. 25, 1883.

२. Ed. KM. 73, 1902.

३. G. Bühler, *Das Sukrtasamkirtana des Arisimha* (1889).

४. G. Bühler, *Indian Studies*, i (1892).

५. Ed. हरप्रसाद शास्त्री, *A.S.B. Memoirs*, III. i (1910). Cf. EI.ix. 321; EHI. p. 416; above, p. 169.

बंगाल के बलवान् राजा रामपाल के, जिन्होंने अपना कुलक्रमागत राज्य-सिंहासन अपहर्ता भीम से वापिस लिया था और मिथिला को जीता था, वीरकर्मों का वर्णन है, शम्भु का **राजेन्द्रकर्णपूर**[१] कश्मीर के हर्षदेव की प्रशस्ति है, जिसके दरबार में उसने **अन्योक्तिमुक्तालताशतक** की रचना की थी। उक्त कविता का ,कोई बड़ा वैशिष्ट्य नहीं है।

अन्त में उन कश्मीरी लेखकों के संबन्ध में भी कुछ कहना उचित होगा जिन्होंने **राजतरङ्गिणी**[२] के विषय को आगे जारी रखा था। जोनराज ने, जिनकी मृत्यु १४५९ में हुई, उस काम को उसी शैली में सुलतान ज़ैनुल आब्दीन् के राज्य तक आगे बढ़ाया ; उनके शिष्य श्रीवर ने **जैनराजतरङ्गिणी** में चार भागों में १४५९-८६ के काल का इतिहास लिखा। प्राज्यभट्ट और उनके शिष्य शुक ने **राजावलिपताका** में अकबर द्वारा कश्मीर को अपने राज्य में सम्मिलित किये जाने के कुछ वर्ष बाद तक के इतिहास का वर्णन किया है। इन लेखकों की कृतियों में मौलिकता और वैशिष्ट्य का अभाव है ; श्रीवर निर्लज्जता से कल्हण से आदान करता है, और, यद्यपि उन्होंने एक लम्बे काल का वर्णन किया है, तो भी उनका समस्त कार्य **राजतरङ्गिणी** के आधे से अधिक नहीं है; वे घटनाओं के वर्णनों को अत्यधिक बढ़ा देते हैं, और भौगोलिक बातों में उनका कथन कल्हण की अपेक्षा बहुत कम यथार्थ है।

---

१. Ed. KM. i. 22 ff.

२. Ed. Calcutta, 1835; Bühler, *Report*, p. 61; Stein, राजतरङ्गिणी, ii. 373

८

भर्तृहरि, अमरु, बिल्हण और जयदेव

१. भर्तृहरि

कवियों के किसी काल-निर्धारण के अभाव में संस्कृत गीतिकाव्यों[१] तथा सूक्ति-पद्यों का कोई इतिहास लिखना असम्भव है। अप्रधान कविताओं के अतिरिक्त जिनकी चर्चा बाद में की जायगी, कालिदास के पश्चात् इस प्रकार के पद्यों की, जिनमें भारतीय कवि निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट हैं, हमारी सबसे प्रथम उत्कृष्ट रचना भर्तृहरि के शतकों में पाई जाती है। अपने वर्तमान रूप में, वे हमें विभिन्न छन्दों में सिद्धान्ततः सौ सौ पद्यों के तीन संग्रहों---**शृङ्गारशतक**, **वैराग्यशतक** और **नीतिशतक**--के रूप में प्राप्त हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसी रचना में प्रक्षेप तथा विस्तार की सम्भावना है, और ग्रन्थ के किसी निश्चितरूप तक पहुँचना, जिसको हम हेतुपूर्वक मौलिक कह सकें, प्रायेण हमारी सामर्थ्य के बाहर है। केवल यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक शतक के बहुत से पद्यों के संबन्ध में हस्त-लिखित पोथियों के साक्ष्य के ऐक्य के आधार पर मूलग्रन्थ का बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। भ्रम में डालने वाली एक बात यह है कि इन संग्रहों में **तन्त्राख्यायिका**, कालिदासकृत **शकुन्तला**, और विशाखदत्तकृत **मुद्राराक्षस** जैसे प्रख्यात ग्रन्थों के पद्य पाये जाते हैं, और उनमें ऐसे भी पद्य हैं जो सुभाषित-संग्रहों में भर्तृहरि से अतिरिक्त दूसरे लेखकों के बताए गए हैं। यदि सुभाषितसंग्रह विश्वसनीय होते, तो उपर्युक्त तथ्यों से महत्त्वपूर्ण परिणामों को निकालना सम्भव होता, परन्तु, उनके भ्रान्तियों से पूर्ण और बहुधा परस्पर विरुद्ध होने के कारण, उनसे काल-निर्धारण सम्बन्धी कोई परिणाम निकालना अथवा इन उल्लेखों से या वस्तुतः अन्य ग्रन्थों से लिए गए पद्यों से इन शतकों को वास्तव में प्राचीन सुभाषित-संग्रह सिद्ध करने के मत के लिए किसी आधार को ढूँढना दुराशामात्र है[२]।

भारतीय परम्परा, जिसमें से कोई भी प्राचीन नहीं है, इन शतकों को असंदिग्ध रूप से एक व्यक्ति की कृति समझती है और उन्हें सुभाषित-संग्रह नहीं

---

१. Cf. P. E. Pavolini, *Poeti d'amore nell' India* (Florence, 1900).

२. Cf. Peterson, **सुभाषितावलि**, pp. 74 f.; Aufrecht, *Leipzig Catal.* No. 417; Hertel, WZKM. xvi. 202 ff.; Pathak, JBRAS. xviii. 348.

मानती। दुर्भाग्य से इस व्यक्ति की कोई स्पष्ट स्मृति नहीं बची, परन्तु इस बात के कालिदास पर भी समानरूप से लागू होने के कारण एकमात्र निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि कालिदास के समान प्रस्तुत लेखक भी पर्याप्त प्राचीन काल में उत्पन्न हुआ था, जब कि लेखक-गण स्वरचित काव्यों में आत्म-विषयक उल्लेखों द्वारा अपनी स्मृति को भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित कर देने के प्रति पर्याप्त रूप से सजग न हुए थे। परन्तु बौद्ध यात्री इत्सिङ्ग से हमें ज्ञात होता है कि उसके लिखने से लगभग चालीस वर्ष पहले, अतः लगभग ६५१ में, भारत में भर्तृहरि-नामक एक वैयाकरण की मृत्यु हुई थी, जो निश्चय ही भारतीय व्याकरण-शास्त्र की अन्तिम मौलिक कृति **वाक्यपदीय** का लेखक था। उसके सम्बन्ध में इत्सिङ्ग[1] यह कथा कहता है कि उसका मन विरक्त तथा गृहस्थ जीवन के बीच में सदा दोलायमान रहा और वह सात बार मठ और संसार के बीच में आता-जाता रहा जैसा कि बौद्धों के लिए अनुज्ञात है। एक अवसर पर जब वह बौद्ध-विहार में प्रवेश कर रहा था उसने एक विद्यार्थी से अपने लिए बाहर एक रथ सज्जित रखने को कहा, जिससे कि उसके दुःसाध्य निश्चय पर यदि सांसारिक इच्छाएँ काबू पा जाएँ तो वह उस पर चढ़कर जा सके। इत्सिङ्ग एक ऐसे पद्य को उद्धृत भी करता है जिसमें भर्तृहरि ने दोनों प्रकार के जीवनों के प्रति आकर्षणों के बीच एक को चुनने में अपनी असमर्थता के लिए स्वयं को धिक्कारा है। अतः मैक्सम्यूलर[2] (Max Müller) का यह सुझाव स्वीकार करना स्वाभाविक है कि यहाँ शतकों के रचयिता भर्तृहरि का उल्लेख है, यद्यपि यह निश्चित है कि इत्सिङ्ग वास्तव में शतकों का उल्लेख नहीं करता। क्योंकि जिन अस्पष्ट शब्दों में इत्सिङ्ग मानव-जीवन के सिद्धान्तों के विषय में उसकी रचना का उल्लेख करता है, उनसे वास्तव में शतकों का निर्देश नहीं समझा जा सकता। यह भी स्पष्ट है कि शतकों में भर्तृहरि बौद्ध नहीं हैं, यद्यपि बौद्धों की भाँति वे तृष्णा से मुक्ति तथा वैराग्य का प्रतिपादन करते हैं; प्रत्युत वे वेदान्तकोटि के शैव हैं, जो शिव को ब्रह्मरूप अन्तिम सत्य का उत्कृष्टतम पूर्ण रूप समझते हैं। हम यह कल्पना अवश्य कर सकते हैं कि भर्तृहरि कभी राजदरबारी थे—जैसा कि समृद्धिशाली पुरुषों की सेवा करने के दुःखों पर उनके विचार सिद्ध करते हैं—साथ ही वे शैव थे, और यह कि वृद्धावस्था में वे बौद्ध बन गए थे, तथा इत्सिङ्ग को या तो उनके शतकों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं था या उसने जानबूझ कर उनकी उपेक्षा की है। यह भी सम्भव है कि बौद्ध मत के अनुसन्धान के पश्चात् उन्होंने उसका त्याग करने का निश्चय किया हो और उसके

---

१. *Records of the Buddhist Religion*, pp. 178 ff.; cf. Erm. La Terza, OC. XII, i. 201 f.
२. *India* (1883), pp. 347 ff.

बाद शतकों की रचना की हो। यदि इस प्रकार का तथ्य इत्सिङ्ग को ज्ञात भी होता तो भी वह प्रसन्नतापूर्वक उसको न लिखता। या, यदि भर्तृहरि केवल एक संग्रहकर्ता ही होते, तो भी कठिनाई दूर हो जाती। जो भी हो, यह कह देना चाहिए कि उक्त सूचनाओं को कवि और वैयाकरण रूप दो भर्तृहरियों के विषय में, जिनमें से प्रथम प्राचीनतर था, इत्सिङ्ग का भ्रम कह कर समझा देना सम्भाव्य नहीं है, क्योंकि बड़े ठोस साक्ष्य के आधार पर यह दिखाया जा चुका है[1] कि वैयाकरण भर्तृहरि वस्तुतः बौद्ध-मतानुयायी था। यह तथ्य उसके ग्रन्थ की उपेक्षा किए जाने की बात का बहुत सीमा तक समाधान कर देता है। अन्ततोगत्वा इसी बात की अधिकतम सम्भावना प्रतीत होती है कि मैक्सम्यूलर का अनुमान ठीक है।

संग्रह का प्रश्न तो और भी अधिक कठिन है। इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि अपने संग्रहों में भर्तृहरि ने स्वरचित पद्यों के साथ साथ दूसरों के पद्य भी ग्रहण किए हों। कम से कम **नीति-शतक** तथा **वैराग्य-शतक**[2] के विषय में इस सम्भावना का निषेध करने के लिए कोई संतोष-जनक आधार प्राप्त करना कठिन है। **शृङ्गारशतक**[3] की बात भिन्न है। निःसन्देह उसका अपना एक निश्चित आकार-प्रकार है, जो एक कुशल संग्रहकर्ता का काम हो सकता है, परन्तु उसे एक सर्जनशील प्रतिभा की कृति मानने का सुझाव अधिक स्वाभाविक है। **शृङ्गारशतक** स्त्रियों के सौन्दर्यचित्रों से और वर्ष की परिवर्तनशील ऋतुओं के साथ बदलने वाले प्रेम के भावों तथा उसकी सफलता के सुखों से आरम्भ होता है। तत्पश्चात् वे पद्य आते हैं जिनमें मनुष्य को तप तथा ज्ञान से प्राप्त होने वाली शाश्वत शान्ति से संभोगसुखों का वैसा दृश्य प्रदर्शित किया गया है। अन्त में कवि इस निश्चय पर पहुँचता है कि सौन्दर्य एक प्रवञ्चना तथा जाल है, मनुष्य के जीवन-पथ में आपाततः मधुर लगने वाली स्त्री सर्प की भाँति विषैली है, प्रेम सांसारिक आसक्ति की ओर ही ले जाता है, और मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य वैराग्य तथा शिव अथवा ब्रह्म में निहित है। अतः इस मत को हम प्रायः निश्चित मान सकते हैं कि अन्य दो शतकों की अपेक्षा यह शतक अधिक रूप से एक व्यक्ति की रचना दिखाई पड़ता है। पर हमें यह भी नहीं सोचना चाहिए कि भारतीय कवियों की सामान्य प्रवृत्ति के विपरीत भर्तृहरि के कोई ऐसे विचार थ जो उन्हें अपनी कविता में किसी पूर्व कवि के पद्य सम्मिलित करने से रोकते और विशेष कर के उस अवस्था में जब उसके पद्यों में उन्होंने थोड़ा सा परिष्कार कर लिया हो। इस सम्बन्ध में उक्त शतक-त्रय को

---

१. Pathak, JBRAS. xviii. 341 ff.
२. Ed. . T. Telang, BSS. 11, 1885.
३. Ed. P. von Bohlen, Berlin, 1883; NSP. 1914.
Cf. Winternitz, GIL. iii. 139 f.

भर्तृहरि-कृत माननेवाली भारतीय परम्परा की एकरूपता को अवश्य ही कुछ महत्त्व देना होगा, और जिस प्रकार चाणक्य इस नाम की कीर्त्ति के कारण चाणक्य-नीति-शास्त्र से उसको सम्बद्ध कर दिया गया है, उस प्रकार इन शतकों को भी भर्तृहरि के नाममात्र से सम्बद्ध कह कर उक्त परम्परा को नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि भर्तृहरि का नाम अन्य किसी कारण से पूर्वप्रसिद्ध नहीं है।

भर्तृहरि को प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य का भाई बताने वाले आख्यानों से इतिहास अथवा कालनिर्द्धारण के लिए उपयोगी कोई भी तथ्य नहीं प्राप्त हो सकता, और न भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टि के साथ उनकी अभिन्नता स्थापित करने के प्रयत्न में ही कुछ भी सच्चाई का अंश है।

भर्तृहरि की कविता संस्कृत को उत्कृष्टतम रूप में प्रदर्शित करती है। महाकाव्यों में जीवन और गति का अभाव है, उनके पात्र बँधे हुए ढंग के हैं, और उनके वर्णन विवरण की दृष्टि से प्रशंसनीय होते हुए भी अतिजटिलता की ओर उन्मुख होते हैं जिससे उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है। भर्तृहरि के काव्य में प्रत्येक पद्य साधारणतः अपने में पूर्ण है और एक भाव को, चाहे वह शृङ्गार-विषयक, वैराग्य-विषयक अथवा नीति-विषयक हो, सुरुचिपूर्ण परिष्कार और पूर्णता के साथ प्रकट करता है। संस्कृत भाषा में सङ्कोच की जो विलक्षण शक्ति है वह यहाँ अपने उत्कृष्टतम रूप में दिखाई देती है; मस्तिष्क पर पड़ने वाला प्रभाव एक पूर्ण अवयवी का होता है जिसमें अवयव आन्तरिक आवश्यकता के कारण परस्पर संयुक्त हो जाते हैं। मस्तिष्क पर इस प्रकार पड़ने वाला प्रभाव अँग्रेज़ी जैसी विश्लेषणात्मक भाषा में उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। अंग्रेज़ी में उसी प्रकार के अर्थ को ऐसे एक ही वाक्य द्वारा नहीं प्रकट किया जा सकता जिसके अवान्तर वाक्य वाक्यविन्यास की दृष्टि से, उसके द्वारा अभिहित अर्थ के समान, एक ही पूर्ण वाक्य में पर्यवसित हो जाते हों। प्रत्युत उसको शिथिलतापूर्वक सम्बद्ध अनेक विधेयों द्वारा ही व्यक्त करना आवश्यक होता है। आधुनिक कविता की विश्लेषणात्मक पद्धति के विपरीत, प्राचीन गीति एवं नीति काव्य के कवियों के सर्वोत्तम पद्यों द्वारा उत्पन्न किया जाने वाला प्रभाव मूलतः समन्वयात्मक (synthetic) होता है और इसीलिए इस प्रकार के पद्यों की शृङ्खला मस्तिष्क पर निश्चय ही बहुत भारी बोझ बन जाती है। परन्तु ये ही पद्य व्यक्तिशः देखे जाने पर, जैसे कि उनको देखना चाहिए, ग्रीक सुभाषित-संग्रह[1] के पद्यों की भाँति, हमारे समक्ष प्रायेण असंख्य देदीप्यमान कविताएँ प्रस्तुत करते हैं, जिनमें प्रायः कोई सुधार करना कठिन है। यह स्मरणीय है कि लम्बे छन्दों का प्रयोग संस्कृत भाषा के कवि को एक सुगठित अंग्रेज़ी सॉनेट (sonnet)

---

१. Cf. J. W. Mackail, *Select Epigrams from the Greek Anthology* (1906).

में भर सकने योग्य सामग्री का संकोच करके उसको एक ही पद्य में रखने का अवसर प्रदान करता है, जिससे विचार अथवा अभिव्यक्ति को अत्यन्त संकुचित सीमा में नियन्त्रित करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

भर्तृहरि के अपनी बात कहने के कई ढंग हैं। उन्होंने महामना पुरुष का इस प्रकार चित्रण किया है :

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

'विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में नमृता, सभा-भवन में बोलने की निपुणता, युद्ध में शौर्य, यश म इच्छा, वेदों में (अथवा अध्ययन) में व्यसन, ये महात्माओं की स्वभावसिद्ध बातें हैं', उनके द्वारा प्रस्तुत जीवन की अवस्थाओं का चित्र प्रभावोत्पादक है :

आयुर्वर्षशतं नृणां (+परिमितं) रात्रौ तदर्धं गतम्,
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरम्बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते,
जीवे वारितरङ्गबुद्बुदसमे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ?

'मनुष्य की आयु सौ वर्ष नियत है; उसकी आधी सोने में निकल जाती है; बचे हुए की आधी बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में बीत जाती है; अवशिष्ट आयु व्याधि, वियोग, और दुःखों के साथ सेवा इत्यादि में व्यतीत हो जाती है। समुद्र की लहर पर बुलबुले के सदृश अस्थिर इस जीवन में प्राणियों को सुख कहाँ है।' मनुष्य के जीवन के कार्यों का चित्रण अपनी ही शैली में सुन्दरता के साथ किया गया है और उसमें उतना ही परिष्कार है जितना शेक्सपियर (Shakespeare) की कविता में :

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनु-
र्नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम्॥

'क्षणभर के लिए मनुष्य बालक रहता है और क्षणभर के लिए कामासक्त युवा, एक क्षण में धनहीन, और दूसरे क्षण वैभव से सम्पूर्ण हो जाता है; फिर जीवन के अन्त में वृद्धावस्था से जीर्ण अङ्गों तथा झुर्रियों से पूर्ण शरीर वाला वह नट की भाँति मृत्यु की यवनिका के पीछे चला जाता है।' जीवन की नितान्त असन्तोषजनकता का आग्रहपूर्ण वर्णन है :

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा यात्युत्तमं यौवनं
सन्तोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः ।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ?

'जीवन मृत्यु से आक्रान्त है; वृद्धावस्था के कारण श्रेष्ठ यौवन नष्ट हो जाता है; धन की तृष्णा से सन्तोष, और धृष्ट स्त्रियों के हावभावों से शान्ति का सुख चला जाता है; ईर्ष्यालु पुरुषों से गुण, साँपों से वनप्रदेश, दुष्टजनों से राजा और अस्थिरता से ऐश्वर्य उपहत हैं। ऐसी कौन सी वस्तु है जो किसी से ग्रस्त नहीं है या किसी को ग्रस्त नहीं करती ?' सब वस्तुओं को स्मृति-शेष कर देने वाली काल की शक्ति को सशोक स्वीकृत किया गया है :

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥

'वह सुन्दर नगरी, वह महान् राजा, वह सामन्तों का समुदाय, उसके पास बनी रहने वाली वह विदग्ध जनों की परिषद्, चन्द्रबिम्ब के समान मुखवाली वे स्त्रियाँ, राजपुत्रों का वह उच्छृङ्खल समूह, वे बन्दिजन, वे कथाएं—ये सारी वस्तुएं जिसके वश में हो कर स्मृतिपथ को प्राप्त हो गईं उस काल को नमस्कार है।' तो भी मनुष्य अपने भाग्य से बेख़बर है :

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवनं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

'सूर्य के गमनागमन से प्रतिदिन जीवन क्षीण होता जाता है। बहुत कार्यभार के कारण महत्त्वपूर्ण व्यापारों में फंसे रहने से समय के बीतने का पता नहीं लगता। जन्म, वार्धक्य, विपत्ति तथा मृत्यु देखकर भी भय उत्पन्न नहीं होता। मोहरूपी प्रमाद-मदिरा को पीकर संसार उन्मत्त सा हो गया है।' तपस्वी के जीवन की तुलना बड़ी सुन्दरता के साथ एक राजा के जीवन से की गई है, और शान्तिपूर्ण कोमल हास्य का थोड़ा सा स्पर्श बुढ़ापे के उस चित्र को प्रकाशित करता है जो कवि की स्पृहा का विषय है :

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।

किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्येषु ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जठरहरिणाः शृङ्गमङ्गे मदीये ।।

'ऐसे अच्छे दिन कब आएँगे जब गङ्गा के किनारे हिमगिरि की शिला पर पद्मासन लगा कर बैठे हुए और ब्रह्मविषयक ध्यान के अभ्यास से योगनिद्रा को प्राप्त हुए मेरे अङ्ग पर वृद्ध हरिण शङ्का से रहित होकर अपने सींग खुजलाएँगे ?' जीवन का अन्त परब्रह्मरूप परमतत्त्व में मिलकर उसी में लीन हो जाना है :

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे ज्योतिः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल—
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि ।।

'अयि माता पृथ्वी, पिता वायु, मित्र अग्नि, सुबन्धु जल, भाई आकाश ! आप लोगों को मेरा यह अन्तिम बार करबद्ध प्रणाम है। आप सबके सङ्ग से उत्पन्न हुए पुण्यों के आधिक्य से स्फुरित होने वाले निर्मल ज्ञान से मोह की सारी महिमा को दूर कर के मैं परब्रह्म में लीन हो रहा हूँ।'

भर्तृहरि में वृद्ध-पुरुष इस प्रकार कहता है ; पर भविष्य की चिन्ता से रहित प्रेम की प्रशंसा करने वाले पद्यों में इससे सर्वथा भिन्न विचार उपलब्ध होता है :

अदर्शने दर्शनमात्रकामा, दृष्टौ परिष्वङ्गरसैकलोलाः।
आलिङ्गितायां पुनरायताक्ष्यामाशास्महे विग्रहयोरभेदम् ।।

'जब हम अपनी प्रियतमा को नहीं देखते तो हमारी इच्छा केवल उसके दर्शन की ही होती है, देख लेने पर गाढ़ालिङ्गन की कामना होती है, और उस विशाल नेत्रों वाली का आलिङ्गन कर लेने पर हम मानते हैं कि हमारा और उसका शरीर मिलकर एक हो जाए।' प्रियतमा के प्रत्येक कार्य, प्रत्येक भाव में अपना अलग ही आकर्षण होता है :

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया[1]
पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षणैः।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ।।

'मुस्कान, प्रेम, लज्जा, भय, मुख फेर कर अर्ध-कटाक्ष करके देखना, प्रेमपूर्ण वचन और ईर्ष्यापूर्वक कलह और विलास—इन सभी भावों से स्त्रियाँ बन्धन-स्वरुप होती हैं।' स्त्रियों को अबला कह कर पुकारना तो नितान्त असङ्गत है :

नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा[1]
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्।

याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ?

'वे कविश्रेष्ठ निश्चय ही विपरीत बुद्धि वाले हैं जो सदा कामिनियों को अबला कहा करते हैं। चञ्चलतर कनीनिकाओं वाले जिनके कटाक्ष इन्द्र आदि देवों को भी पराजित कर देते हैं,वे अबला क्योंकर हैं ?' एक दूसरा सुन्दर श्लेष प्रेम की धनुष्मत्ता की बड़ाई करता है :

मुग्धे धनुष्मत्ता (? धानुष्कता) केयमपूर्वा तव दृश्यते ।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥

'अयि मुग्धे ! यह तुम्हारी कौन सी धनुर्धारिता है, जिससे तुम गुणों (प्रत्यञ्चा) से ही चित्तों को वेध देती हो, बाणों से नहीं।' एक आकर्षक चित्र वन में हमें प्रियतमा के दर्शन कराता है :

विश्रम्य विश्रम्य वने द्रुमाणां छायासु तन्वी विचचार काचित् ।
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन निवारयन्ती शशिनो मयूखान् ॥

'वनवृक्षों की छाया में थोड़ा थोड़ा विश्राम कर के स्तनों पर से उत्तरीय हाथ में उठा कर चन्द्रकिरणों का निवारण करती हुई कोई तन्वी चली जाती थी।' स्त्रियों के विषय में दो मत हैं, एक तो उनको सहायक बतलाता है और दूसरा उनको बाधक :

संसारेऽस्मिन्नसारे कुनृपतिभवनद्वारसेवाकलङ्क-
व्यासङ्गध्वस्तधैर्याः कथममलधियो मानसं संविदध्युः ।
यद्येताः प्रोद्यदिन्दुद्युतिनिचयभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः
प्रेङ्खत्काञ्चीकलापाः स्तनभरविनमन्मध्यभागास्तरुण्यः ॥

'इस असार संसार में यदि उदित होते हुए चन्द्रमा की कान्ति-राशि को धारण करनेवाली, कमललोचनों वाली, स्तनों के बोझ से झुकती हुई कमरवाली तथा हिलती हुई छोटी छोटी घंटियों से युक्त करधनियाँ पहने हुए तरुणियाँ न होतीं, तो दुष्ट राजाओं के भवनद्वार पर सेवा करने रूप कलङ्क के सम्बन्ध से नष्ट धैर्य वाले निर्मल-बुद्धियुक्त लोग अपने मन को कैसे समझाते ?'

संसारोदधिनिस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि नार्यो महापगाः ॥

'संसाररूपी समुद्र को पार करने का मार्ग अधिक लम्बा न होता, यदि बीच में नारियों के रूप में बड़ी बड़ी दुस्तर नदियाँ न होतीं।'

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा सञ्चर मनःपान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥

'अरे मनरूपी पथिक ! स्तनरूपी पर्वतों से दुर्गम, कामिनी के शरीररूपी जङ्गल

में मत घूमो। वहाँ कामदेव रूपी चोर रहता है।'

भर्तृहरि के काव्य में प्रधान छन्द शार्दूलविक्रीडित है जो ब्योह्लन (Böhlen) के संस्करण[1] में १०१ पद्यों में पाया जाता है। तदनन्तर ४८ पद्यों में शिखरिणी प्रयुक्त हुई है। श्लोक का प्रयोग ३७ पद्यों में, और वसन्ततिलक का ३५ पद्यों में है। स्रग्धरा और आर्या में से प्रत्येक १८ बार प्रयुक्त है, और आर्या-कोटि का गीतिभेद दो बार पाया जाता है, जो एक पद्य में एक असाधारण रूप में है। अन्य छन्द छितरे हुए हैं, जिनमें इन्द्रवज्राकोटि के वृत्त, मालिनी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, वंशस्था और शालिनी हैं। वंशस्था के एक पद्य में एक चरण इन्द्रवज्रा का सम्मिलित है। रथोद्धता तथा वैतालीय में से प्रत्येक दो बार आते हैं, और दोधक, पुष्पिताग्रा और १६ मात्रा के मात्रासमक का एक-एक उदाहरण है।

२. अमरु

भर्तृहरि के समान ही, अमरु अथवा अमरुक, जिनके नाम की वर्णानुपूर्वी में 'उ' की मात्रा भिन्न भिन्न है, एक रहस्यमय व्यक्ति हैं। भर्तृहरि के शतकों के समान उनका शतक[2] भी हस्तलिखित पोथियों में विभिन्न दशा में प्राप्त होता है, जिसमें पद्यों की संख्या ९० से ११५ तक है। उसके चार पाठों[3] में, जो अपना-अपना वैशिष्टच रखते हैं, केवल ५१ पद्य ही ऐसे हैं जो सब में समान हैं, पर उनके क्रम में बहुत भिन्नता है। इसके अतिरिक्त, शतक में पाये जाने वाले कुछ पद्य सुभाषित संग्रहों में अन्य लेखकों के बताए गए हैं, और इसके विपरीत शतक में न प्राप्त होने वाले कुछ पद्य उनमें अमरु-रचित कहे गए हैं। ग्रन्थ का मूलरूप निश्चित करने के लिए विविध प्रयास किए गए हैं, परन्तु शार्दूलविक्रीडित छन्द वाले पद्यों को ही वास्तविक कहने का सुझाव प्रमाणरहित है। साथ ही, इस सुझाव से हमें केवल ६१ ही पद्य मिलते हैं जिनसे शतक पूरा नहीं होता। प्राचीनतम टीकाकार अर्जुनवर्मा (लगभग १२१५ ई०) द्वारा अभिस्वीकृत पाठ को अधिक प्रामाणिक मानने का सुझाव आपाततः अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है, परन्तु इस विषय में किसी प्रकार की निश्चयात्मकता सम्भव नहीं है।

ग्रन्थकार का काल निश्चित करना भी उसी प्रकार असम्भव है। हमें यह ज्ञात है कि आनन्दवर्धन (लगभग ८५० ई०) द्वारा यह शतक अत्यन्त प्रसिद्धि-

१. Stanzler, ZDMG. xliv. 34 f.; Gray, JAOS. xx. 157 ff.

२. दे० R. Simon, *Das Amaruśataka* (Kiel, 1893); ZDMG. xlix. 577 ff.

३. दक्षिण भारत का (वेमभूपाल की टीका); बङ्गाल (रविचन्द्र); अर्जुनवर्मा द्वारा उपयोग में लाया गया; और एक मिश्रित पाठ (रामरुद्र, रुद्रमदेव)

प्राप्त ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया था, क्योंकि वे इस बात के लिए उसको प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं कि कवि केवल इकेले पद्यों में ही इतनी अधिक रसाभिव्यक्ति कर सकता है कि प्रत्येक पद्य स्वयं में एक लघुकाव्य की भाँति जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त, वामन (लगभग ८०० ई०) ने लेखक के नाम के विना ही अमरुशतक के तीन पद्य उद्धृत किये हैं। इन उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि **अमरुशतक** का काल ७५० ई० से पूर्व का है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि यह रचना कालिदास के समय की है, और इसलिए, भर्तृहरि से प्राचीन है। शिल्पविधान की परिष्कृति तथा परिपक्वता को देखते हुए यह अधिक सम्भावित जान पड़ता है कि कवि ने इसे ६५० ई० के पूर्व नहीं, प्रत्युत पश्चात् लिखा है। दुर्भाग्यवश इस शतक के विषय में जो एकमात्र लेखबद्ध अनुश्रुति मिलती है वह नितान्त मूर्खतापूर्ण है। कहा जाता है कि रति-सुखों का ज्ञान प्राप्त करने के निमित महाज्ञानी शङ्कर ने कुछ समय के लिए कश्मीर के एक राजा के मृत शरीर में अपनी आत्मा को प्रवेश करके उसे पुनरुज्जीवित कर दिया था, और इस शतक में अन्तःपुर की सौ रानियों के साथ उनके अनुभवों का उल्लेख है। टीकाकार रविचन्द्र इसको यहाँ तक लेजाते हैं कि उन्होंने इन पद्यों में एक पारमार्थिक (theosophic) अवान्तरार्थ भी ढूँढ निकाला है। अन्य टीकाकारों के विभिन्न मत हैं। **अमरुशतक** के प्रथम पाठ पर टीका करने वाले वेमभूपाल (१४वीं शताब्दी ई०) ने, ग्रन्थ के हस्तलेखों में अंकित शतक के इस वर्णन का अनुसरण करते हुए कि इसका उद्देश्य शृङ्गाररस की व्याख्या करना है, प्रत्येक पद्य के विषय में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वह अलंकारशास्त्र की पाठचपुस्तकों के वर्णन के अनुसार एक विशिष्ट नायिका की दशा का वर्णन करता है। अन्य टीकाकार इन पद्यों में प्राप्त होने वाले अलङ्कारों के स्वरूपों की व्याख्या करके ही सन्तोष कर लेते हैं। जो भी हो, हमें इस विचार को मन से निकाल देना चाहिए कि रुद्रभट्ट के **शृङ्गारतिलक** की भाँति यह ग्रन्थ भी किसी प्रकार के, अलङ्कारों अथवा नायिकाओं के, भेदों के उदाहरण दने के उद्देश्य से रचा गया था।[1] यह शतक मूलतः प्रेम के चित्रों का एक संग्रह है, और भर्तृहरि के शतक से इसकी भिन्नता इस बात में है कि जहाँ भर्तृहरि बहुत कुछ प्रेम के सामान्य पक्षों और स्त्रियों का जीवन के अङ्गभूत रूप में वर्णन करते हैं, वहाँ अमरु प्रेमियों के सम्बन्ध को चित्रित करते हैं और जीवन के अन्य पक्षों के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं करते। यदि हस्तलिखित पोथियों के मुखपृष्ठ पर उद्देश्य-विषयक

---

१. दे० रुद्र का पिशेल (Pischel) द्वारा संस्करण, पृ० ९–११.

उल्लेख का कुछ मूल्य है, तो यह सम्भव है कि लेखक ने जीवन के अन्य पक्षों को भी उदाहृत करने की कोई योजना बनाई हो, किन्तु यह निरर्थक कल्पना मात्र है। अधिक पाने की चाह छोड़ कर, जो कुछ हमें उनसे प्राप्त हुआ है वह उनके प्रति हमारे आभारी होने के लिए पर्याप्त है।

अमरु को प्रसन्नता और उत्साह से युक्त, छोटे मोटे झगड़ों और प्रणय-कलहों में आनन्द प्राप्त करने वाला, परन्तु स्मितों में पर्यवसित होने वाला प्रेम अच्छा लगता है। वे प्रेम के नितान्त अभाव की कभी कल्पना भी नहीं करते। नायिका भले ही कुपित हो, किन्तु उसे पश्चात्ताप अवश्य होगा, और उसे सचमुच बहुत बुरा लगता है जब कि उसका प्रेमी उसके कोप को बहुत गम्भीरतापूर्वक स्वीकार कर लेता है :

कथमपि सखि क्रीडाकोपाद् व्रजेति मयोदिते
कठिनहृदयस्त्यक्त्वा शय्यां बलाद् गत एव सः।
इति सरभसध्वस्तप्रेम्णि व्यपेतघृणे स्पृहां
पुनरपि हतव्रीडं चेतः करोति करोमि किम् ?

'अयि सखि! बनावटी क्रोध से मैंने अपने प्रियतम से कहा "जाओ", और वह कठोरहृदय वाला हठात् शय्या को छोड़ कर चला गया। इतनी शीघ्रता से प्रेम को तोड़ने वाले उस दयाहीन के लिए अब मेरा लज्जाहीन हृदय कामना कर रहा है, मैं क्या करूँ?' गए हुए प्रियतम को वापस लाने के लिए प्रिय सखी उपाय कर सकती है :

दत्तोऽस्याः प्रणयस्त्वयैव भवता सेयं चिरं लालिता
दैवादद्य किल त्वमेव कृतवानस्या नवं विप्रियम्।
मन्युर्दुःसह एष यात्युपशमं नो सान्त्ववादैः स्फुटं
हे निस्त्रिंश विमुक्तकण्ठकरुणं तावत् सखी रोदितु॥

'तुम्हीं ने इसको इतना प्यार दिया और तुम्हीं ने इसको बहुत दिन तक दुलराया। भाग्यवश तुम्हीं ने आज इसके प्रति नूतन अपराध किया है। इसका क्रोध दुःसह है और स्पष्ट ही वह मीठी-मीठी बातों से कम नहीं होगा। अतः, हे निर्दय!, मेरी सखी को करुणापूर्वक विमुक्तकण्ठ से रो लेने दो।' कठोरहृदया नायिका को स्वयं समझाया जा रहा है :

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना॥

'तुम्हारा प्राणप्रिय सिर झुकाए भूमि पर कुछ रेखाएँ खींचता हुआ बाहर खड़ा है;

लगातार रोने से सजी हुई आँखों वाली सखियाँ भूखी बैठी हैं ; पिंजड़े में स्थित तोतों ने सारा हँसना-बोलना छोड़ दिया है, और स्वयं तुम्हारी यह दशा है ! हे कठिन हृदय वाली, अब अपना मान छोड़ दो ।' बहुधा अपराधी प्रेमी को दण्ड मिलना प्रेमी प्रेमिका तथा प्रेमिका की सखियों के लिए भी आनन्द का कारण होता है

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं,
नीत्वा मोहनमन्दिरं दयितया स्वैरं सखीनां पुरः ।
भूयोऽप्येवमिति स्खलन्मृदुगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ॥

'वह प्रेमी धन्य है जिसको क्रोध से उसकी प्रियतमा अपने कोमल बाहुलतापाश में दृढ़ता से बाँध कर धीरे से कामभवन में सखियों के सम्मुख ले जाकर काँपती हुई धीमी आवाज़ से 'फिर ऐसा किया' यह कह कर उसके दुष्कर्म को सूचित करती है जब कि वह अपने अपराधों को छिपाता हुआ हँसता है और प्रियतमा रोती हुई उसको ताड़ना देती है ।' पर चित्र और भी गम्भीर हो सकता है यदि सब कुछ करने पर भी प्रेमी जाने की ही ठाने :

याताः किन्न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥

"अयि सुन्दरि, गए हुए लोग क्या फिर मिलते नहीं ? तुम्हें मेरे लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए, तुम अत्यन्त दुर्बल हो ।" इस प्रकार आँसू भरकर मेरे कहने पर उसने गिरते हुए आँसुओं को पीकर, लज्जा से शिथिल कनीनिका वाले नेत्र से मुझे देख कर अपने हँसने से भावी मरण के विषय में उत्साह सूचित कर दिया ।' किन्तु प्रणय-कलह का अतिगम्भीर चित्रण ही साधारणतया अधिक मिलता है :

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यः कोपपराङ्मुखग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणम्
मा भूत् सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥

'एक ही पलंग पर लेटे हुए प्रियतम के मुँह से सौत का नाम निकल जाने पर मुग्धा ने म्लान होकर तुरन्त ही क्रोध से मुँह फेर लिया और उसके चाटुकारिता करने पर भी आवेग के कारण उसकी उपेक्षा की । प्रियतम चुप हो गया । उसी क्षण नायिका ने गर्दन मोड़ कर फिर से देखा कि कहीं वह सो तो नहीं गया ।' अधो-लिखित पद्य में एक आकर्षक कथोपकथन प्रस्तुत किया गया है, जो संक्षिप्तता का अद्भुत निदर्शन है :

बाले, नाथ, विमुञ्च मानिनि रुषं, रोषान्मया किं कृत
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ॥

' "बाले !" "नाथ !" "मानिनि, रोष मत करो ।" "रोष से मैंने क्या किया ?" "मुझमें खेद ।" "आपने मेरा कोई अपराध नहीं किया । सारे अपराध तो मुझ में हैं ।" "तो फिर गद्गद वाणी से क्यों रो रही हो ?" "किसके आगे रो रही हूँ ?" "निश्चय ही मेरे आगे ।" "आपकी मैं कौन हूँ ?" "प्यारी ।" "नहीं हूँ, इसीलिए तो रो रही हूँ ।" ' इससे भी गम्भीरतर चित्रण हो सकता है :

दृष्टः कातरनेत्रया चिरतरं बद्ध्वाञ्जलिं याचितः
पश्चादंशुकपल्लवे च विधृतो निर्व्याजमालिङ्गितः ।
इत्याक्षिप्य समस्तमेवमघृणो गन्तुं प्रवृत्तः शठः
पूर्वं प्राणपरिग्रहो दयितया मुक्तस्ततो वल्लभः ॥

'प्रेमिका ने कातर नेत्रों से प्रिय की ओर देखा, बहुत देर तक हाथ जोड़कर याचना की, तत्पश्चात् वस्त्र का छोर पकड़ कर उसे रोक लिया और निश्छल रूप से उसका आलिङ्गन किया । वह निर्दय शठ नायक इन सब बातों को ठुकरा कर जाने लगा । तब प्रेमिका ने पहले अपने प्राणों को त्याग दिया और बाद में अपने प्रिय को ।' एक सुन्दर कल्पना का आश्रय लेकर वैसा दृश्य उपस्थित किया गया है :

क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे
प्राणेश्वरो वसति यत्र मनःप्रियो मे ।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले
नन्वस्ति पुङ्खितशरो मदनः सहायः ॥

' "हे करभोरु, इस प्रगाढ अर्धरात्रि के समय तुम कहां जा रही हो ?" "जहाँ मेरे मन का प्यारा प्राणेश्वर रहता है ।" "अरे बाले, बताओ तुम्हें अकेले डर क्यों नहीं लगता ?" "पंखयुक्त बाण धारण करने वाला कामदेव मेरा साथी जो ठहरा ।" '
निम्न श्लोक की कल्पना अतिशय सुन्दर है :

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलं कालं किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥

' "अरे भोली ! तुमने इस भोलेपन से ही सारा समय बिताने की क्यों ठानी है ।

मान करो, धैर्य धारण करो, और प्रियतम के साथ सरलता छोड़ दो।" सखी द्वारा इस प्रकार समझाई गई नायिका ने भयभीत मुखाकृति को धारण करके कहा, "ज़रा धीरे से कहो, मेरे हृदय में बैठे हुए प्राणेश्वर सुन लेंगे।" ' महाराष्ट्र के कवियों की, जिनका काव्य हाल कवि के सुभाषित-संग्रह (गाथासप्तशती) में सुरक्षित है, कुछ अधिक घरेलू शैली का स्मरण दिलाता हुआ, प्रच्छन्न कोमल हास्य अधोलिखित पद्य में उपलब्ध होता है :

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद् वच-
स्तत् प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतस्तस्यातिमात्रं वधूः।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्चूपुटे
व्रीडार्ता विदधाति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम्॥

'रात्रि में बात करते हुए दम्पति का जो वचन गृह-शुक ने सुना उसे वह प्रातःकाल गुरुजनों के समीप ज़ोर-ज़ोर से कहने लगा। अतः कान में लटकते हुए पद्मराग मणि के टुकड़े को अनार के फल के बहाने से उसकी चोंच में रख कर लज्जित वधू उसका वाग्बन्धन करती है।'

उदाहृत पद्य पर्याप्त रूप से अमरु की शैली के सौन्दर्य तथा यथार्थता, उनके द्वारा अनावश्यकरूप से दीर्घ अथवा क्लिष्ट समासों के बहिष्कार, तथा उनकी कविता की प्रभावोत्पादकता को प्रदर्शित करते हैं। शार्दूलविक्रीडित उनका सामान्य छन्द है; परन्तु हरिणी, वसन्ततिलक, शिखरिणी, और स्रग्धरा भी पर्याप्तरूप से प्राप्त होते हैं। श्लोक, द्रुतविलम्बित, मालिनी, और मन्दाक्रान्ता छितरे रूप में प्रयुक्त हैं।

३. बिल्हण

विक्रमाङ्कदेवचरित के लेखक ने चौरपञ्चाशिका[1] काव्य के रूप में, जिसे कदाचित् चौरीसुरतपञ्चाशिका (अर्थात् एक गुप्त प्रेम के विषय में पचास पद्य) कहना अधिक ठीक होगा, अपने उक्त महाकाव्य से एक अधिक रोचक स्मृति-चिह्न छोड़ा है। इस काव्य के अनेक पाठों में से कश्मीर[2] तथा दक्षिण भारत[3] के दो पाठों में, यह बिल्हणकाव्य नाम की कविता में संनिविष्ट मिलता है। उसमें, जैसा कि टीकाकार भी मानते हैं, कहा गया है कि यह कविता एक राजकुमारी के साथ गुप्त प्रेम का वर्णन करने के लिए लिखी गई है। राजा के यह बात जान लेने

---

१. Ed. Haeberlin, 227 ff.; KM. xiii. 145-69.

२. Ed. W. Solf, Kiel, 1886.

३. Ed. J. Ariel, JA. s. 4, xi. 469 ff. Cf. *Madras Catal.*, xx. 8004 ff. (ascribed to चोरकवि).

पर कवि को मृत्यु-दण्ड दिया गया और इसके लिए उसको ले जाया गया। परन्तु उसके उज्ज्वल पद्यों के पाठ से, जिनमें उसने राजकुमारी तथा अपने गुप्त मिलन के आनन्द को अन्तिम बार स्मरण किया था, प्रभावित होकर राजा द्रवित हो गया और उसने राजकुमारी से उसके विवाह की आज्ञा दे दी। यहाँ तक तो दोनों पाठों में ऐकमत्य है, परन्तु कश्मीर के पाठ के अनुसार राजकुमारी महिलपत्तन के वीरसिंह की पुत्री चन्द्रलेखा थी, जब कि दक्षिणी पाठ के अनुसार वह पञ्चाल के मदनाभिराम की पुत्री यामिनीपूर्णतिलका थी। टीकाकार राम तर्कवागीश (१७९८ ई०) साग्रह कहते हैं[1] कि विद्या के साथ गुप्त-प्रणय करने के कारण वीरसिंह द्वारा चौरपल्ली के राजकुमार सुन्दर को मृत्युदण्ड दिया गया और प्रस्तुत काव्य उसीके द्वारा की गई कालिका की प्रार्थना है। उन्हीं के द्वारा काव्य के शीर्षक की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि वह कवि का नाम 'चौर' होने की बात को सूचित करता है, जिसके द्वारा रचित पद्य वस्तुतः प्राप्त होते हैं। बिल्हण के महाकाव्य में दी गई उनकी आत्मकथा से यह बिलकुल स्पष्ट है कि उन्होंने अपने जीवन में कभी इस प्रकार के राजकीय प्रेम-षड्यन्त्रों में भाग नहीं लिया और सामान्य बुद्धि का भी यही कहना है कि उन्होंने एक डाकुओं के सरदार तथा एक राजकुमारी का प्रेम डाकू को एक ऐसी सुकुमार परिस्थिति में रख कर चित्रित किया है कि परम्परा स्वयं उन्हीं को डाकू के स्थान में समझ लेती है। वास्तव में कविता स केवल यही स्पष्ट होता है कि नायिका एक राजकुमारी थी। कवि के मृत्यु-क्षण का उल्लेख संभवतः केवल एक प्रक्षिप्त पद्य में ही किया गया है, और कश्मीर के पाठ में उससे पूर्व आने वाले दो पद्यों को यदि वास्तविक भी मान लिया जाए तो भी सन्तोषजनक रूप में उनकी व्याख्या करना कठिन है। प्रस्तुत काव्य की लोकप्रियता ने उसके मूलपाठ को अत्यधिक अनिश्चित सा बना दिया है, किन्तु लेखक के कश्मीरी होने तथा दक्षिण भारत की एक राजसभा में रहने के कारण उक्त दोनों पाठों से प्रमाणित चौंतीस पद्यों को वास्तविक कहा जा सकता है। उत्तरी भारत का पाठ उपर्युक्त अन्य दो पाठों के साथ केवल सात पद्यों में ही समानता रखता है।

वसन्ततिलक छन्द वाले पद्यों में सुखमय प्रेम के पूर्व दृश्यों का सूक्ष्म तथा बहुधा आकर्षक विस्तार के साथ चित्रण किया गया है। इन पद्यों में एक ऐसा सौन्दर्य है जो **विक्रमाङ्कदेवचरित** में नहीं है, यद्यपि शैली की सरलता में **पञ्चाशिका** उससे मेल खाती है। उस शैली का एक बड़ा लाभ यह है कि वह काव्य के आन्तरिक स्वर और उसके पाठ करने के कल्पित अवसर से समञ्जस है। **चौर-**

---

१. भारतचन्द्र के **विद्यासुन्दर** (18th cent.) में भी यही बात कही गई है; D. C. Sen, *Bengali Lang. and Lit.*, pp. 650 f.; *I. O. Catal.*, i. 1524.

पञ्चाशिका को बहुत लंबा भी नहीं कहा जा सकता। विचारों में पर्याप्त वैचित्र्य के कारण यह उबानेवाली भी नहीं है :

अद्यापि तामविगणय्य कृतापराधं
मां पादमूलपतितं सहसा गलन्तीम्।
वस्त्राञ्चलं मम करान्निजमाक्षिपन्तीं
मा मेति रोषपरुष ब्रुवतीं स्मरामि॥

'अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिये उसके पैरों पर गिरे हुए मेरी अवहेलना कर के सहसा जाती हुई, अपने वस्त्राञ्चल को मेरे हाथ से झटकती हुई, क्रोध के कारण "नहीं, नहीं!" ऐसे कठोर वचन कहती हुई उसको मैं आज भी स्मरण करता हूँ।'

अद्यापि तां रहसि दर्पणमीक्षमाणां
संक्रान्तमत्प्रतिनिभं मयि पृष्ठलीने।
पश्यामि वेपथुमतीं च ससम्भ्रमां च
लज्जाकुलां समदनां च सविभ्रमां च॥

'अकेले में दर्पण देखती हुई, जिसमें पीछे खड़े होने पर मेरा प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, काँपती हुई, घबड़ाई हुई, शरमाई हुई, काम-पीड़ित और विलास-युक्त उसको मैं आज भी देखता हूँ।'

अद्यापि तां मयि समीपकवाटलीने
मन्मार्गमुक्तदृशमाननदत्तहस्ताम्।
मद्गोत्रलिङ्गितपदं मृदुकाकलीभिः
किञ्चिच्च गातुमनसं मनसा स्मरामि॥

'समीप के किवाड़ के पीछे मेरे छिपे होने पर, अपने मुख को हाथ में थामे हुए और मेरे रास्ते में आँखें लगाए हुए, मृदु और मधुर सूक्ष्म स्वर में मेरे नाम से अङ्कित किसी पद को गाने की इच्छा वाली उसको मैं आज भी हृदय से स्मरण करता हूँ।' मेघदूत की अनुकृति स्पष्ट है, परन्तु वह ललित और आकर्षक है।

अद्यापि तां भुजलतार्पितकण्ठपाशां
वक्षःस्थलं मम पिधाय पयोधराभ्याम्।
ईषन्निमीलितसलीलविलोचनान्तां
पश्यामि मुग्धवदनां वदनं पिबन्तीम्॥

'मेरे कण्ठ में अपनी भुजलता का बन्धन डालकर अपने दोनों स्तनों से मेरे वक्षःस्थल को ढक कर कुछ मुँदे हुए सविलास नेत्रप्रान्तवाली और मेरे मुख को उत्कण्ठा से एकटक देखती हुई उस भोले मुँह वाली प्रियतमा को मैं आज भी देखता हूँ।'

अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या
यान्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥

'निद्रा के कारण मुँदी हुई आँखों वाली और मद से शिथिल उस सुन्दर शरीर वाली प्रिया के मधुर अक्षर, जो न तो निरर्थक ही थे और न सार्थक, आज भी मरे हृदय में कुछ-कुछ ध्वनित हो रहे हैं।' ऐसा प्रतीत होता है कि राजकुमारी के पद का, कोमल हास्य के स्पष्ट स्पर्श के साथ, एक पद्य में उल्लेख जानबूझ कर किया गया है। इस हास्य का संकेत उस भारतीय शिष्टाचार की ओर है, जिसके अनुसार छींकने वाले आदमी से 'शतं जीव' कहा जाता है :

अद्यापि तन्मनसि सम्परिवर्तते मे
रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या ।
जीवेति मङ्गलवचः परिहृत्य कोपात्
कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपन्त्या ॥

'आज भी मेरे मन में वह दृश्य घूम रहा है जब रात्रि में मेरे छींकने पर राजपुत्री ने "जीव" इस मङ्गलवचन का क्रोध के कारण उच्चारण न करके अपने कान से उतार कर कनकपत्र मेरे कान में लगा दिया था।' सुवर्ण जीवनदायक है और इसलिये उसने आशीर्वाद का काम निभा दिया।

अद्यापि तां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षीं
पीयूषवर्णकुचकुम्भयुगं वहन्तीम् ।
पश्याम्यहं यदि पुनर्दिवसावसाने
स्वर्गापवर्गवरराज्यसुखं त्यजामि ॥

'आज भी यदि दिवसावसान के समय मृगछौने के समान नेत्रों वाली तथा पीयूष के वर्ण वाले घटसदृश स्तनयुग को धारण करती हुई प्रियतमा को देख सकूँ तो मैं स्वर्ग, मोक्ष और श्रेष्ठ राज्य के सुख को त्याग सकता हूँ।'

४. जयदेव

वङ्गाल में राजा लक्ष्मणसेन[1] के शासनकाल में संस्कृत काव्य के अन्तिम महान् लेखक जयदेव हुए थे। ये किन्दुबिल्व निवासी भोजदेव के पुत्र थे, और गोवर्धन, धोई, शरण, और उमापतिधर के साथ उनकी सभा की शोभा बढ़ाने वाले पाँच रत्नों में से एक थे। उनकी एक हिन्दी की छोटी-सी कविता, जिसमें हरि

---

१. Cf. EHI. pp. 419 ff., 431 ff.; M. Chakravarti, JPASB. 1906, pp. 163 ff.; R. C. Majumdar, JPASB. 1921, pp. 7 ff. (1175-1200); above, p. 67 n. 1.

गोविन्द की स्तुति है, सुरक्षित मिलती है। इसे सिखों के आदिग्रन्थ में प्राचीनतम कहा जाता है। भक्तमाल में कृष्ण के प्रति, जिन्होंने उनकी मानवीय शक्ति के असफल हो जाने पर राधा के सौन्दर्य का वर्णन करने में स्वयं उनकी सहायता की थी, उनकी भक्ति की अनेक कथाएँ उल्लिखित हैं। ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति से और कुछ प्राप्त न होना विचित्र-सी बात है, परन्तु, जो भी हो, गोविन्द, अर्थात् गोप गोपियों के ईश्वर के रूप में कृष्ण, की लीलाओं का गान करने वाले गीतगोविन्दकाव्यम् अथवा गीतगोविन्द[1] की रचना करके जयदेव ने अपनी तरह की एक निर्दोष और अत्यधिक अभिनव कलाकृति का निर्माण किया है। उनकी प्रसिद्धि तो इसी बात से प्रमाणित होती है कि शताब्दियों तक उनके सम्मान के लिए प्रतिवर्ष उनके जन्मस्थान में एक उत्सव मनाया जाता था जिसमें रात्रि में उनके काव्य से गीत गाए जाते थे। १४९९ ई० में प्रतापरुद्रदेव ने आज्ञा दी थी कि नर्तक तथा वैष्णव गायक केवल जयदेव के ही गीत सीखें, और १२९२ के एक अभिलेख में उनका एक पद्य भी उद्धृत है। अतः उनकी स्वयं की यह घोषणा कि वे कविराजराज हैं उनके ही देश में सत्य सिद्ध हो गई। साथ ही, मूल के सौन्दर्य को बिगाड़ देने वाले सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) के अनुवाद के माध्यम से भी उनके प्रशस्त गुणों की गेठे[2] (Goethe) ने उसी प्रकार प्रशंसा की थी जैसे उसने कालिदास के मेघदूत तथा शकुन्तला की की थी।

जयदेव की कविता का स्वरूप बहुत ही मौलिक है और इससे यह धारणा फैल गई है कि यह कविता एक छोटा-सा गोप-नाट्य (Pastoral Drama) है, जैसा कि जोन्स (Jones) का मत है, या एक गीति-नाट्य (Lyric Drama) है, जैसा कि लासेन (Lassen) का कहना है, या एक परिष्कृत यात्रा है, जैसा कि फॉन श्रेडर (Von Schroeder) इसका नामकरण करना पसन्द करते हैं। दूसरी ओर, पिशेल (Pischel) तथा लेवी (Lévi) इसको गीत तथा नाट्य की मध्य कोटि में, अन्य बातों के अतिरिक्त इस आधार पर रखते हैं कि यह यात्रा-कोटि के नाट्य-प्रयोगों से बिलकुल भिन्न है, क्योंकि इसमें वक्तृ-परिवर्तन के पद्य एक निश्चित रूप में रखे गये हैं, उनको तुरन्त रच कर बोलने के लिए नहीं छोड़ दिया गया है। परन्तु पिशेल भी इसको भावुकतामय शृङ्गारिक नाट्य (melodrama) कहते हैं। परन्तु तथ्यों को पर्याप्त रूप में स्पष्ट होने के कारण अधिक निश्चय के साथ कथन किया जा सकता है। जयदेव ने उक्त काव्य को सर्गों में विभक्त किया है।

---

१. Ed. C. Lassen (1836); NSP. 1923; trans. F. Rückert, ZKM. i. 128 ff.; G. Courtillier, Paris, 1904.

२. *Werke*, xxxvii. 210 f.

यह इस बात का स्पष्ट चिह्न है कि उन्होंने इसे सामान्य काव्य की कोटि का माना है। अंकों और विष्कम्भकादि में विभक्त करके इसे नाटकीय प्रयोग बनाने का उनका विचार नहीं था। दूसरी ओर, इसे लिखते समय उनके ध्यान में बङ्गाल की वे यात्राएँ थीं जिनमें एक आदियुगीन ढंग के नाटच में कृष्ण के सम्मानार्थ संगीत तथा गानों के साथ नृत्य किया जाता था। अपनी कविता में अत्यधिक प्राणप्रद तत्त्व के रूप में ऐसे गीतों को रखते समय जयदेव ने निस्संदेह भविष्य में मन्दिरों तथा उत्सवों में होने वाले उन गीतों के उपयोग का पूर्व-साक्षात्कार कर लिया था। हस्तलिखित पोथियों में गीतों को संगीत के राग और ताल[1] और उसके साथ होने वाले नृत्य के पारिभाषिक शब्दों द्वारा ठीक ठीक संकेत के साथ दिया गया है और कवि का अभिप्राय निश्चित रूप से यही है कि हम गीतों को अपने मानस-चक्षुओं के सम्मुख इस प्रकार गाए जाते हुए देखें। ऐसी कविता लिखने का विचार अद्भुत रूप से मौलिक था, क्योंकि यात्राओं के लोकप्रिय गीतों की तुलना में उल्लेखनीय रूप से इतनी सुन्दर तथा परिष्कृत कृति की रचना एक बहुत बड़ा क़दम था।

गीतों तथा पाठच पद्यों को मिलाने के ढंग में और पाठच अंश को केवल परिस्थिति की व्याख्या करने वाले प्रास्ताविक पद्यों तक ही सीमित न रख कर आकारगत एक-रूपता के परिहार करने के कौशल में कवि की कला प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकट होती है। गीतों का प्रयोग काव्य के पात्र कृष्ण, उनकी प्रियतमा राधा तथा राधा की विश्वासपात्र सहेली, जो प्रत्येक भारतीय नायिका की आवश्यक रूप से प्यारी सखी होती है, इन सब की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए किया गया है। पाठच पद्यों का प्रयोग परिस्थिति की सूचना देने के लिए यत्र-तत्र आने वाले आख्यानात्मक पद्यों के रूप में और संक्षिप्त वर्णनों में भी किया गया है। साथ ही वैविध्य उत्पन्न करने के लिए उनका प्रयोग उन भाषणों में भी किया गया है जो पात्रों के भावों को सूचित करने के लिए गीतों के स्थान में उनके विकल्प रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार **गीतगोविन्द** का कोई बँधा हुआ एक ही रूप नहीं है; पाठच और गीत, कथा, वर्णन और भाषण, इन सबको उसमें एक निश्चित उद्देश्य के साथ कुशलतापूर्वक ग्रथित कर दिया गया है। प्रस्तुत काव्य का विभाग सर्गों के साथ ही प्रबन्धों में भी किया गया है। प्रत्येक गीत एक प्रबन्ध माना गया है और सम्पूर्ण काव्य में ऐसे चौबीस प्रबन्ध हैं। चार प्रबन्धों वाला प्रथम सर्ग इस काव्य की जटिल रचना को पूर्णतया प्रदर्शित करता है। कवि चार पद्यों से काव्य को आरम्भ करता है, और उनमें से अन्तिम पद्य में वह स्वयं अपनी तथा अपने साथी

१. मुद्गल के पुत्र सोम ने अपने **रागविबोध** नामक ग्रन्थ में गीतों के राग दिये हैं; cf. S. M. Tagore, *Hindu Music* (1875), i. 159.

कवियों की प्रशंसा करता है। तत्पश्चात् प्रथम प्रबन्ध आरम्भ होता है जिसमें विष्णु के दशावतारों के सम्मान में गाई गई ग्यारह पद्यों की एक स्तुति है और जिसके अन्त में कवि का नामोल्लेख है, जिसकी स्तुति सुनने के लिए कृष्ण से प्रार्थना की गई है; प्रत्येक पद्य 'जय जगदीश हरे' इस टेक से समाप्त होता है। इससे प्रबन्ध समाप्त हो जाता है और तत्पश्चात् आने वाले एक पद्य में, जो कि निश्चय ही सस्वर पठनीय है, कवि ने विष्णु के उन सब अवतारों को संक्षेप में गिना दिया है जिनके गौरव का गान उक्त स्तुति में किया गया है। द्वितीय प्रबन्ध भगवान् (हरि) के सम्मान में गाये गये तथा 'जय जय देव हरे' इस टेक से समाप्त होने वाले नौ पद्यों की स्तुति से आरम्भ होता है। इस प्रबन्ध के अन्त में तथा आगामी प्रबन्ध के पूर्व कृष्ण से आशीर्वाद की प्रार्थना करने वाला एक पाठ्य पद्य है। तृतीय प्रबन्ध के आदि में एक पाठ्य पद्य है जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार राधा की सखी उससे वसन्त ऋतु में बोली और फिर आठ पद्यों में[1] कुञ्जों में गोपिकाओं के साथ कृष्ण के नृत्य करने के प्रकार का गान किया गया है। तत्पश्चात् तीन पाठ्य-पद्य हैं जो वसन्त का वर्णन करते हैं और इस कथन से समाप्त होते हैं कि राधा की सखी ने राधा से पुनः कहा। चतुर्थ प्रबन्ध में आठ पद्यों वाला एक गीत है जिसमें वह सखी बतलाती है कि किस प्रकार सुन्दरी युवतियाँ कृष्ण के पास जमा हो जाती हैं और कामपरवश होकर उनका आलिङ्गन करती हैं। तदनन्तर तीन पाठ्य-पद्य हैं जिनमें पहले दो वर्णनात्मक हैं तथा अन्तिम आशीर्वादात्मक। दूसरे सर्ग में पहले राधा के विषाद का वर्णन है और फिर उसका अपने प्रियतम के प्रति उपालम्भों से भरा गीत है (प्रबन्ध ५)। इसके पश्चात् एक पाठ्य-पद्य आता है, जिसके बाद एक दूसरा गीत (प्रबन्ध ६) प्रारम्भ होता है जिसमें कृष्ण के लिए वह अपनी तीव्र आकुलता व्यक्त करती है। तत्पश्चात् दो पाठ्य-पद्यों में वह कृष्ण की प्रशंसा करती है, और अन्तिम पद्य में कवि सामान्य आशीर्वाद का आवाहन करता है।

तृतीय सर्ग में कृष्ण स्वयं उपस्थित होते हैं; अनुताप तथा राधा के लिए उत्कण्ठा से वे आक्रान्त हैं। दो पाठ्य-पद्य उनकी दशा का वर्णन करते हैं और सातवें प्रबन्ध में उनका प्रेमगीत है। इसके पश्चात् उनके द्वारा कहे गए पाठ्य-पद्य हैं, जिनमें प्रथम कामदेव के प्रति और दूसरा स्वयं राधा के प्रति है। राधा के प्रेमी के रूप में कृष्ण से श्रोताओं को सौभाग्य तथा प्रसन्नता प्रदान करने के लिए प्रार्थना के साथ कवि इस सर्ग की समाप्ति करता है। चौथे सर्ग में राधा की सखी

१. सामान्य संख्या यही है, अतएव दक्षिण में इस कविता को **अष्टपदी** कहा जाता है। Cf. Śeshagiri, *Report*, 1893-4, pp. 60 ff.

कृष्ण को सम्बोधित करके दो गीतों (८ और ९) में अपनी स्वामिनी की उत्कण्ठा तथा प्रियतम से उसके वियोग के तीव्र सन्ताप को व्यक्त करती है। एक आशीर्वचन से सर्ग समाप्त होता है। अगले दो सर्गों में राधा की सखी तीन सुन्दर गीतों (१०–१२) में कृष्ण के साथ अपनी स्वामिनी के मेल हो जाने की बात पर ज़ोर डालती है। परन्तु सातवें सर्ग में हम देखते हैं कि विश्वासघाती कृष्ण संकेतस्थल पर नहीं आते। उधर चन्द्रोदय के कारण विप्रलब्धा राधा का प्रेम अधिक तीव्र हो जाता है, जिसको वह चार भावुकतामय गीतों (१३–१६) में व्यक्त करती है। कृष्ण आते हैं परन्तु राधा पुनः उन्हें एक गीत में (१७) सम्बोधित करके अपना रोष व्यक्त करती हैं, जिसके वाद इसी अभिप्राय के पाठ्य-पद्य आते हैं (८वाँ सर्ग)। उसकी सखी एक गीत द्वारा (१८) उसको सान्त्वना देने का प्रयास करती है (९वाँ सर्ग), और कृष्ण स्वयं प्रकट होकर उसके प्रति गीत (१९) गाते हैं (१०वाँ सर्ग)। उसकी सखी द्वारा गाए गए तीन गीतों में तव भी मानभङ्ग करने में राधा की हिचक तथा लज्जा की अभिव्यक्ति की गई है (११वाँ सर्ग)। परन्तु अन्त में मेल हो जाता है, और काव्य उन गीतों से समाप्त होता है जिनमें कृष्ण अपनी प्रियतमा को सम्बोधित करते हैं और वह उनको उत्तर देती है। कवि काव्य की समाप्ति में मङ्गल-कामना करता है और अपने संगीतज्ञान की, विष्णु के प्रति अपनी भक्ति की, रसों के विषय में अपने सूक्ष्म विवेचन की और कवित्व-सम्बन्धी अपनी रमणीयता तथा लालित्य की सराहना करता है।

प्रस्तुत काव्य का रहस्यवादी अभिप्राय स्थापित करने के तथा इसी अर्थ में इसकी व्याख्या करने के प्रयत्न किये गये हैं। कुछ अंशों में यह इच्छा इस भावना से प्रेरित हुई है कि राधा-कृष्ण के जिस प्रेम का वर्णन किया गया है वह मानसिक नहीं अपितु मुख्यतया शारीरिक है, और ऐसे प्रेम का ऐश्वर तत्त्व पर आरोप करना अनुचित है। परन्तु यह भारतीय भावना को ग़लत समझना है। अलंकृत काव्यशैली के सारे ी कवि बड़े से बड़े देवताओं के प्रेम-व्यापारों में कोई बुरी बात नहीं देखते। कालिदास ने कुमारसम्भव में जो कुछ किया उसे उनके सब उत्तराधिकारी कवियों ने किसी रूप में दोहराया है। परन्तु दूसरी ओर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रगाढ कृष्णभक्ति ही जयदेव का धर्म था, जिसकी दृष्टि में कृष्ण मनुष्यों की इच्छाओं, आशाओं और भयों से सम्बन्ध रखने वाली उस शक्ति के निधान हैं, जो वास्तव में अनन्त और अवर्ण्य होने पर भी अपने को कृष्ण के रूप में अभिव्यक्त करती है और जो उनकी प्रेम-क्रीडाओं में मानव-जाति के प्रेम को स्वीकृति प्रदान करती है। इस अर्थ में जयदेव की कृति धर्म की भावना से गम्भीरतया अनुप्राणित है और देवताओं के आख्यानों के निर्वाह में वह

Euripides रचित *Bakchai* की भाँति अलेग्ज़ैन्ड्रिन कवियों (Alexandrine poets) अथवा Propertius और Ovid की प्रवृत्ति से नितान्त भिन्न है। Kallimachos और उनके रोमन अनुकर्ताओं के लिए देव और देवियाँ केवल नाममात्र थे, अधिक से अधिक वे परम तत्त्व के सुन्दर प्रतीक थे, किन्तु उनका कोई अपना वास्तविक जीवन न था। रोमन कवि यत्र-तत्र गम्भीरता का स्वर धारण कर सकते थे, जैसे देवताओं और मनुष्यों की प्यारी Aeneidae की माता, समृद्धिदायक Venus के विषय में नास्तिक Lucretius की प्रसिद्ध प्रस्तावना में, और उससे भी अधिक Attis के रूप में आजाने वाली Cybele के प्रेमी के Catullus द्वारा खींचे गए असाधारण किन्तु घृणास्पद चित्र में। परन्तु Lucretius और Catullus इन दोनों में से कोई भी आस्तिक नहीं था। इसके विपरीत, समस्त सन्देह और सारी संशयात्मकता जयदेव से कोसों दूर हैं, जिनके लिए अन्य गोपिकाओं के साथ क्रीडा करते हुए और राधा से अपेक्षाकृत अधिक स्थिर प्रेम करते हुए कृष्ण बराबर केवल सामान्य देवता रूप ही नहीं, किन्तु परमदेव के मूर्तिमान् स्वरूप थे।

जयदेव की कृति एक उत्कृष्ट रचना है और प्रभाव की सम्पूर्णता में यह अन्य किसी भी भारतीय कविता से बढ़ी हुई है। संस्कृत काव्य में अति प्रचलित लघु शब्दचित्रों की सम्पूर्ण प्रवीणता उस सौन्दर्य के साथ इसमें विद्यमान है जो Aristotle के कथनानुसार आकृतिपरिमाण (magnitude) और विन्यास-क्रम (arrangement) से उत्पन्न होता है। घोर निराशा तथा अन्तिम वियोग को छोड़कर प्रेम के अन्य सभी पक्ष उज्ज्वलता से अङ्कित किये गये हैं। आकुलता, प्रत्याशा, नैराश्य, विश्वासघाती नायक के प्रति प्रचण्ड क्रोध, पुनर्मिलन, इन सबके भाव या तो स्वयं पात्रों द्वारा या राधा की सखी द्वारा गीतों में चित्रित किये गए हैं। ये गीत छन्दोरचना की दृष्टि से निर्दोष हैं और सर्वोत्कृष्ट रूप में शब्दों के विशुद्ध सौन्दर्य को प्रदर्शित करते हैं, जिसमें संस्कृत विशिष्टत्वेन समर्थ है। इस विषय में सन्देह नहीं हो सकता कि अपनी अभिरुचियों के बृहत्तर क्षेत्र में, जहाँ प्रेम मानव-व्यापारों में एक महत्त्वपूर्ण भाग अवश्य लेता है, किन्तु सर्वाधिक नहीं, Aischylos, Sophokles और Euripides अपने सामूहिक गीतों द्वारा हमारे मन में जयदेव से अपेक्षाकृत अधिक रुचिकर प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु उनका माध्यम शब्द और अर्थ का ऐसा उत्कृष्ट सामञ्जस्य उत्पन्न नहीं कर सकता। भिन्न-भिन्न लेखकों की मनोनुकूल ध्वनियों के आधार पर अधिकतर शैलियों के विभाग करने में

अलंकारशास्त्र के लेखकों के आग्रह की हम अधैर्य-वश भले ही उपेक्षा कर द परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न ध्वनियों के प्रभाव को हम लोगों की अपेक्षा भारत में अधिक सूक्ष्मता के साथ समझा जाता था। गीतगोविन्द में ध्वनि और अर्थ को संयुक्त करने की कला का ऐसी सफलता के साथ निर्वाह किया गया है कि अलङ्कार-शास्त्र के भारतीय लेखकों की तुलना में कहीं कम संवेदनशील हम लोगों के कान भी इसका आनन्दलाभ किये विना नहीं रह सकते। इस सफलता का परिणाम यह है कि मूल काव्य का कोई भी अनुवाद उसका स्थान नहीं ले सकता। यदि अनुवाद क योग्य न हो सकना उच्चतम प्रकार की कविता की सफलता का प्रमाण माना जाय, तो निश्चय ही जयदेव उस पद के अधिकारी हैं।

उक्त कवि किसी आपाततः विस्तृत प्रयास से काव्य का प्रभाव नहीं उत्पन्न करता और न वह भाषा को तोड़ने मरोड़ने का ही दोषी है। उसके समास प्रायः काफ़ी दीर्घ हो जाते हैं, पर वे अस्पष्ट नहीं हैं। लोकप्रिय उत्सवों में प्रयुक्त होने वाली गेय कविताओं में कृत्रिमता का स्पष्टतः कोई स्थान नहीं हो सकता था, और, यद्यपि ये कविताएँ अपने अधिकतर प्रशंसकों के लिये तुरन्त ही लोकभाषा में की गई व्याख्या के विना कभी बुद्धिगम्य नहीं हो सकतीं, फिर भी ये गीत इस प्रकार के हैं जो एक बार समझा दिए जाने पर निस्सन्देह सरलता से समझे और सीखे जा सकते हैं। नवाँ सर्ग कवि की प्रभावपूर्ण सरलता को प्रदर्शित करता है:

हरिरभिसरति वहति मधुपवने
किमपरमधिकसुखं सखि भवने।
माधवे मा कुरु मानिनि मानमये॥
तालफलादपि गुरुमतिसरसं
किं विफलीकुरुषे कुचकलसम्।
माधवे०॥
कति न कथितमिदमनुपदमचिरम्
मा परिहर हरिमतिशयरुचिरम्।
माधवे०॥
किमिति विषीदसि रोदिषि विकला?
विहसति युवतिसभा तव सकला।
माधवे०॥
मृदुनलिनीदलशीतलशयने
हरिमवलोकय सफलय नयने।
माधवे०॥

जनयसि मनसि किमिति गुरुखेद
शृणु मम वचनमनीहितभेदम् ।
माधवे० ॥
हरिरुपयातु वदतु बहु मधुरं
किमिति करोषि हृदयमतिविधुरम् ।
माधवे० ॥
श्रीजयदेवभणितमतिललितं
सुखयतु रसिकजनं हरिचरितम् ।
माधवे ० ॥

'वसन्तकालीन पवन बह रहा है, हरि आ रहे हैं ; हे सखि, इससे बढ़कर दूसरा सुख तुम्हारे भवन में क्या है ? अरी मानिनि, माधव से मान न करो । तालफल से भी भारी और सरस कलस की भाँति अपने स्तनों को क्यों विफल करती हो ? मानिनि, माधव से मान न करो । मैंने तुमसे कितनी ही वार प्रत्येक क्षण क्या यह न कहा कि अतिशय सुन्दर हरि को मत छोड़ो ? मानिनि, माधव से मान न करो । तुम उदास हो, तुम दुःखी हो और रो रही हो, ऐसा क्यों ? सम्पूर्ण युवतियों का समूह तुम्हारा उपहास कर रहा है । मानिनि, माधव से मान न करो । मृदु कमलपत्रों से शीतल शय्या पर हरि को देख कर नयनों को सफल करो । मानिनि, माधव से मान न करो । तुम्हारे मन में बड़ा भारी खेद क्यों उत्पन्न होता है, मेरे वचनों को सुनो जो वियोग नहीं होने देना चाहते । मानिनि, माधव से मान न करो । हरि आएँ और तुमसे देर तक मधुर वचन बोलें । तुम अपने हृदय को इतना दुःखी क्यों कर रही हो ? मानिनि, माधव से मान न करो । श्री जयदेव द्वारा गाया गया यह अतिमधुर हरिचरित रसिक जनों को सुख पहुँचाए । मानिनि, माधव से मान न करो ।'

जिस कुञ्ज में राधा की प्रतीक्षा करते हुए पुनर्मिलन के लिए तथा प्रेम की सफलता के लिए आतुर कृष्ण बैठे हैं उसमें प्रवेश करने के लिए राधा को अपनी सखी से मिला निमन्त्रण कम सुन्दर नहीं है :

मञ्जुतरकुञ्जतलकेलिसदने
प्रविश राधे माधवसमीपमिह ।
विलस रतिरभसहसितवदने ॥
नवभवदशोकदलशयनसारे
प्रविश राधे माधवसमीपमिह ।
विलस कुचकलसतरलहारे ॥

कुसुमचयरचितशुचिवासगेहे
प्रविश राधे माधव समीपमिह ।
विलस कुसुमसुकुमारदेहे ॥

'हे प्रेमातुरता के कारण हँसते हुए मुखवाली राधे ! तुम यहाँ अत्यधिक सुन्दर कुञ्ज के नीचे केलिसदन में प्रवेश करके विलास करो । कुचकलसों पर हिलते हुए हार को धारण करने वाली राधे ! नवीन अशोकपत्रों की शय्या पर माधव के समीप यहाँ आओ और विलास करो । हे कुसुमसदृश सुकुमार देहयष्टि वाली राधे, तुम माधव के समीप यहाँ पुष्पसमूह से रचित इस स्वच्छ वासगृह में आओ और विलास करो ।' उसकी सखी द्वारा अपनी प्रेमिकाओं के संग कुञ्ज में कृष्ण के सुखों का खींचा गया चित्र भी समानरूप से आकर्षक है, यद्यपि इसमें दीर्घ समासों की बहुलता से प्रभाव उत्पन्न किया गया है :

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली ॥
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे ॥
पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम् ।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम् ॥
हरि० ॥
कापि विलासविलोलविलोचनखलनजनितमनोजम् ।
ध्यायति गोपवधूरधिकं मधुसूदनवदनसरोजम् ॥
हरि० ॥

'अरे विलासिनि राधे ! चन्दनचर्चित नीलवर्ण के शरीर वाले, पीत वस्त्र धारण किए और वनमाला पहने, विलास में हिलते हुए मणिजटित कुण्डलों से युक्त कपोलों पर हँसी वाले हरि यहाँ क्रीडा करती हुई मुग्ध युवतियों के समूह में विलास कर रहे हैं । एक गोपवधू अपने पीनस्तनों के भार से रागपूर्वक हरि का आलिङ्गन करके ऊँचे पञ्चम स्वर में गा रही है । दूसरी मधुसूदन के उस मुख-कमल का अधिक ध्यान कर रही है जिसके विलास से चञ्चल नेत्रों की क्रीडा ने उसके हृदय में काम-वासना को उत्पन्न कर दिया है ।'

ऐसा कहा गया है[१] कि इस रचना का मूलरूप अपभ्रंश में था, और इसका आधार गीतों में तुक का प्रयोग बताया गया है । परन्तु यह वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति ही है । यह नितान्त असम्भाव्य है कि गीतगोविन्द का मूलरूप कभी भी संस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में रहा हो ।

---

१. Pischel, *Die Hofdichter des Lakṣamaṇasena*, p. 22.

अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश कविताओं म नियमितरूप से प्रचलित तुक के प्रयोग ने गीतगोविन्द के लेखक को प्रभावित किया है। परन्तु संस्कृत कविता में इस प्रकार की जो तुकबन्दी[1] हमें प्राप्त होती है, वह सम्भवतः यमकों के प्रति अनुराग से उत्पन्न हुई है, जिनमें स्वर-व्यञ्जनसमुदायों की आवृत्ति होती है। जब यह आवृत्ति किसी पद्य में पंक्तियों के अन्त में होती है तब वह लगभग तुक के समान ही होती है। अलङ्कार-शास्त्र के प्राचीन सम्प्रदाय में यमकों पर विस्तार से विचार किया गया है, और वे प्राकृत में भी बहुधा प्राप्त होते हैं; और हेमचन्द्र ने तो प्राकृत में प्रायः प्रयुक्त होने वाले गलितक छन्द के लिए पंक्तियों के अन्त में यमकों के प्रयोग को निर्धारित कर दिया है। अपभ्रंश कविता में भी यमकों का प्रयोग होता है। वास्तविक तुक की, जिसमें दूसरी पंक्ति के उसी स्थान पर अन्तिम स्वर से पहला व्यञ्जन भिन्न होता है, अलङ्कारशास्त्र के प्राचीन लेखकों ने उपेक्षा की है और पहलेपहल अन्त्यानुप्रास नाम से साहित्यदर्पण में उसका लक्षण किया गया है। हेमचन्द्र ने अपने छन्दोऽनुशासन में इसका उल्लेख किया है और इसे अनुप्रास के रूप में यमक से भिन्न बताया है। संस्कृत काव्य में इसका प्रयोग साधारणतः आकस्मिक रूप से किया गया है, नियमित रूप से नहीं। प्राकृत में भी इसका साधारणतः प्रयोग नहीं किया गया है। अतः जिस बहुलता के साथ इसका प्रयोग जयदेव के काव्य में मिलता है, उसका कारण कुछ अंशों में अपभ्रंश का प्रभाव हो सकता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि गीतगोविन्द का छन्द वस्तुतः गणों[2] पर आधारित है, जिनमें नियामक सिद्धान्त चार मात्राओं के चरणों का प्रयोग होता है। इसी से इनमें एक गुरु के लिए दो लघु वर्णों का और दो लघु वर्णों के लिए एक गुरु का प्रयोग अनुमत है और उसका निर्बाध रूप से उपयोग भी किया जाता है[3]।

---

१. Jacobi, भविसत्त कह, pp. 51 f. तु० वासुदेव का Yamakakāvyas (chap. iv, §7), घटकर्पर, नलोदय, आनन्दतीर्थ का यमकभारत (Madras Catal., xx. 7954); श्रीवत्साङ्क का यमकरत्नाकर (वहीं 7797), इत्यादि।

२. Jacobi, ZDMG. xxxviii. 599; SIFI. VIII. ii. 87, 94, n. 1, 113, n. 4.

३. ध्रुवपद का प्रभावोत्पादक प्रयोग निश्चय ही धार्मिक कविता से लिया गया है। यह प्रयोग ऋग्वेद में और लौकिक संस्कृत के स्तोत्र-काव्यों में पाया जाता है। स्तोत्र-काव्यों में तुक का भी प्रयोग मिलता है (उदाहरणार्थ मोहमुद्गर में)। दे० दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र, निर्वाणदशक, हस्तामलकस्तोत्र और चर्पटपञ्जरिकास्तोत्र, जो शङ्कर-रचित बताये जाते हैं।

गीतिकाव्य और सुभाषित-संग्रह

१. लौकिक काव्य

हमें प्राप्त होने वाले अन्य लौकिक गीतिकाव्यों में से कोई भी भर्तृहरि के शतकों से अधिक प्राचीन हो यह आवश्यक नहीं है; कालिदास के समान भी प्राचीन कोई हो नहीं सकता। उन अनेक कविताओं के सम्बन्ध में जो पतञ्जलि के समय में विद्यमान रही होंगी हमारे पास नगण्य-से सङ्केत हैं, यद्यपि पालि धर्म-ग्रन्थों की थेरगाथाओं और थेरीगाथाओं से, जो लगभग पतञ्जलि के काल की ही होंगी, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि काव्यकला अपनी आरम्भिक अवस्था से क्रमशः उत्तरोत्तर परिष्कार को प्राप्त हो रही थी। उस आरम्भिक अवस्था के संकेत एक ओर तो स्वयं ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में मिलते हैं, और दूसरी ओर पालिग्रन्थों में आनुषङ्गिक रूप से उपलब्ध होने वाले ग्रामगीतों (ballads) के खण्डों और एक मद्य-गीत के भाग से भी प्राप्त होते हैं।[1] परन्तु ये प्रारम्भिक कविताएँ, और उनमें से अनेक निस्सन्देह औचित्य के साथ, विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गयीं, यद्यपि कभी कभी मन में यह विचार उठता है कि ये कविताएँ हमारी रुचि के अनुकूल एवं आनन्दप्रद होतीं और उनकी सरलता निन्दनीय न होकर प्रायेण हमें प्रशंसा के योग्य जान पड़ती।

विना किसी समुचित आधार के अनेक कविताएँ कालिदास-रचित कही जाती हैं, जिनमें से शृङ्गारतिलक[2] उस सम्मान को प्राप्त करने का कुछ-कुछ अ[धि]कारी समझा जा सकता है; यद्यपि उसे कालिदास-रचित बतलाना अनुचित ही है। उसके तेईस पद्यों में प्रेम के आकर्षक चित्र हैं, परन्तु उनमें अनूठी विशिष्टता का अभाव है। कवि अपनी कठोर-हृदया प्रियतमा की प्रशंसा करते हुए बड़े अच्छे ढंग से निन्दा भी करता है :

---

१. दीघनिकाय, 21 (GIL. ii. 32); जातक 512.

२. Ed. Gildemeister, Bonn, 1841. Cf. Pischel, शृङ्गारतिलक, p. 27. अन्तिम पद्य अमरुशतक में मिलता है और तीसरा पद्य धनिक के दशरूपावलोक (११वीं शताब्दी) की कम से कम कुछ हस्तलिखित प्रोथियों में उद्धृत है। Haeberlin, 14 ff. में इसमें केवल इक्कीस पद्य हैं। शृङ्गाररसाष्टक भी कालिदास-रचित बतलाया जाता है; सातवाँ पद्य उनका है, चौथा पद्य भी उनका हो सकता है।

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः ॥

'विधाता ने नीलकमल से तुम्हारी आँखें, अरुणकमल से मुख, कुन्दपुष्प से दाँत, नये पल्लव से अधर, तथा चम्पकदलों से तुम्हारे अङ्ग बनाए। प्रिये, फिर उन्होंने तुम्हारा हृदय पत्थर से क्यों बनाया?' युवती की शिकारी के रूप में कल्पना पुरानी होने पर भी सुन्दर है :

इयं व्याधायते बाला, भ्रूरस्याः कार्मुकायते।
कटाक्षाश्च शरायन्ते, मनो मे हरिणायते ॥

'यह युवती शिकारी है, इसकी भौंहें ही धनुष हैं, कटाक्ष तीर हैं, और मेरा हृदय हरिण है।' परन्तु कटुता तथा कष्ट का यह स्वर अत्यधिक प्रभावपूर्ण है :

किं मे वक्त्रमुपेत्य चुम्बसि बलान्निर्लज्ज लज्जाकृते
वस्त्रान्तं शठ मुञ्च मुञ्च शपथैः किं धूर्त निर्वञ्चसे ?।
क्षीणाहं तव रात्रिजागरवशात् तामेव याहि प्रियां
निर्माल्योज्झितपुष्पदामनिकरे का षट्पदानां रतिः ?॥

'हे लज्जायुक्त आकृति वाले निर्लज्ज ! तुम क्यों वलात् मेरे अधर का चुम्बन करते हो ? हे शठ, मेरे आँचल को छोड़ दो, छोड़ दो। धूर्त ! अपनी शपथों से मुझे क्यों ठगना चाहते हो ? रात्रि में जागकर तुम्हारी प्रतीक्षा करने के कारण मैं दुर्बल हो गई हूँ। जो तुम्हारी प्रिया है तुम उसी के पास जाओ। पहनने से मुरझाई हुई जान कर जिस पुष्पमाला को फेंक दिया गया है, उससे भ्रमरों का कैसा लगाव ?' यह कविता अच्छी है, परन्तु कालिदास की शैली में नहीं है। दूसरी ओर, एक सुभाषित-संग्रह से एक अत्यधिक सुन्दर पद्य मिलता है जो उन्हीं का हो सकता है :

पयोधराकारधरो हि कन्दुकः
करेण रोषादिव ताड्यते मुहुः।
इतीव नेत्राकृति भीतमुत्पलं
तस्याः प्रसादाय पपात पादयोः ॥

'अपने उरोजों के आकार को धारण करने वाले गेंद को वह मानों रोषपूर्वक हाथ से बार-बार मारती है, अतः उसके नेत्रों की आकृति से भयभीत उत्पल (?आकृति वाला उत्पल भयभीत हो कर) नायिका को प्रसन्न करने के लिए उसके पैरों पर गिर पड़ा।'

बाईस पद्यों में रचित घटकर्पर[1] शृङ्गारतिलक से अपेक्षाकृत कहीं कम आकर्षक

१. Ed. Haeberlin, 120 f.

है। इसमें वर्णित है कि किस प्रकार एक नव-युवती पत्नी वर्षाकाल के आरम्भ म अपने प्रवासी पति के पास मेघ द्वारा संदेश भेजती है, जो मेघदूत में वर्णित स्थिति से विपरीत है। कविता के नाम का कारण उसके अन्त में कवि की यह प्रतिज्ञा है कि यदि कोई कवि यमकालङ्कार (जिसमें एक से ही स्थानों में स्वरव्यञ्जन-समुदाय की एक ही क्रम से आवृत्ति होती है) के प्रयोग में उससे आगे बढ़ जाएगा तो वह उसके लिए घड़े के खप्पर (घटकर्पर) से जल भरकर लाएगा। संभवत: इसी से कवि का नाम घटकर्पर चल पड़ा, और यह समझा जाने लगा कि उक्त शब्दश्लेष द्वारा वह अपने नाम को स्थायित्व प्रदान करना चाहता था। इस गर्वभरी उक्ति के आधार पर, जो बाद में सही प्रमाणित न हुई, याकोबी (Jacobi)[1] ने यह निष्कर्ष निकाला था कि यह रचना कालिदास से पूर्व की है; क्योंकि यदि इस काव्य ने अपनी प्राथमिक रचना के समय में इस प्रकार की अन्य रचनाओं के लिए एक आदर्श स्थापित किया था, उस दशा में अपनी मौलिकता के आधार पर प्रमुख न रहने पर भी इसकी रक्षा की जानी चाहिए थी। यह कल्पना किसी प्रकार ग्राह्य प्रतीत नहीं होती, केवल एक साहित्यिक कौतूहल की दृष्टि से किसी ग्रन्थ के सुरक्षित रखे जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। साथ ही घटकर्पर स्पष्टतः प्राचीन भारतीय रुचि के अनुसार आधुनिक विचारधारा की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च स्तर का काव्य माना जाता था, क्योंकि विक्रमादित्य की सभा के कालिदास के समकालीन नौ रत्नों में से घटकर्पर भी एक रत्न माना जाता था। इक्कीस पद्यों में लिखा गया नीतिसार[2] उनकी रचना कही जाती है, इस बात से भी कवि घटकर्पर के व्यक्तित्व के जानने में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती, क्योंकि उन पद्यों में इस दृष्टि से कोई भी वैशिष्ट्य नहीं है।

मयूर[3] के नाम के साथ हमें काल-निरूपण के सम्बन्ध में अधिक सुनिश्चित आधार प्राप्त होता है। मयूर सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के सभा-कवि थे और बाण के श्वशुर[4] कहे जाते थे। मातङ्ग दिवाकर ने भी इन दोनों के तुल्य ही प्रसिद्धि पाई थी। परम्परागत कथा है कि मयूर ने अपनी पुत्री

१. रामायण, पृष्ठ १२६,
२. Haeberlin, 504 ff.
३. Quackenbos, *The Sanskrit Poems of Mayūra*.(1917)
४. या साले; किंवदन्तियाँ भिन्न भिन्न हैं; दोनों के सम्बन्ध के विषय में कोई सत्यता नहीं दिखाई पड़ती। किन्तु पद्मगुप्त उनकी पारस्परिक स्पर्धा को प्रमाणित करते हैं, नवसाहसाङ्कचरित २।१८; Zachariae, *B. Beitr.*, xiii. 100.

क सौन्दर्य का इतना सूक्ष्म वर्णन किया कि उसने क्रोध के कारण इनको शाप दे दिया और ये कोढ़ी हो गए। इस दयनीय अवस्था से इनका छुटकारा भगवान् सूर्य की सहायता से हुआ, जिनकी स्तुति इन्होंने सूर्यशतक में की है। बहुत सम्भव है कि मयूराष्टक में उपलब्ध एक पद्य के कारण यह कथा प्रचलित हो गई हो, जिसमें गुप्तरूप में अपने प्रिय से मिलकर लौटने वाली एक युवती के रूप का वर्णन है:

> एषा का स्तनपीनभारकठिना मध्ये दरिद्रावती
> विभ्रान्ता हरिणी विलोलनयना संत्रस्तयूथोद्गता।
> अन्तःस्वेदगजेन्द्रगण्डगलिता संलीलया गच्छति
> दृष्ट्वा रूपमिदं प्रियाङ्गगहनं वृद्धोऽपि कामायते ॥

'डरे हुए झुण्ड से विछुड़ी हुई, अतः घबड़ाई हुई, हरिणी की भाँति चञ्चल नेत्रों वाली, पीन स्तनों के भार से आक्रान्त और पतलीक मर वाली यह कौन अंगना है जो भीतर ही भीतर मदजल से युक्त किसी श्रेष्ठ हाथी के गण्डस्थल से गलित हुई सी बड़े विलास के साथ जा रही है ? सुन्दर अंगों से भरे हुए इसके रूप को देखकर वृद्ध पुरुष भी कामातुर हो उठता है।'

श्लेषों से युक्त, बोझिल और थकानेवाली शैली के कारण इनकी कविता को उत्तम श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, परन्तु इससे इस विचार को पुष्टि मिलती है कि वे बाण के समकालीन थे, क्योंकि बाण की शैली भी ऐसे ही दोष से उनकी वास्तविक प्रतिभा के कारण ही बच सकी है।

उपलब्ध लिखित सामग्री की अत्यन्त न्यूनता के कारण हमारे समक्ष अगले महत्त्वपूर्ण गीतिकवि के रूप में जयदेव के समकालीन गोवर्धन उपस्थित होते हैं। उनके विषय में हमें सुभाषित-संग्रहों में प्राप्त होने वाले नाम और पद्यों के अतिरिक्त भी सूचना प्राप्त है। जयदेव ने इनको ङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचना में अद्वितीय बताकर इनकी प्रशंसा की है। जयदेव ने अपने या अपने मित्रों के सम्बन्ध में वाक्संयम से काम नहीं लिया; अतएव हम उनकी प्रशंसा को पूर्ण-रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। गोवर्धन स्वयं कहते हैं कि प्राकृत भाषा में उपलब्ध सीधे-सादे प्रेमगीतों को संस्कृत के स्तर पर लाने का उनका उद्देश्य वैसा ही है जैसा यमुना को आकाश में प्रवाहित करना। उन्होंने आर्या छन्द को अपनी कविता का माध्यम चुना है। यह छन्द निश्चय ही संस्कृत में प्राकृत से आया है। इसी आर्या छन्द में उन्होंने सात सौ शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना की है और उनको वर्णानुक्रम से सजाया है। आर्यासप्तशती नामक यह काव्य हाल की सत्तसई को आदर्श मानकर लिखा गया है, पर सत्तसई में प्राप्त

होने वाले लोकप्रिय आस्वाद का इसमें अभाव है। आर्यासप्तशती के विषय में सर्वाधिक रोचक बात यह है कि हिन्दी-कवियों में ऊँचा स्थान प्राप्त करने वाले कविवर बिहारीलाल की सतसई (१६६२ ई०) इसी पर आधारित है। बिहारी की इस सतसई का अनुकरण संस्कृत के एक उत्तरकालीन कवि परमानन्द ने अपनी शृङ्गारसप्तशतिका में किया है। आर्यासप्तशती में, प्राकृत सत्तसई के अनुकरण पर ही, परिच्छेदों का नामकरण व्रज्या किया गया है। इन व्रज्याओं में परस्पर किसी क्रम का ध्यान नहीं रक्खा गया है और ७०० पद्यों की रचना करने के प्रयत्न में स्वभावतः पुनरुक्ति हो गई है और अनेक दुर्बल पंक्तियाँ (weak lines) भी बीच बीच में आ गई हैं। गोवर्धन की रचना को उनके भाइयों, उदयन तथा बलभद्र, ने शुद्ध करके प्रकाशित किया था। अतः इसके पाठों की मौलिकता में सन्देह होना स्वाभाविक है। उक्त सन्देह के न होने पर भी यह काव्य क्लिष्ट है, क्योंकि कवि को अभिधा के स्थान पर व्यञ्जना प्रिय है। रूपगोस्वामी द्वारा उदाहृत गोवर्धन का एक पद्य उनकी कविता के सम्बन्ध में अधिक अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करता है:

पान्थ द्वारवतीं प्रयासि यदि हे तद् देवकीनन्दनो
वक्तव्यः स्मरमोहमन्त्रविवशा गोप्योऽपि नामोज्झिताः।
एताः केलिकदम्बधूलिपटलैरालोकशून्या दिशः
कालिन्दीतटभूमयोऽपि तव भो नायान्ति चित्तास्पदम् ॥

'अयि परदेसी, यदि तुम द्वारावती जा रहे हो तो कृपया देवकी के पुत्र से कहना कि जिन गोपियों को वे काम के मोहमन्त्र से विवश बनाकर छोड़ गए उनका और केलिकदम्ब के पुष्पों के परागसमूहों से अन्धकारित इन दिशाओं का तथा यमुना की तटवर्ती भूमियों का क्या उन्हें कभी ध्यान नहीं आता?'

सुभाषित-संग्रहों[1] के आधार पर ही हम कवि पाणिनि के विषय में जानते हैं। वैयाकरण पाणिनि के साथ उनकी अभिन्नता, भारतीय परम्परा को अभिमत होने पर भी, नहीं मानी जाती। जिन पद्यों के कर्तृत्व का श्रेय उनको दिया जाता है वे उनके कुशल शृंगारिक कवि होने के प्रमाण हैं:

तन्वङ्गीनां स्तनौ दृष्ट्वा शिरः कम्पयते युवा।
तयोरन्तरसंलग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥

'युवा पुरुष तन्वङ्गियों के स्तनों को देखकर अपना सिर हिलाता है, मानो वह उन स्तनों के मध्य फँसी हुई अपनी दृष्टि को छुड़ाने का प्रयत्न कर रहा हो।'

१. Thomas, कवीन्द्रवचनसमुच्चय, pp. 51 ff. Cf. Peterson, सुभाषितावली, pp. 54 ff.; JRAS. 1891, pp. 311 ff.; Pischel, ZDMG. xxxix. 95 ff., 313 ff.; *Gramm. d. Prakrit-Sprachen*, p. 33.

क्षपाः क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व सम्प्रत्युष्णांशुर्गत इति तदन्वेषणपरा–
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीव जलदाः ॥

' "रात्रियों को छोटी बनाकर, सरिताओं का जल बलात् चुराकर, सारी पृथ्वी को तपा कर और सारे वृक्षों के कुञ्जों को सुखाकर अब सूर्य कहाँ चला गया है ?" यह सोचते हुए बादल बिजली रूपी दीपक के प्रकाश में उसको ढूँढ़ते हुए प्रत्येक दिशा में घूम रहे हैं ।'

पाणौ शोणतले तनूदरि दरक्षामा कपोलस्थली
विन्यस्ताञ्जनदिग्धलोचनजलैः किं म्लानिमानीयते ?
मुग्धे चुम्बतु नाम चञ्चलतया भृङ्गः क्वचित्कन्दली–
मुन्मीलन्नवमालतीपरिमलः किं तेन विस्मर्यते ?॥

'अयि पतली कमर वाली सुन्दरि, लाल हथेली वाले अपने हाथ पर कुछ कुछ दुर्बल कपोल को टेक कर उसे आँखों में डाले गए अञ्जन से मिश्रित आँसुओं से क्यों म्लान कर रही हो ? हे मुग्धे, चञ्चलता से भ्रमर चाहे कभी आम्रमञ्जरी (?) को चूम ले, परन्तु खिलते हुए नवीन मालती पुष्प की सुगन्ध को क्या वह कभी भूल सकता है ?'

विलोक्य सङ्गमे रागं पश्चिमाया विवस्वता ।
कृतं कृष्णं मुखं प्राच्या न हि नार्यो विनेर्ष्यया ॥

'सूर्य के साथ पश्चिम दिशा का समागम होने पर राग (लालिमा, अनुराग) को देखकर प्राची का मुख श्याम पड़ गया है। ऐसी कौन सी स्त्री है जो ईर्ष्या से मुक्त हो ?'

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्द
गर्जन्ति यत् प्रावृषि कालमेघाः ।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं
तच्छर्वरी गौरिव हुङ्करोति ॥

'वर्षाकाल में आधी रात के समय कालमेघ जो मन्द मन्द गर्जना करते हैं, वह रात्रि को चन्द्रबिम्ब को न देख सकने के कारण अपने बछड़े को न देखने वाली गाय की भाँति हुँकारने की आवाज़ है ।'

असौ गिरेः शीतलकन्दरस्थः
पारावतो मन्मथचाटुदक्षः ।
घर्मालसाङ्गीं मधुराणि कूजन्
संवीजते पक्षपुटेन कान्ताम् ॥

'पर्वत की शीतल कन्दरा में स्थित, कामसम्बन्धी चाटुकारिता में दक्ष यह कबूतर मधुर मधुर शब्द करता हुआ गर्मी के कारण अलस अंगों वाली अपनी प्रिया की पङ्खों से हवा झल रहा है।'

इस कवि की थोड़ी सी उपलब्ध रचनाओं में अपश्यती और गृह्य के व्याकरण विरुद्ध प्रयोग, वर्णनात्मक अर्थ में लुङ् और ऊपर के अन्तिम उदाहृत पद्य में गिरेः इस असावधान साकांक्ष प्रयोग को देखते हुए, पद्यों की शैली को विचार में न रखते हुए भी, गम्भीरतापूर्वक हम सोच ही नहीं सकते कि इनके लेखक वैयाकरण पाणिनि थे।[1]

सुभाषित-संग्रहों से हमें उन अन्य कवियों के सम्बन्ध में भी बहुमूल्य साक्ष्य प्राप्त होता है जिनके ग्रन्थ अब लुप्त हो गए हैं, पर जो वास्तव में प्रतिभाशाली कवि थे। एक सुन्दर पद्य वाक्कूट का बतलाया जाता है जिसमें एक प्रेमी की करुणाजनक दशा का वर्णन है। अपनी प्रियतमा से वियुक्त प्रेमी चारों ओर देखता है, परन्तु उसे वे ही बातें दिखाई पड़ती हैं जो बीते हुए सुखों का अत्यन्त तीव्रता से स्मरण दिलाती हैं:

एते चूतमहीरुहोऽप्यविरलैर्धूमायितैः (?-ताः) षट्पदै-
रेते प्रज्वलिताः स्फुटत्किसलयोद्भेदैरशोकद्रुमाः।
एते किंशुकशाखिनोऽपि मलिनैरङ्गारिताः कुड्मलैः
कष्टं विश्रमयामि कुत्र नयने सर्वत्र वामो विधिः॥

'ये आम्रवृक्ष भौंरों की घनी पाँत से धूमायित हो रहे हैं। फूटत हुए किसलयों से ये अशोक के पेड़ मानो प्रज्वलित हो रहे हैं। किंशुक के ये वृक्ष भी अपनी मलिन कलियों से अङ्गारयुक्त दीख पड़ रहे हैं। हाय मैं अपनी आँखों को कहाँ विश्राम दूँ? सभी ओर तो विधाता वाम है।' लडहचन्द्र एक युवती द्वारा उसके प्रिय के पास एक सुन्दर सन्देश भिजवाते हैं:

गन्तासि चेत् पथिक हे मम यत्र कान्त-
स्तत्त्वं वचो हर शुचौ जगतामसह्यः।
तापः सगर्जगुरुवारिनिपातभीत-
स्त्यक्त्वा भुवं विरहिणीहृदयं विवेश॥

'पथिक यदि तुम वहाँ जाओ जहाँ मेरा प्रिय है, तो उससे मेरी ओर से यह कह देना कि ग्रीष्म का असह्य ताप गर्जनयुक्त घनघोर वर्षा के भय से पृथ्वी को छोड़कर विरहिणी के हृदय में प्रविष्ट हो गया है।' शीला भट्टारिका नामक कवयित्री के भी कुछ सुन्दर पद्य बतलाए जाते हैं:

---

१. Bhandarkar, JBRAS. xvi. 200 ff., 343 ff.; Kielhorn, GN. 1885, pp. 185 f.

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा–
स्ते चोन्मीलितमालतीपरिमलाः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि चौर्यसुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥

'जिसने मेरे कौमार्य का हरण किया था, यह वही मेरा पति है, ये वे ही चैत्र की रातें हैं, और फूलते हुए मालती पुष्पों की सुगन्ध से युक्त वे ही कदम्ब की प्रौढ़ हवाएँ हैं, मैं भी वही हूँ : तथापि मेरा हृदय रेवा नदी के तट पर बेंत के वृक्ष के नीचे चोरी से विलासपूर्ण सुरतव्यापार के लिए उत्कण्ठित है।' बाण के साथ ही इस कवयित्री को पाञ्चाल शैली में लिखने वाला कहा गया है[1] जिसमें वर्ण और अर्थ समप्रधान होते हैं, और यह बात कवयित्री के पद्यों से पूर्णतया प्रमाणित है :

दूति त्वं तरुणी, युवा स चपलः श्यामास्तमोभिर्दिशः
सन्देशस्सरहस्य एष विपिने संकेतकावासकः ।
भूयो भूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो नयन्त्यन्यथा
गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणं रक्षन्तु ते देवताः ॥

'दूति, तुम तरुणी हो, और वह युवा चपल है, अन्धकार से दिशाएँ काली हो रही हैं। यह सन्देश रहस्यपूर्ण है, और जङ्गल में ही वह सङ्केतस्थल है। ये वसन्त की हवाएँ बार-बार चित्त में विकार उत्पन्न करती हैं, तथापि तुम कुशलतापूर्वक उससे मिलने जाओ, देवता तुम्हारी सावधानी से रक्षा करें।'

अनेक कविताएँ अज्ञात कवियों की रचना हैं, और अन्य अनेक कविताओं को भिन्न-भिन्न सुभाषित-संग्रहों में भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा रचित बतलाया गया है, जिससे इन कविताओं के रचयिताओं के नामों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। निम्न पद्य अत्यन्त सरल होने पर भी अत्यन्त सुन्दर है :

अङ्कुरिते पल्लविते कोरकिते विकसिते सहकारे ।
अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितो विकसितश्च मदनः ॥

'आम्रवृक्ष के अंकुरित, पल्लवित, कलियों से युक्त और विकसित होने पर

---

१. राजशेखर द्वारा, जिन्होंने विकटनितम्बा, कर्णाट की विजयाङ्का (जिसको उन्होंने वैदर्भी रीति में कालिदास का समकक्ष बताया है), प्रभुदेवी लाटी, विज्जका और सुभद्रा का भी उल्लेख किया है। उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी उनके समान ही अलंकार-शास्त्र के विषय में प्रामाणिक लेखक मानी जाती है। काणे (साहित्य-दर्पण, पृ० ४१) विज्जका को विजयाङ्का और चन्द्रादित्य (लगभग ६६० ई०) की रानी विजयभट्टारिका से अभिन्न मानने का सुझाव देते हैं।

मदन भी अंकुरित, पल्लवित, कलियों से युक्त तथा विकसित हुआ है।' एक अत्यन्त भावुक बाला को विवश होकर छोड़ने वाले प्रेमी को जो धैर्य बँधाया गया है उसमें हास्य का पुट विद्यमान है:

> अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
> दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः।
> अद्य श्वः परिनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
> विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया॥

'उसने अपनी अच्छिन्न अश्रुधारा बन्धुओं को दे दी, चिन्ता गुरुजनों को अर्पित कर दी, दैन्य पूर्णरूप से परिजनों को दे दिया, और ताप सखियों में आहित कर दिया। आज या कल वह शान्ति को प्राप्त हो जायगी, केवल श्वासों से वह खिन्न हो रही है। धर्य धारण करो, उसने तुम्हारे वियोग-जनित दुःख को विभक्त कर लिया है।' निम्न पद्य में चन्द्रमा का एक चित्र बिलकुल दूसरे ही ढङ्ग के कवि द्वारा उपस्थित किया गया है:

> उदयगिरिसौधशिखरे ताराचयचित्रिताम्बरविताने।
> सिंहासनमिव निहितं चन्द्रः कन्दर्पभूपस्य॥

'उदयगिरि पर्वत रूपी महल की अटारी पर, तारों के समूह से चित्रित आकाशरूपी वितान में मदनमहीपति के लिए चन्द्रमा मानो सिंहासन की तरह रखा गया है।' परिस्थितियाँ वस्तुओं में बड़ा परिवर्तन कर देती हैं, जैसा कि निराश प्रेमी को प्रतीत होता है:

> प्राग् यामिनि प्रियवियोगविपत्तिकाले
> त्वय्येव वासरशतानि लयं गतानि।
> दैवात् कथं कथमपि प्रियसङ्गमेऽद्य
> चाण्डालि किं त्वमसि वासर एव लीना॥

'हे रात्रि, पहले जब मैं अपनी प्रियतमा के वियोग रूपी विपत्ति से दुःखी था, तब तुममें सैकड़ों दिवस लीन हो जाते थे; अब जब भाग्य ने बड़ी कठिनता से मेरा संयोग मेरी प्रिया से करवाया है, तब हे चाण्डालि ! क्या तुम्हीं दिवस में लीन हो गई हो?' पंखा झलने से भी प्रेम जाग उठता है:

> विरमत विरमत सख्यो नलिनीदलतालवृन्तपवनेन।
> हृदयगतोऽयं वह्निर्झटिति कदाचिज्ज्वलत्येव॥

'मेरी सखियो, रुको रुको; कमलिनी के पत्तों के पङ्खे की हवा से यह मेरे हृदय में स्थित अग्नि कदाचित् तुरन्त ही जल उठे।' हलायुध की रचना में एक अधिक उदास परन्तु सच्ची अन्तर्ध्वनि उपलब्ध होती है:

भीमेनात्र विजृम्भितं धनुरिह द्रोणेन मुक्तं शुचा
कर्णस्यात्र हया हृता (?हता) रथपतिर्भीष्मोऽत्र योद्धुं स्थितः।
विश्वं रूपमिहार्जुनस्य हरिणा संदर्शितं कौतुका-
दुद्देशास्त इमे न ते सुकृतिनः कालो हि सर्वङ्कषः॥

'यहाँ भीम ने अपनी शूरता दिखाई थी, यहाँ द्रोण ने दुःख से बाणों को छोड़ा था (?धनुष् त्याग दिया था), यहीं कर्ण के अश्व हृत हुए (?मारे गये) थे, यहाँ रथपति भीष्म युद्ध करने के लिए खड़े हुए थे, यहाँ अर्जुन को हरि ने कौतुक से अपना विश्वरूप दिखाया था; ये सारे प्रदेश वैसे ही वर्तमान हैं, परन्तु वे महाभाग अब नहीं रहे, काल निश्चय ही सर्वनाशी है।'

एक अन्य लेखक, जिनके बनाए हुए अनेक पद्य बतलाए जाते हैं, जो अमरु तथा भर्तृहरि के संग्रहों में भी उपलब्ध होते हैं[1], बौद्ध धर्मकीर्ति हैं। उनको हम मुख्यतया सातवीं शताब्दी ई० के एक नैयायिक के रूप में जानते हैं। उनका एक पद्य कविता के पक्षपातशून्य गुणदोषनिर्णय के अवसर को धूमिल करने में प्रतिष्ठा के फलों पर सुन्दर व्यङ्ग्य है:

शैलैर्बन्धयति स्म वानरहृतैर्वाल्मीकिरम्भोनिधिं
व्यासः पार्थशरैस्तथापि न तयोरत्युक्तिरुद्भाव्यते।
वागर्थौ च तुलाधृताविव तथाप्यस्मत्प्रबन्धानयं
लोको दूषयितुं प्रसारितमुखस्तुभ्यं प्रतिष्ठे नमः॥

'वाल्मीकि ने समुद्र को वानरों द्वारा लाये गये पत्थरों से बँधवाया है और व्यास ने पार्थ के शरों से, तथापि कोई भी इनकी अत्युक्ति की उद्भावना नहीं करता। मेरे प्रबन्धों में शब्द और अर्थ दोनों मानो तराजू में तोलकर रखे गए हैं, तो भी संसार उनको दूषित करने के लिए मुँह फैलाए बैठा है। हे प्रतिष्ठे! तुम्हें नमस्कार है।' वियोग में प्रियतमा का एक हृदयस्पर्शी चित्र है:

वक्त्रेन्दोर्न हरन्ति बाष्पपयसां धारा मनोज्ञां श्रियं
निःश्वासा न कदर्थयन्ति मधुरां बिम्बाधरस्य द्युतिम्।
तस्यास्त्वद्विरहे विपक्वलवलीलावण्यसंवादिनी
छाया कापि कपोलयोरनुदिनं तन्व्याः परं शुष्यति॥

'तुम्हारे वियोग में उसके अश्रुओं की धाराएँ उसके चन्द्र-सदृश मुख की मनोहारिणी शोभा को नहीं हरती हैं, न उसकी निःश्वासें उसके बिम्बाफल जैसे अधर की मधुर कान्ति को कम करती हैं; परन्तु उस तन्वी के कपोलों

---

१. F. W. Thomas, कवीन्द्रवचनसमुच्चय, pp. 47 ff.

की कोई अनिर्वचनीय कान्ति, जो पकी हुई लवली के लावण्य के सदृश थी, दिन प्रतिदिन नष्ट होती जा रही है।' अधिक सौन्दर्य भी बुरा है:

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता?

'विधाता ने उसका निर्माण करते समय लावण्यरूपी द्रव्य के व्यय की चिन्ता नहीं की और निर्माण के महान् क्लेश को भी स्वीकार किया। सुख से रहने वाले स्वच्छन्द मनुष्य के लिए उसको एक चिन्ताज्वर बना दिया। वह सुन्दर शरीर वाली भी अपने समान पति के अभाव में मारी गई। फिर उस तन्वी के शरीर को बनाते समय विधाता ने अपने मन में कौन सा प्रयोजन सोचा था?' इस पद्य को हमारे पास तक पहुँचाने वाले क्षेमेन्द्र ने तन्व्याः शब्द की अनुनासिकता को लेकर अपनी अरुचि प्रकट की है, जो छिद्रान्वेषणमात्र प्रतीत होता है।

जैसा कि हम भारवि तथा माघ दोनों की रचनाओं में देख चुके है, पद्य को कुछ गिने चुने अक्षरों से बनाने की कला[1] नीरस अतिशय की प्रवृत्ति में परिणत हो जाती हैं; परन्तु वास्तविक चमत्कार को नष्ट न करके भी इसका प्रयोग किया जा सकता है, जैसे शाश्वत-रचित बतलाये जाने वाले निम्नस्थ पद्य में:

स मे समासमो मासः सा म माससमा समा।
यो यातया तया याति या यात्यायातया तया॥

'जो महीना उसके चले जाने पर बीतता है वह एक वर्ष की भाँति प्रतीत होता है; जो वर्ष उसके आ जाने पर बीतता है, वह एक महीने की तरह मालूम होता है।' वैदग्ध्यपूर्ण लघुकाव्यात्मक पद्य भी कम नहीं हैं:

व्याकरणसिंहभीता अपशब्दमृगाः क्व विचरेयुः।
गुरुनटदैवज्ञभिषक्श्रोत्रियमुखगह्वराणि यदि न स्युः॥

'व्याकरण के सिंहों से भयभीत होकर अपशब्दरूपी मृग कहाँ विचरते यदि गुरुओं, नटों, दैवज्ञों, वैद्यों तथा श्रोत्रियों के मुखरूपी गह्वर न होते?' एक स्त्री अपने सर्वगुणसम्पन्न पति में दोष निकालती है:

---

१. वर्णनियम; तुलना कीजिए काव्यादर्श, ३।८३ इत्यादि; माघ, १९।१००, १०२, १०४, १०६, ११४.

अनेकैर्नायकगुणैः सहितः सखि मे पतिः ।
स एव यदि जारः स्यात् सफलं जीवितं भवेत् ।।

'हे सखि, मेरे पति में नायक के अनेक गुण विद्यमान हैं। यदि कहीं वह मेरा जार होता तो मेरा जीवन सफल हो जाता।' वैद्य का बरा हाल किया गया है:

वैद्यनाथ नमस्तुभ्यं क्षपिताशेषमानव ! ।
त्वयि विन्यस्तभारोऽयं कृतान्तः सुखमेधते ।।

हे वैद्यों में श्रेष्ठ, सम्पूर्ण मानव-जाति को समाप्त करने वाले आप को नमस्कार है। यमराज तुम पर अपना भार डाल कर सुख से रहते हैं।' निम्न पद्य में अन्तर्ध्वनि हास्य का पुट लिये हुए है:

दाहज्वरेण मे मान्द्यं वद वैद्य किमौषधम् ।
पिब मद्यं शरावेण ममाप्यानय कर्परम् ।।

'"मैं दाहज्वर से पीड़ित हूँ। वैद्यजी, बतलाइये इसकी क्या औषध है?" "प्याले में शराब पियो और एक खप्पड़ भरकर मेरे लिए भी लाओ।"'

क्षेमेन्द्र द्वारा कुमारदास-रचित बतलाये गए एक पद्य में समस्यापूरण की कला का एक अति उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होता है, जिसमें महाभाष्य में उल्लिखित एक पंक्ति का उपयोग किया गया है:[1]

अयि विजहीहि दृढोपगूहनं
त्यज नवसङ्गमभीरु वल्लभे ।
अरुणकरोद्गम एष वर्तते
वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः ।।

हे नवीन सङ्गम में भयभीत होने वाली प्रियतमे, अपने दृढालिंगन को ढीला करो और मुझे छोड़ दो। हे सुन्दर शरीरवाली, मुर्गे बोल रहे हैं। अब सूर्योदय होने वाला है।' यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि काशिकावृत्ति की पदमञ्जरी टीका में हरदत्त उक्त समस्यापूर्ति के लिए तीन नितान्त भिन्न पंक्तियां देते हैं, और क्षेमेन्द्र द्वारा कुमारदास-रचित बतलाये गए उपर्युक्त पद्य को रायमुकुट भारवि-रचित बतलाते हैं। कालिदास की मृत्यु के सम्बन्ध में प्रचलित विचित्र कथा[2] में हमें ज्ञात होता है कि राजा कुमारदास ने एक वेश्या के घर की दीवाल पर यह आधा पद्य लिख दिया था:

---

१. Peterson, JBRAS. xvi. 170; Nandargikar, Kumāradāsa, pp. xx ff.

२. Nandargikar, *op. cit.*, pp. iii. ff. उस पद्य को उपर्युक्त प्रकार से ठीक करना चाहिए। परम्परा के अनुसार हरदत्त का समय ८७८ ई० है, Śeshagiri, *Report*, 1893-4, pp. 13 ff.

कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते ।

और इसकी पूर्ति के लिए पुरस्कार देने की घोषणा की थी, जिसे कालिदास ने, अपनी मृत्यु के लिए, पूर्ण कर दिया था :

बाले तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम् ?

'कमल में कमल की उत्पत्ति सुनी तो जाती है, पर देखी नहीं जाती। फिर, हे बाले, तुम्हारे मुखकमल पर दो नीलकमल कैसे हैं ?' पुरस्कार को प्राप्त करने के लिए उस नीच वेश्या ने कवि कालिदास को मार डाला, परन्तु राजा अपने मित्र का लेख पहचान गया और उसने बलात् उस स्त्री से सत्य बात जान ली। दुःख के कारण उसने कालिदास के शरीर को भस्मसात् करनेवाली चिता में ही अपने को जला दिया।

२. धार्मिक कविता

देवताओं की स्तुति करने वाले स्तोत्रों की रचना का अन्त वैदिक कवियों के साथ ही नहीं हुआ, यद्यपि धर्म के क्रमिक परिवर्तन के कारण पूजा किये जाने वाले देवताओं में परिवर्तन हो गया। शिव, विष्ण तथा सूर्य, जिसकी पूजा सम्भवतः समय समय पर, विशेषतः मुसलमानों द्वारा फ़ारस के जीते जाने के बाद ईरान से आने वाले सूर्यपूजकों के सतत आगमन के कारण, दृढ़ होती रही—इन प्राचीन देवताओं के अतिरिक्त, देवता-समूह में कृष्ण, राम तथा दुर्गा जैसे अपेक्षाकृत नवीनतर देवताओं का आविर्भाव हुआ। दुर्गा वास्तव में साधारणतः एक स्थानीय देवी हैं जिनको शिव की भयावह पत्नी के आकर्षक आवरण से आवृत कर दिया गया है। रामायण और महाभारत में ऐसे स्तोत्र वर्तमान हैं; पुराणों और तन्त्रों में भी उनके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। साथ ही, किसी देवी या देव विशेष के शत अथवा सहस्र नामों के अनेक संग्रह भी बने थे। परन्तु स्वभावतः उच्च स्तर की कविता ने इस क्षेत्र को भी आक्रान्त कर लिया; और दार्शनिकों द्वारा उन देवताओं के प्रति, जिनकी वास्तविकता को व्यावहारिक दृष्टि से वे उतनी ही दृढता से स्वीकार करते थे जितनी दृढता से पारमार्थिक दृष्टि से उसका निषेध करते थे, स्तोत्र-रचना में भाग लेने की बात ने इस कला को और भी अधिक गरिमा प्रदान की। उपलब्ध स्तोत्रों की संख्या बहुत अधिक है, परन्तु उनमें से अनेक कवित्व की दृष्टि से किसी काम के नहीं हैं। अनेक स्तोत्र बहुत उत्तरकाल के हैं; और इनसे भी अधिक संख्या उन स्तोत्रों की है, जिनके निश्चित रचना-काल के सम्बन्ध

में, बाह्य साक्ष्य के अभाव तथा उनके बँधे हुए स्वरूप और शैली में किसी भी वैयक्तिक सङ्केत की विरलता के कारण, कुछ कहा नहीं जा सकता।

इस प्रकार की कविता की प्रारम्भिक परिष्कृत रचनाओं में से हमें बाण का **चण्डीशतक**[1] प्राप्त है, जिसमें १०२ पद्य हैं। यह मुख्यतया स्रग्धरा छन्द में है। शिव-पत्नी भवानी के सम्मान में, विशेषतः उनके द्वारा महिषासुर-वध जैसे महान् कार्य करने के निमित्त, इसकी रचना की गई है। यह कविता प्रार्थना का भी काम देती है, क्योंकि इसमें भवानी से अपने भक्तों की रक्षा करने की प्रार्थना भी की गई है। बाण अपनी भक्ति की वास्तविकता से हमें प्रभावित नहीं कर पाते, और यह कविता, प्रयत्नसाध्य और कभी कभी चातुर्यपूर्ण होने पर भी, उनके गद्य-काव्यों जैसे आकर्षण से रहित है। उनके दोष निम्नस्थ दो पद्यों में ही पर्याप्तरूप से दिखाई पड़ जाते हैं, जिन्हें सुभाषित-संग्रहों ने उत्कृष्ट समझकर उद्धृत किया है:

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमहिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥

'जब मरुद्गण भाग गये, सूर्य काँपने लगा, इन्द्र का वज्र ध्वस्त हो गया, चन्द्रमा आशङ्का से भर गया, पवन ने बहना बन्द कर दिया, कुवेर ने वैर त्याग दिया और विष्णु का अस्त्र कुण्ठित हो गया, उस समय सर्प की भाँति क्रुद्ध और अपने पौरुष पर अभिमान करने वाले महिषासुर को सरलता से निहत करती हुई, भक्तों पर अत्यधिक स्नेह करने वाली, भवानी आप लोगों के पाप को नष्ट करें।'

नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे॥

'अपने ऊँचे सिर का स्पर्श करने वाले चन्द्ररूपी चामर से सुन्दर तथा त्रैलोक्य रूपी नगर के निर्माण के मूलस्तम्भ रूप शम्भु को नमस्कार है।' भारतीय विद्वानों ने बाण के **चण्डीशतक** की अपेक्षा उनके तथाकथित श्वशुर अथवा साले मयूर की रचना को अधिक पसन्द किया, जिनको हम एक श्रृङ्गारी कवि के रूप में पहले ही जान चुके हैं। मयूर का **सूर्यशतक** निश्चय ही हर्ष-

1. देखिये G. P. Quackenbos, *The Sanskrit Poems of Mayūra* (1917), जिन्होंने बाण और मयूर के ग्रन्थों को सम्पादित और अनूदित किया है।

वर्धन के पिता और पितामह की सूर्यभक्ति की प्रशंसा के उद्देश्य से लिखा गया था, जिनके अभीष्ट देवता सूर्य का हर्ष बौद्धधर्म के प्रति अपने झुकाव के होने पर भी आदर करते थे। इस शतक में सूर्य की किरणों, अश्वों, सारथि, रथ तथा स्वयं सूर्यमण्डल की भी प्रशंसा की गई है। मयूर की अनेक कल्पनायें स्पष्टतः वैदग्ध्यपूर्ण हैं और उनकी शैली सुन्दर है। सारथि अरुण की तुलना उस नट से की गई है जो नाटक में प्रस्तावना का अभिनय करता है, किरणें वे पोत हैं जो मनुष्यों को उनके दुःख के कारणभूत पुनर्जन्म के भयावह सागर के पार पहुँचाते हैं, सूर्य का बिम्ब मोक्ष का द्वार है, और स्वयं सूर्यदेव देवताओं तथा मनुष्यों के पोषक एवं विश्व की व्यवस्था के नियामक हैं और ब्रह्मा, विष्णु और शिव से अभिन्न हैं।

मयूर की रुचि धार्मिक कविता में स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है। सुभाषितावली में शिव तथा पार्वती में होने वाले वार्तालाप-विषयक उनके कुछ पद्यों में श्लेषवक्रोक्ति अलङ्कार मिलता है:

चन्द्रग्रहणेन विना नास्मि रमे किं प्रवर्तयस्येवम् ।
देव्यै यदि रुचितमिदं नन्दिन्नाहूयतां राहुः ॥

' "चन्द्रग्रहण के विना (चाँद को ढके विना) मैं रमण नहीं करूँगी, आप मुझे क्यों इस तरह प्रवृत्त करते हैं ?" "नन्दिन्! यदि देवी को चन्द्रग्रहण ही प्रिय है तो राहु को बुला लाओ।" '

आरोपयसि मुधा किं नाहमभिज्ञा त्वदङ्गस्य ।
दिव्यं वर्षसहस्रं स्थित्वैव युक्तमभिधातुम् ॥

' "आप मुझ पर क्यों व्यर्थ आरोप करते हैं ? मैं आपके अङ्ग के विषय में कुछ नहीं जानती ।" "सहस्र दिव्य वर्षों तक मेरी गोद में बैठ कर भी तुम्हारा यह कहना उचित है क्या ? " ' अङ्ग शब्द का प्रयोग यहाँ अर्थद्वय का कारण है, और इससे पहले वाले पद्य में अस्मि का विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय की भाँति प्रयोग कवि के व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान को प्रदर्शित करता है। कवित्व की दृष्टि से ग्रामीण जीवन का निम्न चित्र कहीं अधिक आकर्षक है:

आहत्याहत्य मूर्ध्ना द्रुतमनुपिबतः प्रस्नुतं मातुरूधः
किञ्चित्कुञ्चैकजानोरनवरतचलच्चारुपुच्छस्य धेनुः ।
उत्तीर्णं तर्णकस्य प्रियतनयतया दत्तहुङ्कारमुद्रा
विस्रंसिक्षीरधारालवशबलमुखस्याङ्गमातृप्ति लेढि ॥

'सिर मार मार कर शीघ्रता से माँ के उतरे हुए दूधवाले तथा टपकते हुए थन को पीते हुए, एक घुटने को थोड़ा झुकाये हुए, निरन्तर अपनी चञ्चल एवं सुन्दर

पूँछ को हिलाने वाले तथा निकलती हुई दूध की धारा की बूँदों से चित्रित मुख वाले बछड़े के अङ्गों को गाय हुङ्कार की मुद्रा के साथ बच्चे के प्यार के कारण जी भर कर चाटती है।' इस पद्य में हमारे नेत्रों के समक्ष एक सम्पूर्ण चित्र खिंच जाता है और वह भी एक ऐसे रूप में जिसे उस सौन्दर्य के साथ चित्रित करना अंग्रेज़ी भाषा की सामर्थ्य के बाहर है।

अनेक प्रकारों से मयूर दण्डी द्वारा बतलाई गई गौड़ी रीति के एक प्रतिनिधि कवि हो सकते हैं। वे ऐसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं जो प्रायः दुरूह होते हैं, पर व्युत्पत्ति के आश्रय से वे समझ में आ सकते हैं, जैसे तप्त किरणों वाले सूर्य के लिए **अशिशिरमहस्** का या मेरु के लिए **हेमाद्रि** का प्रयोग। उनके काव्य में अनुप्रास और यमक की भरमार है, और उपमाओं और रूपकों की प्रचुरता के साथ ही उन्हें यत्नसाध्य श्लेष, शब्दाडम्बर और अत्युक्ति प्रिय हैं। वे अर्थ के अनुकूल अनेक श्रुतिकटु वर्णों के प्रयोग से प्रभाव उत्पन्न करना और एक ही पद्य में भाव-परिवर्तन दिखाने के लिए तदनुकूल ध्वनि-परिवर्तन कर देना पसन्द करते हैं। कुछ विशिष्ट उदाहरण निम्नलिखित हैं :

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसंघैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्॥

'जो (सूर्य) अकेला ही पापसमूहों के कारण गली हुई नाक, पैर और हाथ वाले, घावभरे अङ्गों के कारण दूर तक दुर्गन्ध फैलाने वाले, घर्घर एवं अस्पष्ट स्वर वाले कोढ़ियों को भी अच्छा करके उन्हें पुनः सुघटित अङ्गों वाला बना देता है, हृदय में द्विगुणित प्रचुर दया के वशीभूत तथा निर्विघ्न व्यापार वाले, प्रखर किरणों से युक्त उस सूर्य की सिद्धसमूहों से पूजित रश्मियाँ शीघ्र ही आप लोगों के पापों का नाश करें।'

बिभ्राणः शक्तिमाशु प्रशमितबलवत्तारकौर्जित्यगुर्वीं
कुर्वाणो लीलयाधः शिखिनमपि लसच्चन्द्रकान्तावभासम्।
आदध्यादन्धकारे रतिमतिशयिनीमावहन् वीक्षणानां
बालो लक्ष्मीमपारामपर इव गुहोऽहर्पतेरातपो वः॥

'चमकते हुए तारों को निस्तेज करने वाली अपनी महिमा से महती शक्ति को धारण करते हुए (कार्त्तिकेय के पक्ष में—बलवान् तारकासुर को नष्ट करने वाली अपनी महिमा से गुर्वी शक्ति को धारण करते हुए), अग्नि और प्रकाशमान चन्द्र की सुन्दर कान्ति को भी विलासपूर्वक नीचा दिखाते हुए (अन्यत्र, पूँछ के

प्रकाशमान चन्द्रकों से युक्त मयूर को विलासपूर्वक अपना वाहन बनाते हूए), अन्धकार के समय नेत्रों को अत्यन्त सुख देते हुए (अन्यत्र—अन्धकासुर के शत्रु शिव के नेत्रों को अत्यधिक सुख प्रदान करते हुए), दूसरे कार्त्तिकेय के समान सूर्य का बालातप आप लोगों को अपार समृद्धि प्रदान करे।' व्यतिरेक, जिसमें समान प्रतीत होने वाली दो वस्तुओं में से एक का वैशिष्ट्य दिखाया जाता है; विरोध, जिसमें आपाततः प्रतीयमान विरोध का प्रदर्शन होता है; दीपक और तुल्ययोगिता, जिसमें एक धर्म से सम्बद्ध अनेक वस्तुओं का एकत्र कथन होता है, जैसे **साद्रिद्यूर्वीनदीशा दश दिशः** अर्थात् पर्वतों, आकाश, पृथ्वी तथा समुद्रों सहित दश दिशाएँ—इन अलङ्कारों के भी अच्छे उदाहरण उपलब्ध होते हैं। **चतुरक्षचम्**, कर्तृवाच्य में **विभु** और वैदिक **शम्** का प्रयोग व्याकरण-सम्बन्धी अनूठापन है। **तात्** में अन्त होने वाला लोट् लकार का रूप, आशीर्लिङ् तथा **अधिजलधि** और **वितरतितराम्** जैसे प्रयोग उनके काव्य की विशिष्टता हैं। बाण के चण्डीशतक में भी इसी प्रकार की अनेक बातें दृष्टिगत होती हैं, यद्यपि वे मयूर के समान लम्बी लम्बी उपमाओं का प्रयोग नहीं करते। बाण कथोपकथन के बिना ही पात्रों के मुख से आधे के लगभग पद्य कहलवा कर अपनी रचना में प्राण फूंक देते हैं। इस प्रकार चण्डी के मुख से दस पद्य कहलाये गये हैं, जिनमें वे या तो देवताओं को ताने देती हैं या महिषासुर को फटकारती हैं या शिव को सम्बोधित करके कुछ कहती हैं। उन्नीस पद्यों में महिषासुर या तो देवताओं का उपहास करता है या चण्डी की निन्दा करता है। चण्डी की दासी जया या तो परिहास करती है या देवताओं को बढ़ावा देती है। अन्य वक्ताओं में शिव, कार्त्तिकेय, देवगण, मुनिगण, चण्डी का चरण और यहाँ तक कि उनके चरणों के अँगूठों के नख भी हैं।

राजशेखर द्वारा सुरक्षित परम्परा के अनुसार, हर्ष की सभा में बाण तथा मयूर के समकालीन मातङ्ग दिवाकर भी थे[1], जिनको चण्डाल भी कहा जाता था, यद्यपि ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि इस उपाधि का अर्थ वास्तव में किसी चण्डाल जाति के व्यक्ति से है जो राजसभा में बड़े बड़े कवियों का साथी था। मातङ्ग दिवाकर की जो अवशिष्ट रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं, उनसे इस बात का संकेत मिलता है कि वे एक चतुर सभासद् थे। उनका एक पद्य हर्ष की प्रशंसा जैसा प्रतीत होता है, जिसकी अभिनवगुप्त ने ग्राम्यत्व के लिए निन्दा की है। इस पद्य का भाव सम्भवतः यह है कि हर्ष को एक पुत्र अवश्य प्राप्त होगा, जो उनका उत्तराधिकारी होगा, जैसी

१. Cf. Quackenbos, *Mayūra*, pp. 10 f.

कि निस्सन्देह हर्ष की तीव्र इच्छा रही होगी, यद्यपि वह निष्फल ही रही :

आसीन्नाथ पितामही तव मही माता ततोऽनन्तरं
सम्प्रत्येव हि साम्बुराशिरशना जाया जयोद्भूतये ।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समस्तशास्त्रविदुषां लोकेश्वराणामिदम् ॥

'हे राजन्, समुद्र की मेखला वाली यह पृथ्वी पहले तुम्हारी पितामही थी, फिर वह तुम्हारी माता बन गई, और अब तुम्हारी जय को पूर्ण करने के लिए तुम्हारी पत्नी हो गई। जब तुम्हारी आयु के सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब फिर वही तुम्हारी निर्दोष पुत्रवधू बन जायगी। समस्तशास्त्रों के विद्वान् लोकेश्वरों के लिए यह उचित है ?'

कुछ लोगों का ऐसा सुझाव है कि यह कवि जैन लेखक मानतुङ्ग से अभिन्न हैं, जिनके द्वारा जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव के सम्मान में लिखे गये **भक्तामरस्तोत्र**[१] को एक दूसरी कथा द्वारा बाण तथा मयूर से सम्बन्धित कर दिया गया है। कहा जाता है कि मयूर ने सूर्य की इतनी सुन्दर प्रशस्ति लिखी कि उनको कुष्ठ रोग से मुक्ति प्राप्त हो गई। तदनन्तर बाण ने ईर्ष्या से अभिभूत होकर अपने हाथों और पैरों को काटकर **चण्डीशतक** की रचना की, जिससे वे भक्त की स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पूर्ववत् स्वस्थ कर देने में देवी की शक्ति का प्रदर्शन कर सकने में सफल हो सकें। मानतुङ्ग ने तब जिनों की शक्ति को प्रमाणित करने के लिए अपने को बयालीस शृङ्खलाओं से बँधवा कर एक मकान में बन्द करवा दिया। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी कविता का पाठ किया और वे तुरन्त बन्धनमुक्त हो गये। सम्भवतः इस कथा का मूल केवल उनकी कविता में पाशों से आबद्ध जनों को बचाने के लिए जिनों की शक्ति के उल्लेख में है, जो निश्चय ही मनुष्यों को सांसारिक जीवन से बाँधने वाले पाशों के लिए रूपक है। मानतुङ्ग बाण के समकालीन हो सकते हैं, परन्तु उनका समय बाण से १५० से २०० वर्ष पीछे तक भी हो सकता है। वे कोई नगण्य कवि नहीं हैं, प्रत्युत काव्यशैली की बारीकियों के वास्तविक आचार्य हैं। ऋषभदेव की प्रशंसा उनको बुद्ध, शङ्कर, ब्रह्मा तथा पुरुषोत्तम कह कर की गई है; सैकड़ों माताएँ सैकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं, परन्तु कोई भी मा उनके समान पुत्र नहीं उत्पन्न करती; आकाश के प्रत्येक भाग में तारे हैं, परन्तु केवल प्राची दिशा ही सूर्य को जन्म देती है। उनकी शैली के गुण तब स्पष्ट होते हैं जब उनकी तुलना

१. Ed. and trans. H. Jacobi, IS. xiv. 359 ff. Quackenbos (पृ० १८) उनका समय बहुत अधिक पूर्व निश्चित करते हैं।

सिद्धसेन दिवाकर के **कल्याणमन्दिरस्तोत्र**[1] के यत्नसाध्य ४४ पद्यों से की जाती है, जो जान बूझकर अनुकरण में लिखा गया है। अन्य जैन स्तोत्र कवित्व की दृष्टि से और भी हीन कोटि के हैं।

कुछ बौद्ध स्तोत्र हर्षवर्धनरचित भी बतलाये जाते हैं, जो हमारे विचार में हर्ष के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में लिखे गये होंगे। इनमें **अष्टमहाश्रीचैत्यस्तोत्र**[2] तथा **सुप्रभातस्तोत्र**[3] भी हैं। अन्तिम को नैषधीय के रचयिता श्रीहर्ष की रचना भी कहा जाता है। एक उत्तरकालीन लेखक, सर्वज्ञमित्र, देवी तारा के प्रति लिखे गये **स्रग्धरास्तोत्र**[4] के रचयिता हैं। तारा बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय में मातृदेवी तथा त्राणकारिणी के रूप में अत्यन्त लोकप्रिय देवी बन गई थीं। ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि सर्वज्ञमित्र बौद्धधर्म का आश्रय ग्रहण करने के पूर्व धनवान् थे, किन्तु उसके पश्चात् वे निर्धन हो गये। एक ब्राह्मण ने अपनी पुत्री का विवाह करने के लिए उनसे धन की याचना की। उन्होंने अपने को एक राजा के हाथ बेच दिया जो नरमेध यज्ञ में सौ मनुष्यों की बलि देना चाहता था। परन्तु वहाँ वध किये जाने वाले अन्य मनुष्यों के दुःखों से विचलित होकर उन्होंने उपर्युक्त स्तोत्र की रचना की और देवी तारा के हस्तक्षेप द्वारा सब के प्राण बचा लिये। इनके अतिरिक्त अन्य अनेकानेक स्तोत्र हैं, जिनके काल का निर्णय संशयग्रस्त है। यह नहीं कहा जा सकता कि वे काव्य के किसी उच्च स्तर तक पहुँच सके हैं, यद्यपि उनमें से कुछ वास्तव में सच्ची धार्मिक भावना से परिपूर्ण हैं।

यह अनुभव कर सकना कठिन है कि काश्मीरी कवि रत्नाकर की **वक्रोक्तिपञ्चाशिका**[5] में भी कोई धार्मिक उद्देश्य निहित है। वे पचास पद्यों में उस सन्दिग्धार्थता का उदाहरण देने की अपनी उल्लेखनीय शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, जिसमें संस्कृत भाषा समर्थ है। निम्नलिखित उदाहरण साधारणतया सरल है। पार्वती शिव से कहती हैं :

---

१. Ed. and trans. IS. xiv. 376 ff.; cf. IA. xlii. 42 ff.

२. Lévi, OC. X, ii. 189 ff.; Ettinghausen, *Harṣa-Vardhana*, pp. 176 ff.

३. Thomas, JRAS., 1903, pp. 703-22. सुभाषितसंग्रह तथा अभिलेख-सम्बन्धी पद्यों के विषय में देखिए ckson, *Priyadarśikā*, pp. xliii. ff., and references.

४. See G. de Blonay, *La déesse bouddhique Tārā* (1895); Hīrānanda, *Mem. Arch. Survey India*, no. 20.

५. KM. i. 101-14; Bernheimer, ZDMG. lxiii. 816 ff.

त्वं मे नाभिमतो भवामि सुतनु श्वश्र्वा अवश्यं मतः
साधूक्तं भवता न मे रुचित इत्यत्र ब्रुवेऽहं पुनः ।
मुग्धे नास्मि नमेरुणा ननु चितः प्रेक्षस्व मां पातु वो
वक्रोक्त्येति हरो हिमाचलभुवं स्मेराननां मूकयन् ॥

' "तुम मुझे प्रिय नहीं लगते (दूसरा अर्थ—तुम मेरे नाभिकुल अर्थात् मैके वालों को अच्छे लगते हो)।" "अरी सुतनु, मैं अपनी सास का अवश्य प्रिय हूँ।" "तुमने ठीक कहा। मैं फिर कहे देती हूँ तुम मुझे अच्छे नहीं लगते (दूसरा अर्थ—नमेरुचितः अर्थात् तुम नमेरुपुष्पों से व्याप्त हो)।" "अरे भोली, मैं नमेरुपुष्पों से व्याप्त नहीं हूँ, मेरी ओर देखो तो।" इस प्रकार मुस्कराती हुई पार्वती को वक्रोक्ति से चुप कराते हुए शङ्कर आप लोगों की रक्षा करें।' इस पद्य में पहला श्लेष नाभिमतः की सन्दिग्धार्थता पर आश्रित है, और दूसरा केवल इस बात पर कि शङ्कर न मे रुचितः का अर्थ नमेरुणा चितः लगाते हैं। हम यह सोच सकते हैं कि रत्नाकर ने समझा होगा कि जैसे इन वाक्परिष्कारों से मनुष्य प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही उनकी इस प्रकार की कविता के समर्पण से देवता भी प्रसन्न हो जायेंगे। उनके काव्य से उनकी शिवभक्ति के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

यदि हम उस परम्परा पर विश्वास कर सकें, जो शङ्कर को अनेक स्तोत्रों का रचयिता बतलाती है, विशेषतः देवी के स्तोत्रों का, जिन्हें शाक्त लोग ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च शक्ति के रूप में पूजते थे, तो हमें दार्शनिक शङ्कर को एक अत्यन्त उत्साहपूर्ण तथा उच्चकोटि का गीति-कवि मानना पड़ेगा।[1] सत्य के पारमार्थिक और व्यावहारिक, इन दोनों पक्षों को लेकर चलने वाले अपने सिद्धान्त के कारण शङ्कर लोकप्रचलित विश्वासों को पूर्णतया स्वीकार कर सके और अपनी भावनाओं को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सके कि तत्त्वज्ञानियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को भी वे स्वीकार्य हो सकीं। उन्होंने इस प्रकार के स्तोत्र-काव्यों की रचना की थी, इस विषय में सन्देह करने के लिए कोई कारण नहीं है। यह कहना एक दूसरी बात है कि परम्परा से उनके द्वारा रचित बतलाई जानेवाली कविताओं में से कौन सी वास्तव में उनकी अपनी हैं। समय के सतत बीतते जाने के सम्बन्ध में एक गम्भीर चेतावनी शिवापराधक्षमापणस्तोत्र में दी गई है :

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः ।

---

१. S. Venkataramanan, *Select Works of Srisankaracharya*, and the बृहत्स्तोत्ररत्नाकर।

लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितं
यस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना ॥

'प्रतिदिन हमारे देखते ही देखते आयु नष्ट होती जाती है, बीते हुए दिवस फिर नहीं लौटते, काल जगत् को खाये डालता है, लक्ष्मी पानी के तरंगों के भंग की भाँति चपल है और जीवन बिजली की चमक के सदृश चञ्चल है। अतः हे शरण देने वाले शिव, आप अब शरण में आये हुए मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।' कृष्ण को सम्बोधित करके रचा गया निम्न पद्य कुछ अधिक नीरस है :

विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां
विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स विभुः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥

'जिसका ध्यान न करने से मनुष्य सूकर आदि की पशुयोनि को प्राप्त होते हैं, जिसको न जानने से वे जन्म और मृत्यु के भय को प्राप्त होते हैं, जिसका स्मरण न करने से वे सैकड़ों कीड़ों के रूप में बार बार जन्म लेते हैं, वह संसार का स्वामी, रक्षा में समर्थ, सर्वत्र व्याप्त कृष्ण मेरे नेत्रों का विषय बन जाय।' अस्तित्व की नितान्त शून्यता तुकान्त द्वादशपञ्जरिकास्तोत्र में बहुत सुन्दरता के साथ चित्रित की गई है :

मा कुरु जनधनयौवनगर्वं, हरति निमेषात् कालः सर्वम् ।
मायामयमिदमखिलं हित्वा, ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा ॥

'हे मानव, अपने धन और यौवन का गर्व मत करो, एक निमेष में ही काल सब कुछ हर लेता है। इस सारे मायामय जगत् को त्याग दो और ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मपद में प्रवेश करो।' देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र में भक्ति और विश्वास अभिव्यक्ति की चरमसीमा पर जा पहुँचते हैं :

विधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया
विधेयाशक्यत्वात् तव चरणयोर्या च्युतिरभूत् ।
तदेतत् क्षन्तव्यं जननि सकलोद्धारिणि शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

'सब का उद्धार करने वाली कल्याणी मातः, यदि अनुष्ठानविधि के अज्ञान, धनहीनता, आलस्य अथवा असामर्थ्य के कारण तुम्हारे चरणों में मेरा जो-अपराध हो गया है, उसे क्षमा कर दीजिए। पुत्र बुरा हो सकता है, परन्तु

माता कभी बुरी नहीं होती।'

> पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः
> परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः ।
> मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
> कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

'हे कल्याणी मातः, इस पृथिवी पर तुम्हारे अनेक अच्छे पुत्र ह, किन्तु उनमें ही मैं तुम्हारा असाधारण चञ्चल पुत्र हूं । फिर भी तुम्हारे द्वारा मेरा त्याग उचित नहीं है। पुत्र बुरा हो सकता है, परन्तु माता कभी बुरी नहीं होती।'

अन्य अनेक स्तोत्रों में **भवान्यष्टक** त ा बीस शिखरिणी पद्यों में रचित आनन्दलहरी शङ्कररचित बतलाई जाती हैं। देवी के प्रति लिखे गये अन्य स्तोत्रों में **अम्बाष्टक** तथा पांच स्तुति-पद्यों वाली **पञ्चस्तवी** है, जिनके रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं । कई स्तोत्रों के, जिनमें प्रधानतः गद्य में लिखा हुआ **श्यामलादण्डक**, **सरस्वतीस्तोत्र** और **मङ्गलाष्टक** सम्मिलित हैं, कालिदास-रचित कहे जाने में सत्य का आभासमात्र भो नहीं है। **मङ्गलाष्टक** स्तोत्र तञ्जर (Tanjur) की तिब्बती भाषा से संस्कृत में पुनः परिवर्तित किया जा सकता है । पांच सौ पद्यों में लिखा हुआ **पञ्चशती** स्तोत्र एक रहस्यमय कवि, मूक, द्वारा रचित बतलाया जाता है । वे शङ्कर के समकालीन कहे जाते हैं; परन्तु यह बात अत्यन्त सन्देहास्पद है । अलंकार-शास्त्र पर लिखने वाले आनन्द-वर्धन (लगभग ८५० ई०) के **देवीशतक** के सम्बन्ध में हमारी आधारभूमि अधिक दृढ़ है । इसमें आनन्दवर्धन के अत्यधिक अलंकृत शैली में लिखित सौ पद्य उनके इस सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं कि कवि के अलङ्कारों की ओर अ क ध्यान देने से व्यञ्जना की उपेक्षा होती है, जो काव्य में अन्तर्निहित उसका प्राणप्रद तत्त्व है । परन्तु उनका अपने सिद्धान्त से यह अलग हट जाना उनके इस कथन से क्षम्य हो जाता है कि देवता-सम्बन्धी प्रशस्तियों में रस का स्थान गौण होता है । यहाँ यह कह देना उचित होगा कि आनन्दवर्धन एक महान् कवि तो क्या, सम्भवतः एक अच्छे कवि भी नहीं हैं। यह बात इस उक्ति को प्रमाणित करती है कि आलोचक बहुत कम ही अच्छे कवि होते हैं। उत्पलदेव की **स्तोत्रावली** ९२५ ई० के लगभग लिखी गई थी। यह शिव के सम्मान में लिखी गई छोटे छोटे स्तोत्रों की एक आवलि है, जिसमें कुछ स्तोत्रों में नवीनीकरणमात्र है, कुछ अधिक अलंकृत शैली म हैं; परन्तु असाधारण गुण का कोई भी नहीं है । सम्भवतः उसी शताब्दी में वैष्णव

कवि कुलशेखर ने विष्णु के सम्मान में अपना मुकुन्दमाला स्तोत्र लिखा। यह विचित्र बात है कि १३वीं शताब्दी में पैगन (Pagan) जैसी दूर जगह के एक अभिलेख में उसका एक पद्य उद्धृत पाया जाता है।

११वीं शताब्दी में लीलाशुक अथवा बिल्वमंगल[1] ने कृष्ण के सम्मान में लिखे गये ११० पद्यों का कृष्णकर्णामृत अथवा कृष्णलीलामृत रचा, जो भारत में बहुत लोकप्रिय रहा है। सुभाषितसंग्रहों में भी उसके पद्य उद्धृत हैं। एक पद्य में कवि की सरल तथा आकर्षक शैली के गुण ठीक से प्रकट होते हैं :

कृष्ण त्वं नवयौवनोऽसि चपलाः प्रायेण गोपाङ्गनाः
कंसो भूपतिरब्जनालभिदुरग्रीवा वयं गोदुहः ।
तद् याचेऽञ्जलिना भवन्तमधुना वृन्दावनं मद्विना
मा यासीरिति गोपनन्दवचसा नम्रो हरिः पातु वः ।

' "हे कृष्ण, तुम्हारा नया यौवन है, गोपांगनायें प्रायः चपल होती हैं, कंस राजा है, और हम ग्वालों की ग्रीवा कमलनाल की भाँति भंगुर है। इस लिए मैं तुमसे हाथ जोड़कर याचना करता हूँ कि तुम मुझे साथ लिए बिना वृन्दावन मत जाओ।" इस प्रकार नन्द गोप के वचन से नम्र हुए कृष्ण तुम सब की रक्षा करें।'

१२वीं शताब्दी में लक्ष्मणसेन की सभा में जयदेव के समकालीन कवि-रत्नों द्वारा लिखी गई कृष्ण की प्रशस्तियाँ हमें उपलब्ध होती हैं। वे रूपगोस्वामी की पद्यावली में सुरक्षित हैं, जो चैतन्य के अनुगामी और भक्त के रूप में विख्यात हैं। स्वयं लक्ष्मणसेन द्वारा एक मनोरञ्जक पद्य रचा गया बतलाया जाता है :

आहूताद्य मयोत्सवे निशि गृहं शून्यं विमुच्यागता
क्षीबः प्रेष्यजनः कथं कुलवधूरेकाकिनी यास्यति ।
वत्स त्वं तदिमां नयालयमिति श्रुत्वा यशोदागिरो
राधामाधवयोर्जयन्ति मधुरस्मेरालसा दृष्टयः ॥

' "मने इसे आज उत्सव में बुलाया था। यह रात में घर को सूना छोड़कर आ गई थी। नौकर इस समय शराब पीकर पड़े हैं। यह कुलवधू अकेली कैसे जायेगी। इसलिए, हे पुत्र, तुम इसे इसके घर पहुँचा आओ।" ऐसे यशोदा के वचनों को सुनकर राधा और माधव की मधुर मुस्कराहट से

१. उनसे सम्बद्ध आख्यानों के विषय में देखिए Seshagiri, *Report*, 1893-4, pp. 57 f.

युक्त अलस दृष्टियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं।' जयदेव ने उमापतिधर[1] का उल्लेख गूढार्थक भाषा के प्रयोग में कुशल कह कर किया है। यह कथन हमें प्राप्त हुई उमापतिधररचित एक प्रशस्ति में अप्रचलित शब्दों अथवा अर्थों के प्रचुर प्रयोग से पूर्णतया प्रमाणित हो गया है। शयनगृह में कृष्ण और उनकी पत्नी रुक्मिणी के बीच होनेवाला एक मनोरञ्जक दृश्य उनका खींचा हुआ बतलाया जाता है। रुक्मिणी को अपने पति के प्रेम-सम्बन्धों के विषय में बहुत शिकायत है :

निर्मग्नेन मयाम्भसि प्रणयतः पाली समालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणो
रुक्मिण्या शिथिलीकृतः सकपटं कण्ठग्रहः पातु वः॥

"तुमसे यह झूठी बात किसने कही कि पानी में गोता लगाये हुए मैंने प्रेमपूर्वक एक युवती का आलिङ्गन कर लिया? हे राधे, तुम व्यर्थ में दुःखी होती हो।" इस प्रकार कृष्ण को स्वप्न में बड़बड़ाते हुए सुनकर रुक्मिणी ने बहाना बनाकर जिस कण्ठालिङ्गन को ढीला कर दिया, वह आलिङ्गन तुम्हारी रक्षा करे।'

शरण कवि के सम्बन्ध में जयदेव से हमें ज्ञात होता है कि वे दुरूहद्रुत[2] अर्थात् समझने में कठिन पद्यों की आशु रचना में कुशलता के लिए प्रशंसा के योग्य थे। यदि हम यह स्मरण रखें कि संस्कृत भाषा के कवि किसी दिये गये पद्य या पद्यांश को लेकर उस विषय पर पद्य-रचना करने में अपनी क्षमता पर गर्व करते थे और साथ ही उनको अपनी रचनाओं के अत्यधिक परिष्कृत होने का भी गर्व होता था, जिनको ठीक से समझने तथा उनका आस्वाद लेने के लिए छन्द, काव्यशास्त्र, कोष तथा व्याकरण का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित था, तो उपर्युक्त दुरूहद्रुत शब्द प्रशंसा-परक जान पड़ेगा, और इसी तात्पर्य से उसका प्रयोग भी किया गया था। यह विशेषण शरण कवि के उपलब्ध पद्यों को दृष्टि में रखते हुए ठीक ही

१. देखिये Pischel, *Die Hofdichter des Lakṣamaṇasena* (1893). धोई का पवनदूत, जिसमें एक गन्धर्व कन्या लक्ष्मणसेन के पास सन्देश भेजती है, मेघदूत पर आधारित है; देखिये M. Chakravarti, JPASB. 1905, pp. 41-71.

२. श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती (भाषावृत्ति, पृ० ७) दुर्घटवृत्ति के लेखक शरणदेव के लिए इस शब्द का उल्लेख करते हैं; रुक्मिणीकल्याण (Madras Catal., xx. 7850) में वामन की एक उपाधि में दुरूहकाव्य आता है।

प्रतीत होता है, क्योंकि वे प्रायः दूसरे कवियों के ऐसे अनुकरण हैं, जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, निम्न पद्य अमरुरचित बतलाये जाने वाले एक सरल पद्य का अधिक प्रयत्नसाध्य रूप है :

> मुरारिं पश्यन्त्याः सखि सकलमङ्गं न नयनं
> कृतं यच्छृण्वत्या हरिगुणगणं श्रोत्रनिचितम् ।
> समं तेनालापं सपदि रचयन्त्या मुखमयं
> विधातुर्नैवायं घटनपरिपाटीमधुरिमा ॥

'हे सखि, मुरारि को देखती हुई मेरे सारे अंगों को विधाता ने नेत्र नहीं बना दिया, उनके गुणों को सुनती हुई मेरे सारे अंगों को कान में नहीं रख दिया, उनके साथ वार्तालाप करती हुई मेरे सारे अङ्गों को मुखमय नहीं बना दिया। निश्चय ही यह विधाता की घटनपरिपाटी की मधुरता नहीं है।"

ऐसा प्रतीत होता है कि धोयी अथवा धोई की उपाधियां श्रुतधर अथवा श्रुतिधर (जिसका अर्थ सम्भवतः 'तीव्र स्मरणशक्ति वाला' है) और कविराज थीं, और इन तीन नामों से उदाहृत पद्य उसी एक कवि के ज्ञात होते हैं। कविराज-रचित एक पद्य में, जो रूपगोस्वामी द्वारा उदाहृत है, एक विशेष मनोरञ्जकता है :

> क्वाननं क्व नयनं क्व नासिका
> क्व श्रुतिः क्व च शिखेति देशितः ।
> तत्र तत्र विहिताङ्गुलीदलो
> बल्लवीकुलमनन्दयत् प्रभुः ॥

"बताओ मेरा मुंह कहाँ है? आँख कहाँ है? नाक कहाँ है? कान कहाँ है? चोटी कहाँ है?" इस प्रकार कहे गये कृष्ण ने अपनी अँगुली से वहाँ वहाँ छूकर ग्वालिनों को आनन्दित किया।'

अन्य अनेक स्तोत्रकाव्यों में **महिम्नःस्तव**[1] का उल्लेख किया जा सकता है, जो शिव की स्तुति है, परन्तु जिसे विष्णु की महिमा का वर्णन करने वाला भी माना गया है। इसे पुष्पदन्त-रचित बताया जाता है। सम्भवतः पुष्पदन्त नाम वास्तविक नहीं है। यह स्तोत्र जयन्तभट्ट की **न्यायमञ्जरी** को ज्ञात प्रतीत होता है और इसलिए यह नवीं शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। धार्मिक उत्साह के, सम्भवतः उत्तरकालीन, विचित्र विकास के रूप में **चण्डीकुचपञ्चाशिका**[2]

---

१. भारत में बहुत बार प्रकाशित हुआ है। राजशेखर ने इसको उद्धृत किया है।

२. Ed. KM. ix. 80 ff. (कुल मिलकर ८३ पद्य हैं)।

अर्थात् चण्डी के स्तनों पर लिखे गये पचास पद्यों का उल्लेख किया जा सकता है, जो किसी लक्ष्मण आचार्य द्वारा रचित है। दूसरा एक भिक्षाटनकाव्य[1] शिवदास अथवा उत्प्रेक्षावल्लभ का लिखा हुआ है, जिसमें अप्सराओं के उस समय, के भावों का वर्णन है जब शिव संन्यासी के वेश में स्वर्ग में भिक्षा मांगने जाते हैं। इस काव्य का लेखक आश्चर्यजनक रुचि के साथ प्रेम में स्त्रियों के आचरण के सम्बन्ध में कामसूत्र के नियमों से अपनी गहरी अभिज्ञता प्रदर्शित करने के लिए इस माध्यम का आश्रय लेता है।

सुभाषित-संग्रहों में कुछ सुन्दर धार्मिक पद्य सुरक्षित हैं:

यदि नास्मि महापापी यदि नास्मि भयाकुलः।
यदि नेन्द्रियसंसक्तः तत्कोऽर्थः शरणे मम॥

'यदि मैं महापातकी न होता, भयभीत न होता, इन्द्रियों में आसक्त न होता, तो मेरे लिए शरण का प्रयोजन ही क्या था?' उपर्युक्त पद्य भट्ट सुनन्दनरचित कहा जाता है, जो अन्य किसी प्रकार भी विख्यात नहीं हैं। निम्न पद्य के रचयिता गङ्गादत्त भी समानरूप से अज्ञात हैं:

अभिधावति मां मृत्युरयमुद्‌गूर्णमुद्‌गरः।
कृपणं पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम्॥

'मृत्यु मुद्‌गर उठाये हुए मेरी ओर दौड़ी आ रही है। हे पुण्डरीकाक्ष, शरण में आये हुए मुझ दयनीय अवस्था वाले की रक्षा करो।' कृष्ण के बालरूप का यह सुन्दर चित्र भी किसी अज्ञात कवि का है:

करारविन्देन पदारविन्दं
मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
अश्वत्थपत्रस्य पुटे शयानं
बालं मुकुन्दं सततं स्मरामि॥

'अपने करकमल से चरणकमल को मुखकमल में डालते हुए, अश्वत्थ के पत्ते के दोने पर सोते हुए बाल मुकुन्द का मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ।' इन धार्मिक कवियों में एक विक्रमादित्य नामक कवि भी हैं, परन्तु उनके व्यक्तित्व का निर्धारण करना असम्भव है। जो विभिन्न पद्य उनके द्वारा रचित बतलाये जाते हैं, वे एक व्यक्ति के लिखे नहीं मालूम होते।[2]

---

१. देखिये IOC. i. 1448 f.

२. स्तोत्रों की ज़ोरदार प्रशंसा के लिए देखिये Sivaprasad Bhattacharya, IHQ. 340 ff.

३. सुभाषितसंग्रह

गीति तथा सूक्ति काव्यों के रचयिता कवियों के विषय में, जिनकी रचनायें लुप्त हो गई हैं, हमें सुभाषितसंग्रहों से ज्ञान होता है, जिनके कारण पूर्वोदाहृत अनेक सुन्दर पङ्क्तियां हमें प्राप्त हुई हैं। ये संग्रह स्वयं अपेक्षाकृत उत्तरकालीन हैं, किन्तु इनमें अपने से पर्याप्त पूर्वकाल के कवियों की रचनायें सुरक्षित हैं। दुर्भाग्य से इनमें उल्लिखित अनेक लेखकों के कार्यकाल का निश्चय करने का हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। इन सुभाषितसंग्रहों में से आपातत: प्राचीनतम डा० एफ० डब्ल्यू० टॉमस (Dr. F. W. Thomas) द्वारा १२वीं शताब्दी की एक नेपाली हस्तलिखित पोथी से सम्पादित **कवीन्द्रवचन-समुच्चय**[1] है। बुद्ध और अवलोकितेश्वर से सम्बन्ध रखने वाले इसके खण्ड हमें इसके स्रोत का स्मरण दिलाते हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त इसमें भी अन्य संग्रहों के समान ही सामग्री है। प्रेम और अन्य मनोभाव, सदाचार, व्यावहारिक वुद्धि तथा नैतिक और राजनीतिक नीतिवचन आदि विभिन्न विषयों पर इसमें पद्य हैं। इसके ५२५ पद्यों के रचयिता कवियों में से कोई भी १००० ई० के बाद का नहीं है। इससे अगली शताब्दी (१२०५ ई०) का **सदुक्तिकर्णामृत**[2] अथवा **सूक्तिकर्णामृत** है। इसको वटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने संकलित किया था। ये दोनों ही बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन की सेवा में थे। इस सुभाषितसंग्रह में ४४६ कवियों के उद्धृत अंश हैं। इन कवियों में से अधिकांश बङ्गाल के हैं, जिनमें गङ्गाधर और अन्य पांच कवि भी हैं, जिनका समय १०५०—११५० ई० निश्चित किया जा सकता है। लक्ष्मीदेव के पुत्र जल्हण ने, जो अपने पिता की ही भांति १२४७ ई० में सिंहासनारूढ़ होने वाले राजा कृष्ण के मन्त्री थे, **सुभाषितमुक्तावली**[3] लिखी, जो एक अधिक लम्बे और एक कुछ छोटे दो पाठों में हमें प्राप्त होती है। सम्पत्ति, उदारता, भाग्य, दुःख, प्रेम, राजसेवा आदि अनेक विषयों के अनुसार इसे सावधानी के साथ विभाजित किया गया है। यह सुभाषितसंग्रह विशेष रूप से कवि तथा कविता सम्बन्धी खण्ड के लिए बहुत मूल्यवान् है, जिससे हमें अनेक लेखकों के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रसिद्धतम सुभाषितसंग्रहों में से एक संग्रह, दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर द्वारा

---

१. BI. 1912.

२. BI. 1912 ff.; Aufrecht, ZDMG. xxxvi. 361 ff.

३. Bhandarkar, *Report*, 1887-91, pp. i-liv. Madras Catal., xx. 8114 के अनुसार इसे १२५७ ई० में जल्ह के लिए वैद्य भानु पण्डित ने रचा था।

१३६३ ई० में लिखा गया **शार्ङ्गधरपद्धति**[१] है। इसे १६३ खण्डों में विभाजित किया गया है, और इसमें कुल ४६८९ पद्य हैं, जिनमें से कुछ पद्य लेखक के ही हैं, परन्तु उनमें किसी प्रकार का वैशिष्टच नहीं है। **शार्ङ्गधरपद्धति** की सहायता से वल्लभदेव ने सम्भवतः १५ वीं शताब्दी में **सुभाषितावली**[२] को १०१ खण्डों में संकलित किया, जिसमें ३५० कवियों के ३५२७ पद्य सन्निविष्ट हैं। वल्लभदेव का नाम कवियों में आता है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वे उन पद्यों को अपने द्वारा रचित वताते हैं, या केवल किसी प्राचीन ग्रन्थ से उनको उद्धृत करते हैं। श्रीवर की **सुभाषितावली**[३] १५वीं शताब्दी की रचना है। श्रीवर जोनराज के पुत्र अथवा शिष्य थे। जोनराज एक टीकाकार थे और उन्होंने कल्हण की **राजतरङ्गिणी** को भी आगे वढ़ाया। श्रीवर ने ३८० से अधिक कवियों की रचनाओं में से पद्य उद्धृत किये हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, रूपगोस्वामी की **पद्यावली**[४] में कृष्ण की स्तुति में लिखे गये पद्य हैं, जिनमें से कुछ विशेषरूप से उत्कृष्ट हैं। ये पद्य लेखकों के विस्तृत क्षेत्र से लिये गये हैं। अन्य छोटे या बड़े सुभाषितसंग्रहों में से वहुत से या तो हस्तलिखित पोथियों के रूप में विद्यमान हैं या प्रकाशित हो चुके हैं।[५]

४. प्राकृत गीतिकाव्य

संस्कृत गीतिसाहित्य की प्रगति के साथ साथ उसी समय प्राकृत में भी एक गीतिसाहित्य का विकास हो रहा था, जिसने वाद में चल कर अपभ्रंश का रूप ले लिया। इसका कारण सम्भवतः आभीरों तथा गुर्जरों की विजय थी। यद्यपि वे भारत में पहले से ही ज्ञात थे, तो भी हूणों के आक्रमणों के समय के लगभग वे भारत में वहुत बड़ी संख्या में प्रविष्ट हो गये। हूणों के विपरीत, वे यहीं वस गये और उन्होंने निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। गीतिकाव्य की संस्कृत एवं प्राकृत दोनों धाराओं का परस्पर सम्पर्क में न आना असम्भव था;

१. Ed. P. Peterson, BSS. 37, 1888; cf. Aufrecht, ZDMG. xxv. 455 ff.; xxvii. 1 ff.

२. Ed. P. Peterson and Durgāprasāda, BSS. 1886; cf. IA. xv. 240 ff. IS. xvi. 209 f.; xvii. 168 ff. सुमति द्वारा रचित लगभग २२२ पद्यों के एक ग्रन्थ का वर्णन IOC. i. 1533 ff. में किया गया है।

३. Peterson, OC. VI, III. ii. 339.

४. IOC. i. 1554 ff. (c. 387 stanzas).

५. सायण ने एक **सुभाषितसुधानिधि** लिखा था (Madras Catal., xx. 8105 ff.); वेदान्तदेशिक ने एक **सुभाषितनीवी** नामक सुभाषितसंग्रह लिखा था KM. viii. 151 ff.

परन्तु विकास के प्रारम्भिक काल में दोनों में से किसी ओर भी पारस्परिक गम्भीर प्रभाव का कोई विशेष चिह्न नहीं मिलता। प्राकृत गीतिसाहित्य, जैसा कि उसका रूप हमें हाल कवि की **सत्तसई**[१] में उपलब्ध होता है, हमारे समक्ष अपने एक सुनिश्चित रूप के साथ उपस्थित होता है, जो संस्कृत में नहीं आ पाता, यद्यपि गोवर्धन कवि ने अपनी **सप्तशती** में विचारपूर्वक उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है।

हाल कवि के काल के सम्बन्ध में निश्चित धारणा वना सकना असम्भव है। यान्त्रिक ढंग[२] से यह मान लेना स्पष्टतः ग़लत है कि हाल को सातवाहन राजाओं की सूची में देखना चाहिए और उनको प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईसवी में रखना चाहिए, क्योंकि उस सूची में इनका मध्य में रहना आवश्यक है, और एक मत के अनुसार सातवाहन राजाओं का यह वंश लगभग २४० या २३० ई० पू० से लेकर २२५ ई० तक चलता रहा। अश्वघोष और अभिलेखों की प्राकृत से तुलना करने पर अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञात होती है कि व्यञ्जनों की दुर्वलता, जो माहाराष्ट्री प्राकृत की प्रधान विशेषता है, और जैसी वह हाल की रचना में दिखाई पड़ती है, लगभग २०० ई० के पूर्व की नहीं हो सकती। इससे यह बात अधिक सम्भव लगती है कि **सत्तसई** की रचना २०० ई० से ४५० ई० के बीच में हुई होगी[३], यद्यपि इस काव्य की तिथि निश्चित करने के लिए हमारे पास कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, **सत्तसई** के सब पाठों में केवल ४३० पद्य समान मिलते हैं, अतः हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें वहुत अधिक प्रक्षेप हुआ है। यह पर्याप्त सम्भव है कि मूलतः **सत्तसई** सुभाषितसंग्रह नहीं थी, किन्तु एक ऐसा सावधानी से किया गया संग्रह थी, जिसमें अधिकांश पद्य या तो हाल द्वारा स्वयं रचित थे या प्राचीन पद्यों को कुछ परिवर्तित करके नया रूप प्रदान कर दिया गया था—वहुत कुछ उसी प्रकार जैसे वर्न्स (Burns) कवि ने प्राचीन सामग्री को परिवर्तित करके नया रूप दिया था। कालक्रम से प्रक्षेप तथा परिवर्तन के कारण इस संग्रह की अपनी वैयक्तिकता बहुत कुछ लुप्त हो गई। फिर भी इसके वर्तमान स्वरूप में इसमें जीवन तथा व्यावहारिक वस्तु-

१. Ed. and trans. A. Weber, AKM. v (1870) and vii (1881); IS. xvi; गङ्गाधर की टीका के साथ KM. 21, 1889 टीकाकारों ने पद्यों का कवियों के साथ सम्बन्ध बहुत भिन्न भिन्न लगाया है और सम्भवतः वह किसी काम का नहीं है। Cf. Winternitz, GIL. iii. 97 ff.

२. Cf. EHI. p. 220; EI. xii. 320. होरा (४३५) और अङ्गारअवार (२६१) के प्रयोग में ग्रीक ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान परिलक्षित होता है।

३. Cf. Lüders, *Bruchstücke buddh. Dramen*, p. 64; Jacobi, *Ausg. Erzählungen in Māhārāshṭri*, pp. xiv. ff.

स्थितियों के साथ सामीप्य की एक ऐसी भावना है, जो संस्कृत कविता में कठिनाई से ही देखी जा सकती है। यह विशेषता इसे महाराष्ट्र-निवासियों से भी प्राप्त हो सकती है, जिनमें आज भी एक प्रकार का घरेलूपन और रूखी-सी सद्भावना विद्यमान है। पर यह नहीं सोचना चाहिए कि **सत्तसई** एक लोककाव्य है। इसकी प्राकृत कृत्रिम है और कुछ अंशों में तो इसमें संस्कृत से भी अधिक कृत्रिमता है; परन्तु यह किसी ऐसे कवि या कवियों की रचना है, जो बाह्य विषयों के वर्णन के साथ ही किसानों, ग्वाल-ग्वालिनों, बगीचे में काम करने वाली और चक्की पर अनाज पीसने वाली लड़कियों, शिकारियों और हाथ से काम करने वाले मजदूरों के भावों को वास्तव में व्यक्त करना चाहते थे। इसकी अन्तर्ध्वनि कोमल तथा मन को अच्छी लगने वाली है। इसमें सीधे-सादे दृश्यों के बीच सरल प्रेम चित्रित किया गया है, जिसे ऋतुएँ और अधिक पुष्ट करती हैं, क्योंकि शिशिर ऋतु भी प्रेमियों को वैसे ही अधिक पास लाती है जैसे वर्षा का तूफ़ान उन्हें साथ साथ कहीं शरण ढूँढ़ने को विवश करता है। युवती चन्द्रमा से उन्हीं किरणों से अपने को छूने की प्रार्थना करती है, जिन किरणों ने उसके प्रियतम का स्पर्श किया है। रात्रि से वह निरन्तर बने रहने की याचना करती है. क्योंकि प्रातःकाल होते ही उसके प्रियतम को चले जाना है। प्रेमी भी झंझा तथा बिजली से कहता है कि वे उसकी प्रेमिका को दुःख न दें, उसका जो कुछ बिगाड़ना चाहें वे बिगाड़ लें। कवि की कोमलता वहाँ प्रकट होती है, जहाँ वह यह वर्णन करता है कि अपने पति के लौटने की प्रसन्नता में भी एक पत्नी उत्सव के अनुरूप शृङ्गार करने में यह सोचकर हिचकती है कि कहीं उसकी बेचारी पड़ोसिन का विरहदुःख बढ़ न जाये, जिसका पति घर लौटने में विलम्ब कर रहा है। करुण का भाव भी अनुपस्थित नहीं है; जब चिरकाल तक एक साथ सुख-दुःख भोगने वाले दो प्रेमियों में से एक की मृत्यु हो जाती है, तो जिसकी मृत्यु होती है वही वास्तव में जीवित है, मरने वाला तो दूसरा ही है। 'प्रिय जिसका स्मरण रखता है, वह मृत नहीं है' इस भाव वाली भवभूति की एक पंक्ति में उपर्युक्त अर्थ के साथ दूर की समानता है, आदान नहीं है। जहाँ हृदय में छल है वहाँ वियोग आनन्ददायक भी हो सकता है। दुश्चरित्र स्त्री अपनी अरक्षित दशा पर दुःख प्रकट करती है और सचमुच केवल अपनी सुरक्षा के लिए अपने प्रेमी को अपने घर पर आने के लिए आमन्त्रित करती है।

सत्तसई में भारतीय प्रेम के विभिन्न रूपों का अच्छा चित्रण किया गया है। उस सच्चे प्रेम से लेकर जब प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे की आंखों में देखते हैं और दोनों उस समय के लिए एक हो जाते हैं, दाम्पत्य जीवन के घरेलू

आनन्दों तक को दिखाया गया है, जब अपने किसी अपराध के प्रायश्चित्त स्वरूप पत्नी के पैरों में पड़े हुए पिता की पीठ पर बालक को चढ़ते देख कर मां हँस पड़ती है अथवा जब वह मुदित पिता को अपने प्यारे बच्चे का पहला निकला हुआ दाँत दिखाती है। भारतीय प्रेम का दन्तक्षत और नखक्षत खुल कर चित्रित किया गया है। युवतियों का सौन्दर्य भी उसी प्रकार चित्रित है, जिनके उभरते हुए स्तनों की उपमा बादलों से निकलते हुए चन्द्रमा से दी गई है। सत्तसई में ग्रामीण जीवन की बहुत सी झाँकियां हैं, किन्तु उसमें नगरों की वेश्याओं के सम्बन्ध में भी पर्याप्त वर्णन है, जिनका अस्तित्व पिशेल (Pischel) ने ऋग्वेद में पाया था और जिसने वैदिक युग से आरम्भ कर निरन्तर भारतीय साहित्य पर अपना प्रभाव छोड़ा है।

कभी प्रेम से प्रभावित और कभी स्वतन्त्र रूप से भी प्रकृति के आकर्षक चित्र बहुधा प्राप्त होते हैं। इनमें थेरीगाथाओं के कुछ भाव ध्वनित हैं, जिनमें बौद्ध भिक्षुणियों ने प्रकृति के अपने सूक्ष्म निरीक्षण को व्यक्त किया है। शरद्, वर्षा, ग्रीष्म और वसन्त—इन सबके प्रभावपूर्ण चित्र हैं। भौंरे पुष्पों पर मँडराते हैं, मोर और कौवे तीव्र वर्षा का आनन्द लेते हैं, हरिणी विकलता से अपने साथी को ढूँढ़ती है, बन्दर तथा बँदरिया हास्य का आस्वाद कराते हैं। सूक्तियाँ कम नहीं हैं और प्रायः चुभती हुई हैं; कन्जूस का धन उसके लिए वैसा ही है जैसी एक पथिक के लिए उसकी अपनी छाया; केवल बहरों और अन्धों का समय ही संसार में सुख से बीतता है, क्योंकि बहरे कड़ी बात नहीं सुनते और अन्धे घृणित चेहरे नहीं देखते। सत्तसई में दूसरे विषय नाटकीय या काव्यात्मक अंश हैं अथवा लोककथाओं की घटनाएँ हैं, जैसे कारागार में पड़ी एक महिला द्वारा किसी बचाने वाले की प्रतीक्षा का, या डाकुओं द्वारा पकड़ी गई स्त्रियों का, या उस पुंश्चली नारी का वर्णन, जो अपने प्रेमी वैद्य के घर जाने के लिए बिच्छू द्वारा डँस लिये जाने का बहाना करती है। ये अंश कितने प्राचीन हैं यह हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि हाल के समय की निचली सीमा केवल अनुमानगम्य ही है। यद्यपि बाण हाल की सत्तसई से परिचित थे, फिर भी उसके किसी विशेष भाग के बाण के समय में उपस्थित रहने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

एक उत्तरकालीन प्राकृत सुभाषितसंग्रह वज्जालग्ग[1] है। यह एक श्वेताम्बर जैन विजयवल्लभ द्वारा संकलित है जिनका समय अनिश्चित है। इन्होंने मनुष्य के त्रिवर्ग-आचरण, व्यवहारिक ज्ञान तथा प्रेम-का उदाहरण

---

१. J. Laber, *Über das Vajjālaggam* (1913); Jacobi, भविसत्तकह, p. 61. इसे Bl. में सम्पादित किया जा रहा है।

देने के लिए प्रयत्नपूर्वक सामग्री का सञ्चय किया है। प्रेम के विषय ने सम्पूर्ण ग्रन्थ का दो तिहाई भाग घेर लिया है। वज्जालग्ग के पद्य आर्या छन्द में हैं और इसकी माहाराष्ट्री में अपभ्रंश द्वारा प्रभावित होने के चिह्न वर्तमान हैं। हेमचन्द्र[1] ने प्राकृत के उस भेद का उदाहरण देने के लिए, जिसे वे अपभ्रंश के नाम से पुकारते हैं, कुछ संख्या में अपभ्रंश के गीतिपद्यों का उदाहरण दिया है। वे बहुत कुछ हाल-रचित पद्यों के समान ही हैं। एक युवती याचना करती है कि उसका प्रेमी उसके पास लौटा लाया जाय; अग्नि घर को चाहे भस्मसात् कर दे, पर मनुष्यों को अग्नि तो अवश्य ही चाहिए। एक अन्य स्त्री को प्रसन्नता है कि उसका पति वीरतापूर्वक युद्ध-भूमि में मारा गया; यदि वह अपमानित होकर लौटता तो पत्नी के लिए लज्जा की बात होती। व्यास एवं अन्य महर्षियों के वचनों द्वारा माता का आदर करने के लिए बड़ी अच्छी तरह से उपदेश दिया गया है। नम्रतापूर्ण भक्ति के साथ माता के चरणों पर गिरने को वे गङ्गा के पवित्र जल में स्नान करने के तुल्य मानते हैं।

---

१. Pischel, AGGW. v. 4 (1902).

१०

सूक्त्यात्मक तथा उपदेशात्मक काव्य

१. सूक्त्यात्मक काव्य

जीवन और सदाचार (अथवा नीति) से संवन्ध रखनेवाले सारवद् निरीक्षणों को पद्य में प्रकट करने में भारत ने सदा प्रसन्नता का अनुभव किया है। इस प्रकार के काव्य का प्रारम्भ हमें ऋग्वेद में मिलता है। ऐतरेय-ब्राह्मण के एक उपाख्यान में प्रसङ्गतः आश्चर्यप्रद संख्या में नीतिपरक पद्य सुरक्षित हैं। ऐसे पद्य उपनिषदों और सूत्रों में भी आते हैं, जब कि महाभारत में सूक्त्यात्मक और उपदेशात्मक दोनों प्रकार का विषय वाहुल्येन पाया जाता है; दर्शन, सदाचार, जीवन के लिए व्यावहारिक शिक्षा, युद्ध-संचालन के साथ अपने व्यापकतम अर्थों में दण्ड-नीति (polity) के नियम—इन विषयों पर अव्यवस्थित रूप में विचारों का ढेर का ढेर पाठक के समक्ष प्रक्षिप्त कर दिया गया है। पतञ्जलि के महाभाष्य में उपलब्ध साक्ष्य से प्रतीत होता है कि वे ऐसे साहित्य से परिचित थे, और पालि-पिटक से संवन्धित धम्मपद में हम सदाचार-संवन्धी वचनों का भारत में सर्वश्रेष्ठ संग्रह पाते हैं।

यह निश्चित है कि ये नीति-वचन पूरे अर्थ में लोकप्रचलित नहीं थे। हमें उनकी तुलना अपने आदिम रूप में सुरक्षित तथा तत्तत् प्रदेश की विशेषता से युक्त लोकोक्तियों से नहीं करनी चाहिए। ग्रीस देश के (Phokylides) के नीति-वचनों के समान, वे कवियों द्वारा कच्चे माल से वनी हुई वस्तुओं के रूप में हैं, और उनके अन्तिम रूप की पूर्णता में बहुत विभिन्नता पाई जाती है। उनमें से कुछ का साहित्य में पहले-पहल प्रचलन, निस्संदेह, कथा-साहित्य के लेखकों की रचना द्वारा अथवा उनके द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण हुआ था; औरों का प्रचार केवल मौखिक आदान-प्रदान द्वारा होता रहा और अन्त में उनके लोक-प्रचलित रूपों को संग्रहकर्ताओं के यत्न द्वारा संगृहीत किया गया। इसमें सन्देह का स्थान नहीं है कि साधारण-तया वह संग्रहीता नवीन सूक्तियों का निर्माता भी होता था। ऐसा होना स्वाभा-विक था; ऐसे व्यक्ति को निश्चयरूप से असाधारण मूर्ख ही समझना चाहिए जो लोकतः प्राप्त नीति-वचनों के नमूने पर नये वचन निर्माण नहीं कर सकता था अथवा उनको नया रूप नहीं दे सकता था।

राजनीतिसमुच्चय, चाणक्यनीति, चाणक्य-राजनीति, वृद्धचाणक्य, लघुचाणक्य जैसे विभिन्न नामों से प्रसिद्ध संग्रहों[1] के विषय में, वास्तव में, हम इसी प्रवृत्ति को काम करते हुए देखते हैं। परम्परागत पाठों (recensions) की संख्या अत्यन्त अधिक है—इस प्रकार के सत्तरह पृथक्-पृथक् पाठ पाये गये हैं और निस्सन्देह ऐसे और भी पाठ हैं, क्योंकि प्रायेण प्रत्येक हस्तलेख किसी भी दूसरे हस्तलेख से अपने विशिष्ट पाठभेदों को दिखाता है; संग्रहकर्ता चुननेवाले थे, उनके सामने अनेक उद्गम-स्थान उपस्थित थे, और इसीलिए अब उक्त संग्रह के मौलिक रूप जैसी किसी बातका निर्धारण करना नितान्त असंभव है। चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य ने उस की रचना की थी, यह कहना उपहासास्पद है; यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उसको चाणक्य के नाम पर इसीलिए प्रचलित किया गया, क्योंकि वह एक प्रसिद्ध व्यक्ति था। हमको यह भी विदित नहीं है कि क्या कुछ पाठों में पाया जाने वाला प्रथम पद्य जिसमें राजनीति-विषयक ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की गयी है इस बात का द्योतक है कि यह संग्रह मूल में केवल उसी विषय का प्रतिपादन करने वाला था। कम से कम उस विषय से संबन्ध रखनेवाले पद्यों की संख्या उपलब्ध पाठों में उपेक्षणीय ही है, और यह बहुत अधिक संभव है कि वह पद्य किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना की उपज है जो चाणक्य के साथ उस संग्रह के संबन्ध को अधिक समीपता का रूप देना चाहता था। उक्त पुस्तक के विभिन्न रूपों में परस्पर अत्यधिक भेद है। तथा च, एक पाठ में समान लंबाई के सत्तरह अध्यायों में बँटे हुए ३४० पद्य हैं; भोजराजकृत दूसरे पाठ के, जो शारदा लिपि के एक हस्तलेख में सुरक्षित है, आठ अध्यायों में ५७६ पद्य ह। इसके विषयों का संबन्ध जीवन-चर्या तथा मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के सामान्य नियमों से, तथा संपत्ति और दारिद्रय, दैव और पौरुष, तथा नीति-संबन्धी और धर्म-संबन्धी विभिन्न विषयों पर सामान्य विचारों से है। मुख्य रूप से पद्यों में परस्पर कोई विचारमूलक संबन्ध नहीं है। परन्तु इस विषय में अपवाद भी हैं। कहीं कहीं पद्यों में स्पष्टतया परस्पर विरोधी विचार दिखाने का अभिप्राय है। एक पद्य में हम स्मृति में किन्हीं विषयों को दृढ़ करने की दृष्टि से संख्यानुसारी सूत्रों (formulae) के प्रयोग की उस प्रवृत्ति की अनुवृत्ति पाते हैं जो पालि अंगुत्तरनिकाय तथा जैन स्थानाङ्ग जैसी पुस्तकों में पूर्ण विकसित रूप में देखी जाती है। उस पद्य में कहा गया है कि बुद्धिमान् मनुष्य को एक बात सिंह से, एक बगुले से, चार बातें

१. O. Kressler, *Stimmen indischer Lebensklugheit* (1907). तिब्बती (SBA. 1895, p. 275) और अरबी भाषान्तर (Zachariae, WZKM, xxviii. 182 ff.) उपलब्ध हैं, Galanos के आधार के लिए दे॰ Bolling. JAOS. xli. 49 ff.

कुक्कुट से, पाँच कौवे से, छः कुत्ते से, और तीन गदहे से सीखनी चाहिएँ। सात पद्यों के एक दूसरे समूह में विभिन्न प्रकार के ब्राह्मणों को दिखलाया गया है, जैसे पुण्यात्मा ऋषि, साधारण ब्राह्मण, वैश्य जो व्यापार या कृषि से जीविका करता है, शूद्र जो दूसरे कामों के साथ-साथ मद्य और मांस को भी बेचता है, मार्जार जो विश्वासघाती है, म्लेच्छ जो हिंसक है, और चण्डाल जो चोर और व्यभिचारी है। संग्रह में कुछ बिलकुल साधारण सामयिक (=रिवाजू) रीतियों का अनुसरण किया गया है, जैसे कभी-कभी समान-जातीय वस्तुओं के, परन्तु प्रायः नितरां असम्बद्ध वस्तुओं के भी, वर्गों की समष्टि को देने के लिए संख्याओं के प्रयोग का आग्रह, उदाहरणार्थ जब यह चितावनी दी गई है कि मनुष्य को उस स्थान पर वास नहीं करना चाहिए जहाँ राजा, धनवान् व्यक्ति, विद्वान्, नदी और वैद्य न रहता हो। इसी प्रकार छः हानिकर वस्तुओं की सूची भी दी गई है :

शुष्कं मांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरुणं दधि।
प्रभाते मैथुनं निद्रा सद्यः प्राणहराणि षट्॥

'सूखा मांस, वृद्धा स्त्रियाँ, नवोदित सूर्य, तरुण दधि, प्रभात में मैथुन और निद्रा ये छः सद्यः प्राणों को हरने वाले होते हैं।' एक अति साधारण पद्धति लक्षणों की परम्परा में मुख्यशब्द की पुनरावृत्ति की होती है, जैसे:

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या सत्यवादिनी॥

'सच्ची भार्या वह है जो पवित्र और दक्ष है, सच्ची भार्या वह है जो पतिव्रता है, सच्ची भार्या वह है जो अपने पति से प्रसन्न रहती है, सच्ची भार्या वह है जो सदा सत्य बोलती है।'

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन धार्यते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

'सत्य से पृथ्वी धारण की जाती है, सत्य से सूर्य धारण किया जाता है, सत्य से वायु चलती है, सत्य पर सब कुछ प्रतिष्ठित है।' संख्यात्मक गणनाओं का भी एक विशेष लक्ष्य हो सकता है :

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत्कन्या प्रदीयते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत्॥

'राजा लोग एक बार ही बोलते हैं (अर्थात् आज्ञा देते हैं), पण्डित लोग एक बार ही बोलते हैं, विवाह में कन्या एक बार ही दी जाती है, ये तीनों बातें केवल एक बार होती हैं।' थोड़े से राजनीतिक वचनों में से एक में आचरण द्वारा उदाहरण उपस्थित करने के प्रभाव की प्रशंसा की गयी है :

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ॥
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥

'राजा के धर्मात्मा होने पर प्रजाएँ धर्मिष्ठ होती हैं, पापी होने पर पापी, और मध्यम होने पर मध्यम होती हैं। प्रजाएँ राजा का अनुसरण करती हैं। जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजाएँ होती हैं।' एक दूसरा नीतिवचन उदात्त चरित्र के लाभों पर बल देता है ;

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम् ।
आदिमध्यावसानेषु न त्यजन्ति च ते नृपम् ॥

'राजा लोग इसीलिए कुलीनों का संग्रह करते हैं कि वे आदि मध्य तथा अन्त में राजा का साथ नहीं छोड़ते हैं।' निम्नस्थ पद्य में अवधानता-पूर्वक की हुई रचना तथा साहित्यिक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए विचारपूर्वक प्रयत्न देखा जा सकता है :

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं
कुमित्रमित्रेण कुतोऽस्ति निर्वृतिः
कुदारदारे च कुतो गृहे रतिः
कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ॥

'दुष्ट राजा के राज्य से प्रजा को सुख कैसे हो सकता है ? दुष्ट मित्र की मित्रता से शान्ति कैसे मिल सकती है ? दुष्ट भार्या से युक्त घर में प्रसन्नता कैसे रह सकती है ? बुरे शिष्य को पढ़ानेवाले को यश कैसे मिल सकता है ?'

प्रतिपाद्य विषयों के साधारण स्वरूप की अरोचकता प्रकृति से ली हुई उपमाओं और रूपकों के प्रयोग से कुछ हलकी कर दी जाती है :

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना ।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी ॥

'एक भी विद्वान् और साधु-चरित्र सुपुत्र से समस्त कुल आह्लादित हो जाता है, जैसे चन्द्रमा से रात्रि।'

सत्सङ्गाद् भवति हि साधुता खलानां
साधूनां न च खलसंगमात् खलत्वम् ।
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते
मृद्गन्धं न च कुसुमानि धारयन्ति ॥

'सज्जनों के संग से दुष्ट लोगों में साधुता आजाती है; परन्तु दुष्ट लोगों के संग से साधुओं में दुष्टता नहीं आती है। फूलों की सुगन्ध को मिट्टी ही धारण करती है; मिट्टी की गन्ध को फूल नहीं लेते हैं।'

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥

'मनुष्यों को अत्यन्त सरल नहीं होना चाहिए ; वनस्थली को जाकर देखो। वहाँ सरल वृक्ष काट लिये जाते हैं, जो टेढ़े होते हैं वे खड़े रहते हैं।' इससे अधिक अच्छी नीति की शिक्षा यह है :

वरं प्राणपरित्यागो न मानपरिखण्डनम् ।
प्राणत्यागः क्षणं चैव मानभङ्गो दिने दिने ।

'प्राणों का परित्याग अच्छा है, मान का भङ्ग नहीं। प्राणपरित्याग क्षणमात्र में हो जाता है, मानभङ्ग दिन-प्रतिदिन अर्थात् सदैव रहता है।' इसी प्रकार भवितव्यता के साथ तप की गरिमा की प्रतियोगिता दिखाई गई है :

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः ।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥

'जैसी भवितव्यता होती है मनुष्य की बुद्धि वैसी ही हो जाती है ; व्यवसाय भी वैसा हो जाता है, और साथी भी वैसे ही मिल जाते हैं।' परन्तु :

यद् दूरं यद् दुराराध्यं यच्चादूरे व्यवस्थितम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

'जो दूर है, जो दुराराध्य है, और जो पास में ही व्यवस्थित है, वह सब तप द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ; क्योंकि तप का अतिक्रमण कर सकना कठिन है।' स्त्रियाँ लोक-प्रिय नहीं हैं :

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ।

'असत्य, साहस, कपट, मूर्खता, अतिलोभ, अपवित्रता, और निर्दयता, ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष होते हैं।' एक दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शन के लाभों को दिखलाया गया है :

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा ।
विषमस्तु न वाप्यस्तु खटाटोपो भयंकरः ॥

'विषरहित सर्प को भी अपना फन फुलाकर रखना चाहिए; विष चाहे हो या नहीं, फन का आटोप भयंकर होता है।'

उक्त संग्रह का प्रमुख छन्द श्लोक है, परन्तु दूसरे छन्दों के भी पद्य उसमें विद्यमान हैं, विशेषकर भोजराज के पाठ में जिसमें अनेक पद्य इन्द्रवज्रा, वंशस्था, वसन्ततिलक और शार्दूल-विक्रीडित छन्दों में हैं।

नीतिरत्न, नीतिसार और **नीतिप्रदीप** नामों से सक्त्यात्मक पद्यों के अन्य छोटे संग्रह क्रमशः वररुचि—अनेक वररुचियों में से ये कौन से हैं यह परिज्ञात नहीं है, घटकर्पर और वेतालभट्ट के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें कुछ उत्कृष्ट

पद्य मिलते हैं, परन्तु उनकी तिथि नितरां अनिश्चित है। भर्तृहरि का नीतिशतक कहीं अधिकतर महत्त्व का है। उसका विचार हम ऊपर कर चुके हैं। कश्मीर के अर्थलोलुप राजा शंकरवर्मन् (८८३–९०२) के राज्यकाल में भल्लट ने अपना शतक[1] लिखा था। राजा द्वारा कवियों को पुरस्कृत न किये जाने के कारण उनको कठिन कष्ट उठाने पड़े। उक्त शतक में विभिन्न छन्दों में अवधानतापूर्वक परिष्कृत रचना की गई है। यह स्पष्ट है कि यह शतक पूर्णतया मौलिक नहीं हैं; कम से कम कवि के प्रारम्भिक जीवन में उनके समकालीन आनन्दवर्धन का एक पद्य उसमें सम्मिलित है।[2] भल्लट ने अच्छी मात्रा में और भी कविता की रचना की थी, जैसा कि विभिन्न सुभाषित-संग्रहों में उनके उद्धरणों से प्रतीत होता है। उन उद्धरणों में अनेक उत्कृष्ट रचनावाले पद्य पाये जाते हैं। उनकी शैली साधारणतया पर्याप्तरूपेण सरल है:

अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः।
कथं कमलनाथ(?=ल)स्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः॥

'अन्दर अनेकानेक छिद्र, बाहर अनेक काँटे; (तब) यह कैसे संभव था कि कमलदण्ड के गुण (अर्थात् तन्तु) भंगुर न होते?' एक दूसरे रूपक का सम्बन्ध धूलि से है:

ये जात्या लघवः सदैव गणनां याता न ये कुत्रचित्
पद्भ्यामेव विमर्दिताः प्रतिदिनं भूमौ निलीनाश्चिरम्।
उत्क्षिप्ताश्चपलाशयेन मरुता पश्यान्तरिक्षे सखे
तुङ्गानामुपरि स्थितिं क्षितिभृतां कुर्वन्त्यमी पांसवः॥

'जो स्वभाव से ही लघु हैं, जिनकी कभी कहीं भी गणना नहीं हुई, जो प्रतिदिन पैरों से विमर्दित होते रहे और जो चिरकाल तक भूमि में नीचे पड़े रहे, हे मित्र देखो! चपल स्वभाव वाली वायु से आकाश में फेंके जाकर वे ही धूलिकण ऊँचे पर्वतों के शिखर पर स्थिति कर रहे हैं।'

एक दूसरे कश्मीरी कवि, कोई शिल्हण[3], के सूक्ति-काव्य में अपेक्षाकृत मौलिकता कम है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे बंगाल में भी रहे थे। यह स्पष्ट है कि वे भर्तृहरि के प्रशंसक थे; वे उनसे उद्धरणों को लेते हैं, और कभी-कभी निस्सन्देह भर्तृहरि जैसे शैव के दृष्टिकोण को एक सच्चे वैष्णव के दृष्टिकोण के अनुकूल बनाने के उद्देश्य से, उनके उद्धरणों को शब्दतः न देकर उनमें अंशतः परिवर्तन भी कर देते हैं। एक पद्य हर्ष के नागानन्द से लिया गया है। शिल्हण का झुकाव मूलतः अपने संकलन द्वारा, जिसमें उन्होंने निस्संदेह अपना

१. Ed. KM. iv. 140 ff. Cf. Kalhaṇa, V. 204.
२. ZDMG. Lvi. 405.
३. Ed. K. Schönfeld, Leipzig, 1910. दे० Keith, JRAS. 1911, pp. 257 ff.

निजी मौलिक विषय जोड़ा है, वैराग्य के गुणों की प्रशंसा करने की ओर है, और उनके विचारों में हिन्दु, बौद्ध और जैन—इन तीनों महान् धर्मों के समान भाव पाये जाते हैं। यह कहना कठिन है कि वे एक महान् कवि हैं; उनकी शैली की अपेक्षा उनके प्रतिपाद्य विषय में अधिक रोचकता है, शैली को हम केवल उपयुक्तमात्र कह सकते हैं। उनकी तिथि अनिश्चित है, पर **सदुक्तिकर्णामृत** (१२०५) से वह पहले है, क्योंकि उसमें इनको उद्धृत किया गया है। पिशे ल (Pischel) का यह विचार कि बिल्हण को ही किसी भूल से शिल्हण मान लिया गया है बिलकुल निराधार नहीं है, और कम से कम शिल्हण के शतक के कुछ हस्तलेखों में बिल्हण का एक पद्य वास्तव में मिलता है। इस सुझाव का निश्चित रूप से खण्डन भी नहीं किया जा सकता है; यह ठीक है कि साधारण रूप में बिल्हण एक संकलयिता नहीं हैं, पर इस का अर्थ यह नहीं है कि वृद्धावस्था में वे संकलयिता नहीं हो गये थे। **विक्रमाङ्कदेवचरित** से यह सिद्ध है कि उनके पास संपत्ति थी, और **चौरसुरत-पञ्चाशिका** के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे शृङ्गारप्रिय थे। परन्तु उनके महाकाव्य से ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्था में वे संसार से विरक्त हो गये थे। इसलिए हम सरलता से ऐसा मान सकते हैं कि उनको संपत्ति और शृङ्गारमय प्रेम से वैराग्य हो गया था और उन्होंने भगवद्भक्ति और एकान्त-सेवन के आनन्द में अपने को लगा दिया था। परन्तु किसी प्राचीन अनुश्रुति के अभाव में हम पिशे ल (Pischel) के सुझाव पर बल नहीं दे सकते।

शिल्हण की कला के साधारण स्वरूप को निम्नस्थ पद्य अच्छी तरह निदर्शित करते हैं :

त्वामुदर साधु मन्ये शाकैरपि यदसि लब्धपरितोषम्।
हतहृदयं ह्यधिकाधिकवाञ्छाशतदुर्भरं न पुनः ॥

'अयि उदर ! तुमको मैं अच्छा समझता हूँ, क्योंकि तुमको शाकों से ही सन्तोष हो जाता है; पर पतित हृदय के विषय में मेरा ऐसा विचार नहीं है, क्योंकि सैकड़ों इच्छाओं के कारण उसको सन्तुष्ट करना अधिकाधिक कठिन है।'

दधति तावदमी विषयाः सुखं
स्फुरतु यावदियं हृदि मूढता।
मनसि तत्त्वविदां तु विवेचके
क्व विषयाः क्व सुखं क्व परिग्रहः ? ॥

'ये सांसारिक विषय तभी तक सुख देते हैं जब तक हमारे हृदय में मूढ़ता रहती है; परन्तु तत्त्ववेत्ताओं के विवेकयुक्त मन में न तो विषय, न सुख, और न पदार्थों की ममता ही शेष रहती है।'

वासो वल्कलमास्तरं किसलयान्योकस्तरूणां तलं
मूलानि क्षतये क्षुधां गिरिनदीतोयं तृष्णा(?-षा)शान्तये।

क्रीडा मुग्धमृगैर्वयांसि सुहृदो नक्तं प्रदीपः शशी
स्वाधीने विभवे तथापि कृपणा याचन्त इत्यद्भुतम् ॥

'वस्त्र-स्थानीय वल्कल, बिस्तर के स्थानीय नवीन पत्ते, वास-स्थानीय वृक्षों का तल, क्षुधाओं की निवृत्ति के लिए कन्द-मूल, प्यास की शान्ति के लिए गिरि-नदी का जल, सरल सुन्दर मृगों के साथ क्रीड़ा, मित्रस्थानीय पक्षिगण, रात्रि में प्रदीप-स्थानीय चन्द्रमा : इन सब के रूप में विभव के स्वाधीन होने पर भी दरिद्री लोग दूसरों से याचना करते हैं, यह अजीब बात है ।'

सूक्ति-विषयक अन्य कविताएँ अपेक्षाकृत कम रोचक हैं। कश्मीर के राजा हर्ष के राज्यकाल (१०८९–११०१) में शम्भु ने यत्न-साध्य, पर विशेष गुणोत्कर्ष से रहित, १०८ पद्यों में अन्योक्तिमुक्तालताशतक[1] की रचना की थी। वल्लभदेव ने उसके शतक से कोई उद्धरण नहीं दिया है, पर उसके राजेन्द्रकर्णपूर[2] को, जिसमें हर्ष की प्रशस्ति है, खुले रूप में उद्धृत किया है। कुसुमदेव का दृष्टान्त-शतक[3] संभवतः पीछे का है, यद्यपि वल्लभदेव ने इसे उद्धृत किया है। यह प्रत्येक नीति-वचन को एक उदाहरण द्वारा निदर्शित करता है, इसी में इसके नाम की सार्थकता है। इसकी शैली सरल और आत्मप्रदर्शन की भावना से रहित है :

उत्तमः क्लेशविक्षोभं क्षमः सोढुं न हीतरः ।
मणिरेव महाशाणघर्षणं न तु मृत्कणः ॥

'उत्तम मनुष्य ही क्लेश के विक्षोभ को सहने में समर्थ होता है, साधारण मनुष्य नहीं। मणि ही बड़ी सान के घर्षण को सह सकती है, मिट्टी का कण नहीं :'

ईश्वराः पिशुनाञ्छश्वद् द्विषन्तीति(?) किमद्भुतम् ।
प्रायो निधय एवाहीन् द्विजिह्वान् दधतेतराम् ॥

'यह कोई अद्भुत बात नहीं है कि धनवान् लोग दुष्टों से सदा द्वेष (?) करते हैं। प्रायेण निधियाँ ही द्विजिह्व साँपों को अपने अन्दर धारण करती हैं।' इस कविता में तरप्-प्रत्यय के साथ तिङन्त का प्रयोग प्रायः देखने में आता है।

धनमपि परदत्तं दुःखमौचित्यभाजां
भवति हृदि तदेवानन्दकारीतरेषाम्
मलयजरसबिन्दुर्बाधते नेत्रमन्त-
र्जनयति च स एवाह्लादमन्यत्र गात्रे ॥

'दूसरे से दिया हुआ धन भी औचित्य का विचार रखने वालों के लिए दुःखप्रद होता

---

१. Ed. KM. ii. 61 ff.
२. Ed. KM. i. 22 ff.
३. Ed. Haeberlin, 217 ff.

है ; वही दूसरों के हृदय को आनन्द देने वाला होता है। चन्दन के रस की विन्दु आँख के अन्दर पीडा देती है, परन्तु वही शरीर में अन्यत्र आह्लाद को उत्पन्न करती है।'

टाक वंश के नागराज द्वारा, अथवा उनके आश्रित भाव कवि द्वारा, रचित **भावशतक**[२] तथा गुमानि-विरचित **उपदेशशतक**[२] और बहुत सी दूसरी कृतियाँ भी संभवतः अपेक्षाकृत और भी उत्तरकाल की हैं। सत्तरहवीं शताब्दी में अलंकार-शास्त्र के महान् आचार्य जगन्नाथ ने **भामिनी-विलास**[३] की रचना की। यह रचना एक प्रेम-काव्य, एक शोकगीत तथा सूक्ति-वचनों का एक भण्डार, इन सब दृष्टियों से प्रशंसनीय है; परन्तु यह काव्य हमारी प्रकृत सीमा से बहुत कुछ बाहर है।

विभिन्न सुभाषितसंग्रह, जिनमें अनेकानेक गीत्यात्मक पद्य पाये जाते हैं, सूक्तियों से भी समृद्ध हैं, जो कभी कभी बड़ी सुन्दर होती हैं। इसके अतिरिक्त, अनेक लघुकविताएँ भी हैं, जिनकी पूर्णतया सूक्तियों में गणना की जा सकती है। उनमें **चातकाष्टक**[४] अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसकी तिथि अनिश्चित है। चातक बादलों के ही जल को पीता है, और इस लिए वह मान अथवा दृढ़ता का प्रतीक है:

> **एक एव खगे मानी वने वसति चातकः।**
> **पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरन्दरम्॥**

'चातक ही इकेला मानी वन में बसता है। वह प्यासा होकर या तो मर जाता है या केवल इन्द्र से याचना करता है।'

कुछ पद्य जो रूक्ष पर अच्छे अर्थ को देते हैं एक अनिर्ज्ञात भट्ट उर्वीधर के नाम से प्रसिद्ध हैं:

> **अनाहूतप्रविष्टस्य दृष्टस्य क्रुद्धचक्षुषा।**
> **स्वयमेवोपविष्टस्य वरं मृत्युर्न भोजनम्॥**

'विना बुलाए हुए प्रवेश करनेवाले, क्रुद्ध आँखों से देखे गये, और स्वयमेव बैठ जाने वाले की मृत्यु हो जाना अच्छा है, भोजन नहीं।'

> **आसप्ततेर्यस्य विवाहपङ्क्ति-**
> **र्विच्छिद्यते नूनमपण्डितोऽसौ।**
> **जीवन्ति ताः कर्तनकुट्टनाभ्यां**
> **गोभ्यः किमुक्षा यवसं ददाति॥**

'सत्तर वर्ष तक जिसके विवाहों की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है, निश्चय ही

१. Ed. KM. iv. 37. 'मलयज' का अर्थ कीथ महोदय ने भ्रम से 'मलय की वायु' किया है। (मं० दे० शा०)
२. Ed. KM. ii. 21 ff.
३. Ed. Bergaigne, Paris, 1872.
४. Ed. Haeberlin, 237 ff.

वह मूर्ख है। वे (अर्थात् उसकी पत्नियाँ) कातकर और कूटकर अपनी आजीविका कर सकती हैं; बैल क्या गायों को भुस दिया करता है?' इससे बिलकुल दूसरे प्रकार की वह सुन्दर उपमा है जो निर्गुणों के प्रति दया के औचित्य का प्रतिपादन करती है:

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
नहि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चण्डालवेश्मनि॥

'साधु पुरुष निर्गुण प्राणियों पर भी दया किया करते हैं; चन्द्रमा चण्डाल के घर से अपनी चाँदनी को नहीं हटा लेता है।' तथ्यों की अपरिवर्तनशीलता को नीतिरत्न में सिद्ध किया गया है:

मणिर्लुठति पादाग्रे काचः शिरसि धार्यते।
यथैवास्ते तथैवास्तां काचः काचो मणिर्मणिः॥

'मणि हमारे पैरों के सामने लुढ़कती है, और काँच शिर पर धारण किया जाता है। वे जैसे हैं तैसे ही रहें, काँच काँच है और मणि मणि है।' राजसेवा के स्वरूप को खोलकर दिखलाया गया है:

राजसेवा मनुष्याणामसिधारावलेहनम्।
पञ्चाननपरिष्वञ्जो व्यालिवदनचुम्बनम्॥

'मनुष्यों के लिए राजसेवा कृपाण की धारा के चाटने के, सिंह के आलिङ्गन के, और सर्प के मुख के चुम्बन के समान है।' तंग स्थान में अत्यधिक आदमियों के रहने के दोष केवल आधुनिक ही नहीं हैं, जैसा कि वैनतेय ने एक हास्यात्मक पद्य में दिखलाया है:

तस्मिन्नेव गृहोदरे रसवती तत्रैव सा कण्डनी
तत्रोपस्करणानि तत्र शिशवस्तत्रैव वासः स्वयम्।
सर्वं सोढवतोऽपि दुःस्थगृहिणः किं ब्रूमहे तां दशाम्
अद्यश्वो जनयिष्यमाणगृहिणी तत्रैव यत्कुन्थति॥

'उसी घर में रसोई है, वहीं ओखली है, वहीं गृहस्थी की अन्य सामग्री, वहीं बच्चे, और वहीं अपना रहना है। यह सब सहने वाले अभागे गृहस्थ की उस दशा के विषय में हम क्या कहें जब कि आज या कल में सन्तान को जन्म देने वाली उसकी पत्नी उसी स्थान में प्रसव-पीडा से पीडित है।'

२. उपदेशात्मककाव्य

वास्तव में सूक्त्यात्मक और उपदेशात्मक काव्य के बीच में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं है; उनके विभेद का सरलतम प्रकार विचार की एकता के विस्तार और मात्रा पर निर्भर है, और इससे एक ऐसा प्रकार भी मानना पड़ता है जिसमें उन दोनों का भेद अनिश्चित ही रहता है। निश्चितरूप से उपदेशात्मक

ढंग की प्रारम्भिक कृति हमें उपलब्ध नहीं है ; हमारे ज्ञानमें, शान्तिदेव का **बोधिचर्यावतार** ही गूढ दार्शनिक तथा नैतिक विचारों के व्याख्यान में संस्कृत काव्य के सुन्दर रूप को काम में लाने का सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न है । शङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध कुछ छोटी-छोटी रचनाओं को भी पर्याप्तरूपेण परिष्कृत होने से उपदेशात्मक काव्य का नाम दिया जा सकता है ; उदाहरणार्थ **शतश्लोकी**[1] को लीजिये, जिसमें स्रग्धरा छन्द के १०१ पद्यों में वेदान्त के सिद्धान्तों का कुछ अंशों तक कल्पना से समृद्ध शैली में प्रतिपादन किया गया है ; दूसरी ओर **मोहमुद्गर**[2] है, जिसको हम उसकी शैली के ओज तथा प्रयत्नसाध्य अनुप्रास की प्रवृत्तिके कारण उपदेशात्मक होने की अपेक्षा गीतात्मक अधिक कह सकते हैं ; इसका स्वरूप **द्वादशपञ्जरिकास्तोत्र** के साथ बहुत कुछ मिलता है। (उपदेशात्मक) काव्य का कुछ गुणोत्कर्ष **शृङ्गारज्ञाननिर्णय**[3] में पाया जाता है । इसमें, बत्तीस पद्यों में, ऐसे रूप में जो संस्कृत में प्रचलित नहीं है, अपनी-अपनी श्रेष्ठता को लेकर शृङ्गार और ज्ञान के पारस्परिक विवाद का वर्णन किया गया है । शृङ्गार का पक्ष रंभा ने लिया है और तत्वज्ञान का शुक ने । ग्रन्थकार और उसकी तिथि के विषय में हम कुछ नहीं जानते, तो भी यह कहा जा सकता है कि उसका समय प्राचीन नहीं है ।

कश्मीर के राजा जयापीड (७७९–८१३) के मन्त्री दामोदरगुप्त का **कुट्टनीमत**[4] अपेक्षाकृत अधिक रोचक कृति है । उसका समय भी निश्चित है । भारतीय वेश्यावृत्ति-साहित्य का यह एक प्राचीन ग्रन्थ है । इसमें एक युवती वेश्या को शिक्षा दी गई है कि उसे, बराबर केवल संपत्ति की इच्छा रखते हुए ही, किस प्रकार चाटुकारिता की समस्त कलाओं के प्रयोग और कृत्रिम प्रेम द्वारा अपने लिए धन कमाना चाहिए । कल्हण ने एक कवि के रूप में दामोदरगुप्त का उल्लेख किया है, और मम्मट, रुय्यक तथा सुभाषितसंग्रहों ने उनके उद्धरण दिये हैं । इससे स्पष्ट है कि उनकी उक्त कृति ने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की थी । साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से उक्त काव्य का महत्त्व यह है कि उसमें हर्ष की **रत्नावली** के प्रदर्शन को एक प्रभावक और वास्तविक ढंग से चित्रित किया गया है । कवि की शैली सरल है पर अरमणीय नहीं है ; इसका प्रारम्भ होता है :

स जयति संकल्पभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बनभ्रमरः ।
यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकितं वसतिः ॥

---

१. Ed. *Select Works of Srisankaracharya*, pp. 85 ff

२. Ed. Haeberlin, 265 ff.

३. Ed. J. M. Grandjean, AMG. x. 477 ff.

४. Ed. KM. iii. 32 ff.; J. J. Meyer, Altind. Schelmenbücher, ii (1903).

'अनुरक्त ललना के नयन के अन्त से विलोकन में जिसका निवास है और जो स्वयं रति के मुख-कमल के चुम्बन में भ्रमर-रूप है ऐसा कामदेव विजयी है।' उनके कुछ पद्यों में, अपरिष्कृतता या ग्राम्यदोष के रहने पर भी, बुद्धिपाटव और नर्मोक्ति दोनों विद्यमान हैं :

श्रृणु सखि कौतुकमेकं ग्राम्येण कुकामिना यदद्य कृतम्।
सुरतसुखमीलिताक्षी मृतेति भीतेन मुक्तास्मि॥

'अयि सखि ! एक कौतुक सुनो जो एक गँवार कुकामी ने आज किया। सुरत के सुख से मेरे आँखों के बन्दकर लेने पर, यह मर गयी है, ऐसा डरकर उसने मुझे छोड़ दिया।'

अविदग्धः श्रमकठिनो दुर्लभयोषिद् युवा विप्रः।
अपमृत्युरपक्रान्तः कामिव्याजेन मे रात्रौ॥

'ग्राम्य, श्रम से कठिन, स्त्री जिसके लिए दुर्लभ है ऐसा विप्र युवा, जो एक कामी के व्याज से मेरे लिए अपमृत्यु-रूप था, रात में टल गया।'

पर्यङ्कः स्वास्तरणः पतिरनुकूलो मनोहरं सदनम्।
नार्हति लक्षांशमपि त्वरितक्षणचौर्यसुरतस्य॥

'अच्छे विस्तर से युक्त पलंग, अनुकूल पति और सुन्दर गृह, यह सब कुछ त्वरित क्षण के चौर्यसुरत के लक्षांश के बराबर भी नहीं है।' आधुनिक उदाहरणों को देखते हुए, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि दामोदर गुप्त ने कामसूत्र अलंकार-शास्त्र के पाठग्रन्थों और कोषों के चिरकालीन अध्ययन से प्राप्त सामग्री का इस ग्रन्थ की रचना में बाहुल्येन उपयोग किया है।

कुछ अंशों में निस्सन्देह अपने पूर्ववर्ती (दामोदर गुप्त) से प्रभावित हो कर, क्षेमेन्द्र ने, जो कश्मीर के बहुशास्त्रज्ञ थे, अपनी **समयमातृका**[1] (जिसका कदाचित् अर्थ है 'समय द्वारा माता') की रचना की थी। ग्रन्थ के नाम का संकेत इस बात की ओर है कि एक नापित एक नियमित कुट्टनी के रूप में भविष्य में एक वेश्या बनने वाली स्त्री का परिचय कलावती नाम की एक अनुभवी वृद्धा से उसके कष्ट-साध्य पेशे में शिक्षा दिलाने के लिए कराता है। वह वृद्धा, स्वयं उलूक-मुखी, काक-ग्रीवा और बिडालाक्षी होते हुए भी, अनुभवी होने के कारण कुछ समय व्यतीत होने पर एक बुद्धिमती शिक्षिका सिद्ध होती है, और उसकी कुशल सहायता से वह नव-युवती शिष्या अन्त में एक नव-युवक मूर्ख को तथा उसके मूर्ख माता-पिता को ठगने में कृतकार्य होती है। क्षेमेन्द्र की अनेक रचनाओं में एक **कलाविलास**[2] है। इसके

---

१. Ed. KM. 10, 1888.
२. Ed. KM. i. 34 ff. Cf. WZKM. xxviii. 406 ff.

दस परिच्छेदों में मनुष्य-जाति के विभिन्न व्यवसायों और मूर्खताओं पर विविध विचार दिये गये हैं। इस पुस्तक के प्रधान पात्र कपट-मूर्त्ति प्रसिद्ध मूलदेव हैं,[१] जो युवक चन्द्रगुप्त को, जिसको उसका पिता उनके संरक्षण में छोड़ देता है, अपने व्यवसाय में शिक्षित करना स्वीकार कर लेते हैं। वे महान् आत्मा दम्भ का वर्णन करते हैं, जिसका पृथ्वी पर अवतार हुआ है और जिसका शासन साधु-संन्यासियों, वैद्यों, भृत्यों, गायकों, स्वर्णकारों, व्यापारियों, नटों, और दूसरे लोगों में भी पाया जाता है; वह पशु-पक्षियों में भी फैला हुआ है—उस बगुले को देखो जो अनवधान मछली को हड़प जाने के लिए एक पश्चात्तापी के रूप में अपने को दिखाता है, और वनस्पति-जगत् भी उससे परिचित है—वृक्ष तपस्वियों के समान छाल के वस्त्र पहनते हैं। क्षेमेन्द्र के चित्रों में कई दृष्टियों से एक विचित्र आधुनिकता विद्यमान है; वे ऐसे यायावर गायकों और चारणों से परिचित थे जो जिप्सियों (कंजर-सदृश लोगों) की तरह, पात्रों और गाड़ियों के साथ, लंबे बालों को रखे हुए, अनेक बच्चोंवाले, चाटुकारिता से तरह तरह की बख्शिशें माँगते हुए और प्रातःकाल में जो कुछ पाया है उसे मध्याह्न तक खत्म कर डालते हुए, यत्र-तत्र बराबर घूमा-फिरा करते थे। अपने हाथ में काम देने वालों को चालाकियों से ठगनेवाले स्वर्णकार के विषय में उनकी शिकायत अपेक्षाकृत अधिक मध्य-कालीन है। परन्तु हम आधुनिकता की ओर लौट आते हैं जब हम उस वैद्य का वर्णन पाते हैं जो मिथ्या-चिकित्सकीय ओषधियां रखता है और जो अनेकानेक रोगियों को मृत्यु के घाट उतार चुका है; पर अन्त में महान् सफलता उसका वरण करती है और वह बड़ी प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। इसी प्रकार का आधुनिकता को लिये हुए वर्णन उस ज्योतिषी का है जो, अपने सारे मन्तर-जंतर को और अपने ग्राहक जो-कुछ सुनना चाहते हैं तदनुसार भविष्य-कथन की संनद्धता को रखते हुए भी, यह भी नहीं जानता कि उसके पीठ-पीछे उसकी स्त्री क्या कर रही है; यही स्थिति सनदी दवाइयों के उस विक्रेता की है जो, अपना सिर ताँबे की पतीली के समान केश-हीन होते हुए भी, गंजेपन की अचूक चिकित्सा की प्रत्याभूति (guarantee) देने के लिए तैयार है और जिसको ग्राहक भी मिल जाते हैं। दर्पदलन[२] में, सात खण्डों में, उच्चकुल, धन, विद्या, सुन्दरता, साहस, दान, अथवा वैराग्य के गर्व की मूर्खता दिखलाई गई है। विषय-प्रतिपादन का प्रकार अरुचिकर नहीं है; प्रत्येक खण्ड का प्रारम्भ कुछ सूक्त्यात्मक वाक्यों से होता है, तदनन्तर एक कहानी दी गई है जिसका प्रधान-पात्र एक लम्बा भाषण देता है जिसका वास्तव में संबन्ध प्रारम्भ में दिये गये

---

१. Bloomfield, PAPS. lii. no. 212; Pavolini, GSAI. ix. 175.

२. Ed. KM. vi. 66 ff; trs. ZDMG. lxix. 1 ff.

नीति-वचनों से होता है। इस रूप में वुद्ध द्वितीय खण्ड में आते हैं। शिव सप्तम खण्ड में, जिसमें वे कुछ तपस्वियों को अभिशाप देते हुए कहते हैं कि वे परित्राण के योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने मनोविकारों से वे अब भी ग्रस्त हैं। **सेव्यसेवकोपदेश**[1] में, इकसठ पद्यों में, सेवकों और उनके स्वामियों के संवन्ध में शिक्षा दी गई है। चतुर्वर्गसंग्रह में जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में स्वभावतः काम का वर्णन औरों की अपेक्षा अधिक प्रयत्न के साथ किया गया है। **चारुचर्याशतक**[2] में एक सौ पद्य हैं, जिनमें सद्व्यवहार के नियमों को वतलाया गया है, साथ ही आख्यानों और कथाओं से उनके निदर्शन भी दिये गये हैं। इस ग्रन्थ की कुछ रोचकता का एक कारण यह है कि इसका उपयोग द्या द्विवेदी (१४९४) ने किया था और इसका निस्सन्देह प्रभाव उनकी **नीतिमञ्जरी**[3] की रचना पर पड़ा था। इस ग्रन्थ में नीतिपरक २०० पद्यों के निदर्शन ऋग्वेद पर सायण के भाष्य से संगृहीत कथाओं द्वारा दिये गये हैं। संभवतः जल्हण का **मुग्धोपदेश**[4] भी, जिसमें छियासठ पद्यों में वेश्याओं के कापटिक व्यवहार के प्रति चितावनी दी गई है, भी क्षेमेन्द्र के प्रभाव का ही परिणाम है।

क्षेमेन्द्र की शैली पर्याप्तरूपेण सरल है। संसार और सदाचार से संवद्ध उनके विचारों में वह अपने उत्कृष्ट रूप में परिलक्षित होती है और हमें एक क्षण के लिए भी यह न सोचना चाहिए कि उनके शृङ्गारविषयक कथनों में कामोद्दीपकता का स्वरूप विद्यमान है। निःसन्देह उनकी समस्त कृतियों में उनका लक्ष्य वरावर नैतिक था, यह दूसरी वात है कि कठिन प्रसङ्गों में हम उनके प्रतिपादन के ढंग को अधिक पसन्द न करें। **कलाविलास** के कुछ पद्य पर्याप्त सुन्दर हैं :

> **अथ पथिकवधूदहनः शनकैरुदभून्निशाकरलोकः।**
> **कुमुदप्रबोधदूतो व्यसनगुरुश्चक्रवाकीनाम्॥**

'तब पथिकों की वधुओं को पीड़ा देने वाला, कुमुदों के प्रवोध की सूचना देने वाला और चकवियों को व्यसन अथवा चकवों से विरह-जन्य कष्ट देने वाला चन्द्रमा शनैः-शनैः ऊपर निकल आया।'

> **अनङ्गेनाबलासङ्गाज्जिता येन जगत्त्रयी।**
> **स चित्रचरितः कामः सर्वकामप्रदोऽस्तु वः॥**

'जिसने अवलाओं के साहाय्य से अनङ्ग द्वारा जगत्त्रयी को जीत लिया है, वह विचित्र चरित वाला कामदेव तुम्हारे लिए समस्त अभिलाषाओं का देने वाला होवे।'

---

१. Ed. KM. ii. 79 ff.
२. Ed. KM. ii. 128 ff.
३. Keith, JRAS. 1900, pp. 127 ff., 796 f.
४. Ed. KM. viii. 125 ff.

अर्थो नाम जनानां जीवितमखिलः क्रियाकलापश्च ।
तं च हरन्त्यतिधूर्ताश्छगलगला गायना लोके ।
तमसि वराकश्चौरो हाहाकारेण याति संत्रस्तः ।
गायनचौरः कपटी हाहाकृत्वा नयति लक्षम् ॥

'धन मनुष्यों का जीवन और समस्त क्रिया-कलाप होता है, उसको भी संसार में बकरे के जैसे गले वाले अतिधूर्त गायक उड़ा ले जाते हैं। अन्धकार में 'हा'' हा' के शब्द को सुन कर बेचारा चोर डरकर भाग जाता है, परन्तु कपटी गायक चोर श्रोताओं द्वारा 'हा' 'हा' करने पर एक लाख रुपयों को ले जाता है।' 'हा हा' शब्द प्रसन्नता और भय दोनों को प्रकट करता है। स्वर्णकार का प्रत्याख्यान पर्याप्त रूपेण प्रभावक है :

मेरुः स्थितोऽतिदूरे मनुष्यभूमिं परित्यज्य
भीतो भयेन चौर्याच्चौराणां हेमकाराणाम् ।
तस्मान्महीपतीनामसंभवे चौरदस्यूनाम्
एकः सुवर्णकारो निग्राह्यः सर्वथा नित्यम् ॥

'चोर स्वर्णकारों के चौर्य के भय से डर कर मेरु पर्वत मनुष्य-भूमि को छोड़ कर दूर में स्थित है। इसलिए राजाओं का कर्तव्य है कि चोर और दस्युओं के अभाव में भी वे सदा सर्वथा स्वर्णकार का निग्रह करें।'

अमितगति क्षेमेन्द्र से अर्धशताब्दी पहले हुए थे। उनके **सुभाषित-रत्नसंदोह**[1] की रचना ९९४ में हुई थी, और उनकी **धर्मपरीक्षा** बीस वर्ष के अनन्तर लिखी गई।[2] **सुभाषितरत्नसंदोह** में बत्तीस परिच्छेद (निरूपण) हैं, जिनमें से प्रत्येक में साधारणतया एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। इसमें जैन नीतिशास्त्र के विभिन्न दृष्टिकोणों पर आपाततः विचार किया गया है; साथ-साथ ब्राह्मणों के विचारों और आचार के प्रति इसकी प्रवृत्ति विसंवादात्मक है। प्रचलित रीति के ढंग पर, स्त्रियों पर खूब आक्षेप किये गये हैं। (६), और एक पूरा परिच्छेद वेश्याओं के संबन्ध में है (२४)। जैन-धर्म के आप्तों का वर्णन २८ वें परिच्छेद में किया गया है, और ब्राह्मण-धर्म के देवों के विषय में कहा गया है कि वे उक्त आप्त-जनों की समानता नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्त्रियों के पीछे कामातुर रहते हैं, मद्य का सेवन करते हैं, और इन्द्रियासक्त होते हैं। **धर्मपरीक्षा** में भी ब्राह्मण-

---

१. Ed. KM. 82; अनुवाद के सहित R. Schmidt तथा J. Hertel, ZDMG. lix. and lxi; cf. WZKM. xvii. 105 ff.

२. N. Mironow, *Die Dharmaparīkṣā des Amitagati* (1903).

धर्म पर आक्रमण किये गये हैं और उसमें अधिक आख्यान-मूलक साक्ष्य की सहायता ली गई है। हेमचन्द्र के योगशास्त्र[1] का महत्त्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। यह सरल श्लोकों में लिखा गया है और उसके साथ में बहुत कुछ परिष्कृत गद्य में लिखित ग्रन्थकार की ही अपनी टीका भी है। विशद टीका सहित प्रथम चार परिच्छेदों में जैन दर्शन का विस्तृत और स्पष्ट वर्णन दिया गया है; अन्तिम आठ परिच्छेदों में जैन-धर्म के विभिन्न कृत्यों का और मुनियों के आचारों का प्रतिपादन किया गया है। अमितगति के उपर्युक्त ग्रन्थों की भांति अहिंसा की बराबर प्रशंसा और स्त्रियों की निन्दा इसमें भी विद्यमान है। हेमचन्द्र में साधारणतया अच्छी कविता लिखने की योग्यता है, तो भी उनकी इस कृति को कोई विशिष्ट साहित्यिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इस दृष्टि से सोमप्रभ (१२७६) रचित, लघु परन्तु परिष्कृत, शृङ्गारवैराग्य-तरङ्गिणी[2] का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। छियालीस पद्यों की इस रचना में स्त्री-विषयक प्रेम की निन्दा की गई है।

---

१. Ed. BI. 1907 ff.; i-iv, ZDMG. xxviii. 185ff.

२. Ed. KM. v. 124 ff.

११

उपदेशात्मक पशु-कथा

१. पशु-कथा का आरम्भ

बिना किसी शङ्का के हम यह मान सकते हैं कि भारत में वैदिक-युग के भारतीयों के जीवन के प्रारम्भिकतम काल से ही अनेक प्रकार की कहानियाँ लोगों में प्रचलित थीं ; भलेही उनके विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में अद्भुत कथा (frairy tales), लोककथा (Märchen), कल्पित कथा (myths) अथवा पशु-कथा (fables) के रूप में उनमें भेद स्थापित करना व्यर्थ हो। साधारण-सी कहानी का एक निश्चित उद्देश्य के लिए उपयोग में लाया जाना, उपदेशात्मक कथा का जीवनोपयोगी ज्ञान समझाने की एक निश्चित विधि वन जाना, कहानियों के इतिहास में एक स्पष्ट तथा महत्त्वपूर्ण कदम था। हमें इसका ज्ञान नहीं कि किस काल में यह परिवर्तन घटित हुआ। ऋग्वेद में हम पशु-पक्षियों की कथाएँ प्राप्त करने की आशा नहीं करते, परन्तु उसमें हमें कुछ ऐसी बात मिलती है जिससे हम यह सोच सकते हैं कि भारतीय चिन्तन के लिए मनुष्य के पड़ोसी पशु-पक्षियों में मनुष्य की आदतों को स्थानान्तरित कर देना कितना सरल था। ऋग्वेद[१] के एक प्रसिद्ध सूक्त का, जिसमें यज्ञ के अवसर पर मन्त्रगान करते हुए ब्राह्मणों की तुलना टर्र-टर्र करने वाले मेंढकों से की गई है, चाहे कुछ भी उद्देश्य रहा हो, किन्तु उससे स्पष्ट है कि मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया गया है। उपनिषदों[२] में यह बात स्पष्टरूप से प्रकट हो जाती है ; वहाँ कुत्तों की एक रूपकात्मक अथवा व्यङ्ग कथा आती है जो अपने भोजन के लिए चिल्लाने वाला एक नेता ढूँढते हैं; दो हंसों की बातचीत दी हुई है जिनके वचनों से रैक्व का ध्यान आकर्षित होता है ; एवं सत्यकाम को पहले एक वृषभ, फिर एक हंस, तदनन्तर एक जलचर पक्षी द्वारा उपदेश किया जाना वर्णित है। यह ठीक है कि इन स्थलों में उपदेशात्मक कथा नहीं है, जिसमें जानवरों के कर्म मनुष्यों को उपदेश देने के साधन बनाए जाते हैं, तो भी हम यह समझ सकते हैं कि उपदेश देने के इस प्रकार को ग्रहण कर लेना कितना सरल था। महाभारत[३] में वास्तव में हमें पशु-कथाएँ स्पष्टतया उपलब्ध

---

१. vii. 103.

२. छान्दोग्य उपनिषद्, i. 12; iv. 1; 5; 7 f.

३. Holtzmann, *Das Mahābhārata*, iv. 88 ff.

होती हैं, और ये केवल उत्तरकालीन बारहवें (शान्ति) पर्व में ही नहीं, किन्तु अन्य पर्वों में भी वर्तमान हैं। हम केवल उसी चिड़िया के सम्बन्ध में नहीं पढ़ते जो प्रसिद्ध सुनहले अण्डों के तुल्य अण्डे दिया करती थी, प्रत्युत उस चण्ट बिल्ली की कथा भी पाते हैं जिसकी धार्मिकता की दिखावट से ठगे गए चूहों ने अपने को स्वयं ही उसे सौंप दिया था। इस प्रकार **महाभारत** में हमें वह बीज-भूत आधार प्राप्त है जो **पञ्चतन्त्र** के विकास की हेतु-भूत सामग्री की ओर दृढ़तापूर्वक सङ्केत करता है। यह सुझाव दिया गया है कि पाण्डवों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि बुद्धिमान् सियार ने अपने साथियों, व्याघ्र, चूहा, नेवला, और भेड़िया, के साथ किया था, जब कि उसने उनकी सहायता से ही प्राप्त की गई लूट की सामग्री में चालाकी से उनको अपने अपने भाग से वञ्चित कर दिया था। इसी समय के लगभग[1], जैसा कि भरहुत के अभिलेख के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य से ज्ञात है, बौद्ध लोग पशुओं और मनुष्यों के निकट सम्बन्ध-विषयक व्यापक विश्वास का पहले से ही दूसरा उपयोग करने लगे थे। यह सम्बन्ध हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों द्वारा समानरूप से पशु तथा मनुष्य योनियों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त के स्वीकार कर लिये जाने के कारण अब प्रगाढ़तर हो गया था। बौद्ध लोग पिछले जन्मों में बुद्ध और उनके समकालीन पुरुषों की महत्ता एवं उनके कार्यों का उदाहरण देने के लिए पशुओं की कथाओं का आधार लिया करते थे।

महाभारत से तथा पतञ्जलि[2] द्वारा लोकन्यायों के उल्लेखों से हम निश्चितरूप से मान सकते हैं कि इस प्रकार की पशु-कथा प्रचलित थी, परन्तु किसी निश्चय के साथ हम यह नहीं कह सकते कि उक्त कथाओं ने उस समय तक किसी प्रकार का साहित्यिक रूप धारण कर लिया था। इसका उत्तर नकारात्मक हो सकता है, क्योंकि **पञ्चतन्त्र** में प्राप्त होने वाली पशुकथा में आपाततः कला की कमी होने पर भी निश्चय ही वह एक परिष्कृत रचना है। वह मौलिकरूप से उपदेशात्मक है, और इसीलिए उसमें अंशतः कहानी के रूप के साथ-साथ, अंशतः व्यावहारिक जीवन के आदर्श या सिद्धान्त का रूप भी होना चाहिए, भले ही उच्चतर अर्थ की दृष्टि से उसे नैतिक न कहा जा सके। पशु-कथा मूलतः भारतीयों में शास्त्र की **नीतिशास्त्र** तथा **अर्थशास्त्र** के नाम से प्रख्यात दो शाखाओं से सम्बन्धित है। **धर्मशास्त्र** के प्रतिकूल इन दोनों में यह समानता है कि वे सदाचारोपदेश के शास्त्र नहीं हैं, किन्तु वे व्यावहारिक राजनीति

---

१. *Mem. Arch. Surv. India*, i (1919), 15. तिथियों के प्रश्न पर तुलना कीजिए R. C. Majumdar, JPASB. 1922, pp. 225 ff.

२. पाणिनि की **अष्टाध्यायी** के २।१।३ ५।३।१०६ आदि पर। Weber, IS. xiii. 486.

में मनुष्य के कर्तव्य से और दैनिक जीवन तथा पारस्परिक सम्पर्क की सामान्य बातों के अनुष्ठान से सम्बन्धित हैं। परन्तु इन शास्त्रों के वैपरीत्य को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं कहना चाहिए, क्योंकि **अर्थशास्त्र** तथा **नीतिशास्त्र** दोनों में समान रूप से पर्याप्त सामान्य बुद्धि है, और वह बहुधा व्यावहारिक नैतिकता से मेल खाती है। किसी समय भी हम उपदेशात्मक पशु-कथा के सम्बन्ध में यह नहीं सोच सकते कि उसका उद्देश्य नैतिकता की उपेक्षा करके केवल चातुरी की प्रशंसा करना है। यह देखते हुए कि **पञ्चतन्त्र** का उद्देश्य बालकों को शिक्षा देना था और शिक्षक ब्राह्मण थे, स्वभावतः इस ग्रन्थ में सब ओर से **धर्मशास्त्र** का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। परन्तु जिन किशोर शिष्यों को लक्ष्य करके यह ग्रन्थ लिखा गया था, वे स्पष्टतः पूर्णतः अथवा प्रधानतः ब्राह्मण ही हों, यह बात नहीं थी। **पञ्चतन्त्र** में ही अंकित परम्परा यह बतलाती है कि उसकी रचना एक राजा के लड़कों के लिए की गई थी। **पञ्चतन्त्र** में संस्कृत का प्रयोग भी इस बात से मेल खाता है, क्योंकि इसकी प्रथम रचना के सम्भावित काल में अवश्य ही संस्कृत ब्राह्मणों की तथा राजकीय परिजनों में से उच्च अधिकारिवर्गों की भाषा रही होगी। यह स्पष्ट है कि ऐसी कृति एक सुनिश्चित उद्देश्य को लेकर रची गई थी और यह पशुविषयक उन नाममात्र की कथाओं से या सरल पशु-कथाओं से भी नितान्त भिन्न थी जो उस समय मौखिकरूप से प्रचलित रही होंगी।

पशु-कथा का स्वरूप अपने आवश्यक तत्त्वों के विषय में अपने मूल से ही नियमित है। कहानी का वर्णन स्वभावतः गद्य में किया जाता है, परन्तु उसके उपदेश को पद्यरूप में रख कर स्मृति में बैठा दिया जाता है। दूसरे उपदेशात्मक पद्यों का भी कहानियों में यत्र-तत्र रखा जाना स्वाभाविक है। सूक्तिपद्यों का ऐसा उपयोग **ऐतरेय ब्राह्मण**[1] में प्राप्त होता है। कहानी के सत्य अथवा मुख्य प्रतिपाद्य विषय को समाविष्ट करने वाला पद्यात्मक नीति-वचन अधिक साधारण उपदेशात्मक पद्य से स्वभावतः भिन्न स्थिति में रहता है। उस पद्य को प्रत्यभिज्ञापक लेबिल या कथासंग्रहश्लोक (अर्थात् कहानी का सारांश बतानेवाला श्लोक) के रूप में कार्य करने में समर्थ होना चाहिए। इस प्रकार के पद्यों के आधार पर कथा के वर्णन में ही ऐसे पद्यों को स्थान देना अवश्य स्वाभाविक रहा होगा जो नीतिवचन न होते हुए भी, उक्त लेबिल की भाँति, निश्चित रूप से कहानी से संबन्ध रखते हैं। इस प्रकार हमें आख्यान या वर्णनात्मक पद्यों का उपयोग प्राप्त होता है, यद्यपि किसी भी तरह इसे कोई महत्त्वपूर्ण अङ्ग नहीं माना जा सकता। उपदेशात्मक कथा का पूर्णतः अथवा प्रमुखतः पद्य में लिखा जाना धीरे-धीरे और बहुत देर में ही हुआ।

१. vii. 13 ff.

पशु-कथा के स्वरूप की एक दूसरी विचित्रता उल्लेखनीय है। वर्ण्य वस्तु का जटिलतापूर्वक विस्तार करके उसको एक विशिष्ट कलात्मक रूप दे दिया जाता है। यही नहीं कि अनेक पशु-कथाओं को केवल सम्मिलित करके उनको एक पुस्तक का रूप दे दिया जाता है, बल्कि उन कथाओं को परस्पर ऐसे गूँथ दिया जाता है कि सम्पूर्ण एक इकाई बन जाए। इसमें कथाओं के पात्र दूसरी कथाओं का उल्लेख करके, जिन्हें आवश्यकरूप से उनसे पूछा जाता है, अपने नीतिविषयक सिद्धान्तों को पुष्ट करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक कथा में सामान्यतः दूसरी कथाओं का समावेश हो जाता है। इस रीति को और भी आगे बढ़ाया जा सकता है, जैसे एक समाविष्ट कथा के अन्तर्गत एक अन्य समाविष्ट कथा को रख दिया जाए। कथा के इस स्वरूप में ऐसा कुछ नहीं है जो सरल अथवा लोकप्रिय हो। सच तो यह है कि कथा का ऐसा रूप केवल व्यावहारिक उपयोगों की दृष्टि से निश्चय ही अत्यन्त असुविधाजनक है, क्योंकि इससे मुख्य कथा का प्रवाह इस प्रकार बाधित हो सकता है कि उस तक वापिस आने में कठिनाई का अनुभव हो। यह पद्धति किसी एक विशेष व्यक्ति अथवा व्यक्तियों ने आविष्कृत की होगी। आदर्शों के लिए हम केवल पौराणिक काव्यों (epics) में प्रदर्शित वक्ता के साक्षात् भाषण (direct speech) के प्रति रुचि की ओर ही अनिश्चित रूप में संकेत कर सकते हैं, जहाँ पात्र को अपने साहसिक कार्यों का विवरण यथासम्भव स्वयं सुनाना पड़ता है, जैसा कि Phaiacians के मध्य में Odysseus करता है। इस विषय में भी संदेह करना तर्क-सङ्गत नहीं होगा कि जिन्होंने पशु-कथा के स्वरूप में उसके सम्भावित सरलतर पूर्ववर्ती रूप के विरुद्ध इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का प्रारम्भ किया, उन्होंने अपने द्वारा वर्णित अनेक पशु-कथाओं को भी स्वयं आविष्कृत किया था। लोकप्रचलित पशु-पक्षियों की कथा से साररूप में उन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया होगा, परन्तु निश्चित नीति-सम्बन्धी उद्देश्यों के निमित्त उसे उपयुक्त बनाने के लिए उन्होंने उसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया होगा। हम इस मत का समर्थन बौद्धों द्वारा जातक ग्रन्थ में पशु-कथाओं की मौलिक कल्पना में किए गए अनेकानेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों से कर सकते हैं।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि प्राकृत पशु-कथा-साहित्य को पञ्चतन्त्र का अग्रगामी कहना सम्भव नहीं है। यह सोचने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं है कि पञ्चतन्त्र जैसी रचना वाला कोई अन्य ग्रन्थ कभी रहा होगा। हम यह भी नहीं कह सकते कि तत्तत् कहानियों का मुख्य भाग उस परवर्ती काल तक लोगों में प्रचलित था, जब कि पञ्चतन्त्र की लोक-प्रियता

के कारण, बहुत कुछ ईसप (Aesop) की कहानियों की तरह, उनको भी समाज की निम्नतर श्रेणी के लोगों के लिए अपना लेने का पूरा प्रयत्न किया गया। हम और भी आगे बढ़कर यह मान सकते हैं कि पशु-कथा लोक-प्रचलित कहानी अथवा लोक-कथा (Märchen) से कहीं आगे बढ़ कर संस्कृत में एक स्वतन्त्र रचना है। लोक-कथा पशु-कथा के उपदेशात्मक लक्ष्य से मुक्त होती है और वह मनुष्यों के धार्मिक भावों, उनकी कल्पनाप्रसूत कथाओं के निर्माण की शक्ति, इन्द्रजाल के समस्त पक्षों में उनके विश्वास, और साधारण वर्णन-कर्त्ताओं के स्वाभाविक नैपुण्य को अधिक साक्षात् रूप में अभिव्यक्त करती है। यह बात इस स्पष्ट भेद से पूर्णतया मेल खाती है कि लोक-कथा (Märchen) के बड़े संग्रहों के प्राकृत मूल-रूप के सम्बन्ध में भारतीय परम्परा उतनी ही निश्चयात्मक है जितनी पञ्चतन्त्र के किसी प्राकृत स्रोत के अस्तित्व के सम्बन्ध में मौन।

संस्कृत भाषा के अन्य अङ्गों की भाँति, उसके साहित्य में भी भेदों की स्पष्टता साधारणतया नहीं मिलती। अलङ्कारशास्त्र के लेखकों ने पशु-कथा और कहानी के बीच भेद दिखाने के लिए कोई नई पारिभाषिक शब्दावली का आविष्कार नहीं किया, यद्यपि जहाँ तक कहानी का सम्बन्ध है कथा और आख्यायिका के भेदों का विवेक करने के कुछ प्रयत्न किये गए थे, परन्तु उसमें भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली।[1] पञ्चतन्त्र के अनेक तन्त्रों में कहानियों को कथा कहा गया है, जब कि एक संस्करण में उसको तन्त्राख्यायिक का नाम दिया गया है। इनमें स्वयं आख्यायिका शब्द वर्णनात्मक आख्यान या कभी लघु वर्णनात्मक आख्यान का, और कथा वार्तालाप अथवा कहानी का वाचक है, और इन्हें गम्भीरता-पूर्वक विविक्त करना असम्भव सा था। पञ्चतन्त्र में पशु-कथा (fables) कहानी (tales) और यथार्थ अथवा सम्भाव्य मानवीय घटनाओं के वर्णनों के बीच कोई भेद कड़ाई के साथ नहीं स्थापित किया गया है। यह कथाओं (tales) से इसी बात में भिन्न है कि इसमें उपदेशात्मक पद्यों के साथ पशु-कथा-विषयक तत्त्व अन्य तत्त्वों पर छा गया है, जब कि कथाओं में पशु-कथा केवल एक गौणतर अङ्ग के रूप में ही विद्यमान रहती है। कड़ाई के इस अभाव से दोनों को ही लाभ होता है, जिससे दोनों में प्रतिपाद्य विषय की अधिक समृद्धि और अधिक विस्तृत विकास सम्भव हो सकता है। यहाँ तक कि हितोपदेश जैसे परवर्ती काल में निर्मित ग्रन्थ को भी यह ज्ञात है कि पशु-कथा (fable) में लोक-कथा (Märchen) और मानव-जीवन के रुचि-वर्धक वर्णनों का मिश्रण करने से वैचित्र्य कैसे उत्पन्न किया जा सकता है।

१. Cf. S. K. Dé, BSOS. iii. 507 ff.

२. पञ्चतन्त्र का पुर्ननिमाण तथा उसका मूल स्रोत

जो अनेकानेक रचनाएँ हमें साधारणतः पञ्चतन्त्र अथवा किसी समान नाम से उपलब्ध हैं, उनका मूल रूप अब लुप्त हो चुका है। परन्तु उसकी मुख्य प्रतिनिधि रचनाओं की जाँच से हम उस मूल रूप के प्रतिपाद्य विषय तक ही नहीं, प्रत्युत वहुत कुछ उसके स्वरूप तक भी पहुँच सकते हैं।[१] इनमें हम चार मुख्य विभागों को निश्चित रूप से देख सकते हैं। पहला ५७० ई० से पूर्व किया गया पञ्चतन्त्र का पहलवी रूपान्तर है जो अब लुप्त हो चुका है, परन्तु जिसका सारतया पुनर्निर्माण एक प्राचीन सीरिअन (Syrian) और एक अरवी रूपान्तर तथा उस पर आधारित परवर्ती ग्रन्थों के आश्रय से किया जा सकता है। दूसरा उत्तर-पश्चिमी भारत में तैयार किया गया रूपान्तर है, जिसको गुणाढच की बृहत्कथा के उस रूपान्तर में समाविष्ट कर लिया गया था, जिसके आधार पर ग्यारहवीं शताब्दी में सोमदेव ने कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामञ्जरी की रचना की थी। तीसरे विभाग में तन्त्राख्यायिक नाम से दो कश्मीरी पाठान्तर और दो जैनी संस्करण सम्मिलित हैं जिनका विषय, तन्त्राख्यायिक से तो नहीं, किन्तु उससे मिलते-जुलते किसी अन्य ग्रन्थ से लिया गया है, जैसे ब्युहलर (Bühler) और कीलहॉर्न (Kielhorn) के बालकों के उपयोगार्थ (in usum tironum) संस्करण से ख्यातिप्राप्त सरलपञ्चतन्त्र (Simplicior) तथा पूर्णभद्र (११९९) का संस्करण। पूर्णभद्र ने तन्त्राख्यायिक के साथ साथ किसी अन्य अज्ञात रूपान्तर का भी उपयोग किया होगा। पञ्चतन्त्र का चौथा विभाग दक्षिणी पञ्चतन्त्र, नेपाली पञ्चतन्त्र और लोकप्रिय हितोपदेश का समान-रूप से पूर्वज रहा होगा। इनमें से प्रथम दो दक्षिणी पञ्चतन्त्र से मिलते-जुलते किसी रूपान्तर से लिए गए हैं जो अब लुप्त हो गया है, और हितोपदेश बहुत कुछ किसी पूर्णतया भिन्न स्रोत से लिया गया है।

हमारी निश्चयात्मकता की यही सीमा है। अपने अथक तथा सफल परिश्रम से हेर्टेल (Hertel)[२] ने यह निष्कर्ष निकाला कि ये सब स्रोत एक दोष-पूर्ण मूलरूप से निकले हैं (जिसका नाम उन्होंने t रखा है); परन्तु स्पष्टतः ही यह बात सिद्ध नहीं हो पाई है। इसके अतिरिक्त, उनका विचार था कि इन चार स्रोतों को घटा कर दो कर दिया जाना चाहिए, एक मूल तन्त्राख्यायिक और और दूसरा 'K' जो अन्य तीन विभागों का तथा अंशतः स्वयं तन्त्राख्यायिक के β पाठान्तर का स्रोत था। यह भी अग्राह्य है और इसका निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है,

१. देखिये F. Edgerton, *The Panchatantra Reconstructed* (1924).
२. *Das Pañcatantra* (1914).

क्योंकि इससे यह अर्थ निकलता है कि उन चार रूपान्तरों में से किन्हीं दो में किसी कहानी का मिलना मूलपाठ म उसके होने का पुष्ट प्रमाण है, जब कि हेर्टेल (Hertel) के मत में इस प्रकार का महत्त्व **तन्त्राख्यायिक** और 'K' पाठान्तर के किसी एक संस्करण में साथ-साथ मिलने पर ही हो सकता है। पुनश्च, हेर्टेल (Hertel) की एक मध्यवर्ती मूलरूप 'N.–W.' की कल्पना के लिए भी कोई उपयुक्त आधार नहीं है, जिससे पहलवी, पञ्चतन्त्र का दक्षिणी विभाग और **सरलपञ्चतन्त्र** (Simplicior) निकले हैं। इसके अतिरिक्त, **तन्त्राख्यायिक** के संस्करण के पूर्ववर्ती होने की वात भी ग्राह्य नहीं है; इसके छूटे हुए भाग, जिनको हेर्टेल (Hertel) ने मूलपाठ को पुनः निश्चित करने के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण माना था, वहुधा अन्तिम स्रोत के प्रति सच्चाई के प्रमाण नहीं हैं, बल्कि गौण हैं; जिस संस्करण में वे सारे वर्तमान हैं वह यदि अधिक नहीं तो कम से कम उतना ही मूल्यवान् है जितना कि *a* संस्करण। सौभाग्यवश, मतों की उक्त विभिन्नता के होने पर भी, हम मूल-ग्रन्थ का सारतया पुनर्निर्माण करने की सम्भावना के विषय में विश्वस्त रह सकते हैं। एडगेर्टन (Edgerton) हेर्टेल (Hertel) द्वारा मौलिक मानी गई सारी कहानियों को असली स्वीकार करते हैं, और उनके अतिरिक्त जिन कहानियों को उन्होंने बढ़ाया है उनमें से हेर्टेल (Hertel) केवल पाँच को सन्दिग्ध और दो को निश्चितरूप से मौलिकेतर मानते हैं। उनके आधार किसी प्रकार भी विश्वासोत्पादक नहीं हैं और यह पर्याप्त सम्भव है कि विवाद-ग्रस्त कहानियाँ आद्य **पञ्चतन्त्र** की हों।

मूल-ग्रन्थ का नाम निश्चित-रूप से **पञ्चतन्त्र** ही था, परन्तु इस शब्द का अर्थ अनिश्चित है। क्या तन्त्र का अर्थ केवल पुस्तक है, अथवा यह शब्द छल, उग्र आचरण का प्रकार, या उपदेशात्मक अथवा प्रामाणिक ग्रन्थ को लक्षित करता है? इसी प्रकार, क्या **तन्त्राख्यायिक** (पाँच) तन्त्रों में विभक्त कहानियों के रूप में एक नीतिशास्त्र को वतलाता है; अथवा आख्यायिका के रूप में राजनीति के लिए एक प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तक को प्रकट करता है; या शिक्षा-प्रद अथवा उपदेशात्मक कहानियों द्वारा रची गई एक पाठ्य-पुस्तक को सूचित करता है? हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, परन्तु प्रायेण यह अधिक सम्भावित है कि **पञ्चतन्त्र** का तात्पर्य मूल में पाँच प्रतिपाद्य विषयों से था; पुस्तक के नाम के रूप में इसका तात्पर्य पाँच विषयों के सम्बन्ध में कहने वाली पुस्तक से था। मूलपाठ की स्थिति के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व पहलवी रूपान्तर के होने के पूर्व संभवतः कुछ समय तक अवश्य रहा होगा।

हेर्टेल (Hertel) भी इस विषय में सन्देह नहीं करते कि इसकी रचना उनके द्वारा प्रथमतः प्रस्तावित तिथि अर्थात् २०० ई० पू० के बहुत बाद हुई होगी। पञ्चतन्त्र को महाभारत के सम्बन्ध में अच्छी तरह से जानकारी है, और उसमें दीनार शब्द का प्रयोग, जो लैटिन में denarius है, निश्चय ही इसकी तिथि ईसवी संवत् के परवर्ती काल में सूचित करता है, यद्यपि यह इसे शीघ्र से शीघ्र द्वितीय शताब्दी ई० का बतलाने के लिए काफ़ी नहीं है[1]। परन्तु इसकी प्रत्येक बात यह सूचित करती है कि इसकी रचना गुप्तों के समय अथवा उनके साम्राज्य-स्थापन के कुछ ही पहले हुए ब्राह्मणों के पुनरभ्युदय तथा विस्तार के काल में हुई थी। राजकुमारों की शिक्षा के लिए संस्कृत का प्रयोग और इस ग्रन्थ का स्पष्टतया ब्राह्मणीय स्वरूप इस बात से मेल खाता है, यद्यपि इसके लेखक के वैष्णव होने के संबन्ध में समुचित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। हम इसके लेखक को युक्ति-पुरस्सर ब्राह्मण स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु इसके मूलरूप में दिये गये विष्णुशर्मा नाम पर भरोसा नहीं किया जा सकता। साथ ही इसको निश्चय ही बनावटी नाम समझ कर विलकुल ही न मानना भी असम्भव है। हो सकता है कि लेखक ने वहुत कुछ इस प्रकार से ही अपने व्यक्तित्व की स्मृति सुरक्षित रखने की इच्छा की हो। यदि ऐसा है, तो इस तथ्य को कुछ महत्त्व दिया जा सकता है कि इसके दक्षिणी स्रोत के चिह्न-स्वरूप विष्णुशर्मा को दक्षिण के महिलारोप्य या मिहिलारोप्य के राजा अमरशक्ति के पुत्रों को कहानियाँ सुनाते हुए बतलाया गया है। इससे यह बात भी मेल खाती है कि तन्त्राख्यायिक तथा जैन पाठान्तर ऋष्यमूक नामक एक पर्वत का उल्लेख करते हैं, जो आपाततः दक्षिण के पश्चिम भाग में था। पञ्चम तन्त्र की अङ्गी कथा (frame story) का स्थान गौड देश अर्थात् बङ्गाल रखा गया है, परन्तु इस बात का कोई महत्त्व नहीं, विशेषरूप से इस कारण क्योंकि परवर्ती रूपान्तरों में केवल हितोपदेश ही उस स्थान से सम्बन्धित है। हेर्टेल (Hertel) का विचार है कि यह ग्रन्थ कश्मीर में लिखा गया था, क्योंकि मूल पुस्तक में न तो व्याघ्र का और न हाथी का ही कोई स्थान है, जब कि ऊँट ज्ञात है। किन्तु इस ग्रन्थ के देर में रचे जाने की बात को ध्यान में रखते हुए हेर्टेल की उक्त वात से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है, क्योंकि तब तक भारत के अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र के लोगों के लिए ऊँट के बारे में सब कुछ जानना सम्भव हो सकता है। पञ्चतन्त्र में तीर्थ के जो स्थान वर्णित हैं वे सामान्य ही हैं, जैसे पुष्कर, गङ्गाद्वार, प्रयाग, तथा वाराणसी। अतः हमें इसकी रचना के स्थान का प्रश्न खुला ही छोड़ देना चाहिए।

---

१. Keith, JRAS. 1915, pp. 504.

३. पञ्चतन्त्र का प्रतिपाद्य विषय

पञ्चतन्त्र का पुनर्निर्मित पाठ निस्सन्देह ही राजनीति तथा दैनिक जीवन क व्यावहारिक आचरण में राजाओं की शिक्षा के लिए एक पाठ्य पुस्तक है, पर साथ ही यह एक कहानी की पुस्तक भी है, और इसका लेखक कहानियों को केवल शिक्षा के कार्य के लिए आवश्यक निम्नतम सीमा तक सीमित रखने का इच्छुक नहीं था। यह मानवीय स्वभाव के अनुरूप है, और उन कहानियों को इसमें स्थान देने का कारण भी यही है जो पशु-कथा की अपेक्षा लोक-कथा (Märchen) ही अधिक मानी जा सकती हैं, जैसे समुद्र को भय दिखानेवाले एक समुद्र-तटवर्ती टिट्टिभ पक्षी की कहानी[१] और द्वितीय तन्त्र में हिरण्य नाम के चूहे की कहानी। लेखक की दृष्टि अनैतिक भी नहीं थी। उसे यह सिद्धान्त स्थापित करने की कोई इच्छा नहीं थी कि बेईमानी ही सर्वोत्तम नीति है। उसका लक्ष्य व्यवहारोपयोगी पद्धति की मन्त्रणा देना था और यह सर्वथा आवश्यक नहीं है कि ऐसी मन्त्रणा अनैतिक ही हो। वस्तुतः पापबुद्धि और धर्मबुद्धि की महत्त्वपूर्ण कथा में, केवल यह सिद्ध करने के लिए कि सत्य का अवलम्बन ही सर्वोत्तम नीति है, एक लम्बा वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसी बात को इस तथ्य से पुष्ट किया गया है कि बैल का करटक नामक मन्त्री अपने साथी दमनक को झिड़कता है और कहता है कि उसे अपनी दुष्टता पर, जिसमें वह सफल हुआ है, जीवन भर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वस्तुतः **पञ्चतन्त्र** में हम अपने को वास्तविक ब्राह्मणीय समाज के ठीक मध्य में पाते हैं। राजा के मन्त्री सामान्यतः ब्राह्मण हैं, यज्ञों के लिए ब्राह्मण आवश्यक हैं, ब्राह्मण-धर्म के अनुष्ठान और संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं, प्रतिपदा तथा पूर्णिमा के दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। झूठे तपस्वी अथवा पुरोहितों के लोभ, जो स्त्रियों और राजाओं के साथ ब्राह्मणों की भी विशिष्टता है, के उल्लेखों को ब्राह्मण-धर्म के प्रति विद्वेष के चिह्न समझना एक बड़ी भूल है। ब्राह्मण लोगों का कोई ऐसा संकीर्ण समाज नहीं था जो अपनी जाति के व्यक्तियों के दोषों के प्रति अन्धा हो। मध्ययुगीन साधुओं के समान ही वे भी एक दूसरे के दोष देखने के लिए तैयार रहते थे। **पञ्चतन्त्र** में बौद्ध प्रवृत्तियों का कोई भी चिह्न नहीं है ; बेन्फ़े (Benfey) का यह विचार कि **पञ्चतन्त्र** का मूलरूप एक बौद्ध पुस्तक थी, उस समय के लिए स्वाभाविक था जब कि उन कहानियों के सदृश कहानियाँ उन्हें केवल उन बौद्ध पुस्तकों में ही प्राप्त हो सकी थीं, जिनकी पूर्ववर्तिता के विषय में उन्होंने ग़लत अनुमान लगाया था, और जब कि इस विषय में पूर्णरुप से अनुभव नहीं हो पाया था कि बौद्ध

१. i. 9. तुलना कीजिए St. Martin's bird, Wesselski, *Mönchslatein*, p. 172.

धर्म अनेक विषयों में मौलिक रूप से कितना भारतीय है। अब हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि जातक कहानियों में से अनेक एकमात्र मूल पञ्चतन्त्र से निकली हैं जैसे ३४९ तथा ३६१ संख्या वाली कहानियाँ, जो पञ्चतन्त्र के प्रथम तन्त्र की अङ्गी कथा पर आश्रित हैं। राजाओं, मन्त्रियों, राज्य-शासन, अपने मित्र-राजाओं को वश में रखने तथा शत्रु-राजाओं के मण्डलों में फूट डालने और युद्ध जारी करने आदि के सम्बन्ध में विस्तृत तथा कभी-कभी अव्यवस्थित राजनीतिक सूचनाओं का सादृश्य हमें कौटिल्य के नाम से प्राप्त होने वाले अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है। यह बहुत सम्भव है कि जिस रूप में यह हमें ज्ञात है वस्तुतः उसी रूप में मूल पञ्चतन्त्र को भी इसका ज्ञान रहा हो, परन्तु यह आभ्यन्तर साक्ष्य से सिद्ध नहीं किया जा सकता, और अर्थशास्त्र की तिथि के पूर्णतया अनिश्चित होने के कारण इसे पञ्चतन्त्र से प्राचीन मानने की बात ही नहीं उठती। जो बात स्पष्ट है वह यह है कि पञ्चतन्त्र को कौटिल्य के ग्रंथ के सदृश किसी समान स्रोत से यह जानकारी प्राप्त हुई थी।

प्रथम तन्त्र की अङ्गी कथा के पूर्व अमरशक्ति नामक राजा के पुत्रों की दुष्टता का आख्यान है। वह उन्हें विष्णुशर्मा को उसकी इस प्रतिज्ञा पर सौंप देता है कि वह उन्हें छः महीनों में राजनीति का ज्ञान करा देगा। उसके बाद मित्रभेद का विषय हमारे सम्मुख आता है। इसकी अङ्गी कथा में इस बात का वर्णन है कि किस प्रकार एक दुष्ट सियार पिङ्गलक नामक सिंह का सञ्जीवक नामक बैल की ओर से खिंचाव करा देता है, जिसका सिंह ने आपत्ति से उद्धार किया था और फिर अपने विश्वास-पात्र मन्त्रियों करटक तथा दमनक की इच्छा के प्रतिकूल उसको अपना प्रिय मित्र बना लिया था। धूर्तता से सिंह का बैल पर अविश्वास करा दिया जाता है और बाद में सिंह द्वारा उसको मरवा दिया जाता है; जब सिंह अपने रक्त से सने पञ्जों को देखता है तो पछताता है, परन्तु दमनक उसे दिलासा देता है और उसका मुख्य मन्त्री बना रहता है। राजनीतिक विवादों के लिए प्रथम तन्त्र में पर्याप्त स्थान है, परन्तु साथ ही पशु-पक्षियों की अनेक रुचिकर कथाएँ भी इसमें विद्यमान हैं। कीलोत्पाटन के कारण मृत्यु को प्राप्त होने वाले वानर के दुर्भाग्य का वर्णन यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि जो बात अपने से सम्बन्ध नहीं रखती उसमें हस्तक्षेप करने पर क्या बुराई होती है। केवल बाहरी स्वरूपों को देखने के बदले वस्तुओं की भली प्रकार परीक्षा करने की आवश्यकता उस सियार की कथा (२) के द्वारा बताई गई है जिसको जाँच करने पर यह पता लगा था कि जिस दुन्दुभि की ध्वनि ने डराया था वह और कुछ नहीं, केवल भीतर से खोखला चमड़ा था। इसके अनन्तर

हम तीन कहानियों (३ क—ग) में व्यक्तियों द्वारा अपने पर लाई आपत्तियों के सम्बन्ध में तीन घटनाएँ पढ़ते हैं ; —पहली एक मूर्ख संन्यासी की है, जिसके धन की एक चोर को शिष्य बनाने के कारण चोरी हो गई ; दूसरी एक सियार की है जो लड़ते हुए मेषों के शिरःसम्पात में पड़ कर मारा गया ; और तीसरी एक दूती की है जिसने अपने आश्रयदाता के साथ एक जुलाहे की पत्नी के जार-कर्म को आगे बढ़ाने के लिए उसका स्थान ग्रहण कर लिया और उसके परिणाम-स्वरूप उसे अपनी नाक से हाथ धोना पड़ा। चौथी कहानी में बल के ऊपर चतुराई की विजय दिखाई गई है; कौवी ने अपने बच्चों को मारने वाले साँप को दण्ड देने के लिए उसके बिल में एक राजकुमार का कनक-सूत्र डाल दिया और इस प्रकार उसको मरवा दिया। इसके आगे हम अति लोभ के दोषों के बारे में सुनते हैं जिसका उदाहरण बगुले द्वारा दिया गया है जो मछलियों को बहका कर उन्हें दूसरी झील में ले जाने के बहाने उन्हें खा गया, परन्तु जिसको एक बुद्धिमान् केकड़े ने मार डाला। छठी कहानी मूर्खता का नाश की ओर ले जाना सिद्ध करती है, जैसे सिंह को पानी में अपनी परछाईं पर आक्रमण करने के निमित्त कुँए में कूदने के लिए प्रवृत्त करके खरगोश ने उसका नाश किया। इसके बाद सम्मिलित यत्न द्वारा प्रयुक्त चतुरता का परिणाम इस कहानी से दिखाया गया है कि किस प्रकार एक सिंह के सेवकों ने अपने अस्वस्थ स्वामी के भोजन के लिए अपने को समर्पित किया परन्तु मना किए जाने पर सिंह के आश्रित एक मूर्ख ऊँट को भी इसी प्रकार करने के लिए फुसलाया, जिस पर सिंह ने उसको खा डाला। तदनन्तर शत्रु की शक्ति का ज्ञान प्राप्त किए बिना उस पर आक्रमण करने के विरुद्ध चितावनी दी जाती है जिसका उदाहरण समुद्र-तट पर के टिट्टिभ-दम्पती की नवीं कथा से दिया गया है। एक टिट्टिभ ने टिट्टिभी को अपने अण्डे समुद्र के किनारे देने के लिए कहा, परन्तु उसने नवीं कथा के अन्तर्गत दो कथाओं (१० तथा ११) से अपने मत का समर्थन करते हुए उसकी योजना का उपहास किया। पहली कथा में यह बताया गया है कि किस प्रकार उस मूढ कछुए ने अपने प्राण खोए जिसने अपने पञ्जों म पकड़ी हुई एक डण्डी द्वारा अपने को ले जाने वाले हंसों की आकाश में जाते समय मुंह न खोलने की सलाह नहीं मानी। दूसरी कथा में यह दिखाया है कि किस प्रकार अनागतविधाता तथा प्रत्युत्पन्नमति नामक दो मत्स्य मछुओं से बच गए परन्तु यद्भविष्य मत्स्य पकड़ा गया। तथापि टिट्टिभ उससे अपना कहना मानने का ही हठ करता है; समुद्र अण्डों को बहा ले जाता है, परन्तु वह टिट्टिभ गरुड़ द्वारा विष्णु की सहायता प्राप्त करता है, और उनके आग्नेय बाण के प्रहार

के भय से समुद्र उन अण्डों को लौटा देता है। उस पक्षी की कहानी (१२), जो बात नहीं मानना चाहता था और उलटे एक मूर्ख बन्दर को यह समझाने पर ही अड़ा रहा कि जुगनू के प्रकाश से उसे उष्णता नहीं प्राप्त हो सकती और इस प्रकार उसने बन्दर को इतना अधिक चिढ़ा दिया कि बन्दर ने उसे मार डाला, यह सत्य सिद्ध करती है कि कुछ लोग किसी बात को सीख नहीं सकते। १३ वीं कहानी में यह बतलाया गया है कि किस प्रकार धर्मबुद्धि और पापबुद्धि ने साथ मिल कर उस गाड़े हुए धन के ऊपर झगड़ा किया जिसको पापबुद्धि ने चुपके से खोद कर निकाल लिया था। धर्माधिकरण में जा कर वह कहता है कि वृक्ष साक्षी बन कर सिद्ध करेगा कि धर्मबुद्धि चोर है, और, जब वृक्ष के पास जाने का निश्चय हो जाता है, तब वह अपने पिता से वृक्ष के कोटर में बैठ कर वृक्ष की आत्मा बनने को कहता है। पिता इस बात का विरोध करता है और १४वीं कहानी कहता है कि कैसे एक मूर्ख बगुले ने अपने बच्चों को खा डालने वाले सर्प के विनाश के लिए एक नेवले को प्रेरित करके बाद में यह समझा कि नेवले छोटे-छोटे पक्षियों के भक्षण में बड़े उस्ताद होते हैं। परन्तु फिर भी वह पिता अपने पुत्र पापबुद्धि का कहना करता है। वृक्ष में से वह कहता है कि धर्मबुद्धि ही चोर है। धर्मबुद्धि क्रुद्ध हो कर वृक्ष में आग लगा देता है और पापबुद्धि का पिता जल जाता है। इस प्रकार पापबुद्धि का अपराध प्रकाशित हो जाता है। अन्तिम कहानी उस वणिक्पुत्र की है जिसकी ५०० सेर की लोह-निर्मित तराजू उसके मित्र द्वारा चुरा ली गई थी जिसके पास उसने देशान्तर जाते समय निक्षेप के रूप म उसे रख दिया था। जब वह उसे वापस माँगता है तब उसे बतलाया जाता है कि उस तराजू को चूहों ने खा लिया है; इस पर वह अपने मित्र के लड़के को चुरा लेता है और कहता है कि एक बाज उसको उठा ले गया। यह मामला धर्माधिकारी के समीप लाया जाता है। अपने लड़के की प्राप्ति के लिए वणिक्पुत्र की तराजू लौटाने के वास्ते धर्माधिकारी उसको सरलतापूर्वक तैयार कर लेता है।

दूसरा तन्त्र जिसमें मित्र-सम्प्राप्ति वर्णित है कदाचित् अधिक आकर्षक है। यह कबूतरों के चतुर राजा चित्रग्रीव की कथा से आरम्भ होता है। चित्रग्रीव अपने दल को शिकारी के जाल से बचाने के लिए दल के कबूतरों से उस जाल को उड़ा ले चलने के लिए कहता है और फिर हिरण्यक नामक चूहे से कबूतरों के बन्धन कटवाता है, किन्तु वह इस बात के लिए सावधान रहता है कि उसके बन्धन अन्त में कटें। इसके अनन्तर बतलाया जाता है कि किस प्रकार लघुपतनक नामक कौआ हिरण्यक से मित्रता करता है, और

चूहे के पुराने मित्र मन्थरक नामक कछुए से उसकी जानपहचान होती है। हिरण्यक अपना पहला घर छोड़ने का कारण समझाता है। उसकी कहानी (१) यह बतलाती है कि एक परिव्राजक के अपनी भिक्षा को उससे बचाने का प्रयत्न करने पर भी वह उस बेचारे की लाई हुई भिक्षा खा जाया करता था। परिव्राजक का एक मित्र आ कर उससे कहता है कि चूहे के इस बल का कोई कारण अवश्य होगा, जिस प्रकार माता शाण्डिली के कुटे हुए तिलों से कुटे हुए तिलों को बदलने का कुछ कारण था। इस उल्लेख को दूसरी कथा में स्पष्ट किया गया है। एक ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से चान्द्र संक्रान्ति के दिन ब्राह्मणों को भोजन कराने की तैयारी करने को कहा। मितव्ययता के आधार पर ब्राह्मणी की आपत्ति को दूर करने के लिए वह अत्यधिक लोभी एक सियार की तीसरी कथा कहता है जो भोजनरूप में एक सुअर, हिरन तथा मृत शिकारी के रहने पर भी धनुष् की कोटि में लगा हुआ मांस खाने के लालच से प्रत्यञ्चा के काटने के कारण गला कट जाने से मारा गया। ब्राह्मण की पत्नी मान जाती है। पर पकाए गए तिलों को सूँघ कर एक कुत्ता भ्रष्ट कर देता है। अतः वह अपने पति के शिष्य को उन्हें दूसरे कुटे हुए तिलों से बदल लाने के लिए भेजती है। ऊपर उल्लिखित कहावत उस गृहस्वामी से कहलाई गई है जिसके घर में तिलों को बदलने का प्रयत्न किया जाता है। परिव्राजक तब चूहे की शक्ति का कारण ढूँढना आरम्भ करता है और चूहे के घर में उसे शक्ति का कारण सञ्चित स्वर्ण के रूप में प्राप्त होता है जिससे चूहे को अद्भुत शक्ति मिला करती थी। इसके हटा लिए जाने पर चूहा दुर्बल हो जाता है और अपने अनुयायियों को खिलाने में असमर्थ हो जाने के कारण उनसे त्याग दिया जाता है तथा शक्ति एवं धन को चाहने की प्रवञ्चना का परित्याग कर देता है। अब मृग के रूप में एक चौथा मित्र भी बढ़ जाता है,; परन्तु, एक दिन घूमते हुए वह एक जाल में फँस जाता है और छुटकारे की प्रतीक्षा करता हुआ अपने उत्सुक मित्रों को, अनौचित्य के होने पर भी, यह बता कर सन्तुष्ट करता है कि किस प्रकार बाल्यावस्था में वह एक राजकुमार द्वारा कैद कर लिया गया था, और तब एक दिन स्वतन्त्रता की कामना से प्रेरित हो कर उसने अपने मुख से मानवीय वचन निकाल कर राजकुमार को ऐसा चौंका दिया कि वह ज्वराकान्त हो गया और जब अपने द्वारा सुनी गई बोली की सत्यता ज्ञात होने पर उसने मृग को मुक्त कर दिया, तभी वह ठीक हुआ। मृग को उसके साथी छुड़ा लेते हैं, परन्तु शिकारी के आगमन से कछुआ घबड़ा जाता है और बहाना करके मृतक-रूप में पड़ जाने वाला मृग एक चातुर्य-पूर्ण कपट द्वारा उसको छुड़ाता है।

तीसरा तन्त्र इस कहानी द्वारा युद्ध तथा सन्धि का वर्णन करता है कि किस प्रकार उलूकों की गुहा कौओं द्वारा जलादी गई। युद्ध का आरम्भ वाणी के एक दोष के कारण बताया गया है, और इस प्रसङ्ग में व्याघ्र की खाल ओढ़े हुए गधे की कथा (१) कही जाती है जिसने रेंक कर अपने प्राण गँवाये। तब पक्षियों द्वारा राजा चुनने की एक दूसरी कथा कही जाती है; कौआ उलूक को भयावह[1] बताकर उसके राजा चुने जाने के विरुद्ध आपत्ति करता है और उसे दर्पोक्ति के उपयुक्त भी नहीं बताता। दर्पोक्ति के उपयोग का उदाहरण देने के लिए कौआ तीसरी कथा कहता है कि एक चतुर खरगोश ने बहाना बनाया कि उसे उसके स्वामी चन्द्रमा की ओर से, जिसमें भारतीय मुख के बदले खरगोश को बैठा हुआ देखते थे, एक आज्ञा प्राप्त हुई है। इस प्रकार उसने अपने दल के साथ एक झील के चारों ओर के जानवरों का नाश करने वाले एक हाथी को डरा कर भगा दिया। तदनन्तर, वह उलूक की नीचता की निन्दा करता है और चौथी कहानी द्वारा एक दधिकर्ण नामक बिल्ली से न्याय करवाने के लिए आए हुए एक मूर्ख खरगोश और तीतर के खा लिए जाने का उदाहरण दे कर न्यायकर्ता के रूप में एक नीच राजा से क्या भय है यह बताता है। अब पक्षियों को फुसलाया जाता है कि वे उल्लू का साथ छोड़ दें, और अकेला उल्लू कौओं से बदला लेने का प्रण करता है। अगली कथा (५) यह दिखाती है कि कौए धोखा देकर किस प्रकार जीत सकते हैं, जैसे बलिकर्म के लिए छाग को ले जाते हुए एक ब्राह्मण को ठगों ने यह विश्वास दिला कर कि वह एक अपवित्र कुत्ते को ले जा रहा है, उससे छाग को ठग लिया। कौआ-मन्त्री उल्लुओं के सम्मुख एक शरणागत के रूप में उपस्थित होने की युक्ति सोचता है, जो कौए-राजा को अच्छी सलाह देने के कारण निकाल दिया गया है। उसका मित्र-भाव से स्वागत किये जाने की बात को दो दृष्टान्तों से बताया तथा ठीक ठहराया जाता है। छठी कहानी में यह बतलाया गया है कि एक वृद्ध पुरुष ने एक चोर का भी दयापूर्ण स्वागत किया, जिसके घर में घुस आने से डरी हुई उसकी पत्नी ने वृद्ध को कस कर आलिङ्गित कर लिया था। सातवीं कथा शत्रुओं में भेद करने के लाभ की प्रशंसा करती है; एक ब्राह्मण को उठा कर ले जाने के लिए आए हुए पिशाच तथा उसकी गौओं को चुराने की इच्छा करने वाले चोर में, दुष्कर्म पहले कौन करे, इस पर झगड़ा होने लगा तो ब्राह्मण जग गया और पिशाच को उसने मन्त्र-बल से भगा दिया और चोर को डण्डे से। केवल रक्ताक्ष उलूक ही अपने मूढ़ राजा

१. तुलना कीजिये, जातक २७०.

को मूर्ख बढ़ई की कथा (८) द्वारा चितावनी देता है जिसने अपनी पत्नी के कहने में आ कर कि वह किसी भी प्रकार उसका अनिष्ट नहीं होने देगी, अपनी पत्नी द्वारा किए जाते हुए अपने अपमान को स्वीकार किया। रक्ताक्ष उस चालबाज़ कौए के इस कथन की, कि वह अपने को जला कर उल्लू के रूप में पुनर्जन्म लेना चाहता है, भीतरी सत्यता को समझ कर नवीं कहानी से यह सिद्ध करना चाहता है कि स्वभाव में इस प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। एक तपस्वी ने एक चुहिया को बचा कर उसे एक युवती बना दिया। जब वह विवाह के उपयुक्त हो गई तो उसने उसके लिए उपयुक्त पति की खोज की। मेघ के अधिक बलशाली होने के कारण सूर्य ने विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। मेघ ने वायु से, वायु ने पर्वत से और पर्वत ने चूहे से अपनी हीनता स्वीकार की। अतः तपस्वी ने उस युवती को पुनः चुहिया में परिवर्तित कर दिया। परन्तु उलूक राजा ने अपने शत्रु को दुर्ग में प्रवेश के लिए अनुमति देने का हठ किया और इसका बदला अग्नि द्वारा अपने घर का नाश होने के रूप में मिला। कौआ राजा अपने मन्त्री को बहुत अधिक पुरस्कार देता है और उसके यह पूछने पर कि अपने शत्रुओं के साथ मिलना-जुलना वह किस प्रकार सह सका, उसका मन्त्री उसे उस साँप की कहानी बतलाता है जिसने मेंढकों के सामने यह बात बनाई कि उसे एक ब्राह्मण द्वारा मेंढकों का वाहन बनने का शाप मिला है। मेंढकों के राजा को उस पर सवार होना अच्छा लगता है, और खाने की कमी के कारण साँप की चाल को धीमा पड़ता देख कर वह उसे मेंढकों के बच्चों को खाने की अनुमति दे देता है और वह साँप यह काम इतने उत्साहपूर्वक करता है कि सबको ही निगल जाता है।

चौथा तन्त्र बन्दर तथा मगर की कहानी द्वारा लब्ध-प्रणाश का उदाहरण प्रस्तुत करता है।[1] उन दोनों को इतनी मैत्री के साथ रहता देख कर मगर की पत्नी को इतनी ईर्ष्या हुई कि बीमार पड़ने का बहाना करके उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी बन्दर का हृदय पाने की इच्छा की। दुःखी होने पर भी मगर ने बन्दर को अपने घर आने के लिए फुसलाया, परन्तु बन्दर को उसकी योजना ज्ञात हो गई और उसने यह कह कर अपनी रक्षा की कि उसका हृदय जामुन के पेड़ पर रखा है, और जब मगर उसे पाने के लिए जामुन के पेड़ तक जाता है तब बच निकलता है। मगर उससे पुनः मित्रता करना चाहता है परन्तु इसके बदले बन्दर उससे कहता है कि वह लौट कर आने वाले गधे के समान नहीं है इसमें यही एक कहानी है। एक रुग्ण सिंह एक गधे का हृदय तथा कान चाहता

१. जातक २०८; महावस्तु, ii. 246 ff.

है ; सियार यह बात बनाकर कि वह उसे एक गधी के समीप ले जा रहा है एक गधे को वहाँ फुसला कर ले आता है। सिंह उस पर ज़रा जल्दी झपट पड़ता है और गधा भाग निकलता है, परन्तु सियार उसे बहका कर दूसरी बार ले आता है, जो गधे के लिए घातक सिद्ध होता है। उधर सिंह उस औषध को खाने के पूर्व विधिवत् अनुष्ठान करने के लिए जाता है और इधर सियार गधे के हृदय तथा कानों को खा लेता है। जब सिंह उन्हें माँगता है, तब वह सिंह को निरुत्तर करता हुआ कहता है कि गधे के पास हृदय तथा कान नहीं थे, अन्यथा वह कभी वापस न लौटता।

पाँचवाँ तन्त्र बिना विचारे काम करने के प्रति सावधान करता है। एक ब्राह्मण होने वाले पुत्र का स्वप्न देख रहा है ; उसकी पत्नी सोमशर्मा के पिता की बात का उल्लेख करके उसे दिवास्वप्नों के विरुद्ध सावधान करती है। वह एक ब्राह्मण था, उसने स्वप्न देखा कि वह बकरियाँ खरीदने के लिए बीस रुपयों में अपना भूसी निकाला हुआ अन्न (सत्तू) बेच देगा। उसके पास पाँच साल में सौ गायों को खरीदने लायक बकरियों का झुण्ड हो जायगा और इस प्रकार पुत्र उत्पन्न होने तक वह धनवान् हो जायगा ; बच्चा घर आयगा और उसकी माँ कामकाज में लगी होने के कारण उसकी उपेक्षा कर देगी, जिस पर उसका वीर पिता अपनी पत्नी को पीटेगा। स्वप्न में उसने यही काम किया और एक ही प्रहार में अपनी अभीष्ट समृद्धि की सारी आशा को नष्ट कर दिया। उस ब्राह्मण के वस्तुतः एक पुत्र उत्पन्न होता है, और पत्नी अपने पास किसी दासी के न होने के कारण स्नान के लिए जाने पर बच्चे को अपने पति की निगरानी में छोड़ जाती है। रानी की ओर से बुलावा आता है और ब्राह्मण अपने पालतू नेवले को बच्चे की रक्षा के लिए छोड़ कर राजमहल चला जाता है। वापस आने पर उससे मिलने के लिए दौड़ कर आते हुए नेवले को वह देखता है जिसके पञ्जे और मुख रक्त से भरे हैं, वह अपने पुत्र को मारा गया जानकर क्रोध में नेवले को मार डालता है, परन्तु बाद में पता चलता है कि वह रक्त एक काले साँप का था जिसको बच्चे के स्वामिभक्त संरक्षक उस नेवले ने मार दिया था। उसकी पत्नी भी उसके साथ दुःखी होती है और जल्दबाज़ी में किए गए काम के विषय में उसे दूसरी कथा का ध्यान दिलाती है। एक युवा वणिक को स्वप्न में पास आने वाले तीन क्षपणकों को मारने का आदेश होता है जो इस अनोखे रूप में उसके पिता के द्वारा सञ्चित धन ही हैं और जो मारे जाने पर दीनार बन जाएँगे। वह उस निर्देश को मान कर एक नाई की सहायता से उस अनुष्ठान को पूरा करता है। नाई मूर्खतापूर्वक इस युक्ति को पुनः दुहराने का यत्न करता है, परन्तु उसके द्वारा

मारे गए क्षपणक दीनार नहीं बनते, उलटे वह क्रुद्ध न्यायाधीश के द्वारा मृत्यु पाता है। इस तन्त्र की विचारधारा अपने विषय के अनुरूप ही कुछ उदासी लिए हुए है। उक्त दोनों तन्त्रों की संक्षिप्तता उल्लेखनीय है। परन्तु जितनी इसके मौलिक होने की सम्भावना की जा सकती है उतनी ही सम्भावना इस बात की भी हो सकती है कि यह पुनःसंशोधन का फल हो।

पञ्चतन्त्र में उद्धृत अनेक सिद्धान्त-रूप नीतिवचनों में से केवल एक चौथाई नैतिक, धार्मिक, या दार्शनिक विचारों से सम्बद्ध कहे जा सकते हैं, शेष राजनीति तथा जीवन के सामान्य नियमों से सम्बद्ध हैं। ये अवशिष्ट सदा अनैतिक ही नहीं हैं। दूसरे तन्त्र का नायक वीरों की कोटि का एक सुन्दर पात्र है जो गर्वीला है परन्तु स्वजनों तथा मित्रों के लिए अपने को बलिदान करने के लिए सदा तत्पर रहता है। अपनी प्रजा पर शासन करते समय चूहे ने भी प्रजा के लिए अत्यधिक श्रमपूर्वक काम किया, और अपने व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र में गृहस्थ से भी यह आशा की जाती है कि वह विश्वसनीय, उदार तथा सच्चा हो। गृहस्थ-जीवन में निम्न नैतिक स्तर के समर्थन का कोई सुझाव नहीं दिया गया है; वैवाहिक बन्धन तोड़ने वालों को स्पष्टतः ही प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा गया है, और अपमान के प्रति भाव-शून्यता की निन्दा की गई है और उसका उपहास उड़ाया गया है।

४. पञ्चतन्त्र की शैली तथा भाषा

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पञ्चतन्त्र की रचना एक कलाकार की कृति थी। कहानियों का जटिल गर्भीकरण, जो उपर्युक्त विश्लेषण से देखा जा सकता है, पौराणिक काव्य की सरलता से नितान्त भिन्न है। अगली कथा के पात्रों के प्रति सङ्केत के साथ ही प्रत्येक कथा में शिक्षित उपदेश को बतानेवाले शीर्षक पद्यों तथा सूक्ति पद्यों के साथ गद्य का सम्मिश्रण भी इसकी कुछ कम विशिष्टता नहीं है। शीर्षक पद्यों के उदाहरण के रूप में हम इस पद्य को उद्धृत कर सकते हैं जिससे कि जुगनू के बारे में एक बन्दर को चिढ़ाने वाले पक्षी की कहानी का आरम्भ किया गया है:

नानम्यं नमते दारु नाश्मनि स्यात् क्षुरक्रिया।
सूचीमुखं विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते॥

'न लच सकने योग्य लकड़ी लच नहीं सकती ; पत्थर म छुरी काम नहीं कर सकती, जो सीख नहीं लेना चाहता, उसे सीख नहीं दी जा सकती, इस बात को सचीमुख की कथा से समझ लो।'

जातकमाला में गद्य तथा पद्य के सम्मिश्रण का एक नमूना देखा गया है; परन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, उस पुस्तक का स्वरूप स्पष्ट-रूप से भिन्न है। उसमें वर्णनीय कथा पद्यों में चलती रहती है। पञ्चतन्त्र में भी कहीं-कहीं ऐसा है परन्तु बहुत कम, और साधारणतः यह वहीं होता है जहाँ भाव की अभिव्यक्ति के लिए गद्य से अधिक उत्कृष्ट माध्यम की अपेक्षा होती है या जहाँ वर्णनीय विषय में आवश्यक-रूप से किसी पात्र द्वारा उक्त पद्य की आवश्यकता का अनुभव होता है। इस प्रकार हिरन की कहानी में पहले बन्धन के सम्बन्ध में जो पद्य स्वयं उसके द्वारा उच्चारित है वह कथा का एक आवश्यक भाग है, जो राजकुमार के ध्यान को आकर्षित करने के लक्ष्य को पूरा करता है :

वातवृष्टिविधूतस्य मृगयूथस्य धावतः।
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि कदा तन्मे भविष्यति॥

'आह वह दिवस कब होगा जब दौड़ते हुए और वायु तथा वृष्टि से इधर-उधर भगाए गए हिरनों के झुण्ड का मैं अनुगमन करूँगा ?' इसके विपरीत, अन्य पद्यों के बीच जो स्पष्टतः ही सूक्तियाँ हैं, बन्दर के प्रति वञ्चक मगर द्वारा कहे गए पद्यों को भावावेश उपयुक्त बना देता है :

एकः सखा प्रियो भूय उपकारी गुणान्वितः।
हन्तव्यः स्त्रीनिमित्तेन कष्टमापतितं मम॥

'मुझे अपने एक-मात्र उपकारी, गुणों से युक्त, प्रिय सखा को एक स्त्री के निमित्त मारना पड़ेगा। मुझ पर कष्ट आ पड़ा है।' यह किसी दूसरे प्रसङ्ग से उद्धृत पंक्ति भी हो सकती है। निम्न पद्य के विषय में यह व्याख्या कम सम्भावित है, और न यह कल्पना करने के लिए ही कोई कारण है कि लेखक ही अपनी कथा में प्रस्तुत विषय से तुरन्त सम्बद्ध पद्यों को नहीं जोड़ सकता था :

प्रयोजनवशात् प्रीतिं लोकः समनुवर्तते।
त्वं तु वानरशार्दूल ! निष्प्रयोजनवत्सलः॥

'सब लोग किसी प्रयोजन से ही प्रीति दिखाते हैं, पर हे वानरश्रेष्ठ! तुम निष्प्रयोजन ही प्रेमी हो।' परन्तु इस प्रकार के पद्य बहुत कम हैं, और, शीर्षक-पद्यों को छोड़ कर अन्य पद्यों में कवि ने प्रभाव-पूर्ण नीति-वचनों को ही ढूँढने या लिखने का प्रयत्न किया है। जिन पद्यों के प्राचीन होने के विषय में हमारे पास पुराने प्रमाण नहीं हैं, उनमें से कितने पद्य किस सीमा तक लेखक के स्वयं निर्मित हैं यह हम ठीक से नहीं कह सकते ; परन्तु जब वे पद्य पञ्चतन्त्र के बाहर अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते, तब तो हम लेखक को ही उनका रचयिता मान सकते हैं।

उसने कुछ पद्य निस्सन्देह महाभारत से लिए हैं, और हो सकता है कि वहीं से[1] उसने तृतीय तन्त्र की रचना के लिए संकेत भी ग्रहण किया हो। यह तन्त्र पराजित कौरवों को उन कौओं से मिले शकुन का स्मरण दिलाता है, जो रात्रि में उल्लुओं पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर देते हैं। यह उस विजय का भी स्मरण दिलाता है जिसे कौरव पाण्डवों के पड़ाव पर रात्रि के समय आक्रमण करके प्राप्त कर सकते हैं। अपने फँसाने वाले वहेलिए के जाल को कबूतरों द्वारा उड़ा ले जाने का विचार भी पञ्चतन्त्र के लेखक को सम्भवतः वहीं से प्राप्त हुआ है। परन्तु मौलिकता के इन विषयों के संबन्ध में हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं।

यह तथ्य कि लेखक सम्भवतः एक मौलिक रचना तैयार कर रहा था, निश्चय ही पञ्चतन्त्र में पाये जाने वाले विभिन्न दोषों का कारण है। इन दोषों में से पञ्चतन्त्र के परवर्ती संस्करणों के सम्पादक केवल कुछ ही का निराकरण कर पाए हैं। एक ही लक्ष्य के लिए अनावश्यक संख्या में नीतिवचनों को संगृहीत करने का प्रयत्न मौलिक रचना में भी प्रतीत होता है। कभी कभी कहानियों की सङ्गति भी अच्छी तरह नहीं बैठती। इससे लक्षित होता है कि लेखक कहानी को, उसके समाविष्ट करने का कोई प्रभावोत्पादक प्रकार दिखाई न पड़ने पर भी, ग्रन्थ में समाविष्ट करना चाहता था। हिरन के पहले वन्दी होने की रोचक कहानी (२।४) स्पष्टतः इसी प्रकार की है। वास्तविक दृष्टि से इसमें कोई भी उपदेश नहीं है, परन्तु स्पष्टतः यह एक ऐसी लोक-कथा (Märchen) है जिसको लेखक तथा हम भी छोड़ने को तैयार नहीं हो सकते। मूल पञ्चतन्त्र में इसके होने के विषय में सन्देह करना अनावश्यक है; यद्यपि बन्धन-मुक्त होने के लिए उत्सुक हिरन का इस प्रकार की बातें करना कुछ मूर्खता-पूर्ण सा ज्ञात होता है, तो भी हम देखते हैं कि कथा के चलने के साथ ही चूहा जाल भी काटता रहता है। तृतीय तन्त्र में उल्लुओं के पारस्परिक विवाद के समय भी इसी प्रकार के अकारण व्यवधान हैं। यह व्यवधान राजनीतिक शिक्षा देने की इच्छा के कारण क्षम्य है, जिस प्रकार आधुनिक ओपेरा (opera=संगीतमय नाटक) में गान-सम्बन्धी रुचि उन व्यवधानों को क्षम्य बना देती है जो स्वयं में उपहासास्पद होते हैं।

लेखक की भाषा स्पष्टतः सुन्दर है, और विशष-रूप से पद्यों में हम परिष्कृत तथा जटिल छन्दों के साथ-साथ श्लेष तथा परिष्कृत शैली के अन्य चिह्न भी पाते हैं। कुछ पद्यों में काव्य की सरलतर शैली में प्रचलित समासों की अपेक्षा कुछ बड़े समास भी पाये जाते हैं; परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं, जहाँ अर्थ की वास्तविक जटिलता मूल-ग्रन्थ में बतलाई जा सके। यह स्पष्ट है कि लेखक सुरुचि से युक्त था और यह समझता था कि बाल राजकुमारों के लिए अभिप्रेत रचना में भाषा-शैली की

१. महाभारत १०।१ तथा ५।६४।

अत्यधिक कृत्रिमता अनुपयुक्त है। जूँ तथा खटमल की कहानी (१।७) में अधिक उन्नत शैली के प्रयोग में निश्चय ही हास्य छिपा हुआ है। इसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार जूँ ने, जो बहुत काल से राजा के रक्त-पान करने के विशेषाधिकार का आनन्द लूट रही थी, खटमल को राजा पर आक्रमण करने की अनुमति देकर, राजा के अत्यधिक मधुर रक्त का स्वाद लेने में खटमल की अधिक जल्दबाज़ी के कारण, अपनी जान गँवाई। नील के कण्डाल में गिर कर अपने को शाही लिबास से युक्त प्रसिद्ध कर देने वाले सियार की कथा में, जो मूल पञ्चतन्त्र में प्रक्षेप (१।८) है, उक्त शैली का प्रयोग यह दिखाता है कि शैली के सूक्ष्म अन्तर पहले से ही लक्षित कर लिए गए थे। गद्य में पहले से ही उपरि-निर्दिष्ट नाममूलक शैली के चिह्न विद्यमान हैं, यद्यपि ये बहुत अधिक मात्रा में नहीं हैं। भूतकाल का प्रकाशन या तो क्त या क्तवतु प्रत्ययान्त शब्दों से या 'स्म' के साथ प्रयुक्त लट् लकार के रूपों से किया गया है। तन्त्राख्यायिक (३।५) में प्राप्त होने वाली दुष्ट दूती की कथा में लुङ् लकार का निरन्तर प्रयोग उस कथा के प्रक्षिप्त होने का एक प्रमाण है। भाववाच्य या कर्मवाच्य का प्रयोग स्पष्टतः अधिक उपयुक्त माना जाने लगा है और इसके फल-स्वरूप तिङन्त क्रियाओं के स्थान में कृदन्त क्रिया-रूपों का प्रयोग पाया जाता है, समासों के प्रयोग के प्रति बढ़ते हुए प्रेम के साथ उक्त प्रवृत्ति का स्पष्टतः मेल है। त्वा-प्रत्ययान्त तथा अम्-प्रत्ययान्त शब्दों (gerunds) और विशेषणवाची कालबोधक कृदन्तों (adjectival participles) के प्रयोग की तो अति कर दी गई है।

यद्यपि गर्भीकरण (emboxment) का प्रयोग, यदि सत्य कहा जाए तो, अधिक जटिल स्थलों में प्रायेण झुँझलाहट पैदा करने वाला है, तो भी कहानियाँ मनोरञ्जक हैं और अच्छी रीति से कही गई हैं। पर इस रचना की जो सर्वोत्तम बात है वह निस्सन्देह उसके अनेक अत्यधिक उत्कृष्ट पद्य हैं। उदाहरणार्थ, महात्माओं के गुण निम्न-रीति से समझाए गए हैं :

आजीवितान्तः प्रणयः कोपश्च क्षणभङ्गुरः।
परित्यागश्च निःसङ्गो न भवन्ति महात्मनाम् ?॥

'क्या महात्माओं का प्रेम जीवन भर रहने वाला, उनका कोप क्षणभंगुर, और उनका दान आसक्ति-रहित नहीं होता ?' निम्न पद्य में भाग्य की शक्ति स्वीकार की गई है :

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमताञ्च निरीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥

'जब मैं चन्द्रमा तथा सूर्य के ग्रहण, हाथी तथा सर्प के बन्धन और विद्वानों की दरिद्रता

के विषय में सोचता हूँ तो यह मानता हूँ कि विधि बलवान् है।' एक पद्य म कुमंत्रणा ग्रहण करने के दोष का वर्णन किया गया है जिसमें शब्द की ध्वनि तथा अर्थ का प्रभावोत्पादक रीति से सामंजस्य स्थापित किया गया है :

नराधिपा नीचमतानुवर्त्तिनो बुधोपदिष्टेन पथा न यान्ति ये।
विशन्ति ते दुर्गममार्गनिर्गमं समस्तसम्बाधमनर्थपञ्जरम् ॥

'जो राजा नीच के मत का अनुवर्तन करते हैं, और बुद्धिमान् पुरुष द्वारा बतलाए गए मार्ग पर नहीं चलते, वे सारी बाधाओं और अनर्थ के उस पिंजड़े में प्रवेश करते हैं, जिसमें से निकलने का मार्ग नहीं मिलता।' मुद्राराक्षस में स्थान पाने वाले इस पद्य में स्वामी तथा मंत्री के साथ लक्ष्मी का सम्बन्ध चतुरता के साथ वर्णित है :

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥

'जब मंत्री तथा राजा दोनों अत्यधिक उत्कर्ष प्राप्त कर लेते हैं तब लक्ष्मी अपने पैरों को जमा कर उपस्थित होती है, परंतु स्त्री-स्वभाव से भार को न सम्हाल पाने के कारण उन दोनों में से एक को या दूसरे को छोड़ देती है।' एक स्थान पर धर्म की सुन्दर प्रशंसा है :

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥

'धर्म ही एकमात्र मित्र है जो मृत्यु के बाद भी मनुष्य के साथ जाता है, और सबका नाश तो शरीर के साथ ही हो जाता है।' एक अन्य पद्य में संभावना की सीमाएँ निर्धारित की गई हैं :

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत्।
ओ(?नो)दके शकटं याति न नावा गम्यते स्थले ॥

'जो असम्भव है वह सम्भव नहीं हो सकता, जो सम्भव है वही हो सकता है, गाड़ी जल पर नहीं चल सकती और नाव ज़मीन पर नहीं चल सकती।'

अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत शैली भी विरल नहीं है। उदाहरणार्थ निम्न पद्य में विराट् की सभा में पाण्डवों के दुःखों का तथा द्रौपदी के दुर्भाग्य का वर्णन देखिए :

रूपेणाप्रतिमेन यौवनगुणैर्वंशे शुभे जन्मना
युक्ता श्रीरिव या तया विधिवशात् कालक्रमायातया।
सैरन्ध्रीति सगर्वितं युवतिभिः साक्षेपमाज्ञप्तया
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं चिरं चन्दनम् ॥

'शुभ वंश में जन्म लेने के कारण जो द्रौपदी लक्ष्मी के समान अप्रतिम रूप से युक्त और यौवन के गुणों से सम्पन्न थी, उसी ने मत्स्यराज के भवन में युवतियों द्वारा आक्षेप एवं गर्वपूर्वक 'सैरन्ध्री' इस सम्बोधन के साथ आज्ञापित होकर चिरकाल तक चन्दन घिसा।'

५. पञ्चतन्त्र से निकले हुए अन्य ग्रन्थ

पञ्चतन्त्र से निकले हुए रूपान्तरों में से पहलवी रूपान्तर का विचार आगे किया जाएगा। भारतीय ग्रन्थों में **तन्त्राख्यायिक**[1] को मूलग्रन्थ से अपेक्षाकृत समीप होने के कारण प्रथम स्थान दिया जा सकता है। यह माना जा सकता है कि हेर्टेल (Hertel) ने इस सम्बन्ध को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कहा है, परन्तु, सब तरह की छूट देकर भी, यह पुनर्निर्मित ग्रन्थ के समीपतम है। इसका काल अनिश्चित ही नहीं है, प्रत्युत उसके निश्चय की कोई सम्भावना भी नहीं है। इसमें कुछ कहानियाँ पहले से ही बढ़ा दी गईं थीं, मौलिक न होने से उनकी उपेक्षा की जा सकती है। इनमें, सम्भवतः दोनों पाठों में, नीले सियार की कथा (१।८), एक सियार द्वारा एक ऊँट तथा सिंह को मूर्ख बनाए जाने की कथा (१।१३), सोमिलक जुलाहे की कथा (२।४), राजा शिवि की कथा (३।७), वृद्ध हंस की कथा (३।११), तथा प्याज़ के चोर को दण्ड देने की कथा[2] (४।१) हैं। *a* पाठ में दुष्ट दूती की कथा (३।५) स्पष्टरूप से बाद की है, और β पाठ में सियार और होशियार लोमड़ी (३।११) की तथा कपटी योद्धा (४।३) की कथाएँ भी बाद की हैं। इन पाठों का सम्बन्ध विवादास्पद है। हेर्टेल (Hertel) का विचार है कि β पाठ मूल 'K' स्रोत के प्रयोग से प्रक्षिप्त है, जिससे *a* पाठ के मूल के अतिरिक्त अन्य सब पाठ निकले हैं। इस प्रकार के किसी मूल 'K' स्रोत को स्थापित करने के उनके प्रमाणों को मान लेना असम्भव प्रतीत होता है, और ऐसी स्थिति में, उस पाठ के सर्वश्रेष्ठ होने में गहरा सन्देह है। किं च, यद्यपि सारतया तन्त्राख्यायिक मौलिक मालूम होता है, उसकी भाषा बहुत कुछ बदली हुई मालूम होती है। *a* पाठ में लययुक्त गद्यरचना[3] के भी कुछ प्रयत्न मिलते हैं जिनका अन्य पाठों में अभाव है।

पञ्चतन्त्र का एक सरल पाठ पश्चिमी भारत में कहीं पर किसी अनिश्चित काल में एक जन लेखक द्वारा रचा गया था। परन्तु यह पाठ निस्सन्देह

---

१. Ed. J. Hertel, Berlin, 1910; trans. Leipzig, 1909.

२. Zachariae, *Kl. Schriften*, pp. 170 ff.

३. देखिये पृष्ठ ८, ६९, ११८.

पूर्णभद्र (११९९)से पूर्व का और माघ तथा रुद्रभट्ट[1] से, जिनकी रचनाओं से कुछ पद्य लिए गए हैं, बाद का है। अतः सम्भवतः इसका रचना-काल लगभग ११०० ई० है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से यह मूल-ग्रन्थ से पर्याप्त बदला हुआ है। इसमें पाँचों तन्त्रों को लगभग अधिक समान बना दिया गया है; अनेक कथाएँ तृतीय से लेकर चतुर्थ में रख दी गई हैं, और उसमें नवीन सामग्री भी जोड़ दी गई है। पञ्चम तन्त्र में भी कुछ नवीन कथाएँ अन्त में जोड़ दी गई हैं। उसका ढाँचा भी बदल दिया गया है: उसमें क्षपणकों को मारनेवाले नाई की कथा को प्रमुख कथा बनाकर नेवले वाली कहानी को उसी के भीतर समाविष्ट कर दिया गया है। तृतीय तथा चतुर्थ तन्त्रों के ढाँचों में भी परिवर्तन कर दिया गया है, और १—३ तन्त्रों में भी नई कहानियाँ जोड़ दी गई हैं। जिस मूल के विषय में कोई शङ्का नहीं है उसमें सात कहानियाँ तो लोक-कथाएँ (Märchen) हैं, एक हास्यपूर्ण चटकुला, दो षड्यन्त्र, और एक किसी मूर्ख की कहानी है। बढ़ाये हुए अंश में सबसे अधिक उल्लेखनीय विष्णु तथा जुलाहे की कहानी (१।५) है। जुलाहा विष्णु बन कर और एक काष्ठ के गरुड़ पर चढ़ कर एक राजकुमारी के पास आने-जाने लगता है, और जब राजा की मूर्खता से यह कपट खुलता है जो अपने दैवी सम्बन्ध से गर्वित होकर पड़ोसियों से युद्ध छेड़ देता है पर असफल रहता है और अपने नगर में घेर लिया जाता है, तब विष्णु को अपने नाम का माहात्म्य बचाने के लिए अवतीर्ण हो कर नगर की रक्षा करनी पड़ती है। यह कहानी स्वयं तो जैन स्रोत सिद्ध नहीं कर सकती, परन्तु ब्राह्मण तपस्वियों के बदले जैन क्षपणकों के उल्लेख तथा **क्षपणक, दिगम्बर, नग्नक, व्यन्तर** (आत्मा का एक विशिष्ट भेद) और **धर्मदेशना** (धर्मोपदेश) जैसे जैन शब्दों के व्यवहार से ग्रन्थ के जैन स्रोत के संबन्ध में अधिक अच्छा प्रमाण उपलब्ध होता है। नवीन पद्य बहुत अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं, जब कि मूल पद्यों में से सम्भवतः एक तिहाई से अधिक नहीं रखे गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का मूल **तन्त्राख्यायिक** से मिलता-जुलता ही कोई पाठ था; उसी पाठ के समान **सरलपञ्चतन्त्र**(Simplicior) में नीले सियार की, ऊँट तथा सिंह को मूर्ख बनाने वाले सियार की, और सोमिलक जुलाहे की जोड़ी हुई कथाएँ हैं।

पञ्चतन्त्र का एक दूसरा संशोधित जैन संस्करण सोम नामक एक मन्त्री को प्रसन्न करने के लिए ११९९ ई० में पूर्णभद्र-नामक एक क्षपणक द्वारा रचा गया

---

१. रुद्रट नहीं, जैसा कि Hertel, *Pañcatantra*, पृष्ठ ७२ में कहते हैं; देखिये **शृङ्गारतिलक** १।६८.

था[१]। २१ नई कहानियाँ इस रचना की विशेषता ह, जिनमें पशुओं की कृतज्ञता और मनुष्य की कृतघ्नता (१।९) की प्रसिद्ध कहानी है, जब कि धार्मिक कबूतर तथा शिकारी की कहानी (३।८) के लिए संकेत **महाभारत** से ग्रहण किए गए हैं। पूर्णभद्र का रूपान्तर अंशतः **तन्त्राख्यायिक** पर, अंशतः **सरलपञ्चतन्त्र** (simplicior) के पाठ की अपेक्षा उसके मूल स्रोत पर, और अंशतः किसी अन्य अज्ञात पाठ पर आधारित प्रतीत होता ह। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि राजसभाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने पर ही जैन लोग नीतिशास्त्र का अध्ययन करने लगे थे। सम्भवतः सातवीं शताब्दी में रचित **आवश्यक** आख्यानों में **पञ्चतन्त्र** की कहानियों के समान ही कथाएँ हैं, जो सम्भवतः उस ग्रन्थ के प्राचीनतर रूपों में से किसी से ली गई होंगी। पूर्णभद्र की अपनी कुछ सामग्री जैन समाज की उपज होगी, यद्यपि उनकी रचना में विशेष जैन प्रभाव नहीं है। उनकी भाषा गुजराती तथा प्राकृत शब्दों के समावेश से विगड़ गई है। परन्तु, **सरलपञ्चतन्त्र** (simplicior) के लेखक की भाँति, पूर्णभद्र भी किसी प्रकार बुरे लेखक नहीं हैं। इनके ग्रन्थ का शीर्षक **पञ्चाख्यानक** है, जो कभी-कभी **सरलपञ्चतन्त्र** (simplicior) के लिए भी प्रयुक्त होता है। निम्नतर कोटि के अनेक रूपान्तर इन दोनों जैन रूपान्तरों से निकले हैं। इनमें से एक मेघविजय (१६५९–६०) का **पञ्चाख्यानोद्धार** उल्लेखनीय है, क्योंकि इसमें पश्चिमी देशों के साथ सम्बन्धों के विषय में जाँच करने वालों के लिए अनेक विशेष रुचिपूर्ण कथाएँ हैं।

पञ्चतन्त्र का उत्तर-पश्चिमी रूपान्तर, जिससे **बृहत्कथामञ्जरी**[२] और **कथासरित्सागर** में **पञ्चतन्त्र** की कथाएँ पुनः प्रस्तुत की गई हैं, इन ग्रन्थों के रचयिताओं के सम्मुख उस मूलादर्श के एक भाग के रूप में उपलब्ध प्रतीत होता है, जिसको उन्होंने अपने काव्यों का आधार बनाया था। जैसा कि आगे देखा जाएगा, यह मूलादर्श गुणाढ्य की मूल **बृहत्कथा** नहीं थी, किन्तु कश्मीर में बहुत बाद में रचित उसका एक रूपान्तर था, और उसमें मूल **पञ्चतन्त्र** के पाँच तन्त्र अन्य सामग्री के सन्निवेश के कारण आपाततः पृथक्-पृथक् कर दिये गए थे। उसमें प्रस्तावना तथा प्रथम तन्त्र की तीसरी कहानी छोड़ दी गई थी, सम्भवतः इससे अधिक और कुछ नहीं। उसकी भाषा के विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। क्षेमेन्द्र ने **तन्त्राख्यायिक** के β संस्करण का भी उपयोग किया था, जहाँ से उन्होंने पाँच प्रक्षिप्त कहानियाँ ले ली हैं। तन्त्रों को उनके क्रम के अनुसार

---

१. Ed. J. Hertel, HOS. 11-13, 1908-12; trans. R. Schmidt, Leipzig, 1901

२. Ed. L. von Mankowski, Leipzig, 1892.

रखने की योजना भी उन्होंने कदाचित् वहीं से ली है। उनकी संक्षिप्तता उनके ग्रन्थ के मूल्य को घटा देती है, परन्तु सोमदेव का वर्णन उनकी निजी शैली में स्पष्ट तथा प्रभाव-पूर्ण है। उन्होंने सम्भवतः अपने ही कारणों से **पञ्चतन्त्र** की अन्य मूल कहानियाँ छोड़ दी हैं।

दक्षिणी **पञ्चतन्त्र**[1] कम से कम पाँच संस्करणों में उपलब्ध है और **पञ्चतन्त्र** के उस पाठ को प्रस्तुत करता है जो दक्षिणी भारत में प्रचलित था। इन रूपान्तरों में से लगभग सभी में वर्णन प्रायः संक्षिप्त है, जिसमें कोई आवश्यक बात न छोड़ते हुए भी काफ़ी संक्षेप कर दिया गया है। एडगेर्टन (Edgerton) के मूल्याङ्कन के अनुसार इसमें गद्य का तीन-चौथाई तथा पद्यों का दो-तिहाई भाग सुरक्षित है। यह भारवि से बाद का है। ग्वालिन तथा उसके प्रेमियों की एक कथा (१।१२) स्पष्ट-रूप से अमौलिक (unoriginal) है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि **पञ्चतन्त्र** के नेपाली रूपान्तर और **हितोपदेश** के साथ इसका कोई साधारण मूल रहा होगा, और क्योंकि इन उपर्युक्त रूपान्तरों में से अन्तिम को छोड़ कर अन्य सब कालिदास के एक पद्य को उद्धृत करते हैं, इसलिए इनका मूल ५०० ई० से अधिक प्राचीन नहीं हो सकता। इस दक्षिणी पाठ का एक अधिक विस्तृत रूपान्तर अंशतः तामिल स्रोतों पर आधारित है जिसमें कुल छियानवे कहानियाँ हैं। *Abbe Dubois* का *Le Pantcha-Tantra ou les cinq ruses* (१८२६) मुख्य-रूप से इसी से लिया गया था।

पञ्चतन्त्र की एक नेपाली हस्तलिखित पोथी केवल पद्य ही देती है, जिनमें पद्य के धोखे में एक गद्य का टुकड़ा भी आ गया है। दूसरी हस्त-लिखित पोथियाँ पद्य के साथ में संस्कृत या नेवारी में गद्य भी देती हैं। यह संस्करण स्पष्टतः उस मूल से निकला है जो **हितोपदेश** के संग्रहकर्ता को भी उपलब्ध था; केवल इन्हीं दोनों में हमें प्रथम और द्वितीय तन्त्र का क्रम-विपर्यय प्राप्त होता है।

इन स्रोतों के अतिरिक्त **पञ्चतन्त्र** के अनेक मिश्रित पाठ संस्कृत में उपलब्ध हैं; इसके अलावा, प्राचीन तथा आधुनिक गुजराती, प्राचीन और आधुनिक मराठी, ब्रज भाखा, तथा तामिल में भी इसके अनुवाद किये गये थे। शिवदास द्वारा उनकी **वेताल-पञ्चविंशतिका** में और **शुकसप्तति** तथा **द्वात्रिंशत्पुत्तलिका** के संस्कृत-पाठों में भी इसका यथेष्ट उपयोग हुआ था। पश्चिमी देशों में तो इसका भाग्य और भी अधिक प्रकाशमान रहा है।

---

१. Ed. J. Hertel, Leipzig, 1906.

६. हितोपदेश

पञ्चतन्त्र से निकले हुए अनेक ग्रन्थों में से हितोपदेश[1] की बङ्गाल में प्रमुखता है। लेखक अपना नाम नारायण बतलाता है जिसके आश्रयदाता धवलचन्द्र थे, और इस ग्रन्थ की एक हस्त-लिखित पोथी की तिथि १३७३ ई० होने के कारण लेखक इससे पहले रहा होगा। नारायण ने भट्टारकवार (रविवार) का ऐसे दिन के रूप में उल्लेख किया है जिस दिन काम नहीं किया जाना चाहिए। इस उल्लेख के कारण इनका काल बहुत पहले नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ९०० ई० तक इस शब्दावली के प्रयोग का रिवाज नहीं था।[2] अन्यथा यह तो निश्चित ही है कि ये माघ तथा कामन्दकि के पश्चात् हुए। इन्होंने हितोपदेश की रचना बङ्गाल में की, इस बात की सम्भावना उस कहानी से होती है जिसमें इन्होंने अन्य पुरुष की स्त्री के साथ मैथुन संबन्ध को गौरी-पूजा में संस्कार के एक भाग के रूप में निर्दिष्ट किया है। यह निन्दनीय कर्म बङ्गाल के तान्त्रिकों द्वारा समर्थित था। इन्होंने अपना उद्देश्य स्पष्ट-रूप से आचरण की तथा संस्कृत की शिक्षा बतलाया है और हितोपदेश के स्रोत के रूप में पञ्चतन्त्र तथा किसी अन्य अनिर्दिष्टनाम ग्रन्थ का निर्देश किया है। इसमें पञ्चतन्त्र की राजनीतिक रोचकता का पूर्ण-रूपेण निर्वाह किया गया है, क्योंकि, यद्यपि नारायण अपने ग्रन्थ में पर्याप्त नवीन बातें जोड़ते हैं, तो भी कामन्दकीय नीतिसार से विस्तृत अंशों को एकत्रित करने में उनका विशेष अनुराग है। नारायण द्वारा उक्त दूसरा ग्रन्थ कामन्दकीय नीतिसार नहीं है; वह स्पष्टतया कोई कहानियों की पुस्तक है, क्योंकि नारायण के ग्रन्थ में अनेक नवीन कहानियाँ हैं। उन सत्तरह कहानियों में से जो दूसरे रूपान्तरों में नहीं पाई जाती हैं, सात पशु-कथाएँ (fables) हैं, तीन लोक-कथाएँ (Märchen), पाँच षड्यन्त्रों की कहानियाँ और दो उपदेश-प्रद कहानियाँ हैं। इनमें से अपने स्वामी के हित में अपने को तथा अपने परिवार को शिव के सम्मुख बलिदान करने के लिए उद्यत स्वामिभक्त वीरवर के सम्बन्ध में बतलाने वाली कहानी तथा उपर्युक्त गौरीपूजा के उल्लेख को साथ-साथ लेनें पर और साथ ही इस बात पर ध्यान देने से कि हितोपदेश का प्रत्येक खण्ड शिव के अनुग्रह की कामना करने वाले आशीर्वादात्मक-वचन से समाप्त होता है, यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक, जैसा कि उसके नाम से प्रतीत होता है, विष्णु का भक्त नहीं, अपि तु शिव का भक्त था।

---

१. Ed. A. W. von. Schlegel and C. Lassen (1829-31); P. Peterson, BSS. 33, 1887.

२. Fleet, JRAS. 1912, pp. 1039-46.

इस **पञ्चतन्त्र** से नारायण ने प्रथम तथा द्वितीय तन्त्रों को लेकर उनका क्रम-विपर्यय कर दिया, जिससे **हितोपदेश** मित्रलाभ से आरम्भ होता हैं और फिर उससे सुहृद्भेद की ओर बढ़ता है। परन्तु तृतीय तथा चतुर्थ खण्डों में उन्होंने अपनी ही रीति से काम लिया। मूल-ग्रन्थ के तृतीय तन्त्र को उन्होंने दो भागों में बाँट दिया, जिनमें पहला विग्रह तथा दूसरा सन्धि का है, जो स्पष्टतः प्रथम तथा द्वितीय खण्डों में रखे गए विरोधी द्वन्द्वों का विस्तार-मात्र है। उनका नवीन चतुर्थ खण्ड एक नई अङ्गीकथा (frame story) की खोज कर के, और उसमें मूल तृतीय तन्त्र की कुछ कहानियाँ रख कर बनाया गया। इसके अतिरिक्त, **पञ्चतन्त्र** के पञ्चम तन्त्र को तृतीय तथा चतुर्थ खण्डों में ही बाँट दिया गया। **पञ्चतन्त्र** के चतुर्थ तन्त्र को पूर्णरूप से छोड़ दिया गया, और प्रथम तन्त्र की अनेक कहानियाँ **हितोपदेश** के नवीन चतुर्थ खण्ड में रख दी गईं। पुनश्च, **पञ्चतन्त्र** की अनेक कहानियाँ **हितोपदेश** में बिलकुल छोड़ दी गईं और अनेक नई कहानियाँ चारों खण्डों में समाविष्ट कर दी गईं, जिसका परिणाम यह है कि **हितोपदेश** में **पञ्चतन्त्र** के गद्य का $\frac{३}{५}$ भाग और पद्यों का एक तिहाई भाग प्राप्त होता है। नवीन सामग्री के स्रोत अस्पष्ट हैं। उस चूहे की कहानी, जिसे एक धार्मिक तपस्वी ने क्रमशः बिल्ली, कुत्ते, और व्याघ्र में बदल दिया, पर जब वह अपने उपकार करनेवाले को ही नष्ट करने पर तुल गया तो तपस्वी ने उसे उसके पूर्वरूप में परिवर्तित कर दिया, सम्भवतः **महाभारत** में दी गई एक कुत्ते की उसी प्रकार की कथा का केवल एक संशोधित संस्करण है। उस स्त्री की कहानी (२१६) का मूल, जो एक गाँव के दण्डनायक के पुत्र के साथ जारकर्म करती थी और जिसने अपनी चतुरता से पुत्र को दण्डनायक से और उन दोनों को अपने पति से बचाया, **शुकसप्तति** में है, और सम्भवतः वीरवर की कथा का मूल स्रोत **वेतालपञ्चविंशतिका** में है। **हितोपदेश** भी, बङ्गाली के अतिरिक्त, अन्य अनेक देशी भाषाओं में भी अनूदित हो चुका है।

संस्कृत की शिक्षा देने के हेतु होने के कारण नारायण की शैली सीधी-सादी और प्रायः सन्तोष-जनक रूप से सरल है। मुख्य कठिनाइयाँ पद्यों में आती हैं जिन्हें लेखक ने बाहर से लिया है। बहुत से पद्य सम्भवतः उन्हीं के द्वारा रचे हुए हैं, और यदि ऐसा है तो वे प्रवाहपूर्ण पद्य-रचना के लिए बहुत प्रशंसा के पात्र हैं। कला की दृष्टि से एक ही जगह अनेक पद्यों का एकत्रीकरण निस्सन्देह एक दोष है, परन्तु नारायण **सरलपञ्चतन्त्र** (Simplicior) के लेखक के साथ ही इस दोष के भागी हैं। किन्हीं विरल अथवा कठिन क्रिया-रूपों या असामान्य वाक्य-रचना के अप्रयोग तथा कर्मवाच्य अथवा भाव-वाच्य के प्रति अनुराग के कारण उनकी

भाषा स्पष्टतः बहुत एकरूप अतएव अरोचक हो गई है। ऐसी स्थिति में उनके ग्रन्थ में अद्‌भुत रचनाशैली का एक पद्य मिलना आश्चर्य उत्पन्न करता है :

संलापितानां मधुरैर्वचोभि-
मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम्।
आशावतां श्रद्दधताञ्च लोके
किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति ?

'जिनके साथ मीठे शब्द बोले जा चुके हैं और मिथ्या उपचारों से जिनको वश में कर लिया गया है,जो आशायुक्त तथा श्रद्धावान् हैं ऐसे याचकों को ठगना क्या उचित है ?' कृत्य-प्रत्ययान्त शब्दों का नामों की भाँति प्रयोग निश्चय-रूप से व्याकरण के प्रति प्रेम के ह्रास का सूचक है। नीति-वचनों की रचना प्रायः सुन्दर हुई है :

मर्त्तव्यमिति यद् दुःखं पुरुषस्योपजायते।
शक्यस्तेनानुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम्॥

'मृत्यु के विचार से ही मनुष्य को जो दुःख होता है, उसके अनुमान मात्र से अपने शत्रु की भी उससे रक्षा करनी चाहिए।' ऊपरी वेशभूषा का भरोसा नहीं करना चाहिए :

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥

'दुर्जन पुरुष धर्मशास्त्र पढ़ता है या वेद का अध्ययन करता है इसलिए उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। इस विषय में तो स्वभाव ही सबसे बढ़कर है, जैसे गाय का दूध स्वभाव से ही मधुर होता है।'

१२.

बृहत्कथा और उसके वंशज

१. गुणाढ्य तथा बृहत्कथा

इसमें सन्देह नहीं कि गुणाढ्य[1] की **बृहत्कथा** का विलोप भारतीय साहित्य में हमारी वस्तुतः गंभीर हानियों में से एक है। **महाभारत** और **रामायण** के साथ साथ यह ग्रन्थ भारतीय साहित्यिक कला के बड़े भण्डारों में से एक था। उसकी विद्यमानता का कथन निश्चित रूप से नामपूर्वक पहले-पहल सातवीं शताब्दी में किया गया है जबकि सुबन्धु, बाण अपने दोनों गद्य-काव्यों (Romances) में और दण्डी अपने **काव्यादर्श** में उसके मौलिक महत्त्व को प्रमाणित करते हैं। उत्तरकालीन उल्लेख विरल नहीं हैं। धनञ्जय का **दशरूप** और उसकी टीका दोनों उसकी विद्यमानता का साक्ष्य उपस्थित करते हैं। त्रिविक्रम ने अपनी चम्पू में और सोमदेव सूरि ने अपने **यशस्तिलक** में—जो दोनों एक ही प्रकार के ग्रन्थ हैं—उसका उल्लेख किया है। गोवर्धन ने भी अपनी **सप्तशती** में उसकी प्रशंसा की है। कम्बोडिया का एक अभिलेख (लगभग ८७५) शब्दतः गुणाढ्य का नाम-निर्देश करता हुआ प्राकृत भाषा के प्रति उनकी विरक्तता को भी बतलाता है। अतः गुणाढ्य द्वारा निर्मित एक रोमांचक ग्रन्थ की ६०० ई० से पूर्व विद्यमानता के विषय में हम एक क्षण के लिए भी सन्देह नहीं कर सकते।

उनके व्यक्तित्व का वर्णन, बिना बड़े भेद के, क्षेमेन्द्र की **बृहत्कथा**, सोमदेव का **कथासरित्सागर** और जयरथ का **हरचरितचिन्तामणि**, कश्मीर के इन तीन ग्रन्थों में दिया हुआ पाया जाता है। एक दिन पार्वती द्वारा एक नई कथा के लिए कहे जाने पर शिव ने, और विषयों के साथ-साथ, **बृहत्कथा** के सार को उन्हें सुनाया। पुष्पदन्त-नामक एक गण ने इसे चुपके से सुन लिया और उसे अपनी स्त्री जया को सुनाया। उसने उसे पार्वती को कह सुनाया। पार्वती ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर पुष्पदन्त को शाप दिया कि वह अपने पद से वंचित हो जायगा और फिर उस पद को तब तक नहीं पाएगा जब तक कि वह चुपके से सुनी हुई उस कथा को

---

१. F. Lacôte, *Essai sur Guṇādhya et la Bṛhatkathā* (1908).

काणभूति नाम के एक यक्ष को, जो स्वयं शापग्रस्त होगा, नहीं सुना देगा। किञ्च, पुष्पदन्त के एक साथी, माल्यवान् को भी, जिसने बीच में पड़ कर उसके लिए अनुरोध करना चाहा था, स्वर्ग छोड़ने को तब तक के लिए शाप दिया गया जब तक कि वह काणभूति से मिल कर उस कथा को नहीं सुन लेगा। कालान्तर में पुष्पदन्त कौशाम्बी में वररुचि-कात्यायन के रूप में उत्पन्न हुआ। वह नन्द का मन्त्री हुआ और अन्त में अपने पद से अवकाश लेकर विन्ध्य में जा कर रहने लगा और वहाँ काणभूति को विद्याधरों के सात सम्राटों की कथा को सुना कर शाप से मुक्त हो गया। इसी बीच में माल्यवान् के पुनर्जन्म के रूप में गोदावरी के तट पर प्रतिष्ठित अथवा प्रतिष्ठान में गुणाढ्य का जन्म हो चुका था। वह विशेष रूप से सातवाहन का कृपापात्र हो जाता है; परन्तु सातवाहन को एक बार दुःसह मान-हानि उठानी पड़ती है जबकि अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करते हुए उसको उसकी रानी अपने ऊपर और पानी न फेंकने को कहती है (मोदकैः—मा उदकैः)। सातवाहन शब्द-सन्धि के नियमों की अज्ञानता के कारण उसको मोदकों से प्रहार करने के लिए प्रार्थना के रूप में उल्टा समझ लेता है— यदि प्रचीन भारतीय मोदक (लड्डू) आज कल के समान होते थे तो यह प्रार्थना भयंकर ही थी। म्लान मन होकर वह किसी प्रकार आश्वस्त नहीं होता जब तक कि वह संस्कृत नहीं पढ़ सकता है। गुणाढ्य उसे छः वर्षों में पढ़ा देने का प्रस्ताव करता है, परन्तु जब कातन्त्र का रचयिता शर्ववर्मा इस प्रस्ताव की हंसी उड़ाता है और सुझाव देता है कि वह स्वयं उस कार्य को छः मास में कर सकता है, गुणाढ्य प्रतिज्ञा करता है कि यदि ऐसा हो जाता है तो वह संस्कृत, प्राकृत अथवा लोकभाषा का प्रयोग करना छोड़ देगा। वह कार्य सम्पन्न हो जाता है और गुणाढ्य खिन्न-चित्त होकर विन्ध्य में घूमता-फिरता है। वहाँ काणभूति उसको मिलता है और वररुचि से सुनी हुई कथाएं उसे सुनाता है। गुणाढ्य उन्हें लेख-बद्ध करना चाहता है, परन्तु उसके लिए उसे पैशाची, पिशाचों की भाषा, में ही लिखना चाहिए, क्योंकि अपनी प्रतिज्ञा के कारण वह और किसी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। उसके शिष्य उस विशाल ग्रन्थ को सातवाहन राजा के पास ले जाते हैं, जो उसको स्वीकार नहीं करता। गुणाढ्य उसे पशु-पक्षियों को सुनाता है, और ऐसा करते हुए ग्रन्थ के हस्त-लेख को जलाता जाता है; उस मधुर कविता में तन्मय होकर पशु दुबले हो जाते ह, और उसके फलस्वरूप राजा की पाकशाला में रसोइए अच्छा झोल नहीं परस पाते। इस प्रकार वह आश्चर्य प्रकट हो जाता है और राजा मूल ग्रन्थ के ७००००० श्लोकों के सप्तमांश को बचा लेता है, यही अंश बृहत्कथा में सुरक्षित

कथा है। नेपालमाहात्म्य में दिया हुआ नेपाली वर्णन इससे भिन्न है। उसमें वररुचि-कात्यायन का कोई उल्लेख नहीं है, उसके अनुसार केवल भृङ्ग एक अपराधी है जो भृङ्ग के रूप में शिव और पार्वती के निजी कमरे में प्रवेश करता है; गुणाढ्य के रूप में वह मथुरा में जन्म लेता है, उज्जैन के राजा मदन का पण्डित हो जाता है, शर्ववर्मा से पराजित होता है, और पुलस्त्य नाम के एक ऋषि उसको पैशाची में रचना करने के लिए परामर्श देते हैं। भाषा के सम्बन्ध में किसी प्रतिज्ञा के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, और यह बिलकुल स्वाभाविक है, क्योंकि इस बात के सम्बन्ध में विशुद्ध भारत की रुचि से नेपाल बाहर पड़ता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह आख्यान किसी रूप में बाण को भी विदित था, और इसलिए साधारणतया प्राचीन होना चाहिए; कितने अंश में और किस रूप में यह गुणाढ्य तक पीछे जाता है, इस विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। गुणाढ्य का स्थान उक्त दोनों स्रोतों में स्पष्टतः भिन्न-भिन्न है, क्यों कि, गोदावरी के किनारे पर स्थित प्रतिष्ठान और गंगा-यमुना के संगम पर स्थित उसी नाम के नगर के बीच में भ्रम हो जाने की बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करना निरर्थक है। जो बात स्पष्ट है वह यह है कि जिस स्थान से गुणाढ्य ने अधिकतर अपनी अन्तःस्फूर्ति को प्राप्त किया था वह या तो उज्जैन था या कौशाम्बी। उसका उस स्थान से कोई सम्बन्ध नहीं है जहाँ वह राजकीय सम्मान का पात्र था और जहाँ उसने अपने ग्रन्थ की रचना की थी। सातवाहन के साथ गुणाढ्य के सम्बन्ध की, जिसका संकेत कश्मीरी संस्करणों से मिलता है, पुष्टि कुछ सीमा तक अन्य तथ्यों से भी होती है। प्रथम बात तो यह है कि एक समय सातवाहन नृपतिगण संस्कृत साहित्य के स्थान में प्राकृत के संरक्षक थे; अभिलेखों के साक्ष्य[1] से प्रतीत होता है कि उनके द्वारा संस्कृत के अपनाये जाने के पहले संस्कृत का व्यवहार उनके क्षत्रप प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा किया जाता था, और माहाराष्ट्री गीतिकाव्य की समृद्धि उन्हीं के आश्रय में हुई थी। दूसरे, इस सम्बन्ध में संस्कृत के अध्ययन की बात से यह सूचित होता है कि उस समय के सम्बन्ध में कोई परम्परा प्रचलित थी जबकि सातवाहनों ने क्षत्रपों के अनुकरण का निश्चय किया था और उसके फलस्वरूप राज-दरबार में संस्कृत का व्यवहार होने लगा था। इससे अधिक हम कुछ नहीं कह सकते।

गुणाढ्य के समय के विषय में भी हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। सातवाहनों के साथ सम्बन्ध, वास्तविक होने पर भी, अन्ततोगत्वा कोई निश्चित

१. Bloch, *Mélanges Lévi*, pp. 15f.; Lévi, JA. 1902, i. 109 ff.

अर्थ नहीं रखता। इस सम्बन्ध में सवसे अधिक महत्त्व का साक्ष्य यही हो सकता था कि दण्डी या वाण से पहले के साहित्य में या तो बृहत्कथा का स्पष्ट[1] उल्लेख होता या उसका उपयोग किया गया होता। हो सकता है[2] कि भास के नाटकों ने गुणाढ्य से कोई अन्तःप्रेरणा ली हो, पर इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। हम औचित्य के साथ कह सकते हैं कि गुणाढ्य ५०० ई० के बाद के नहीं हैं, परन्तु उनको प्रथम शताब्दी ई० में रखना विलकुल काल्पनिक है। इसके अनन्तर भी कोई समय रखना वास्तव में ऐसा ही अनिश्चित है।

ग्रन्थ के रूप का प्रश्न भी अस्पष्ट है। बृहत्कथा के कश्मीरी रूपान्तरों से यह प्रतीत होता है कि गुणाढ्य की अपनी रचना श्लोकों में रही होगी। पर यह एक मिथ्या प्रतीति भी हो सकती है। दूसरी ओर दण्डी का शब्दतः यह कथन है कि कथा, जिसकी कोटि में वे बृहत्कथा को मानते हैं, गद्य में लिखी जाती थी। जातकमाला की भाँति, उस में वीच वीच में पद्यों का सन्निवेश किया गया हो सकता है, परन्तु यह एक कथन मात्र ही है, और दूसरा कोई साक्ष्य ऐसा नहीं है जिसके आधार पर दण्डी से प्राप्त उपर्युक्त भावना को मिथ्या सिद्ध किया जा सके। हेमचन्द्र द्वारा दिया हुआ एक गद्यात्मक उद्धरण बृहत्कथा से लिया हुआ समझा जा सकता है, परन्तु वलपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह वहीं से लिया हुआ है; हो सकता है कि वह किसी पीछे के संस्करण से या किसी दूसरे स्रोत से लिया गया है।

उसमें जिस स्थानीय भाषा (dialect) का प्रयोग किया गया था वह पैशाची थी; परन्तु 'पैशाची' शब्द के सम्वन्ध में एक विवाद चलता रहा है, विशेषतः इस कारण से कि वास्तव में हम इसका निश्चय नहीं कर पाते हैं कि बृहत्कथा का कोई भी अवशेष अवशिष्ट है। साथ ही यह और भी कम निश्चित है कि मार्कण्डेय (१७वीं शताब्दी) जैसे उत्तरकालीन वैयाकरण के समक्ष

---

१. द्वितीय शताब्दी ई० में बना हुआ समझे जाने वाले तामिल भाषान्तर (S. K. Aiyangar, *Ancient India*, pp. 328, 337) की तिथि नितान्त संदिग्ध होने से उसका कोई साक्ष्य नहीं हो सकता। दुर्विनीत द्वारा किया हुआ (? छठी शताब्दी) तथाकथित संस्कृत रूपान्तर भी नितान्त संदिग्ध है (R. Narasimhachar, JRAS. 1913, pp. 389 f.); दे० Fleet, JRAS. 1911, pp, 186-8.

२. Hertel ऐसा नहीं मानते, *Pāla und Gopāla*, pp. 153f.; cf. P. D. Gune, *Ann. Bhand. Inst.*, ii, 1ff.

वह ग्रन्थ वास्तव में[१] विद्यमान था। इस सम्बन्ध में विचारों की और भी अधिक आकुलता का कारण सर जार्ज ग्रियर्सन (Sir George Grierson) का यह निश्चय है कि काफ़िरिस्तान, स्वातघाटी, चित्राल, और गिल्गिट में बोली जाने वाली उत्तर-पश्चिमीय स्थानीय वोलियों को पिशाच भाषाओं के वर्ग में सम्मिलित मानना चाहिए। उनका कहना है कि प्राचीन पैशाची वोली से उनका वास्तविक सम्बन्ध ह और उनको पैशाची इसलिए कहा जाता था क्योंकि उनको बोलने वाले आम-मांसाशी थे और इसीलिए उनके पड़ोसी उनको 'पिशाच' अर्थात् आम-मांस को खाने वाला कहते थे। वैयाकरणों के कथनों में गड़बड़ है और वे असंतोष-प्रद हैं; परस्परविरुद्ध परम्पराओं और दृष्टियों को रखनेवाले प्राकृत वयाकरणों के दो सम्प्रदायों की विद्यमानता से भी इस गड़बड़ के सुलझाने में कोई सहायता नहीं मिलती, विशेषतः इस कारण से कि दोनों संप्रदायों का प्रातिनिध्य अपेक्षा-कृत उत्तरकालीन ग्रन्थ ही करते हैं। परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, यह अधिक संभावित है कि पैशाची उत्तर-पश्चिम की बोली होने के स्थान में विन्ध्य की ही बोली थी। ग्रियर्सन की स्थापना के अनुसार द् जैसे घोष (soft) वर्णों का त् जैसे अघोष (hard) वर्णों में परिवर्तन केवल उत्तर-पश्चिमी बोलियों का ही वैशिष्टच था, ऐसा मानना आवश्यक हो जाता है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। उक्त वैशिष्टच पालि के साथ-साथ अन्य बोलियों में भी विद्यमान है। साथ ही, पैशाची में शरों (श्, ष्, स्) में से केवल एक ध्वनि का पाया जाना भी उत्तर-पश्चिमी वोलियों से उसके संबद्ध होने की वात को दुर्बल कर देता है, क्योंकि अशोक के समय में और उसके उत्तरकाल में भी उक्त शर् ध्वनियाँ उन वोलियों में सुरक्षित पाई जाती हैं।[२] परन्तु लाकोत (Locote), उत्तर-पश्चिम के साथ सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी, इस दृष्टि से सहमत हैं कि अघोषीभाव का पाया जाना आर्येतर लोगों द्वारा एक आर्य-भाषा के प्रयोग का लक्षण है। वे यह भी मानते हैं कि गुणाढ्य ने संस्कृत से अत्यन्त गंभीर विच्युति को बचाते हुए ही पैशाची का प्रयोग साहित्यिक उद्देश्य से किया था। उनका कहना है कि यदि हम द्राविड़ क्षेत्र में बोली जाने वाली एक विन्ध्य-

---

१. जैसा कि ग्रियर्सन का कहना है, AMJV. i. 121; JRAS. 1913, p. 391. वहाँ केवल बृहत्कथायाम् यही कहा है, परन्तु मार्कण्डेय ने उसका उपयोग किया था या वहाँ का उद्धरण वास्तव में गुणाढ्य के ही ग्रन्थ से है और, उदाहरणार्थ, कश्मीरी भाषान्तर से नहीं है, ऐसा मान लेने का सामान्य बुद्धि निषेध करती है।

२. Chap. i, § 4.

वोली को उसके स्थान में रखें तो संभवतः हम सत्य के समीप पहुँच जाते हैं। कम से कम विन्ध्य के साथ बृहत्कथा के सम्बन्ध के पक्ष में कश्मीरी संस्करणों के स्पष्ट कथन विद्यमान हैं। तथ्य को विपरीत करके दिखाने में उनका कोई विशेष अभिप्राय नहीं था। साथ ही राजशेखर का साक्ष्य[1] भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट है। उनका कहना है कि पैशाची एक विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होती थी जिसमें विन्ध्य प्रदेश भी सम्मिलित था। यह दृष्टि लाकोत के इस सुझाव से कहीं अधिकतर ग्राह्य है कि गुणाढ्य का कार्यक्षेत्र तो कौशाम्वी और उज्जैन के आसपास था, परन्तु उक्त बोली (पैशाची) का विचार उन्होंने उत्तर-पश्चिम से आने वाले यात्रियों से लिया था, और ग्रियर्सन भी स्वीकार करते हैं कि मूलतः पैशाची के एक उत्तर-पश्चिमी बोली होने पर भी, वह वहाँ से विन्ध्य-प्रदेश में ले जाई गई हो सकती है।

बृहत्कथा के विषय के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय करना संभव नहीं है; हमारे ज्ञान के स्रोत अत्यल्प हैं, परन्तु गुणाढ्य द्वारा संपादित कार्य के विषय में हम एक सामान्य धारणा वना सकते हैं। यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी सामग्री तीन स्रोतों से ली थी। एक आनन्दप्रद विवाह के तुरन्त बाद में नृशंसतया चुराई गई पत्नी के लिए एक पति के अन्वेषण के 'अभिप्राय' (motif) को उन्होंने रामायण से लिया था। वौद्ध उपाख्यानों और उज्जैन तथा कौशाम्बी की दूसरी अनुश्रुतियों के आधार पर वे प्रद्योत या महासेन तथा प्रेमी और साहसी नायक उदयन[2] की, जिसके प्रेम-सम्बन्धी साहसिक कार्य अपनी संख्या और वैविध्य के लिए प्रसिद्ध थे, कथाओं से वे अच्छी तरह परिचित थे। भारतीय व्यापार के व्यस्त केन्द्रों में प्रचलित समुद्रयात्राओं और सुदूर स्थानों में आश्चर्यप्रद साहसिक कर्मों की अनेक कथाओं से तथा भारत में प्रचलित बहुसंख्यक अद्भुत कहानियों तथा ऐन्द्रजालिक आख्यानों से भी उनका संपर्क था। उक्त स्रोत से और बुद्ध के आख्यान से उन्होंने चक्रवर्ती सम्राट् का विचार लिया होगा, जो लौकिक दृष्टि से बुद्ध का प्रतिरूप है। उनका नायक नरवाहनदत्त उन बत्तीस शुभलक्षणों के साथ उत्पन्न होता है जिनसे तापसिक जीवन में प्रवेश करने पर उसका बुद्धत्व और सांसारिक कार्यों में रहने पर सार्वभौम आधिपत्य निश्चित है। परन्तु वह साम्राज्य इस भूमि का नहीं है; वह मूलतः एक अलौकिक भूमि है, जिसको

---

१. काव्यमीमांसा पृ० ५१।

२ Cf. Przyluski, *de légende* de *lémpereur Aśoka*, pp. 74 ff.; j. Hertel, BSGW. lxix. 4 (1917); Lacôte, j A. 1919, i. 493 ff.; P. D. Gune, *Ann. Bhand. Inst.*, ii. 1 fl.; Burlingame, HOS. xxviii. 51, 62 f., 247-93.

विद्याधरों का प्रदेश कह सकते हैं, जो हिमालय की दुष्प्रधर्ष्य प्रतिरक्षा के परले पार रहते हैं और जिनकी अपनी मायिक शक्तियों के कारण देवयोनियों में गणना की जाती है। भारतीय धर्म में प्रारम्भ में विद्याधरों का उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु हम सरलता से उनमें हिन्दू ऋषियों और तपस्वियों तथा बौद्ध सन्तों की रहस्यात्मक शक्तियों या सिद्धियों पर आधृत भावनाओं के साथ गन्धर्वों के सम्बन्ध में प्राचीन दृष्टियों का प्रभाव अनुभव कर सकते हैं। उक्त नायक उदयन का पुत्र है, पर कार्यतः उसे अपनी नवीन नियति के लिए प्रतिसंस्कृत और रूपान्तरित उदयन ही समझना चाहिए। कथावस्तु का जो निर्णायक अंश है वह **रामायण** से लिया गया है, जैसे मानसवेग द्वारा मदनमञ्चुका अथवा मदनमञ्जुका का अपहरण और उसके पति द्वारा उसके अनुसन्धान का प्रयत्न, जिसमें उसका प्रभु-भक्त मन्त्री गोमुख उसकी सहायता करता है। जैसे सीता की पुनः प्राप्ति के अनन्तर ही राम का राज्याभिषेक होता है, ऐसे ही मदनमञ्जुका के अनुसन्धान में सफलता के साथ ही उसका पति विद्याधरों के साम्राज्य को प्राप्त कर लेता है। परन्तु दोनों कथाओं में मौलिक भेद अवश्य रहा होगा, क्योंकि गुणाढ्य स्पष्टतः इतना राजाओं का कवि नहीं था जितना स्व-सामयिक व्यापारियों[१], व्यवसायियों या सांयात्रिकों का, तथा शिल्पियों का भी; उसकी रचना को मध्यवर्गीय नागरिकों का काव्य कहना चाहिए और इसीलिए राम की निर्दोष पवित्रता के स्थान में उसकी रचना का नेता उदयन का एक पुत्र है, जिसका प्रेम, यद्यपि वह मदनमञ्जुका से प्रेम करता है, अपने पिता की अपेक्षा भी अधिक हल्का है। इसलिए हमारे विचार में मौलिक ग्रन्थ में भी नरवाहनदत्त के दूसरे प्रेमों, साहसिक यात्राओं, और क़िस्सों तथा अद्भुत कहानियों से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं का भी अधिक वर्णन रहा होगा। गोमुख में एक ऐसे मन्त्री का चित्रण है जो भास के नाटकों के यौगन्धरायण के समान साहसी, क्रियाशील और वीर है, यद्यपि साधनों के चुनने में आधुनिक दृष्टि के अनुसार वह अमर्यादित है। मदनमञ्चुका का चित्र स्पष्टतया निश्चित था; भास के **चारुदत्त** की, तथा और भी अधिक स्पष्टता के साथ **मृच्छकटिक** की, वसन्त सेना के समान ही, वह भी एक ऐसी वेश्या थी जो अपनी स्थिति से असंतुष्ट थी और जिसका बड़ा लक्ष्य था कि वह एक कुलस्त्री के रूप में मान ली जाय, और इस प्रकार आवश्यक बहुभर्तृकता के स्थान में उसे विध्यनुसार विवाह करने दिया जाय। भास ने वसन्तसेना का चित्र वस्तुतः **बृहत्कथा** के आधार पर ही खींचा था, इसका यदि हमें निश्चय हो सकता, तो यहाँ कदाचित् हमें कालिक

---

१. Cf. Foucher, *L'Art Gréco-Bouddhique du Gandhāra*, ii, 102 ff.

क्रम के सम्बन्ध में एक महत्त्वयुक्त संकेत मिलता है। परन्तु कम से कम यह उल्लेखनीय बात है कि **चारुदत्त** में नहीं, किन्तु **मृच्छकटिक** में दिया हुआ वसन्त-सेना के प्रासाद के उद्यान और आठ प्रकोष्ठों का वर्णन बुधस्वामी के **बृहत्कथ श्लोक-संग्रह** में दिये हुए कलिङ्गसेना के गृह के वर्णन के साथ छोटी-छोटी बातों में भी मिलता-जुलता है।

गुणाढ्य का प्रभाव दण्डी पर भी दिखाई देता है। औचित्य के साथ हम मान सकते हैं कि दण्डी ने दुर्भाग्यवश आवारा लोगों के मध्य में दुरवस्था को प्राप्त अपने राजाओं के पुत्रों को ऐसी स्थितियों में रखने का विचार गुणाढ्य से ही लिया था जहाँ निम्न स्तर के जीवन से लिए हुए वृत्तान्तों की परम्परा सब प्रकार की आश्चर्यप्रद घटनाओं से सम्बन्ध रखती है। कथा के क्रम का कारण भी निश्चित रूप से यही है; क्योंकि इसका उस दृश्य के साथ सादृश्य है जिसमें वियोग के पश्चात पुनः एकत्रित नरवाहनदत्त और उसके मित्रगण अपने-अपने वृत्तान्तों को परस्पर सुनाते हैं। गुणाढ्य की कल्पना-शक्ति सोमदेवसूरि के **यशस्तिलक** में और धनपाल की **तिलकमञ्जरी** में भी दृष्टिगोचर होती है, ये दोनों ग्रन्थकार गुणाढ्य के महत्त्व को[1] स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त, ऐसा लगता है कि उनके नायक का नाम, उनके द्वारा उसके प्रयोग के कारण, राजा की समुचित उपाधि के रूप में राजाओं के व्यवहार में तथा साहित्य में भी स्वीकार कर लिया गया। परन्तु उनका स्थायी स्मारक हम तक पहुँचने वाले **बृहत्कथा** के रूपान्तरों में ही मिलता है।

२. बुधस्वामी का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह

श्लोकों में **बृहत्कथा** के संक्षेप रूप **श्लोक-संग्रह**[2] के रचयिता बुधस्वामी हमारे लिए एक नाम से अधिक नहीं हैं। उनके ग्रन्थ के हस्तलेख नेपाल से प्राप्त हुए हैं, परन्तु अन्यथा ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे उनका मूल स्थान नेपाल निश्चय किया जा सके। वे नेपाल के थे, यह केवल अटकल का विषय है। नाम का प्रकार आधुनिक नहीं है। परन्तु प्राचीन समय से बारहवीं शताब्दी तक, जो कि

---

१. उनकी मौलिकता की मात्रा के सम्बन्ध में, निश्चय ही, प्रश्न किया जा सकता है, और कोई भी कवि अपने आधारीभूत किसी पूर्वज के बिना नहीं होता; परन्तु उनकी सफलता निर्देश करती है कि उनमें वास्तविक स्वोपज्ञ शक्ति थी, जिसके आधार पर हम न्याय्य दृष्टि से कह सकते हैं कि वे एक विशिष्ट साहित्यिक रचना-शैली के जनक थे।

२. संस्करण और अनुवाद, F. Lacote, 19

उक्त ग्रन्थ के एक हस्तलेख का संभावित समय है, इस प्रकार के नाम उपलब्ध होते हैं, इसलिए इस आधार पर हम किसी संतोषजनक परिणाम पर नहीं पहुँचते। उनको यदि आठवीं या नवीं शताब्दी में रखा जावे, तो इसके लिए केवल यही साधारण आधार हो सकता है, कि हस्तलेखों की परम्परा से यह संकेत मिलता है कि उपलब्ध हस्तलेखों के लिखे जाने से बहुत पहले ही उक्त ग्रन्थ की रचना हो चुकी होगी ।

उक्त ग्रन्थ का केवल एक खण्ड मात्र उपलब्ध है। किसी समुचित प्रमाण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रारम्भ में खण्डित है अथवा इस के प्रारम्भ में, कश्मीरी-रूपान्तरों तथा नेपाल-माहात्म्य में दिए हुए आख्यान के समान, प्रकृत कथा-संग्रह के उद्गम के सम्बन्ध में कोई विवरण भी कभी सम्मिलित था। यह सर्गों में विभक्त है, जिनमें से केवल अट्ठाइस अवशिष्ट हैं, जो संभवतः मूल-ग्रन्थ का केवल एक अंश-मात्र है; तो भी इसमें ४५३९ पद्य हैं। हम सहसा कथा के मध्य में पहुँचा दिए जाते हैं; प्रद्योत की मृत्यु हो जाती है, और गोपाल उसका उत्तराधिकारी होने को है, परन्तु उसको जब यह पता लगता है कि लोग उसको ही अपने पिता की मृत्यु का कारण समझते हैं, वह आग्रह करता है कि उसका भाई पालक ही उसके स्थान में राजा बनाया जावे (सर्ग १)। पालक अच्छा शासक नहीं है। वह किसी प्रेरणा से, जिसको वह दैवी संकेत समझता है, गोपाल के पुत्र, अवन्तिवर्धन, के हित में राज्य सिंहासन छोड़ देता है (सर्ग २) । गोपाल का पुत्र एक मातङ्ग की पुत्री, सुरसमञ्जरी, के प्रेम में, आसक्त हो जाता है। अपने पिता के समान, वह वास्तव में विद्याधर वंश की ही है। वह उससे विवाह कर लेता है, परन्तु इफ्फक (इत्यक) नामका एक ईर्ष्यालु विद्याधर उसकी वधू के साथ उसका अपहरण कर ले जाता है। इन्हीं देवयोनियों में से एक दूसरे व्यक्ति द्वारा उनको बचाया जाता है, और सम्राट् नरवाहन उनके विवाह के पक्ष में अपना निर्णय देता है (सर्ग ३)। ऋषि-जन सम्राट् के निर्णय की अति प्रशंसा करते हैं और उससे उसके साम्राज्य की प्राप्ति का वृत्तान्त सुनाने को कहते हैं। जब गौरी इस बात का वचन दे देती है कि वह जो कुछ कहेगा उसकी धार्मिक रहस्य के समान रक्षा की जावेगी, वह अपने छब्बीस विवाहों की कथा कहना स्वीकार कर लेता है। तब वह पुत्रप्राप्ति के लिए अपने पिता की इच्छा का उल्लेख करता है। वह इच्छा अन्त में पूर्ण हो जाती है (सर्ग ५, ६)। जब नरवाहन बड़ा होता है, उसमें चक्रवर्ती के लक्षण प्रकट होते हैं, और अमितगति नाम का विद्याधर उन लक्षणों को पहचान कर उसके साथ रहने लगता है। अन्त में नरवाहन कलिंगसेना की पुत्री मदनमञ्जुका

का पाणि-ग्रहण कर लेता है। परन्तु वह एक वेश्या है, जिसके कारण एक वास्तविक विवाह असंभव हो जाता है (सर्ग ७-११)। एक दिन मदनमञ्जुका तिरोहित हो जाती है, परन्तु एक अशोक-वृक्ष के नीचे मिल जाती है; वह वर्णन करती है कि कुबेर चाहते हैं कि नरवाहनदत्त के साथ उसका वास्तव में विवाह हो जाना चाहिए। यह इच्छा पूरी कर दी जाती है, परन्तु कुछ ही काल के अनन्तर उसे इस कष्टप्रद स्थिति का पता लगता है कि जो उसकी संगिनी बन रही है वह उसकी प्रिया न होकर वेगवती है। वह अपने को मानसवेग नाम के एक विद्याधर की बहिन बतलाती है और कहती है कि वह मदनमञ्जुका को ले गया है, परन्तु वह उसका कुछ बिगाड़ न सकेगा, उसी भाँति जैसे सीता की पराधीनता की अवस्था में रावण उन पर बल का प्रयोग न कर सका था। नरवाहनदत्त उसके साथ एक नया विवाह करता है, परन्तु तदनन्तर ही उसको मानसवेग ले जाता है; पृथिवी पर गिरता हुआ वह अपने को एक कूप में पाता है, परन्तु बचा लिया जाता है (सर्ग १२-१५)। वह अब अपनों से बिछुड़ जाता है और एक विद्यार्थी के रूप में एक नये साहसिक जीवन को प्रारम्भ करता है। उस जीवन का अन्त सानुदास की पुत्री, गन्धर्वदत्ता, के साथ विवाह में होता है। इस प्रसङ्ग में सानुदास के वृत्तान्त का वर्णन विस्तार से किया गया है (सर्ग १६—१८)। उसके दो अन्य विवाह होने को हैं, एक अजिनावती के साथ (सर्ग १९, २०), और दूसरा प्रियदर्शना के साथ। प्रियदर्शना एक व्यापारी के रूप में थी, परन्तु उसके वक्षःस्थल के क्षणिक दर्शन से उसने उसके वास्तविक स्त्रीत्व का पता लगा लिया था (सर्ग २१—२७)। अगले सर्ग में एक नवीन वैवाहिक वृत्तान्त का केवल प्रारम्भ ही दिया गया है। और भी अनेक विवाहों का वृत्तान्त इसके आगे दिया जाने वाला था; इससे ग्रन्थ के विस्तार की कल्पना की जा सकती है।

कश्मीरी ग्रन्थकारों की अपेक्षा बुधस्वामी ने अपने मौलिक ग्रन्थ का अनुसरण कहीं अधिक सत्यता के साथ किया है, इसको हम पर्याप्त आधारों से सिद्ध कर सकते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि सारा **श्लोक-संग्रह** अपने उपलब्ध अंश के समान ही विस्तार से लिखा गया था, तो उसमें २५००० पद्य रहे होंगे, जो एक समुचित संख्या है; उसे हम अत्यधिक कहें यह आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर, **कथासरित्सागर** के साथ प्रकृत ग्रन्थ के संबद्ध अंशों की तुलना से प्रतीत होता है कि नरवाहनदत्त के साथ घनिष्ठ संबन्ध रखने वाले वर्णन के आवश्यक भागों में यह **श्लोक-संग्रह** की अपेक्षा कहीं अधिक संक्षिप्त है। इसलिए युक्ति-पुरस्सर यह कहा जा सकता है कि कश्मीरी रूपान्तरों में अधिक नया विषय जोड़ दिया गया है; विशेषकर उन घटनाओं को जिनका मुख्य कथा से केवल नाममात्र का सम्बन्ध है हम नवीन जोड़ा हुआ अंश कह सकते हैं। इस धारणा में इस बात से पुष्टि मिलती है कि मदनमञ्जुका के चरित्र का तथा नरवाहनदत्त के साथ उसके संबन्ध का वर्णन

श्लोक-संग्रह में कहीं अधिक सुसंगत ढंग से किया गया है। कश्मीरी रूपान्तरों में उसका और उसकी माता का भी सम्बन्ध मदनवेग और कलिङ्गदत्त नाम के राजाओं से दिखलाया गया है। यह इस उद्देश्य से किया गया है कि वेश्या-जाति की स्त्री के साथ एक राजा के विवाह को देख कर होने वाली पीड़ा हमको न हो। गन्धर्वदत्ता और उसके व्यापारी पिता का मध्यवर्गीय स्वरूप भी कश्मीरी रूपान्तर में इसी तरह कुछ दबा कर दिखलाया गया है, उनमें अजिनावती को रख लिया गया है, क्योंकि वह एक राजकुमारी थी, परन्तु प्रियदर्शना को छोड़ दिया गया है क्योंकि वह मध्यम-वर्ग की थी। श्लोक-संग्रह में दिए हुए विस्तृत अंशों से कश्मीरी रूपान्तर की अस्पष्टताएं समझ में आ जाती हैं और असंगत प्रसंगों का अभिप्राय पर्याप्त रूप से ज्ञात हो जाता है। दूसरी ओर, हम यह कह सकते हैं कि, यद्यपि बुधस्वामी ने अपने ग्रन्थ में नरवाहनदत्त के वृत्तान्तों को ही देना पसन्द किया, वे यह मान कर ही आगे चलते हैं कि हम उदयन की कथा से परिचित हैं और यह भी कि मूल बृहत्कथा में भी इसको निस्सन्देह मान लिया गया था। प्रासंगिक उपकथाओं की न्यूनता के आधार पर हम औचित्य के साथ कह सकते हैं कि मूल में भी वे अत्यधिक नहीं थीं; यद्यपि इस बात पर बल नहीं दिया जा सकता।

निस्संदेह रूप से अपनी कला के लिए बुधस्वामी प्रशंसा के योग्य हैं। वे गुणाढ्य के ऋणी हैं—ऐसा मान लेने पर भी, जीवन के प्रति उनकी उल्लासपूर्ण दृष्टि, उनके द्वारा साहस और अद्भुत कार्यों का विचित्र चित्रण, अथवा उनके सुचिन्तित पात्रों का प्रेममय वातावरण और तीव्रता से परिवर्तन-शील उन दृश्यों का नानारूपीय प्रदर्शन जिनका वे पात्र भाग्य अथवा अपने ही कृत्यों के कारण अनुभव करते हैं—इन सबसे प्राप्त होने वाले आनन्द में कोई कमी नहीं आती। इस दृष्टि से कि उपाख्यान की गति में बाधा न पड़े, वे रिवाजू वर्णन के लोभ का संवरण करते हैं, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उसके लिए वे अपने को योग्य समझते थे। वे अपने कला-विषयक प्रावीण्य का प्रदर्शन अंशतः अपने विशाल शब्दकोष द्वारा और अंशतः लुङ्सदृश अप्रयुक्त रूपों के पुनरुद्धार द्वारा करते हैं। उनके विशाल शब्दकोष में अनेक शब्द प्राकृत रूपों के संस्कृतीकरण से लिए गये हैं। ऐसे शब्दों को कभी-कभी निस्संदेह कोषकारों ने भी उनसे लिया है। सामान्यतः उनकी शैली सरल, स्पष्ट और शब्दाडम्बर के बिना प्रवाह-युक्त है। सामान्य रूप से उनमें अलंकारप्रियता प्रायेण नहीं दिखाई देती, परन्तु जो कार्य उन्होंने अपने हाथ में लिया था उसकी विशालता को दृष्टि में रखते हुए उनकी यह कमी बिलकुल क्षम्य मानी जा सकती है।

३. कश्मीरी बृहत्कथा

पहले यह माना जाता था कि **कथासरित्सागर** और **बृहत्कथा-मंजरी**

ये दोनों ग्रन्थ साक्षात् रूप से बृहत्कथा से लिये गये हैं। परन्तु उपर्युक्त श्लोक-संग्रह के मिल जाने के बाद अब ऐसा नहीं माना जा सकता[1]। नेपाली शाखा के विरुद्ध कश्मीरी संस्करणों की परस्पर इतनी समानता है कि हमको मानना पड़ता है कि ये दोनों मूल बृहत्कथा के अतिरिक्त किसी अन्य सामान्य स्रोत से लिये गये हैं। बृहत्कथा के इस रूप का समय निर्धारण करना स्पष्टतः असंभव है; केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह १००० ई० से बहुत पहले है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका रचयिता कौन था, अथवा किस प्रकार उस कृति को वह रूप मिला था। यदि वह कथा विशेष रूप से आकर्षक समझी जाती थी तब तो यही माना जा सकता है कि बराबर परिवर्तन होते होते वह उस रूप में आई होगी। यही अनुमान किया जा सकता है कि वह कृति अपने अन्तिम रूप में मुख्यतया दो प्रकार से आई होगी। प्रथम तो यह कि नरवाहनदत्त के उपाख्यान का सारांश, उसकी उत्पत्ति के वृत्तान्त के साथ, गुणाढ्य की मूल कृति से पृथक् किया जाकर संक्षिप्त कर लिया गया होगा। दूसरे यह कि तदनन्तर कश्मीर के लोकप्रिय विभिन्न बृहत् उपाख्यानों को यथासंभव सावधानी से समाविष्ट करके उस सारांश को बढ़ाया गया होगा। इस प्रकार वह नवीन कृति मूल बृहत्कथा से मूलरूप में विभिन्न हो गयी, क्योंकि उसमें नरवाहनदत्त के वृत्तान्त को जो कि बृहत्कथा का मूल विषय था गौण स्थान प्राप्त हो गया था और प्रासंगिक उपकथाओं का महत्त्व प्रधान हो गया था। उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर उन नवीन बढ़ाए गये अंशों को बतलाना असंभव है[2]; संपूर्ण श्लोक-संग्रह के न मिलने से इस सम्बन्ध में जो आवश्यक परीक्षण हम कर सकते थे उससे हम वंचित हैं। तब भी युक्ति-पुरस्सर ऐसा माना जा सकता है कि उन परिवर्द्धित अंशों में पंचतन्त्र और वेतालपंचविंशतिका इन दोनों के रूप संमिलित थे। ये अंश क्षेमेन्द्र और सोमदेव दोनों में पाये जाते हैं और नरवाहनदत्त के उपाख्यान से उनका स्पष्टतः कोई वास्तविक या मौलिक सम्बन्ध नहीं है।

उपर्युक्त नवीन बृहत्कथा के स्वरूप और भाषा के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निश्चय करना संभव नहीं है। यह संभव है कि हेमचन्द्र द्वारा दिये गये पैशाची शब्द-रूपों के उल्लेख और उद्धरण इस कश्मीरी ग्रन्थ से लिये गये हों। यदि ऐसा है तो उनसे प्रतीत होगा कि उक्त कृति की परम्परा पैशाची भाषा के किसी रूप में ही चल रही थी। इस प्रकार की प्रवृत्ति में कोई असंभाव्यता नहीं है। एक बार प्रयोग में आ जाने वाली स्थानीय बोली के लिए भविष्य में किसी विशेष ग्रन्थ में प्रयुक्त होते रहना जब कि उस ग्रन्थ के मूलरूप में परिवर्तन किया जा चुका है

१. यद्यपि *De legende van Jimūtavāhana* (1914), pp. 85 ff. में F.D.K. Bosch का ऐसा मत नहीं है।

२. संभवतः सुबन्धु विक्रमादित्य के उपाख्यानों से परिचित थे (नु० वासवदत्ता, p. 110)।

कोई असाधारण बात नहीं है। भाषा में परिवर्तन किया गया था, इस विषय में सोमदेव का पूर्णतया स्पष्ट कथन विद्यमान है। इसका अभिप्राय भाषान्तर से ही हो सकता है। यदि मूलग्रन्थ संस्कृत में होता, तो उस दशा में क्षेमेन्द्र और सोमदेव दोनों पर उसका ऐसा प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता जिससे उनके ग्रन्थों में प्रायेण शाब्दिक समानताएँ पाई जातीं; पर ऐसी बात नहीं है। दोनों में जो समानताएँ पाई जाती हैं, जैसी कि उदाहरणार्थ **पञ्चतन्त्र** की कथाओं में, उनकी सरलता से इस आधार पर व्याख्या की जा सकती है कि दोनों ग्रन्थकारों ने जिस ग्रन्थ का उपयोग किया था वह ऐसी बोली में था जिसका साधारण प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत से अधिकतर संवद्ध होना सब स्वीकार करते हैं। प्राकृत भाषाओं की आपेक्षिक स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली एक सूची में संस्कृत के अनन्तर सम्मान का पद पैशाची को ही दिया गया है।

४. क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी

भारतमंजरी और **रामायणमंजरी** के समान क्षेमेन्द्र की **बृहत्कथा-मंजरी**[1] भी संभवतः उनके यौवनकाल की रचना है। इनकी रचना कदाचित् उन्होंने अपने ही इस सिद्धान्त के अनुसार की थी कि जो कवि बनना चाहता है उसे पहले रचना का इसी प्रकार अभ्यास करना चाहिए। इन संक्षेपों का स्वरूप सुविदित है। वे शुष्क और गम्भीर हैं। मूलार्थ की रक्षा करते हुए भी वे मूल के अंशों को बहुत अधिक छोड़ देते हैं और उसमें इतनी काट-छांट कर देते हैं कि वह अस्पष्ट हो जाता है और उसमें स्वयं सजीवता और आकर्षण नहीं रहने पाते। क्षेमेन्द्र, अपने संक्षेपों में रोचकता लाने के प्रयत्न के स्थान में, अपनी रचनाओं की रूक्षता को दूर करने की दृष्टि से बीच-बीच में सुन्दर वर्णनों का समावेश करना पर्याप्त समझते हैं। परन्तु इन वर्णनों का कोई महत्त्व नहीं है। इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध न हो कर केवल ग्रन्थों का आकार बढ़ जाता है। **रामायण** और **महाभारत** के साथ उनके संक्षेपों की यथार्थता को देखते हुए हम कारण-पुरस्सर ऐसा मान सकते हैं कि कश्मीरी बृहत्कथा के विषय का उनके द्वारा किया गया प्रतिपादन वास्तविकता को लिये हुए है।

कथासरित्सागर और **बृहत्कथामंजरी** की पारस्परिक संगति से प्रतीत होता है कि उनका मूल भी मुख्य विभागों के रूप में अठारह लम्भकों में विभक्त था, और ऐसी कल्पना समुचित प्रतीत होती है कि 'लम्भक' शब्द का संवन्ध नायक की विजयों से है, क्योंकि प्रत्येक लम्भक में नायक की किसी न किसी कार्यसिद्धि का वर्णन किया गया है। जैसा कि दोनों स्रोतों में हम पाते हैं, **बृहत्कथामंजरी** का

१. Ed. KM. 69, 1901. Cf. Bühler, IA. i. 302 ff. ; Lèvi, JA. 1885, ii. 397 ff. ; 1886, i. 216 ff. ; Speyer, *Studies about the Kathāsaritsāgara*, pp. 9 ff.

प्रारम्भ कथापीठ से होता है, जिसमें ऊपर उल्लिखित गुणाढ्य के उपाख्यान की भूमिका दी गई है। द्वितीय लम्भक में उदयन के वृत्तान्त के रूप में कथा का आधार दिया गया है। वही वृत्तान्त पद्मावती की प्राप्ति तक तृतीय लम्भक में चला गया है। इस लम्भक का नाम लावानक उस स्थान से लिया गया है जहां प्रथम महिषी वासवदत्ता की मृत्यु हो जाने का समाचार मिला था। दूसरे विवाहों की यह आवश्यक अवतरणिका है। चतुर्थ लम्भक में कथा-नायक नरवाहनदत्त के, जो आगे चल कर विद्याधरों का सम्राट् होने को है, जन्म का वर्णन है, चतुर्द्वारिका नाम के अगले लम्भक में केवल प्रासंगिक उपकथा दी गई है। शक्तिवेग-नामक विद्याधर भावी सम्राट् से मिलने को आता है और उसे अपना हाल सुनाता है कि वह स्वयं विद्याधरों की अद्भुत नगरी में कैसे पहुँचा और वहाँ चार सुन्दर कुमारियों को उसने कैसे पाया। लम्भक का नाम उन्हीं कुमारियों से लिया गया है। इस स्थान से क्षेमेन्द्र और सोमदेव में महत्त्व का भेद शुरू हो जाता है। क्षेमेन्द्र सूर्यप्रभ के उपाख्यान का वर्णन इसी लम्भक (लम्भक ६) में देते हैं। इस विचित्र और उल्लेखनीय कथा में वतलाया गया है कि वह नायक, अपने शत्रु श्रुतशर्मा के विरुद्ध घोर संघर्ष के अनन्तर, एक राजा के पद से उन्नत हो कर किस प्रकार सम्राट् बन गया; जबकि स्वयं शिव के साक्षात् हस्तक्षेप के फलस्वरूप श्रुतशर्मा को एक छोटे से राज्य से अपने को संतुष्ट करना पड़ा। इस कथा की विशेषता इसमें उपलब्ध वैदिक तथा पौराणिक काव्यों के विश्वासों पर आधारित पौराणिक कथा, वौद्ध उपाख्यानों और लोक प्रचलित कहानियों के स्पष्ट संमिश्रण में है। परन्तु क्षेमेन्द्र के हाथों में अत्यधिक संक्षेप के कारण इसका स्वरूप वहुत-कुछ नष्ट हो गया है। यह स्पष्ट है कि ये दोनों लम्भक, यद्यपि उनका सम्बन्ध प्रासङ्गिक उपकथा से है, परस्पर और समस्त ग्रन्थ के साथ भी संगति रखते हैं; वे विद्याधरों के साम्राज्य के लिए इच्छुक अन्य व्यक्तियों के जीवनवृत्त का वर्णन करते हैं। सातवें लम्भक में कुछ अधिक स्पष्टता के साथ हम मुख्य कथा की ओर लौट आते हैं। कलिङ्ग सेना के पिता, कलिङ्गदत्त, का लम्बा वृत्त ही इस लम्भक का सारांश है। इस वर्णन का उद्देश्य केवल यही दिखाना है कि उसकी पुत्री का सम्बन्ध एक राजवंश से था। वह उदयन से विवाह करना चाहती है और उदयन भी प्रसन्नतापूर्वक उससे विवाह करने को तैयार है, परन्तु यौगन्धरायण इस संबन्ध का विरोध करता है। उसको डर है कि कहीं उदयन उसमें अत्यन्त अनुरक्त होकर अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा न कर दे। उसका यह विचार उपहासास्पद ही था, क्योंकि वह पहले ही उदयन के दो विवाहों को करा चुका था। निस्सन्देह कथा के और भी अधिक मौलिक रूप में यौगन्धरायण की आपत्ति का कारण कलिङ्ग-सेना का वेश्यापना था। अन्ततोगत्वा उदयन उक्त प्रस्ताव को छोड़ देने के लिए राज़ी कर लिया जाता है, परन्तु वह उसकी पुत्री को नरवाहनदत्त के साथ विवाह

करने देने का निश्चय कर लेता है और इस लम्भक की कथा उसके द्वारा सविधि विवाह की स्वीकृति देने तक चलती है। आठवाँ लम्भक बहुत छोटा है और उसकी संज्ञा, वेला, उस पात्र के नाम के आधार पर है, स्वयं जिसके और उसके पति के के सम्बन्ध में, प्रासंगिक उपकथा के रूप में, एक उपाख्यान कहा गया है। उपाख्यान का अन्त इस आवश्यक कथन के साथ होता है कि मानसवेग-नामक विद्याधर द्वारा मदनमञ्चुका का अपहरण कर लिया गया है। राजकुमार का सारा आनन्द नष्ट हो जाता है, परन्तु अपनी प्रणयिनी के साथ पुर्नमिलन से पहले उसे चार लम्भकों (९–१२) की प्रासङ्गिक उपकथाओं का नायक होना है। नवें लम्भक में निद्रा में उसका अपहरण किया जाता है और अन्त में ललितलोचना-नामक विद्याधर युवती के साथ उसका विवाह हो जाता है। उसके साथ वह मलय पर्वत पर कुछ समय तक रहता है, परन्तु साथ ही मदनमञ्जुका के प्रति उत्कण्ठा के कारण उदास रहता है। ललितलोचना तिरोहित हो जाती है, परन्तु एक संन्यासी, पिशङ्गजट, अयोध्या के एक राजकुमार, मृगांकदत्त, की कथा कहकर उसे आश्वासन देता है, जिस राजकुमार ने अपने शत्रु, उज्जैन के राजा कर्मसेन की पुत्री, शशांकवती से विवाह किया था। इस (९) लम्भक का नाम उसी से लिया गया ह। इसके अनन्तर कण्व उसको आश्वासन देता है। इसके लिए सम्राट् विक्रमादित्य के उपाख्यानों की एक लंबी परम्परा वर्णित की गई है, यद्यपि यह बात सोची भी नहीं जा सकती कि स्वयं गुणाढ्य इस प्रकार की एक काल की घटना को कालान्तर में आरोपित करने की स्पष्ट भ्रान्त प्रवृत्ति का दोषी हो सकता था। इस लंभक (१०) का नाम है **विषमशील**। **मदिरावती**-नामक ग्यारहवें लंभक में दो ब्राह्मणों की कथा द्वारा, जो पुरुषकार से भाग्य के निर्णय को चुनौती देने में और अपने अभिलषित की प्राप्ति में सफल हुए थे, राजकुमार को दृढ़ रहने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। अन्त में वह खोई गई ललितलोचना को, जिसके लिए आपाततः वह अधिक शोकातुर नहीं था, पा लेता है। साथ ही दूसरी उपकथा वर्णित की गई है: गोमुख सम्राट् मुक्ताफलकेतु और उसकी प्रिया पद्मावती की कथा सुनाता है। लम्भक (१२) का नाम उस पद्मावती से ही लिया गया है।

इस लम्बे अवान्तर उपकथा-प्रसंग के अनन्तर तेरहवें लम्भक में मुख्य कथा की गति फिर प्रारम्भ कर दी जाती है। इसका नाम 'पंच' इसलिए है क्योंकि इसमें राजकुमार पाँच विद्याधर कुमारियों को, जो उसके साथ विवाह करने को दृढ़ हैं, नवीन वधुओं के रूप में प्राप्त करता है। परन्तु इस लम्भक का मुख्य लक्ष्य मदनमञ्चुका को पाने का प्रयत्न ही है। प्रभावती नाम की एक विद्याधरी की सहायता से, उससे दिये हुए स्त्री के रूप में, राजकुमार उसके अवरोध-स्थान में प्रवेश पा जाता है; परन्तु प्रभावती को स्वयं उस रूप के धारण करने की आवश्यकता

होने से वह सहसा पहचान लिया जाता है और मानसवेग विद्याधरों के न्यायालय में उस पर विचार करवाता है, परन्तु उसके पक्ष में उनके निर्णय को वह स्वीकार नहीं करता है। प्रभावती उसे विद्याधरों से दूर अन्यत्र सुरक्षित स्थान में ले जाती है। अन्त में वह कौशाम्बी पहुँच जाता है, और अनेकानेक विद्याधर उसके शत्रुओं पर आक्रमणार्थ उससे आकर मिल जाते हैं। बड़े प्रयत्नों के अनन्तर वह शिव को प्रसन्न कर लेता है, और एक बड़े संग्राम में द्वन्द्व-युद्ध द्वारा गौरीमुण्ड और मानसवेग का वध करता है। वह कैलास के उत्तर में अपने अवशिष्ट शत्रु मन्दरदेव पर आक्रमण करने की तैयारी करता है, और पांच कुमारियों के साथ, जो उसका प्रेम चाहती हैं, विवाह कर लेता है। इसके अनन्तर उसे स्पष्टतया मन्दरदेव पर आक्रमण करना चाहिए, जैसा कि **कथासरित्सागर** में है; परन्तु उसके स्थान में यहाँ प्रासङ्गिक उपकथाओं की एक लम्बी परम्परा आ जाती है, जो निस्संदेह यहाँ कश्मीरी **बृहत्कथा** में निविष्ट कर दी गयी थी। चौदहवें लम्भक में वह रत्नप्रभा के साथ विवाह करता है। लंभक का नाम भी उसी पर रखा गया है। तदनन्तर वह कर्पूरभूमि की महत्त्वयुक्त यात्रा करता है, और वहाँ से उस प्रकार के एक वायुयान द्वारा लौटता है जिस प्रकार के वायुयानों के निर्माण में यवन तथा ग्रीक लोग निष्णात थे। पंद्रहवें लम्भक में इसी वृत्तान्त की एक तरह से पुनरावृत्ति है; वह अलंकारवती से विवाह करता है, और एक श्वेतद्वीप[1] की यात्रा के लिए प्रस्थान करता है जहाँ वह अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य-शैली में विरचित एक परिष्कृत प्रार्थना द्वारा नारायण की पूजा करता है। **महाभारत** के उस प्रसिद्ध उपाख्यान के साथ जिसमें महात्मागण श्वेतद्वीप में जा कर एक अद्भुत देवता की पूजा में भाग लेते हैं—ऐसा समझा जाता है कि यह नेस्टोरियन पूजा-पद्धति (Nestorian rites) के अथवा अलैग्ज़ेंड्रिया से संबद्ध ईसाइयत के भी साक्षात् अनुभव का एक निर्देश है—उक्त वृत्तान्त की पूर्ण समानान्तरता अथवा सादृश्य है। इससे इस बात का अति सबल संकेत मिलता है कि कश्मीरी अथवा मूल **बृहत्कथा** ने इस उपाख्यान को उपलब्ध **महाभारत** से लिया था। अगला लंभक (१६) कहीं अधिक साधारण है। इसमें राजकुमार को शक्तियशस् नामक पत्नी की प्राप्ति होती है, और कुछ अप्रधान उपाख्यान भी इसमें दिये हुए हैं। सत्तरहवें लम्भक में विछिन्न कथासूत्र को पुनः ले लिया जाता है। मन्दरदेव पर आक्रमण कर सकने से पहले नरवाहनदत्त को मलय पर्वत पर रहनेवाले वामदेव ऋषि से राज्यसत्ता के चिह्न-भूत सात रत्नों को अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। तब वह एक बड़ी सुरङ्ग में होकर उत्तर में पहुँचता है, और अपने ही सिर की भेंट से बाहर जाने के मार्ग की रक्षक

१. Cf. W.E, Clark, JAOS. xxxix. 209-42; Garbe, *Indien and das Christentum*, pp. 193 ff.; Grierson, I A. xxxvii, 251 ff., 373 ff.

भयङ्कर कालरात्रि को मार्ग देने के लिए मना लेता है। मन्दर देव मारा जाता है, और पाँच अन्य कुमारियों से वह विवाह करता है—जो कि ग्यारहवें लम्भक के 'अभिप्राय' (motif) की पुनरावृत्ति है। तब उसका महाभिषेक, जिससे इस लंभक का नाम लिया गया है, यथाविधि संपादित होता है। इस अवसर पर अपने पिता की उपस्थिति के लिए सम्राट् का आग्रह रहता है। वास्तविक ग्रन्थ यहाँ समाप्त हो जाता है, परन्तु एक और लंभक (१८) की भी आवश्यकता है, जो नितरां असुविधाजनक है। इसकी संज्ञा सुरतमंजरी है। इसमें बतलाया गया है कि प्रद्योत और उदयन की मृत्यु के अनन्तर, गोपाल और पालक ने किस प्रकार उज्जैन के राज्य पर अपने अधिकार को छोड़ दिया, किस प्रकार अवन्तिवर्धन ने नायिका (सुरतमंजरी) से विवाह किया, और किस प्रकार एक ईर्ष्यालु विद्याधर से सम्राट् ने उन दोनों की रक्षा की। उक्त कथा की स्थिति बेढंगी है और उनके जोड़ने का कारण केवल प्रथम लंभक की वर्तमानता है, जिसमें गुणाढ्य द्वारा उपाख्यान के कहने का वर्णन दिया गया है। मूल-ग्रन्थ में, जैसा कि नेपाली संस्करण से प्रतीत होता है, सुरतमंजरी की कथा के आधार पर नरवाहनदत्त अपने वृत्तान्त के कथन में प्रवृत्त हुआ था। परन्तु इसका प्रथम लंभक के कथन से विरोध होता। इसलिए प्राचीन मुखबन्ध को एक परिशिष्ट में डाल दिया गया। इस दृष्टि की पुष्टि इस बात से होती है कि सोमदेव अपनी पुस्तक के छठे लंभक में स्पष्टतया कहते हैं कि नरवाहनदत्त स्वयं अपने वृत्तान्त को प्रथम पुरुष में कह रहा है। इससे प्रतीत होता है कि सोमदेव को ज्ञात था कि मूल में सुरतमंजरी की कथा ग्रन्थ के प्रारम्भ में रखी हुई थी। अपने तदनुवर्ती मदनमंचुका लंभक (७) में क्षेमेन्द्र इस विषय पर कुछ नहीं कहते, परन्तु वे उक्त तथ्य को अपने ग्रन्थ के उपसंहार में प्रकट कर देते हैं, क्योंकि वहां वे, प्रथम बार, बतलाते हैं कि ऐसा माना जाता है कि उक्त ग्रन्थ को नरवाहनदत्त ने कश्यप मुनि से उनकी यात्रा में कहा था।

दो अन्य बातों से भी, तत्काल, मूल कश्मीरी संस्करण का दोष सामने आ जाता है। 'वेला' (८) के अन्त और 'पंच' (१३) के प्रारम्भ के मध्य में कथा-विच्छेद खेदजनक है; परन्तु उसकी कठोरता कुछ अंशो तक इससे छिप जाती है कि बीच के लंभकों में राजकुमार की संकटापन्न स्थिति को माना गया है और साथ ही अपनी प्रिया के अनुसंधान के दिनों में उसको आश्वासन देने का प्रयत्न भी किया गया है। स्पष्टतः इसी रूप में, जो अत्यधिक भद्दा नहीं था, कश्मीरी संस्करण के संग्रहकर्ता नूतन बाह्य विषय का ग्रन्थ में समावेश करने की आशा करते थे, और एक अर्थ में वे इस कार्य में सफल भी हुए। यही बात 'पंच' और सफलता तथा राज्याभिषेक के लम्भक के मध्य में चौदहवें, पंन्द्रहवें और सोलहवें लंभकों के अन्तर्निवेश के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। यहाँ का कथा-विच्छेद हास्यास्पद है; 'पञ्च'

के अन्त में नरवाहनदत्तको विद्याधरों की अधिक संख्या द्वारा अपने अधिपति के रूप में स्वीकृत हुआ दिखलाया गया है, परन्तु उसे तब भी मन्दरदेव का दमन करना है। ऐसी स्थिति में भी अगले तीन लंभकों में उसका एक पितृ-गेह-निवासी ऐसे राजकुमार के रूप में वर्णन किया गया है जिसे न तो अपने महान् साहसिक वृत्तान्तों की, और न विधाधरों के देश में अपनी सम्राट्-सरीखी महत्ता की कुछ चेतना है। स्पष्टतया संग्रहकर्ता में यहाँ एक साधारण कथान्तरण करने का भी कौशल नहीं था, और क्षेमेन्द्र ने उसकी असंवद्धता का ज्यों का त्यों अनुसरण किया। मूल बृहत्कथा में यह अतिरिक्त विषय कभी नहीं था, इसके पक्ष में यह निश्चायक साक्ष्य है; कोई भी ग्रन्थकार इस प्रकार की गड़बड़ी अपने ग्रन्थ में नहीं आने देगा, जब कि विभिन्न उपाख्यान-चक्रों को एकत्र करने के लिए इच्छुक कोई भी संग्रहकर्ता उस गड़वड़ी को सरलता से कर सकता है।

५. सोमदेव का कथासरित्सागर

कथासरित्सागर[१] को कश्मीर के एक ब्राह्मण, राम के पुत्र, सोमदेव ने जलन्धर की एक रानी, अनन्त की पत्नी और कलश की माता, सूर्यमती के शोकाकुल चित्त को बहलाने के उद्देश्य से १०६३ और १०८१ के बीच में लिखा था। इसलिए उनके ग्रन्थ का समय क्षेमेन्द्र के समय के कई वर्षों के पीछे आता है। लम्भकों के साथ-साथ, सोमदेव ने उसे १२४ तरंगों में भी विभक्त किया है। तरंगों का विभाग स्पष्टतः ग्रन्थ के नाम के आधार पर है। ग्रन्थ-नाम का स्वाभाविक अर्थ है 'कथाओं की नदियों का सागर' न कि '(बृहत्)' कथा, (कथाओं की) नदियों का सागर, जैसा कि लाकोत (Lacôte) का मत है। परन्तु ये विभाग मौलिक नहीं हैं। क्षेमेन्द्र ने भी कुछ बड़े लम्भकों का उपविभागों में बांटा है, जिनको वे, पुरानी पद्धति के अनुसार, गुच्छ कहते हैं। अपने इतिहास का नाम '(राजतरंगिणी) चुनने में कल्हण पर स्पष्टतः सोमदेव का प्रभाव था।

सोमदेव अपने उद्देश्य के कथन द्वारा अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हैं। इस प्रसंग में उनका निम्नस्थ पद्य कष्टकर रहा है, और हाल (Hall), लेवि (Lévi), टानी (Tawney), स्पेयर, (Speyer), और लाकोत (Lacôte) उसका अनुवाद भिन्न भिन्न करते हैं :

औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना॥

इस पद्य का अर्थ मुझे तो स्पष्ट प्रतीत होता है : 'साहित्यिक औचित्य

---

[१] Ed. Durgāprasād, NSP. 1903; trans. C. H. Tawney, BI. 1880-4. Cf. J. S. Speyer, *Studies about the Kathāsaritsāgara* (1908).

और प्रतिपाद्यार्थों के सम्बन्ध की रक्षा तथा कथा के रस के (अथवा कथा और उसके रस के) अविघात की दृष्टि से काव्य के अंश की योजना यथाशक्ति की गयी है।' ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ इस बात की ओर संकेत है कि **कथासरित्सागर** में मूलग्रन्थ के कथाक्रम में परिवर्तन किया गया है और इस परिवर्तन का अभिप्राय कथा के रस की रक्षा करना है । यह बात ग्रन्थ के क्रम की वस्तु-स्थिति के बिलकुल अनुकूल है। पहले पाँच लम्भकों में कोई परिवर्तन नहीं है। शेष लम्भकों में सोमदेव पर काव्य के प्रभाव की रक्षा करने की अभिलाषा की प्रधानता थी। स्पष्टतया इसी कारण ने सोमदेव को **पंच** और **महाभिषेक** नामक लम्भकों के मध्य की खाई को दूर करने के लिए विवश किया। उनके ग्रन्थ में उक्त दोनों लंभकों का संक्रमण निर्दोष है। **पंच** नामक लम्भक का अन्त राजकुमार के इस निर्णय से होता है कि उसे एक भावी सम्राट् के राज्याभिषेक के लिए आवश्यक रत्नों को प्राप्त करना है। अगले लंभक में यह प्रस्ताव आगे बढ़ता है; यह कुछ ऐसे आकस्मिक ढंग से होता है जिसे सोमदेव बिलकुल मिटा नहीं सके हैं। परन्तु इससे सोमदेव **रत्नप्रभा**, **अलंकारवती** और **शक्तियशस्** नामक तीन लम्भकों को यथास्थान रख सके। साथ ही इससे काव्य के प्रारम्भिक भाग में, इस दृष्टि से कि वह अत्यधिक भारी न हो जावे, पूर्णतः आमूल परिवर्तन भी स्पष्टतः आवश्यक हो गया। इसके लिए जिस समाधान का आश्रय लिया गया वह इन तीन लम्भकों को, जिनका सम्बन्ध राजकुमार के सम्राट् होने से पहले के वृत्तान्तों से है, **पञ्च** नामक लम्भक से प्रथम रखने में, तथा **पद्मावती** और **विषमशील** नामक दो लम्भकों को, जिनका संबन्ध नायक से न होकर केवल उन कथाओं से था जो उसको सुनाई गई थीं और इसी कारण जिनको औचित्य के साथ एक परिशिष्ट के रूप में रखा जा सकता था, ग्रन्थ के प्रारम्भिक विषय से हटा देने में था। **पञ्च** नामक लंभक से पहले आने वाले विषय का क्रम कलापूर्ण ढंग से रखा गया है, क्योंकि उसमें मुख्यतया प्रासंगिक उपकथाओं से संबन्ध रखने वाले लम्भकों को नायक के, आकस्मिक होते हुए भी, महत्त्वयुक्त कार्यों को देने वाले लम्भकों के बीच बीच में रखने का प्रयत्न किया गया है। जैसे कि पाँचवें लम्भक के अनन्तर, जिसका संबन्ध प्रासंगिक कथाओं से है, **मदनमञ्चुका** (६) नामक महत्त्व का लम्भक दिया गया है। इसके अनन्तर **रत्नप्रभा** (७) है। **अलंकारवती** (९) से पहले आने वाला लम्भक **'सूर्यप्रभ'** (८) मूलतः केवल उपकथाओं से सम्बन्ध रखता ह। आकस्मिक कथाओं से संबद्ध **शक्तियशस्** (१०) सहज ही **अलंकारवती** के अनंतर आता है। तदनन्तर **वेला** (११), **शशाङ्कवती** (१२), **मदिरावती** (१३), और पूर्णतः महत्त्वयुक्त **पंच** तथा **महाभिषेक** (१४ और १५) आते हैं। तदनन्तर, परिशिष्ट रूप में, **सुरतमंजरी**, **पद्मावती**, और **विषमशील** (१६–१८) दिये हुए हैं। एक लम्भक के वास्तविक विषय में एक

परिवर्तन आवश्यक था। क्षेमेन्द्र में और संभवतः मूलग्रन्थ में भी वेला का संबन्ध केवल प्रासंगिक उपकथाओं से ही नहीं था; उसके अन्त में मदनमंचुका के तिरोहित होने का आवश्यक अंश सम्मिलित था। उसी के आधार पर हम अगले लम्भकों में सूचित राजा के शोक को समझ सकते हैं। परन्तु इस प्रकार का वर्णन रत्नप्रभा, अलंकारवती, और **शक्तियशस्** इन लम्भकों के संबन्ध में सोमदेव की योजना से मेल नहीं खाता था, और इसी कारण उक्त आवश्यक अंश को हटा देना पड़ा; तो भी सोमदेव के लिए अपने क्रम में पंच से पहले के लम्भकों में मदनमंचुका के पहले से ही तिरोहित हो जाने के यत्र-तत्र चिह्नों को हटा देना संभव नहीं था।

हम तत्काल मान ले सकते हैं कि अपने प्रयत्नों के करने पर भी सोमदेव एक सुसंघटित ग्रन्थ की रचना में सफल नहीं हुए हैं। परन्तु **कथासरित्सागर** के उत्कर्ष का आधार उसकी संघटना पर नहीं है। उसका आधार इस ठोस वस्तु-स्थिति पर है कि सोमदेव ने, सरल और अकृत्रिम होते हुए भी, एक आकर्षक और सुन्दर रूप में ऐसी कथाओं की एक बड़ी भारी संख्या को प्रस्तुत किया है जो नितरां विभिन्न रूपों में—मनोविनोदी अथवा भयानक अथवा प्रेम-संबन्धी अथवा समुद्र और स्थल के अद्‌भुत दृश्यों के प्रति हमारे अनुराग के लिए आकर्षक, अथवा बाल्यकाल से परिचित कहानियों के सादृश्यों को देने वाले रूपों में—हमारे लिए रुचिकर हैं। क्षेमेन्द्र के उदाहरण से स्पष्ट है कि अत्यधिक संक्षेप तथा अस्पष्टता के कारण कहानियों का सारा आकर्षण और रोचकता नष्ट हो जाती है। इसके विपरीत, सोमदेव में हम देखते हैं कि सावधानता से अभीष्ट अर्थ का पूरा प्रकाशन, पाठक को श्रान्त किये बिना, किया जा सकता है। **कथासरित्सागर** की **पञ्चतन्त्र** से रूपान्तरित कथाओं में बिखरी हुई मूर्खों की कथाएँ हमको मिलती हैं, जो पुरानी होते हुए भी मन बहलाने वाली हैं। परन्तु क्षेमेन्द्र ने उनको पञ्चतन्त्र के अनुसार एक साथ ही कर दिया है। संयोगवश यह सिद्ध हो गया है कि इनमें से कम से कम आधी कहानियाँ ४५० ई० से पूर्व बने हुए एक ऐसे संग्रह से ली गई हैं, जिसका उपयोग आर्यसंघसेन नाम के एक भिक्षु ने एक ग्रन्थ में किया था और जिसका चीनी में भाषान्तर उसके शिष्य गुणवृद्धि ने ४९२[1] में किया था। हम फिर से उन मूर्ख नौकरों के संबन्ध में सुनते हैं जो नवीन पेटियों के चमड़े की रक्षा के लिए कहे जाने पर उनके अन्दर रखे हुए वस्त्रों को बाहर निकाल देते हैं और इस प्रकार वर्षा से उन पेटियों की रक्षा करते हैं। उस मूर्ख की कहानी भी दी हुई है जो आग्रह-पूर्वक कहता है कि उसके पिता का संबन्ध कभी किसी स्त्री से नहीं हुआ था और इसीलिए उसे अपने पिता का मानस-पुत्र होना चाहिए। इसी प्रकार उस आदमी

---

१ Hertel, Ein altindisches Narrenbuch, BSGW. 64, 1912. तु० मूर्ख बन्दरों की कहानी (Jat. 46 तथा एक भरहुत दृश्य, GIL. ii. 108).

की कहानी है जिसको सात रोटियाँ खा कर इसका बड़ा खेद था कि उसने पहले ही सातवीं रोटी खा कर शेष रोटियों को क्यों न बचा लिया। यदि हम युवक हैं तो इन दिल्लगी की बातों पर 'पत्थरों के साथ-साथ'(Laugh with the stones) हँसी का आनन्द ले सकते हैं। अनेक कथाएँ भाग्यशाली धूर्तों की भी हैं; एक धूर्त चतुर है; एक धनी व्यापारी के वेश में उसने राजा से साक्षात्कार करने की प्रार्थना की। उसने राजा से प्रण किया कि प्रतिदिन दर्शन देकर उसे संमानित करने के लिए वह राजा को प्रत्येक बार ५०० दीनारों की भेंट दिया करेगा। राजा मान जाता है। दरबारी लोग यह सोच कर कि उनके प्रभु पर उसका अत्यधिक प्रभाव है उसको रिश्वत देते हैं; यहाँ तक कि उसके पास पाँच करोड़ सोने की मुहरें हो जाती हैं। वह सद्-बुद्धिपूर्वक राजा के साथ उनको बाँट लेता है, साथ ही उस पर अपनी सफल चाल को प्रकट कर देता है। चोर, जुआरी, धूर्त लोगों के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। उनमें चालबाज़ मूलदेव[1] भी संमिलित ह, जो भारतीय साहित्य में एक धूर्तराज का परमादर्श है। परन्तु उसका पुत्र उससे भी अधिक कपटी है। एक दूसरा बदमाश इतना होशियार है कि हम उसके दुष्ट कार्यों को क्षमा कर सकते हैं; मृत्यु के पश्चात् अपने दुष्कर्मों के कारण उसे चिरकाल-पर्यन्त नरक में रहना है, परन्तु एक धार्मिक व्यक्ति को दिये हुए एकमात्र दान के कारण वह एक दिन के लिए इन्द्र के रूप में जीवन का अधिकारी बन जाता है। इस अवसर का लाभ उठा कर वह अपने सब मित्रों को इकट्ठा करता है और उनके साथ भारत के पवित्र स्थानों की यात्रा करता है और इस प्रकार ऐसे पुण्य का अर्जन कर लेता है जिससे इन्द्र बना रहता है। परन्तु फिर भी वह इन्द्रदेव का अपमान करता है। धार्मिक संन्यासियों की भर्त्सना प्रायः और भी अधिक की गई है। उनमें से एक एक सुन्दर लड़की को हथियाने के उद्देश्य से उसके पिता को इतना डरा देता है कि वह उसको एक पेटी में Danaë के समान रखकर अरक्षित छोड़ देता है। संन्यासी भूल से दूसरी पेटी को पा जाता है औंर एक बन्दर द्वारा उसके नाक-कान काट लिय जाते हैं, और उस लड़की का उद्धार एक राजकुमार द्वारा किया जाता है।

कथासरित्सागर में स्त्रियों के संबन्ध में दी हुई कहानियों के बाहुल्य को देखते हुए, जो दुर्भाग्यवश प्रायेण उनके प्रतिकूल हैं, ऐसा लगता है कि कश्मीर-संस्करण के संकलन-कर्ताओं ने किसी ऐसे ग्रन्थ का उपयोग किया था जिसमें केवल स्त्रीविषयक कथाएँ थीं। हत्यारी स्त्रियों का वर्णन हमको मिलता है। उनमें से एक पीटने के बदले में अपने पति का अंग-भंग कर देती है। एक सदा अपने पति के साथ विश्वासघात करती है, परन्तु साथ ही उसकी चिता पर सती हो जाने के लिए आग्रह करती है। एक स्त्री जो दस पतियों से अपना पीछा छुड़ा चुकी थी, आपाततः अपने ही जैसे एक आदमी से मिली जो स्वयं दस स्त्रियों को ठिकाने लगा

१. PAPS. lii (1913).

चुका था। उसने उसको भी हरा दिया। वह इतनी कुख्यात हो गई कि अन्त में उसे संन्यास लेना पड़ा। विभिन्न लोक-कथाओं के 'अभिप्रायों' (motifs) के संस्मरणों से परिपूर्ण उस राजा की कथा है जिसका रुग्ण श्वेत हस्ती केवल एक पतिव्रता स्त्री के स्पर्श से ही अच्छा हो सकता है। राज्य की ८०००० स्त्रियों में से कोई भी इसमें सहायक नहीं होती। अन्त में एक ग़रीब युवती पत्नी सफल होती है। राजा उसकी बहिन से विवाह कर लेता है। उसे एक प्रासाद में बन्द कर देता है। परन्तु वह भी अन्त में विश्वास-घात करती है। परन्तु सोमदेव स्त्रियों के पातिव्रत्य और सत्य व्यवहार की कहानियाँ भी हमें सुनाते हैं। देवस्मिता अपने से अनुचित प्रेम करने को उत्सुक व्यक्तियों को दण्ड देती है; वह उनको गुप्त-मिलन का संकेत देती है, परन्तु केवल उनको अपकीर्त्तित करने के उद्देश्य से। एक भारतीय Philemon और Baukis का चित्र[1] आकर्षक है। अपने पूर्वजन्म की स्थिति की स्मृति को दूसरे से कहने से मृत्यु हो जाती है; तो भी राजा धर्मदत्त और उसकी रानी सहसा उद्‌बुद्ध अपने पूर्व-जन्म की स्मृतियों को परस्पर कह डालने की इच्छा से विवश हो जाते हैं। कथा मनोरञ्जक है; स्त्री एक ब्राह्मण के घर में स्वामिभक्त नौकर थी; उसका पति भी एक वणिक् का विश्वासी अनुजीवी था। वे दोनों ग़रीबी में साथ-साथ रहते थे और देवों, पितरों तथा अतिथियों का भाग उनको दे कर जो कुछ शेष रहता था उसको स्वयं खा लेते थे। दुर्भिक्ष के दिनों में एक ब्राह्मण आता है। जो कुछ उनके पास था पति उसको दे देता है। उसके प्राण उसको छोड़ जाते हैं, क्योंकि उनको इस पर क्रोध था कि उसने अपने प्राणों की अपेक्षा ब्राह्मण को विशिष्ट माना था। उसकी पत्नी मृत्यु में उसका अनुसरण करती है। पवित्र प्रेम के इन संस्मरणों को परस्पर सुना चुकने पर फिर उनकी मृत्यु इसी प्रकार हो जाती है।

सोमदेव का धार्मिक जगत् हमें कश्मीर के लोगों के अन्धविश्वासी स्वभाव का स्मरण दिलाता है; यद्यपि स्वयं सोमदेव का झुकाव कहानियों को बौद्धिक आधार से युक्त बनाने की ओर है, तो भी इसमें संदेह नहीं कि कश्मीरी संस्करण में जो कुछ उक्त दृष्टि से रुचिकर था उसे झटिति संगृहीत कर लिया गया था। शिव और अपने विकराल रूप में पार्वती मुख्य देवता हैं, यद्यपि श्वेतद्वीप की यात्रा के संबंध में नरवाहन की कथा में विष्णु भी आवश्यक रूप से दिखाई देते हैं। नर-बलियों का उल्लेख विशेष रूप से बार-बार आता है। पुलिन्द और भील लोग देवी पर बलि रूप में चढ़ाने के लिए सदा मनुष्यों की खोज में देखे जाते हैं। जीमूतवाहन आत्मबलि देने से प्रथम देवी की पूजा के लिए उद्यत है। जादू-टोना का प्रयोग तो एक सामान्य बात है, और डाइनों के भयानक कृत्यों का तथा उन भयंकर दृश्यों

१. J. S. Speyer, *Die indische Theosophie*, pp. 97.

का, जो प्रत्येक रात्रि को उन स्थानों पर देखने में आते थे जहाँ मुर्दे जलाये जाते हैं अथवा इन श्मशानों में रहने वाले जंगली जानवरों, पक्षियों और पिशाचों के लिए फेंक दिये जाते हैं, अधिक विस्तार दिया गया है। वर्णन की भयानकता में सोमदेव **मालतीमाधव** के रचयिता की बराबरी करते हैं। बौद्ध प्रभाव, क्वाचित्क होते हुए भी, विरल नहीं है; यह ध्यान में रखना चाहिए, जैसा कल्हण से हमें विदित है, कि एक गिरे हुए रूप में बौद्ध धर्म का कश्मीर में प्रबल प्रभाव था। अनेक कथाओं में मनुष्य-जीवन के निर्धारण में पूर्व-जन्म के कर्मों का प्रभाव दिखलाया गया है। एक आख्यान में एक राजकुमार अपनी एक आँख को निकाल फेंकता है क्योंकि स्त्रियाँ उसके सौन्दर्य पर अत्यधिक अनुरक्त थीं; इसमें **मित्तविन्दकजातक** और जीमूतवाहन के आख्यान का सादृश्य है, यद्यपि उसकी बौद्ध-धर्म-मूलकता के संबन्ध में संदेह प्रकट किया गया है।[1] **वेतालपञ्च-विंशतिका** के उपाख्यानों पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। दूसरी ओर, शिव-लिङ्ग तथा मातृकाओं की पूजा का वर्णन प्रायेण मिलता है, और लोक-प्रचलित अंध-विश्वासों का बाहुल्य सर्वत्र दिखाई देता है। देवता-गण और भूत-पिशाचादि खुले रूप में सामान्य मानव-जीवन के संपर्क में आते हैं, आपाततः मनुष्य-रूप-धारी असंख्यात व्यक्ति केवल शाप-वश स्वर्ग से निकाले हुए जीव हैं जो किसी क्रूर अथवा कारुणिक कर्म द्वारा ही अपनी पूर्व स्थिति में पुनः पहुँचाये जा सकते हैं। पोत-भ्रंशों और आन्तर्भौमिक प्रासादों के वर्णनों से युक्त सामुद्रिक यात्राओं की, अथवा कर्पूर-द्वीप जैसे अपरिचित स्थानों में—जहाँ सरलता से राजकुमारियों को पाया जा सकता है—तत्समान ही आश्चर्य-जनक देशाटनों की कहानियों द्वारा विस्मयोत्पादक परिस्थितियों के प्रति औत्सुक्य की प्रवृत्ति का सन्तोष पूर्णतया किया जा सकता है। नरवाहनदत्त के प्रेम-प्रसंगों में कोई आकर्षण नहीं है, क्योंकि उनकी संख्या अत्यधिक है और साथ ही उनमें अवश्यंभाविता भी अतिमात्रा में है—क्योंकि वे सब भाग्य द्वारा पूर्व-निर्धारित हैं, यद्यपि यह बात केवल अन्त में ही कही गई है। परन्तु प्रासङ्गिक कथाओं में अन्य अनेक प्रेमों का वर्णन आता है, और प्रायः एक चित्र अथवा एक स्वप्न के आधार पर ही अस्थायी होते हुए भी प्रगाढ़ प्रेम का सूत्र-पात हो जाता है। साथ ही वेताल-संबन्धी कहानियों, पञ्चतन्त्र, तथा विक्रमादित्य की जीवन-घटनाओं के प्रभावोत्पादक वर्णनों, और 'पद्मावती' नामक कुछ कम रोचक लम्भक के वर्णनों के समावेश से ग्रन्थ में जो रोचकता आ गई है उसकी भी उपेक्षा हम नहीं कर सकते।

सोमदेव की सुरुचि इस बात से स्पष्ट है कि, यद्यपि वे कथा की समाप्ति भिन्न छन्द से करते हैं, उनके २१३८८ पद्यों में से केवल ७६१ पद्य ही अपेक्षाकृत

१. Bosch, De Legende von *Jīmūtavāhana*, pp. viii. 143 ff.

अधिक जटिल छन्दों में हैं। साथ ही, वे शव्दालंकार की प्रवृत्ति के लोभ का संवरण करते हुए अपने को सरल वर्णन के द्रुतगामी सुगम प्रवाह से सन्तुष्ट रखते हैं। छन्दों के नियमों के संवन्ध में साधारण सी उपेक्षा दिखाते हुए वे एक प्रकार की कोमल प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। इससे उनकी रचना में अशुद्धि भी नहीं आती और साथ ही इस प्रकार वे महाकवियों द्वारा कड़ाई के साथ पालन किये गये यति और सन्धि के नियमों के संवन्ध में ऐकान्तिक कठोरता के अनुसरण के पाण्डित्य-प्रदर्शन से भी अपने को वचाते हैं। उनका यह अपह्नव विशेषतः उल्लेखनीय है, क्योंकि प्रयत्नसाध्य जटिल शैली के कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने की योग्यता स्पष्टतः उनमें विद्यमान थी। तो भी, उनके ग्रन्थ में ऐसे अनेकानेक सुन्दर स्थल पाये जाते हैं जिनमें सरलता के साथ-साथ अलंकृति भी देखी जाती है। तथा च समुद्र में तूफ़ान का, संक्षिप्त होते हुए भी, प्रभावयुक्त वर्णन देखिये :

अहो वायुरपूर्वोऽयमित्याश्चर्यवशादिव ।
व्याघूर्णन्ते स्म जलधेस्तटेषु वनराजयः ॥
व्यत्यस्ताश्च मुहुर्वातादधरोत्तरतां ययुः ।
वारिधेर्वारिनिचया भावाः कालक्रमादिव ॥

'अहो यह वायु अपूर्व है, मानो इस आश्चर्य के कारण समुद्र के तटों पर वन-राजियाँ हिलडुल रही थीं ; और वायु के कारण वार-वार इधर-उधर आन्दोलित समुद्र के वारि-समूह, भाग्यक्रम से मनुष्यों की आशाओं के समान (? कालक्रम से सांसारिक पदार्थों के समान), उलट-पुलट हो गये थे।' कुएँ में गिरे हुए राजकुमार की रक्षा करने वाले गन्धर्व के सत्कार्य का उपसंहार एक प्रशंसनीय पद्य में किया गया है :

परार्थफलजन्मानो न स्युर्मार्गद्रुमा इव ।
तपच्छिदो महान्तश्चेज्जीर्णारण्यं जगद् भवेत् ॥

'आतप को दूर करने वाले मार्ग-वृक्षों के समान दूसरों के हित के लिए जन्म लेने वाले यदि महान् पुरुष न हों तो यह संसार जीर्ण अरण्य ही हो जायगा।' शूरसेन की मृत्यु का चित्र अतीव करुणा-जनक है। वह एक राजपूत था। अपनी पत्नी सुषेणा के प्रति उसे प्रेम था, तो भी राजा के आमन्त्रण को उसे मानना पड़ा। पत्नी उसके वचन के अनुसार उसके लौटने की प्रतीक्षा में है, पर वह नहीं लौटता है, और प्रेम के दावानल से मानों भस्म हुए शरीर से उसके प्राण उड़ जाते हैं। इसी बीच में किसी प्रकार अपने स्वामी के पास से उसका पति एक शीघ्रगामी ऊँट पर उसकी ओर तेज़ी से लौट रहा है :

तत्रापश्यद् गतप्राणां प्रियां तां कृतमण्डनाम् ।
लतामुत्फुल्लकुसुमां वातेनोन्मूलितामिव ॥

दृष्ट्वैव विह्वलस्यैतां कुर्वतोऽङ्के विनिर्ययुः ।
प्रलापैः सह तस्यापि प्राणा विरहिणः क्षणात् ॥

'वहाँ उसने, वायु से उन्मूलित फूले हुए पुष्पों से युक्त लता के समान, अलंकारों को धारण किये हुए गत-प्राण उस प्रिया को देखा। उसको देखते ही अपने बाहुओं में लेते हुए उस विह्वल विरही के प्राण भी तत्काल प्रलापों के साथ ही निकल गये।'

ग्रीष्म ऋतु का एक समुज्ज्वल वर्णन है :

भ्राम्यतश्च जगामास्य भीमो ग्रीष्मर्तुकेसरी ।
प्रचण्डादित्यवदनो दीप्ततद्रश्मिकेसरः ॥
प्रियाविरहसंतप्तपान्थनिःश्वासमारुतैः ।
न्यस्तोष्माण इवात्युष्णा वान्ति स्म च सकी(?मी)रणाः ॥
शुष्यद्विदीर्णपङ्काश्च हृदयैः स्फुटितैरिव ।
जलाशया ददृशिरे घर्मलुप्ताम्बुसंपदः ॥
चीरीचीत्कारमुखरास्तापम्लानदलाधराः ।
मधुश्रीविरहान्मार्गेष्वरुदन्निव पादपाः ॥

'उसके भ्रमण करते हुए प्रचण्ड सूर्य-रूपी मुख से युक्त और उसकी दीप्त रश्मियों के केसर वाला ग्रीष्मऋतु रूपी भयङ्कर सिंह उपस्थित हो गया। प्रिया के विरह से संतप्त पान्थों के निःश्वास-मारुतों से धारण की हुई उष्णता के कारण मानो अत्युष्ण वायु चल रही थी। सूखते हुए विदीर्ण पङ्कों से युक्त जलाशय ग्रीष्म से लुप्त जल-संपत्ति के कारण मानो स्फुटित हृदयों से युक्त दिखायी दे रहे थे। बल्कलों के चीत्कार से मुखरित और ताप से म्लान दल-रूपी अधरों से युक्त वृक्ष वसन्त ऋतु की शोभा के विरह के कारण मानो मार्गों में रो रहे थे।'

१३.

मनोरञ्जक तथा उपदेशात्मक कथा

१. मनोरञ्जक कथा

बृहत्कथा की प्रसिद्धि का यह परिणाम है कि प्राचीन समय की रचनाओं में तदपेक्षया भिन्न कहानियाँ बहुत कम सुरक्षित हैं। वेतालपंचविंशतिका मूल में निश्चय रूप से एक विशिष्ट कथा-संग्रह का भाग था, परन्तु हमारे लिए अपने प्राचीनतम रूप में यह क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी[1] में और सोमदेव के कथा-सरित्सागर[2] में ही सुरक्षित है। इसके कई और संस्करण (recensions) भी उपलब्ध हैं, जिनमें से शिवदास का संस्करण[3] गद्य-पद्य में है। हो सकता है कि कथाओं का मूलरूप इसी प्रकार का रहा हो, यद्यपि यह केवल कल्पना ही है। ऐसा भी कहा जाता है कि मूलरूप पद्यात्मक ही था[4]। एक संस्करण ऐसा भी पाया जाता है जिसके कर्ता का नाम अज्ञात है[5]; वह केवल क्षेमेन्द्र के आधार पर तैयार किया हुआ गद्य-रूपान्तर है। शिवदास के संस्करण की हस्तलिखित प्रतियों में भी क्षेमेन्द्र के पद्य यत्र-तत्र पाये जाते हैं, जम्मलदत्त-कृत उत्तरकालीन संस्करण[6] में पद्यात्मक नीतिवचनों का अभाव है, और ऐसा भी कहा जाता है कि इसकी कथाओं का रूप कई दृष्टियों से दूसरे संस्करणों में पाये जाने वाले रूप से प्राचीनतर है। परन्तु यह बात बिलकुल स्पष्ट नहीं है। वल्लभदास-कृत एक संक्षिप्त रूपान्तर[7] भी ज्ञात है, जिसके भावानुवाद आधुनिक भारतीय लोकभाषाओं में पाये जाते हैं। मंगोल भाषा के Ssiddi-Kür नें उसका अनुवाद पाया जाता है।

त्रिविक्रमसेन, अथवा उत्तरकालीन वर्णनों के अनुसार विक्रमादित्य, को एक भिक्षु से प्रति वर्ष एक फल प्राप्त होता है, जिसको वह अपने कोषाध्यक्ष को दे देता है। अन्त में अकस्मात् पता लगता है कि प्रत्येक फल में एक रत्न रहता है। कृतज्ञतावश वह भिक्षु की सहायता के लिए तैयार हो जाता है। भिक्षु उससे एक

---

१. ix. 2. 19 ff. २. Lxxv-xcix. ३. Ed. H. Uhle, AKM. viii. 1, 1914. ४. Bosch, *De legende van Jimūtavāhana*, pp. 22 ff. ५. Ed. AKM. viii. 1; दूसरा रूपान्तर (MS. 1487 A.D.), B S G W. 66, 1914. ६. Ed. Calcutta, 1873. ७. Eggeling, IOC. i. 1564 f.

श्मशान को जाने को और वहाँ से एक वृक्ष से लटकते हुए एक शव को लाने को कहता है। राजा स्वीकार कर लेता है। राजा उस शव को एक वेताल से अधिष्ठित पा कर चौंक पड़ता है, तो भी वह अपने लक्ष्य को नहीं छोड़ता। शवाधिष्ठित वेताल लौटते हुए राजा को मनोविनोदार्थ एक कथा सुनाता है। उसका अन्त एक पहेली के समाधान-परक प्रश्न में होता है। राजा द्वारा प्रश्न के समाधान कर देने पर शव उसके पास से नीचे गिर पड़ता है और अपने पूर्व स्थान को लौट जाता है। बार बार ऐसा करने पर राजा हार मान लेता है और मौन रहता है। तब वेताल उसको बतलाता है कि दुष्ट भिक्षु वास्तव में उसको मार डालना चाहता है। उसके कहने के अनुसार राजा भिक्षु से कहता है कि वह स्वयं शव द्वारा की जाने वाली विधि में अपेक्षित साष्टाङ्ग प्रणाम को करके दिखलावे; और भिक्षु द्वारा ऐसा करने पर राजा उस दुष्कर्मी के सिर को झट धड़ से पृथक् कर देता है। कथाएँ प्रायेण विशेष उत्तेजक हैं और उनकी एक दृष्टि है। अन्त में राजा को उन बच्चों के पारस्परिक संबन्ध-विषयक प्रश्न से चुप हो जाना पड़ता है जिनका पिता अपने ही पुत्र से विवाह करने वाली स्त्री की पुत्री से शादी कर लेता है। सहसा की हुई प्रतिज्ञाओं और आत्मसम्मान की भावना के एकत्रित हो जाने से ही यह अद्भुत संकट उपस्थित हुआ था; राजा और उसके पुत्र ने दो स्त्रियों के पादचिह्नों को देखा था। पुत्र अपने पिता को राज़ी कर लेता है कि वह बड़े पैरों वाली स्त्री से और वह स्वयं छोटे पैरों वाली से विवाह कर ले। अन्त में बात यह निकली कि माता वास्तव में छोटे पैरों वाली थी। इसी प्रकार एक लड़की को एक राक्षस के पंजे से तीन प्रेमी संयुक्त प्रयत्न द्वारा छुड़ाते हैं। उनमें से एक तो अपनी बुद्धि से उस स्थान का पता लगाता है जहाँ राक्षस ने उसे छिपा रखा है, दूसरा जादू से एक व्योम-रथ तैयार करके देता है जिससे उसके लाने का यत्न किया जाता है और तीसरा वीरता द्वारा उस राक्षस का हनन करता है। इस संबन्ध में कठिन प्रश्न यह है कि उस लड़की का विवाह उन तीनों में से किसके साथ किया जाय। राजा अपना निर्णय वीरता के पक्ष में देता है। एक भावी पति अपनी प्रिया को एक अन्तिम प्रेम-मिलन के लिये जाने देता है, रास्ते में मिला हुआ एक डाकू भी उसके काम को जान कर उसे बिना छेड़े अपने प्रिय से मिलने के लिए जाने देता है और अन्त में वह प्रेमी भी उस स्त्री के पति के महान् कार्य को सुनकर उसके शील को बिगाड़े बिना ही उसे लौटा देता है। प्रश्न यह है कि इन तीनों में कौन श्रेष्ठ है। एक युवक भट्टारिका के सामने प्रतिज्ञा करता है कि यदि वह एक सुन्दरी को पत्नीरूप में पा जायगा तो अपने सिर को उस पर चढ़ा देगा; वह अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है। उसका मित्र उसके शव को पाकर इस डर से कि कहीं स्वयं उसको ही उसकी हत्या करने वाला न समझ लिया जावे उसी का अनुकरण करता है।

पत्नी दोनों सिर-रहित शवों को पाती है, देवी कृपा करती है और उसको सिरों को धड़ों से जोड़ने को कहती हैं । वह एक का सिर दूसरे धड़ पर लगाने की भूल करती है। प्रश्न यह है कि उसका पति कौन-सा है। राजा उत्तर देता है कि जिस धड़ पर उसके पति का सिर है वही उसका पति है, क्योंकि सिर ही उत्तमाङ्ग है। एक दूसरी विचित्र कथा है। एक चोर के लड़के का पालन-पोषण एक ब्राह्मण करता है, पर एक राजा उसे अपना दत्तक-पुत्र बना लेता है। जब वह पितरों को पिण्ड देने लगता है तब तीन हाथ उनको माँगने के लिये निकल आते हैं। इन कहानियों या लघु उपन्यासों में से एक विशिष्ट रूप से बौद्ध कहानी है, यद्यपि सामान्य रूप से इस पुस्तक में दुर्गा का प्रमुख स्थान है, जो विशेष रूप से तान्त्रिक प्रभाव का ही एक परिणाम है। एक राजा अपने लाभ के लिए नर बलि देना चाहता है। माता-पिता और ब्राह्मण पुरोहित बलि देने लगते हैं, ब्रह्मराक्षस भी तैयार है। इतने में वह छोटा बच्चा जिसकी बलि दी जाने वाली है समस्त सांसारिक वस्तुओं की विनश्वरता की उपेक्षा करने के लिए उन सबकी निर्लज्ज मूर्खता पर हँस पड़ता है और उसके जीवन की रक्षा हो जाती है।

शिवदास का संस्करण बारहवीं शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता और यह भी संभव है कि वह उसके बाद का हो। इसमें रुद्रभट्ट के एक पद्य के साथ-साथ प्रायः अन्य सुपरिचित स्रोतों से ही संगृहीत पद्यात्मक नीतिवचन ही नहीं, किन्तु कुछ विषय-वर्णनात्मक पद्य भी पाये जाते हैं, और इस रूप में यह चम्पू-शैली के समीप तक पहुँच जाता है। एक सुन्दर पद्य[1] जो संभवतः कहीं से उद्धृत किया हुआ है यहाँ देने के योग्य है :

नो मन्ये दृढबन्धनात्क्षतमिदं नैवांकुशोद्धट्टनं
स्कन्धारोहणताडनात्परिभवो नैवान्यदेशागमः ।
चिन्तां मे जनयन्ति चेतसि यया स्मृत्वा स्वयूथं वने
सिंहत्रासितभीतभीतकलभा यास्यन्ति कस्याश्रयम् ॥

'मैं न तो दृढ़ बन्धन से उद्भूत इस व्रण की और न अंकुश की चोटों की परवा करता हूँ। मुझे अपने स्कन्धों पर दूसरों के आरोहण तथा ताडन से होने वाले अपमान की अथवा अन्य देश में आ जाने की भी उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी चिन्ता मुझे वन के अपने झुण्ड को स्मरण करके और यह सोच कर होती है कि वे बच्चे सिंह से अत्यन्त डरे हुए किसके आश्रय में जावेंगे।' एक प्रतिभावान् अनुप्रास भी सुन्दर है :

स धूर्जटिजटाजूटो जायतां विजयाय वः ।
यत्रैकपलितभ्रान्तिं करोत्यद्यापि जाह्नवी ॥

---

१. श्रीधरदास, ४।२१४, इसे पाम्पक की रचना बतलाते हैं।

'शिव की उन जटाओं का जूट तुम्हारे लिए विजयप्रद हो जिनमें जाह्नवी आज भी एक श्वेत बाल की भ्रान्ति को उत्पन्न करती है।'

शुकसप्तति[1] भी, जिसमें एक शुक की सत्तर कहानियाँ हैं, रोचक है। यह अनिश्चित समय के दो संस्करणों में पायी जाती हैं। यह निश्चित है कि जैनग्रंथकार हेमचन्द्र किसी रूप में इससे परिचित थे। अन्ततः अपने वर्तमान रूप में आनेसे बहुत पहले निस्संदेह यह विद्यमान थी। इसके दो सुप्रसिद्ध, साधारण (simplicior) और अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत (ornatior) संस्करणों को श्मिट (Schmidt) ने संपादित किया है, इनमें से प्रथम प्राचीनतर नहीं है; यह स्पष्टतः बहुत कुछ परिष्कृततर जैसे संस्करण का एक संक्षिप्त रूपान्तर है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि इसमें कहानियों के वास्तविक अभिप्राय को प्रायेण अस्पष्ट ही छोड़ दिया गया है। इसका मूलरूप संभवतः सरल गद्य में रहा होगा, जिसके बीच-बीच में सूक्त्यात्मक पद्य और कथाओं के आदि तथा अन्त में उनके विषय-वर्णन-परक पद्य रहे होंगे। पुस्तक का ढाँचा मनोरञ्जक है। हरदत्त नाम के व्यापारी का मदनसेन नाम का एक मूर्ख पुत्र है। वह अपना सारा समय अपनी युवती पत्नी के साथ प्रेमालाप में व्यतीत कर देता है। उसके पिता को समझाया जाता है कि वह अपने पुत्र को एक शुक और एक कौवा, जो बुद्धिमान् पक्षी थे और वास्तव में पक्षिरूपधारी गन्धर्व थे, उपहार में दे। उनके बुद्धिपूर्ण वार्तालाप से उसका पुत्र सदाचार के मार्ग का अवलम्बन कर लेता है, यहाँ तक कि जब वह एक यात्रा पर जाने लगता है तब अपनी पत्नी को उन दोनों पक्षियों को सुपुर्द कर जाता है। उसको पति-विरह से दुःख होता है, परन्तु वह अपने को आश्वासन देने के लिए दूसरे व्यक्ति को प्राप्त करने को तैयार हो जाती है। कौवा उसको शिक्षा देता है, परन्तु इसका उत्तर वह उसकी गर्दन मरोड़ देने की धमकी से देती है। शुक अधिक बुद्धिमान् है; वह उसके आचरण का अनुमोदन करता है, परन्तु उस दशा में जब कि वह गुणशालिनी के समान किसी असमंजस में फँस जाने पर उससे अपने को बुद्धिमत्ता से निकालने के लिए पर्याप्त चातुर्य से संपन्न हो। स्त्री की उत्सुकता जाग उठती है और वह शुक उसे कथाएँ सुना कर और साथ ही यह पूछते हुए कि वैसे संकट के क्षण में मनुष्य को कैसा आचरण करना चाहिए, उसके पति के लौट

१. Simplicior, ed. AKM. x.1, 1897; trans. Kiel, 1894; shorter version, ZDMG. liv. 515 ff.; lv. 1 ff. Ornatiord. A Bay; A. xxi. 2, 1901; trans. Stuttgart, 1899. चार कहानियाँ ed. and trans. Kiel; 1890, notes on Simplicior, ZDMG. xlviii. 580 ff. all by R. Schmidt, जिन्होंने एक मराठी रूपान्तर भी संपादित किया है, AKM. x.4. कुछ हस्तलेखों में अनेक प्रकार से भ्रष्ट संस्कृत का प्रयोग हुआ है।

आने तक, उसके चारित्र्य की रक्षा करता है। यह कहना कठिन है कि कथाएँ उपदेश-प्रद हैं; उनमें से लगभग आधियों का संबन्ध वैवाहिक बन्धन के भंग से है; शेषों में सामान्यतः वेश्याओं से संबद्ध मक्कारी के अन्य उदाहरणों का प्रदर्शन है। अथवा उनमें मध्यस्थों के चातुर्य-पूर्ण निर्णयों को दिखलाया गया है, जैसे जब राक्षसों की दो डरावनी पत्नियों के मध्य में कौन अधिक सुन्दर है इस विषय में अपना निर्णय देने के लिए मूलदेव सामने उपस्थित होता है। इस संग्रह की दो प्रसिद्ध घटनाएँ एक विशिष्ट बुद्धिमान् व्यक्ति का आदर्श न्याय और Tristan और Isolde की बनावटी न्याय-परीक्षा का प्रतिरूपक हैं। जैसा कि प्रायः होता है, अनैतिकता की सहायता में धर्म अपना भाग लेता है; धार्मिक शोभायात्राएँ, देव-मन्दिर, यात्राएँ, विवाह, यज्ञ—ये सब प्रेम-मिलनों के लिए सुविधाजनक अवसर प्रदान करते हैं; भागता हुआ प्रेमी चतुर पत्नी द्वारा मृत पितर का भूत बतलाया जाता है, इत्यादि।

शुकसप्तति का परिष्कृततर संस्करण चिन्तामणि भट्ट नाम के एक ब्राह्मण की रचना प्रतीत होती है। उन्होंने **पञ्चतन्त्र** के पूर्णभद्र (११९९) कृत जैन संस्करण का उपयोग किया था, यद्यपि यह बहुत संभव है कि कुलटा पत्नियों की कम से कम कुछ कहानियाँ **पञ्चतन्त्र** ने **शुकसप्तति** के एक प्राचीनतर रूप से ली थीं। **शुकसप्तति** का साधारण संस्करण एक श्वेताम्बर जैन की रचना प्रतीत होती है। ऐसा मत प्रकट किया गया है कि अन्ततोगत्वा यह एक पद्यात्मक रूप से लिया गया है। इसमें प्राकृत पद्यों की विद्यमानता से यह भी कहा जाता है कि यह संग्रह अपने मूलरूप में प्राकृत भाषा में रहा होगा। इस प्रश्न का कोई निश्चित समाधान नहीं दिया जा सकता। साथ ही, अपनी पश्चिमीय शाखाओं के संबन्ध और लोकभाषा के साहित्य पर अपने प्रभाव को छोड़ कर, इस ग्रन्थ का कोई विशेष आकर्षण भी नहीं है। पूर्वीय राजस्थानी भाषान्तर[१] पुरुषोत्तमदेव के पुत्र देवदत्त, जिनका समय अज्ञात है, द्वारा रचित एक संस्कृत मूल ग्रन्थ से किया गया है। इसमें आदर्श निर्णय एक कुमारी द्वारा दिया गया है।

सिंहासनद्वात्रिंशिका[२] और भी कम आकर्षक है। इस ग्रन्थ में एक सिंहासन में, जिसके विषय में जन-प्रवाद है कि धाराधिपति भोज ने ग्यारहवीं शताब्दी में उसका पता लगाया था, लगी हुई युवतियों की पुत्तलिकाओं द्वारा, उस समय जबकि राजा स्वयं उस पर बैठना चाहता था, बत्तीस कहानियाँ कही गयी हैं। ज्ञात होता है कि इस सिंहासन को विक्रमादित्य ने इन्द्र से उपहार-रूप में प्राप्त किया था, और

१. *Suvābahuttarikathā*; Hertel, *Festschrift Windisch*, pp. 138 ff.

२. Weber, IS. xv. 185 ff.; F. Edgerton, AJP. xxxiii. 249 ff., and ed. HOS. 1926.

शालिवाहन के विरुद्ध युद्ध करते समय उनकी मृत्यु के अनन्तर उसे भूमि में दबा दिया गया था। बत्तीस आत्माएँ जो पुत्तलिका-रूप में उसमें अवरुद्ध थीं उस महान् नरपति की कहानियाँ सुनाती हैं और इस प्रकार बन्धन से मुक्ति पाती हैं। कहानियों में स्फूर्ति-प्रदता बिलकुल नहीं है, और क्षेमंकर के जैन संस्करण में उनका रूप इसलिए विगड़ गया है क्योंकि उनकी रचना में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि वह राजा उदारता की प्रतिमूर्त्ति था और जो कुछ वह अपने वीरता के महान् कार्यों द्वारा प्राप्त करता था उसका बड़ा भाग पुरोहितों को दान कर देता था। ग्रन्थ के इस संस्करण में प्रत्येक गद्यात्मक कहानी के प्रारम्भ तथा अन्त में विषय वर्णनात्मक पद्य दिए हुए हैं। दक्षिण-भारतीय पाठ कदाचित् मूल रूप से अपेक्षाकृत अधिक मिलता-जुलता है। उसके गद्य में सूक्त्यात्मक पद्यों का और यत्र-तत्र वर्णनात्मक पद्यों का संमिश्रण पाया जाता है। एक दूसरा पाठ केवल पद्यात्मक है, जबकि एक उत्तर-भारतीय संस्करण में कथाएँ नीति-परक वचनों में तिरोहित हो जाती हैं। वररुचि-रचित कहा जाने वाला बंगाल का पाठान्तर केवल उक्त जैन संस्करण पर आधारित है, जो स्वयं एक माहाराष्ट्री पाठान्तर के आधार पर विरचित कहा जाता है। **सिंहासन-द्वात्रिंशिका** स्पष्टतः **बेतालपञ्चविंशतिका** के बाद की रचना है। परन्तु इससे उसका कोई निश्चित समय नहीं आता, और यह पूर्णतया असंभावित है कि वास्तव में धाराधिपति भोज के लिए अथवा उनके आश्रय में इसकी रचना की गई थी। इसमें उस राजा की प्रसिद्ध कथा भी दी हुई है जो सदा यौवन रखने वाले फल को अपनी प्रियतमा पत्नी को देता है, पर उसे पता लगता है कि वह फल उसकी पत्नी के पास से अश्व-रक्षक के पास, और उसके पास से एक वेश्या के पास पहुँच जाता है। विरक्त होकर राजा सिंहासन का परित्याग कर देता है। विक्रमादित्य के साहसिक कार्यों का वर्णन अनन्त द्वारा रचित तीस सर्गों के **वीरचरित**[1]-नामक तथाकथित महाकाव्य में भी किया गया है। यह कहना अधिक ठीक होगा कि इस रचना का वास्तविक नायक शूद्रक है। वह पहले शालिवाहन का सह-राजप्रतिनिधि (co-regent) था, पर पीछे से विक्रमादित्य के उत्तराधिकारियों का सहायक बन गया था। विक्रमादित्य के पराक्रमों का वर्णन शिवदास-रचित अठारह-सर्गों के **शालिवाहन कथा**[2] में, जो अंशतः गद्य में भी है; भट्ट विद्याधर के शिष्य आनन्द द्वारा रचित **माधवानलकथा**[3] में, जो संस्कृत तथा

---

१. H. Jacobi, IS. xiv. 97 ff.

२. Eggeling, IOC. i.1567 ff.

३. Ed. Pavolini, OC. ix, i. 430 ff.; GSAI. xxii. 313 ff.; H. Schöhl, *Di. Strophen der M.* (1914).

प्राकृत पद्यों से युक्त सरल गद्य में है; अज्ञात-कर्तृक पद्यात्मक **विक्रमोदय**[1] में; पन्द्रहवीं शताब्दी की जैनरचना **पञ्चदण्डच्छत्रप्रबन्ध** में[2]; तथा इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों में भी है। **पञ्चदण्डच्छत्रप्रबन्ध** में विक्रमादित्य एक ऐन्द्रजालिक तथा जादू-टोने में निष्णात व्यक्ति के रूप में आते हैं, जबकि **विक्रमोदय** में वे एक विद्वान् शुक के रूप में वर्णित हैं, जो सालोमन के निर्णय (Solomon's judgement) अर्थात् आदर्श-न्याय का एक दूसरा रूपान्तर प्रस्तुत करता है।[3]

जनता के साथ कथा-साहित्य का निकट संपर्क इस बात से प्रकट होता है कि आगे चल कर हम **भरटकद्वात्रिंशिका**[4] जैसी रचनाओं में लोक-भाषा के ग्रन्थों का आपाततः संस्कृत रूपान्तर पाते हैं। उक्त ग्रन्थ की कथाएँ ब्राह्मणों को चिढ़ाने के लिए स्पष्टतः जैन प्रेरणा से लिखी गई थीं। शिवदास का **कथार्णव**[5] भी, जिसमें मूर्खों और चोरों की कहानियों को लेकर पैंतीस कथाएँ हैं, उत्तरकाल की रचना है। विद्यापति की **पुरुषपरीक्षा**,[6] जिसमें चौंवालीस कहानियों का संग्रह है, एक ऐसे ग्रन्थकार की रचना है जिसने चौदहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में एक मैथिली कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। मेरुतुङ्ग और राजशेखर नाम के जैन लेखकों के **प्रबन्धचिन्तामणि**[7] और **प्रबन्धकोश**[8] में ग्रन्थकारों और अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में अनैतिहासिक पर रोचक आख्यान दिये हुए हैं। ये ग्रन्थ भी चौदहवीं शताब्दी के हैं। वल्लालसेन के **भोजप्रबन्ध**[9] का समय सोलहवीं शताब्दी है। यह भोज की राजसभा से संबन्धित, बुद्धि-पाटव से युक्त परन्तु बिलकुल अप्रामाणिक आख्यानों का संग्रह है।

२. उपदेशात्मक कथा

ऐसी कथा, जिसका साक्षात् उद्देश्य मनोरञ्जन के स्थान में उपदेश है, जैन-

---

१. Zachariae, *KL. Schriften*, pp. 152 ff., 166 ff.; IOC. i. no. 3960. सातवें परिच्छेद में महावस्तु, iii. 33ff. (काल्पनिक ऋण और वैसा ही ऋण का प्रतिदान) की प्रतिरूपता है।

२. Ed. and trans. ABA. 1877.

३. Zachariae, p. 154, n. 1 में इस साहित्य का उल्लेख हैं।

४. Ed. J. Hertel, Leipzig, 1921; trans. *Ind. Erzähler*, 1922; c. A.D. 1400.

५. Weber, *Ind. Streifen*, i. 251 f.; Pavolini, GSAI. ix. 189 f.

६. Ed. Bombay, 1882.

७. Trans. C.H. Tawney, BI. 1901 (date 1306).

८. Hultzsch, *Reports*, iii. p. vi (1349).

९. Ed. *NSP*. 1913; L. Oster, *Die Rezensionen des Bh.* (1911).

साहित्य में विशेष रूप से संपन्नता के साथ पाई जाती है। जैनों को कहानियों में बहुत रुचि थी, परन्तु साथ ही उनका नैतिकता की ओर झुकाव था। इसीलिए जैन लेखक प्रायेण विक्रमादित्य के आख्यानों जैसी अच्छी कहानियों को, महान् साहसिक कार्यों में भाग लेने वाले उनके पात्रों को बहुत कुछ जैन-धर्म के आयास-जनक व्याख्याताओं के रूप में दिखाने के प्रयत्न के कारण, बिगाड़ देते थे। इस प्रकार की रचनाओं में प्रथम स्थान **परिशिष्टपर्वन्**[1] को देना चाहिए, जो हेमचन्द्र के पौराणिक काव्य **त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित** का एक परिशिष्ट है। इसमें उन्होंने जैन धर्म के प्राचीनतम आचार्यों का वर्णन दिया है, पर जिन कथाओं को ग्रंथकार कहते हैं वे पौराणिक उपाख्यानों के ढंग की न होकर विशेष रूप से साधारण लोक-कथा के ही प्रकार की हैं। उदाहरणार्थ, हम एक भाई और बहिन के, जो एक वेश्या की संतान हैं, निषिद्धगमन का वर्णन पाते हैं; इस प्रसंग में विशिष्ट बात यह है कि उक्त परिस्थिति के खेदजनक पक्ष पर इतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना कि उसके परिणाम-स्वरूप संबन्धों पर। राक्षस-संबन्धी कथाओं की अन्तिम कथा में अपेक्षाकृत अधिक निर्दोष परिस्थितियों में उक्त बात को उठाया भी गया है। चन्द्रगुप्त के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को लेकर विचित्र आख्यान दिये गये हैं। उनमें से सबसे अधिक विचित्र वह आख्यान है जिसमें दिखाया गया है कि चन्द्रगुप्त की मृत्यु एक धार्मिक जैन के रूप में हुई थी।[2] एक कथा में उस साधु का वर्णन है[3] जिसने पूरी वर्षा ऋतु में एक वेश्या के साथ अपने ब्रह्मचर्य के व्रत को भङ्ग किये बिना रह कर अपने चरित्र की दृढ़ता का परिचय दिया था। एक दूसरा साधु, जो उक्त पूरे समय तक एक सिंह के साथ रह कर पर्याप्त निर्भीकता का परिचय दे चुका था, उक्त कार्य के करने में प्रवृत्त होता है, परन्तु असफल रहता है; तो भी धार्मिक भावना के आधार पर यह आवश्यक हो जाता है कि वह वेश्या एक बार फिर उसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करे और स्वयं तपस्विनी बन जाए।[4]

जैनों के **चरित्र** और **पुराण** जिनमें अनेक आख्यान सम्मिलित हैं साधारणतया साहित्य के स्तर को नहीं पहुँचते हैं। परन्तु प्रसिद्ध ग्रन्थकार सिद्ध

---

१. Ed. H. Jacobi, BI. 1891; sel. trans. J. Hertel, Leipzig, 1908; Keith, *JRAS.* 1908, pp. 1191 f.

२. यह विचित्र बात है कि Smith (EHI. pp. 154, 458) इस आख्यान में विश्वास करते हैं।

३. viii. 110 ff.

४. i. 90 ff. (वल्कलचीरिन्) ऋष्यशृङ्ग का पाठान्तर है; ii. 446 ff., एक कुलटा की परीक्षा, is trans. J. J. Meyer, Isoldes Gottesurteil (1914), pp. 130 ff.

या सिद्धर्षि द्वारा ९०६ में एक कथा के रूप में रचित मानव-जीवन के परिष्कृत शैली से युक्त रूपकात्मक वर्णन का कहीं अधिक महत्त्व है। एक उत्तर-कालीन और निस्सन्देह रूप से अप्रामाणिक लेखक[1] का कहना है कि सिद्धर्षि के जैन धर्म को ग्रहण करने का कारण यह था कि उसकी युवती पत्नी और माता ने एक रात, उसके देर में आने से चिढ़ कर, घर का द्वार आग्रह-पूर्वक बन्द रखा और उसको अन्दर न आने दिया, इसी कारण वह कुछ जैनों के सदा खुले रहने वाले द्वार पर चला गया और तदनन्तर जैन साधु हो जाने के अपने विचार को परिवर्तित करने को तैयार नहीं हुआ। वही ग्रन्थकार उसको प्रसिद्ध कवि माघ का चचेरा भाई लिखता है। **उपमितिभवप्रपञ्चाकथा**[2],जो गद्यात्मक है और जिसमें समय-समय पर पद्यों की बड़ी संख्या का सन्निवेश किया जाता रहा है, वास्तव में किसी प्रकार भी एक निन्द्य रचना नहीं है। ग्रन्थ की अवतरणिका के अन्त में ग्रन्थकार ने कृपापूर्वक अपने रूपक का स्पष्टीकरण कर दिया है, जिसके आधार पर रूपकात्मक कथा का अनुसरण करना कठिन नहीं है। उनकी संस्कृति कठिन नहीं है। उसको उन्होंने जान बूझ कर चुना था, क्योंकि वह संस्कृति का एक लक्षण समझी जाती थी। यह ठीक है कि ग्रन्थकार की यह प्रतिज्ञा है कि उनकी संस्कृत का समझना प्राकृत के समान ही सरल होगा, तो भी, अधिकतर रूपकात्मक रचनाओं के समान, समस्त ग्रन्थ की दृष्टि से रमणीयता की भावना से अविच्छिन्न नीरसता का प्रभाव ही मन पर पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं है कि जैन समाज में वर्तमान जीवन-संबन्धी बहुत कुछ संकीर्ण दृष्टियाँ तथा शुष्क और पाण्डित्य-मूलक जैन सिद्धान्तों के आधार पर कोई हृदयाकर्षक चित्र उपस्थित करने की आत्यन्तिक कठिनाई इसका आंशिक कारण थीं।

उक्त ग्रन्थ की अपेक्षा सरलतर प्रकार की वे अनेक कथाएँ अथवा कथानक हैं जिनमें जैन सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए सुप्रसिद्ध 'अभिप्रायों' (Motifs) का आश्रय लिया गया है। प्राकृत साहित्य में ये अत्यधिक संख्या में उपलब्ध हैं; आगमों की टीकाओं में तथा स्वतन्त्र रूप से भी ये सुरक्षित हैं। संस्कृत में उनका पाया जाना सामान्यतः उत्तर-कालीन है। दो रोचक कथाएँ जिनकीर्त्ति-रचित **चम्पकश्रेष्ठिकथानक**[3] तथा **पालगोपालकथानक**[4] हैं। जिनकीर्त्ति की

---

१. प्रभाचन्द्र और प्रद्युम्नसूरि का **प्रभावकचरित** (1250 A. D.), जिसमें हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्वन् को ही आगे बढ़ाया गया है।

२. Ed. BI. 1899 ff. Trans. A. Ballini, GSAI. xvii-xix, xxi-xxiv.

३. A. Weber, SBA. 1883., pp. 567 ff.; 885 ff., J. Hertel, ZDMG. lxv. 1-51, 425-70.

४. J. Hertel, BSGW. lxix. 4; Indische Erzähler, vii (1922); Bloomfield, TAPA. liv. 164 ff.

रचना का काल पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। **चम्पकश्रेष्ठिकथानक** की मुख्य कथा में तीन कथाएँ सन्निविष्ट हैं, जिनमें से एक में नियति के निवारणार्थ रावण के व्यर्थ प्रयत्न का वर्णन है। **पालगोपालकथानक** में अन्य विषय के साथ-साथ एक स्त्री की कथा का वर्णन है जिसमें वह एक नवयुवक पर जो उसके प्रलोभनों को तिरस्कृत कर चुका है अपने सतीत्व के बिगाड़ने की चेष्टा का दोष आरोपित करती है। **सम्यक्त्वकौमुदी**[1] एक आख्यान के अन्दर अन्यान्य कथाओं के संनिवेश की रचना का उदाहरण उपस्थित करती है। इसमें धर्मात्मा अर्हद्दास अपनी आठ पत्नियों को और वे उसको वतलाती हैं कि उन्हों ने सत्यधर्म (सम्यक्त्व) को किस तरह पाया। उनकी कथाओं को अपनी राजधानी में परिभ्रमण करने वाला एक राजा तथा एक चोर भी छिपे-छिपे सुन लेते हैं। इसके विपरीत, **कथाकोश**[2] में, जिसका समय भी अनिर्ज्ञात है, बिना किसी संबन्ध के अनेक कथाएँ दी हुई हैं। यह ग्रन्थ भद्दी संस्कृत में है जिसके बीच-बीच में प्राकृत पद्य भी दिये हुए हैं। इसमें नल की कथा का अत्यन्त निकम्मा जैन रूप प्रस्तुत किया गया है।[3]

---

१. A. Weber, SBA. 1889, pp. 731 ff.

२. Trans. C. H. Tawney, London, 1895.

३. Hertel ने हेमविजय के **कथारत्नाकर** का अनुवाद किया है। राजशेखर (१४वीं शताब्दी) अपने **अन्तरकथासंग्रह** (cf. Pullé, SIFI. i. 1 ff.; ii. 1 ff.) में Solomon के निर्णय का एक रूपान्तर देते हैं (Tessitori, IA. xlii. 148 ff.; Hertel, *Geist des Ostens*, i. 189 ff.)

१४

प्रधान गद्य-काव्य

१. दण्डी का समय और रचनाएँ

दण्डी के संवन्ध में उनकी रचनाओं से और उत्तरकालीन अनुश्रुति से जो कुछ पता लगता है उसको छोड़ कर वास्तव में हम और कुछ नहीं जानते। अनुश्रुति के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ बतलाई जाती हैं; उनमें से दो रचनाएँ तो **दशकुमारचरित** और **काव्यादर्श** मानी जाती हैं। तीसरी रचना के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पिशेल (Pischel) **मृच्छकटिक** को तीसरी रचना मानते थे। उनके मत के आधार केवल दो थे—(१) **मृच्छकटिक** और **दशकुमारचरित** में वर्णित सामाजिक संवन्धों का सामान्य सादृश्य, तथा (२) उक्त रूपक में उपलब्ध एक पद्य का **काव्यादर्श** में नाम-निर्देश के विना उद्धरण। इस द्वितीय तर्क में विशेष बल नहीं है, क्योंकि अव हमको विदित है कि उक्त पद्य भास में भी पाया जाता है। **काव्यादर्श** में **छन्दोविचिति** का उल्लेख है; पर दण्डी ने उसका उल्लेख अपनी ही कृति के रूप में किया है यह बहुत संदिग्ध है। तो भी यह हो सकता है कि **छन्दोविचिति** और उसी प्रकार उल्लिखित **कालपरिच्छेद** ये दोनों केवल दो परिच्छेद थे जिनको वे परिशिष्ट रूप में **काव्यादर्श** के साथ देना चाहते थे। **काव्यादर्श** और **दशकुमारचरित** ये दोनों एक ही ग्रन्थकार की कृतियाँ हैं, इस सम्वन्ध में भी कई आधारों पर संदेह प्रकट किया गया है। ऐसा कहा गया है[1] कि **दशकुमारचरित** की भाषा की अशिष्टता और प्रायेण उपलब्ध अश्लीलता का **काव्यादर्श** में उपलब्ध अपरिष्कृतता से साहित्य के प्रति आग्रह के साथ कोई सामंजस्य नहीं बैठता। साथ ही भाषा-शैली की कुछ वास्तविक अथवा तथाकथित अरमणीयताओं को लेकर भी कहा गया है कि उनका एक अलंकार-शास्त्र के लेखक में पाया जाना असंभव है। परन्तु इन दोनों युक्तियों में से किसी का भी कोई विशेष मूल्य नहीं है। उपदेश और व्यवहार में भेद प्रसिद्ध है; उसको छोड़ कर भी, यह पूर्णतया संभव है कि उपर्युक्त गद्य-काव्य दण्डी की युवावस्था की कृति है, जबकि **काव्यादर्श** की रचना उनके परिपक्व विचार का परिणाम है। व्याकरण की तथाकथित अशुद्धियों के संवन्ध में कहा जा सकता है कि या तो वे अशुद्धियाँ ही नहीं हैं या वे

१. Agashe, ed. pp. xxv ff.

इस प्रकार की हैं जैसी अन्य कवियों में भी पाई जाती हैं।[1]

दण्डी का समय अब भी विवाद-ग्रस्त है, और यदि काव्यादर्श की इस संबन्ध में उपेक्षा कर दी जावे तब तो इसका निर्धारण करना और भी कठिन हो जायगा। यदि अन्यत्र दिये हुए कारणों के आधार पर हम काव्यादर्श को निश्चित रूप से भामह (लगभग ७०० ई०) के पूर्व रखते हैं, तो भी ऐसा कोई कारण नहीं है जिसके बल पर यह कहा जा सके कि उन्होंने भामह से बहुत पहले उक्त ग्रन्थ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त, दशकुमारचरित से जो मुख्य धारणा बनती है वह यह है कि उसका भूगोल[2] हर्षवर्धन के साम्राज्य से पूर्व की वस्तु-स्थिति पर आधारित है, और यह भी कि उसकी अपेक्षाकृत सरलता सुबन्धु और बाण की रचनाओं से पूर्वकाल की ओर संकेत करती है। साथ ही, कोई ऐसी बात नहीं है जिससे अपेक्षा-कृत अधिक उत्तरकाल का संकेत मिलता हो। दण्डी धाराधिपति भोज की सभा के रत्न थे, इस आख्यान की पुष्टि में विल्सन (Wilson) ने (दण्डी द्वारा वर्णित) शिष्टाचार की भ्रष्टता को उपस्थित किया है; परन्तु वह भ्रष्टता, जहाँ तक वह वास्तविक है, भारतीय जीवन के एक पक्ष के नियमतः प्राप्त स्वरूप को ही प्रदर्शित करती है।

२. दशकुमारचरित

यह बहुत संभव है कि दण्डी ने दशकुमारचरित[3] की कथावस्तु के विचार को गुणाढ्य से लिया था। विचित्र साहसिक कार्यों के पश्चात् पुनर्मिलन को प्राप्त नरवाहनदत्त और उसके साथियों द्वारा अपनी-अपनी बीती को फिर से सुनाने की प्रयुक्ति (device) अपने प्रारम्भिक वियोग के अनन्तर पुनर्मिलन को प्राप्त दण्डी के दस राजकुमारों द्वारा अपने-अपने भाग्य के वर्णन की प्रयुक्ति की ओर बल-पूर्वक संकेत करती है। उक्त सुझाव प्रतिभा से युक्त है, क्योंकि इसके द्वारा अन्यथा परस्पर बिलकुल असंबद्ध रह जाने वाली कथाओं में कुछ हद तक एकता की स्थापना हो जाती है। परन्तु यदि हेर्टेल (Hertel) का विचार ठीक है, तब तो यह कहना चाहिए कि दण्डी की मूल योजना उपलब्ध ग्रन्थ से कहीं बृहत्तर

---

१. अवन्तिसुन्दरीकथा को, जिसका एक खण्डित भाग उपलब्ध है, उनकी रचना बताना बिलकुल अग्राह्य है; S. K. Dé, IHQ. i. 31 ff.; iii. 394 ff.

२. Collins, *The Geographical Data of the Raghuvaṃśa and Daśakumāracarita* (1907), p. 46.

३. Ed. G. Bühler and P. Peterson, BSS. 1887-91 (and ed. by Agashe); A. B. Gajendragadkar, Dharwar. Trans. J. J. Meyer, Leipzig, 1902; J. Hertel, Leipzig, 1922; Weber, *Ind. Streifen*, i. 308 ff.

ग्रन्थ लिखने की रही होगी। हेर्टेल के अनुसार ऐसी योजना के निर्देश मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उक्त ग्रन्थ में राजा कामपाल और उसके पृथ्वी पर होने वाले तीन जन्मों की पाँच पत्नियों की कथा का वर्णन दिया जाने वाला था, ऐसी स्थिति में उपलब्ध **दशकुमारचरित** को केवल एक खण्ड ही कह सकते हैं। यह बात सत्य हो सकती है कि दण्डी के विचार में कोई ऐसी रचना रही हो, पर वास्तव में इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। उन्होंने वस्तुतः ऐसी रचना की थी, इसके लिए तो और भी कम प्रमाण हैं। हेर्टेल स्वयं कहते हैं कि जब दण्डी का अपनी अभिमत रचना की समाप्ति का लक्ष्य किसी न किसी कारण पूरा न हो सका तब उन्होंने **दशकुमारचरित** को, बिना समाप्त किये ही, उसके वर्त्तमान रूप में ही छोड़ दिया, जिसका प्रारम्भ भी यकायक असंबद्ध रूप से होता है। निश्चय ही यह कथन काल्पनिक है। **दशकुमारचरित** के प्रारम्भिक अंश की पूर्त्यर्थ और उसकी सुसंबद्ध समाप्ति के लिए अनेक यत्न[1] किये गये हैं, इस आधार पर भी यह परिणाम हम नहीं निकाल सकते कि इस ग्रन्थ के उपर्युक्त भाग यदि कभी विद्यमान थे तो वे विनष्ट नहीं हो सकते थे। ग्रन्थों के भाग्य इतने अधिक अनिश्चित होते हैं कि उनके विषय में उपर्युक्त तर्क को हम निर्णायक नहीं मान सकते।

परन्तु जो बात निश्चित है वह यह है कि **दशकुमारचरित** के हस्तलेखों में वास्तविक ग्रन्थ के पाठ के साथ-साथ प्रायेण **अवतरणिका-रूप पूर्वपीठिका** पाई जाती है, और एक हस्तलेख में तथा उसके आधार पर लिखे हुए अन्य हस्तलेखों में भी उपसंहार-रूप **उत्तरपीठिका** भी पाई जाती है। इन भागों के नाम से ही तत्काल प्रतीत हो जाता है कि ये दण्डी की कृति के भाग नहीं हैं, और इस परिणाम की पुष्टि प्रचुर साक्ष्य से होती है। पूर्वपीठिका का विषय केवल मुख्य भाग की प्रथम कथा के साथ जुड़ जाना चाहिए था; परन्तु वास्तव में इसमें, दस की संख्या पूरी करने की दृष्टि से, दो कुमारों के चरितों का वर्णन दिया गया है, क्योंकि दण्डी-कृत मुख्य भाग में केवल आठ चरित ही दिये गये हैं, जिनमें आठवाँ अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, पूर्वपीठिका के प्रतिपादनों का मूलग्रन्थ द्वारा स्पष्टीकृत तथ्यों के साथ ठीक-ठीक मेल भी नहीं बैठता है। उदाहरणार्थ, जहाँ राजवाहन, पुष्पोद्भव, अपहार-वर्मा और उपहारवर्मा, इन राजकुमारों की वंश-परंपरा में कोई महत्त्वयुक्त विरोध नहीं है, वहाँ अर्थपाल, प्रमति और विश्रुत के वर्णनों के विरोध का परिहार नहीं किया जा सकता। दण्डी के अनुसार अर्थपाल और प्रमति कान्तिमती और तारा-

---

१. भट्टनारायण की रचना के लिए Agashe के संस्करण में परिशिष्ट को देखिए; एक पद्यात्मक रचना विनायक की भी है; चक्रपाणि द्वारा किया हुआ परिबृंहण और गोपीनाथ द्वारा किया हुआ संशोधन भी उपलब्ध हैं (IOC. i. 1551 f.).

वली से कामपाल के पुत्र हैं, पूर्वपीठिका में अर्थपाल तारावली का पुत्र है और प्रमति उसका सौतेला भाई न होकर अमात्य सुमति का पुत्र है, जिसका कारण दण्डी के एक सन्दर्भ का अन्यथा समझ लेना ही है। इसी प्रकार, दण्डी के अनुसार विश्रुत वैश्रवण नाम के वणिक् का वंशज और सिन्धु दत्त का पौत्र है, जबकि पूर्वपीठिका में उसका पितामह अमात्य पद्मोद्भव है। ऐसा संभव है कि सोमदत्त, मित्रगुप्त और मन्त्रगुप्त इन राजकुमारों की पूर्वपीठिका में दी हुई वंशावलियाँ केवल मन-गढ़न्त हैं; और मन्त्रगुप्त को सुमन्त्र के वंश में बताने का कारण दण्डी के मूल-ग्रन्थ का केवल अन्यथा पाठ ही हो सकता है। दण्डी के मत में उक्त राजकुमार वास्तव में स्वयं कामपाल की शेष तीन पत्नियों के पुत्र थे और अतएव कथानायक राजवाहन के सौतेले भाई थे। इसके अतिरिक्त, दण्ड़ी के मूलग्रन्थ में जब चण्डवर्मा राजवाहन को राजकुमारी के साथ पाता है वह एक वञ्चक के रूप में उसकी भर्त्सना करते हुए कहता है कि उसने धर्म के व्याज से प्रजा को आचार-भ्रष्ट कर दिया है और मिथ्या-देवताओं का विश्वासी बना दिया है। परन्तु पूर्वपीठिका में इसकी कोई चर्चा नहीं है, और वहाँ राजकुमार को एक चालाक वञ्चक बनाने के स्थान में उसके लक्ष्यों की सिद्धि के लिए एक ऐन्द्रजालिक के रूप में एक सहायक भी रखना पड़ता है। इसी प्रकार, जहाँ दण्डी के मूलग्रन्थ में हम एक छोटे भाई को राजकुमारी के अन्तःपुर में राजकुमार को प्रवेश दिलाने में सहायता देने के दोष से युक्त पाते हैं, वहाँ पूर्वपीठिका इसी काम के लिए राजकुमार को उक्त ऐन्द्रजालिक से संयुक्त कर देती है। मूलग्रन्थ में उपहारवर्मा का पालन-पोषण एक तपस्वी करता है, परन्तु पूर्वपीठिका में यह कर्तव्य राजा को दिया गया है। यह भी स्पष्ट है कि पूर्व-पीठिका के अन्त के दृश्य का सामञ्जस्य मूलग्रन्थ के प्रारम्भ के साथ नहीं बैठता। दण्डी की कल्पना में राजवाहन और उसकी प्रणयिनी राजकुमारी दोनों प्रेम के माधुर्य का अनुभव पहले ही कर चुके हैं। उनके चित्रण के अनुसार राजवाहन देवताओं और ऋषि-मुनियों की प्राचीन प्रेम-गाथाओं[1] द्वारा राजकुमारी के प्रेम-भाव को फिर से उद्‌बुद्ध करना चाहते हैं और वह तदनुसार प्रभावित भी होती है। पूर्वपीठिका अविश्वसनीय कुरुचि के साथ उक्त प्रसङ्ग का वर्णन इस प्रकार करती है मानो यह उन दोनों का प्रथम मिलन था, और राजकुमार को इस रूप में दिखाती है कि वह चाहता है कि उसकी प्रणयिनी स्वयं उस बात को दुहराये जिसे वह उससे कह चुका है, और यह इस उद्देश्य से कि वह प्रणयिनी द्वारा उस बात के दुहराये जाने का आनन्द ले सके। इसके अतिरिक्त, जो विषय उसकी प्रणयिनी से कहा गया था वह उसकी दृष्टि में प्रेम-संबन्धी न होकर, ब्राह्मणों का विश्व-वृत्तान्त

१. तु० कथाओं के कहने वालों के प्रति स्त्रियों के प्रेम के सम्बन्ध में कामसूत्र का आग्रह (पृ० २६०)।

के ऊपर एक पाठ के रूप में चतुर्दश-भुवन-वृत्तान्त ही था। हम निःसंकोच रीति से कह सकते हैं कि इस मूर्खता को करने वाला दण्डी नहीं था; पूर्वपीठिकाकार का अपना उद्देश्य, छठे परिच्छेद की नाईं, निस्संदेह उपलब्ध मूलग्रन्थ के ठीक पूर्व में प्राचीन प्रेम-कथाओं की कुछ घटनाओं का वर्णन था। उत्तरपीठिका के विरुद्ध आपत्ति और भी अधिक युक्ति-युक्त है, क्योंकि वर्तमान मूलग्रन्थ की समाप्ति से यह स्पष्ट है कि दण्डी एक बुद्धिमान् शासक के आदर्श का चित्रण करने वाले थे, जिस दिशा में ग्रन्थ की वर्तमान समाप्ति में (अर्थात् उत्तरपीठिका में) कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। मूलग्रन्थ की अवतरणिका लिखने के अन्य प्रयत्न भी किये गये हैं, यह इस बात का अतिरिक्त प्रमाण है कि वर्तमान पूर्वपीठिका को दण्डी की रचना के रूप में सामान्य मान्यता नहीं दी गई थी। संभवतः स्वयं पूर्वपीठिका में भी दो व्यक्तियों की रचना का भेद किया जाना आवश्यक है।

३. दशकुमारचरित का विषय और शैली

ऐसा विचार प्रकट किया गया है[1] कि दशकुमारचरित को वास्तव में एक उपदेशात्मक कृति समझना चाहिए, जिसमें आकर्षक ढंग के आख्यानों द्वारा नीति-शास्त्र के सिद्धान्तों की शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया है। इस कथन को हम सरलता से एक अतिशयोक्ति और ग्रन्थकार के प्रति अन्याय कह सकते हैं। वे नीतिशास्त्र तथा कामशास्त्र के नियमों में अपने को निष्णात दिखाने के लिए कैसे ही उत्सुक क्यों न रहे हों, यह निश्चय है कि उनका वास्तविक ध्येय सुख का देना ही था। उनका वैशिष्ट्य साधारण कथा में काव्य की उत्कृष्ट शैली के प्रयोग में ही है, यद्यपि उसमें एक संयम है जो कि सुबन्धु और बाण में बिलकुल लुप्त हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा प्रयत्न उनसे प्राचीनतर ग्रन्थकारों ने भी किया था, यद्यपि वे हमारे लिए लुप्त हो चुके हैं। हम नहीं कह सकते कि भट्टार हरिचन्द्र, जिनका उल्लेख एक सुन्दर गद्य-लेखक के रूप में बाण ने अपने हर्षचरित की अवतरणिका में किया है, उक्त शैली में दण्डी के पूर्वज थे। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि गद्य में काव्य-शैली के प्रयोग का प्रारम्भ रुद्रदामा और हरिषेण के अभिलेखों में, जिनका विचार हम पहले कर चुके हैं, पाई जाने वाली-जैसी प्रशस्तियों में हुआ था और कथाओं में उसी प्रकार की शैली का प्रयोग उसके पश्चात् ही समुचित समझा गया। उक्त शैली के प्रयोग से कथा में उसके सरलतर रूप में होने वाले प्रभाव से नितरां भिन्नता आ गई। गुणाढ्य के ग्रन्थ से, यद्यपि वह अपने रूपान्तरों द्वारा ही हमको उपलब्ध है, हम पर द्रुतगामी और सरल आख्यान का ही निश्चित प्रभाव पड़ता है; कविजन उसमें अपनी वर्णन-शक्तियों को प्रयोग

१. Hertel, trans. iii. 8 ff.

में लाने के लिए रुकते नहीं हैं। दण्डी जिस शैली का नेतृत्व करते हैं उसमें आख्यान केवल ढाँचा रह जाता है और वर्णन सारांश बन जाते हैं।

तो भी दण्डी में हम उस समय से बहुत दूर हैं जबकि शैली का अभ्यास ही लक्ष्य माना जाता है। दशकुमारचरित की मुख्य रोचकता उसकी प्रतिपाद्य वस्तु[1] में है, जिसमें निम्नस्तरीय जीवन और वृत्तान्त का, ऐन्द्रजालिक और मायावी साधुओं का, राजकुमारियों और कष्टापन्न राजाओं का, वेश्याओं का, कुशल चोरों का और उन अनुरक्त प्रेमियों का, जो स्वप्न में अथवा भविष्यवाणी द्वारा अपने प्रेमी को प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते हैं, स्पष्ट और चित्रात्मक वर्णन पाया जाता है। देव-लोक के प्रति विशेष रूप से बहुत कम सम्मान प्रदर्शित किया गया है, और पुरोहित आदि का भी कोई महत्व नहीं है। यह बात नहीं है कि उसमें नैतिकता के विचारों की बिलकुल उपेक्षा की गई है; एक राजकुमार दूसरे की पत्नी के हथियाने के प्रयत्न में और अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए किये गये प्राणि-वध में अपने कृत्य के लिए नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर अपने को आश्वस्त करता है। शास्त्रों के अनुसार धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में से किसी एक का परित्याग न्याय्य है, यदि उससे अवशिष्ट दो की प्राप्ति में सहायता मिलती है। यदि उसने धर्म का अतिक्रमण किया है, तो उसके द्वारा उसने अपने माता-पिता को कारागार के बन्धन से बचने में सहायता दी है, और अपने लिए सफल प्रेम के आनन्दों को तथा एक राज्य को भी प्राप्त किया है। अपहारवर्मा चोरों का राजा है; चौर्यकला पर दुर्भाग्य-वश नष्ट एक पाठ्य पुस्तक के ग्रन्थकार कर्णीसुत द्वारा विहित आदर्श पर वह एक नगर को लूटने की योजना, वास्तव में, इसलिए बनाता है जिससे कि एक वेश्या द्वारा लूटे गये एक अभागे की क्षति-पूर्त्ति की जा सके; साथ ही, वह यह भी समझता है कि उस नगरी में आवश्यकता से अधिक कंजूस लोग निवास करते हैं। मन्त्रगुप्त दूसरे वेश में चुपके से एक मूर्ख राजा का विश्वास-पात्र बन जाता है, उसे अधिक सौन्दर्य प्राप्त करने के उद्देश्य से समुद्र में स्नान करने को फुसलाता है, उसका वध कर डालता है, और लोगों के सामने उसी राजा की नई शक्ल के रूप में अपना प्रदर्शन करता है, और साथ ही उस अद्भुत कृत्य की प्रशंसा करता है जिसने अनहोनी घटनाओं को घटित करने की देवताओं की क्षमता

---

१. कहाँ तक मौलिक है, इसका पता नहीं है, छठे उच्छ्वास में कथाओं के सन्निवेश का सादृश्य कथासरित्सागर में पाया जाता है । उसमें छठे मन्त्री के आवेदन में बेताल की कथाएँ आती हैं। और वहाँ नितम्बवती का भी सादृश्य विद्यमान है। कृतघ्न और आदर्श पत्नियों के चित्रों का सादृश्य १९३ और ५४६ संख्या वाले जातकों में पाया जाता है; Winternitz, GIL. iii. 357.

की खिल्ली उड़ाने वालों को लज्जित कर दिया है। विश्रुत अपने आश्रित राजपुत्र को पुनः राज्य-शक्ति दिलाने के उद्देश्य से देवमन्दिर और दुर्गा का नाम—इन दोनों का उपयोग एक सफल प्रपञ्च के करने में करता है। देवता-गण अत्यन्त गर्हित कृत्यों को न्याय्य सिद्ध करते हुए प्रतीत होते हैं; चन्द्रदेव का उल्लेख व्यभिचार को न्याय्य सिद्ध करने के लिए किया गया है, वेश्या धार्मिक तपस्वी को पथभ्रष्ट करने के अपने सफल प्रयत्न में स्वर्ग-सम्बन्धी अपवादों में प्रामाण्य पा सकती है। तपस्वी भी दृढ़ नहीं है, और केवल ब्राह्मणों को ही व्यंग्य का लक्ष्य नहीं बनाया गया है; वह व्यापारी, जिसका अधोवस्त्र तक वह उतरवा लेती है, अपने अधोवस्त्र को भी त्याग देता है और एक दिगम्बर जैन साधु बन जाता है, किन्तु यह स्वीकार करता है कि जिन की उदात्त शिक्षाएँ केवल एक प्रवंचनामात्र हैं। ब्राह्मणों का पुनः मज़ाक उड़ाया गया है जो अनिष्ट की सूचना देकर शुद्ध स्वर्ण के पात्रों द्वारा एक विशेष यज्ञ करना चाहते हैं; भिक्षुणियाँ दूतियों का काम करती हैं और एक बौद्ध महिला एक वेश्या की नौकरी में उसकी प्रधान कुट्टनी का काम करती है। भाग्य की शक्ति इन कर्मठ राजकुमारों के कार्यों को शासित नहीं करती। यह सच है कि जब अपहारवर्मा चोरी करते हुए पकड़ा जाता है, और पूर्णभद्र डाकुओं द्वारा पकड़ा जाता है, तब दोनों अपनी अपनी आपत्तियों का कारण भाग्य को बतलाते हैं, परन्तु उस चञ्चल भाग्यदेवता के निर्णयों का मानवीय उद्यम द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतिकार करने के लिए वे दोनों तत्पर और समर्थ हैं।

दण्डी के दृष्टिकोण की यथार्थवादिता भारतीय परम्परा की उस धारा के सर्वथा अनुरूप है जो ऋग्वेद से आरम्भ होकर आगे चलती है और जो किसी प्रकार के नैतिक विरोध के बिना ही देवताओं के दुष्कर्मों पर ध्यान रखती और उनका वर्णन करती है। इनके दृष्टिकोण की यह यथार्थवादिता, पूर्वपीठिका के लेखक की धार्मिक प्रवृत्ति से तुलना किये जाने पर, अधिक स्पष्टरूप में भासित होती है। पूर्वपीठिका के लेखक के मत में यज्ञ देवताओं का आवाहन करने वाली शक्ति है; पृथ्वी पर देवता-रूप पुरोहितों के प्रति भक्ति रखने के कारण राजहंस की प्रशंसा की गई है, परन्तु दण्डी उस एक स्थल को छोड़ कर पुरोहितों की इस उपाधि को कहीं भी स्वीकार नहीं करते, जहाँ उनके लिए किया गया धरणि-तल-तैतिल का प्रयोग उपहासपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ 'गैंडा' भी है। राजा के कुल-पुरोहित में स्वयं ब्रह्मा की संपूर्ण पवित्रता विद्यमान है, और मातङ्ग-नामक ब्राह्मण भयावह दुष्कर्म करने पर भी यम के नरकों के निरीक्षणार्थ उनका रोचक भ्रमण करके पुनः जीवित हो उठता है, क्योंकि उसकी मृत्यु एक ब्राह्मण के बचाने में हुई थी, और शिव के प्रति अपनी भक्ति के कारण पुरस्कृत होकर वह राजवाहन की सहायता से एक असुर राजकुमारी को तथा पाताल लोक के स्वामित्व को प्र.प्त करता

हैं। मालवनरेश पराक्रम से नहीं, किन्तु शिव की गदा से राजहंस पर विजय प्राप्त करता है। दण्डी ने मार्कण्डेय द्वारा सुरतमञ्जरी को, जिसकी हारयष्टि नहाते समय महर्षि मार्कण्डेय पर गिर पड़ी थी, दिये गये रजतशृंखला हो जाने के शाप के वर्णन को उपहास के रूप में उपस्थित किया है। पूर्वपीठिका में एक राजहंस के शाप के कारण शाम्ब को अपनी पत्नी से दो मास के लिए वियुक्त होना पड़ता है। नृपति-गण स्वतन्त्र कार्यकर्ता नहीं हैं; महान् वामदेव तथा उनके शिष्य राजवाहन के पिता तथा राजमहिषी की चौकसी तथा रक्षा करते हैं; राजवाहन अपनी प्रणयिनी राजकुमारी को एक ब्राह्मण की सहायता से ही प्राप्त कर सकता है।

दण्डी की मुख्य विशेषता उनका चरित्र-चित्रण है। अपने रङ्गमञ्च के अधिक महत्त्वपूर्ण पात्रों में ही जीवन डाल कर उनकी तृप्ति नहीं होती, किन्तु गौण पात्रों का भी उन्होंने सजीव तथा यथार्थ चित्रण किया है। तपस्वी मरीचि, वसुपालित नामक व्यापारी, और उनको पथभ्रष्ट करने वाली काममञ्जरी, वृद्ध ब्राह्मण जिसकी प्रमति से कुक्कुट-युद्ध में भेंट होती है और जो वधू को प्राप्त करने की उसकी चाल में, उसके आदेशों से भी आगे बढ़ कर, सच्चाई के साथ उसकी सहायता करता है, आरक्षिनायक कान्तक, जिसको धोखा देकर यह विश्वास कराया जाता है कि राजपुत्री उससे प्रेम करती है, और जो धात्री के मलिनांशुक को प्रेम के प्रमाणस्वरूप सम्हाल कर रख लेता है, और स्वयं धात्री, जिसका नाम शृगालिका है, जो राजकुमारी की प्राप्ति के निमित्त किये गये अपहारवर्मा के प्रयत्नों में सहायता पहुँचाती है—इन सभी का चित्रण सजीवता, शक्तिशालिता तथा अन्तर्दृष्टि के साथ किया गया है। दण्डी का क्षेत्र भी संकुचित नहीं है; आठवें उच्छ्वास में हमें युवा राजा अनन्तवर्मा, उसके स्वामिभक्त मन्त्री वसुरक्षित, जिसका वह इसलिए परित्याग कर देता है क्योंकि उसकी सलाह को वह अपनी रुचि की दृष्टि से कहीं अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण समझता है, और अपनी सलाह से राज्य तथा राजा दोनों को विनाश की ओर ले जाने वाले ओछे पर प्रत्युत्पन्नमति सभासद् विहारभद्र के चरित्रचित्रण में हमें दण्डी की गम्भीर दृष्टि प्राप्त होती है।

लेखक का हास्य तथा उसका प्रत्युत्पन्नमतित्व उल्लेखनीय है। ये दोनों गुण साधारणतः अन्य भारतीय ग्रन्थों की अपेक्षा दशकुमारचरित में आधुनिक रुचि के कहीं अधिक अनुकूल हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ राजकुमारों के साहसपूर्ण कार्यों में, अपना अभीष्ट प्राप्त करने के लिए उनके दृढ़ निश्चय में, और स्वप्नयुक्त साधनों की नैतिकता के प्रति उनकी विचारहीन उपेक्षा में अभिव्यक्त सूक्ष्म हास्य से व्याप्त है। वेश्या द्वारा मरीचि[1] के ठगे जाने का चित्रण पूर्ण सफलता के साथ हुआ है;

१. ऋष्यशृङ्ग के उपाख्यान की Lüders द्वारा की गई तुलना (GN. 1897, p. 109) अनावश्यक है। ईसाई धर्म-सम्बन्धी समानताओं के लिए देखिए Günter, *Buddha*, pp. 233 ff.

वह युवती वेश्या पवित्र जीवन की ओर अपने आकर्षित होने का बहाना बनाती है, तपस्वी उसे तापस जीवन की कठिनाईयों के प्रति सावधान करता है और कर्त्तव्य की ओर पुत्री की उदासीनता देख कर स्तम्भित माता को समझाता है कि वह उसे अपने उद्दिष्ट लक्ष्य का अनुभव करने को थोड़े समय के लिए वहाँ रह लेने दे; किन्तु खेद का विषय तो यह है कि वह तपस्वी ही वेश्या से तपस्विजनों के लिए अनुचित अनेक बातें सीख लेता है। बन्दी को बाँधने वाली रजतशृङ्खला अप्रत्याशित परन्तु आनन्ददायक रूप से एक सुन्दर कुमारी में परिवर्तित हो जाती है। रानी वसुन्धरा एक झूठे प्रवाद को फैलाने का एक चातुर्यपूर्ण रास्ता ढूंढ निकालती है; वह वृद्धतम नागरिकों एवं उच्चतम मन्त्रियों को एक गुप्त सभागृह में आमन्त्रित करती है जिसमें गोपनीयता का गम्भीर वचन दिला कर वह उस झूठे प्रवाद को प्रकाशित कर देती है। चम्पा नगरी के धनलोलुपों को सारी सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता दिखा कर, जिसे जनसामान्य की बोली में उनके धन की चोरी कहा जायगा, उन्हें अच्छी मनःस्थिति में रखने के लिये अपहारवर्मा के पवित्र संकल्प में परिहास का प्रशंसनीय पुट है। मित्रगुप्त चन्द्रसेना को एक जादू का अञ्जन देना चाहता है जिससे वह राजकुमार को एक बँदरिया की भाँति दिखाई पड़े, परन्तु वह उत्तर देती है कि वह इस जन्म में अपने मानवीय शरीर को छोड़ना नहीं चाहती। अर्थपाल भूमि के अन्दर एक सुन्दर युवती को पाता है जिसकी तुलना वह अनेक बुरे राजाओं की दृष्टि से बचने के लिए महीविवर का आश्रय लेने वाली राजलक्ष्मी से करता है। उपहारवर्मा राजा विकटवर्मा के साथ अत्यधिक कटु परिहास करता है जिसकी यह धारणा है कि उपहारवर्मा उसकी अत्यन्त प्यारी रानी (कल्पसुन्दरी) है। उसकी इस धारणा को पुष्ट करने के लिए उपहारवर्मा उससे भविष्य में अपने उस नये रूप को प्राप्त करके केवल रानी (कल्पसुन्दरी) तक ही अपने प्रेम को सीमित रखने की शपथ लेने को कहता है: मूढ़ विकटवर्मा शपथ लेने के लिए तैयार हो जाता है परन्तु उपहारवर्मा कहता है: किं वा शपथेन? कैव हि मानुषी मां परिभविष्यति? यद्यप्सरोभिः संगच्छसे, संगच्छस्व कामम्। कथय कानि ते रहस्यानि। तत्कथनान्ते त्वत्स्वरूपभ्रंशः। 'अथवा शपथ से क्या लाभ? कौन सी ऐसी नारी है जो मुझे पराजित कर सकेगी? यदि अप्सराओं से रमण करना चाहें तो जी भर कर करें। बताइये आपके रहस्य कौन कौन से हैं। इनको बताने के पश्चात् आपके स्वरूप का परिवर्तन होगा।' मूर्ख राजा विकटवर्मा परलोक की अप्सराओं से अपने वैवाहिक बन्धन की पूर्व सूचना देने वाले शब्दों का वास्तविक अर्थ नहीं समझ पाता और न यही समझता है कि उसे दिव्यतर रूप की प्राप्ति के स्थान में इस मर्त्य शरीर का भी त्याग करना पड़ेगा।

अपने ग्रन्थ के वस्तु-विन्यास में दण्डी अपनी विशिष्ट विवेचन-शक्ति प्रदर्शित करते हैं। वे ग्रन्थ का स्वर परिवर्तित करते रहते हैं; द्वितीय तथा पञ्चम उच्छ्वास के सरल अथवा उग्र हास्य से हम अष्टम उच्छ्वास की वस्तुतः दुःखान्त घटना तक जा पहुँचते हैं। दण्डी अपनी रचना का स्वरूप भी परिवर्तित कर देते हैं; उनके अधिकांश उच्छ्वासों में विषय-विच्छेद नहीं हुआ है, पर छठे उच्छ्वास में हमें धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती और नितम्बवती की चार चातुर्यपूर्ण कथाएँ प्राप्त होती हैं जो क्रमशः इस सिद्धान्त का उदाहरण देने के लिए कही गई हैं कि केवल चातुर्य से ही अत्यधिक दुष्कर कार्यों को सिद्ध किया जा सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, यदि वर्त्तमान प्रारम्भ के पूर्व का भाग पूर्ण कर दिया गया होता तो निस्संदेह हमें प्राचीन प्रेम के दृश्यों के कुछ चित्र उपलब्ध होते।

दण्डी को निस्सन्देह अपनी भाषा के प्रयोग में आचार्यत्व प्राप्त है। वे आख्यान का सरल एवं सुबोध वर्णन करने में सर्वथा समर्थ हैं, और अपने पात्रों द्वारा कहलाये जाने वाले भाषणों में वे भाषा की जटिलता एवं विस्तार के दोष को सावधानी के साथ दूर रखते हैं। परन्तु वर्णनों में वे अपनी प्रतिभा तथा भाषा पर अपना अधिकार प्रदर्शित करने के लिए उद्यत रहते हैं और इनमें वे मुख्यतया वैदर्भी रीति के अनुयायी हैं, तथा, एक पारम्परिक मूल्याङ्कन के अनुसार, वे पदलालित्य में सबसे आगे बढ़ जाते हैं। उनका लक्ष्य अभिव्यक्ति की यथार्थता तथा अर्थ की स्पष्टता है, और साथ ही वे कर्णकटु ध्वनियों तथा अत्युक्ति अथवा शब्दाडम्बर से भी बचना चाहते हैं। उनके ग्रन्थ में सौन्दर्य, ध्वनि का सामञ्जस्य, और रस की प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। गद्य में दीर्घसमासों की रचना के अधिकार का वे उचित संयम के साथ खुला उपयोग करते हैं, परन्तु मुख्यतः उनके समास समझने में कठिन नहीं हैं। वर्णन के प्रकारों को परिवर्तित करने की उनकी इच्छा विशेषरूप से उल्लेखनीय है और इसके प्रभावजनक उदाहरण प्राप्त होते हैं उन्हें एक निद्रामग्न युवती के सौन्दर्य का दो बार वर्णन करना पड़ा है; पहली बार[1] उन्होंने नायक द्वारा देखी जाती हुई युवती की सारी पूर्णताओं की सूची प्रस्तुत की है और उसके झीने वस्त्रों से दृष्टिगत होने वाली उन पूर्णताओं का सूक्ष्मतम विवरण उपस्थित किया है; दूसरी बार का वर्णन यथार्थवादी नहीं है, किन्तु युवती के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति चार पौराणिक तथा प्राकृतिक उपमाओं से की गई है।[2] अनावृत सौन्दर्य का चित्र एक बार और खींचा गया है, परन्तु यहाँ अवसर भिन्न है; नायक एक ज्योतिषी का वेश धारण करता है और इस रूप में उसे एक सुन्दर युवती के निरीक्षण का विशिष्ट अधिकार प्राप्त होता है जिसे यह जानने के लिए

१. ii. p. 62.

२. v. p. 13.

उसके सम्मुख उपस्थित किया जाता है कि विवाह के उपयुक्त शुभ लक्षण उसमें हैं या नहीं ।[1] भूमिगृह में निवास करने वाली सुन्दर युवती के वर्णन की चतुरतापूर्ण समाप्ति का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है, जहाँ अनेक अधिक परम्परायुक्त प्रशंसात्मक विशेषणों के अनुसरण से परिहास को विशेष रूप से चुभता हुआ बना दिया गया है।[2] एक दूसरा वर्णन निश्चित रूप से नैपुण्यपूर्ण है और उस सुन्दरी को ही सम्बोधित किया गया है : **भामिनि ननु बह्वपराद्धं भवत्या चित्तजन्मनो यदमुष्य जीवितभूतां रतिमाकृत्या कदर्थितवती, धनुर्यष्टिं भ्रूलताभ्यां, भ्रमरमालामयीं ज्यां नीलालकद्युतिभिः, अस्त्राण्यपाङ्गवीक्षितवृष्टिभिः, महारजनध्वजपटांशुकं दशनच्छद-मयूखजालैः, प्रथमसुहृदं मलयमारुतं परिमलपटीयसा निःश्वासपवनेन, परभृतरुतमतिमञ्जुलैः प्रलापैः, पुष्पमयीं पताकां भुजयष्टिभ्यां, दिग्विजयारम्भपूर्णकुम्भमिथुनमुरोजयुगलेन, क्रीडासरो नाभिमण्डलेन, सन्नाह्यरथमण्डलं श्रोणिमण्डलेन, भवनरत्नतोरणस्तम्भयुगलमूरुयुगलेन, लीलाकर्णकिसलयं चरणतलप्रभाभिः** । 'भामिनि, आपके द्वारा कामदेव के अनेक अपराध किये गये हैं। आपकी आकृति द्वारा काम की प्राणों के समान प्यारी रति तिरस्कृत की गई है, भ्रूलताओं द्वारा कामदेव का धनुष, काले केशों की कान्ति से उनकी भ्रमरों की श्रेणियों वाली प्रत्यञ्चा और कटाक्षों की वृष्टियों से कामदेव के अस्त्र तिरस्कृत किये गये हैं। ओठों की किरणों के समूह से आपके द्वारा काम की कुसुम्भी पताका की प्रभा का तथा निःश्वासों के मधुर सुगन्ध से युक्त पवन द्वारा कामदेव के प्रधान मित्र मलयानिल का अनादर किया गया है। अतिमनोहर कण्ठध्वनियों द्वारा कोकिल, बाहुलताओं द्वारा पुष्पमयी पताका, और दोनों कुचकुम्भों द्वारा काम की दिग्विजय के आरम्भ के दोनों पूर्ण माङ्गलिक कलश पराभूत किये गये हैं। आपके नाभिमंडल द्वारा काम के क्रीड़ा सरोवर, दोनों नितम्बों द्वारा कामदेव के युद्ध के लिए सुसज्जित रथ तथा ऊरुयुगल द्वारा कामभवन के दोनों खम्भों का तिरस्कार किया गया है । आपके चरणतल की प्रभा द्वारा काम के विलासार्थ धारण किये गये कर्णपल्लव अनादृत किये गये हैं।' अरुणोदय तथा सूर्यास्त के उन वर्णनों के प्रसङ्ग में, जिनमें वे आनन्द का अनुभव करते हैं, अभिव्यक्ति के उनके अनेक परिवर्तनों में ऐसा ही वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है। अतः उपहारवर्मा अरुणोदय को इस प्रकार देखता है : **चिन्तयत्येव मयि महार्णवोन्मग्नमार्तण्डतुरङ्गमश्वासरयावधूतेव व्यवर्तत त्रियामा समुद्रगर्भवासजडीकृत इव मन्दप्रतापो दिवसकरः प्रादुरासीत्** । 'मेरे इस प्रकार विचार करते हुए ही मानो महासमुद्र से उठते हुए सूर्य के घोड़ों के श्वासों के वेग से कम्पित होती हुई रात्रि व्यतीत हो गई और मन्द तेज वाले सूर्य का उदय हुआ जो मानो समुद्र के गर्भ में निवास करने के कारण

१. vi. p. 51.
२. iv. p. 10.

जड़ीभूत हो गया था।' धूमिनी के आख्यान में उस कथा की दुःखान्त घटनाओं के कारणभूत भयावह अकाल के वर्णन में दण्डी की शैली की सरलता और सजीवता का एक अत्यन्त प्रभावशाली निदर्शन प्राप्त होता है: **क्षीणसारं सस्यम्, ओषधयो वन्ध्याः, न फलवन्तो वनस्पतयः, क्लीबा मेघाः, भिन्नस्रोतसः स्रवन्त्यः, पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निर्निःस्यन्दान्युत्समण्डलनि, विरलीभूतं कन्दमूलफलम् अवहीनाः कथाः, गलिताः कल्याणोत्सवक्रियाः, बहुलीभूतानि तस्करकुलानि, अन्योन्यमभक्षयन् प्रजाः, पर्यलुण्ठन्नितस्ततो वलाकापाण्डुराणि नरशिरःकपालानि, पर्यहिण्डन्त शुष्काः काकमण्डल्यः, शून्यीभूतानि नगरग्रामखर्वटपुटभेदनादीनि।** 'अन्न निःसार हो गया। औषधियां निष्फल हो गईं। वृक्ष फलरहित हो गये। मेघ जलविहीन हो गये। नदियों की धाराएँ क्षीण हो गईं। तालावों में कीचड़मात्र ही बच रही। झरनों का वहना रुक गया। कन्द, मूल और फल कम हो गये। कथाएँ वन्द हो गईं। मांङ्गलिक उत्सवों की क्रियाएँ वन्द हो गईं। चोर वढ़ गए। लोग एक दूसरे को खाने लगे। वगुलों के सदृश शुभ्र मनुष्यों के कपाल इधर उधर लोटने लगे। दुर्वल कोओं का झुण्ड इधर-उधर घूमने लगा। नगर, ग्राम, खर्वट (छोटे ग्राम) और पुटभेदन (पल्ली) सभी शून्य हो गये।' यह वात महत्त्वपूर्ण है कि **पूर्वपीठिका** का लेखक वर्णन करने में अपने आदर्शभूत **दशकुमारचरित** के लेखक से होड़ नहीं कर सकता है, यद्यपि वह दीर्घतर समासों का वहुत वढ़ा-चढ़ा कर प्रयोग करता है और भूमिका में दण्डी के नाम पर श्लेष करता हुआ एक पद्य भी लिख देता है। वह तुकों का निरन्तर प्रयोग करते हुए अनुप्रास और यमक के अतिशय प्रयोग की भी गम्भीर भूल करता है: **कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयशंसं राजानमकार्षुः।** 'कामदेव के सदृश सुन्दर, राम आदि के समान पौरुष वाले, अपने क्रोध से शत्रुओं को भस्म कर देने वाले और अपने वेग से वायु का भी तिरस्कार करने वाले राजकुमारों ने अपनी रणयात्रा से राजा को विजय की आशा से युक्त कर दिया।' यह सन्देह किया जा सकता है कि क्या **महदायुध, महदभिख्या, महदाशा, आवोचि, शासन्, अवंशि** जैसे अशुद्ध रूपों का कारण, जो हमें हस्तलिखित पोथियों में परम्परा से प्राप्त हैं, लिपिकरों द्वारा की गई अशुद्धियों अथवा विद्वत्तापूर्ण पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति की अपेक्षा **पूर्वपीठिका** के लेखक की अपनी असावधानी नहीं

हो सकती ।[1] दण्डी के दशकुमारचरित में जिन रूपों के प्रयोग की निन्दा की गई है उनसे ये अत्यन्त भिन्न हैं, जैसे आलिङ्गयितुम्, ब्राह्मणब्रुवः, एनमनुरक्ता, जिनका यथावस्थित रूप में स्पष्टतः ही समर्थन किया जा सकता है।

तथापि हमें इस बात को अस्वीकार नहीं करना चाहिए कि दण्डी में भी यत्र-तत्र भाषा को बोझिल बनाने की आकांक्षा के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। जिस अद्भुत कौशल के साथ मन्त्रगुप्त द्वारा सप्तम उच्छ्वास का ओष्ठ्य वर्णों से रहित[2] वर्णन किया गया है, क्योंकि उसकी प्रियतमा ने उसके अधरोष्ठ पर इतना गहरा दन्तक्षत किया है कि वह ओष्ठ्य वर्णों का उच्चारण ही नहीं कर सकता, वह उल्लेखनीय तो है किन्तु प्रशंसनीय नहीं। द्वितीय उच्छ्वास में हमें जटिल तर्क का एक अंश[3] प्राप्त होता है जिसकी अपूर्ण रूप से अभिव्यक्ति की गई है; अर्थावगति की कठिनता के कारण वह सुबन्धु अथवा बाण के लिए भले ही श्रेय की बात हो सकती। किन्तु दण्डी में इस प्रकार के अतिक्रम अपवादस्वरूप हैं, और यद्यपि भारतीय रुचि अन्य महान् गद्य-काव्य के लेखकों की शैली के साथ उनकी शैली की गणना कभी न करेगी, तो भी आधुनिक माप-दण्डों के अनुसार यह बहुत अधिक पसन्द किये जाने योग्य है। एक बात में दण्डी सुबन्धु से भी आगे बढ़ जाते हैं। वे इस नियम का पालन करते हैं कि लिट् लकार का प्रयोग परोक्ष वर्णनों के लिए ही किया जाना चाहिए।[4] अतः राजकुमारों के आख्यानों में लिट् लकार नहीं रखा गया है, यद्यपि छठे उच्छ्वास में रखी गई चार कहानियों में इसका प्रयोग किया गया है; राजकुमारों के आख्यानों में वे केवल लङ्, लुङ, ऐतिहासिक वर्तमान, और क्त एवं क्तवतु प्रत्ययों का ही प्रयोग करते हैं। उनके द्वारा किया गया लुङ् का प्रायेण प्रयोग व्याकरण के साथ उनके गाढ़ परिचय का द्योतक है और इस बात क प्रदर्शन के सम्बन्ध में उनकी उत्सुकता की ओर भी संकेत करता है।

---

१. पूर्वपीठिका और दण्डी द्वारा रचित दशकुमारचरित की पारस्परिक भाषा-सम्बन्धी विभिन्नताओं के लिए देखिये Gawroński, *Sprachl. Untersuchungen über das Mṛcchakaṭika und das Daśakumāracarita* (1907), pp. 47 ff.

२. काव्यादर्श, ३/८३, में इस प्रकार के कौशल की कठिनता स्वीकार की गई है। तुलना कीजिए Jacobi, ZDMG. xl. 99. Pindar को s वर्ण से रहित एक कविता रचने का श्रेय दिया जाता है; तुलना कीजिए Ohlert, *Rätsel und Rätselsprüche*, pp. 3 ff.

३. p. 50, II. 7 f. (Bühler का संस्करण).

४. Speyer, *Sansk. Synt.*, p. 248.

४. सुबन्धु

दण्डी की भाँति सुबन्धु के सम्बन्ध में भी हमें बहुत कम ज्ञात है। सर्वप्रथम बाण ने उनका उल्लेख किया है जिन्होंने **हर्षचरित** की भूमिका में **वासवदत्ता** को कवियों के गर्व को शान्त करने वाला बतलाया है और **कादम्बरी** में स्वयं अपनी रचना की प्रशंसा करते हुए वे **अतिद्वयी** (='दो से बढ़ कर') विशेषण का प्रयोग करते हैं जिसका सङ्केत **वासवदत्ता**[1] तथा गुणाढ्य की **बृहत्कथा** के प्रति माना जाता है। इस विशेषण का तात्पर्य सुबन्धु की रचना से है, इसके सम्बन्ध में अब गम्भीरतापूर्वक सन्देह नहीं किया जाता, क्योंकि स्वयं पीटर्सन (Peterson) ने इस सम्बन्ध में अपने सन्देह का सुझाव बहुत दिनों पहले ही वापस ले लिया था। सुबन्धु का नाम वाक्पतिराज के **गौडवह** में भास, कालिदास, और हरिचन्द्र के साथ आता है; मङ्ख ने अपने **श्रीकण्ठचरित** में उनको मेण्ठ, भारवि तथा बाण की कोटि में रखा है; और **राघवपाण्डवीय** में कविराज की यह गर्वोक्ति है कि सुबन्धु, वे स्वयं तथा बाण वक्रोक्ति-मार्ग के आचार्य हैं; ११६८ ई० के एक कन्नड़ी अभिलेख में उन्हें काव्यकला का आचार्य कहा गया है। अत्यन्त परवर्ती परम्परा उन्हें आख्यानप्रसिद्ध विक्रमादित्य का समकालीन तथा वररुचि का भानजा बनाती है। परन्तु विक्रमादित्य का एकमात्र उल्लेख सुबन्धु का सुदूर अतीत में होना ही दिखलाता है, और सुबन्धु का काल बाण से उनकी पूर्ववर्तिता पर आश्रित होना चाहिए, जो उन दोनों के पदविन्यास में स्पष्टतः प्रतीत होने वाली अनेक समानताओं से, और दूसरी ओर स्वयं उनके ग्रन्थों के उल्लेखों से प्रकट होती है। सुबन्धु के परिचित अनेक ग्रन्थों में से अधिकांश निश्चित रूप से प्राचीनतर हैं, जैसे **रामायण** और **महाभारत**, **कामसूत्र**, **नाट्यशास्त्र** का **छन्दोविचिति** भाग, और **बृहत्कथा**; परन्तु वे केवल उपनिषदों से ही नहीं किन्तु न्याय तथा मीमांसा दर्शन और बौद्ध दर्शन से भी अच्छी तरह से परिचित थे। एक स्थल हमें उनकी उच्चतम सीमा निश्चित करने में सहायता पहुँचाता है; वे एक युवती का वर्णन इस प्रकार करते हैं: **न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपां बौद्धसङ्गतिमिव अलङ्कारभूषिताम्**। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ उद्योतकर का उल्लेख है; सम्भवतः इसमें आगे आने वाला उल्लेख बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का है, जैसा कि शिवराम का कथन है, क्योंकि अब हम यह जानते हैं कि सम्भवतया

---

१. Ed. F. Hall, BI. 1859; दक्षिण भारतीय पाठ, ed. L. H. Gray, CUIS. 8, 1913, अनुवादसहित। तुलना कीजिए Peterson, **सुभाषितावली**, पृष्ठ १३३.

उद्योतकर ने धर्मकीर्ति के ग्रन्थ का उपयोग किया था और धर्मकीर्ति ने उद्योतकर के ग्रन्थ का, और उन दोनों को एक ही साथ उल्लिखित पाने से अधिक स्वाभाविक बात कोई दूसरी नहीं हो सकती। परन्तु इसका अर्थ यह है[1] कि धर्मकीर्ति के काल के विषय में जो साक्ष्य प्राप्त होता है उसको दृष्टि में रखते हुए, सुबन्धु को सातवीं शताब्दी के द्वितीय पाद में रखा जाना चाहिए, और वे बाण के समकालीन-मात्र थे जिनकी कृति बाण की कृति के पूर्व ही प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई थी। बाण के विपरीत, सुबन्धु ने हर्षवर्द्धन के आश्रय को नहीं पाया होगा, और हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उन्होंने किसी अन्य राजधानी में रहकर अपना प्रणयन किया होगा।

५. वासवदत्ता

यद्यपि **वासवदत्ता** यह नाम भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध है, तो भी उसमें कोई ऐसी कथा नहीं मालूम होती जो सुबन्धु की कथा के सदृश हो। कात्यायन के एक वार्त्तिक[2] पर भाष्य लिखते हुए पतञ्जलि ने एक आख्यायिका के विषय के रूप में वासवदत्ता के नाममात्र का उल्लेख किया है; किन्तु इससे हमारा यह अनुमान लगाना कि वे इस कथा से परिचित थे, सत्य से परे है। यह बात भी विशेष महत्त्व की नहीं है कि हम इस ग्रन्थ को पारिभाषिक रूप से आख्यायिका के अन्तर्गत समझें अथवा कथा के। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में बाण[3] वस्तुतः प्रथम संज्ञा के प्रयोग के औचित्य का ही सुझाव देते हैं। यद्यपि दण्डी[4] का एतद्विषयक विवाद को मूर्खतापूर्ण समझते हुए उसे अपने ग्रन्थ में स्थान न देना उचित ही है, किन्तु यह स्पष्ट है कि यदि भेद किये ही जाएँ, तो **वासवदत्ता** कथा के स्वरूप के ही अधिक अनुरूप है। तथाच, यदि हम आख्यायिका के आवश्यक लक्षण ये मानें कि वह नायक द्वारा कही जाती है, उच्छ्‌वासों में विभक्त की जाती है, उसमें वक्त्र[5] तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग रहता है, तो ये लक्षण इस ग्रन्थ में पूरे नहीं उतरते; दूसरी ओर, यदि हम अमरसिंह[6] द्वारा किए गए अन्तर को

---

१. Keith, JRAS. 1914, pp. 1102 ff. अलङ्कार को अलङ्कारशास्त्रविषयक कोई ग्रन्थ नहीं समझना चाहिए।

२. पाणिनि ४/३/८७ पर; तुलना कीजिए ४/२/६० पर।

३. हर्षचरित ५/१०।

४. काव्यादर्श १/२३ आदि।

५. तु० सुबन्धु (Hall का संस्करण), पृ० १८४।

६. १/६/५।

स्वीकार करके कथा के उत्पाद्य (कविकल्पित) कथावस्तु के विपरीत आख्यायिका के कथावस्तु को प्रख्यात मानें, तो भी वासवदत्ता पर आख्यायिका के लक्षण लागू नहीं होते। वासवदत्ता की कथा का कादम्बरी की, जो स्पष्टतः एक कथा है, कथाविधि के साथ सादृश्य वासवदत्ता के कथा होने के पक्ष में लगभग निर्णायक है।[1] कुछ अंशों तक सुबन्धु की मौलिकता को स्वीकार करते हुए भी हम यह मान सकते हैं कि उन्होंने भारतीय आख्यानों की सारी चलताऊ सामग्री का उपयोग किया है, जैसे स्वप्न में किसी का अपनी भावी प्रियतमा को देखना, पक्षियों की बातचीत को चुपके से सुनना, जादू के घोड़े, मुनियों के शाप का सांघातिक प्रभाव, रूप-परिवर्तन, और अपने प्रियतम के आलिङ्गन द्वारा वास्तविक स्वरूप की पुनः प्राप्ति। कवि का लक्ष्य मुख्यतः भाषा के अपने असाधारण कौशल को प्रदर्शित करना रहा है, न कि कथावस्तु अथवा पात्रों के सम्बन्ध में विचार करना।

चिन्तामणि-नामक राजा के कन्दर्पकेतु नाम का एक सुन्दर पुत्र है, जो अपने से भी अधिक सुन्दर किसी लड़की को स्वप्न में देखता है; उसको नींद नहीं आती और वह अपने मित्र मकरन्द के साथ उस अपरिचिता को ढूंढ़ने के लिए निकल पड़ता है। विन्ध्य पर्वत पर निद्राविहीन पड़ा हुआ वह राजकुमार चुपके से रात्रि के एकान्त में एक क्रुद्ध मैना को अपने पति तोते को डाँटते हुए सुनता है। तोता देर से आने के अपराध का यह कहकर परिहार करता है कि किस प्रकार शृङ्गार-शेखर-नामक राजा के अनन्य सुन्दरी वासवदत्ता नाम की एक कन्या है, जो स्वप्न में एक युवक का सुन्दर रूप देख कर उसके प्रति अत्यधिक आसक्त हो जाती है। उसने अपनी विश्वस्त दूती तमालिका को उस युवक के पास अपने प्रगाढ़ प्रेम का विश्वास दिलाने के लिए भेजा है। विना किसी कठिनाई के पाटलिपुत्र (?) में कन्दर्पकेतु और वासवदत्ता का मिलन हो जाता है, किन्तु राजकुमार कन्दर्पकेतु को यह जानकर बड़ा दुःख होता है कि वासवदत्ता की अविवाहित अवस्था से ऊबं कर राजा ने उसका विवाह विद्याधरों के राजा पुष्पकेतु से करने का निश्चय कर लिया है। अतः प्रेमी-प्रेमिका दोनों एक जादू के घोड़े की सहायता से विन्ध्याचल भाग जाते हैं जहाँ वे नींद में सो जाते हैं। जागने पर राजकुमार को यह देख कर दुःख होता है कि वासवदत्ता कहीं चली गई है, और अपनी उस निराशा में एक आकाशवाणी उसे आत्मघात से बचाती है और उसे पुनर्मिलन का विश्वास

---

१. भामह (१/२७) के अनुसार ही प्रकृत कथा में भी कुमारी का हरण, संग्राम (पृ० २९० और आगे; Nobel द्वारा किया गया निषेध (*Indian Poetry*, p. 185) दृष्टिभ्रम के कारण है), वियोग, और सफलता विद्यमान हैं और यह मौलिक प्रतीत होती है।

दिलाती है। इधर-उधर बहुत घूमने के पश्चात् वह एक शिलापुत्रिका देखता है जिसमें उसके स्पर्श से जीवन का सञ्चार हो जाता है और वह उसकी प्रियतमा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। पुनर्मिलन होने पर वे दोनों सुखपूर्वक कन्दर्पकेतु की राजधानी में रहने लगते हैं। स्पष्टतः ही कथानक उपेक्षणीय है और गम्भीर विवेचन के योग्य भी नहीं है, परन्तु सुवन्धु पर अशिष्टता अथवा बर्बरता का अपराध लगाना, जैसा कि एक सुप्रख्यात सम्पादक ने किया था, अनुचित होगा। मध्यविक्टोरियन युग के औचित्यविषयक विचारों को भारतवर्ष पर लागू करना स्पष्टतः मूर्खतापूर्ण तथा पूर्णतः भ्रामक है। कालिदास-समेत समस्त भारतीय लेखक स्वाभाविक रूप से रसिकतापूर्वक स्त्रियों की सुन्दरता और सम्भोगसुखों का सूक्ष्म वर्णन करते हैं जो पाश्चात्य-रुचि-सम्बन्धी रूढ़ियों के अनुकूल नहीं हैं। परन्तु इसी प्रकार की निन्दा स्विनवर्न (Swinburne) के समकालीनों ने उसकी की थी, और शेक्सपियर की स्पष्टवादिता, जर्मनों की अपेक्षा अँगरेज़ों को अधिक अरुचिकर प्रतीत होती है। यह नितान्त आवश्यक है कि अनैतिकता से इस प्रकार के वर्णनों का सम्बन्ध-विच्छेद किया जाय और केवल कलात्मक आधारों पर ही उनका खण्डन-मण्डन किये जाने पर वल दिया जाय। जो कुछ हमें भारत के महान् कवियों में प्राप्त होता है उसमें और अनैतिक दृश्यों के वर्णन में Martial और Petronius के निर्भीक आनन्द में महान् अन्तर है।

सुवन्धु की रचना में हमें शैली का व्यायाम दृष्टिगोचर होता है, जिसका उपयोग पर्वत, नदी, स्रोत, राजकुमार के शौर्य, नायिका के सौन्दर्य और विरोधी सेनाओं के युद्ध के वर्णनों में किया गया है। उस युद्ध के कारण राजकुमारी विनष्ट हो गई क्योंकि वह अनजाने में एक मुनि के आश्रम में अनधिकृत रूप से प्रविष्ट हो गई थी और उसने मुनिवर्ग के परम्परागत अन्याय के साथ उसे एक पत्थर में बदल जाने का शाप दे दिया था। सुबन्धु में गम्भीर चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी कोई भी बात नहीं है; स्वयं सुवन्धु का यह दावा है कि वे **प्रत्यक्षरश्लेषमयविन्यासवैदग्ध्य-निधि** (प्रत्येक अक्षर के श्लेषमय विन्यास के लिए अपेक्षित दक्षता के निधि) हैं, और यह वात उनके गद्य में भी प्राप्त होती है जिसके बीच में यत्र-तत्र पद्य भी मिले हुए हैं और जिसकी भूमिका पद्यों में है। सुबन्धु के अनुवादक ने उदारतापूर्वक दीर्घ एवं निरन्तर प्रयुक्त समासों में एक वास्तविक स्वर-माधुर्य, डेढ़-डेढ़ पंक्तियों के शब्दों का ऐसा वैभव जिसकी संस्कृत से भिन्न अन्य किसी भाषा में समता नहीं की जा सकती, अनुप्रासों का शान्तिप्रद संगीत और श्लेषों की गाढ़ संक्षिप्तता जो अधिकांश में अर्थगौरव एवं द्विविध औचित्य के वस्तुतः रत्नभूत है—इन गुणों का उनके लिए दावा किया है और यह न्याय्य भी है। वस्तुतः

सुबन्धु का आदर्श स्पष्टतः गौडी शैली थी जिसमें अतिशय दीर्घसमास, व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थों के प्रति अनुराग, विचारपूर्वक की गई अत्युक्ति, श्रुतिकटु ध्वनियों के प्रति प्रेम, अनुप्रास के प्रति आसक्ति, ध्वनि के साथ अर्थ का सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न, और अलङ्कारों के, विशेषतः श्लेष एवं विरोधाभास के, प्रयोग में गूढ़ अर्थों का अनुसन्धान प्रमुख तत्त्व हैं। सुबन्धु की यह उपलब्धि कहाँ तक मौलिक थी, यह हम इतने अधिक साहित्य के अभाव के कारण, जो अब लुप्त हो चुका है, नहीं कह सकते, परन्तु निश्चय ही दण्डी की शैली सुबन्धु से बहुत भिन्न है। यह बात भी ध्यान आकृष्ट करती है कि सुबन्धु के पश्चाद्वर्ती काल में हमें अभिलेखों[1] में श्लेष तथा विरोध नाम के अलङ्कारों का प्रायः खुला प्रयोग मिलना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार, सुबन्धु के **धनदेनापि प्रचेतसा** (अर्थात्, जो कुबेर होने के साथ-साथ वरुण भी है; परिहार पक्ष में: जो उदार होने के साथ-साथ बुद्धिमान् भी है) के समकक्ष हमें **धनदोऽपि न प्रमत्तः** (अर्थात्, वह कुबेर होने पर भी वरुण (? प्रमत्त) नहीं था; परिहार पक्ष में: वह उदार होने पर भी असावधान नहीं था) प्राप्त होता है। परन्तु यहाँ यह कह देना चाहिए कि अनुप्रास, जो एक विशिष्ट उद्देश्य से प्रयुक्त होने पर आकर्षक प्रतीत होता है, बहुत अधिक उपयोग में लाया जाने पर उबाने वाला हो जाता है, और श्लेषों की शृङ्खला से न थक जाना असम्भव है, भले ही उन्हें ग्राम्य न कहा जा सके और वे केवल अरोचक मात्र हों। यह माना कि संस्कृत भाषा में उपलब्ध साधनों की सहायता से सुबन्धु की कल्पना[2] चातुर्यपूर्ण श्लेषों के एक बृहत् वैचित्र्य की सृष्टि करने में समर्थ है, तो भी उनमें एतद्विषयक संयम तथा विवेक का प्रत्यक्षतः अभाव है। इसके अतिरिक्त, एक ही क्रिया पर आधारित एक विशाल वाक्य की रचना करने की क्षमता उनमें पूर्णरूप में वर्त्तमान है; जबकि उस वाक्य की विस्तृत परिधि के भीतर विशेषणों की माला की सहायता से, जिसमें प्रत्येक विशेषण एक दीर्घ समास से निष्पन्न होता है इतनी अनन्त सामग्री रहती है कि मस्तिष्क उसे एक ही समय में ग्रहण नहीं कर सकता। गद्य का दोष यहाँ प्रचुरता से प्रकट है; पद्य-रचना संक्षिप्तता तथा कुछ मात्रा में संयम के लिए विवश करती है और सुबन्धु के कुछ पद्य[3] यह दिखलाते हैं कि नियन्त्रण में रखे जाने पर वे वस्तुतः प्रभावपूर्ण

---

१. ग्वालियर अभिलेख (874-5) EI. i. 157, तु० गोविन्द तृतीय (807-8) का अभिलेख, EI. vi. 246 ff. और अन्य अभिलेख (Gray, p. 31)।

२. यत्र-तत्र उन्होंने प्राचीन पद्यों को गद्य में परिणत कर दिया है; Zachariae, गुरुपूजाकौमुदी, pp. 38 ff.

३. प्रस्तावना की बारह आर्याओं के पश्चात् पद्यों के केवल तीन स्थल हैं, आर्या, शार्दूलविक्रीडित (२); शिखरिणी, स्रग्धरा; आर्या।

रचना में समर्थ थे। सिंह के आक्रमण का यह श्लेपरहित चित्र प्रशंसनीय है—

पश्योदञ्चदवाञ्चदञ्चितवपुःपश्चार्धपूर्वार्धभाक्
स्तब्धोत्तानितपृष्ठनिष्ठितमनाग्भुग्नाग्रलाङ्गूलभृत्।
दंष्ट्राकोटिविशङ्कटास्यकुहरः कुर्वन् सटामुत्कटाम्
उत्कर्णः कुरुते क्रमं करिपतौ क्रूराकृतिः केसरी॥

'देखो अपने सुन्दर शरीर के पिछले और अगले अर्ध भाग को क्रमशः उठाये और झुकाये हुए, निश्चल और ऊपर को तानी हुई पीठ पर स्थित और कुछ कुछ कुटिल अग्रभाग वाली पूँछ को धारण करने वाला, दंष्ट्राओं के अग्रभाग से भयावह मुख-विवर वाला, और क्रूर आकृति वाला यह सिंह कान खड़े कर के, अयालों को ऊपर उठाता हुआ, गजराज पर आक्रमण कर रहा है।'

सिंह का यह चित्र प्रत्येक अंश में सम्पूर्ण है, और अनुप्रास का प्रयोग सम्भवतः प्रभाव की वृद्धि करता है; टकार का अनेकशः प्रयोग तथा कर्णकटु ध्वनियों का संयोग इसको और भी अधिक प्रभावशाली बना देते हैं। उपर्युक्त पद्य अलङ्कार-शास्त्र में स्वभावोक्ति नाम से निर्दिष्ट अलङ्कार का उदाहरण है, जो मूलतः सजीव चित्रण ही होता है। सहोक्ति अलङ्कार का, जो रामायण में पहले से ही प्राप्त है, एक उदाहरण, **समं द्विषां धनुषां च जीवाकृष्टि योधाश्चक्रुः** (योद्धाओं ने एक साथ ही धनुष की प्रत्यञ्चा और अपने शत्रुओं के प्राण खींच लिये) में उपलब्ध होता है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार अनेक काल्पनिक उड़ानों में दृष्टिगत होता है, जैसे चन्द्रमा के इस वर्णन में : **दधिधवले कालक्षपणकग्रासपिण्ड इव निशायमुनाफेनपुञ्ज इव मेनकानखमार्जनशिलाशकल इव** 'दधिसदृश श्वेत कालवर्ण क्षपणक के लिए भोजन के ग्रास का पिण्ड-सा, निशारूपी यमुना के फेन के समूह-सा, मेनका के नख के मार्जन के लिए पत्थर के एक टकड़े-सा।' इसी से मिलता-जुलता सम्भावना अलङ्कार के अन्तर्गत यह मानसिक चित्र है : **त्वत्कृते यानया वेदनानुभूता, सा यदि नभःपत्रायते, सागरो मेलानन्दायते, ब्रह्मायते लिपिकरो, भुजगराजायते कथकस्तदा किमपि कथमप्यनेकयुगसहस्रैरभिलिख्यते कथ्यते वा।** 'जो वेदना इसने तुम्हारे लिए अनुभव की है, वह तब किसी तरह कुछ कुछ हजारों युगों में लिखी या कही जा सकती है, जब आकाश कागज़ बन जाय, समुद्र दावात बन जाय, लेखक ब्रह्मा बन जाय, और कहने वाला शेष नाग बन जाय।'[1] सीमा के भीतर श्लेष आकर्षक हैं, जैसे इस पद्य में :

स(?सा) रसवत्ता विहता न वका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।
सरसीव कीर्त्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

१. समानताओं के लिए तुलना कीजिए R. Köhler, *Kl. Schriften*, iii. 293 ff.; Zachariae, *Kl. Schriften*, pp. 205 f.

'जिस प्रकार तालाब के सूख जाने पर सारस चले जाते हैं, बगुले विलास नहीं करते और कङ्क पक्षी नहीं घूमते, उसी प्रकार विक्रमादित्य के कीर्तिशेष रह जाने पर वह सहृदयता नष्ट हो गई है, नौसिखिये विलास कर रहे हैं और कौन किसको खा नहीं जाता।' बड़े पैमाने पर भी यह प्रभावोत्पादक हो सकता है :

जीवाकृष्टिं स चक्रे मृधभुवि धनुषः शत्रुरासीद् गतासु–
र्लक्षाप्तिर्मार्गणानामभवदरिबले तद्यशस्तेन लब्धम् ।
मुक्ता तेन क्षमेति त्वरितमरिबलैरुत्तमाङ्गैः प्रविष्टा
पञ्चत्वं द्वेषिसैन्ये गतमवनिपतिर्नापि सङ्ख्यान्तरं (सः) ॥

'उस राजा ने युद्धभूमि में इधर धनुष की जीवाकृष्टि (प्रत्यञ्चा का खींचना; प्राणों का अपहरण) की, उधर शत्रु निष्प्राण हो गया। इधर शत्रुसैन्य में मार्गणों (बाणों, याचकों) ने लक्ष (लक्ष्य; लाख मुद्राओं) की प्राप्ति की, और उधर उसका यश उस राजा ने पा लिया। इधर उस राजा ने क्षमा का परित्याग किया और उधर शत्रुओं की सेनाओं के मुण्ड क्षमा में प्रविष्ट हो गए। शत्रुओं की सेना ने पञ्चत्व (मृत्यु; पाँच बार युद्ध) को प्राप्त किया, किन्तु उस राजा ने संख्यान्तर (दूसरा युद्ध; अन्य संख्या) को नहीं पाया।' फिर भी, यद्यपि श्लेष तथा विरोध अथवा विरोधाभास का यह सङ्कर चातुर्यपूर्ण है, किन्तु निरन्तर प्रयोग करने पर यह स्पष्टतः थका डालता है। परिसंख्या अलङ्कार में इस प्रवृत्ति का और अधिक विस्तार इससे भी अधिक खीझ उत्पन्न करता है, जब उसमें शब्दों का केवल अक्षरार्थ अभिव्यक्त करना ही अभीष्ट नहीं होता प्रत्युत श्लेष अभीष्ट होने पर दूसरे वाच्यार्थ के निषेध की अभिव्यक्ति करना भी अभीष्ट होता है। उदाहरणार्थ, **नेत्रोत्पाटनं मुनीनाम्** में जो अर्थ हमारे लिए अभिप्रेत है वह है 'केवल मुनि नामक वृक्षों की जड़ें उखाड़ी जाती थीं (मुनिजन के नेत्र नहीं निकाल लिए जाते थे)'। वर्णध्वनि से उत्पन्न किये जाने वाले प्रभाव कभी कभी चातुर्यपूर्ण हैं; जैसे वायु का वर्णन करने वाले इस यमक में; **आन्दोलितकुसुमकेसरे केशरेणुमुषि रणितमधुरमणीनां रमणीनां विकचकुमुदाकरे मुदाकरे,** 'फूलोंके केसरों को आन्दोलित करने वाला, मधुर मणियों को बजाने वाली रमणियों के केशों की धूलि को चुराने वाला, कुमुदसमूह को विकसित करने वाला और सुखदायक।' परन्तु अनुप्रास केवल श्रमप्रद ही हो सकता है; जैसे रेवा के इस वर्णन में : **मदकलकलहंससारसरसितोद्भ्रान्तभाःकूटविकटपुच्छच्छटाव्याधूतविकचकमलखण्डविगलितमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुरभितसलिलया,** 'मद के कारण मधुर एवं अस्फुट शब्द करने वाले हंस और सारसों के स्वर से चकित मछलियों की विशाल पुच्छच्छटा से हिलते हुए विकसित कमलों के समूह से टपकते हुए पुष्परस के बिन्दुसमूह से सुगन्धित जल वाली'। यह भाषा का स्पष्टतया

नितान्त दुरुपयोग है ।[1] यदि लेखक अपने दीर्घ समासों में परिवर्तन लाने के लिए बीच बीच में छोटे छोटे शब्द रखने का ध्यान न रखता जिससे कि पाठक को साँस लेने का तथा पूर्वपठित बातों का अभिप्राय ग्रहण करने का अवकाश मिल सके, तो यह ग्रन्थ पढ़ सकना वस्तुतः कठिन होता। यहां विशेषतः बीच बीच में आने वाले वार्तालाप के छोटे छोटे स्थलों का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे जब सुबन्धु रात्रि में प्रेमियों के वार्तालाप का वर्णन करते हैं, तब वे लघु वाक्यों के उपयोग की आवश्यकता अनुभव करते हैं। परन्तु यदि उनकी कृति कथा की जाति की है, तो वे समासों की दीर्घता से यथाशक्ति आनन्दवर्धन[2] के इस कथन की असत्यता सिद्ध करते हैं कि आख्यायिका के समास कथा के समासों से लम्बे हो सकते हैं।

६. बाण का जीवन और रचनाएँ

अपने हर्षचरित के प्रथम दो तथा आधे उच्छ्वास में अपना और अपने वंश का वृत्तान्त देते हुए बाण ने सौभाग्य से अपनी कीर्ति का कुछ हाल हमारे लिए सुरक्षित कर दिया है। वे वात्स्यायन गोत्र के ब्राह्मण थे। अपने कुल की पौराणिक ढंग की उत्पत्ति का वर्णन उन्होंने विस्तार से किया है। उनके प्रपितामह पाशुपत थे। उनके पुत्र अर्थपति हुए। अर्थपति के ग्यारह पुत्र थे। उनमें से चित्रभानु एक थे, जिन्होंने राज्यदेवी नाम की एक ब्राह्मणी से विवाह किया। उन्हीं से बाण का जन्म हुआ। बाण की माता थोड़ी ही उम्र में दिवंगत हो गईं। उनके पिता ने स्नेह-पुरस्सर सावधानी से उनका पालन-पोषण किया। पर उपनयन-संस्कार के अनन्तर जबकि बाण चौदह वर्ष के ही थे उनकी भी असामयिक मृत्यु हो गई। **कादम्बरी** के प्रारम्भ में शुक-शावक के दुर्भाग्य के करुणाजनक चित्रण में बाण के जीवन के इस भाग के इतिहास की ओर संकेत किया गया है। यह स्पष्ट है कि अपने पिता की मृत्यु के अनन्तर बाण संदिग्ध संगति में पड़ गये। कुछ अंशों में उसमें साहित्यिक लोग भी थे। उसमें लोक-भाषा-कवि ईशान, प्राकृत-कवि वायु-विकार, दो स्तुति-पाठक, एक चित्रकार, दो गायक, एक संगीताध्यापक, एक कुशीलव, एक शिवोपासक, एक जैन साधु, एक ब्राह्मण भिक्षुक, तथा अन्य अनेक लोग भी संमिलित थे। देशाटन का भूत उन पर सवार हो गया। उन्होंने लम्बी यात्रा की और इससे उन्होंने अत्यधिक अपकीर्ति का अर्जन किया। परन्तु

---

१. 'प्रयाससाध्य एवं अरमणीय श्लेषों की शोभाहीन श्रृङ्खला' की पीटर्सन (Peterson) द्वारा की गई निन्दा से तुलना कीजिए। इस अशिष्टता के लिए Martial की भी समान रूप से अत्यधिक निन्दा की गई है, उदाहरणार्थ Teuffel-Schwabe, *Hist. Rom. Lit.*, § 322.5.

२. ध्वन्यालोक, पृ० १४३ आदि, तु० १३४ आदि।

उनका कहना है कि इसी यात्रा में बुद्धिमानों और सत्पुरुषों के साथ संपर्क में आने से उन्होंने दुर्व्यसनों में अतिवाहित अपने यौवन का प्रायश्चित्त भी कर लिया। अन्ततः वे प्रीतिकूट में अपने घर पर लौट आये। घर पर रहते हुए उन्होंने हर्ष के भाई कृष्ण द्वारा हर्ष के राजद्वार में पहुँचने का निमन्त्रण पाया। एक मित्र के रूप में कृष्ण ने उन्हें रुष्ट हुए राजा को प्रसन्न करने के लिए सावधान किया—इससे प्रतीत होता है कि वाण यौवन की नैसर्गिक विषयोन्मुखता से कहीं अधिक अनाचारी जीवन व्यतीत कर चुके थे। जो हो, वाण हर्ष के पास गये। राजा ने, स्वयं वाण के लेखानुसार, उनका उचित स्वागत नहीं किया, परन्तु कुछ ही समय के अनन्तर वे राजा के कृपापात्र बन गये। उनके जीवन की स्थिति के विषय में निश्चयपूर्वक हम इतना ही जानते हैं। वे आगे कहते हैं कि उन्होंने **हर्षचरित** की रचना इसलिए की क्योंकि एक बार उनके अपने घर लौटने पर लोगों ने उस महान् नृपति के चरित को सुनाने के लिए कहा था। परन्तु यह चरित अपूर्ण है। यह और भी अधिक आश्चर्य की वात है कि **कादम्बरी** भी अपूर्ण है, यद्यपि उसकी पूर्त्ति पीछे उनके पुत्र भूषणभट्ट अथवा पुलिनभट्ट ने कर दी। उनका कहना है कि ग्रन्थ की अपूर्णता से होने वाले सत्पुरुषों के खेद के कारण ही उन्होंने उसकी पूर्त्ति की है। यह बिलकुल अस्पष्ट है कि उक्त दोनों ग्रन्थों में से कौन पहले लिखा गया था, यद्यपि **हर्षचरित** के पूर्वकृतित्व के संवन्ध में वहुत कुछ कहा जा सकता है। परंतु हम ऐसा विश्वास कर सकते हैं कि वाण के जीवन-काल में दोनों ग्रंथों में पर्याप्त परिष्कार किया गया था।

वाण की तिथि लगभग निश्चित है। हर्षवर्धन के आश्रय में जाने के समय वाण वहुत-कुछ युवक रहे होंगे। साथ ही ऐसी कल्पना के लिए भी कोई कारण नहीं है कि वाण का हर्ष के साथ परिचय उनके राज्यशासन की प्रारम्भिक अवस्था में ही हुआ था।[1] **हर्षचरित** में यह मान लिया गया है कि हर्ष अपने शत्रु गौड़-नृपति का वध कर चुका था, और पुस्तक में इस उल्लेख से कि हर्ष ने प्रतिज्ञा की थी कि अपने भाई की हत्या के लिए शत्रु को दण्ड देने के पश्चात् वौद्धभिक्षु के वेश को धारण कर लेगा हम कल्पना कर सकते हैं कि राजा की बौद्ध धर्म के प्रति भावनाओं से, जिनका वर्णन Hiuen Tsang ने इतनी पूर्णता के साथ किया है, वाण अच्छी तरह परिचित थे। इसलिए हम ऐसा मान सकते हैं कि वाण ने अपनी ग्रन्थ-रचना उनके शासन के, जिसका अन्त ६४७ में हुआ था, उत्तर काल में की थी। इसकी पुष्टि उनके द्वारा **वासवदत्ता** के उल्लेख से भी होती है, जिसका

---

१. जो लोग वाण का समय लगभग ६२० ई० वतलाते हैं वे सब ऐसा ही मान लेते हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि वाण हर्ष की प्रसन्नता में पुलकेशी द्वारा उपस्थापित विघ्न को नहीं जानते थे, जिसका उल्लेख कुछ कवित्व के उत्कर्ष से युक्त एक अभिलेख में है; EHI. p. 353.

स्पष्टतया उन्होंने अनुकरण किया था। उनके आख्यान से इस किंवदन्ती की पुष्टि नहीं होती कि वे कवि मयूर के जामाता थे, क्योंकि अपने साथियों में वे केवल एक सर्प-चिकित्सक मयूरक का निर्देश करते हैं। इस प्रसङ्ग में वे उनके श्वशुर थे इस बात की वास्तविक उपेक्षा आश्चर्यजनक होती। वे उच्चवंश के ब्राह्मण थे। सम्पन्न होने के साथ-साथ राजा के कृपापात्र भी थे। परन्तु वे स्पष्टतया साम्प्रदायिक पक्षपात से दूर थे; वे बौद्धों और विभिन्न प्रकार के हिन्दू सांप्रदायिकों के परस्पर सद्भावना-पुरस्सर रहने के संबन्ध में पुष्कल और विस्तृत प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे लोग परस्पर शास्त्रीय वाद-विवाद अवश्य करते थे, परन्तु उसमें वह कटुता नहीं थी, जो, उक्त चीनी यात्री के वर्णनों से प्रतीत होता है, बौद्धों के विरुद्ध कभी-कभी देखने में आती थी।

हर्षचरित और कादम्बरी के अतिरिक्त, **चण्डीशतक** तथा **पार्वती-परिणय** नाटक भी बाण की कृति समझे जाते हैं। रचना और शैली दोनों की दृष्टि से **पार्वती-परिणय** की दुर्बलता के कारण आलोचक लोग उसे बाण की रचना नहीं मानते, और वास्तव में यह स्पष्ट है कि वामन भट्ट बाण ने पन्दरहवीं शताब्दी में उसकी रचना की थी।[1] **रत्नावली** को भी बाण की कृति कहना, एक निरर्थक अनुमान है; क्योंकि इस रचना के ग्रन्थकार की सीमित कल्पनाशक्ति और नियन्त्रित शैली बाण के अत्यधिक अभिनवोन्मेषशाली चिन्तन तथा शब्दों पर आश्चर्य-प्रद अधिकार के सर्वथा प्रतिकूल हैं। परवर्ती जनश्रुति के अनुसार बाण ऐसे कवि थे जिन्होंने अपने आश्रयदाता नृपति से समृद्ध पुरस्कारों को पाया था, परन्तु जिनके द्वारा खींचा गया उस नृपति का चित्र सदा के लिए, उसके चरित के गायक को दिये गये हाथियों और मणियों के नष्ट हो जाने के अनन्तर, स्थिर रहेगा[2]।

७. हर्षचरित

हर्षचरित[3] का उपक्रम बाण कविता में अपने प्रिय आदर्शों के संक्षिप्त पद्यात्मक वर्णन से करते हैं। वे आदर्श हैं—**भारत** के लेखक, **वासवदत्ता** के रचयिता, हरिचन्द्र का—जो हमारे लिए केवल एक नाम है—गद्यबन्ध, सातवाहन का

---

१. R.Schmidt, AKM. xiii. 4 (1917) उन्होंने **नलाभ्युदय** (TSS. 3, 1913) और, बाण के अनुकरण पर, **वेमभूपालचरित**-नामक गद्य-काव्य की रचना की थी।

२. सोड्ढल, **उदयसुन्दरीकथा**, पृ० २; **काव्यप्रकाश** १।२; **सुभाषितावली**, १५०।

३. Ed. NSP. 1918; trans. E. B. Cowell and F. W. Thomas, London, 1897; ed. A. Führer, BSS. 1909; P. V. Kane, Bombay, 1918; S. D. and A. B. Gajendragadkar, Poona, 1919.

गीति-कोश, प्रवरसेन का काव्य—जो निश्चयपूर्वक प्राकृत-काव्य सेतुबन्ध है, भास के नाटक, कालिदास की मधुर सूक्ति-मञ्जरियाँ, और बृहत्कथा। वे उत्तर में श्लेष के प्रति, पश्चिम में अर्थ के प्रति, दक्षिण में उत्प्रेक्षा के प्रति, और गौड़ देश में अक्षराडम्बर के प्रति अनुराग का उल्लेख करते हैं। साथ ही वे स्वीकार करते हैं कि नवीन अर्थ, अग्राम्य शैली, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस, और माधुर्ययुक्त पदों की संपन्नता, इन सबका एकत्र पाया जाना, जिसको वे स्पष्टतः आदर्श मानते हैं, दुर्लभ है। तदनन्तर वे अपना अभिप्राय निम्नस्थ पद्य में, जिसके समझने में प्रायः लोगों को भ्रम हुआ है[1], प्रकट करते हैं :

आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि ।
जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते ॥

'महान् नृपति के उत्कृष्ट कार्य, जो स्मृति मात्र से मेरे हृदय को आपूर्ण कर देते हैं, मेरी जिह्वा को नियन्त्रित करते हुए कवि-कर्म में प्रवृत्त होने से मुझे रोकते हैं।'* स्पष्टतः इस पद्य में यही सूचित किया गया प्रतीत होता है कि बाण दूसरों से सुने हुए हर्ष के कार्यों का वर्णन करना चाहते हैं, परन्तु तो भी उन्होंने उनके हृदय को इस तरह भर दिया है कि प्रायः वे कुछ कह नहीं पाते।

इसके अनन्तर प्रथम उच्छ्वास में बाण अपने वंश के अवतरण तथा अपने असंयत यौवन पर्यन्त अपनी जीवनी का वर्णन करते हैं। द्वितीय उच्छ्वास में संदेश की प्राप्ति तथा राजसंनिवेश के लिए बाण की यात्रा तक का ही वर्णन है। राज-संनिवेश में वे राजा के अश्वरत्न को देख कर उसकी विशेषताओं की ऐसी पूर्णता के साथ संस्तुति करते हैं कि स्वयं हर्ष के वर्णन में भी उनकी अतिशयोक्ति की योग्यता कठिनता से ही उससे आगे बढ़ने पाती है। तृतीय उच्छ्वास में बाण के एक बार अपने घर आने पर हर्ष-चरित सुनाने के लिए दूसरों की प्रार्थनाओं का और बाण द्वारा उनकी स्वीकृति का वर्णन है। तदनन्तर जिस वंश में हर्ष का जन्म हुआ था उसकी राजधानी स्थाण्वीश्वर का लंबा वर्णन दिया गया है। इसी प्रसंग में पुरावृत्ताख्यान-गत नृपति पुष्पभूति की प्रशस्ति और उनके मित्र तथा साहसिक कार्यों में उनके साथी भैरवाचार्य का प्रयत्न-साध्य वर्णन आता है। चतुर्थ उच्छ्वास में, पुष्पभूति से उत्पन्न यशस्वी राजाओं के अस्पष्ट निर्देश के अनन्तर, हम सहसा प्रभाकरवर्धन तक पहुँच जाते हैं। उनके महान् कार्यों का वर्णन संक्षेप में ही कर दिया गया है, जबकि कथा-प्रवाह की तीव्रता में प्रथमतः महाराज्ञी के प्रथम शिशु के उत्पन्न होने से पहली अवस्था के व्यवहार का, तदनन्तर

---

१. Nobel (*Indian Poetry*, p. 179) अब भी आढ्यराज के उत्साह की बात करते हैं। प्रथमतः Pischel (GN. 1901, pp. 485-7) ने ही आढ्यराज से हर्ष का अभिप्राय लिया था। *यह अर्थ कीथ के अनुसार है। (मं०दे० शास्त्री)

राज्यवर्धन के जन्म के उपलक्ष में नगर में मनाये जाने वाले आनन्द और उद्दाम उत्सवों का, हर्ष और उनकी बहिन राज्यश्री के जन्मों का, और मौखरी ग्रहवर्मा के साथ राज्यश्री के विवाह का, जो कि इस परिवार के लिए निस्सन्देह बड़े राजनीतिक महत्त्व की घटना थी, निरूपण किया गया है। आनन्दप्रद विवाह-संबन्ध और एक महान् कार्य के प्रसन्नतापूर्ण उत्सव के इस चित्रण के अनन्तर, बड़े कौशल के साथ, किसी प्रकार शान्त न होने वाली दुःखपूर्ण घटना का उच्छ्वास आता है। राज्यवर्धन को हूणों पर आक्रमण करने की आज्ञा होती है और वह अपनी बड़ी सेना के साथ चल पड़ता है। हर्ष उसके साथ जाता है परन्तु शिकार की ओर आकृष्ट हो जाता है, जहाँ से वह अपने पिता की गंभीर बीमारी को सुनकर सहसा लौट आता है। लौटन पर वह समस्त राजधानी को चिन्ता से व्याकुल पाता है। यहाँ पर समुज्ज्वल चित्रों की परम्परा द्वारा हमको ज्वर-ग्रस्त नृपति के, जिसका क्लेश किसी प्रकार कम नहीं हो सकता, रोग को, प्राणान्त होने की असंदिग्धता को, हर्ष की माता के आत्मघात को—जिससे उसे उसके पुत्र ने असफलता के साथ रोकना चाहा—, अपने पुत्र के प्रति भाषण देने के पश्चात्—जिसकी यथार्थता बाण की कल्पना की कसीदाकारी के आवरण के नीचे अनुभव की जा सकती है—राजा के अन्तिम प्रयाण को, उनके अन्त्येष्टि संस्कार और श्राद्धादि को, और हर्ष के गम्भीर विलाप को दिखलाया गया है। राज्यवर्धन के प्रत्यावर्तन से वह इस अचेतनता से उद्बुद्ध होता है। राज्यवर्धन शोक से कातर होकर नृपत्व के कर्त्तव्यों को हर्ष पर डालने को उत्सुक हैं; हर्ष उनसे दृढ़ता और धैर्य रखने को कहते हैं और अनिश्चितता के उसी समय पर भयानक संवाद लाया जाता है; मालव-नृपति ने ग्रहवर्मा को मार डाला है और राज्यश्री को कारावास में डाल दिया है। राज्यवर्धन उस दुरात्मा को दण्ड देने के लिए तत्काल यात्रा करने का निश्चय करते हैं, और भण्डि को १०००० अश्वारोहियों के साथ पीछे-पीछे आने की आज्ञा देते हैं। वे हर्ष की सहायता का निषेध कर देते हैं, जिससे ऐसे तुच्छ राजा के विरुद्ध सैन्यबल को बढ़ाना उसके प्रति अति मात्रा में संमान न हो जावे। हर्ष शोक में निमग्न घर पर ही रह जाते हैं। मालव-नृपति पर राज्यवर्धन की विजय के साथ-साथ एक गौड़-नृपति द्वारा उनकी हत्या के समाचार से उनके शोक की गंभीरता शीघ्र ही बढ़ जाती है। हर्ष तत्काल युद्ध आरम्भ कर देना चाहते हैं, पर स्कन्दगुप्त बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह देता है और उपाख्यानों के आधार पर अनेक उदाहरणों द्वारा, जैसा कि प्रायः होता है, उसकी पुष्टि करता है। हर्ष मान जाते हैं और युद्ध तैयारी करते हैं, जबकि दुर्निमित्त शत्रुओं के भाग्य के लिए भय उपस्थित करते हैं।

सातवें उच्छ्वास में अपनी अत्यन्त अव्यवस्था के सहित एक भारतीय सैन्यदल की गति-विधि का, उसकी विघ्न-बाधाओं के विस्तृत समूहों का, उसके राजगृह की

महिलाओं से लेकर क्षुद्र से क्षुद्र अनुजीवियों तक असंख्य सेनाचरों का, जनपद-प्रदेश में किये गये विनाश का, और लूट से मुक्ति के निमित्त क्षेत्रपतियों के असफल दावों का विवरण की असाधारण स्पष्टता के साथ चित्रण किया गया है। आसाम के राजा के एक राजदूत का उल्लेख भी मिलता है, जो हर्ष के सामने एक अत्यन्त सुन्दर छत्र का उपहार उपस्थित करता है। क्रमशः नृपति विन्ध्य तक पहुँच जाते हैं, जिसका चित्र-सदृश अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन पुनः दिया गया है। अष्टम उच्छ्वास में निर्घात नामक एक पर्वतवासी युवक हमारे सामने आता है, जिसको यह काम दिया जाता है कि वह विन्ध्य-प्रदेश में राज्यश्री के, जिसके विषय में समझा जाता है कि वह अपने निरोध-स्थान से भाग कर उसी अरण्य प्रदेश में इधर उधर घूम रही है, अन्वेषण में हर्ष की सहायता करे। उसके उपदेश से राजा पवित्रात्मा तपस्वी दिवाकरमित्र के पास जाता है, जिन के आश्रम का, जहाँ के धर्मशील पशु भी बौद्ध धर्म से प्रभावित थे, प्रोज्वल चित्रण किया गया है। राजा उनकी सहायता माँगता है और, ज्यों ही वह पुण्यात्मा पुरुष खेद के साथ यह कहता है कि उसने राजकुमारी के संवन्ध में कुछ नहीं सुना है एक तपस्वी इस समाचार के साथ कि एक वाला निराशा में अग्नि-प्रवेश करने जा रही है प्रवेश करता है, और उस पुण्यात्मा से उसको समाश्वस्त करने के लिए और उसके कृत्य को रोकने के लिए प्रार्थना करता है। राजा शीघ्रता से जाता है और अपनी वहिन को अपनी परिचारिकाओं के साथ अग्निप्रवेश के लिए उद्यत पाता है। राजकुमारी प्रार्थना करती है कि उसे उस जीवन को समाप्त करने दिया जाय जिसका उसके लिए अब कोई मूल्य नहीं है। परन्तु वे महात्मा वुद्धिमत्ता से युक्त शब्दों द्वारा उसको अपने अध्यवसाय से रोकते हैं और कहते हैं कि उसे अपने भाई की इच्छा के अनुसार रहना चाहिए। तदनन्तर हर्ष उनको अपने साथ आने को और जब तक वे स्वयं वैर-शुद्धि की अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करते हैं तब तक अपनी वहिन को समाश्वस्त करने तथा उपदेश द्वारा प्रतिबोधित करने को कहते हैं; उक्त कार्य के पूर्ण हो जाने पर वे दोनों बौद्ध धर्म के काषाय-वस्त्रों को ग्रहण कर लेंगे। महात्मा प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं; सब लोग कटक को लौट आते हैं, और निशा के आगमन के वर्णन के साथ ही जबकि राज्यश्री की पुनःप्राप्ति की कथा कही जा रही है पुस्तक एकाएक अपूर्ण ही समाप्त हो जाती है।

हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से हर्षचरित का मूल्य बहुत कम है, यद्यपि वास्तविक ऐतिहासिक लेखों की कमी में इस पर भी कुछ संतोष किया जा सकता है। परन्तु इसमें कालिक क्रम दुर्वल और अव्यवस्थित है। मालवनृपति[1] के वास्तविक व्यक्तित्व का निर्धारण अत्यन्त कठिन है। गौड़-नृपति के संबन्ध में

1. Cf. Smith, EHI. pp. 350 ff.; R. Mookerji, *Harsha*, pp. 50 ff.

भी यह असाक्षात् रूप से ही अवगत होता है कि वे शशाङ्क थे, जिनका नाम Hiuen Tsang[1] ने दिया है। बाण ने उस घटनाचक्र को समझाने का यत्न नहीं किया है जिसके कारण राज्यवर्धन के साथ मालव-प्रदेश में या उसके समीप में गौड़-नृपति का वैर-मूलक सम्पर्क संभव हो सका था। इस संबंध में ऐसा अनुमान करना कठिन नहीं है कि वहुत दिनों पहले की घटना के विषय में, काफी समय के अनन्तर, लिखते हुए बाण उसे अस्पष्ट रूप में ही छोड़ देना चाहते थे। इतिहास को जो उनकी देन है वह है : सेना के, राजगृह के, विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के तथा बौद्धों के साथ उनके संबन्धों के, और ब्राह्मणों के व्यवसायों तथा मित्रों के स्पष्ट चित्र ।

८. कादम्बरी

हर्षचरित को एक आख्यायिका का पद दिया जाता है, और अलंकार-शास्त्र के राजशेखर जैसे उत्तरकालीन लेखकों ने वास्तव में आख्यायिका के रूप के लिए उसे आदर्श स्वीकार किया है । उसका विभाग उच्छ्वासों में किया गया है। उसमें यत्र-तत्र पद्य भी पाये जाते हैं। उसका आख्याता, उसका नायक हर्ष नहीं, तो कम से कम स्वयं उपनायक बाण है, जिनका इतिहास प्रथम दो और आधे उच्छ्वास में दिया गया है। दूसरी ओर, कादम्बरी एक कथा है, और इसमें आख्यायिका के विशेष लक्षणों का अभाव है। वास्तव में, इसका जटिल कथा-विन्यास (structure) अपने ही वैशिष्ट्य से युक्त है, क्योंकि इसके एक बड़े आख्यान में ग्रन्थ के पात्रों द्वारा कहे गये दूसरे आख्यानों को अन्तर्निविष्ट कर दिया गया है। इसलिए, एक अर्थ में, यदि भारतीय लेखकों को अपरिचित ढंग से पारिभाषिक शब्दों का नियत करना समुचित माना जाय तो, कथा से हम ऐसी जटिल आख्यायिका का अभिप्राय ले सकते हैं[2] जिसमें मुख्य आख्यान द्वारा सहायक आख्यानों को यथास्थान रखा जाने लगा था। कादम्बरी की रचना के रूप का वैशिष्ट्य इसी बात में है कि उसमें सहायक आख्यानों का उपयोग उन विषयों को स्पष्ट करने के लिए किया गया है जिनको कि मुख्य आख्यान-प्रवक्ता स्वयं नहीं जान सकता था; वह अपनी समस्त जानकारी को एकत्रित करके एक व्यवस्थित ढंग से उसका विन्यास नहीं करता, किन्तु वह जानकारी, जैसे-जैसे विभिन्न बातें उसके नायक के ज्ञान

---

१. उनके समर्थन के लिए, दे० Majumdar, *Early Hist. of Bengal*, pp. 16 ff.

२. F. Lacôte, *Mélanges Lévi*, pp. 250 ff. भारतीय लेखकों द्वारा किये गये निरर्थक भेदों पर टीका-टिप्पणियों के लिए, दे० Nobel, *Indian Poetry*, pp. 156 ff.; S. K. Dé, BSOS. iii. 507 ff., जो स्वयं कथा का प्रतिपाद्य-विषय, इस महत्त्व के विषय में एक मत नहीं हैं।

में अपने वास्तविक अनुभव की प्रगति के काल में आती जाती हैं, हमें क्रमशः प्राप्त होती जाती है। यही निश्चित और विशिष्ट योजना है जो कथा-विन्यास की दृष्टि से **कादम्बरी** को **दशकुमारचरित** से अथवा **पञ्चतन्त्र** के सदृश ग्रन्थ से, जिनमें सहायक कथाएँ सम्मिलित हैं, नितरां पृथक् कर देती है। संभव है कि गुणाढ्य द्वारा निध्यात बृहत्कथा की भी मूल में यही योजना रही हो, यद्यपि वह विशेषता उसके उपलब्ध रूपान्तरों में अब नहीं पाई जाती है। प्रत्येक दशा में यह बिलकुल संदिग्ध है कि उस ग्रन्थ की रचना में उक्त योजना व्यवस्थित ढंग से कभी कार्य में लाई गई थी। तो भी यह ध्यान में लाने की बात है कि **कादम्बरी** में तथा बृहत्कथा की उस कहानी में भी, जिससे बहुत अंशों में **कादम्बरी** की कथा ली गई है, एक कथा के अन्दर दूसरी कथा को संमिलित करने के प्रकार की अत्युत्कृष्ट पूर्णता देखी जाती है। उपपत्तितः सरलतम रूप में हम उसे जातकों की शैली में पाते हैं, जहाँ एक सामयिक कहानी का संबन्ध एक प्राचीन कहानी से जोड़ दिया जाता है, और प्राचीन आख्यान के सामयिक उपयोग के साथ कथा की समाप्ति की जाती है। **वेतालपञ्चविंशतिका** जैसी पुस्तकों में **कादम्बरी** के साथ अधिकतर सामीप्य पाया जाता है, क्योंकि उसमें वेताल की समस्त कहानियाँ राजा के मुख्य अभिप्राय से संबद्ध हैं, और इस प्रकार, स्वतः परस्पर पृथक् होते हुए भी, एक मुख्य प्रयोजन में सहायक होती हैं। **पञ्चतन्त्र** में हम और अधिक परिष्कार की ओर पहुँचते हैं, क्योंकि उसमें कहानियाँ, यद्यपि वे परस्पर असंबद्ध हैं और उनमें से बहुत-सी सिद्धान्तों को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने के लिए कही गई हैं, मुख्य कहानी के पात्रों के मुख से ही कहलाई गई हैं, अथवा, उन आख्यानों में जो सहायक या गौण कहानियों में संमिलित हैं, सहायक कहानियों के पात्रों द्वारा कहलाई गई हैं। **दशकुमारचरित** में तो और भी अधिक सान्निध्य पाया जाता है, क्योंकि उसमें प्रत्येक राजकुमार अपने-अपने अनुभव को ही सुनाता है, और इस प्रकार उसमें वास्तविक जीवन की एक झलक दिखाई देती है जिसका दूसरे रूपों में अभाव है, क्योंकि जातकों में, यद्यपि बोधिसत्त्व अपने ही भूतकालीन वास्तविक अनुभव की कहानी कहते हैं, उसका आख्यान उत्तम पुरुष में नहीं किया गया है। यतः **दशकुमारचरित** का विचार निःसन्देह रूप से **बृहत्कथा** से लिया गया है, हमें और भी अतिरिक्त प्रमाण इस बात का मिल जाता है कि उसमें स्वानुभव-मूलक आख्यान की प्रक्रिया का खुले रूप में प्रयोग किया गया था, जिसको **कादम्बरी**[1] में और

---

१. Ed. P. Peterson, BSS. 1883; P.V. Kane, Bombay, 1920; trans. C.M. Ridding, 1906. भूमिका का द्वितीय पद्य अमरावती के एक पल्लव अभिलेख में उद्धृत किया गया है, South Ind. Inscr., i. 26; Kielhorn, GN. 1903, pp. 310 f.

भी अधिक विकसित किया गया है, क्योंकि उसमें कही गई समस्त कहानियाँ मौलिकरूप से एक घटनाचक्र की भाग हैं, जिसका दण्डी के गद्यकाव्य के राजकुमारों की कथाओं में अभाव है। परन्तु एक दृष्टि से **दशकुमारचरित** में वास्तविकता की अधिक प्रतीति होती है; **कादम्बरी** में मुख्य आख्यान वास्तव में जाबालि मुनि के मुख से कहलाया गया है; जो अपनी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि से उस कथा को जानते हैं, जिसको वे कहते हैं; वे अपने को बहुत कुछ कथानायक चन्द्रापीड के दृष्टिकोण में रखते हैं; परन्तु चन्द्रापीड वास्तव में स्वयं कथा के कहने वाले नहीं हैं। इस प्रक्रिया का अवलम्बन **बृहत्कथा** में पहले से ही किया गया था, जिसमें हम सुमनस् नृपति की कथा में **कादम्बरी** के साथ वस्तुगत और रूपगत घना सादृश्य पाते हैं। सोमदेव और क्षेमेन्द्र दोनों निःस्संदेह बाण की कृति से प्रभावित हुए हों, ऐसा हो सकता है। क्षेमेन्द्र तो निश्चय रूप से हुए थे। परन्तु ऐसी शंका करने के लिए कोई भी आधार नहीं है कि उक्त दोनों ग्रन्थकारों ने बाण से प्रकृत कथा को लिया था। प्रत्येक दशा में मूल-रूप में पुनःकल्पित कथा का और बाण का संबन्ध यही हो सकता है कि हम कादम्बरी में ही मूल-रूप का विकास और विस्तार मानें।

ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ का आरम्भ कुछ पद्यों से करते हैं जिनमें वे सूचित करते हैं कि उनकी कथा अपनी नवीन कथावस्तु तथा रचना-शैली के, अपने दीप्तियुक्त विशद वर्णनों के, अपने उज्ज्वल उपमालंकारों तथा दीपकालंकारों के—जहां अनेक क्रियाओं के साथ एक शब्द ही कारक-रूप से रहता है—कारण लोक-प्रियता की आशा करती है। अनन्तर हम वेत्रवती नदी के किनारे विदिशा नगरी के राजा शूद्रक का परिचय प्राप्त करते हैं। अद्भुत सौन्दर्य से युक्त एक चण्डाल कन्या उसके पास एक शुक को लाती है। बहुमान-पुरस्पर पूछे जाने पर वह निम्नस्थ आख्यान को कहता है। उसके यौवन में ही उसकी माता का देहान्त हो गया और, बाण के समान ही, उसके पिता ने सस्नेह उसका पालन-पोषण किया, जिसको एक शबर ने मार डाला। युवक शुक को हारीत अपने पिता जाबालि के आश्रम में ले गये। जाबालि कारुणिक दृष्टि से शुक की ओर देखते हैं और कहते हैं कि यह अपने ही पूर्वजन्म के अविनय का फल भोग रहा है। प्रार्थना किये जाने पर जाबालि उस कथा को सुनाते हैं, जिसको शुक दुहराता है। हम उज्जैन के नरपति तारापीड और उनके अमात्य शुकनास के विषय में सुनते हैं; एक स्वप्न में चन्द्रमा महिषी के अन्दर प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है, जो एक अति सुन्दर पुत्र, चन्द्रापीड, को जन्म देती है। शुकनास भी अपनी पत्नी के उत्सङ्ग में निहित एक पुण्डरीक से उत्पन्न पुत्र, वैशम्पायन, के [illegible] के प्रसाद को पाते हैं। दोनों सस्नेह मित्रता में बड़े होते हैं; षोडश वर्ष की अवस्था में, दोनों पूर्णतया शिक्षित होकर, उस विद्यागृह से

जहाँ उन्होंने अब तक अपना समय व्यतीत किया था अपने घर लाये जाते हैं। चन्द्रापीड एक अद्भुत तुरङ्गम, इन्द्रायुध, के उपहार को और महिषी से प्रेषित कुलूत के अधिपति की बन्दीकृत दुहिता पत्रलेखा नाम की एक कन्यका को पाता है। अपने तुरङ्गम की सहायता और अपने मार्गप्रदर्शनार्थ शुकनास के बुद्धिमत्ता-पूर्ण उपदेश को पाकर चन्द्रापीड तीन वर्ष तक चलने वाली दिग्विजय यात्रा के अभियान पर चल पड़ता है। परन्तु एक दिन, विचित्र अर्ध-मानव प्राणी किन्नरों[1] के एक मिथुन को देखते ही, वह उनका अनुसरण इतनी दूर तक करता है कि पथ-भ्रष्ट हो जाता है और एक सुन्दर सरस् पर पहुँचता है, जो कि अपने प्रेमी से वियुक्त एक कन्यका, महाश्वेता, की विद्यमानता से सुशोभित था। उसकी प्रार्थना पर वह उत्तम पुरुष में अपनी कथा सुनाती है। वह एक गन्धर्व और एक अप्सरा की पुत्री है। उसने एक सुन्दर तपस्वि-कुमार, पुण्डरीक, और उसके मित्र, कपिञ्जल, को देखा था। पता लगा कि पुण्डरीक सौन्दर्य की देवता, लक्ष्मी, और तपस्वी श्वेतकेतु का मानस-पुत्र था। उसने उससे प्रेम किया, पर इसमें अधिक देर हो गई और इस कारण मनोऽभिलाषा की अपूर्णता से उसकी मृत्यु नहीं रोकी जा सकी। इस समय वह संज्ञाहीन हो जाती है, परन्तु चन्द्रापीड द्वारा पुनः संज्ञा को प्राप्त कर, कथा को आगे कहती है। उसने मरण का निश्चय कर लिया था, परन्तु, ज्यों ही वह चिता पर बैठने को थी कि एक महाप्रमाण पुरुष गगन से उतरा। उसने पुण्डरीक के शरीर को उठाते हुए उसे वचन दिया कि यदि वह जीवित रहेगी तो उसके साथ उसका पुनरपि समागम होगा। इसीलिए अपने प्रिय की प्रतीक्षा करते हुए अच्छोद सरस् के तट पर रहने का उसने निश्चय किया है। तदनन्तर चन्द्रापीड को समान वंश में उत्पन्न उसकी सखी कादम्बरी का पता लगता है। अपनी सखी महाश्वेता के अविवाहित रहने से उसने भी विवाह न करने का निश्चय कर लिया था। महाश्वेता राजकुमार को साथ लेकर अपनी सखी से मिलने जाती है। चन्द्रापीड उस पर अत्यन्त मोहित हो जाता है, और वह भी उससे प्रेम करने लगती है। परन्तु उनकी परस्पर वाग्दान-विधि से प्रथम ही अपने पिता के पास से लौटने के संदेश के कारण चन्द्रापीड लौटने के लिए विवश हो जाता है, और, पत्रलेखा को कुछ दिनों के लिए कादम्बरी के पास छोड़ कर, वह स्वयं, अपने सैन्यदल को पीछे लाने के लिए वैशम्पायन को कह कर, शीघ्रता से चल पड़ता है। उज्जैन में उसका हर्षोल्लास के साथ स्वागत होता है; पर वह प्रेम से व्यथित है। पत्रलेखा से अपनी प्रिया के विषय में सुनकर उसको प्रसन्नता होती है। इस स्थान पर बाण की कृति

---

१. Cf. Foucher, *L Art Gréco-Bouddhique du Gandhāra*, ii, 21 f.

समाप्त हो जाती है और उसका अगला भाग शुरू होता है जो कि उसके पुत्र की रचना है। केयूरक से और भी समाचार मिलते हैं, जिससे कादम्बरी के पास लौटने की चन्द्रापीड की इच्छा बढ़ जाती है। परन्तु उसके लिए वैशम्पायन और सैन्यदल की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। सैन्य-दल लौट आता है, परन्तु अधिकारि-वर्ग, वैशम्पायन ने एक विक्षिप्त जन की भाँति उस सरस् पर ही ठहरने का आग्रह किया, इस शोक से पूर्ण कथा को सुनाते हैं। तारापीड आशंका करते हैं कि चन्द्रापीड ने वैशम्पायन के प्रति कोई अप्रियाचरण किया होगा, परन्तु शुकनास आवेश-पूर्वक राजकुमार का पक्ष लेते हैं और अपने पुत्र को ही दोष देते हैं। परन्तु चन्द्रापीड को विश्वास है कि वैशम्पायन निर्दोष है। उसकी तलाश में जाने के लिए आज्ञा पाकर, वह उसी सर के लिए चल पड़ता है, और वहाँ महाश्वेता को पहले से भी अधिक गम्भीर शोक में पाता है। वह अपनी कहानी सुनाती है: वैशम्पायन उस पर मोहित हो गया था, उसने पुण्डरीक के प्रति सच्ची होने के कारण उसका निवारण किया, और उसके शुक-सदृश प्रेम के बार बार प्रकट करने से तंग आकर उसको शुक हो जाने का ही शाप दिया, तदनन्तर वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो गया। चन्द्रापीड के लिए यह समाचार असह्य हो जाता है और वह भी तत्काल मर जाता है। महाश्वेता उसके लिए विलाप करती है। उसी समय कादम्बरी पत्रलेखा के साथ प्रवेश करती है। वह मृत्यु का निश्चय करती है, चिता को तैयार करती है, जबकि मृत्यु-शय्या से एक ज्योति सहसा निकलती है और अन्तरिक्ष से एक अशरीरिणी वाक् महाश्वेता से कहती है कि पुण्डरीक का शरीर दिव्य-लोक में सुरक्षित है, और यह कि कादम्बरी को चन्द्रापीड के शरीर की उसको मारने वाले शाप के क्षय पर्यन्त रक्षा करनी चाहिए। पत्रलेखा, जो बेहोश हो गई थी, प्रबुद्ध होकर झटिति शोक करने वालों के मध्य में अवस्थित इन्द्रायुध की ओर जाती है और वेग से उसके साथ उस सर में कूद पड़ती है। तदनन्तर ही सर में से कपिञ्जल उठ खड़ा होता है। अब कपिञ्जल कथा को प्रारम्भ करता है: पुण्डरीक के शरीर के ले जाये जाने पर, उसने पीछा किया और चन्द्रमा उस घटना को समझाने को राजी हो गया; पुण्डरीक ने अपनी मृत्यु के समय, निर्दोष होते हुए भी, उसको शाप दिया था कि वह भी पृथ्वी पर उसी प्रेम-व्यथा का अनुभव करेगा जिसके कारण उसके शरीर का वियोग हो रहा है। बदले में उस (चन्द्रमा) ने भी शाप दिया है कि पुण्डरीक भी उसके दुर्भाग्यों का भागी बनेगा। वही पुण्डरीक के शरीर को उसके पृथ्वी पर अवतरण के नियत समय पर्यन्त उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से उठा ले गया था। कपिञ्जल इस समाचार को लेकर लौट रहा था, जबकि एक वैमानिक ने उससे लांघे जाने पर, उसे घोड़ा बन जाने का शाप दिया; अनुनय करने पर

उस शाप को इस रूप में बदल दिया गया कि अपने स्वामी की मृत्यु के हो जाने पर उस शाप का अन्त हो जायगा। उसको यह भी ज्ञात हुआ कि चन्द्रमा और पुण्डरीक चन्द्रापीड और वैशम्पायन के रूप में और वह स्वयं इन्द्रायुध अश्व के रूप में जन्म लेने को हैं। उक्त वृत्तान्त को कह कर, कपिञ्जल शाप की शान्ति के उद्देश्य से श्वेतकेतु के परामर्शार्थ चल देता है; पत्रलेखा के विषय में वह कुछ नहीं जानता। महाश्वेता और कादम्बरी दोनों ने राजकुमार के शरीर के पास में ही, जो दिन प्रतिदिन सुन्दरतर होता जा रहा था, समय व्यतीत करने का निश्चय किया। उनकी जागरूकता में अपनी पत्नियों के साथ तारापीड और शुकनास ने भी उनका साथ दिया। जावालि की कथा यहाँ समाप्त हो गई, और शुक को इस सत्य का ज्ञान हो गया कि वह अपनी नियति का उपभोग करता हुआ वैशम्पायन था। अधीर होकर शुक अपनी भविष्य नियति को जानना चाहता है। इस शीघ्रता के लिए उसकी भर्त्संना की जाती है और उसे बतलाया जाता है कि अपनी नवीन दशा में भी वह पुण्डरीक होने की दशा के समान ही अल्पायु होगा। कपिञ्जल के आगमन से उसे आश्वासन मिलता है, जिसको श्वेतकेतु ने इस समाचार के साथ भेजा था कि वे स्वयं और लक्ष्मी उसके प्रति पिछली उपेक्षा से लज्जित हैं और अब उस शाप की समाप्ति के निमित्त आयुष्कर कर्म में संलग्न हैं, और यह कि उसे समुचित अवसर के आने तक शान्ति-पूर्वक उसी आश्रम में रहना चाहिए। परन्तु अधीर होकर वह वहाँ से उड़ जाता है और एक चण्डाल द्वारा अपनी राजकुमारी के लिए पकड़ लिया जाता है। वही उसको नृपति के पास लाई है। इतना ही वह (शुक) जानता है। यहाँ शुक की कथा समाप्त होती है। इससे आगे की कथा को कवि प्रारम्भ करता है। वह चण्डाल-कन्यका अपने को उस शुक की माता लक्ष्मी के रूप में प्रकट करती है। उसी ने शुक को, पिता की आज्ञा के व्यतिक्रम के दुष्परिणाम से बचाने के उद्देश्य से, बन्धन में कर लिया था। वह राजा से इस शरीर को छोड़ने को कहती है और राजा तथा शुक दोनों झटिति विनष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार उस मनुष्य-जीवन को समाप्त कर देते हैं जिसमें उन्हें कष्ट का उपभोग करना था। इसी क्षण कादम्बरी की दृष्टि में चन्द्रापीड पुनरुज्जीवित हो जाता है, पुण्डरीक अन्तरिक्ष से उतरता है, सबका पुनः समागम होता है, चन्द्रापीड पुण्डरीक को राज्य-सिंहासन पर बिठा देता है (? पुण्डरीक पर राज्यभार समारोपित कर देता है) और अपना कुछ समय माता-पिता की भक्ति में उज्जैन में, कुछ कादम्बरी के पितृ-गृह हेमकूट में, और कुछ निज स्थान चन्द्रलोक में व्यतीत करता है। पत्रलेखा चन्द्रमा की रानियों में प्रियतम रोहिणी के रूप में प्रकट होती है।

कथासरित्सागर[1] से यह स्पष्ट है कि बाण ने अपनी ओर से कथा की मुख्य रूपरेखा का ठीक-ठीक अनुसरण किया है, यद्यपि दोनों रूपान्तरों में पात्रों के नाम बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं, साथ ही कश्मीरी रूपान्तर में, बाण के अपेक्षाकृत अधिक दक्षिणीय प्रदेशों और गन्धर्वों तथा अप्सराओं के स्थान में, हिमालय और विद्याधर पाये जाते हैं। परन्तु बाण कथा को विस्तृत कर देते हैं और पात्रों को द्विगुणित कर देते हैं; वे बुद्धिमान् और स्वामिभक्त शुकनास के आकर्षक व्यक्तित्व की सृष्टि करते हैं और चन्द्रापीड के सखा के रूप में वैशम्पायन को ले आते हैं; वे कथा के एक किन्नर के स्थान में दो किन्नरों को रखते हैं, और अपने नायक के जन्म के विषय को हर्षचरित में बच्चों के जन्म के समान ही विकसित करते हैं। उनके उज्ज्वल वर्णन तथा उनके नायक और नायिका में प्रेम की अभिव्यक्ति का विस्तृत निरूपण —यह सब उनकी अपनी ही वस्तु है। परन्तु पुरानी कहानी में, राजकुमार के प्रस्थान के अनन्तर, राजकुमारी, मकरन्दिका, अपने शोक से अपने माता-पिता को इतना अधिक चिढ़ा देती है कि वे उस को एक निषाद कन्या हो जाने का शाप देते हैं, जबकि उसका पिता, अपने कार्य से लज्जित होकर, मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और शुक बन जाता है। वही शुक अपने अनुभवों की कथा को और जो कुछ उसने पुलस्त्य के मुख से सुना था उसको राजा सुमनस् को सुनाता है। उसी नृपति की राजसभा में सोमप्रभ का उस निषाद-कन्या से, जो अपने असली रूप में आ जाती है, पुनः समागम होता है, और नृपति स्वयं दधीचि मुनि के मानस-पुत्र, रश्मिमान्, के रूप में प्रकट हो जाते हैं, और मनोरथप्रभा से मिल जाते हैं, जबकि उस शुक को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है और वह अपनी तपस्या के फल को पा जाता है।

वास्तव में, यह एक विचित्र कहानी है, और उन लोगों के प्रति जिनको पुनर्जन्म में अथवा इस मर्त्य जीवन के अनन्तर पुनर्मिलन में भी विश्वास नहीं है इसकी प्ररोचना गम्भीर रूप से अवश्य ही कम हो जानी चाहिए। उनको यह सारी कथा, निकम्मी नहीं तो, असंगत अद्भुत कथा के रूप में ही प्रतीत होती है, जिसके आकर्षण से हीन पात्र एक अवास्तविक वातावरण में ही रहते हैं। परन्तु भारतीय विश्वास की दृष्टि से वस्तु-स्थिति बिलकुल भिन्न है। कथा को हम औचित्य के साथ मानवीय प्रेम की कोमलता, दैवी आश्वासन की कृपा, मृत्युजनित शोक और कारुण्य, और प्रेम के प्रति अविचल सच्चाई के परिणामस्वरूप मृत्यु के पश्चात् पुनर्मिलन की स्थिर आशा से परिपूर्ण मान सकते हैं। कथा में अद्भुत घटनाओं

---

१. Lix. 22 ff.; बृहत्कथामञ्जरी, १६।१८३ आदि; Mańkowski, WZKM. xv. 213 ff.

का अंश भी भारतीय विचार-धारा के लिए विशेष आकर्षण का विषय है, चन्द्रमा और पुण्डरीक के आश्चर्य से पूर्ण इतिवृत्त में भी उस विचार-धारा के लिए कोई ऐसी बात नहीं है जो आकर्षक न हो। पुण्डरीक का शुक के रूप में आ जाना भी कोई उपहास की बात नहीं है, जबकि यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य अवश्य ही एक योनि से दूसरी योनि में जाते हैं। बाण द्वारा किया गया प्रेम का निरुपण संस्कृत और सुन्दर है; उसका श्रेष्ठ रूप कादम्बरी और राजकुमार के पारस्परिक दृश्यों में दिखाई देता है। उस समय से लेकर जबकि कादम्बरी राजकुमार पर दृष्टिपात करने के लिए अपने प्रासाद के शिखर पर चढ़ती है, उसके मनो-भावों के वर्णन में बाण यौवन-राग के प्रवाह में तथा प्रथम बार प्रेम से आन्दोलित एक कन्या के मन को प्रभावित करने वाली लज्जा-शीलता के प्रवाह में आश्चर्यजनक अन्तर्दृष्टि का परिचय देते हैं।[1] अनेक छोटे-छोटे पात्रों के प्रभावशाली चित्रण के लिए भी बाण पूर्ण प्रशंसा के पात्र हैं; तारापीड को, उनकी महिषी विलासवती और, सबसे अधिक, शुकनास को उन्होंने जीवन और विशिष्ट व्यक्तित्व दोनों प्रदान को, किये हैं, साथ ही पत्रलेखा की भक्ति का चित्रण भी प्रभावशाली रूप में किया गया है।

बाण के काव्य में गति भी विद्यमान है; साथ ही वे वैषम्य-प्रदर्शन (contrast) के लाभों से अच्छी तरह परिचित हैं, उदाहरणार्थ, जहाँ वे एक ओर हमारे सामने शाल्मली-तरु के समाश्रय में रहने वाले शुकों की निर्दोष जीवन-यात्रा का अथवा जाबालि के आश्रम की निरुपद्रव शान्ति का विशद चित्रण करते हैं, वहाँ दूसरी ओर शूद्रक और तारापीड के राजघरों के ऐश्वर्य और प्रदर्शन को भी उपस्थित करते हैं। शूद्रक और चण्डाल-कन्यका के उज्ज्वल चित्रणों से समन्वित ग्रन्थ की अवतरणिका से बाण की नाटकीय भावना प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इसी प्रकार, उनके प्रकृति-प्रेम और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय हमें हिमालय, अच्छोद सरोवर, महाश्वेता का निवास-स्थान, इनके वर्णनों में, तथा ग्रन्थ में सर्वत्र पाये जाने वाले छोटे-छोटे शब्द-चित्रों में मिल जाता है। जिस प्रकार वे **हर्षचरित** में प्रकृति के अपने ही सौन्दर्य के साथ-साथ नगरों के तथा मनुष्य के हस्त द्वारा निर्मित रचनाओं के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, ऐसे ही **कादम्बरी** में भी हम आश्रमों और जनपद-प्रदेश के चित्रों के मुकाबले में प्रासादों और नगरों के चित्रों को रख सकते हैं। **हर्षचरित** के वार्ता-प्रसङ्गों में पाई जाने वाली राजनीतिक अन्तर्दृष्टि को भी हम पुनः युवक राजकुमार को शुकनास द्वारा दिये गये उपदेशों में और पुण्डरीक के प्रति कपिञ्जल के परामर्श में पाते हैं। परन्तु **हर्षचरित** की अपेक्षा

---

१. Medea के संबन्ध में Apollonius Rhodius की दृष्टि के साथ तुलना कीजिये।

कादम्बरी में हमें मानवीय कर्म के स्रोतों के संबन्ध में एक गंभीरतर अन्तर्दृष्टि और एक अधिक परिपुष्ट विचार-पद्धति काम करती हुई प्रतीत होती है। इससे हर्षचरित के पश्चात् कादम्बरी की रचना के निष्कर्ष का भी समर्थन होता है।

तो भी, बाण के गम्भीर दोषों की, न केवल शैली की ही किन्तु रचना की दृष्टि से भी, अवहेलना करना न्याय्य नहीं होगा। भूत और वर्तमान जन्मों के एकत्र संमिश्रण के कारण कादम्बरी की कथा का अनुसरण करना स्पष्टतः कठिन है। उसमें अनुपात का भी अभाव है। उसके वर्णन सदा सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं; महाश्वेता और चण्डिका के मन्दिर के वर्णनों में यह बात विशेषरूप से देखी जाती है। सघन वृक्षों के कारण वे पाठक को वन देखने का ही अवसर नहीं देते; सायं अथवा प्रातः, अथवा चन्द्रोदय, अथवा नायिका के अङ्गों के सौन्दर्य के प्रति अपने अनुराग के कारण वे प्रायः अपनी कथावस्तु के प्रवाह की ही उपेक्षा कर देते हैं।

उनके पुत्र के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत कथा-वस्तु की अपनी स्वाभाविक कठिनाइयों के कारण उसके अवशिष्टांश के त्वरित प्रतिपादन के लिए यदि हम उनको क्षमा कर दें, तो भी निस्सन्देह रूप से वे अपने पिता से हीन ठहरते हैं। वे कादम्बरी की अपने प्रिय से वियोगावस्था के वर्णन को अत्यधिक लम्बा कर देते हैं। अपने पिता की नव-नवोन्मेष-शालिनी कल्पना में भी वे न्यून हैं। अपने पिता के जैसी पौराणिक कथोपाख्यान के ज्ञान और भारतीय वनस्पति-जगत् और पशु-पक्षि-जगत् के निरीक्षण की सम्पत्ति का भी वे उपयोग नहीं कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त, शुकनास के जैसे जीवन के ज्ञान के प्रदर्शन का भी वे प्रयत्न नहीं करते हैं।

९. बाण की शैली

वेबर[1] (Weber) ने, जो कदाचित् ही आवेश में आते थे, बाण की शैली के दोषों के प्रति एक बार अत्यन्त तीव्र विरोध का प्रदर्शन किया था। दण्डी की तुलना में, उन्होंने उनको अरुचिकर अतिसूक्ष्मता तथा पुनरुक्तता का, इकेले शब्दों पर विशेषणों के भारातिशय के बलात्कार-पूर्वक लादने का, तथा ऐसे वाक्यों की रचना का दोषी ठहराया था जिनमें एकाकी क्रिया के दर्शन कई पृष्ठों के अनन्तर होते हैं और बीच में विशेषणों का और उन विशेषणों के भी विशेषणों का समावेश किया जाता है। किञ्च, ये विशेषण भी समासों के रूप में प्रायेण एक-एक पंक्ति से

१. जिनके मत को M. R. Kale ने कादम्बरी के पृष्ठ २५ पर स्वीकार किया है। गद्य-काव्यों (romances) पर वेबर का निबन्ध *Ind. Streifen*, i. 308-86 में दिया हुआ है।

बड़े ही होते हैं। ऐसी परिस्थिति में बाण का गद्य एक भारतीय जंगल है जिसमें यात्री तब तक आगे नहीं बढ़ सकता जब तक वह झाड़ियों को काट कर अपने लिए मार्ग नहीं बना लेता और जहाँ इसके बाद भी उसे भयानक अज्ञात शब्दों के रूप में दुष्ट जंगली पशुओं का सामना करना पड़ता है। यह आक्षेप न्याय्य ह; बाण समास के रूप में समूहीकृत विशेषणों से समन्वित वाक्यों की रचना में आनन्द का अनुभव करते हैं, और इस प्रकार वे एक विभक्ति-युक्त (inflected) भाषा के समस्त लाभों का तिरस्कार कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, समासों के अन्दर श्लिष्टार्थों के बाहुल्य में उनको विशेष रुचि है, और इन श्लिष्टार्थों का संपादन वे पुनः पुनः या तो साधारण शब्दों के अप्रचलित अर्थों में प्रयोग द्वारा अथवा अत्यन्त असाधारण शब्दावली के प्रयोग द्वारा करते हैं। अनेक बातों में उनका व्याकरण-विषयक ठीक-ठीक ज्ञान स्पष्ट है। सुबन्धु के विपरीत, जो प्रयोक्ता के अनुभव में न आई हुई घटनाओं के निर्देश-विषयक नियंत्रण के बिना ही भूतकालिक वर्णन में लिट् लकार का प्रयोग करते हैं, वे नियमतः उस लकार का समुचित प्रयोग ही करते हैं। वे अविश्रान्त रूप से अलंकारों का प्रयोग करते हैं। साथ ही लययुक्त गद्य के निर्माण की इच्छा से वे अत्यधिक प्रभावित हैं। उनके लंबे समास प्रायेण स्पष्टार्थक हैं और उनके बीच-बीच में लघुतर शब्दों का प्रयोग उस प्रभाव को उत्पन्न करने के उद्देश्य से किया गया है जिसकी प्रशंसा दण्डी तथा दूसरे आलंकारिक ओजस इस नाम से करते हैं। दूसरे भारतीय ग्रन्थकारों की भाँति, वे भी स्पष्टतया इस लक्ष्य को ऐसा महत्त्व देते हैं जो हमारी विचारधारा से बाह्य है। धर्मदास, गोवर्धन और जयदेव जैसे लेखकों पर जो बाण का प्रभाव है वह कम से कम अंशतः उनकी पद-संघटना के ध्वनि-गत प्रभाव तथा उनके अलंकारों की उज्ज्वलता के कारण है, जिनको वे लोग, आधुनिक दृष्टिकोण से, निस्संदेह अनुचित महत्त्व प्रदान करते थे। परन्तु न्याय की दृष्टि से इतना स्मरण रखना चाहिए कि बाण किसी भी दशा में औचित्य की बुद्धि को नहीं छोड़ते हैं; स्थिति के अनुसार वे छोटे-छोटे संवादों का भी उपयोग करते हैं; पुण्डरीक के प्रति कपिञ्जल की सलाह स्पष्ट और शक्तिशाली है, और चिता में अग्नि लगाने के समय राज्ञी राज्यश्री की परिचारिकाओं के अथवा मरणासन्न राजा प्रभाकरवर्धन के उद्गार उत्तम रीति से व्यक्त किये गये हैं। राजकीय सेना के नाना प्रकार के जन-समूह के कोलाहल के तथा चारों ओर से लूटे जाते हुए निराश ग्रामीणों के चीत्कारों के चित्रण में अपने ही ढंग का बल का एक आदर्श दिखाई देता है। यह भी बात नहीं है कि मुक्तकों की जैसी संक्षिप्त चमत्कारमय उक्ति की योग्यता बाण में नहीं है, यद्यपि यह खेद का विषय है कि वे उसका प्रयोग बहुत ही कम करते हैं।

कादम्बरी से उद्धृत प्रतीहारी[1] का निम्नलिखित वर्णन उनकी साधारण शैली का प्रदर्शन करता है :

एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसम्पुटभिदि किञ्चिदुन्मुक्तपाटलिम्नि भगवति सहस्रमरीचिमालिनि, राजानमास्थानमण्डपगतम् अङ्गनाजनविरुद्धेन वामपार्श्वावलम्बिना कौक्षेयकेण सन्निहितविषधरेव चन्दनलता भीषणरमणीयाकृतिः,अविरलचन्दनानुलेपनधवलितस्तनतटा उन्मज्जदैरावतकुम्भमण्डलेव मन्दाकिनी, चूडामणिप्रतिबिम्बच्छलेन राजाज्ञेव मूर्तिमती राजभिः शिरोभिरुह्यमाना, शरदिव कलहंसधवलाम्बरा, जामदग्न्यपरशुधारेव वशीकृतसकलराजमण्डला, विन्ध्यवनभूमिरिव वेत्रलतावती, राज्याधिदेवतेव विग्रहिणी, प्रतीहारी समुपसृत्य क्षितितलनिहितजानुकरकमला सविनयमब्रवीत् ।

'एक बार, जबकि नवपद्मों के आवरणों को विकसित करने वाले, जिनकी रक्तिमा कुछ ही विगलित हुई है ऐसे, सहस्रों किरणों वाले भगवान् सूर्य आकाश में अधिक ऊपर उदित नहीं हुए थे, सभामण्डप में स्थित राजा के पास प्रतीहारी उपस्थित होकर और अवनत होकर अपने जानुओं और कर-कमलों से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए विनय-पूर्वक बोली । अङ्गनाजन के प्रतिकूल अपने वाम पार्श्व में लटकने वाली तलवार के कारण, सर्प जिसमें संनिहित है ऐसी चन्दन-लता के समान, उसकी आकृति भीषण और रमणीय दोनों प्रतीत हो रही थी । घने चन्दन के लेप से श्वेत स्तन-तटों वाली वह स्नान करके ऊपर उठते हुए ऐरावत के कुम्भ-मण्डलों से युक्त स्वर्ग-नदी के समान थी । राजाओं की चूड़ामणियों में संक्रान्त अपने प्रतिविम्ब के छल से वह उनके शिरों से उह्यमान मानो मूर्त्तिमती राजाज्ञा थी । कलहंसों जैसे श्वेत वस्त्रों से युक्त वह कलहंसों से आकाश को श्वेत करने वाली शरद् ऋतु के समान थी । परशुराम की परशु-धारा के समान समस्त राजमंडल को वश में करने वाली और विन्ध्यवन की भूमि के समान वेत्र की लता से युक्त वह मूर्त्तिमती राज्य की अधिदेवता के समान प्रतीत हो रही थी ।'

हमारा यह मानना कि बाण इन अतिशयोक्तियों के हास्यास्पद पक्ष को नहीं समझते थे उनके प्रति न्याय करना न होगा । हमको यह भी मानना चाहिए कि बाण निस्संदेह अपनी कथा को एक शुक के मुख से कहलाने की उपहासास्पद दृष्टि को समझते थे, और वे हमारे समान ही स्कन्दगुप्त के सम्बन्ध में किये गये अपने इस कथन में विनोद का अनुभव करते थे : नृपवंशदीर्घं नासावंशं दधानः, 'नृपवंश के समान लंबी नासिका को धारण करते हुए', जिसमें कल्पना-विहीन जड़बुद्धि लोगों ने गम्भीरता के साथ दोषोद्भावन किया है ।

१. कला में इसी प्रकार की यवनी के प्रदर्शन के लिये देखिए Foucher, *L'Art Gréco-Bouddhique du Gandhāra*, ii. 70 ff.

इस शान्ति-युक्त चित्र के सम्मुख हम राज्यवर्धन की मृत्यु के समाचार को लेकर भण्डि के लौट कर आने के हृदयस्पर्शी चित्र को रख सकते हैं :

मलिनवासा, रिपुशरशल्यपूरितेन निखातबहुलोहकीलकपरिकररक्षितस्फुटनेनेव हृदयेन हृदयलग्नैः स्वामिसत्कृतैरिव श्मश्रुभिः शुचं समुपदर्शयन्, दूरीकृतव्यायामशिथिलभुजदण्डदोलायमानमङ्गलवलयैकशेषालङ्कृतिः,अनादरोपयुक्तताम्बूलविरलरागेण शोकदहनदह्यमानस्य हृदयस्याङ्गारेणेव दीर्घनिश्वासवेगनिर्गतेनाधरेण शुष्यता स्वामिविरहविधृतजीवितापराधवैलक्ष्यादिव बाष्पवारिपटलेन पटेनेव प्रावृतवदनः विशन्निव ।

'जो मलिन वस्त्र पहने हुए था; जो रिपु के शर और बर्छियों से पूरित—जो कि मानो न्यस्त किये हुए बहुत से लोहे की कीलों के रूप में फट जाने से उसकी रक्षा कर रहे थे —हृदय से, हृदय से लग्न, मानो स्वामी से सत्कृत, श्मश्रुओं (डाढ़ी) द्वारा शोक का प्रदर्शन कर रहा था ; व्यायाम के छोड़ देने से शिथिलता को प्राप्त जिसके भुजदण्ड पर केवल एक मांगलिक वलय शेष था; जो उपेक्षापूर्वक लिये गये पान से विरल राग वाले तथा शोक-रूपी अग्नि से जलते हुए हृदय के दीर्घ निश्वास के वेग से निकले हुए मानो अंगार से सूखते हुए अधर से (? युक्त था), जो मानो स्वामी के विरह में भी जीवन के रखने के अपराध के कारण होने वाली लज्जा से मानो पट के रूप में अश्रुओं के समूह से अपने मुख को ढके हुए प्रवेश कर रहा था।'

पर बाण संक्षिप्त कथन भी कर सकते हैं, हां वह कथन चुभता हुआ अवश्य होना चाहिए, जैसा कि हर्ष की शपथ में हम पाते हैं :

शपाम्यार्यस्यैव पादपांसुस्पर्शेन यदि परिगणितैरेव वासरैः सकलचापचापलदुर्ललितनरपतिचरणरणरणायमाननिगडां निर्गौडां न करोमि मेदिनीं ततस्तनूनपाति पीतसर्पिषि पतङ्ग इव पातकी पातयाम्यात्मानम् ।

'मैं आर्य के पैरों की धूलि के स्पर्श के साथ शपथ लेता हूँ कि यदि कुछ ही दिनों में मैं पृथ्वी को चाप की चपलता से अभिमानी राजाओं के चरणों में शब्दायमान बेड़ियों से युक्त तथा गौड़-देशवासियों से रहित नहीं कर दूंगा तो मैं पातकी घृत से आप्यायित अग्नि में पतंगे की भांति अपने को डाल दूंगा।'

हर्ष की माता और पिता के मृत्यु के दृश्यों में भी संक्षिप्त वर्णनों का प्राचुर्य देखा जाता है : प्रभाकरवर्धन अपने प्रिय पुत्र को इस प्रकार कह रहे हैं :

महासत्त्वता हि प्रथममवलम्बनं लोकस्य पश्चाद्राजजीविता । सत्त्ववतां चाग्रणीः सर्वातिशयश्रितः क्व भवान् क्व वैक्लव्यम् ? कुलप्रदीपोऽसीति दिवसकरसदृशतेजसस्ते लघुकरणमिव । पुरुषसिंहोऽसीति चौर्य (? चातुर्य) पटुप्रज्ञोपबृंहितपराक्रमस्य निन्देव । क्षितिरियं तवेति लक्षणाख्यातचक्रवर्तिपदस्य पुनरुक्तमिव । गृह्यतां श्रीरिति स्वयमेव श्रिया गृहीतस्य विपरीतमिव ।

'महान् सत्त्व वाला होना इस लोक का प्रथम अवलम्बन है, राजवंश का होना उसके पश्चात् आता है। कहां तो तुम जो सत्त्ववानों में श्रेष्ठ हो और समस्त उत्कृष्ट गुणों से युक्त हो, और कहां शोक से कातरता? तुम कुल के प्रदीप हो—ऐसा कहना तुम्हें छोटा बनाना है, क्योंकि तुम तो तेज में सूर्य के सदृश हो। तुम पुरुष-सिंह हो—ऐसा कहना मानो तुम्हारी निन्दा करना है, क्योंकि तुम्हारा पराक्रम चातुर्य में पटु-प्रज्ञा से और भी उत्कृष्ट है। यह पृथ्वी तुम्हारी है—यह कहना पुनरुक्ति के समान है, क्योंकि तुम्हारा चक्रवर्ति-पद तुम्हारे लक्षणों से ही स्पष्ट है। तुम श्री को धारण करो—यह कहना भी विरुद्ध-जैसा पड़ता है, क्योंकि श्री ने तो स्वयं तुम्हें गृहीत कर रखा है' इत्यादि कथन करते हुए कवि श्रान्त हो जाते हैं, क्योंकि ऐसे वाग्विलासों का तार्किक दृष्टि से कोई अन्त नहीं होता। उनकी भाषा में लय-युक्त प्रभावों और अनुप्रासों का बाहुल्य देखा जाता है और प्रायेण वे उपयुक्त ही हैं: **अप्रतिहतरथरंहसा रघुणा लघुनैव कालेनाकारि ककुभां प्रसादनम्**, 'जिनके रथ का वेग अप्रतिहत है ऐसे रघु ने थोड़े ही काल में लोक में शान्ति ला दी।'

अलंकारों के प्रति बाण की अभिरुचि स्पष्ट है। उनकी रचना में रूपक, उपमा, विरोधाभास, दृष्टान्त और राज्यश्री के जैसे **आकुलां केशकलापेन मरणोपायेन च**, 'बिखरे हुए केशों से और मरण के उपायों से आकुल', **दग्धां चण्डातपेन वैधव्येन च**, 'तीक्ष्ण आतप से तथा वैधव्य के दुःख से पीड़ित' ऐसे वर्णनों में सहोक्ति के उदाहरण प्रायेण पाये जाते हैं। उनके थोड़े से पद्यों में सुन्दर उत्प्रेक्षा का उदाहरण है:

> **जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो**
> **बिभित्सया यः क्षणलब्धलक्ष्यया।**
> **दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः**
> **स्वयं भयाद् भिन्नमिवास्रपाटलम्॥**

'नृसिंह-रूपी वे विष्णु जय को प्राप्त होते हैं जिन्होंने भेदन की इच्छा से दूर से क्षण मात्र के लिए अपने लक्ष्य तक पहुँचने वाली कोप से रक्त दृष्टि से ही शत्रु (हिरण्यकशिपु) के मानो भय से स्वयं भिन्न हुए उरः-स्थल को रक्त से लाल कर दिया।' अतिशयोक्ति का एक अच्छा उदाहरण उनके गुरु की प्रशस्ति में प्रस्तुत किया गया है:

> **नमामि भर्वोश्चरणाम्बुजद्वयं**
> **सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम्।**
> **समस्तसामन्तकिरीटवेदिका-**
> **विटङ्कपीठोल्लुठितारुणाङ्गुलि॥**

'में भर्वु के उन चरण कमलों को नमस्कार करता हूँ जिनका पूजन शिरोभूषण से युक्त मौखरि राजाओं द्वारा किया जाता है और जिनकी अरुण अँगुलियां सांम्राज्य के समस्त सामन्तों के किरीट-रूपी वेदिकाओं के शिखर-पीठों से संस्पृष्ट होती हैं।'

बाण द्वारा प्रयुक्त पद्यों की संख्या थोड़ी है, यद्यपि वह सुवन्धु के पद्यों के समान सीमित नहीं है। भामह[1] द्वारा विहित इस नियम का, कि आख्यायिका में प्रत्येक उच्छ्वास के प्रारम्भ में उसके विषय को बतलाने वाले वक्त्र और अपर-वक्त्र छन्दों में पद्य होने चाहिएँ, बाण ने पालन नहीं किया है। हर्षचरित के प्रथम उच्छ्वास में कविता पर एक अवतरणिका दी हुई है; दूसरों में दो-दो पद्य दिये हुए हैं; परन्तु वे या तो दो आर्याएँ हैं या एक श्लोक और एक आर्या। उच्छ्वासों के मध्य में देखा जाय, तो प्रथम में एक अपरवक्त्र आता है; द्वितीय में तीन पद्य वसन्ततिलक, शार्दूल-विक्रीडित और अपरवक्त्र में विद्यमान हैं; तृतीय में आर्या और स्रग्धरा छन्दों के दो-दो पद्य आते हैं; चतुर्थ में दो पद्य तो वक्त्र और अपर-वक्त्र छन्दों के और एक स्वतन्त्र रूप से आर्या प्रयुक्त हुई है; पञ्चम में एक श्लोक और एक अपरवक्त्र; छठे में एक आर्या; अन्तिम दो के मध्य में कोई भी पद्य नहीं है। बाण का वक्त्र छन्दो-ग्रन्थों में दिया हुआ श्लोक नहीं है। वह ऐसा श्लोक है जिसके द्वितीय और चतुर्थ पादों के अन्त में दो गुरु होते हैं। अपनी पद्यात्मक भूमिका के पश्चात् कादम्बरी प्राधान्येन गद्य में ही है।

---

१. १।२६। Nobel (*Indian Poetry*, pp. 178, 187) तर्क-पुरस्सर सिद्ध करते हैं कि दण्डी और भामह दोनों बाण की रचना से परिचित रहे हों ऐसा नहीं हो सकता। समय की दृष्टि से यह बात भामह के विषय में मुश्किल से ही सत्य हो सकती है, हाँ हो सकता है कि भामह बाण से बहुत दूर के रहने वाले हों। रुद्रट में हमें कथा (xvi. 20-3 एवं आख्यायिका (xvi. 24-30) का वर्णन मिलता है जो स्पष्टतया बाण पर आधारित है; cf. S. K. Dé, BSOS. iii. 514 f.

१५
परवर्ती गद्यकाव्य और चम्पू
१. गद्यकाव्य

वाण ने एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जिसकी प्रशंसा करना तो सरल है, पर उसका सफलतापूर्वक अनुसरण करना अत्यन्त कठिन है। वास्तव में परवर्ती ऐसी कोई भी रचना हमारे सम्मुख नहीं है, जो क्षण भर के लिए भी उनकी रचनाओं के समकक्ष रखी जा सके। उनकी आलोचना[1] विशेषतः बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं थी; संस्कृत का प्रयोग करने वाली भारतवर्ष की कुछ ही कवयित्रियों में से एक, शीला भट्टारिका, की कोटि में पांचाली रीति के, जिसमें शब्द और अर्थ समानरूप से महत्त्वपूर्ण होते थे, आदर्श लेखक के रूप में वाण को रखा गया था; किन्तु यह कथन किसी भी प्रकार सत्य नहीं है। सर्वदेव के पुत्र तथा शोभन के भाई धनपाल ने वाण का अनुकरण किया है; ये धारा के वाक्पति तथा सीयक के आश्रित कवि थे, यद्यपि मेरुतुंग[2] उन्हें भोज की राजसभा में भी बतलाते हैं और उनके कुटुम्ब से उनके मतभेद तथा अन्त में उनके भाई से मेल की कथा का वर्णन करते हैं। धनपाल ने ९७२–३ ई० में **पाइयलच्छी** नामक प्राकृत शब्दकोष की रचना की, और जैन धर्म स्वीकार करने के पश्चात् पचास प्राकृत पद्यों में **ऋषभपञ्चाशिका** लिखी। धनपाल ने अपने गद्यकाव्य का नाम नायिका के नाम पर **तिलकमंजरी**[3] रखा है, और समरकेतु के प्रति तिलकमञ्जरी के प्रेम का वर्णन करने में उनका स्पष्ट रूप से यही लक्ष्य रहा है कि **कादम्बरी** के सदृश अधिकाधिक चित्र खींचे जा सकें। उन्होंने बाण के प्रति अपना ऋणी होना स्वीकार किया है, और सम्भवतः यही सबसे उत्तम बात है जो उनके सम्बन्ध में कही जा सकती है।

कादम्बरी से प्रतिस्पर्धा करने का दूसरा जैन प्रयत्न ओडयदेव के **गद्यचिन्तामणि**[4] में दृष्टिगत होता है; उनका उपनाम वादीभसिंह (प्रतिवादी रूपी हाथियों के लिए सिंह) था। ये एक दिगम्बर जैन थे और पुष्पसेन के शिष्य थे, जिनकी

---

१. Kane, **कादम्बरी**, p. xxv.

२. **प्रबन्धचिन्तामणि**, pp. 60 ff. (trans. Tawney).

३. Ed. K. M. 85, 1903. Cf. Jacobi, GGA. 1905, p. 379.

४. Ed. Madras, 1902. Cf. Hultzsch, IA. xxxii. 240; ZDMG. lxviii. 697 f.

प्रशंसा इन्होंने अपनी सामान्यतया अत्युक्तिपूर्ण शैली में की है। इनकी रचना का सम्बन्ध जीवक अथवा जीवन्धर के उपाख्यान से है, जो **जीवन्धरचम्पू** का भी प्रतिपाद्य विषय है। इन्होंने बाण का अनुकरण किया है, यह बात विलकुल स्पष्ट है, जिसमें मनीषी शुकनास द्वारा युवक चन्द्रापीड को दिये गये उपदेश को अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी सम्मिलित है। अन्य जैन कथाएँ सच्चे गद्य-काव्यों के स्तर तक पहुँचने का प्रयत्न भी नहीं करतीं, और वे वहां तक निश्चय ही पहुँच भी नहीं पाती हैं।[1]

२. चम्पू

गद्य काव्यों में यत्र-तत्र कुछ पद्य रहते हैं, परन्तु उन गद्यकाव्यों की रचना साधारणतया तथा प्रभावोत्पादक रीति से गद्य में ही हुई है, और 'चम्पू' इस अज्ञातार्थक नाम से पुकारी जाने वाली साहित्यिक रचनाएँ उनसे इस वात को लेकर नितान्त भिन्न हैं कि उनमें समान उद्देश्य से गद्य और पद्य दोनों का निरपेक्ष रीति से प्रयोग होता है। इस बात में चम्पू साहित्य के उन अन्य रूपों से भी भिन्न हैं, जिनमें गद्य के साथ पद्य मिला रहता है; अन्य साहित्यिक रूपों में पद्य या तो सूक्तिरूप में रहते हैं, या वे कहानी के संदर्भ को संक्षेप में उपस्थित करते हैं, जैसा कि **पञ्चतन्त्र** के शीर्षक-पद्य करते हैं, या कभी-कभी वे आख्यान की किसी विशिष्ट वात को अधिक प्रभावपूर्ण वनाते हुए प्रतीत होते हैं, जैसे जब एक छोटा-सा चुभता हुआ भाषण दिया जाय या किसी विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण विचार को पद्य में कह कर उसकी ओर ध्यान आकृष्ट कराया जाय। परन्तु गद्य के साथ-साथ अनियन्त्रित रूप से पद्य का प्रयोग होने में कोई आश्चर्यजनक बात न थी, विशेषत: उस दशा में जबकि गद्य या पद्य किसी में भी बिना किसी भेदभाव के ग्रन्थ रचे जा सकते थे। हमें एक ओर **जातकमाला** में और दूसरी ओर हरिषेण के अभिलेख में ऐसी रचना के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं जिसको बहुत करके चम्पू के समान ही माना जा सकता है, और जातक की पुस्तक में ओल्डेनवर्ग (Oldenberg)[2] ने समान स्थल ढूंढ़ निकाले हैं। परन्तु परवर्ती काल से ही ऐसे ग्रन्थों का पूर्ण-रूपेण काव्य-शैली में लिखा जाना आरम्भ हुआ है जिनमें कवि, पद्यों को किसी विशेष उद्देश्य के लिए सुरक्षित रख छोड़ने का प्रयत्न न करके, कभी गद्य और कभी पद्य में अपनी योग्यता का प्रदर्शन करता है।

प्राचीनतम उपलब्ध चम्पू सम्भवतः त्रिविक्रमभट्ट द्वारा रचित **दमयन्ती-**

---

१. खण्डित रूप में उपलब्ध **अवन्तिसुन्दरी** के सम्बन्ध में, जो ग़लती से दण्डीरचित बतलाई जाती है, देखिये S. K. Dé, IHQ. i. 31 ff; iii. 395 ff.

२. GN. 1918, pp. 429 ff.; 1919, pp, 61 ff.

कथा[1] या नलचम्पू है। उनको हम ९१५ ई० में राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय के नौसारी अभिलेख के लेखक के रूप में जानते हैं, और मदालसाचम्पू के रचयिता के रूप में भी उनका उल्लेख किया गया है। ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि उनके पिता देवादित्य, जो एक सभापण्डित थे, एक बार जबकि एक प्रतिद्वन्द्वी उन्हें चुनौती देने के लिए आया अपने स्थान पर अनुपस्थित थे। इसके परिणामस्वरूप उनके पुत्र ने सरस्वती की अनुकम्पा से नलचम्पू की रचना की, जो अपूर्ण ही रह गया क्योंकि वे लौट आये और इससे उनके पुत्र को उसे पूर्ण करने की आवश्यकता ही न रही। नलचम्पू की कथा का विस्तार सामान्य दोषों से युक्त लम्बे लम्बे वाक्यों से किया गया है, जिनमें बड़े-बड़े समासों में श्लेषों, अनुप्रासों और पूर्ण लयात्मकता के साथ विशेषणों की भरमार है। त्रिविक्रम भट्ट ने बाण का उल्लेख किया है, और स्वयं उनका उल्लेख सरस्वतीकण्ठाभरण में किया गया है। उनके पद्य साधारण कोटि के ही हैं। सुभाषितसंग्रहों में उद्धृत कवियों की समालोचना-विषयक उनके एक पद्य में उपमा का श्लेष के साथ सामान्यतः उपलब्ध होने वाला संकर विद्यमान है :

अप्रगल्भपदन्यासा जननीरागहेतवः ।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव ॥

'अप्रौढ़ पदन्यास वाले, लोगों की विरक्तता के हेतुभूत, बहुत बोलने वाले कुछ कविजन उन बच्चों की भाँति होते हैं, जिनके पैर डगमगाते हैं, जो अपनी माता के स्नेह के कारण होते हैं और बहुत बोलते हैं।' यह स्पष्टतः नीरस है और उनके अलंकृत पद्य और भी कम आकर्षक हैं।

उसी शताब्दी के एक जैन लेखक, सोमदेव, द्वारा ९५९ ई० में लिखा गया यशस्तिलक[2] कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सोमदेव राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के समकालीन तथा उनके एक सामन्त के आश्रित कवि थे, जो चालुक्य राजा अरि-केसरी द्वितीय का पुत्र था। सोमदेव दिगम्बर जैन थे, और उन्होंने, अन्य सब जैन लेखकों की भांति, जैन धर्म द्वारा मानवमात्र के कल्याण को दृष्टि में रख कर ग्रन्थ की रचना की। उनके ग्रन्थ के अन्तिम तीन आश्वास सामान्यजनों के लिए एक उपदेशपुस्तिका का काम देते हैं; तथापि ग्रन्थ की कथा बिलकुल ही नीरस नहीं है। समृद्ध योधेय देश में राजपुर नाम का एक नगर था, जिस पर मारिदत्त नाम के एक विलासी राजा का शासन था। उसने अपने कुलपुरोहित के कहने से अपनी

---

१. Ed. NSP. 1885. वे शाण्डिल्य गोत्र के थे और नेमादित्य के पुत्र थे (EI. ix. 28).

२. Ed. K M. 70, 1901-3. Cf. Peterson, *Report*, ii. pp. 33 ff.

कुलदेवी चण्डमारिदेवता को मनुष्यों समेत सभी जीवित प्राणियों का एक-एक जोड़ा बलि करने का निश्चय किया। जब वह बलि के लिए तत्पर होता है तब उसके सम्मुख एक तपस्वी बालक और बालिका की जोड़ी आती है, जिसको बलिवेदी पर आने के लिए फुसलाया गया है; उन दोनों को देखते ही उसकी बुद्धि पर से अन्धकार का आवरण हट जाता है। इस स्थल पर लेखक, एक भद्दे विषय-परिवर्तन के साथ, उन बालकों की वहां उपस्थिति की व्याख्या करता है; सुदत्त नामक एक तपस्वी नगर के सीमान्त में अभी आया है, और, कामोद्दीपक होने के कारण उद्यान को तथा अनावश्यक रूप से घृणित होने के कारण श्मशान को पसन्द न करके, उसने एक पहाड़ी पर अपना निवासस्थान बनाया है। उसके साथ राजा यशोधर के पुत्र यशोमति से मारिदत्त की भगिनी द्वारा उत्पन्न दो बच्चे हैं, और भविष्य-ज्ञाता वह तपस्वी उन दोनों को वहां भेज देता है, जहां उसे ज्ञात है कि राज-पुरुष पहले उनसे बात करेंगे और फिर बलि के लिए राजा के समीप ले जायेंगे। राजा, यह सोच करके कि उसके अपने भानजे और भानजी के भी तापस जीवन ग्रहण करने की बात सुनी गई है, उनके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करता है, और उनसे उनका इतिहास पूछता है। द्वितीय आश्वास में वह बालक, जिसे अपनी बहन के समान ही अपने पूर्वजन्मों का दुर्लभ ज्ञान प्राप्त है, एक विचित्र कथा सुनाता है। उज्जैन में यशोर्ध[1] नाम का एक राजा था, जिसकी रानी चन्द्रमती से उसके यशोधर-नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अपने श्वेत होते हुए केशों को देख कर राजा ने यशोधर को सिंहासन पर बिठा कर वानप्रस्थ स्वीकार कर लिया। यशोधर के जीवन का वर्णन किया गया है, और कवि राजा तथा मन्त्री के पारस्परिक वार्तालाप में, जिसमें पौराणिक दृष्टान्तों द्वारा बुरे मन्त्रियों को चुनने वाले और स्वामि-भक्त सेवकों को निकाल बाहर करने वाले राजाओं का दुर्भाग्य प्रदर्शित किया गया है, अपना नीति-विषयक ज्ञान प्रदर्शित करता है। यशोधर आदर्श रूप से सुखी है और धनुर्वेद में उसकी रुचि है, परन्तु एक दिन रात्रि में वह अपनी पत्नी को पापपूर्ण व्यभिचार के लिए शय्या का त्याग करते देखता है। वह उसका वध करने का विचार करता है, किन्तु लोकनिन्दा के भय से रुक जाता है, और उसकी मां, जिसे सत्य का आभास मिल जाता है, उसे एक यज्ञ करने की सलाह देती है, जिसमें सब प्रकार के पशुओं की बलि सम्मिलित है। परन्तु राजा जीवहिंसा करने

---

१. Hertel (*Pāla und Gopāla*, pp. 81 ff.) ने माणिक्यसूरि और वादिराज-सूरि की सदृश कृतियों का संक्षेप किया है। उनका यशोघ (p. 92) अशुद्ध हो सकता है।

वाले यज्ञों से अपना कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहता है, और उसके और उसकी मां के मध्य जैन धर्म पर वाद-विवाद होने लगता है, जिस ओर उसका पुत्र उसे अग्रसर होता हुआ प्रतीत होता है। वह तर्क करता है कि मृत व्यक्तियों को पिण्ड देना हास्यास्पद है, और कौए ही इस प्रकार की उदारता के वास्तविक भागी होते हैं। जल की पावनता से सम्बन्धित विचार का भी उपहास किया गया है। राजा अपने पक्ष के समर्थन में प्रामाणिक कवियों के एक बहुत बड़े समुदाय के वचनों को प्रस्तुत करता है, और राजशेखर-पर्यन्त लगभग समस्त महाकवियों से उद्धरण देता है। राजमाता, सम्भवतः उसकी वक्तृत्व-शक्ति से ऊब कर, आटे के मुर्गे के लिए मान जाती है। किन्तु राजा की दुष्ट पत्नी अवसर देख कर उस मिश्रण को पकाने का आग्रह करती है, उसमें विष डाल देती है, और इस प्रकार माता तथा पुत्र दोनों का अन्त कर देती है (तृतीय आश्वास)। चतुर्थ आश्वास में, मुर्गे के पुतले तक का मारा जाना पाप होने के कारण, अपने अपराधों के फलस्वरूप माता, पुत्र तथा पत्नी के बाद के जन्मों का विवरण प्राप्त होता है। इन पुनर्जन्मों में भी दुष्ट पत्नी अपना दुष्कर्म दुहराती है। परन्तु अन्त में यह चक्र पूरा हो जाता है, और माता तथा पुत्र मारिदत्त की भगिनी तथा यशोमति के यमज बच्चों के रूप में, जिन्हें अपने पूर्वजन्मों का स्मरण रहता है, पुनर्जन्म लेते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राजा को सुदत्त से उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार कर लिया जाता है (पञ्चम आश्वास), और अन्त में वह अपने प्रजाजन तथा अपनी इष्टदेवता के साथ धर्मपरिवर्तन कर लेता है।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सोमदेव **साहित्यदर्पण**[1] जैसे परवर्ती लक्षण ग्रन्थों में आये हुए इस नियम का पालन करते हैं कि पद्य का प्रयोग उन स्थलों के लिए ही किया जाना चाहिए जहां मुख्यतया सरस वस्तु का निबन्धन करना है, क्योंकि वे बहुधा बिना कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न किये ही पद्य का प्रयोग करते हैं, तथापि यह निश्चित है कि वे सुबुद्धि एवं परिष्कृत रुचि वाले कवि हैं। स्वयं कविता न रच सकने के कारण आलोचकों के कविता-सम्बन्धी अज्ञान के विरुद्ध उनके पक्ष के समर्थन में सोमदेव का यह कथन है :

---

१. vi. 336 (332), जिसमें Report, ii. p. 34 के अनुसार Peterson ने **पद्यैः** यह पाठ ग्रहण किया है। **गद्यैः** भी एक पाठान्तर है (Nobel, *Indian Poetry*, p. 168, जिन्होंने Peterson के मत पर ध्यान नहीं दिया है)। अर्थ सन्दिग्ध है; Peterson का मत है कि इस ग्रन्थ अथवा इस कोटि के ग्रन्थों को ध्यान में रखकर ही कथा का लक्षण किया गया है।

अवक्तापि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः ।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ॥

'यद्यपि सामान्य मनुष्य स्वयं काव्य की रचना नहीं कर सकता, तो भी वह काव्य का परीक्षक भली भांति हो सकता है। सुस्वादु भोजन बनाने की कला में अनभिज्ञ होने पर भी क्या भोक्ता भोजन के स्वाद को नहीं जानता ?' राजा की सामान्य बुद्धि सुस्पष्ट है :

सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जनोन्मज्जनमात्रमेव ।
पुण्याय चेत् तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरा स्यादितरेषु पश्चात् ॥

'यदि नदी, तालाव, समुद्र या वापी में डुबकी लगाना और निकलना ही पुण्यकारक है, तब तो स्वर्ग की प्राप्ति सबसे पहले जलचरों को और उसके पश्चात् ही अन्य लोगों को होगी।' राजा की धनुर्विषयक रुचि भली प्रकार अभिव्यक्त की गई है :

यावन्ति भुवि शस्त्राणि तेषां श्रेष्ठतरं धनुः ।
धनुषां गोचरे तानि न तेषां गोचरे धनुः ॥

'संसार में जितने भी शस्त्र हैं, धनुष् उन सबसे बढ़ कर है। अन्य सारे शस्त्र धनुष् के गोचर हैं, किन्तु धनुष् उनका गोचर नहीं है।' मानवीय तृष्णा के मूर्खतापूर्ण होने का बार-बार उपहास किया गया है, जैसे निम्न पद्य में :

त्वं मन्दिरद्रविणदारतनूद्भवाद्यै—
स्तृष्णातमोभिरनुबन्धिभिरस्तबुद्धिः ।
क्लिश्नास्यहर्निशमिमं न तु चित्त वेत्सि
दण्डं यमस्य निपतन्तमकाण्ड एव ॥

'हे चित्त, तुम बन्धन रूप घर, धन, स्त्री और पुत्र इत्यादि की तृष्णा के अन्धकार-समूह से अन्तर्हित बुद्धि वाले होकर दिन-रात कष्ट पाते हो, किन्तु अनवसर में ही अपने ऊपर गिरते हुए इस यम के डण्डे को नहीं जानते।'

दूसरा **जैन चम्पू**, जिसके विषय में हम जानते हैं, हरिचन्द्र का **जीवन्धर-चम्पू**[1] है, जो गुणभद्र के **उत्तरपुराण** पर आधारित है और ९०० ई० से पूर्व का नहीं हो सकता। यह लेखक क्कीस सर्गों के महाकाव्य **धर्मशर्माभ्युदय** के रचयिता दिगम्बर हरिचन्द्र से अभिन्न है या नहीं, इसका निर्णय नहीं हो सकता, किन्तु उस लेखक ने माघ और वाक्पति दोनों का अनुकरण किया है, और इसलिए

१. Ed. Tanjore, 1905. Cf. Hultzsch, IA. xxxv. 268.

इस सुझाव में कालक्रम-सम्बन्धी कोई असंगति नहीं है। दोनों ही ग्रन्थ विषयदृष्टि से आदरास्पद होते हुए भी रोचक नहीं हैं।

ब्राह्मण-धर्म से सम्बद्ध चम्पुओं में **रामायणचम्पू**[1] भोज तथा लक्ष्मण भट्ट का लिखा बताया जाता है। अनन्त द्वारा बारह स्तबकों में रचित **भारतचम्पू**[2] का रचनाकाल अनिश्चित है। लाट के वालभ कायस्थ सोड्ढल द्वारा रचित **उदयसुन्दरीकथा**[3] का काल अधिक निश्चित है। उन्होंने कोंकण के राजा मुम्मुणिराज के आश्रय में लगभग १००० ई० में इसकी रचना की। सोड्ढल का आदर्श बाण का हर्षचरित था। बाण का अनुकरण करके उन्होंने केवल अपनी वंशावली के सम्बन्ध में ही तथ्य प्रस्तुत नहीं किये हैं, अपि तु पूर्ववर्ती कवियों के सम्बन्ध में भी उन्होंने पच्चीस पद्य लिखे हैं। बाण के सम्बन्ध में वे कहते हैं :

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य
शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति ?

'बाण के हर्षचरित में तीक्ष्ण शक्ति (आयुधविशेष) को देख कर कौन लोग यहां कविता रूपी अस्त्र के अभिमान का परित्याग नहीं कर देते ?' परन्तु उनके पद्यों में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का कोई विशेष चिन्ह नहीं है, और वे नियत रूप से, केवल कोई गोलमोल सामान्य बात ही कह देते हैं, जैसे इसमें :

बभूवुरन्येऽपि कुमारदासभासादयो हन्त कवीन्दवस्ते ।
यदीयगोभिः कृतिनां द्रवन्ति चेतांसि चन्द्रोपलनिर्मलानि ॥

'कुमारदास, भास इत्यादि अन्य भी प्रसिद्ध कविचन्द्र हो गये हैं, जिनके वचनों (पक्ष में, किरणों) से विद्वानों के चन्द्रकान्त मणि के समान निर्मल चित्त द्रवित हो जाते हैं।'

सत्रहवीं शताब्दी में नारायण द्वारा लिखा गया **स्वाहासुधाकरचम्पू**[4] और कवि शंकर द्वारा लिखा गया **शंकरचेतोविलासचम्पू**,[5] दोनों परवर्ती, किन्तु विशेष

---

१. Ed. NSP. 1907. श्रीहर्ष का **नवसाहसाङ्कचरित चम्पू** था (नैषध २२/५१)।

२. Ed. Madras and Bombay, 1903.

३. Cf. काव्यमीमांसा (GOS.), pp. xii f.; ed. *Gaekwad's Or. Series*, 1920.

४. Ed. KM. iv. 52 ff.; Pischel, *Die Hofdichter des Lakṣmaṇasena*, p. 29.

५. Aufrecht, *Bodl. Catal.*, i. 121. दूसरे ग्रन्थों के विषय में तु० *Madras Catal.*, xxi. 8180 ff.

रूप से रुचिकर हैं। स्वाहासुधाकरचम्पू में अग्नि की पत्नी स्वाहा और चन्द्रमा के प्रेम का वर्णन छोटे-छोटे ग्रामगीतों के ढंग पर किया गया है, जिसकी तुलना पिशेल (Pischel) ने Homer द्वारा खींचे गये Ares और Aphrodite के प्रेम के चित्र[1] से की है। शंकरचेतोविलासचम्पू चेतसिंह के सम्मान में लिखा गया है, जिनका नाम वारेन हेस्टिंग्ज़ (Warren Hastings) के विवरणों में मुख्य रूप से आता है। इन काव्यों में से पहला निश्चय ही आशुकविता है, जिसके विषय में कविजन असाधारण रूप से तथा मूर्खतापूर्वक अभिमान करते थे।

१. *Od.* viii. 266 ff.

१६

संस्कृत कविता के प्रयोजन तथा उपलब्धियाँ

१. कवि के प्रयोजन तथा उसकी शिक्षा

भारतीय कवियों तथा अलंकार-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के लेखकों के विचारों में कवि के प्रयोजन के सम्बन्ध में तात्त्विक ऐकमत्य है।[1] उनको रुचिकर लगने वाले दो महान् लक्ष्य हैं, यशःप्राप्ति और आनन्द-प्रदान। भामह का कथन है कि कवि के स्वर्गवासी हो जाने के अनन्तर भी उसका काव्यमय शरीर पवित्र तथा कान्तियुक्तरूप में पृथ्वी पर स्थित रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि कविता के अन्य प्रयोजनों को भी साथ में जोड़ा जा सकता है; स्वयं भामह ने काव्य से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं के सम्बन्ध में नैपुण्य की प्राप्ति का उल्लेख किया है, परन्तु ये केवल गौण बातें हैं जिनकी प्राप्ति अन्य साधनों से भी की जा सकती है। अतः ये उल्लेख के योग्य नहीं हैं। उपदेश देना भी कवि के प्रयोजन का आवश्यक भाग नहीं है, पर यदि वह चाहे तो अपनी कृति में किसी प्रकार के उपदेश का समावेश कर सकता है। यदि उसका यह उद्देश्य हो तो, धार्मिक गुरुओं के प्रभु-सम्मित तथा शास्त्रकारों के सुहृत्सम्मित उपदेशों के विपरीत, कवि का उपदेश कान्तासम्मित होता है। काव्य का आनन्द पाठक या श्रोता को ही प्राप्त होता है। साग्रह प्रश्न किये जाने पर भारतीय रससिद्धान्त काव्यसर्जन में आनन्दप्राप्ति को स्वीकार नहीं करता। कवि अपनी कविता का आनन्द तभी ले सकता है जब अपनी रचना की समाप्ति पर वह सहृदय बन जाता है, और अपने इस रूप में वह उस रस का आस्वाद लेता है जो आस्वाद की अवस्था में आनन्द का शुद्धतम रूप है। यहां हमें इस सिद्धान्त का सादृश्य उपलब्ध होता है कि नाट्य के रस का आस्वाद नट को नहीं, अपितु प्रेक्षक को होता है।

परन्तु यदि कवि अपनी कीर्ति के लिए इच्छुक होते थे तो उन्हें इस बात का ज्ञान था कि बिना किसी आश्रय के वे इसे नहीं प्राप्त कर सकते, और स्वभावतः यह आश्रय उन्हें मुख्यतः राजा से, और यदि उससे नहीं तो किसी समृद्ध आश्रयदाता से ही मिल सकता था। राजाओं को प्रभावित कर सकने वाले अभीष्ट अर्थ

---

१. F. W. Thomas, *Bhnadarkar Comm. Vol.*, pp. 397 ff. Cf. above, chap. ii, § 5.

बारम्बार तथा अत्यधिक प्रभावपूर्ण रीति से व्यक्त किए गए हैं। दण्डी के अनुसार वाणी में प्रतिविम्बित प्राचीन राजाओं की कीर्ति उनकी मत्यु के अनन्तर भी स्थित रहती है। रुद्रट कहते हैं कि मनुष्य के कर्मों का स्वर्गादि फल भले ही नष्ट हो जाय, किन्तु उनके नामों को कवि सदा के लिए सुरक्षित बना सकता है, और, जैसा कि हम देख चुके हैं, इस विषय में कल्हण तो सबसे अधिक ज़ोर देते हैं।[1] राजशेखर ने काव्य तथा अन्य विद्याओं के प्रति राजा के कर्त्तव्य पर बहुत अधिक बल दिया है; राजा को नियमतः एक दरबार करना चाहिए जिसमें बहुत अधिक संख्या में कवि तथा अन्य जन उपस्थित हों और विचार के लिए प्रस्तुत किये गये ग्रन्थ के गुण-दोष की परीक्षा करें, साथ ही उसे वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक और साहसांक के उदाहरण का अनुकरण करते हुए कवियों को उनके गुणों के अनुसार पुरस्कृत करना चाहिए। उसे राज्य के बड़े नगरों में ब्रह्मसभाएँ भी स्थापित करनी चाहिएँ, जिससे वहां राजकीय समर्थन के लिए उपस्थापित ग्रन्थों की परीक्षा की जा सके। कालिदास, मेण्ठ, अमर, रूप, सूर[2], भारवि, हरिचन्द्र और चन्द्रगुप्त इन महान् कवियों की सूची हमें प्राप्त है, जो उज्जैन में प्रशंसित हुए थे। इसी प्रकार शास्त्रों के रचयिता उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि तथा पतञ्जलि को पाटलिपुत्र में राजकीय समर्थन प्राप्त हुआ था। **भोजप्रबन्ध** में, यद्यपि वह परवर्ती और अनैतिहासिक है, राजसभा में ऐसी प्रतियोगिताओं के मनोरञ्जक चित्र उपलब्ध होते हैं, और **प्रबन्धचिन्तामणि** में भी ऐसे ही चित्र खींचे गये हैं, जो यह प्रकट करते हैं कि राजशेखर का आदर्श प्रायः चरितार्थ होता था, जबकि राजसभा का एक अधिक औपचारिक चित्र मंख ने प्रस्तुत किया है। इसमें भी हमें सन्देह नहीं करना चाहिए कि कवि तथा राजा का पारस्परिक सम्बन्ध दोनों के लिए सुखकर होता था। यदि हर्ष की उदारता से प्राप्त बाण का सम्पत्तिलाभ प्रख्यात था, तो उस अज्ञातनामा कवि की उक्ति में भी पर्याप्त सत्य विद्यमान है जो पूछता है कि धन की वे राशियां और मदस्रावी हाथी कहां गये जो बाण के गुणों के कारण महान् सम्राट् हर्ष ने बाण को दिये थे, जबकि उस कवि के प्रवाहपूर्ण पद्यों में चित्रित हर्ष की कीर्त्ति कल्प की समाप्ति हो जाने पर भी नष्ट न होगी।

कविजन निश्चय ही आशा करते थे कि राजा लोग परिष्कृत रुचि के व्यक्ति होंगे, परन्तु वे यह भी स्मरण रखते थे कि उन्हें राजाओं की अपेक्षा अधिक बड़े श्रोतृसमुदाय की आवश्यकता है, और शाश्वत ख्याति प्राप्त करने के लिए उन्हें रसिकों के चित्त को आकृष्ट करना चाहिए, जो अपनी कुशल निर्णायक-शक्ति से

१. Cf. सुभाषितावलि, 150, 160, 167, 186.
२. सम्भवतः आर्यशूर।

उनके ग्रन्थों की परीक्षा करेंगे। रसिक उसे कहते हैं जिसने काव्य का गम्भीर अध्ययन किया हो जिससे उसके मतिदर्पण में कोई दोष न रह जाय, और जो अपनी सहृदयता के कारण लेखक के लक्ष्य से अपना तादात्म्य स्थापित कर सके। ऐसा मनुष्य वास्तविक कविता के सुनने पर अनुभव करेगा कि जिस प्रकार अधिक सुरापान से हृदय उत्तेजित हो जाता है वैसा ही उसका हो गया है, और जब वह कवि के शब्दों को दुहराने का प्रयत्न करेगा तब उसको रोमाञ्च हो आयेगा, उसका मस्तक काँपने लगेगा, उसके कपोल रक्तिम-युक्त हो जायेंगे, उसकी आँखें अश्रुपूर्ण हो जायेंगी, और उसकी वाणी हलकाने लगेगी।[1] और, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने को एक पाठक की स्थिति में रखने पर एक सच्चा कवि भी इन्हीं बातों का अपने में अनुभव करेगा, और इस प्रकार वह स्वयं अपनी रचनाओं का विषयगत दृष्टि से, निष्पक्ष होकर, रसास्वादन करता है।

परन्तु इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता की रचना कर सकना अनेक कारणों पर निर्भर है। इसके लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति, और अभ्यास का होना आवश्यक है; भामह इत्यादि अन्य विद्वानों से मतभेद रखते हुए दण्डी इस बात पर बल देते हैं कि प्रतिभा के अभाव में भी उपर्युक्त अन्य दो कारणों से पर्याप्त सफलता मिल सकती है। तो भी उत्कृष्टतम कविता के लिए उक्त तीनों का संयोग सभी को मान्य है। यह विचार, कि एक सीधे-सादे असंस्कृत हृदय से भी कविता की स्वच्छ तथा सरल धारा फूट सकती है, निश्चय ही संस्कृत कवियों को रुचिकर नहीं लग सकता था। अलङ्कारशास्त्र के लेखक कवियों में उपयोगी ज्ञान का भण्डार चाहते हैं, और कवि भी अपनी रचनाओं में प्रयत्नपूर्वक इसके दिखाने का प्रयास करते हैं। कवि के लिए किन किन बातों का ज्ञान आवश्यक है, इसकी वामन द्वारा हमें एक बहुत कुछ स्पष्ट सूची प्राप्त होती है। कवि को सांसारिक बातों का ज्ञान होना चाहिए, उसे समझना चाहिए कि क्या सम्भव है और क्या असम्भव; उसे व्याकरण में निष्णात होना चाहिए, शब्दकोषों में बतलाये गये शब्दार्थों से परिचित होना चाहिए; छन्दःशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए; गान, नृत्य तथा चित्रकला इत्यादि कलाओं में दक्ष होना चाहिए; और प्रेम के व्यवहारों की जानकारी के लिए कामशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। साथ ही, नीति और अनीति के ज्ञान के लिए और घटनाओं का औचित्य समझने के लिए उसे राजनीति का अध्ययन करना चाहिए। परन्तु कवि के सारे कर्त्तव्य ये ही नहीं हैं।

१. सुभाषितावलि, १५८, १६३, १६५। बौद्ध परम्परा में अन्तःप्रेरणा का महत्त्व स्वीकार किया गया है (अङ्गुत्तरनिकाय २।२३०), जहाँ विचार-शीलता, अध्ययन, कथावस्तु, अथवा अन्तःप्रेरणा के आधार पर कवियों का वर्गीकरण किया गया है।

उसे कुछ अन्य छिटपुट बातों पर भी ध्यान देना पड़ेगा : उसे अपने को वर्तमान कविता से परिचित बनाना चाहिए, कविताओं के अथवा कम से कम उनके अंशों के लेखन का अभ्यास करना चाहिए, काव्यकला की शिक्षा देने वाले आचार्यों के प्रति आदरयुक्त आज्ञाकारिता प्रदर्शित करनी चाहिए, ऐसे उपयुक्त शब्द के चयन का अभ्यास करना चाहिए जिसके उपलब्ध होने पर उसे बदलने से कविता की हानि होती हो। अपने लक्ष्य की ओर ध्यान देते हुए उसे अपनी प्रतिभा को समाहित करना चाहिए। इस बात के लिए ब्राह्म मुहूर्त्त सर्वोत्तम है। इस बात का समर्थन कालिदास तथा माघ के साक्ष्य से किया जा सकता है।

कविता के स्रोतों के सिद्धान्त में परिष्कारों से कोई विशेष मूल्यवान् बात नहीं निकलती। राजशेखर[1] ने कारयित्री अथवा भावयित्री के भेद से प्रतिभा के कार्य का विवेचन किया है। यह अन्तर वस्तुतः सर्जन-शक्ति और आलोचना-शक्ति के भेद से सम्बद्ध है। इन दोनों शक्तियों में भेद करते हुए कालिदास को उद्धृत किया गया है। राजशेखर ने कवि का रोचक चित्र भी खींचा है; उसे आवश्यक रूप से पेशल रुचि का तथा धनी होना चाहिए। उसका भवन सुसंमृष्ट होना चाहिए, जिसमें प्रत्येक ऋतु के अनुकूल कमरे हों और एक छायायुक्त उद्यान हो जिसमें दीर्घिका हो, पुष्करिणी, मण्डप, स्नानगृह, पालकी (? = दोला) हंस तथा चकोर पक्षी भी हों। कवि को वाणी, बुद्धि तथा शरीर से शुचि होना चाहिए; उसके नख कटे हुए हों और शरीर पर अंगराग का लेप किया हुआ हो। उसे ऐसे बहुमूल्य वस्त्र धारण करने चाहिए जो भड़कीले न हों, और भोजन के अनन्तर पान खाना चाहिए। उसके परिजनों को उसकी शानशौकत के अनुकूल होना चाहिए। परिचारकों को अपभ्रंश, परिचारिकाओं को मागधी, आन्तःपुरिकाओं को संस्कृत तथा प्राकृत और मित्रों को सब भाषाएँ बोलनी चाहियें। उसके लेखक को उसके समान ही योग्य तथा स्वयं कवि होना चाहिए। अपने घर में भाषा-विषयक विशेष नियमों पर बल देने की सीमा तक भी कुछ लोग जा सकते हैं, जैसे मगध का शिशुनाग, जिसने ण के अतिरिक्त सब मूर्धन्यों, ऊष्मवर्णों तथा क्ष का प्रयोग अपने सम्मुख निषिद्ध कर दिया था; शूरसेन देश के कुविन्द ने परुष संयोगाक्षरों का प्रयोग बन्द कर दिया था; कुन्तल देश का सातवाहन प्राकृत के प्रयोग पर ही बल देता था, और उज्जैन का साहसाङ्क अपने दरबार में संस्कृत के ही प्रयोग किए जाने की इच्छा करता था। कवि की दिनचर्या भली-भाँति विभक्त है; उसे प्रातःकाल जल्दी उठना चाहिए, विद्या की देवी सरस्वती को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके शास्त्रों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करना चाहिए, तदनन्तर कुछ समय

१. काव्यमीमांसा, iv.

काव्यरचना में लगाना चाहिए, फिर मध्याह्न का भोजन करना चाहिए और उसके पश्चात् अपनी कविता की मीमांसा में लगना चाहिए या काव्यगोष्ठी का आनन्द लेना चाहिए, फिर अपने कुछ मेधावी मित्रों के साथ बैठ कर उसे अपनी कविता की परीक्षा करनी चाहिए। सायंकाल उसे फिर सरस्वती देवी की पूजा करनी चाहिए और रात्रि के प्रथम पहर में अपनी कविता का अन्तिम रूप लिख लेना चाहिए। इन सब बातों में वस्तुतः कुछ-न-कुछ कृत्रिमता का पुट है, किन्तु, ग्रन्थों में शास्त्र द्वारा लिये गये भाग के अनुसार शास्त्रकवियों के भेदों की भाँति, राजशेखर के ग्रन्थ में सर्वत्र ही यह देखने में आता है कि कविता मूलतः विद्वानों की वस्तु थी और वह अत्यधिक अनुशीलन का फल थी।

राजशेखर ने एक विषय पर बहुत अधिक ध्यान दिया है, जिस पर उनके पूर्वजों ने उतनी पूर्णता के साथ विवेचन नहीं किया, और वह है एक कवि द्वारा अन्य कवि की शब्दावली और विचारों के आदान का विषय। आनन्द-वर्धन[1] अन्य कवियों से अत्यधिक आदान के पक्ष में नहीं हैं। यद्यपि शताब्दियों से सैकड़ों कवि रचना करते चले आ रहे हैं, तो भी काव्य का क्षेत्र असीमित है। दो प्रतिभाशाली कवियों की कृतियों में समानताएँ हो सकती हैं; इन समानताओं में, प्रतिबिम्ब-कल्प समानता या वह समानता जो किसी वस्तु और उसके चित्र में उल्लसित होती है (**आलेख्यप्रख्य समानता**) त्याज्य है, किन्तु वैसी समानता, जैसी दो मनुष्यों के बीच दिखलाई पड़ती है (**तुल्यदेहितुल्य समानता**) गर्हणीय नहीं है। राजशेखर[2] ने शब्दावली, पद्य के एक भाग या सम्पूर्ण पद्य के आदान के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं, और यद्यपि उन्होंने विशुद्ध चोरी और स्वायत्तीकरण में भेद किया है तो भी इस विषय में उनके मत शिथिल ही हैं। उन्होंने वस्तुतः इस उत्तम नीतिवचन को उद्धृत किया है,

पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद्विशीर्यति ।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं च न शीर्यति ॥

'पुरुष की अन्य चोरी तो समय के बीतने पर विशीर्ण हो जाती है, पर वाणी की चोरी पुत्रों और पौत्रों तक भी शीर्ण नहीं होती।' पर इसके साथ ही उन्होंने शब्दहरण अथवा अर्थहरण के पक्ष में अपनी पत्नी अवन्तिसुन्दरी का वचन उद्धृत किया है। इस प्रकार वह कह सकता है, 'वह अप्रसिद्ध है, मैं प्रसिद्धिमान् हूँ; उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, मैं प्रतिष्ठावान् हूँ; उसका यह संविधानक अप्रक्रान्त है और मेरा प्रक्रान्त है; उसके वचन गुडूची जैसे हैं और मेरे मृद्वीका जैसे, अर्थात् हमारी

१. iii. 12 f.

२. **काव्यमीमांसा**, xi ff.; Cf. क्षेमेन्द्र, **कविकण्ठाभरण**, ii. 1.

शैलियों में भेद है; वह भाषा की विशेषताओं का अनादर करता है और मैं उनका आदर करता हूँ; उसे लेखक के रूप में कोई नहीं जानता; लेखक दूर देशान्तर में रहता है; उसकी लिखी हुई पुस्तक गतकालिक है; यह तो केवल एक म्लेच्छ की कृति है।' संस्कृत के परवर्ती कवियों ने इन बहानों का स्पष्टतः ही पूरा लाभ उठाया है, और आधुनिक व्यवहार में भी ये इतने अधिक प्रसिद्ध हैं कि गम्भीरतापूर्वक इनकी निन्दा नहीं की जा सकती। राजशेखर का अपना मत इस सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि 'ऐसा कोई कवि नहीं है जो चोर न हो, और ऐसा कोई व्यापारी नहीं है जो ठग न हो, किन्तु वह व्यक्ति निन्दा से रहित होकर मौज करता है, जो अपनी चोरी को छिपाने की कला जानता है। कोई कवि उत्पादक होता है और कोई परिवर्त्तक, कोई आच्छादक होता है और कोई संवर्गक (संकलनकर्ता)। जो शब्द, अर्थ और उक्तियों में यहाँ कुछ नूतन देखता है और कुछ प्राचीन बातों को लिखता है, उसे महाकवि माना जा सकता है।' अर्थहरण के सम्बन्ध में राजशेखर ने एक सिद्धान्त निरूपित किया है, जिसको मान्यता मिली है और जिसका हेमचन्द्र[1] ने संक्षेप किया है। **प्रतिबिम्बकल्पता** की निन्दा की गई है। उसकी परिभाषा है कि 'जहाँ अर्थ तो सारा का सारा वही हो, किन्तु उसकी रचना दूसरे वाक्यों में की गई हो।' **आलेख्यप्रख्यता** में कुछ संस्कारकर्म से वस्तु भिन्नवत् दिखलाई जाती है और यह **प्रतिबिम्बकल्पता** से श्रेष्ठतर है। **तुल्यदेहितुल्य समानता** वहाँ होती है जहाँ वस्तु के भिन्न होने पर भी अत्यधिक साम्य के कारण तादात्म्य का आभास होता है; निपुण कविजनों की कृतियाँ भी इस प्रकार की होती हैं। **पर-पुर-प्रवेश समानता** में प्रतिपाद्य विषय की एकरूपता रहती है, किन्तु शब्दसंस्कार अत्यधिक भिन्न रहता है, और अत्युत्तम कविजन भी इस पद्धति को अपनाते हैं। इस प्रवृत्ति का दूसरा पक्ष भी वर्त्तमान है; हर्षचरित की अवतरणिका में बाण ने निन्दनीय चोर की भाँति उस कवि की स्पष्टतया भर्त्सना की है जो शब्दावली को परिवर्तित करके अन्य लेखक के कर्तृत्व के चिह्नों को छिपाता है।[2]

अनुकरण की प्रवृत्ति का, अर्थ की विशेष चिन्ता छोड़ कर अभ्यासार्थ पद्य-रचना करने की प्रवृत्ति का, तथा सुप्रसिद्ध विषयों पर विस्तृत रचनाओं की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कविसमयों की स्थापना हो गई, जिनको काव्यों में लगभग यान्त्रिक ढंग से दुहराया गया है; चक्रवाक पक्षी रात्रि में अपनी

---

१. काव्यानुशासन, pp. 8 ff.
२. Cf. सोमेश्वर, सुरथोत्सव, i. 37, 39.

प्रियतमा से वियुक्त हो जाता है और मानवीय दुःख का निरन्तर स्मरण दिलाता है; चकोर को चन्द्रमा की किरणें पीकर जीवित रहने वाला बताया जाता है, और विषमय भोजन को देखते ही उसकी आँखें लाल हो जाती हैं; चातक केवल मेघों का ही जल पीता है; हंस पानी से दूध को अलग कर देता है; कीर्त्ति और हास समानरूप से श्वेत हैं; अनुराग को लाल माना गया है; अन्धकार मुष्टिग्राह्य है; ईर्ष्या का मुख दो जिह्वाओं वाला और विष से पूर्ण है; राजा के चरणनख उसके चरणों पर दण्डवत् पड़े हुए सामन्तों की चूड़ामणियों से प्रदीप्त रहते हैं; दिन में खिलने वाले कमल सन्ध्या समय अपने बाह्य-दल-रूपी नेत्रों को बन्द कर लेते हैं; अशोक वृक्ष प्रियतमा के पाद प्रहार से खिल उठता है, और बहुत बड़ी संख्या में समान 'अभिप्राय' (motifs) कवि परम्परा द्वारा बराबर वर्णित किये गये हैं। राजशेखर[1] ने इन कविसमयों का पूर्णता के साथ वर्णन किया है, और इनकी साधारण रूप में ही यह कहकर व्याख्या करदी है ये कविसमय हम लोगों से विप्रकृष्ट भिन्न भिन्न देशों और कालों में किये गये वास्तविक निरीक्षणों पर आधारित हैं। इस प्रकार हमें यह नियम मिलता है कि नदियों में सदा ही कमल पाये जाते हैं, हंस सब जलाशयों में होते हैं, प्रत्येक पर्वत पर सुवर्ण और रत्न होते हैं; या, फिर, सत्य की ओर से आँख मूंद ली जाती है, उदाहरणार्थ जब कि मालती को वसन्त में खिलने का अधिकार नहीं दिया जाता, चन्दनवृक्षों को फलपुष्प से रहित कहा जाता है, और अशोकों में फल न होने का वर्णन किया जाता है। या, फिर, वस्तुओं के अस्तित्व पर कृत्रिम बन्धन लगाये जाते हैं; मकर समुद्रों में ही पाये जाते हैं; और मोती ताम्रपर्णी नदी में ही। राजशेखर ने इसी प्रकार की रूढ़ियाँ द्रव्य, गुण और क्रिया के सम्बन्ध में उदाहृत की हैं, और कवियों द्वारा मानी गई ऋतुओं की विशेषतायें भी दी हैं। अधिक विस्तृत क्षेत्र में भी विचारों की पुनरावृत्ति उपलब्ध होती है, और हिन्दू कथा-साहित्य (fiction) में विचारों के प्रतिपादन के विविध प्रकारों के रोचक संकलन भी किये जा चुके हैं: इस प्रकार के 'अभिप्राय' (motifs) हैं—दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की कला, हँसने और रोने का 'अभिप्राय' (motif), बात करने वाले पक्षी, सत्य का प्रभाव, गर्भवती स्त्रियों की इच्छा या दोहद, कपटी संन्यासी और बनी हुई भिक्षुणियाँ, 'Joseph और Potiphar'* जैसा 'अभिप्राय' (motif) अर्थात् कामातुर पर असफल स्त्री द्वारा परपुरुष को बदनाम करने का 'अभिप्राय', अरिष्ट

---

१. काव्यमीमांसा, xiv ff.

* देखिये Genesis (Old Testament), 39 (मं० दे० शास्त्री)

का प्रतीकार, काकतालीयकथा, लिङ्ग (sex) का परिवर्तन, और अन्य बहुत से महत्त्वपूर्ण या छोटे-मोटे 'अभिप्राय'।[१]

संस्कृत साहित्यिक रुचि के विकास में दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य आशु-कविता की रचना अथवा दिये गये विषय पर यथासम्भव शीघ्रता से पद्यरचना करने के प्रति अनुराग था। यह कौशल, अत्यधिक शीघ्रता के साथ कवि को पद्यरचना में समर्थ बनाने के लिए, काव्यगत रूढियों पर पूर्ण और सिद्ध अधिकार के प्रति सीमा से अधिक समादर प्रदर्शित करने का कारण हो सकता था। शीघ्रकवि[२] की जो प्रशंसा की गई है, वह हमें अतिरञ्जित प्रतीत हो सकती है, किन्तु इस प्रकार के भाव का अस्तित्व स्पष्टतः प्रमाणित है। समस्यापूरण[३] का अभ्यास काव्यगत नैपुण्य के प्रयोग के रूप में उतना निन्दनीय नहीं था। इसमें कवि प्रायः किसी दी हुई पंक्ति पर पद्यरचना करता था। प्राचीन परम्परा कालिदास तक को इस मनोरञ्जन में प्रवीण बतलाती है।

२. उपलब्धि

संस्कृत काव्य के दोषों को देखना सरल है और उनको अतिरञ्जित करना और भी अधिक सरल है। कवियों द्वारा प्रदत्त जटिलता से भाषा की कठिनता और भी अधिक बढ़ गई है। ये कविजन सदैव अत्यधिक सुसंस्कृत श्रोतृगण के लिए काव्यरचना करते थे और किसी साधारण या सरल रचना के द्वारा उनके लिए यश और सम्पत्ति का लाभ करना असम्भव था। लम्बे समास, जिनका कुछ कवि पद्य में भी प्रयोग करते हैं और जो गद्य काव्य में तो सामान्यतः प्राप्त होते हैं, कभी कभी दुरूह हो जाते हैं; वे सदा ही उन सब व्यक्तियों के लिए झटिति अर्थावगति में बाधक होते हैं जो काव्य साहित्य की भावना से भली भाँति भावित नहीं हैं। यत्नसाध्य अनुप्रास और स्वरसाम्य का, जिनका भारतीय श्रवणेन्द्रिय के लिए उपलब्ध अर्थ के साथ एक निश्चित सौन्दर्य-भावना का सम्बन्ध था, आनन्द लेना हमारे लिए उतना सरल नहीं है, विशेष करके इस कारण से कि पाश्चात्त्य कवियों ने ध्वनि और अर्थ के सम्मिश्रण के लिए उतनी उत्सुकता के साथ प्रयत्न नहीं किया है और इस विषय में सफलता तो उनको और भी कम मिली है। इसलिए

---

१. Bloomfield, JAOS. xxxvi. 54-89; PAPS. lvi. 1-43; *Festschrift Windisch*, pp. 349-61; Burlingame, JRAS. 1917, pp. 429-67; Bloomfield, JAOS. xl. 1-24; xlii. 202-42; TAPA. liv. 141-68; Brown, JAOS. xlvii. 3-24; AJP. xlvii. 205 n.

२. Cf. नलचम्पू, p. 16; सोमेश्वरदेव's प्रशस्ति, 114 (EI. i. 21); गीतगोविन्द, i. 4.

३. कामसूत्र, p. 33; शार्ङ्गधरपद्धति xxxii; मेरुतुङ्ग और बल्लालसेन ने बहुत से उदाहरण दिये ह; Aufrecht, ZDMG. xxvii. 51.

हमलोग अलङ्कारशास्त्र के लेखकों द्वारा, जिन्होंने अधिकतर ध्वनि से उत्पन्न प्रभावों के आधार पर शैलियों का विभाजन किया है, सावधानी से बनाये गये उक्त-विषयक नियमों को पाण्डित्यप्रदर्शनमात्र कह कर अस्वीकार करने के लिए उद्यत रहते हैं। किञ्च, श्लेष के प्रति अनुराग, जो सुबन्धु और बाण में आवश्यक रूप से प्राप्त होता है और जिसको अन्य बहुत से कवि भी बहुत पसन्द करते हैं, बड़ी उलझन पैदा करता है और हम लोगों से उस बौद्धिक श्रम की अपेक्षा करता है, जो निश्चय ही उस समय जबकि उन काव्यों की रचना की गई थी उनकी प्रशंसा करने वाली चने हुए विद्वानों की गोष्ठियों या समाजों को नहीं करना पड़ता होगा। किसी प्राचीन कवि द्वारा प्रचलित की गई शब्दावली और विचारों का थोड़ा परिष्कार करने के निरन्तर प्रयत्न को समझना भी हम लोगों के लिए सरल नहीं है; इस प्रकार का प्रयत्न निस्सन्देह भाषा के बलात् प्रयोगों का और सरलता के अभाव का कारण बनता है। एक पूरी पंक्ति में केवल एक या दो व्यञ्जन वर्णों का प्रयोग करने में प्रदर्शित काव्य-चातुरी और हास्यास्पद परीक्षणों को समझ पाना हमारे लिए और भी अधिक कठिन है, जिनको, और छोटे मोटे कवियों की तो बात ही क्या, भारवि और माघ भी अपने काव्यों में सन्निविष्ट करने को तत्पर रहते थे। इसी प्रकार, काव्योपयोगी शब्दकोषों के अनियन्त्रित उपयोग पर अधिकतर आधारित, काव्यगत शब्दभण्डार का विस्तार भी हम लोगों को रुचिकर प्रतीत नहीं होता, और परम्परायुक्त अलङ्कारों की अत्यन्त विविधता तो निस्संदेह हम लोगों को शीघ्र ही थका डालती है।

शैली के दोषों के अतिरिक्त, हमें संस्कृत साहित्य में कवियों द्वारा रचित काव्यों में उनके व्यक्तित्व का प्रकाश उपलब्ध नहीं होता। काल में हमसे अत्यन्त दूर होने पर भी Sappho, Catullus और Lucretius हम पर किसी भी संस्कृत कवि से कहीं अधिक विशद प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जिन संस्कृत कवियों की रचनायें हमें प्राप्त हुई हैं, उनमें Vergil का सा शान्तिपूर्ण वातावरण कहीं अधिक मात्रा में सुरक्षित है। अलङ्कारशास्त्र के लेखक काव्य की साधारणीकरण की शक्ति को, उसकी अवैयक्तिक विशेषता को, और अभिधा के स्थान पर उसके व्यञ्जनाधर्मित्व को पूर्णतः सम्मान की दृष्टि से देखते थे, और उनका ऐसा करना महाकवियों द्वारा आश्रित परिपाटी पर आधारित था। इसके अतिरिक्त, वे कविजन पूर्ण शान्ति के संसार में निवास करते हैं। इसका अर्थ, यह न होकर कि शोक और कष्ट उनको अज्ञात हैं, यह है कि संसार में एक बुद्धिपूर्वक व्यवस्था वर्त्तमान है जो किसी निर्बुद्धि -आकस्मिक घटना का परिणाम न होकर मानव के पूर्वजन्मों के कर्मों का फल है। ब्राह्मण-परम्परा के समस्त कवियों द्वारा सांसारिक व्यवस्था के बुद्धिपूर्वक होने की उक्त अभिस्वीकृति से

उत्पन्न शान्तचित्तता के साथ विश्व की रचना से असंतोष का और उसके निर्णयों के प्रति विद्रोह-भावना का मेल नहीं बैठता। अतः हमें सामाजिक असन्तोष की गूंज भी नहीं मिलती। कवि लोग राज दरवार में रहा करते थे, और उन्हें अपने चारों ओर के जीवन में कोई असन्तोषजनक बात नहीं दिखलाई पड़ती थी। काव्य-युग में हम उन्हें देशभक्ति से विशेष अनुप्राणित भी नहीं पाते। जहाँ तक हमें उनकी कृतियाँ उपलब्ध हैं, उन्होंने अपनी रचनाएँ उन कालों में कीं, जबकि किसी विदेशी आक्रमण द्वारा राष्ट्रीय भावना उभाड़ी न गई थी, और वे पड़ोसी राजाओं के पारस्परिक संघर्षों को क्षत्रिय वर्ग के स्वाभाविक कर्म के रूप में देखते थे। राज्य के अन्तर्गत राजनीतिक स्वतन्त्रता की वात को तो कोई सपने में भी न सोच सकता था; Lucan को उदात्त वनाने वाली उग्र भावना किसी भारतीय कवि के लिए असम्भव थी। बौद्ध लेखकों ने भगवान् वुद्ध का यशोगान किया है और उनके सिद्धान्त का महत्त्व दर्शाया है, परन्तु मुख्यतः वे भी ब्राह्मण कवियों की भावना से इतने अधिक प्रभावित हैं कि वे भावोद्रेक की मर्यादित सीमाओं के वाहर जा ही नहीं सकते। हमें सवसे अधिक शान्तिदेव के काव्य में वह प्रगाढ़ गम्भीरता प्राप्त होती है, जो अत्यधिक विलक्षण और असङ्गत ढंग से विश्व की सत्यता की अस्वीकृति से मिली हुई है।

संस्कृत कवियों द्वारा प्रतिपाद्य विषयों के रूढिगत अथवा परम्परायुक्त होने की बात को स्वीकार करने और उनके विषय तथा दृष्टि की सीमा को समुचित रूप से ध्यान में रखने पर भी, संस्कृत कविता की अत्यन्त उत्कृष्टता में कोई सन्देह नहीं रहता। अपने सर्वोत्तम रूप में कवियों को उन सामान्य मनोभावों पर पूर्ण अधिकार था जो मानव हृदय को अत्यन्त प्रगाढ़ रूप से प्रभावित करते हैं। वे यौवन में और दाम्पत्य-जीवन में प्रेम के स्वरूप को, और शोक, सम्भोग-सुख, विरहदुःख, प्रियजन की मृत्यु से होने वाली हानि से उत्पन्न हुई तीव्र निराशा अथवा भावी जीवन में पुनर्मिलन के विश्वास से उस निराशा के उपशमन के स्वरूप को भली भाँति जानते हैं। किञ्च, उनका प्रकृतिप्रेम गाढ और वास्तविक है। चाहे पुनर्जन्म में अपने विश्वास के कारण या केवल अपनी प्राकृतिक सहानुभूति के कारण, वे सव प्रकार के प्राणियों को दयार्द्र दृष्टि से देखते हैं, और वे प्रकृति के भावों में भाग लेते हैं, क्योंकि उनकी यह धारणा है कि प्रकृति भी मनुष्यों के सुख-दुःख में भाग लेती है। उन्होंने मनुष्य के उत्कृष्टतर गुणों की भी उपेक्षा नहीं की है; वीरता, स्थिरता, सत्यता, आत्मबलिदान—इन सबको ओजस्वी चित्रण में समुचित स्थान प्राप्त हुआ है। उनमें से अनेकों की रचनाओं में हास्य का पुट स्वभावतः आ जाता है, और उनके श्लेषों का चातुर्य प्रायः असन्दिग्ध तथा विशेष रूप से

प्रभावोत्पादक है। उनकी वर्णन शक्ति को मानना पड़ता है, जिसका विषय समान रूप से जीवन के दृश्य और प्रकृति के चित्र दोनों हैं। उनका लघु-चित्रण, जो शैली की समुज्ज्वल संक्षिप्तता से प्रकाशित है और जिसका प्रभाव श्रुतिमधुर एवं प्रभावजनक छन्दों से और अधिक बढ़ जाता है तथा जिसमें अर्थ की समता करने के लिए वर्णों का कुशलतापूर्वक चयन किया जाता है, प्रायः अपने स्वरूप में पूर्णता प्राप्त कर लेता है। किन्तु लेखकों की योग्यता वर्णन तक ही सीमित नहीं है। वे आख्यान को द्रुतगामी तथा भास्वर बनाने में भी सक्षम हैं, और यद्यपि उनकी रचनाओं में कभी-कभी अर्थशास्त्र की गन्ध आती है, तो भी उनके पात्रों की उक्तियों में न तो वल और ओज का और न तार्किक शक्ति का ही अभाव है।

महाकाव्य की रचना करने में नाम पैदा कर सकना वास्तव में अनेक कवियों की शक्ति से वाहर की वात होती है। हमें ऐसे कवियों से अनेक सुन्दर सुन्दर गीति पद्य प्राप्त हैं जिन्होंने वड़े पैमाने पर कोई विशिष्ट रचना करने में सफलता नहीं पाई। जीवन के सिद्धान्तों की पद्य में अभिव्यक्ति भी सर्वाधिक उत्कृष्ट है; उनमें गम्भीर मौलिकता वहुत कम पाई जाती है, किन्तु मानव-जीवन के मौलिक तथ्यों को प्रभावोत्पादक रीति से कहने की शक्ति भर्तृहरि जैसे लोगों में सर्वोच्च मात्रा में विद्यमान थी, और अन्य अनेक कवियों ने भी अपने अनुभवों को भाषा के पूर्ण औचित्य के साथ लेखवद्ध किया है। सुबन्धु और बाण के गद्य-काव्यों में संस्कृत गद्य-शैली के गम्भीर दोष हमें सबसे अधिक खटकते हैं। परन्तु इन दोषों के होने पर भी, बाण प्रेम के स्वभाव के विषय में अपने भावों की गम्भीरता के लिए, और हर्ष की राजसभा, प्रभाकरवर्धन की मृत्यु तथा राजा हर्ष की युद्ध की तैयारियों के सम्वन्ध में अपने शक्तिशाली और ओजस्वी चित्रों के लिए प्रशंसा के योग्य हैं।

पशुकथा और अद्भुत कहानी में भारतवर्ष की उत्कृष्टता को कभी भी भुलाया नहीं गया है। साथ ही, साहित्य के इन प्रकारों में भारतवर्ष की कल्पना-प्रसूत कृतियों के रोचकतापूर्ण होने के अतिरिक्त, मूल पञ्चतन्त्र की सरल और सुन्दर शैली, तथा द्रुतगामी किन्तु आनन्दप्रद एवं प्रभावोत्पादक आख्यान में सोमदेव के कौशल का श्रेय भी उसे मिलना चाहिए। भारतीय साहित्य में एक वास्तविक स्थान प्राप्त करने में इतिहास को कभी भी सफलता न मिली, यद्यपि ऐतिहासिक सूचना के स्रोतों के रूप में प्रशस्तियाँ प्रायः चातुर्यपूर्ण और मूल्यवान् हैं। किन्तु कल्हण एक रोचक वृत्तान्तलेखक मात्र न थे; वे बहुधा वास्तविक काव्य लिखने में सफल होते हैं, और उस काल के लिए, जिसमें वे लगभग स्वयं वर्त्तमान थे, उनके ग्रन्थ में वह सारा आकर्षण विद्यमान है जो Lucan द्वारा रचित Pharsalia

में पाया जाता है। स्वभाव से इन दोनों व्यक्तियों के अत्यन्त विभिन्न होने पर भी, इन दोनों की शैलियों की अध्ययनमूलक जटिलता और सुन्दर प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता इनकी प्रतिभा के वास्तविक सादृश्य को प्रमाणित करती हैं।

अलेग्ज़ेंड्रियन युग (Alexandrian age) के ग्रीक लेखकों अथवा सम्राट् Augustus के परवर्ती लैटिन कवियों के साथ संस्कृत लेखकों की तुलना करना स्वाभाविक है; और इन साहित्यों के बीच जिन समानताओं को चित्रित किया गया है उनका निश्चय ही कुछ औचित्य है। ये साहित्य मूलतः अध्ययन और प्राचीन साहित्यिक आदर्शों के सुचिन्तित एवं बुद्धिपूर्वक उपयोग के परिणाम हैं।[1] किन्तु क्षण भर के लिए भी यह सुझाव देना कि संस्कृत कवि साधारणतः केवल अलैग्ज़ेंड्रियन कवियों के अथवा Statius के स्तर पर ही थे उचित न होगा। यदि माघ के विषय में हम इस बात को सत्य भी मान लें, तो भी भारवि के विषय में यह कहना कठिन है, और कालिदास की तुलना तो सर्वोत्तम महाकवियों से ही की जान योग्य है, जो Ovid और Propertius[2] जैसे योग्य व्यक्तियों से भी कहीं अधिक उत्कृष्ट थे। अँग्रेजी भाषा के लेखकों में संयम और संतुलन के साथ ही दृष्टि की शान्तता और शब्दावली के सौन्दर्य की सुकुमारता में टेनिसन (Tennyson) का कालिदास से बहुत साम्य है, किन्तु टेनिसन में उस नाटकीय प्रतिभा का सर्वथा अभाव था जो शकुन्तला में इतने उल्लेखनीय रूप में दिखाई पड़ती है।[3]

जो भी हो, अलेग्ज़ेंड्रियन और फ्लैवियन (Flavian) कवियों तथा

---

१. कविता-पाठ की रोमन (Roman) पद्धति और साहित्य तथा फ्रेंच (French) पर उसके प्रभाव एवं अन्य समानताओं के लिये देखिये Mayor, *Juvenal*, i. 173 ff.; Friedländer, *Sittengesch.*, iii. 601; Rohde, *Der griech. Roman*, pp. 303 ff.; Heitland in Haskins's *Lucan*, pp. xxxiv f., lxiii ff. H. E. Butler (*Post-Augustan Poetry*), U. von Wilamowitz-Moellendorff (*Hellenistische Dichtung in der Zeit des Kallimachos*) ने इन साहित्यिक युगों पर समुचित विचार किया है। Cf. Butcher, *Greek Genius*, pp. 245 ff.

२. Preopertius के पक्ष के वाग्मितापूर्ण समर्थन के लिए देखिये ostgate's ed. pp. lvii ff. Ovid की पारदर्शक सरलता की अपेक्षा वे भारतीय काव्य की जटिलता के अधिक समीप पहुँच जाते हैं। Cf. also Sellar, *Horace and the Elegiac Poets* (1892).

३. Matthew Arnold की परिष्कृति उनकी रचना की निर्बलता को पूरा नहीं कर सकती।

संस्कृत काव्य के कुछ निम्नकोटि के महाकवियों के बीच प्राप्त होने वाली समानताएँ जैसी रोचक हैं वैसी ही स्वाभाविक भी हैं। व्यापक पाण्डित्य इन तीनों में समान रूप से उपलब्ध होता है; Apollonios स्वरचित Argonautika में अपने असामयिक भौगोलिक लेखों द्वारा हमें थका डालने के लिए अपनी ओर से कोई कसर उठा नहीं रखते, और Lucan युवा होने पर भी भारतीय कलाओं के रोमन प्रतिरूपों पर अपना आचार्यत्व[1] प्रदर्शित करने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देते। साधारणतः साहित्यिक रूप के आगे वर्ण्य विषय की उपेक्षा कर दी गई है; परम्परागत उपाख्यान, दृश्य-वर्णन और सामान्य कोटि के विचार किसी औचित्य की ओर ध्यान दिये विना भर दिये गये हैं। इस विषय में माघ का अपराध Apollonios या Lucan से अधिक नहीं है, और Valerius Flaccus तथा Statius तो माघ से कहीं अधिक गये बीते हैं। 'Point', Antithesis (वैसादृश्य-प्रदर्शन) और Metaphor (रूपक)—इन अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य हो गया था; रोमन (Roman) कवियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि गद्य-लेखकों की भाँति वे भी अपनी रचनाओं को 'Sententiae', 'Lumina' और 'Orationis' से अलंकृत करें; इस साहित्यिक प्रकार में बहुधा सफलता मिल जाती थी। किसी संस्कृत काव्य के एक सामान्य पद्य की शैली और सम्राट् Augustus के परवर्ती कवियों की शैली में उल्लेखनीय साम्य है। Merivale[2] ने लिखा है, 'Statius के काव्य में तीन या चार पंक्तियों के प्रायः प्रत्येक समुदाय में स्वतः कोई विचार, या सम्भवतः कोई कल्पना, या अर्थश्लेष अथवा शब्दश्लेष पूर्ण हो जाता है; कपड़ों में चिपक जाने वाली घास की भाँति यह अपने आप स्मृति में चिपक जाता है: ऐसी है उनकी दृष्टि की निर्मलता और ऐसी है उनके स्पर्श की प्रयास-साध्य यथार्थता। किसी चातुर्यपूर्ण विचार से समाप्त होने वाली लघु कविता (Epigram) शब्दशैली की इस प्रयत्नसाध्य संक्षिप्तता और दृष्टिगत लक्ष्य के इस निर्मल साक्षात्कार का सर्वोत्तम फल है। Martial के पद्य तो Flavian काव्य के सारभूत हैं।' यह बात Kallimachos और चातुर्य-पूर्ण ग्रीक लघु काव्यों के रचयिताओं के विषय में कम सत्य नहीं है, जो संस्कृत कवियों के सदृश प्रभावों को उत्पन्न करने में उनके समीपतम आ जाते हैं। लैटिन गद्य पर पद्य का प्रभाव पड़ा था, जिससे वह भी रचना, शब्दभाण्डार और अलंकारों में काव्यमय हो गया। प्राचीन एवं अप्रचलित शब्दों का प्रचलन पुनः आरम्भ किया गया, नवीन शब्दों का आविष्कार

---

१. Heitland in Haskin's *Lucan*, pp. li ff.

२. *Romans under the Empire*, chap. lxiv.

किया गया अथवा विद्यमान शब्दों पर नये अर्थ आरोपित किये गये, और अर्थ में साहसपूर्ण लाक्षणिक परिवर्तन भी किये गये।[1] ये सारी बातें वही हैं जो हमें संस्कृत गद्य-काव्यों के अलंकृत गद्य में खुले रूप में प्राप्त होती हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, सुबन्धु अपनी कृति के लिए दूसरों के पद्यों को अपनाते हुए दिखलाई पड़ते ह, और स्वयं Tacitus की रचना Vergil की स्मृतियों से भरी पड़ी है; इधर कल्हण ने भी बाण के गद्य की रोचक प्रवृत्तियों को काव्यानुकूल बनाकर उनका खुले रूप में उपयोग किया है।[2] लैटिन साहित्य के रजत युग (Silver age) में हमें गद्य और पद्य में समान रूप से यत्नसाध्य उक्ति तथा जटिल वाक्यरचना के प्रति अनुराग, और प्रायः कृत्रिमतापूर्ण लाक्षणिक प्रयोगों के लिए अन्वेषण प्राप्त होता है। Lucan, Statius और Valerius Flaccus की रचनाओं में असफल उपमाओं के बहुत से उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनके समक्ष संस्कृत के किसी क्षुद्र कवि[3] द्वारा एक शराब पिये हुए हूण की तत्काल दाढ़ी बनी हुई ठोढ़ी की एक नारंगी से दी गई उपमा बिलकुल क्षम्य प्रतीत होती है।

किन्तु संस्कृत कवियों के पक्ष में कुछ ऐसी विशिष्ट बातें हैं जिनका लाभ अलेग्ज़ेंड्रियन तथा Augustus के परवर्ती कवियों को नहीं मिल पाया था। धर्म के प्रति उनकी दृष्टि इस प्रकार की थी जिसे प्रशंसा की दृष्टि से देखना हमारे लिए सम्भवतः कठिन है। किन्तु विष्णु और शिव जैसे देवताओं की कथाओं में वे एक वास्तविकता स्वीकार करते थे, जिसकी प्रतीति स्पष्टतः Kallimachos को देवताओं के प्रेम के साथ खिलवाड़ करने में, या Apollonios को होमर-सम्बन्धी (Homeric) दृष्टिकोण के, वास्तविकता से शून्य हो जाने के बहुत बाद भी, पुनर्जागरित करने में न होती होगी। इस विषय में Lucan, Statius या Valerius Flaccus का तो कहना ही क्या, जिनके लिए देवता लोग Vergil के प्रयोग द्वारा स्वीकृत यन्त्रों से अधिक और कुछ भी नहीं थे। संस्कृत कवि भले ही केवल एक गौण अर्थ में देवताओं को अन्ततोगत्वा वास्तविक मानता था, तो भी उसे उनको निरर्थक भावरूपों से कुछ अधिक मान कर व्यवहार करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त, इन कवियों में प्रकृति के प्रति प्रगाढ अनुराग और उसके सौंदर्यों को हृदयंगम करने की दृष्टि

१. Seneca, *Ep.*, cxiv, § 10.

२. Stein, राजतरङ्गिणी, i. 133; Thomas, WZKM, xii, 33; JRAS. 1899, p. 485.

३. साहित्यदर्पण, 622. Pindar की यत्नसाध्य उपमायें, ओजस्वी रूपक और प्रभावोत्पादक समास (cf. Gildersleeve, *Pindar*, pp. xl ff.) किसी भी सर्वोत्तम भारतीय काव्य के साथ रोचक सादृश्य उपस्थित करते हैं।

वर्तमान थी, जो ग्रीस या रोम के प्राचीन साहित्यिक समुत्कर्ष के युग के कवियों म कठिनाई से ही मिलती है। उनकी यह दृष्टि Theokritos की भावना के अधिक समीप है, किन्तु उस लेखक के विपरीत, भारतीय कवियों ने ग्रामीण दृश्यों के प्रति, नागरिक जीवन के अभ्यस्त किसी कवि के ग्रामीण दृश्यों से आकर्षित होने पर जैसे, कोई कृत्रिम समादर अभिव्यक्त नहीं किया है। उनका तद्विषयक अनुराग स्वाभाविक है, जिसका रूप उनके वर्णनों में एक बड़ी संख्या में विशुद्ध कविसमयों की अव्यग्र स्वीकृति से भी वास्तव में नहीं बदलता। संस्कृत काव्य में ऋतुओं, प्रभात, चन्द्रोदय, और चन्द्रास्त तथा इसी प्रकार के अन्य वर्ण्य विषयों का इतनी अधिकता से वर्णन प्राप्त होना मन को उकताने वाला हो सकता है, किन्तु इनको अलग अलग ग्रहण करने पर ये चित्र प्रायः कला के मँजे हुए नमूने हैं, जिनके साथ परिष्कार या उत्कृष्टता में तुलना करने के लिए ग्रीक और रोमन कवियों के पास कुछ भी नहीं है। प्रेम को उसके सब रूपों में समझने में भी, Medea के सुन्दर चित्रण में Apollonios के अतिरिक्त, अलैग्ज़ेंड्रियन कवियों में और कोई भी संस्कृत कवियों की बराबरी नहीं कर सकता, जबकि Statius की वास्तविक योग्यता के होने पर भी Augustus के परवर्ती कवि Apollonios से इस विषय में स्पर्धा नहीं कर सकते। किञ्च, प्रेम के प्रतिपादन के विषय में ग्रीक और रोमन कवियों के समान रूप से प्राप्त होने वाले मौन और भारतीय कवि की स्पष्टवादिता में बहुत बड़ा अन्तर है; Ovid के Ars Amatoria ने सदा के लिए उसके देश से निष्कासित किये जाने में सहायता पहुँचाई,[1] और Flavian कवियों पर इस ग्रन्थ के प्रभाव के कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके विपरीत, संस्कृत कवियों के लिए, कामशास्त्र में प्रतिपादित विषयों में निपुणता प्राप्त किये बिना ही, शारीरिक सौंदर्य और सम्भोगसुखों के चित्रण का प्रयास करना अकीर्त्तिकर ही होता। इस अर्थ में वे ग्रीक लेखकों या उनके रोमन अनुयायियों की अपेक्षा 'रोमांस' Romance की भावना के कहीं अधिक समीप हैं। जीवन के प्रति भारतीय कवियों का दृष्टिकोण भी निराशावादी अलैग्ज़ेंड्रियन तथा Augustus के परवर्ती खिन्नमनस्क कवियों की तुलना में अधिक आशावादी था।[2] वे एक सीधे-सादे संसार में निवास करते थे; राजनीतिक समस्याएँ

१. Teuffel-Schwabe, *Rom. Lit.*, § 247. भारत में भी i. 289 ff. में अभिव्यक्त शोचनीय रुचि के आगे नहीं बढ़ा जा सकता। उदाहरण के लिये, *Amores*, i. 5; ii. 15 समस्त भारतीय विशेषताओं से युक्त हैं।

२. प्राचीन साहित्यिक समुत्कर्ष के युग के समस्त महत्तर कवियों में वेदना की धारा विद्यमान है; cf. Tyrrell, *Latin Poetry*, pp. 159 ff.; Butcher, *Greek Genius*, pp. 133 ff.

या खोई हुई स्वतन्त्रता की स्मृतियां उन्हें परेशान नहीं करती थीं, और वे एक ऐसी सामाजिक पद्धति के अंग थे और जीवन की एक ऐसी योजना में विश्वास करते थे, जो, यदि भावी संसार के Vergil द्वारा कल्पित चित्र की अति-तेजस्विता को उत्पन्न करने में अक्षम थीं, तो भी कम से कम Epicurus के सुखवाद और Stoics के निःस्पृहतावाद से अधिक आनन्ददायक कोई वस्तु प्रदान करती थीं।

इसके अतिरिक्त, संस्कृत कवियों को एक ऐसी भाषा पर अधिकार प्राप्त था, जिसमें अपने सर्वोत्तम रूप में अवस्थित ग्रीकभाषा से भी अधिक सुन्दर ध्वनि-गत प्रभाव उत्पन्न किये जा सकते थे। वे लोग अत्यधिक जटिल किन्तु उल्लेखनीय सुन्दरता वाले छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर सकते थे, और साथ ही ध्वनि का अर्थ के साथ सामञ्जस्य उपस्थित करने में वे अनुभवी एवं दक्ष थे। इस अन्तिम कला का अभ्यास ग्रीक एवं रोमन कवियों ने भी समान रूप से किया है, किन्तु उनके पास इसके लिए उतने समुचित साधन न थे और इस कला में सूक्ष्मता का निर्वाह भी वे कम कर पाये हैं। संस्कृत कवियों ने बहुधा अनुप्रास का आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया है, किन्तु उसका प्रभावोत्पादक ढंग से प्रयोग करने की अपनी शक्ति में वे Vergil से मिलते जुलते हैं। अनुप्रास के प्रभावजनक प्रयोग की इस कला में Vergil के अनुयायी, विशेषतः Lucan, उल्लेखनीय रूप से हीन पड़ते हैं। उपमा और रूपक के प्रति अपने अनुराग के कारण संस्कृत कवियों में कभी-कभी चि-सम्बन्धी दोष आ गये हैं, और उन्होंने विवेचन-शक्ति के स्थानमें विद्वत्ता का भी प्रदर्शन किया है; तो भी उनमें प्रायः कल्पना की संपन्नता और सौष्ठवयुक्त पदावली के प्रयोग की शक्ति दिखाई पड़ती है, जिसकी समता ग्रीक या लैटिन कविता में नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त, भले ही हमें उनके श्लेष[1] सहज में ही मन को उकताने वाले जान पड़ें, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्हें प्रायः ीक ही द्विविध औचित्य का निदर्शन बताया जाता है। अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग भी बहुत कुछ भाषण-कला-सम्बन्धी उस ढंग से उत्कृष्टतर है, जिसका आरम्भ लैटिन कविता में वक्तृत्व-कला की शिक्षा देने वाले विद्यालयों में व्याख्यानों के अभ्यास से हुआ था और जिसका Juvenal ने इतना अधिक उपहास किया है।

---

१. अंग्रेजी में श्लेषों का प्रयोग केवल हास्योत्पादक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है, किन्तु ग्रीक और लैटिन लेखकों ने समान रूप से इस कौशल का प्रयोग सौन्दर्यापादन के लिए गम्भीर प्रयत्नों के साथ किया है; cf. Cope, *Aristotle's Rhetoric*, p. 320, n. 1.

१७.

पाश्चात्य और भारतीय साहित्य

१. ग्रीस और भारत की पशुकथाएँ और लोककथाएँ

भारतीय और ग्रीक अद्भुत कथाओं और पशुकथाओं के बीच प्राप्त होने वाली सुस्पष्ट समानताओं की कभी भी उपेक्षा नहीं की गई है, और उन समानताओं ने रोचक विवादों को जन्म दिया है। वाजेने (Wagener)[1] यह मानते थे कि इस विषय में ग्रीस भारत का ऋणी है, किन्तु वेबर (Weber)[2] और वेन्फ़े (Benfcy)[3] दोनों इस निर्णय पर पहुँचे कि भारतीय पशुकथाओं को ग्रीस से ग्रहण किया गया था, और इस मत के लिए कालक्रम का प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है; Hesiod के समय में ग्रीक पशुकथा स्पष्टतः विद्यमान थी, Homer में उसका संकेत मिलता है, Archilochos और Simonides में वह निश्चित रूप से उपलब्ध होती है और साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में उसका विकास हो गया है, यद्यपि उपलब्ध पशुकथा के संग्रहों की वास्तविक तिथि अपेक्षाकृत कम निश्चित है। परन्तु Herodotos Aisopos को एक पशुकथाकार के रूप में जानता था, और Babrios (लगभग २०० ई०) तथा Phaedrus (लगभग २० ई०) ने स्वयं परवर्ती होने पर भी प्राचीन स्रोतों से अपनी कथा सामग्री ग्रहण की है। बेन्फ़े ने यह मान कर, कि अद्भुत कथाओं का मूल सामान्यतया भारतीय है, स्थिति को उलझा दिया, और इस प्रकार उन्होंने एक द्वैविध्य की स्थापना की, जिसका समर्थन करना कठिन था। केलर (Keller)[4] ने इस सम्वन्ध में भारत की पूर्ववर्तिता के पक्ष में तर्क किया है, और यही मत हाल में पुनः उपस्थित किया गया है और इस पर आग्रह भी किया गया है।[5] कालक्रम-सम्बन्धी विचार के रूप में भारतीय प्राचीन

१. *Les Apologues de l' Inde et les Apologues de la Grèce* (1854).

२. IS. iii, 327-73; SBA. 1890, p. 916.

३. Trans. of पञ्चतन्त्र, I. x ff.

४. *Jahrbücher f. Klass. Phil.*, iv. 309-418.

५. उदाहरणार्थ, Hertel, Cosquin, H. Lüders (*Buddh. Märchen*, p. xiii) द्वारा। तुलना कीजिये, G.d' Alviella, *Ce que l' Inde doit à la Grèce* (1897), pp. 138 ff.

स्मारकों के साक्ष्य पर, विशेषतः तृतीय अथवा द्वितीय शताब्दी ई० पू० की उस सामग्री के साक्ष्य पर जो भरहुत में उपलब्ध है, पशुकथाओं के अस्तित्व के पक्ष में बल दिया गया है। कुछ लोग तो जातक-कथाओं को चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में पहले से ही विद्यमान मानने को तैयार हैं, यद्यपि यह बात स्पष्टतः सन्दिग्ध है। पूर्ववर्तिता निर्धारित करने के लिए तरह तरह की कसौटियों की कल्पना की गई है; वेबर ने सरलता, स्वाभाविकता अथवा अकृत्रिमता की कसौटी को अधिक पसन्द किया था; वेन्फ़े का विचार था कि अपूर्णता प्रायः अधिक प्राचीनता का एक चिह्न है; जबकि केलर ने तर्कसंगत पौर्वापर्य और प्रकृति में दिखाई पड़ने वाले पशुओं के स्वभावों के साथ आनुरूप्य के सिद्धान्त पर बल दिया। इस प्रकार उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि सिंह द्वारा मारे गये शिकार के उच्छिष्ट भाग में हिस्सा बटाने के लिए सियार की उसके पीछे पीछे चलने की बात प्रकृति के अनुसार सच है, और इससे प्राचीन पशुकथालेखक को उसे मृगपति सिंह का मन्त्री बना देने के विचार का सुझाव सरलता से मिल सकता है। सियार के चतुर होने की बात इसी से प्रसिद्ध है, क्योंकि भारतीय परम्परा के अनुसार मंत्री को आश्चर्यजनक रूप से चतुर होना चाहिए। ग्रीस में, जहां सियार का स्थान लोमड़ी ले लेती है, लोमड़ी की इस स्थिति की युक्तिपूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि वह वास्तव में कोई बहुत चतुर जानवर नहीं है। दुर्भाग्यवश उक्त स्थापना में इस तथ्य के अतिरिक्त कि बुद्धिमान् पशुओं के संसार का निर्माण वास्तविकता पर नहीं अपितु कल्पना पर आश्रित है, इस सम्भावना की भी उपेक्षा की गई है कि पशुकथा की उत्पत्ति, न तो भारत में और न ग्रीस में, अपितु इन देशों के मध्यवर्ती देशों में हुई हो। वेबर का यह तर्क सर्वथा न्याय्य है कि यदि सिंह और सियार का यह सम्बन्ध वहाँ से ग्रीस पहुँचा हो तो ग्रीक परिस्थितियों के अनुरूप बनाने के लिए उसे परिवर्त्तित करना पड़ा होगा, और यदि बाद में यह ग्रीस से भारत पहुँचा तो वहाँ सियार को उसके पूर्वपद पर प्रतिष्ठित करना आवश्यक हो गया होगा। या, अधिक स्वाभाविक रूप में, यह माना जा सकता है कि Aisopos के नाम से सम्बन्धित प्रारम्भिक पशुकथाओं के सामान्य मलस्रोत से ही पशुकथा पश्चिम और पूर्व दोनों ओर पहुँची। पशुकथाओं की उत्पत्ति और उनके स्थानान्तरण में मिस्र देश (Egypt) द्वारा भाग लिये जाने की सम्भावना की भी हम उपेक्षा नहीं कर सकते, और डील्स (Diels)[1] ने, Kallimachos का विशेष उल्लेख करते हुए, पशुकथाओं के प्रसार में लिडिया (Lydia) देश

१. *Int. Wochenschrift*, iv. 995.

द्वारा महत्त्वपूर्ण भाग लिये जाने की बात कही है। पुनश्च, हेर्टेल (Hertel)[1] ने यह बात आग्रहपूर्वक कही है कि राजनीति का उपदेश देने में पशुकथाओं के उपयोग करने का विचार मूलतः भारतीय है, और इसी के बल पर उन्होंने यह अधिकारपूर्वक कहा है कि सर्वोत्तम ग्रीक पशुकथाओं के सम्बन्ध में मौलिकता का श्रेय भारत को ही प्राप्त है; किन्तु उनके इस कथन के पक्ष में उतना ही कम प्रमाण है जितना कि इस दावे के पक्ष में कि ग्रीस चातुर्यपूर्ण एवं चुभती हुई पशु-कथाओं में आगे बढ़ा हुआ है, जिनकी प्रभावोत्पादकता भारत में बौद्ध तथा अन्य उपदेशकों के हाथों में पड़ कर बहुधा कम हो गई है।

इसी प्रकार किसी भी अवस्था में हमें इस तथ्य को स्वीकार करने में उपेक्षा नहीं दिखानी चाहिए कि कम से कम लोक-कथाओं (Märchen) में हमें प्राचीन आख्यान प्राप्त हो सकते हैं, और ग्रिम (Grimm) के कथनानुसार भारत-यूरोपीय जाति की प्राचीन सामान्य सम्पत्ति के लिए भी कुछ गुञ्जाइश छोड़ दी जानी चाहिए। Herakles, Thorr और इन्द्र की कथाओं में हमें निश्चित ही इस प्रकार के कुछ पौराणिक आख्यान प्राप्त हैं। केर्न (Kern)[2] द्वारा वानरों के एक राजा की, जो एक जातक में अपने अनुयायियों के लिए अपने शरीर को गङ्गा के ऊपर पुल बना कर अवस्थित कर देता है, आयरिश राजा ब्रैन (Bran) के एक समान साहसपूर्ण कार्य के साथ की गई चातुर्यपूर्ण तुलना अपेक्षाकृत अधिक मनःकल्पित है। उनका यह भी सुझाव है कि उक्त कथा के साथ मुख्य रोमन पुरोहित (अर्थात् पोप) का कार्य सम्बद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार सम्भावनाओं का एक विशाल क्षेत्र हमारे समक्ष है: ग्रीस से भारत का ग्रहण करना, भारत से ग्रीस का ग्रहण करना, दोनों देशों का मिस्र अथवा एशिया माइनर और सीरिया के एक समान मूलस्रोत से ग्रहण करना; भारत-यूरोपीय काल से या, यदि अतीत में और अधिक दूर तक प्रविष्ट होने के प्रयत्न की कुछ उपयोगिता समझी जाए, तो उससे भी अधिक पहले से आती हुई समान पैतृक-सम्पत्ति, और मानव मस्तिष्क की समान रचना के कारण स्वतन्त्र विकास। इन सम्भावनाओं के समक्ष किसी एक विशेष कथा को लेकर उसके विषय में किसी स्पष्ट निर्णय पर पहुँचना अधिकाधिक कठिन प्रतीत होगा, जबकि किसी सामान्य निर्णय पर पहुँचने की बात का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फिर यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि कथाओं का एक देश से दूसरे देश में गमनागमन भी होता रहता है; एक अच्छी कथा ग्रीस में आविष्कृत हो सकती है, वहाँ से भारत में

१. ZDMG. lxii. 113.
२. गुरुपूजाकौमुदी, pp. 93 f.

आ सकती है, और लौट कर फिर ग्रीस पहुँच सकती है; १८० ई० के पूर्व ही Pausanias[1] हमें उस सर्प के विषय में बताते हैं, जिसने एक शिशु की रक्षा की थी, किन्तु जिसे उसका हत्यारा समझ कर मार डाला गया था; इस कथा में स्पष्टतः ही उस ब्राह्मण की हृदयस्पर्शी कथा का मूल दिखाई पड़ता है, जिसने अपने पुत्र पर आक्रमण करते हुए साँप का वध करने वाले नेवले को मार डाला था। यह उपाख्यान Llewelyn और Gelert के रूप में प्रसिद्ध है, जिसमें नेवले का स्थान एक कुत्ते ने ग्रहण कर लिया है, और इसे यूरोप में बहुत व्यापक रूप से पाया जा सकता है।

अनेक कथाओं के विषय में कालक्रम का साक्ष्य ग्रीस पर भारतीय प्रभाव पड़ने की बात में निश्चय ही सत्य का आभास भी मानने के विरुद्ध है। तथा हि, कोरिन्थिअन (Corinthian) शैली का एक चित्रित कलश[2] षष्ठ शताब्दी ई० पू० में लोमड़ी और कौए की कथा का अस्तित्व प्रदर्शित करता है, जबकि भारत में हमें लोमड़ी और कौए की कहानी केवल जातक में मिलती है, और इसीलिए उसका समय अनिश्चित है। Delphi–स्थित Lesche में Polygnotos द्वारा की गई Oknos और उसके गधे की चित्रकारी रज्जुकार और शृगाली की उस जातक-कथा से अधिक विश्वसनीय साक्ष्य उपस्थित करती है, जिसमें शृगाली चुपके से रज्जुकार का काम बिगाड़ देती है; दोनों ही कथाएँ मनुष्य के उद्यम और स्त्री के अपव्यय के विरुद्ध आरोप हैं।[3] Democritos उस बाज़ (eagle) की कथा से परिचित हैं जिसने कछुए को गिरा दिया था और जो भारत में आकर उसी जन्तु को गिराने वाले हंसों में परिणत हो गया। उस्तरे को निगल जाने वाला बकरा एक ग्रीक लोकोक्ति[4] का विषय था, और उसकी कहानी एक जातक में भी आती है। पञ्चतन्त्र और एक जातक कथा में लोहा खा जाने वाले चूहे Seneca और Herondas को पहले से ही ज्ञात ह। Sophokles के *Kamikioi*[5] में Daidalos के विषय में कही गई कथा का, जो एक परवर्ती जातक में भी पाई जाती है, मूलतः भारतीय होने की अपेक्षा ग्रीक होना कहीं अधिक प्रामाणिक है। Herodotos और Sophokles में एक

---

१. x. 33.9. Cf. Bloomfield, JAOS. xxxvi. 63 ff.

२. *Philologus*, lxxiv. 470. On classical fables, cf. Hausrath, Pauly-Wissowa, *Real-encycl.*, vi. 1724 ff.; *Achiqar und Asop* (1918); G. Thiele, *Neue Jahrbücher f. d. klass. Altertum*, xxi. 377 ff.

३. Pausanias, x. 29.

४. ZDMG. xlvii. 89 ff.; lxvi. 338.

५. Zachariae, *Kl. Schriften*, pp. 108 ff.

बहन द्वारा अपने पति के जीवन की अपेक्षा भाई के जीवन को अधिक महत्त्व दिये जाने के वर्णन का, क्योंकि उसे दूसरा भाई नहीं मिल सकता, मूल रूप एक जातक में खोजना निश्चय ही आवश्यक नहीं है; और नाचने के कारण Hippokleides का विवाह कैसे छूट गया, इसको बतलाने वाली रोचक कहानी को जातक में मोर की एक समान कथा से निकालने का प्रयत्न विचित्र रूप से मूर्खतापूर्ण है। इन कथाओं में हमें वे विचार उपलब्ध होते हैं, जो पर्याप्त स्वाभाविक रूप से मनुष्यों के मस्तिष्क में स्वतन्त्रतया विकसित हो सकते हैं। इस मान्यता के लिए भी कोई निर्णायक आधार प्रतीत नहीं होता कि सिंह की खाल ओढ़े हुए गधे की कहानी दोनों देशों में से किसी एक में अधिक प्राचीन है। इस कहानी के ग्रीक रूप में गधा स्वयं एक सिंह की खाल ओढ़ लेता है और वायु द्वारा उस खाल के उड़ा दिये जाने पर उसका वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है; इसके भारतीय रूप अधिक नीरस हैं; गधे का स्वामी उसे चोरी से अन्न खिलाने के लिए सिंह की खाल उढ़ा देता है और गधा अपने चिल्लाने की आवाज से अपना भेद खोल देता है।

पूर्ववर्तिता के विषय में यही सन्देह लगातार सामने आता है;[१] चिल्लाने की आवाज़ से अपने स्वभाव का प्रकाशन करने वाले सियार की कथा से मिलती-जलती एक कथा Phaedrus में पाई जाती है; यही बात उस कृतघ्न साँप की कथा की है जिसने अपने उद्धारक को काट लिया था; व्याघ्र बकरे के साथ वैसा ही बर्ताव करता है जैसा Phaedrus में भेड़िया मेमने के साथ करता है; जलस्रोत को पी जाने की इच्छा रखने वाले Phaedrus के देवताओं का सादृश्य उन कौओं (? टिट्टिभों) की कथा में मिलता है जो समुद्र को सुखाना चाहते हैं; गंजे मनुष्य और मक्खी का 'अभिप्राय' (motif), जिसका Phaedrus में हास्योत्पादक प्रभाव के साथ उपयोग किया गया है, जातक में एक दुःखान्त कथा के रूप में परिणत कर दिया गया है; Phaedrus में हमें बाज़ (eagle) और कछुए की पुरानी कथा प्राप्त होती है और भारत में बाज़ का स्थान हंसों ने ले लिया है। बाज़ (eagle) को अपना बच्चा लौटाने के लिए विवश करने वाली लोमड़ी की कथा का, जो Archilochos को ज्ञात थी, पञ्चतन्त्र की एक कौए और सर्प की कथा से सादृश्य स्थापित किया गया है, किन्तु इनमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर है। Phaedrus में प्राप्त होने वाली भेड़िये की कथा, जिसकी एक सारस सहायता करता है, और सिंह तथा कठफुड़वे की कथा का पारस्परिक सादृश्य भी दोनों पक्षों में से किसी की भी पूर्ववर्तिता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त समीप नहीं है।

१. Günter, *Buddha*, pp. 52 ff.

ग्रीस की पूर्ववर्तिता के सम्बन्ध में जो कुछ निश्चित रूप में[1] उपस्थित किया गया है वह अधिकतर अत्यन्त सन्दिग्ध है । तो भी, ट्रोजन अश्व (Trojan horse) की कथा एक काष्ठमय हाथी के द्वारा, जिसके भीतर सैनिक भरे हुए थे, उदयन के पकड़े जाने की कथा से बहुत अधिक प्राचीन है, किन्तु इसी प्रकार के 'अभिप्राय' (motif) का पता मिस्र[2] में भी लगा है, साथ ही इसको इतना गूढ भी नहीं समझा जा सकता है कि भारत में इसकी उत्पत्ति न हो सकती हो । Hippolytos के प्रति Phaidra का प्रेम अद्भुत है, किन्तु ऐसा ही 'अभिप्राय' (motif) जातक[3] में पाया जाता है और यह मानव-स्वभाव से भी सम्बन्धित है । मृत व्यक्तियों के लिए शोकाकुल लोगों को अद्भुत उपायों से सान्त्वना देने के कौशल का श्रेय Demokritos को दिया जाता है; यह Lukianos में, Julian के पत्रों में और छद्म–Kallisthenes में भी पाया जाता है, किन्तु त्रिपिटक के चीनी रूपान्तर से भी यह प्रमाणित होता है, जो शोकाकुल व्यक्ति को उस घर से अग्नि लाने को कहता है जहाँ कोई मरा न हो । Androclus के कृतज्ञ सिंह का सादृश्य भारत में कृतज्ञ हाथी की कहानी में पाया जाता है ; Milo की मृत्यु हमें पञ्चतन्त्र के मूर्ख वानर का स्मरण दिलाती है ; भारत में उस प्रकार के चित्रों के विषय में जानकारी है जो जीवित वस्तुओं से सादृश्य के कारण लोगों को वैसे ही धोखे में डाल देते हैं जैसे Parrhasios ने अपने चित्रित पर्दे के द्वारा Zeuxis को भी धोखे में डाल दिया था । यह कहानी, कि किस प्रकार एक पुंश्चली स्त्री ने चतुरता-पूर्वक कल्पित शपथ द्वारा अपने को निष्कलङ्क सिद्ध किया, भारत में पर्याप्त प्राचीन है और उसे Isolde के असत्यभाषण का[4] मूलस्रोत समझा जा सकता था, किन्तु Ovid की Mestra[5] की शपथ में भी हमें वही विचार प्राप्त होता है । *Physiologos* पुस्तिका में वर्णित एक सींग वाले अश्वसदृश कल्पित पशु (unicorn) के पाश्चात्य उपाख्यान में, या 'ब्लैक फ़ारेस्ट' (Black Forest) के उन विशालकाय हरिणों (elks) से सम्बन्ध रखने वाली सीज़र (Caesar) की कथा के मूलस्रोत में, जो एक बार पृथ्वी पर

१. उदाहरणार्थ Polykrates की अँगूठी और शकुन्तला में अँगूठी की कथा; सुरेन्द्रनाथ मजुमदार शास्त्री, JBORS. 1921, pp. 96 ff.; जातक 288.

२. विभिन्न तिथियाँ, Leyen, *Archiv f. d. Stud. d. neueren Sprachen*, cxv. 6.

३. Bloomfield, TAPA. liv. 145 ff.

४. J. J. Meyer, *Isoldes Gottesurteil*, pp. 218 ff.

५. Rohde, *Griech. Roman*, p. 515.

गिर जाने के पश्चात् उठ नहीं सकते, भारतीय प्रभाव का प्रमाण ढूंढ़ने का प्रयास स्पष्टतः ही असफल रहा है। Charadrios नामक पक्षी की कथा, जो सूर्य पर अपना पाण्डु रोग थोपना चाहता है, भारत से ली गई हो सकती है, किन्तु भारत में इस विचार के अत्यन्त प्राचीन होने के कारण यह एक प्राचीन भारत-यूरोपीय विश्वास भी हो सकता है।

कुछ कथाओं में आदान की बात अधिक निश्चय के साथ कही जा सकती है। Herodotos में प्राप्त होने वाला Rhampsinitos का जटिल उपाख्यान, जिसको उसने मिस्र देश में सीखा था, भारत में ३०० ई० के पूर्व प्राप्त होता है, और वहाँ वह आदान के उदाहरण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[1] किन्तु इस प्रकार के उदाहरण विरल हैं, और भारत तथा ग्रीस के मध्य पूर्ववर्तिता का प्रश्न प्रायः अनिर्धारित ही रह जाता है। भारत में पुनर्जन्मविषयक विश्वास की बात, रोमांस के लिए भारतीय हृदय में प्रेम का होना, अथवा निष्प्रयोजन घूमने वाले अनेक लोग, भिन्न भिन्न प्रकार के धार्मिक लोग, जो भारत या सम्भवतः उससे भी अधिक दूर तक कहानियाँ कहते और सुनते हुए घूमा फिरा करते थे—इस प्रकार की सामान्य बातों से कोई विशेष परिणाम नहीं निकलता। पशुकथाओं और पुनर्जन्म में विश्वास के मध्य कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस प्रकार की पशुकथाएँ अनेक जातियों में वर्त्तमान हैं और उस युग का प्रतिनिधित्व करती हैं, जबकि पशुजीवन और मानव-जीवन में आधुनिक काल की भाँति अधिक अन्तर नहीं माना जाता था; कहानियों के प्रति प्रेम का उल्लेख Miletos के निवासियों जैसे अन्य लोगों के सम्बन्ध में भी पाया जाता है और सभी तरह के घुमक्कड़ लोग आधुनिक समय की भाँति प्राचीन समय में भी बहुलता से पाये जाते थे। महत्त्वपूर्ण भारतीय पुस्तकों का वास्तविक अनुवाद और इस प्रकार पशुकथा और अद्भुत-कथा का पाश्चात्त्य देशों में सम्प्रेषण अधिक निश्चयात्मक प्रमाण हो सकता है, परन्तु इनको पर्याप्त प्राचीन सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस बात पर भी विश्वास करना कठिन है कि पशुओं की कृतज्ञता से संबन्धित विचार के लिए हमें भारत का मुखप्रेक्षी होना चाहिए[2], जबकि हमें यह ज्ञात है कि सिकन्दर महान् के समकालीन Agatharchos ने एक विशाल मत्स्य (dolphin) की कथा सुनाई थी, जिसने मछुओं के हाथ से अपने को खरीदने वाले एक युवक के प्राणों की पोतभङ्ग के समय रक्षा करके उसकी दयालुता का बदला चुकाया था।

१. Frazer, *Pausanias*, v. *176* ff.; G. Paris, RHR. lv. *151* ff., 267 ff.; Huber, BEFEO. iv. *701* f.; Niebuhr, OLZ. *1914*, p. 106.

२. Cosquin, *Etudes folkloriques*, p. *21*.

इसके विपरीत, Aisopos की लोमड़ी की कहानी में, जिसने अस्वस्थ सिंह द्वारा मारे गये हरिण का हृदय खाकर इस बात को स्वीकार ही नहीं किया कि उसके पास हृदय था, उस सियार की कहानी का मूलादर्श खोजना भी आवश्यक नहीं है, जिसने गधे का हृदय और कान खाने के बाद यह कह दिया कि उसके पास हृदय और कान थे ही नहीं, नहीं तो उसका वध ही कैसे किया जा सकता था।

२. पञ्चतन्त्र के अनुवाद

हकीम बुर्ज़ोई का प्रयास, जिन्होंने खुसरो अनौशेरवाँ (५३१–७९) के आश्रय में **पञ्चतन्त्र** के एक पाठ का पहलवी में अनुवाद किया था, भारतीय पशुकथा साहित्य के लिए बड़े महत्त्व का कार्य था।[1] यह अब अप्राप्त है, किन्तु ५७० ई० तक बूद द्वारा इसका अनुवाद सीरिया की भाषा में कर लिया गया था, ७५० ई० के लगभग अब्दुल्ला इब्नअल-मोक़फ़्फ़ा ने इसका एक अरबी रूपान्तर किया था, जिससे **पञ्चतन्त्र** के पश्चिमी रूपान्तर निकले हैं। उपर्युक्त सीरियाई रूपान्तर का केवल एक हस्तलेख सुरक्षित है और वह भी अपूर्ण है। अरबी रूपान्तर का विस्तार स्पष्टतः पहलवी मूल के आधार पर किया गया है। पहलवी रूपान्तर में **पञ्चतन्त्र** के सदृश उससे सम्बद्ध पाँच भागों का होना तो प्रतीत होता है; साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उसमें पांच या आठ अन्य भाग भी थे जो किसी अन्य स्रोत से लिये गये थे[2]—यह नहीं कहा जा सकता कि बुर्ज़ोई के पहले भारत में **पञ्चतन्त्र** के साथ इन अन्य भागों का सम्मिश्रण हो चुका था या नहीं—और दो भाग बुर्ज़ोई के उद्देश्य और प्रस्तावना से सम्बद्ध थे। इन पन्द्रह अध्यायों में से सीरियाई रूपान्तर में केवल दस उपलब्ध हैं, जबकि अरबी में कुल बाईस हैं। ग्रन्थ का नाम स्पष्टतः दो सियारों, करटक और दमनक, से लिया गया था, जिनकी कथा **पञ्चतन्त्र** के प्रथम तन्त्र में आती है और जिनके नामों के

---

१. Hertel, *Das Pañcatantra* (1914); ZDMG. lxxii. 65 ff.; lxxiv. 95 ff.; lxxv. 129 ff.

२. **तीन महाभारत,** xii. 138. 13 ff.; 139. 47 ff.; 111. 3 ff. से लिये गये हैं; एक बौद्ध है (cf. A. Schiefner, *Bharatae Responsa* (1875) in Tibetan; Zachariae, *Kl. Schriften*, pp. 49 ff.); एक किसी कूपगत मनुष्य की कहानी है (देखिये, Nöldeke, *Burzōes Einleitung zu dem Buche Kalila wa Dimna*, 1912); एक सिंह और सियार की है, यह सम्भवतः बौद्ध कहानी है; एक कृतज्ञ पशुओं और अकृतज्ञ मनुष्यों की है; एक चार मित्रों की है, जो सम्भवतः बौद्ध है; चूहों के राजा और उसके मन्त्री की एक कहानी भारतीय भावना से युक्त है।

विभिन्न रूप नियमतः पञ्चतन्त्र के अनुवादों के शीर्षक के रूप में प्राप्त होते हैं, जबकि ग्रन्थ का स्वरूप स्पष्टतया नैतिकतापूर्ण कहानियों के सम्मिलित किये जाने के कारण कुछ कुछ परिवर्तित हो गया था।

दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में अरबी रूपान्तर का एक नया सीरियाई अनुवाद हुआ, और ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में Seth के पुत्र Simeon का ग्रीक रूपान्तर हुआ, जिसने Giulio Nuti के १५८३ ई० के एक इटैलियन रूपान्तर को, दो लैटिन और एक जर्मन रूपान्तरों को तथा अनेक स्लाव (Slav) अनुवादों को जन्म दिया। किन्तु Rabbi Joel (लगभग ११०० ई०) द्वारा किया गया हिब्रू रूपान्तर अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिससे १२६३ और १२७८ ई० के बीच जॉन आफ़ कैपुआ (John of Capua) ने *Liber Kelilacet Dimnae, Directorium vitae humanae* की रचना की, जिसके दो मुद्रित संस्करण १४८० ई० में प्रकाशित हुए। ऐण्टोनिउस फ़ॉन प्फ़ोर (Anthonius von Pforr) द्वारा एक हस्तलिखित पोथी से उसका जर्मन अनुवाद *Das buch der byspel der alten wysen* नाम से किया गया, जो १४८३ ई० में और उसके बाद बार-बार छपता रहा, और जर्मन साहित्य को गम्भीर रूप से प्रभावित करने के अतिरिक्त जिसका डैनिश (Danish), आइसलैण्डिक (Icelandic) और डच (Dutch) में भी अनुवाद किया गया। उस पर आधारित एक स्पैनिश (Spanish) रूपान्तर १४९३ ई० में, और Agnolo Firenzuola द्वारा किया गया एक इटैलियन (Italian) रूपान्तर १५४६ ई० में प्रकाशित हुआ जिसको १५५६ ई० में फ़्रेञ्च (French) में अनूदित किया गया। साक्षात् उपर्युक्त जर्मन रूपान्तर से A. Doni द्वारा किया गया एक इटैलियन संस्करण १५५२ ई० में दो भागों में प्रकाशित हुआ, और उसके प्रथम भाग का सर टॉमस नार्थ (Sir Thomas North) ने *The Morall Philosophie of Doni* के नाम से १५७० ई० में अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अनुवाद ११४२ या ११२१ ई० में अबुल-मआली नसरल्ला इब्न मुहम्मद इब्न अब्दल-हमीद द्वारा अरबी से किया गया, क्योंकि इससे १४७० और १५०५ ई० के बीच फ़ारसी में हुसेन इब्न अली अल-वाइज़ द्वारा रचित अनवारि सुहैली की उत्पत्ति हुई, जिससे पूर्वी भाषाओं में अनेक अनुवाद किये गये, और जिसके संबन्ध में फ़्रांस में लोगों को जानकारी १६४४ ई० में David Sahid और Gaulmin के अनुवाद से प्राप्त हुई। इसका अनुवाद फिर शीघ्र ही अँग्रेज़ी, जर्मन और स्वीडिश (Swedish) भाषाओं में किया गया। इसके अतिरिक्त,

१५१२ और १५२० ई० के बीच फ़ारसी मूल का अनुवाद अली बिन सालिह ने तुर्की भाषा में किया, और उसका अनुवाद Galland और Cardonne ने फ़्रेन्च भाषा में किया। इस फ़्रेन्च रूपान्तर का अनुवाद जर्मन, डच, हंगेरियन (Hungarian) और मलायी (Malay) भाषा में भी हुआ।

अरबी से किये गये अन्य अनुवाद उतने उर्वर नहीं हुए। तेरहवीं शताब्दी में Jacob ben Eleazer द्वारा किया गया हिब्रू रूपान्तर केवल अंशतः सुरक्षित है। पुराने स्पैनिश रूपान्तर (लगभग १२५१) और John of Capua के ग्रन्थ ने Raimundus de Biterris को सामग्री प्रदान की, जिसने Johanna of Navarre के लिए अपनी पुस्तक *Liber de Dina et Kalila* तैयार की। बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इटैलियन Baldo ने अपनी पुस्तक *Novus Esopus* के लिए किसी रूपान्तर का उपयोग किया था। La Fontaine १६७८ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक Fables के द्वितीय संस्करण में यह स्पष्ट रूप से कहता है कि उसकी नई सामग्री का अधिकांश भाग भारतीय महात्मा पिल्पे (Pilpay) से लिया गया है, जिसके नाम में हम संस्कृत शब्द विद्यापति (विद्या का स्वामी) की समानता देख सकते हैं।

३. शुकसप्तति

जिस दूसरी पुस्तक का अन्य भाषाओं में अनुवाद होना निश्चित है, वह है **शुकसप्तति**। जैसा कि हम देख चुके हैं, इसका अस्तित्व हेमचन्द्र द्वारा बारहवीं शताब्दी में प्रमाणित होता है, जब वे एक घटना को उद्धृत करते हैं, जो हमारी पुस्तकों के पाठ में नहीं है, जिसमें तोता एक बिल्ली द्वारा पकड़ लिया जाता है। इससे सम्भवतः यह सिद्ध होता है कि **शुकसप्तति** के बहुत से पाठ पहले से ही वर्त्तमान थे। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ तक इसका एक अपरिष्कृत फ़ारसी अनुवाद हो चुका था, जो हाफ़िज़ और सादी के एक समकालीन, नख़्शबी, की परिष्कृत रुचि को पसन्द न आया। उन्होंने १३२९–३० ई० में **तूतीनामह**[1] लिखा, जिसका सौ वर्ष बाद तुर्की में भाषान्तर किया गया और जिसने अट्ठारहवीं शताब्दी में कादिरी द्वारा किये गये नूतन रूपान्तर को प्रेरणा दी। **तूतीनामह** ने अपनी मूल पुस्तक का कुछ भाग अनुचित समझ कर छोड़ दिया और अन्य कथाएँ अंशतः **वेतालपञ्चविंशतिका** से लेकर सन्निविष्ट कर दीं। फ़ारसी रूपान्तर से

---

१. Pertsch, ZDMG. xxi. 505-21. कादिरी की फ़ारसी का अनुवाद C.J.L.Iken द्वारा किया गया (1822), और तुर्की का अनुवाद G. Rosen द्वारा (1858).

बहुत सी कथाएँ एशिया होती हुईं पश्चिमी यूरोप पहुँच गईं, और उनमें से एक कथा गाँटफ़्रीड (Gottfried) की *Tristan und Isolde* से विशेष प्रसिद्ध हो गई, जिसमें एक कठिन परीक्षा का वर्णन है, जिसका प्रयोग Isolde की निर्दोषिता प्रमाणित करके धोखा देने के लिए किया गया था। भारत में यह कथा प्राचीन है, क्योंकि यह एक भारतीय कथा के पञ्चम शताब्दी में किये गये चीनी रूपान्तर में प्राप्त होती है और एक अव्यवस्थित रूप में जातक ग्रन्थ[1] में भी विद्यमान है।

४. पूर्व और पश्चिम में सम्पर्क के अन्य उदाहरण

उपर्युक्त प्रमाणित तथ्यों के आधार पर यह तुरन्त माना जा सकता है कि वे कहानियाँ भी, जिनका निश्चयात्मक रूप से भारतीय स्रोतों से निकले हुए होने का पता नहीं लगाया जा सकता, भारत से ही पश्चिमी देशों में पहुँची होंगी। सम्प्रेषण[2] के विभिन्न प्रकारों की कल्पना करना भी कठिन नहीं है; साहित्य के अतिरिक्त कहानियाँ मौखिक रूप से बड़ी सरलतापूर्वक भ्रमण करती हैं, और धर्म-युद्धों के फलस्वरूप ईसाइयों और मुसलमानों में लम्बी अवधि तक सम्पर्क बना रहा। इसके अतिरिक्त, स्पेन में अरबों के शासन ने पूर्वी एवं पाश्चात्य सभ्यताओं के बीच मध्यस्थता का कार्य किया, और इसी सम्बन्ध में यहूदियों ने भी मध्यस्थों के रूप में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस विषय में बेन्फ़े (Benfey) ने मंगोलों पर पड़े प्रभाव का अतिरञ्जित वर्णन किया है, किन्तु Cosquin ने निश्चय ही उसका अवमूल्याङ्कन किया है।[3] इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है कि जिप्सियों (Gipsies)[4] ने कहानियों के प्रसार में सहायता पहुँचाई, क्योंकि उनकी भारतीय उत्पत्ति पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। फिर बिज़ेण्टाइन (Byzantine) साहित्य[5] भी कहानियों के साहित्यिक प्रसार में अवश्य कारण रहा होगा। किन्तु जैसी कि अद्‌भुत कथाओं (fairy tales) के सम्बन्ध में बेन्फ़े की प्रवृत्ति थी, सारे आदान को एकपक्षीय मानना मूर्खतापूर्ण होगा। Cosquin ने अधिक श्रेष्ठ उद्देश्यों वाली कथाओं को प्रायः भारतीय सिद्ध करने

---

१. Chavannes, *Cinq cents contes*, i. no. 116; जातक 62; Zachariae, *Kleine Schriften*, pp. 282 f.; J. J. Meyer, *Isoldes Gottesurteil*, pp. 74 ff.

२. ६०० ई० तक के समय के लिए देखिये Kennedy, JRAS. 1917, pp. 226 ff.

३. Cosquin, *Études folkloriques*, pp. 497 ff.

४. Wlislocki, ZDMG. xli. 448 ff.; xlii. 113 ff.

५. E. Kuhn, *Byzant. Zeitschrift*, iv. 241.

के अपने प्रयत्नों द्वारा उक्त स्थापना को पुष्ट करने के लिए वस्तुतः बहुत कुछ किया है। अनेक अपवादों के साथ लैंग (Lang) ने और Bédier ने इसके स्थान में विभिन्न देशों में कहानियों की स्वतन्त्र उत्पत्ति का साग्रह कथन किया है। Antti Aarne ने इस आधार पर कार्य करने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक देश की अपनी अपनी कहानियाँ हो सकती हैं, किन्तु ये कहानियाँ दूर दूर तक भ्रमण करती हैं, इसलिए शोध कार्य का उद्देश्य उन 'अभिप्रायों' (motifs) का निर्णय करना है जो किसी एक या दूसरे देश से सम्बन्ध रखते हैं; तथा च किसी जादू की अँगूठी पर केन्द्रित विचार-समुदाय की उत्पत्ति भारत में हुई, जादू के तीन द्रव्यों से सम्बद्ध विचार-समुदाय ब्रिटिश और फ़्रेञ्च हैं, जादू की चिड़िया पर केन्द्रित एक अन्य विचार-समुदाय फारसदेशीय है। यह निस्संकोच स्वीकार किया जा सकता है कि अधिकतर कथाओं के संबन्ध में किसी संतोषजनक परिणाम पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है।

सिन्दबाद की अतिपरिचित कहानी के सम्बन्ध में कुछ मात्रा में निश्चय किया जा सकता है। अरबी ऐतिहासिक मसूदी ने, जिनकी मृत्यु ९५६ई०में हुई, **किताब् ऐॅल सिन्दबाद** की भारतीय उत्पत्ति स्पष्टतया बताई है; इस पुस्तक का फ़ारसी **सिन्दिबादनामह, सीरियाई सिन्दबान, अरेबियन नाइट्स** (Arabian Nights) की हस्तलिखित पोथियों में प्राप्त होने वाली अरबी में लिखित **'सात वजीरों की दास्तान'**, हिब्रू **सन्दबार,** ग्रीक Syntipas[1] और यूरोपीय कहानियों के एक वृहत् समुदाय से तादात्म्य है। पुस्तक की योजना **पञ्चतन्त्र** से ली गई है; एक राजा अपने पुत्र को एक बुद्धिमान् पुरुष के सुपुर्द कर देता है, जो उसे छः महीने में बुद्धिसम्पन्न बनाने का बीड़ा उठाता है; किसी की —इस पुस्तक में मृत्युदण्ड पाये हुए एक शहज़ादे की—जीवन-रक्षा करने के लिए कहानियाँ कहने का 'अभिप्राय' (motif) इसमें भी पाया जाता है, और इन कहानियों से मिलती-जुलती भारतीय कहानियाँ प्रायः उपलब्ध हैं; नेवले की कहानी **पञ्चतन्त्र** से ली गई है, और अन्य कहानियाँ प्रायः स्त्रियों द्वारा अपने असतीत्व को छिपाने के लिए उनके कौशलपूर्ण उपायों के उदाहरण हैं। ये कहानियाँ भारत में प्रचलित हैं और ये **पञ्चतन्त्र** के परिशिष्ट की भाँति थीं। ग्रीक *Syntipas* में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनको सफलतापूर्वक तभी समझा जा सकता है जब यह मान लिया जाय कि वे केवल किसी संस्कृत मूल के बिगड़े हुए रूप हैं, और सारी बातें इस निर्णय को पुष्ट करती हैं कि इस विषय में भी हमें किसी संस्कृत ग्रन्थ के पहलवी अनुवाद से भाषान्तरित एक अरबी मूल का एक दूसरा उदाहरण प्राप्त है।

---

१. H. Warren, *Het indische origineel van den Griekschen Syntipas*; Hertel, ZDMG. lxxiv. 458 ff.

उक्त सिद्धान्त का विस्तार करके अरबी में लिखित 'एक हज़ार एक रातें' (Thousand and One Nights) नामक ग्रन्थ का मल भारत में प्राप्त करने का यत्न किया जाना स्वाभाविक है,[1] और यह सिद्ध करके कि इसमें आई हुई कहानियों का कथामुख और उनकी पृष्ठभूमि भारत में सुज्ञात 'अभिप्रायों' (motifs) से संक्रान्त हैं, इस दिशा में कुछ ठोस काम किया गया है। उदाहरणार्थ, हमें कनकमञ्जरी का जैन उपाख्यान प्राप्त है, जिसने प्रत्येक रात्रि को एक कहानी आरम्भ करके उसे असमाप्त छोड़ देने के कौशल द्वारा छः महीने तक राजा के अविभक्त प्रेम का उपभोग किया था। इसके अतिरिक्त, हमें एक बौद्ध कथा के चीनी भाषान्तर में (२५१ ई०), कथासरित्सागर में, और हेमचन्द्र में एक मनुष्य की कहानी के विभिन्न रूप मिलते हैं, जो अपनी पत्नी को व्यभिचारिणी जान कर अत्यन्त खिन्न है, किन्तु उसे अपनी प्रसन्नता पुनः प्राप्त हो जाती है क्योंकि उसे पता लगता है कि राजा भी उसी के समान उपहसनीय परिस्थिति में है। शहरियार और शाहज़माँ के साहसपूर्ण कार्य का भी सादृश्य कथासरित्सागर की एक कथा में प्राप्त होता है। इन कहानियों में भारतीय भाव के अन्य अवशेष भी विद्यमान हैं, और इनको फ़ारस से लिया गया बताना स्पष्टतः असम्भव है। फ़ारसी से संस्कृत में किये गये अनुवाद सामान्यतः उत्तरकालीन हैं, जैसे पन्द्रहवीं शताब्दी में ज़ैनुल्-आब्दीन के आश्रय में यूसुफ़ और ज़ुलैख़ा के विषय में लिखा गया श्रीवर का कथा-कौतुक।[2] एकमात्र विषय, जिस पर सन्देह किया जा सकता है, वह है प्रभाव की सीमा; इस सम्बन्ध में सम्प्रति लुप्त किसी भारतीय ग्रन्थ से इस सम्पूर्ण कथाचक्र के ग्रहण किये जाने की बात को सिद्ध करने के लिए निश्चय ही कोई प्रमाण नहीं है।

उपर्युक्त अनुवादों के अतिरिक्त, यूरोप में वास्तविक भारतीय उत्पत्ति के अवशेषों को सिद्ध करना कठिन है।[3] नवीं शताब्दी की एक कारोलिञ्जियन (Carolingian) कविता में बताया गया है कि एक व्याध ने एक सुअर का वध किया, वह व्याध स्वयं एक सर्प द्वारा मारा गया और उस सर्प की मृत्यु

---

१. Cosquin, उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ, pp. 265 ff.; Przyluski, JA. ccv. 101 ff., जो भारत के स्वयंवर में उस आस्ट्रोएशियाटिक (Austroasiatic) उत्सव-नृत्य का अवशेष पाते हैं जिसमें युवकों व युवतियों के जोड़े मिलाये जाते थे। Cf. Macdonald, JRAS. 1924, pp. 353 ff.

२. Ed. and trans. R Schmidt (Kiel, 1898).

३. Günter, *Buddha*, pp. 99 ff. भारतीय साहित्य में और पश्चिम में भी विषकन्या की प्रसिद्ध कथा का, जो *Secretum Secretorum* (cf. Hawthorne, *Rappaccini's Daughter*) में Aristotle और Alexander के सम्बन्ध में बताई गई है, Penzer द्वारा *Ocean of Story*, ii. 311 ff. में विवेचन किया गया है।

का भी कारण वना; यह उस लोभी सियार की भारतीय कहानी की तुलना में एक निर्बल कथा है जिसको सौभाग्य से एक व्याध मिल गया था, जिसने एक हरिण को मारा और एक सुअर का भी वध किया तथा जिसे स्वयं सुअर ने मार डाला, किन्तु वह सियार कंजूसी की भावना से सर्वप्रथम धनुष् की प्रत्यञ्चा खाने के कारण मृत्यु का ग्रास बना। Peter Alfonsi (बारहवीं शताब्दी) को एक कथा ज्ञात है जो बुर्ज़ोई द्वारा किये गये पञ्चतन्त्र के रूपान्तर की प्रस्तावना में और कुछ अन्य भारतीय आख्यान ग्रन्थों में वर्त्तमान थी, किन्तु उनका ज्ञान केवल अरबी में प्राप्त उसके रूप तक ही सीमित है। वाल्टर मेप्स (Walter Mapes) के एतद्विषयक ज्ञान में सन्देह है, किन्तु मारी ऑफ फ्रान्स (Marie of France) में स्पष्ट सादृश्य वर्त्तमान है; और ओडो ऑफ़ शेरिटन (Odo of Sheriton) (लगभग १२१५ ई०) द्वारा वर्णित सेण्ट मार्टिन (St. Martin) की उस चिड़िया की कथा की उत्पत्ति, जिसने आकाश को थामने के लिए अपने डैने फैला दिये थे, किन्तु एक पत्ती के अपने ऊपर गिरते ही भयाकुल होकर सेण्ट (Saint) से शरण मांगी थी, महाभारत या पञ्चतन्त्र से हो सकती है। पशुओं की तुलना में मनुष्यों की कृतघ्नता की कहानी के विषय में नीगेल ऑफ़ कैण्टरबरी (Nigel of Canterbury) का ज्ञान (लगभग ११८० ई०) अवश्यमेव भारत से ग्रहण किया गया नहीं कहा जा सकता। Saxo Grammaticus में सांघातिक पत्र और उसके वाहक का 'अभिप्राय' (motif) भी सम्भवतः भारतीय नहीं है, क्योंकि यह कल्पना होमर (Homer) में पहले से ही हमारे देखने में आती है। Ptolemais के बिशप, जेम्स ऑफ़ विट्री (James of Vitry), जो एक धार्मिक योद्धा (Crusader) थे, अपनी पुस्तक *Exampla* में किंवदन्ती के आधार पर उस ब्राह्मण की कथा का वर्णन करते हैं जिसको धूर्तों ने ठग लिया था, एवं उस ब्राह्मण की कथा का वर्णन करते हैं जो हवाई किले बनाया करता था, और उस पुत्र की कथा भी बताते हैं जो अपने अत्यधिक दीर्घजीवी पितामह को दफ़नाने जा रहा था जबकि उसके अपने पुत्र ने उसके लिए भी कब्र खोद कर तैयार कर ली थी। डोमीनिकन एत्येन ऑफ़ ब्र्बों (Dominican Etienne of Bourbon) द्वारा लिखित *de diversis rebus praedicabilibus* नामक पुस्तक में, जिनकी मृत्यु १२६० ई० के लगभग हुई, हमें अन्धे और लँगड़े की कहानी का एक रूपान्तर प्राप्त है जो जैन ग्रन्थों में[1] सुविज्ञात है, और सालोमन (Solomon) के न्याय[2] का भी एक भिन्न रूप हमें मिलता है जिसमें दो

१. Hertel *Geist des Ostens*, i. 248 ff.

२. 1 Kings, iii. 16 के भारतीय रूपान्तरों के प्राथमिक मूल के विषय पर तुलना कीजिये Hertel, उपरि-निर्दिष्ट ग्रन्थ, 189 ff.; जातक, 546.

स्त्रियाँ एक ऊन के गोले के लिए आपस में लड़ती हैं और इस लड़ाई का निपटारा यह पूछ कर किया जाता है कि किस वस्तु के आधार पर ऊन का यह गोला लपेटा गया है।[१] बुद्धघोष के एक चीनी रूपान्तर में, और शुकसप्तति[२] में प्राप्त होने वाली एक भारतीय कहानी, जिसमें बोधिसत्त्व से छुटकारा पाने के लिए उनके सौतेले पिता का उपाय वर्णित है, एत्येॅन (Etienne) में उस भृत्य की कथा के रूप में उपलब्ध होती है, जिसको राजा एक षड्यन्त्र का सन्देह करता हुआ अपनी भट्टी पर काम करने वाले उन सेवकों के पास भेज देता है, जिनको यह आज्ञा दी गई है कि जो कोई सबसे पहले राजसन्देश लेकर आये उसे भट्टी में झोंक दिया जाय। एत्येॅन (Étienne) हमें St. Guinefort के रूप में परिवर्तित और पूजा के विषय उस निर्दोष कुत्ते के सम्बन्ध में भी बताते हैं, जिसकी क़ब्र को नष्ट करने का उसने आग्रह किया था। *Gesta Romanorum* में ऐसी विभिन्न कथायें हैं, जिनकी भारतीय उत्पत्ति सम्भव है; १४६९[३] ई० की एक हस्तलिखित पोथी में एक कथा इतनी विस्तृत है कि उसकी उत्पत्ति के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता, क्योंकि उसमें यह वर्णित है कि एक नाइट (knight) या सरदार, जिसको कृतज्ञतावश पशुओं की बोली सिखा दी गई थी, किस प्रकार अपनी पत्नी को वह बात बता कर भागने में समर्थ हो सका, जो एक प्रसिद्ध जातक-कथा है। दूसरी ओर, स्वतन्त्र विकास की उपेक्षा करना भी असम्भव है; यदि हाइनरिश स्यूसे Heinrich Seuse (लगभग १३३० ई०) ने आनन्त्य की कल्पना को एक पक्षी के विषय में बतला कर दर्शाया है, जो पृथ्वी के परिमाण वाले चक्की के पाट से एक लाख वर्ष में केवल एक बार अन्न का एक कण चुगता है (वह काल, जिसमें चक्की का पाट अन्न से रिक्त हो जायगा, आनन्त्य की तुलना में एक क्षणमात्र है), तो उसकी कल्पना को संसार की आयु के उस भारतीय विचार से निकला हुआ बताना अनावश्यक खेंचातानी है, जिसमें संसार की आयु उस काल से भी अधिक बताई गई है जो किसी पर्वत को पृथ्वी का समतल बनाने के लिए उसे सौ वर्ष में एक बार रेशमी कपड़े से रगड़ने में एक मनुष्य को लगेगा।

---

१. Zachariae, *Kl. Schriften*, pp. 84 ff.

२. तुलना कीजिये, Portugal की St. Elizabeth का आख्यान, Cosquin, *Études folkloriques*, pp. 73 ff., जो (पृष्ठ १६०) Bellerophon जैसे उदाहरणों से इन कथाओं को पृथक् करने वाली विशेषता के रूप में व्यक्तियों अथवा सन्देशों के विनिमय पर आग्रह करते हैं।

३. Günter, *Buddha*, pp. 122 ff.

परवर्ती मध्ययुग से चतुरताविषयक कई कहानियों के आदान के सम्बन्ध में में हमें साक्ष्य प्राप्त होता है, जैसे उस मनुष्य की कहानी में, जो भोजन की मेज़ पर बैठा हुआ न्यूनाधिक आकस्मिक निरीक्षण द्वारा अपराधी सेवकों का पता लगा लेता है।[१] अद्भुत कथा (fairy tale) के इक्कीस मील लम्बे जूतों का प्रसङ्ग **कथासरित्सागर** में मिलता है और वह मूल में भारतीय हो सकता है, किन्तु अन्य अनेक 'अभिप्रायों' (motifs) को एक ही राष्ट्र की सम्पत्ति मानना कठिन है; उदाहरणार्थ, किसी अङ्गविशेष पर प्रहार करके ही जीते जा सकने वाले वीरपुरुष की कथा भारत की अपेक्षा ग्रीस में अधिक पुरानी है और जर्मनी में सम्भवतः उसकी उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से हुई है; अभीष्ट वस्तुओं को देने वाले वृक्ष की कथा का आधार वृक्ष की अधिष्ठात्री देवताओं पर व्यापक रूप से फैला हुआ विश्वास है; सुवर्ण प्रदान करने वाले मनुष्य या पशु की कहानी, भारत में अधिक प्राचीन होने पर भी, आदान की अपेक्षा विचारों के सादृश्य को प्रमाणित करती है; जादू से प्रभावित राजकुमार को छुटकारा दिलाने के लिए त्वचा को जलाना नृजाति-विशेष से सम्बन्धित प्रतीत होता है। अनेक देशों के के लोग उन उड़ने वाली चिड़ियों से परिचित हैं जो वीर पुरुषों को लम्बी यात्रा पर ले जाती हैं। *Odyssey* में आई हुई Circe को **कथासरित्सागर** में निश्चयदत्त की कथा की यक्षिणी का स्रोत मानना आवश्यक नहीं है।[२]

Cosquin[३] ने भारत से सम्बन्धित रोचक 'अभिप्रायों' (motifs) का एक अच्छा उदाहरण **महोसध जातक** की कथा में प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार एक पतिव्रता पत्नी ने अपने पति की अनुपस्थिति में उसे बहका कर सतीत्व नष्ट करने वाले छैलों की सेवा की और अन्त में वह उन्हें मटकों में बन्द करके राजा के सम्मुख ले गई। यह कथा भरहुत की एक उभड़ी हुई नक्काशी से प्राचीन प्रमाणित होती है जिस पर तीन खुली हुई सन्दूकचियाँ चित्रित हैं और उनमें से प्रत्येक में एक वन्दी है। कश्मीरी **बृहत्कथा** के उपकोशा के आख्यान में यह कथा सम्भवतः एक अधिक मौलिक ढंग से सुरक्षित है। उपकोशा छैलों को स्नान करने के लिए फुसलाती है, और एक चिपचिपे द्रव में उनको नहला कर काला बना देती है, जिस दशा में उनका स्वरूप राजा के समक्ष प्रकट कर दिया जाता है। इसमें सन्देह करना कठिन है कि यही कथा तेरहवीं शताब्दी

---

१. Cf. Forke, *Die indischen Märchen*, pp. 36 f.; Zachariae, *op. cit.*, pp. 138 ff.

२. देखिये Tawney का अनुवाद, i. 337 ff. *Od.*, xii. 39 ff. के Sirenes और जातक 41, 96, 196, 439 की तुलना कीजिये; महावंस (Geiger, p. 25).

३. *Etudes folkloriques*, pp. 457 ff.

की Constant du Hamel और Isabeau की कहानी के हीन रूपान्तर का मूलस्रोत है। इसी भाव का कुछ विभिन्न रूप कश्मीरी बृहत्कथा में देवस्मिता की कहानी में मिलता है, और यह बहुत-कुछ संभव है कि जिस प्रकार का आख्यान *Gesta Romanorum* (लगभग १३०० ई०) में, Perceforest की रोमाञ्चक कथा में, और पन्द्रहवीं शताब्दी की अँग्रेजी कविता *The Wright's Chaste Wife* में मिलता है, उसके लिए भी हमें एक भारतीय मूल खोजना पड़ेगा। दैत्य और उसकी मनोहारिणी कन्या की सामान्य कल्पना में, जिसने अपने दुष्ट किन्तु मूर्ख पिता को धोखा देने में अपने प्रेमी की सहायता की थी, कश्मीरी बृहत्कथा के युवक की कहानी में सुरक्षित भारतीय कल्पना का परिणाम देखना निस्संदेह एक आकर्षक बात है;[१] एक राक्षस की कन्या, जो अपने पिता की मूर्खता को जन्मगत बतलाती है, अपना पाणिग्रहण करने के लिए उपर्युक्त युवक की सहायता करती है और उसके सामने रक्खे गये समस्त असम्भव कार्यों को पूरा कर देती है। किन्तु उपर्युक्त दोनों कल्पनाओं में एक को दूसरे से प्रसूत बतलाने में प्रमाण का अभाव है। एक दूसरी कथा,[२] जिसकी भारत में उत्पत्ति होने की पर्याप्त संभावना है, उबलते हुए कढ़ाव और कार्यदक्षता के अभाव का बहाना बनाने के ढंग की है, जैसे कि विक्रमादित्य के विषय में; विक्रमादित्य एक नरकपाल द्वारा दी गई चेतावनी के कारण एक योगी की चाल से बच निकलते हैं जो उनको उस कढ़ाव के चतुर्दिक् प्रदक्षिणा करने की आज्ञा देता है, जिसमें वह उनको फेंकना चाहता है; राजा उससे पहले यह करके दिखाने को कहते हैं और उस दुरात्मा को उसी के द्वारा चिन्तित उपाय से मार डालते हैं। उस बिल्ली की कथा[३], जो राजा के लिए मोमबत्ती लेकर चलती है, और जो यद्यपि दो चूहों को उन पर बिना ध्यान दिये ही जाने देती है, पर अन्त में तीसरे चूहे को देखते ही उस मोमबत्ती को गिरा देती है, मूल में भारतीय हो सकती है, किन्तु यह स्पष्टतः सिद्ध नहीं हो पाया है। परन्तु इसकी सम्भावना है कि चौदहवीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध सालोमन (Solomon) और मार्कोल्फुस (Marcolphus) के रात्रि में जाग कर घूमने का विचार भारत से लिया गया हो, जहाँ रोहक[४] और उज्जैन के राजा की कथा बारहवीं शताब्दी में विज्ञात है और प्रद्योत और एक गन्धार निवासी व्यक्ति की कथा नवीं शताब्दी में कंजूर में प्राप्त

---

१. Cosquin, उसी ग्रन्थ में, p. 25.

२. उसी ग्रन्थ में, pp. 349 ff.

३. उसी ग्रन्थ में, pp. 401 ff.

४. रोहक पर तुलना कीजिए Zachariae, उसी ग्रन्थ में, pp. 66, 94f. 190; Pullé, *Uno progenitore Indiano del Bertoldo* (1888).

होती है। जादूगर और उसके शिष्य[1] की कल्पना भी, जो विभिन्न कठिन परिस्थितियों से निकलने के लिए तरह तरह के आकार धारण कर लेता है, किसी प्रकार अनूठी नहीं है; Ovid[2] में Mestra का उपाख्यान यह प्रदर्शित करता है कि इस प्रकार की कथाएँ सहज ही में भारत के प्रभाव के बिना स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हो सकती थीं, जहाँ वास्तव में अभिप्राय (motif) विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं है।

५. ग्रीस और भारत में गद्यकाव्य

भारतीय गद्यकाव्य अपने जिस आपाततः पूर्णतया विकसित रूप में सुबन्धु, बाण और कुछ मात्रा में दण्डी की भी कृति में उपलब्ध होता है, उससे उसको ग्रीस देश पर आधारित सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाना स्वाभाविक ही है। ग्रीक प्रभाव के लिए पीटर्सन (Peterson)[3] का तर्क, जिसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है, अंशतः भारतीय खगोलविद्या और फलित ज्योतिष पर ग्रीक प्रभाव के असंदिग्ध तथ्य पर आधारित है, और अंशतः उस नवीन चेतना पर आधारित है जो उनको गद्यकाव्यों में दिखाई पड़ी और जो द्रुतगामी किन्तु एकरूप साहसिक वृत्तान्तों की परम्परा से युक्त सरल कथा के शुष्क अस्थिपञ्जर को रक्त और मांस से आच्छादित करती है। परन्तु अपने मत के समर्थन में उन्होंने केवल वही अंश उद्धृत किये जो Achilles Tatius द्वारा रचित Kleitophon और Leukippe की कथा में प्रियतमा के सौन्दर्य के सूक्ष्म वर्णनों के प्रति, मनुष्य पर प्रेम के प्रभाव के प्रति, तथा उस प्रेम के प्रति जो अन्य पदार्थों में परस्पर हुआ करता है, लेखक के अनुराग को प्रदर्शित करते हैं। अन्य पदार्थों के पारस्परिक प्रेम के लिए वे मादा-खजूर के प्रति नर-खजूर के प्रेम की कहानी उद्धृत करते हैं, जो प्रेम नर-खजूर के हृदय में एक अँकुर की कलम लगाने से फलवत्ता को प्राप्त होता है। राइश (Reich)[4] ने इसमें समानताओं की एक सूची भर और जोड़ दी है; उदाहरणार्थ, हमें भारतीय और ग्रीक दोनों के गद्यकाव्यों में प्रथम दृष्टि में ही प्रेम हो जाने और स्वप्न में प्रेमी और प्रेमिका के एक दूसरे को देखने की कल्पना,

---

१. Cosquin, उसी ग्रन्थ में, pp. 497 ff. दूसरे सुझावों के लिए देखिए *Les contes indiens et l'occident* (1922), जहाँ अन्य बातों के साथ-साथ वे भारत में चप्पल के अभिप्राय (motif) का विवेचन करते हैं।

२. *Met.* viii. 847 ff.

३. कादम्बरी, pp. 98 ff.

४. DLZ. 1915, pp. 553ff., 594 ff.

सौभाग्य का दुर्भाग्य में और फिर समृद्धि में द्रुत परिवर्तन, साहसिक कार्य और समुद्र में पोतभङ्ग, आश्चर्यजनक सौंन्दर्य से युक्त नायक और नायिकाएँ, प्रेम और प्रकृति—इन दोनों के विस्तृत वर्णन का खुला उपयोग, ये सारी बातें प्राप्त होती हैं। इन सारी बातों को स्वीकार कर लेने पर भी स्पष्टतः ही इनसे आदान की बात सिद्ध नहीं होती, यद्यपि इनसे आदान की सम्भावना की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि खजूर वृक्षों के प्रेम की कहानियाँ ग्रीस अथवा भारत के स्थान पर सीरिया से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं; भारतीय काव्यों में उल्लिखित सहकार और माधवी लता के विवाह से यह निश्चित रूप से भिन्न है।

रोहदे (Rohde)[१] और वेबर (Weber)[२] द्वारा इस विषय में अधिक निश्चित साक्ष्य उपस्थित किया गया है। वेबर (Weber) का यह कथन है कि **वासवदत्ता** का 'अभिप्राय' (motif) हमें सिकन्दर महान् के एक अधिकारी Chares of Mytilene के आधार पर Athenaios द्वारा वर्णित एक कहानी में प्राप्त होता है। यह स्मर्तव्य है कि भारत में उक्त अभिप्राय का कोई ज्ञात पूर्ववर्ती रूप उपलब्ध नहीं है। Zariadres और Odatis की इस कहानी में उन प्रेमियों के 'अभिप्राय' (motifs) विद्यमान हैं, जो एक दूसरे को स्वप्न में देखते हैं और अन्त में युवती के विवाह-संस्कार द्वारा, जिसमें उसको अपना वर स्वयं चुनने का अधिकार प्राप्त है, परस्पर संयुक्त हो जाते हैं। किन्तु यदि हम अपने प्रेमी के आलिङ्गन से वासवदत्ता के पुनरुज्जीवित हो जाने की तुलना Pygmalion और Galatea की कहानी से करें और हमें उस प्रेम-कहानी में एक युवती को पाने के लिए युद्ध करने वाली सेनाओं के सादृश्य भी मिल जायें, तो भी हमें यह सत्य स्वीकार करना पड़ेगा कि वह कहानी, जो मान्य रूप से ग्रीक रूपान्तर में है, ग्रीक नहीं है। वस्तुतः फ़िरदौसी में हमें यह ज्ञात होता है कि रोम के सम्राट् की कन्या अपने प्रेमी गुश्तास्प को सपने में देखती है और स्वयं उसको अपना पति बना लेती है। इस प्रकार से एक कन्या द्वारा पति का वरण करना एक प्राचीन भारतीय प्रथा है और उक्त फ़ारसी कहानी सहज में ही प्रथमतः भारत से आई हुई हो सकती है।

एफ़॰ लाकोत (F. Lacote)[३] द्वारा इस स्थापना को एक भिन्न ही दृष्टि प्रदान की गई, जब उन्होंने स्वयं गुणाढ्य के ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत होने की बात कही। इस प्रकार वे गद्यकाव्यों के पूर्ववर्ती ग्रन्थों और उक्त गद्यकाव्यों के बीच

१. *Griech. Roman,*[2] pp. 47 ff.
२. IS. xviii. 456 ff.
३. *Essai sur Guṇāḍhya*, pp. 284-6.

पीटर्सन (Peterson) द्वारा किये गये अन्तर से दूर हट गये । किन्तु बाद में[१] उनका मत बदल गया और उन्होंने ग्रीक गद्यकाव्य के भारत से ग्रहण किये जाने के पक्ष में साक्ष्य उपस्थित किया । उनके साक्ष्य के कुछ अंश की उत्पत्तिविषयक प्रश्न से असम्बद्ध होने के कारण तत्काल उपेक्षा की जा सकती है, क्योंकि यह अंश केवल घटनाओं से सम्बन्ध रखता है, जो भारत से ग्रीस द्वारा साकल्येन गद्यकाव्य के ग्रहण किये बिना भी गृहीत हो सकती हैं । किसी भी दशा में ये विवरण अपनी बात सिद्ध करन में अपर्याप्त हैं; तीन दिन में घावों को अच्छा कर दे ने वाले पौधे की तुलना भारत की व्रणसंरोहणी लता से की गई है, किन्तु इसका सम्बन्ध तो ग्रीक तथा भारतीय ओषधि यों के नितरां आदिम युग से है । देवताओं को मानवों से पृथक् करने वाले निर्निमेष नेत्र और पृथ्वी का स्पर्श न करने वाले पैर भारतीय हैं, किन्तु अन्तिम बात को तो कम से कम रोमन साम्राज्य के कलाकार भी स्वीकार करते हैं, और Kalasiris ने यह दिखाया है कि उक्त दोनों कथनों के लिए *Iliad*[२] को प्रमाण समझा जाता था । जब Theagenes और Chariklea पहली बार एक दूसरे से मिलते हैं, वे एक दूसरे को इस प्रकार पहचानते हुए प्रतीत होते हैं मानो वे एक दूसरे से पूर्व-परिचित हों; यह आधुनिक लोगों में केवल एक सामान्य भावना नहीं है, अपितु Plato का अपना एक संस्मरण का सिद्धान्त था, जिसकी भारतीय गद्य-काव्य का एक 'अभिप्राय' (motif) होने की अपेक्षा एक ग्रीक लेखक में उपस्थित होने की कहीं अधिक सम्भावना है । ग्रीक गद्यकाव्यों के सामान्य प्रयोजन में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो अ-ग्रीक हो । इसके विपरीत, *Aithiopika* अपने नायक द्वारा अनुभूत कठिन दुःखों को इस सिद्धान्त से न्याय्य ठहराती है कि नायक और उसकी प्रेमिका को मृत्यु के लगभग समीप लाना इसलिए आवश्यक था जिससे कि Aithiopian लोग मनुष्य की बलि देने की प्रथा बन्द कर दें । अन्यत्र घटनाओं को प्रगति को नियन्त्रित करने वाली नियति मूलतः ग्रीक है, या यों कहिए कि भारतीय होने की अपेक्षा ग्रीक अधिक है, और यह बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि नायकों पर पड़ने वाली विपत्तियों के विषय में कोई भी ऐसी बात नहीं कही गई है जिसमें उनको पूर्वजन्मों के दुष्कर्मों का फल बतलाया गया हो । किंच, यह उल्लेखनीय है कि ग्रीक गद्यकाव्यों में वर्णित समस्त जटिल वृत्तान्तों में हमें कहीं भी भारतीय दृश्य या घटनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं, यद्यपि उनके लिए

---

१. *Mélanges Lévi*, pp. 272 ff. देखिये Keith, JRAS. 1915, pp. 784 ff.

२. N. 71 f.; A. 200, जिनसे सिद्ध होता है कि चाल (cf. Vergil : et vera incessu patuit dea = आकृति द्वारा देवत्व प्रकट हो जाता है) और आंखों द्वारा देवता अपना देवत्व प्रकट करते थे ।

प्रचुर अवकाश वर्तमान था, और इन गद्यकाव्यों के लेखक स्वयं अधिकांश में पूर्वदेशीय लोग थे, खास ग्रीस के निवासी नहीं थे।

इसलिए अब केवल साहित्यिक रूप पर आश्रित तर्क अवशिष्ट रह जाता है। लाकोत (Lacote) का कहना है कि भारत में कथा-रूप की उत्पत्ति मौलिक थी, यहीं इसका विकास हुआ और ग्रीक गद्य-काव्यों द्वारा यह कथा-रूप भारत से ही ग्रहण किया गया। इस के प्रमाण का प्रत्येक अंश दोषपूर्ण है। अपने सरलतर रूपों में कथा का ढंग सबसे अधिक स्वाभाविक[1] है, और लाकोत (Lacote) स्वीकार करते हैं कि हमें यह *Odyssey* में प्राप्त होता है, किन्तु उनका यह कहना है कि इसका विकास ग्रीस में नहीं हुआ। इस बात के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है; वे Plato के संवादों को, जो लिखित वार्त्तालाप हैं, अपने नियम का अपवाद मानते ह; पर उनका कहना है कि यह ढंग दर्शन-शास्त्र तक ही सीमित था, जहाँ यह Sophron के Mimes (अनुकरणात्मक हास्य अथवा व्यङ्ग्य प्रधान रूपकों) से ग्रहण किया गया था। यह मान्यता अत्यन्त असम्भाव्य है, और फिर साक्ष्य भी इसके विरुद्ध है। कहानियों के प्रति ग्रीस का प्रेम हमें ज्ञात है; Sybaris और Ephesos के कहानी कहने वाले प्रसिद्ध थे; Apuleius का साक्ष्य भी वर्त्तमान है, जो अपनी पुस्तक *Metamorphoses* का *ut ego tibi sermone isto Milesio varias fabulas conseram*[2] (—अतः मैं तुम्हारे लिए Miletus के भाषण के साथ विभिन्न कहानियों को संगृहीत कर रहा हूँ), इन शब्दों में उल्लेख करते हैं। इस निश्चित कथन से यह अनुमान लगाना सर्वथा उचित है कि Apuleius को ज्ञात Ephesian कहानियाँ, जिनमें Sisenna[3] द्वारा रूपान्तरित Aristeides की *Ephesiaka* भी निश्चय ही सम्मिलित थीं, पहले से ही एक रूपरेखात्मक कहानी (framework story) का आकार प्रदर्शित करती थीं, जिसके साथ पात्रों के अनुभवों का वर्णन सन्निविष्ट रहता था। Ovid की *Metamorphoses* (v) में Pallas के साहसिक वृत्तों में Muses से उसकी भेंट और उनसे उसका कहानी सुनना भी सम्मिलित है, जिनके Demeter और Proserpina के वर्णन में Arethusa द्वारा दो आख्यान भी सन्निविष्ट हैं; चौदहवें अध्याय में Aeneas के साहसिक

---

१. यह मिस्र देश में पर्याप्त प्राचीन काल से पाया जाता है, और वहाँ कहानियों का गर्भीकरण अत्यन्त प्राचीन है; Maspero, *Contes populaires de l'Egypte ancienne* (1906), pp. 23 ff.

२. Teuffel-Schwaba, *Rom. Lit.*, § 367; H. Lucas, *Philologus*, 1907, pp. 29 ff.

३. Teuffel-Schwabe, § 156.

वृत्तों में हमें Achaemenides से कहा गया Macareus का आख्यान प्राप्त होता है, जिसमें Circe की एक दासी द्वारा वर्णित एक कहानी सन्निविष्ट है। इसलिए इसका मूलादर्श भारत में खोजने की हमें कोई भी कल्पनीय आवश्यकता नहीं है, विशेष करके तब जबकि कालक्रम इस सुझाव के पूर्णतया विरुद्ध है। बृहत्कथा के वास्तविक स्वरूप के विषय में हम कोई बात निश्चित रूप से नहीं जानते और उसकी तिथि भी पूर्णतया अनिश्चित है; निश्चय ही वह इतनी प्राचीन नहीं है कि उस पर आधारित होने की संभावना भी की जा सके।[1] जहाँ तक वासवदत्ता का प्रश्न है, हमें ज्ञात है कि वह लाकोत (Lacote) द्वारा विवेचन किये हुए समय के किसी भी उपलब्ध ग्रीक गद्यकाव्य से अर्वाचीन है। एक दूसरी दुस्तर कठिनाई यह है कि लाकोत (Lacote) सामान्य जनता द्वारा सम्प्रेषण की बात सोचते हैं और यह मानते हैं कि कोई भी ग्रीक व्यक्ति संस्कृत में रचित भारतीय गद्यकाव्य को समझ नहीं सकता था। किन्तु इस प्रकार का सम्प्रेषण निश्चय ही केवल कहानियों तक सीमित रहता; उससे उस जटिल रचना-प्रकार का देशान्तरण नहीं हो सकता, जिसका एक तर्क के रूप में उपयोग निकास सिद्ध करने के लिए किया जा सकता है।

वस्तुतः स्वरूप के सम्बन्ध में ग्रीक गद्यकाव्यों में परस्पर कोई सामान्य एकरूपता नहीं है: ऐसी एकरूपता का होना ही आश्चर्यजनक होता, क्योंकि ग्रीक लेखक सामान्य रूप से मौलिकता के सम्पादन में सफल हुए हैं। Heliodoros कभी स्वयं कथा का वर्णन करते हैं और कभी Homer की भाँति अपने अपने कार्यों का वर्णन करने के लिए पात्रों को ही हमारे समक्ष उपस्थित कर देते हैं; Xenophon केवल वर्णन मात्र करते हैं, Achilles Tatius अपनी कथा को Kleitophon के मुख से कहलाते हैं, किन्तु वह कथा का इस प्रकार वर्णन करता है मानो वह कोई बाहरी आदमी हो और वह अपने तथा नायिका के सम्बन्ध में घटी घटनाओं का निष्पक्ष रूप से उल्लेख करता है। केवल Antonius Diogenes में ही हमें कुछ अधिक जटिल कथानक के दर्शन होते हैं। वहाँ लेखक द्वारा अपनी बहन को लिखे गये एक पत्र से कथा का आरम्भ होता है, लेखक Balagros से Phila को प्राप्त हुए एक पत्र की प्रति उसको भेजता है और साथ में Deinias और Kymbas के बीच हुए वार्तालाप के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति,

---

१. Apuleius का अपना ग्रन्थ (लगभग १६० ई०), Lukianos का *Loukios e onos*, Petronius का *Satirae* (Teuffel-Schwabe, § 305) और इन सब से बढ़कर Ovid का ग्रन्थ, ये विद्यमान हैं। जैसा कि Tyrrell (*Latin Poetry*, p. 123) का कथन है, वहां *Arabian Nights* वाला ढंग अधिक सफल नहीं हो पाया है।

Erasinides, की लिखी हुई एक टिप्पणी भी नत्थी कर देता है। Deinias के आख्यान में अधिकांशतः एक कहानी है जो उसको Derkyllis ने बताई थी, जिसमें Astraios और Mantinias द्वारा Derkyllis को और फिर Astraios द्वारा Derkyllis और Mantinias को बताये गये विवरण सन्निविष्ट हैं; Derkyllis के आख्यान के अन्त में Deinias जो कुछ उसने Azulis से सुना था उसका वर्णन करता है, और Kymbas के साथ Deinias के वार्त्तालाप का अन्त Erasinides की अन्तिम टिप्पणी से अनुगत है। निश्चय ही यह एक जटिल कथानक है, किन्तु यह वैसा ही पूर्णतया स्वाभाविक विकास है जैसा वासवदत्ता में प्राप्त होने वाला भारतीय कथा का रूप सरलतर रूपों का एक स्वाभाविक विकास है। लाकोत (Lacote) द्वारा चित्रित अन्य सादृश्य युक्तियुक्त नहीं हैं; लेखक द्वारा Faustinus को लिखे गये पत्र के साथ, जो स्पष्टतः परिशिष्टान्तर्गत प्रतीत होता है, वासवदत्ता तथा बाण के ग्रन्थों की अवतरणिकाओं का बड़ा ही क्षीण सादृश्य है; उक्त ग्रन्थ के त्येक भाग के आदि में लेखक द्वारा वर्णित आश्चर्यजनक घटनाओं के समानान्तर चलने वाली कहानियों के सम्बन्ध में जो कथन हैं, उनकी केवल हर्षचरित के प्रत्येक उच्छ्वास के आदि में आने वाले प्रारम्भिक पद्यों से कोई वास्तविक समानता नहीं है। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि Antonius के उक्त ग्रन्थ और हर्षचरित में स्वरूप का रत्ती भर भी सादृश्य नहीं है। साथ ही इस तथ्य की उपेक्षा करना भी सर्वथा तर्कसंगत नहीं है कि जबकि ग्रीक गद्य-काव्यों में भारत का कोई भी उल्लेख नहीं है, कश्मीरी बृहत्कथा में, जो यवनों के वास्तुकला-सम्बन्धी कौशल से परिचित है, यवनों के अस्तित्व का और विशेषतः आकाश में उड़ने वाले विमानों के आविष्कार में उनकी दक्षता का उल्लेख है। बुधस्वामी ने ग्रीक शय्याओं के उपयोग को प्रमाणित किया है, और इससे यह सम्भावना होती है कि शायद मूल बृहत्कथा भी होशियार और दक्ष शिल्पियों के रूप में ग्रीक लोगों से परिचित थी[१]।

एल० एच० ग्रे (L. H. Gray)[२] ने भी परस्पर समाश्रित होने के किसी भी सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। उन्होंने अनेक सादृश्यों की ओर ध्यान आकृष्ट

१. Cf, Lacote, उसी ग्रन्थ में, p. 236. कम से कम दो शताब्दियों तक गन्धार में ग्रीक और यूरेशियन (Eurasian) आबादी के अस्तित्व (Foucher, *L'Art Gréco-Bouddhique du Gandhāra*, ii. 448 ff.) की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

२. वासवदत्ता, pp. 35 ff. Cf. G. N. Banerjee, *Hellenism in Ancient India* pp. 258 ff.

किया है, जैसे प्रेमियों के बीच आने जाने वाले पत्र, अतिविस्तृत विलाप, आत्म-हत्या की धमकियाँ, कहानी के भीतर कहानी, प्रकृति-वर्णन, व्यक्तियों के लम्बे-लम्बे वर्णन, पाण्डित्यपूर्ण उल्लेख और पूर्ववृत्तों के उद्धरण, यहाँ तक कि कष्टकर समास और 'alliteration', 'parisoi'[१], 'homoioteleuta' तथा अन्य शब्दालङ्कार जो संस्कृत अनुप्रास और यमक का स्मरण दिलाते हैं। किन्तु उनका यह साग्रह कहना है कि संस्कृत गद्यकाव्य का दुर्बलतम अंश उसका कथासूत्र अथवा उसके पात्रों के साहसिक वृत्त हैं; सारा ज़ोर अलङ्कारों, प्रकृति के सूक्ष्म वर्णनों, वीरता-पूर्ण कार्यों के तथा मानसिक, नैतिक और शारीरिक गुणों के अतिविस्तृत चित्रण पर है। इसके विपरीत, ग्रीक गद्यकाव्य में एक के बाद दूसरे असम्भाव्य साहसिक वृत्त का वर्णन ही प्रधान वस्तु है, रचना के उत्कर्ष-सम्पादन की प्रायः उपेक्षा की गई है तथा प्रकृति-वर्णन और प्रकृति में सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि की तो मूलतः अवज्ञा की गई है। Longus रचित *Poimenika* निश्चय ही उक्त अन्तिम कथन का अपवाद मानी जाती है, किन्तु Longus पर Theokritos, Bion और Moschos का प्रत्यक्ष प्रभाव है, जब कि संस्कृत गद्यकाव्य में पाया जाने वाला प्रकृति-प्रेम भारतीय भावना के अनुरूप है। स्पैनिश धूर्तों की रोमाञ्चक कथाओं से सादृश्य रखने वाले **दशकुमारचरित** की कोई भी वस्तुतः समानान्तर कृति ग्रीक गद्यकाव्यों में नहीं है, यद्यपि Petronius रचित *Satirae* से इसका कुछ सादृश्य अवश्य है।

ग्रे (Gray) ने *Euphues* नामक पुस्तक के रचयिता Lyly की और सुबन्धु की रचना-शैली के मध्य एक रोचक सादृश्य का वर्णन किया है। दोनों कथावस्तु के स्थान में रचना के स्वरूप पर सम्पूर्ण बल देते हैं, यद्यपि Lyly की कृति में एक उपदेशात्मक उद्देश्य निहित है जो सुबन्धु में नहीं पाया जाता। Lyly भारत में सुपरिचित एक कहानी के भीतर दूसरी कहानी के गर्भीकरण के उपाय का उपयोग करते हैं, जैसे Callimachus की कहानी में, जिसमें स्वयं साधु Cassander की कहानी सम्मिलित है। किं च, उनके श्लेष (Paronomasias), अनुप्रास (Alliterations), और 'वैसादृश्यप्रदर्शन' (Antitheses) तथा उनके विद्वत्तापूर्ण उल्लेख भारतीय पद्धति के साथ अत्यन्त समञ्जस हैं। यह उदाहरण इस बात का स्मरण दिलाने के लिए बहुमूल्य है कि उभय पक्ष द्वारा एक दूसरे से ग्रहण किये बिना भी सादृश्यों की उत्पत्ति हो सकती है।

६. हेक्सामीटर (Hexameter) और भारतीय छन्द

याकोबी (Jacobi)[२] द्वारा एक रोचक सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि

१. Cf. Aristotle, *Rhet.* iii. 10 ff.

२. *Festschrift Wackernagel*, pp. 127 ff.

अपभ्रंश के दोहा छन्द का विकास, जिसके साथ अलङ्कृत शैली के संस्कृत काव्य में प्रयुक्त दोधक छन्द की तुलना की जा सकती है क्योंकि दोनों ही छन्द रचना में सारतया मूलतः भगणात्मक (dactylic) हैं, ग्रीक हेक्सामीटर (hexameter) से दिखाया जाना चाहिए। दोहा दो हेंक्सामीटर छन्दों को एक पद्य में मिला कर फिर उसे सामान्य भारतीय पद्धति के अनुसार चार चरणों में विभाजित करने का परिणाम है। उनका तर्क यह है कि ग्रीको-वैक्ट्रियन (Greco-Bactrian) राजाओं के प्रभाव के काल में आभीर लोग गन्धार और उसके आसपास निवास करते थे, और उन्होंने अन्ततः एक भारतीय बोली में होमर (Homer) की कविताओं को भाषान्तरित करने की आवश्यकता का अनुभव किया होगा, जो Dio[1] के कथनानुसार ग्रीकों को अत्यन्त प्रिय थीं और अन्य अनेक ग्रीक-जाति-सम्बन्धी विशेषताओं के नष्ट हो जाने पर भी जिनका उनमें बहुत प्रचार था। इस प्रकार शिक्षित वर्गों के लिए किया गया होमर (Homer) का यह रूपान्तर सम्भवतः मूलग्रन्थ के छन्द में ही रहा होगा, और इस तरह से दोहा छन्द का विकास आभीरों के विशिष्ट छन्द के रूप में हुआ होगा और यह तब से अपभ्रंश काव्य में प्रचलित रहा होगा। इसका एक समानान्तर उदाहरण सेरामपुर के ईसाई मिशनरियों द्वारा बङ्गाल के गद्य-साहित्य पर डाले गये महान् प्रभाव में देखा जा सकता है।

याकोबी (Jacobi) का मत स्वभावतः Dio के इस कथन के प्रामाण्य पर आश्रित है कि भारतीयों के पास होमर (Homer) का एक अनुवाद विद्यमान था। इस बात को Aelian ने दुहराया है, जिसका फ़ारस के राजाओं के सम्बन्ध में भी यही कहना है, और जिसने सम्भवतः उसी स्रोत का उपयोग किया हो जिसका कि Dio ने किया था, यद्यपि यह भी सम्भव है कि उसने इस विषय में Dio का अनुकरण ही किया हो। सामान्य रूप से प्रचलित यह मत[2] ठीक हो सकता है कि होमर (Homer) की समानकोटिक भारतीय रचना महाभारत की ओर ही Dio का सङ्केत है, किन्तु इसे सिद्ध नहीं किया गया है। याकोबी (Jacobi) इस दृष्टान्त द्वारा अपने मत की पुष्टि करते हैं कि गान्धार कला के अभाव में भारत की परवर्ती मूर्तिकला से हम ग्रीक प्रभाव को कभी भी प्रदर्शित नहीं कर सकते; चिरस्थायी होने के कारण गान्धार कला

---

१. *Or.* liii.6. भारत में ग्रीक भाषा का जितना ज्ञान था, उसके परिमाण के सम्बन्ध में तुलना कीजिए Kennedy, JRAS. 1912, pp. 1012 ff.; 1913, pp. 122 ff.; 1917, pp. 228 ff.; Thomas, 1913, pp. 1014 f.

२. Weber, IS. ii. 161 ff.

ग्रीककला की शक्ति को प्रमाणित करने के लिए अवशिष्ट रह गई हैं; यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि भित्तिचित्रों के अभाव में, जो कभी गन्धार में प्रचुरता के साथ विद्यमान थे,[१] ग्रीक चित्रकला के प्रभाव का प्रमाण सम्भवतः लुप्त हो गया है। किन्तु Dio के उक्त कथन में कुछ आधार मान लेने पर भी यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि दोहा के लिए प्रस्तावित उत्पत्ति को सम्भाव्य भी मानना सम्भव प्रतीत नहीं होता। उसके भगणात्मक रूप (Dactylic form) की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या करना सरल है। तो भी, यह कह देना चाहिए कि मात्राओं के आधार पर एक भारत-यूरोपीयकालीन छन्द की कल्पना करन का ल्वायमन (Leumann)[२] का प्रयत्न, जिससे दोहा की उत्पत्ति हुई होगी, स्पष्टतः ही एक बुद्धिकौशलमात्र है, जो अत्यन्त अनिर्णायक साक्ष्य पर आधारित है।

१. Cf. Foucher, *L'Art Gréco-Bouddhique du Gandhāra*, ii. 402 f.

२. *Festschrift Wackernagel*, pp. 78 ff. और अन्यत्र। उनका ग्रन्थ साक्ष्य को तौल सकने में पूर्ण असफलता से तथा आलोचना का उत्तर देने की असमर्थता से दूषित है। उनकी पद्धति का आश्रय लेकर तो कोई भी बात सिद्ध की जा सकती है। Meillet और Weller के मत, (ZII. i. 115 ff.) जिनका उन्होंने खण्डन किया है, कहीं अधिक युक्तियुक्त हैं।

१०.

काव्यविषयक सिद्धान्त

१. काव्यविषयक सिद्धान्त का आरम्भ

भारतीय काव्य पर काव्यविषयक सिद्धान्तों[१] के प्रभाव को अतिरञ्जित करना और इस तथ्य की उपेक्षा करना बहुत सम्भव है कि अन्य देशों की भाँति भारत में भी कवियों ने ही उन आदर्श उदाहरणों को उपस्थित किया जिनके आधार पर सिद्धान्त का निर्माण हुआ, और अलङ्कार शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रभाव को अधिकाधिक महत्त्व केवल धीरे धीरे मिल पाया। यह कल्पना करना हास्यास्पद जैसा होगा कि कालिदास परिश्रमपूर्वक उन नियमों का पालन करने में प्रयत्नशील रहे होंगे, जो, जहाँ तक हमारा ज्ञान है, उनके समय में केवल निर्माण की अवस्था में थे, और जो नियत रूप से, जैसा कि हम अपने विद्यमान स्रोतों से देख सकते हैं, बराबर विवरण की और तत्तद् दृष्टि पर बल देने की स्पष्ट विभिन्नताओं के साथ रचे जा रहे थे। अलङ्कार-शास्त्र-सम्बन्धी अध्ययन के काल के विषय में हमारा ज्ञान नगण्य है, किन्तु यह तथ्य, कि पाणिनि नटसूत्रों को तो स्वीकार करते हैं किन्तु अलङ्कारसूत्रों का उल्लेख नहीं करते, निश्चय ही यह बतलाता है कि नाट्यशास्त्र का प्रादुर्भाव अलङ्कारशास्त्र के सामान्य निरूपण के पहले हुआ, यदि हम यह न भी मानें कि पाणिनि को किसी पूर्णतया विकसित नाट्यग्रन्थ का ज्ञान था। इससे यह बात मेल खाती है कि काश्यप और किसी वररुचि के प्रति अस्पष्ट उल्लेखों के और उपमाओं[१] पर विचार करने में यास्क के ज्ञान के अतिरिक्त हमें अलङ्कारशास्त्र के विषय में तब तक कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है जब तक कि यह **भारतीय नाट्यशास्त्र** के सोलहवें अध्याय में एक गौण विषय के रूप में प्राप्त नहीं होता। **भारतीय नाट्यशास्त्र** मूलतः नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है और अनुमानतः इसे भास और कालिदास से कुछ ही पहले का माना जा सकता है, यद्यपि इसकी तिथि के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। इस ग्रन्थ का, जो निस्संदेह पूर्ववर्ती कृतियों से संकलित है, सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत, इन आठ भेदों के साथ

---

१. देखिये S. K. Dé, *Sanskrit Poetics* (923·5); P. V. Kane, **साहित्य-दर्पण** (·1923); Hari Chand, *Kālidāsa et l'art poétique de l'Inde*, (1917); V. V. Sovani, *Bhandarkar Comm. Vol.*, pp. 387 ff.; Trivedi, pp. 401 ff.

१. **निरुक्त**, iii. 13; तुलना कीजिये पाणिनि, ii.1.55 f., 3.72.

रस के सिद्धान्त को विकसित किया गया है। रस नाट्य के प्रेक्षक अथवा कविता के श्रोता या पाठक के चित्त की एक विशिष्ट दशा है, जो पात्रगत भावों (emotions) द्वारा उत्पन्न की जाती है। भाव उन कारणों (विभावों) द्वारा उभाड़े जाते हैं जो या तो भाव के विषय होते हैं (आलम्बन विभाव), जैसे रति के सम्बन्ध में प्रिय व्यक्ति, या उसको उद्दीप्त करते हैं (उद्दीपन विभाव), जैसे वसन्त ऋतु। ये भाव भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यरूप अनुभावों में अपने को अभिव्यक्त करते हैं, और स्वयं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परस्पर एक दूसरे से मूलतः भिन्न हैं, जबकि रस, यद्यपि उनका विभाजन उनको अभिव्यक्त करने वाले भावों के आधार पर किया गया है, आस्वाद में मूलतः एकरूप हैं। रसास्वाद, जिसकी परवर्ती लेखकों ने अधिक स्पष्टरूप में परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, एक विशिष्ट प्रकार की विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्रीय भावना है, जिसकी तुलना परब्रह्म का साक्षात्कार कर सकने में समर्थ अन्तःकरण द्वारा उसके चिन्तनजन्य आनन्द से की जा सकती है।[१]

तथापि, नाट्यशास्त्रियों के विपरीत, **नाट्यशास्त्र** के इस पक्ष ने अलङ्कारशास्त्र के लेखकों का ध्यान अपनी ओर मुख्यरूपेण आकृष्ट नहीं किया है। अलङ्कारशास्त्र की उत्पत्ति भले ही नाट्यशास्त्र से स्वतन्त्र किसी अन्य स्रोत से न हुई हो, किन्तु उसका विकास नाट्यशास्त्र से भिन्न रूप में हुआ, और अलङ्कारशास्त्र के लेखक बहुत दिनों तक तो केवल नाट्यशास्त्र की ओर सङ्केतमात्र करके ही सन्तोष का अनुभव कर लेते थे। जैसा भी हो, अलङ्कारशास्त्र के लेखकों को आकृष्ट करने वाले विषय **नाट्यशास्त्र** में प्रारम्भिक रूप में विद्यमान हैं, किन्तु उनका रूप अविकसित नहीं है। **नाट्यशास्त्र** में चार अलङ्कार माने गये हैं; वे हैं उपमा, रूपक, **दीपक**, जिसमें मुख्यतः अनेक कारकों का एक क्रिया से या अनेक क्रियाओं का एक कारक से सम्बन्ध दिखाया जाता है, और **यमक**, जिसमें स्वरव्यञ्जन-समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति होती है। उसमें शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में अलङ्कारों का भेद नहीं किया गया है, और प्रारम्भिक काव्य के विषय में यह अर्थपूर्ण बात है कि यमक के तो दस भेद दिये गये हैं किन्तु उपमा के केवल पाँच ही दिये गये हैं। अलङ्कारशास्त्र के प्राचीन सम्प्रदाय में, जिसमें भट्टि, दण्डी, वामन, रुद्रट, और **अग्निपुराण** का अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्धित भाग सम्मिलित हैं, यमक का प्राधान्य बना रहता है। किन्तु भामह ने पहले से ही यमक के केवल पाँच ही भेद स्वीकृत किये हैं और आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने स्पष्ट कर दिया है कि यमक का कोई वास्तविक सौन्दर्यशास्त्रीय महत्त्व नहीं है, यद्यपि परवर्ती और पूर्ववर्ती काव्य में, उदाहरणार्थ **घटकर्पर** में, इसका खुले रूप में प्रयोग किया गया है और इसने अत्यानुप्रास या तुक का काम दिया है। पुनश्च, रसाभिव्यक्ति में अलङ्कारों

१. देखिये Keith, *Sanskrit Drama* (1924), pp. 314 ff.

की भाँति उपयोग में आने वाले दस गुण और दस दोष दिये गये हैं। अलङ्कारशास्त्र के आरम्भिककाल के लिए यह स्वाभाविक बात है कि दोषों की तो भावात्मक परिभाषा दी गई है और गुणों को दोषों का अभाव रूप बतलाया गया है, जबकि वास्तव में इस प्रकार इन दोनों सूचियों का सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव है। किं च, गुण दोष की सूचियों के विवरण अस्पष्ट हैं, और अलङ्कारशास्त्र के परवर्ती लेखकों और नाट्यशास्त्र के टीकाकारों इन दोनों ने उनकी भिन्न भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। एक मत में[1] दोष निम्नलिखित हैं: **अपार्थ** (समुदायार्थ का अभाव); **व्यर्थ** (पूर्वापर अर्थ की असङ्गति); **एकार्थ** (अर्थ की पुनरुक्ति); **ससंशय** (वचनों का संशयजनकत्व); **अपक्रम** (यथोपदेश क्रम का विपर्यास); **शब्दहीन** (व्याकरण की अशद्धियाँ); **यतिभ्रष्ट** (यतिभङ्ग); **भिन्नवृत्त** (गुरु अथवा लघु अक्षरों का छन्द में अशुद्ध प्रयोग); **विसन्धि** (सन्धि के नियमों का भङ्ग); और **देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि** (देश, काल, कला, लोक, न्याय और आगम सम्बन्धी विरोध)। गुण अधोलिखित हैं: **श्लेष** (सम्भवतः ध्वनितार्थ के अर्थ में); **प्रसाद** (स्पष्टता); **समता** (समत्व, जिसमें अर्थावगति की सरलता सन्निहित है; **समाधि** (अर्थ में किसी विशिष्ट धर्म का आरोप); **माधुर्य** (मधुरता); **ओजस्** (वर्णों की उपयुक्त शृंखला को ध्यान में रखते हुए समासों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली शक्ति); **सौकुमार्य** (सुकुमारता, जो श्रुतिमधुर छन्दों और अनिष्ठुर वर्णों के संयोग से उत्पन्न होती है); **अर्थव्यक्ति** (अर्थ की स्फुटता); **उदार** (विषय और रस का उत्कर्ष); और **कान्ति** (चित्त को प्रसन्न करने वाली सुन्दरता)।

नाट्यशास्त्र के पश्चात् हुए विकास के विषय में हमें कोई भी निश्चित जानकारी नहीं है, और हम विकास की उन अवस्थाओं का केवल अनुमान ही लगा सकते हैं जिनसे नय नये अलङ्कारों की कल्पना की गई। यदि हम भामह के वर्णन को ऐतिहासिक रूप में अपना सहायक मान सकें—जो उस लेखक द्वारा किसी भी प्रकार अप्रस्तावित एक कोरी कल्पनामात्र है—तो हम यह मान सकते हैं[2] कि इस दिशा में प्रथम उपक्रम अनुप्रास का यमक से भेद करना था; अनुप्रास में केवल एक-एक व्यञ्जन की आवृत्ति होती है और यमक में स्वरव्यञ्जन-समुदाय की। किन्तु भामह द्वारा अनुप्रासादि पाँच अलङ्कारों के इस वर्ग के पश्चात् आक्षेपादि छः अलङ्कारों के एक अन्य वर्ग के उल्लेख किये जाने से किसी कालक्रम-सम्बन्धी परिणाम का निकालना कहीं अधिक सन्देहास्पद है, और सम्भवतः प्रारम्भिक अवस्था में जितनी जटिलता सोची जा सकती है, उससे स्वयं ये अलङ्कार

१. भामह, iv. न्यायदोषों को पञ्चम परिच्छेद में बताया गया है। भरत की सूची के लिए देखिए xvi. 84 ff.

१. Jacobi, SBA. 1922, pp. 220 ff.

कहीं अधिक जटिल हैं। वे हैं : **आक्षेप** (विशष की अभिधित्सा से इष्ट का प्रतिषेध); **अर्थान्तरन्यास** (किसी कथन को सिद्ध करने के लिए किसी उदाहरण अथवा सिद्धान्त का उपन्यास); **व्यतिरेक** (उपमेय का आधिक्यप्रदर्शन); **विभावना** (प्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति); **समासोक्ति** (समान विशषणों से अप्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति); और **अतिशयोक्ति** (सनिमित्तक लोकातिक्रान्त-गोचर वचन)। सम्भवतः वार्ता* अलङ्कार के भी इसी काल से सम्बन्ध होने का सङ्केत किया गया है, जिसको साधारणतया स्वीकृत नहीं किया गया है, यद्यपि कदाचित्[1] दण्डी ने इसे एक प्रकार का हेतु माना है। इस सम्पूर्ण स्थापना में हमारा विश्वास बिलकुल डगमगा जाता है जब हम यह पाते हैं कि **यथासंख्य, उत्प्रेक्षा** और **स्वभावोक्ति** इन तीन नये अलङ्कारों का सम्बन्ध विकास के तीसरे काल के साथ बतलाया जाता है, और यह कि भामह के ग्रन्थ में चौवीस जैसी बड़ी संख्या में दिये हुए अन्य अलङ्कारों को विकास के चौथे काल में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः स्पष्ट बात तो यह है कि **भट्टिकाव्य**[2], दण्डी और भामह, इन सबके सामने एक बड़ी संख्या में अलङ्कार विद्यमान थे, जिनके सम्बन्ध में उन्होंने अंशतः भिन्न भिन्न प्रकार से विवेचन किया है, उदाहरणार्थ भामह ने दण्डी द्वारा स्वीकृत हेतु, सूक्ष्म और लेश अलङ्कारों में अलङ्कारत्व के आधार का ही निरसन किया है। भट्टि के विरुद्ध दण्डी और भामह द्वारा एक सामान्य स्रोत का उपयोग किये जाने की बात को सिद्ध करना हमारे बस के बाहर है, और उत्प्रेक्षा को मेधावी द्वारा आविष्कृत बतलाना बिलकुल अप्रामाणिक है।

२. अलङ्कारशास्त्र के प्रारम्भिक सम्प्रदाय

जैसा कि भारतीय शास्त्रीय साहित्य के विषय में प्रायेण देखा जाता है, दण्डी में हमें एक ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थकार के दर्शन होते हैं जिसने अपने ग्रन्थ में

---

* स्पष्टतः यहाँ कीथ महाशय को भामह के मत के सम्बन्ध में भ्रम है। दे०

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

(भामहकृत काव्यालङ्कार २।८७) यहाँ दण्डी के हेतु अलङ्कार के इस उदाहरण (काव्यादर्श २।२४४) में भामह काव्यत्व ही नहीं मानते, और इसे केवल वार्ता (=साधारण बातचीत) बतलाते हैं। उन्होंने वार्ता को कोई अलङ्कार-विशेष नहीं माना है। (मं० दे० शास्त्री)

१. यदि Jacobi का **काव्यादर्श** २।२४४ में वार्ता का उल्लेख मानना ठीक है।

२. दशम सर्ग के सम्बन्ध में *Muséon*, में xxxvii में Nobel से तुलना कीजिये

अनेक ऐसे पूर्ववर्ती लेखकों का खुले रूप से उपयोग किया है जिनके ग्रन्थ खो चुके हैं, और इसलिए जो हमारे समक्ष एक पूर्णतया विकसित और विस्तृत सिद्धान्त उपस्थित करता है। दण्डी निश्चय ही **दशकुमारचरित** के प्रणेता थे और भामह के साथ उनके सम्बन्ध का प्रखरता के साथ विवेचन किया गया है।[1] इस विषय में निर्णय की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि दोनों ही लेखक एक दूसरे के मत पर आक्षेप करते हुए दिखलाये जा सकते हैं; किन्तु निश्चय रूप से यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई भी प्रमाण नहीं है कि वे आपस में से एक के किसी पूर्ववर्ती लेखक द्वारा अभिव्यक्त विचारों के सम्बन्ध में विवेचन नहीं कर रहे हैं, जैसा कि भामह के विषय में हम निश्चत रूप से जानते हैं कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में मेधावी का उपयोग किया था,[2] जिन्होने दण्डी द्वारा खण्डित मतों के सदृश ही अपने मत व्यक्त किये होंगे। तो भी, सामान्यतः इस बात की सम्भावना है कि भामह दण्डी से परिचित थे, जबकि दण्डी ने उनका उपयोग नहीं किया, और इससे दण्डी के प्रायः कम परिष्कृत विचारों की सङ्गति भी बैठ जाती है, जैसे उनका बत्तीस प्रकार की उपमाओं को गिनाना, जिनको घटा कर भामह ने चार कर दिया है। कथा और आख्यायिका के बीच दण्डी द्वारा भेद की अस्वीकृति पूर्णतया युक्तियुक्त प्रतीत होती है, जबकि इस भेद के पक्ष में भामह द्वारा किया गया समर्थन विशेषतः दण्डी के विरुद्ध किया गया मालम देता है। यह भी उल्लेखनीय बात है कि दण्डी भामह द्वारा अपने विचारों की व्याख्या करने के लिए उपस्थापित अनेक पद्यों में से एक पर भी कभी ध्यान नहीं देते। वस्तुतः इस बात का अधिक महत्त्व नहीं है, क्यों कि किसी भी अवस्था में यह कल्पना नहीं की जाती कि दण्डी भामह के बहुत पीछे हुए थे, जिन्होंने उद्योतकर (लगभग ६५० ई०) की रचनाओं का निश्चय ही उपयोग किया था और जो सम्भवतः जिनेन्द्रबुद्धि (लगभग ७०० ई०) के न्यास से भी परिचित थे। **दशकुमारचरित**-सम्बन्धी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, जो यह व्यक्त करता है कि उसका रचनाकाल सुबन्धु और बाण से पूर्व का है, हम दण्डी को, सामान्यतः, भामह से कुछ पीढ़ियों पहले मान सकते हैं।

दण्डी ने काव्य को शरीर का रूपक बाँध कर उसके माध्यम से देखा है। उनके

---

१. Kane, **साहित्यदर्पण** (1923), pp. xxv ff.; M. T. Narasimhiengar, JRAS. 1905, pp. 535 ff.; पाठक, JBRAS. xxiii. 19; IA. xli. 236 ff., त्रिवेदी, IA. xlii. 258 ff. R.; के विरुद्ध भामह की परवर्तिता का समर्थन करते हैं, Narasimhachar. IA. xli. 90 ff.; xlii. 205; Nobel, ZDMG. lxxiii. 190 ff.; Hari Chand, **कालिदास**, pp. 70 ff.; Jacobi, उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ।

१. ii. 40, 88; मेधाविरुद्र, रुद्रट, xi. 24 पर नमि की टीका। तु० **काव्यमीमांसा**, पृ० १२।

अनुसार काव्य का शरीर इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली है, और वह शरीर अलङ्कार-युक्त होता है; 'अलङ्कार' इस शब्द का प्रयोग यहाँ अत्यधिक साधारण अर्थ में किया गया है, और मानव शरीर को सजाने वाले अलङ्कारों की भाँति जो कोई भी वस्तु काव्य को सौन्दर्य प्रदान करे उसे अलङ्कार के अन्तर्गत माना जा सकता है। काव्य पद्य या गद्य में, या उन दोनों के मिश्रण में, लिखा जा सकता है जैसे नाट्य और चम्पू; अलङ्कारशास्त्र का कोई भी भारतीय लेखक पद्य को काव्य का आवश्यक उपादान मानने की भूल नहीं करता। वास्तव में, यह इस वात का स्वाभाविक फल था कि धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, खगोल और फलित ज्योतिष, व्याकरण और दर्शन—इन सबकी रचना पद्यों में की गई थी, अतः वाह्य रूप स्पष्टतः ही विज्ञान-साहित्य और काव्य-साहित्य के वीच कोई कसौटी नहीं हो सकता था। काव्य के पद्यात्मक रूपों में दण्डी ने सर्गबन्ध अथवा महाकाव्य को गिनाया है, जिसकी विशेषताएँ हम पहले ही देख चुके हैं; अन्य रूप हैं : मुक्तक (एकाकी पद्य); कुलक (पाँच पद्यों तक के समूह); कोश (विविध लेखकों के परस्पर असम्बद्ध पद्य); संघात (एक ही लेखक के तत्सदृश पद्य)। गद्य-काव्य के तीन भेदों का उन्होंने उल्लेख किया है : कथा, आख्यायिका और चम्पू। कथा और आख्यायिका के वीच भेद को उन्होंने प्रचलित स्वीकार किया है, किन्तु यह कह कर उसका खण्डन कर दिया है कि यह भेद विलकुल कृत्रिम है और व्यवहार के अनुरूप भी नहीं है। काव्य-रचना में विभिन्न भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और इन सवके मिश्रण—के प्रयोग को स्वीकार किया गया है। संस्कृत का प्रयोग महाकाव्य में, प्राकृत का स्कन्धक छन्द में लिखे गये काव्यों में, अपभ्रंश का आसार में, और इन सबके मिश्रण का प्रयोग नाटक में देखा जाता है।[1] दण्डी ने श्रव्य और दृश्य-काव्य का भी भेद किया है, किन्तु दृश्य काव्य पर विचार के लिए उन्होंने नाट्य कला पर लिखे गये ग्रन्थों को देखने को कहा है।

गुणों के सिद्धान्त का नये रूप में उपस्थान विशेष रोचक है। यह स्पष्ट है कि दण्डी के पूर्व काव्य-मार्ग का सिद्धान्त विकसित हो चुका था, और, जैसा कि हम देख चुके हैं, वाण ने चार काव्य-मार्गों का उल्लेख किया है। दण्डी दो काव्य-मार्गों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि उनके अवान्तर भेद तो असंख्य हैं। उन्होंने उन दोनों मार्गों को वैदर्भ और गौड के रूप में एक दूसरे के विपरीत स्थापित किया है। इनमें से प्रथम दाक्षिणात्य मार्ग है और द्वितीय प्राच्य है, और इन दोनों के भेदक चिह्न यह हैं कि प्रथम मार्ग में दसों गुण विद्यमान

१. दण्डी ने इन शब्दों का अर्थ नहीं दिया है; इनका अर्थ सन्दिग्ध है; अन्तिम एक ही छन्द में रचित काव्यों की संज्ञा हो सकती है। इसके स्थान में ओसर भी एक पाठान्तर है।

रहते हैं, जिनको प्राय: द्वितीय मार्ग स्वीकार नहीं करता। दण्डी के ग्रन्थ से यह स्पष्टतया पता लगता है कि ये भेद उनके अपने किये हुए नहीं हैं और उनके वर्णनों से यत्र तत्र यह संकेत मिलता है कि उनको स्वयं अर्थ के विषय में सन्देह है, जिसको टीकाकार पारस्परिक मत-वैविध्य से और भी बढ़ा देते हैं। एक गुण वस्तुत: गौडीयों को भी अभीष्ट बताया गया है, और वह है अर्थव्यक्ति; यदि उदधि को लोहित (लाल) बताया जाय तो उसमें 'उरगासृजः' (सर्पों के रुधिर से) के अध्याहार की आकांक्षा बनी रहेगी। किन्तु प्रसाद गुण, जिसका सम्बन्ध शब्दों का उनके स्वाभाविक रूप में प्रयोग करने से है, गौडीयों को आकर्षक नहीं लगता; वे इस प्रकार की पदावली पसन्द करते हैं—'यथा **अनत्यर्जुनाब्जन्मसदृशाङ्को बलक्षगुः**, 'धवल किरणों वाला (चन्द्रमा) अनति-धवल अब्जन्मों (कमलों) के सदृश कलङ्क से युक्त है'। गौड मत में अनतिरूढ शब्दों को व्युत्पन्न होने पर क्षम्य माना जाता है। उदारत्व का अर्थ है वाक्य में एक विशिष्ट गुण की उपस्थिति जो शैली को उत्कर्ष प्रदान कर सके, यथा निम्न पद्य में :

> अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत् ।
> तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥

'हे देव, याचकों की दीन दृष्टि एक बार आपके मुख पर पड़ने के बाद उस अवस्था में फिर किसी दूसरे का मुख नहीं देखती।' स्वयं दण्डी द्वारा दी गई दूसरी व्याख्या के अनुसार उदारत्व गुण लीलाम्बुज, क्रीडासरस्, हेमाङ्गद आदि श्लाघ्य विशेषणों के प्रयोग का फल है। कान्ति, गौड मार्ग की अत्युक्ति के विपरीत, उस सौन्दर्य की शोभा है जिसका प्राकृतिक या लौकिक अर्थ से सामञ्जस्य रहता है; दोनों मार्गों का विरोध बड़ी स्पष्टता के साथ दिखाया गया है : वैदर्भ का अधोलिखित उदाहरण है :

> अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः ।
> अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥

'हे निर्दोष अङ्गों वाली सुन्दरि ! तुम्हारी भुजलताओं के बीच में इन दोनों बढ़ते हुए स्तनों के लिए स्थान पर्याप्त नहीं है।' गौड मार्ग में अत्युक्ति का आश्रय लिया जाता है :

> अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।
> इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥

'आपके स्तनों की यह वृद्धि इस प्रकार की होगी, यह बिना विचार किये ही विधाता ने आकाश को छोटा बना दिया।' समाधि का अर्थ है अप्रकृत के धर्म का प्रकृत में आरोप, और दण्डी ने यह दिखाया है कि किस प्रकार निष्ठ्यूत, उद्गीर्ण और वान्त जैसे सामान्यत: अश्लील शब्दों का भी गौण वृत्ति के आश्रय से प्रयोग किया जा सकता है।

उपर्युक्त पाँच गुण स्पष्ट रूप से मूलतः अर्थ से सम्बन्धित हैं। छठे गुण, माधुर्य, का लक्षण रसवत्ता (रस से युक्त होना) किया गया है। अन्य विद्वानों के साथ ब्यूहलर (Buhler) ने यहाँ रस से शृङ्गारादि रसों का अर्थ लिया है, किन्तु शृङ्गारादि के स्थान में यहाँ रस शब्द रोचकता अथवा आस्वाद्यमानता का ही वाचक है। माधुर्य गुण का अर्थ और शब्द दोनों से सम्बन्ध है, क्योंकि इसमें अश्लील भावों को अभिव्यक्त करने वाली पदावली के प्रयोग का निषेध है, और यह भी आवश्यक है कि प्रेम का उल्लेख भली प्रकार अवगुण्ठित शब्दावली में किया जाय। साथ ही वर्णों के रसावह विन्यास से भी इसका संबन्ध है, और इस विषय में दोनों मार्गों में भेद है, क्योंकि वैदर्भ में श्रुति में समान लगने वाली पदासत्ति पसन्द की जाती है, जबकि गौड में व्यवधानरहित अनुप्रास का अधिक स्पष्ट और सस्वन कौशल अधिक अच्छा समझा जाता है। वैदर्भ में सुकुमारता की भी आवश्यकता होती है, जिसका अर्थ है अनिष्ठुर अक्षरों का प्रयोग, जबकि गौडियों द्वारा अभिव्यक्त रस के अनुकूल पड़ने वाले कृच्छोद्य (कठिनाई से उच्चरित होने वाले) वर्णों का प्रयोग पसन्द किया जाता है। इस प्रकार वैदर्भ का निम्नलिखित श्रुतिमधुर उदाहरण है, भले ही उसका अर्थ उपेक्षणीय हो :

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥

'मेघों की माला वाले काल में मयूर अपने बर्हों को फैला कर, कण्ठों से मधुर गान करते हुए नाच रहे हैं।' इसकी गौड मार्ग की दीप्त उक्ति से तुलना कीजिए :

न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति ।

'परशुराम द्वारा क्षण भर में ही क्षत्रियों का समूह नष्ट कर दिया गया।' समता गुण के विषय में भी मतभेद है : वैदर्भ मार्ग में, मृदु, स्फुट (तीव्र) और मध्यम (उभयात्मक) बन्ध पसन्द किये जाते हैं; किन्तु गौडीय कवि वैषम्य को बुरा नहीं मानते, और यह स्वीकार करते हैं कि अर्थ और अलङ्कार दोनों के उत्कर्ष अथवा आडम्बर (अर्थालङ्काराडम्बर) को उद्दिष्ट कर लिखी गई कविता ने यश प्राप्त किया है। वैदर्भ मार्ग के कवि श्लिष्ट गुण (स्थायित्व)[1] को भी पसन्द करते हैं, जिसका अर्थ है अस्पृष्ट-शैथिल्य अर्थात् सुगमता से उच्चरित होने वाले अक्षरों से रचित बन्ध, किन्तु गौडीय कवि अनुप्रासयुक्त होने पर उक्त दोष की परवाह नहीं करते; उदाहरणार्थ, मालतीमाला और उसके अनुगामी भ्रमरों का सामान्य विचार व्यक्त करने के लिए वैदर्भमार्गीय कवि कहते हैं : मालतीदाम लङ्घितं

१. i. 43 में यही अर्थ सब से अच्छा प्रतीत होता है; Nobel की *Indian Poetry*, p. 107, n. 12 में Lüders.

भ्रमरैः, और गौडीय कवि कहते हैं : मालतीमाला लोलालिकलिला । अन्त में, दोनों मार्गों को ओजस् प्रिय है, जो दीर्घ समासों अथवा समासों की बहुलता में रहता है । गौड मत में यह गद्य और पद्य दोनों में अभीष्ट है, किन्तु वैदर्भ मार्ग में इसका केवल गद्य में प्रयोग किया जाता है, यद्यपि छोटे छोटे शब्दों के समास से उत्पन्न ओजोगुण को वैदर्भमार्गीय भी स्पष्टतः पद्य में स्वीकार कर लेते हैं, यथा निम्न पद्य में :

पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका ।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति ॥

'मेघरूपी स्तनतट के उत्सङ्ग में लगे हुए सन्ध्यातपरूपी वस्त्र वाली पश्चिम दिशा किसके चित्त को कामातुर न कर देगी ।' दण्डी ने यह स्वीकार किया है कि गुरु और लघु अक्षरों के मिश्रण से बहुत प्रकार के समास बन सकते हैं ।

दण्डी का यह आग्रहपूर्वक कथन है कि जिस प्रभावोत्पादक काव्य की उन्होंने प्रशंसा की है उसके निर्माण के लिए पूर्वजन्मों में उपार्जित संस्कारों से उत्पन्न होने वाली नैसर्गिक प्रतिभा, बहुत अध्ययन, और अत्यन्त अभियोग आवश्यक हैं । यदि इनमें से प्रथम आवश्यक तत्त्व, प्रतिभा, अनुपलभ्य है, तो उन्होंने अन्तिम दो, अध्ययन और अभियोग, पर ध्यान केन्द्रित करने को बताया है । तत्पश्चात् काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में वे काव्य के शोभाकर धर्मों के रूप में अलङ्कारों का लक्षण करते हैं । इनमें से कुछ अलङ्कार मार्गभेद पर विचार करते समय पहले ही कह दिये गये हैं, जबकि दोनों मार्गों के लिए साधारण अलङ्कारों को द्वितीय एवं तृतीय परिच्छेद में गिनाया गया है । अर्थालङ्कारों का निरूपण शब्दालङ्कारों के पहले किया गया है, और हमारे दृष्टिकोण से शब्दालङ्कारों के निरूपण का विस्तार उपहसनीय है । दण्डी के विचारों की प्रारम्भिक अवस्था इस बात से सूचित होती है कि वे गुण और अलङ्कार में भेद करने में असफल रहे हैं और केवल साधारण-सी बातों के अतिरिक्त उन्होंने अलङ्कारों के काव्यात्मक प्रभाव की व्याख्या करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया है । उनके पास अलङ्कारों के वर्गीकरण की कोई योजना भी नहीं है, और यह देख कर हम कुछ चौंक उठते हैं कि अलङ्कार के रूप में उन्होंने स्वभावोक्ति (कवि द्वारा किसी वस्तु का यथादृष्ट रूप में स्वाभाविक वर्णन) को सबसे पहले स्थान दिया है । यह अलङ्कार एक बिलकुल विशिष्ट प्रकार का है, क्योंकि इसका अवशिष्ट समस्त अर्थालङ्कारों के विरोधी रूप में वर्गीकरण किया गया है, जो वक्रोक्ति के अन्तर्गत वर्गीकृत हैं । इस भेद का अर्थ यही होना चाहिए कि स्वभावोक्ति में कवि अपने सूक्ष्मेक्षण द्वारा किसी वस्तु के सार का साक्षात्कार कर लेता है—यहां 'वस्तु' शब्द का प्रयोग अत्यधिक व्यापक अर्थ में है, चाहे वह द्रव्य, जाति, गुण अथवा क्रिया कुछ भी हो—और उसको सरल भाषा में उप-

स्थापित कर देता है : वक्रोक्ति में उसका वर्णन आवश्यक रूप से विशिष्ट अन्तः-स्फूर्ति के साथ नहीं होता, अपि तु आलङ्कारिक भाषा के साथ होता है। दण्डी ने, गुणों के अपने वर्णन में, कवि के लिए रूपक के प्रयोग के सर्वोच्च महत्त्व के विषय में पहले ही आग्रह किया है।

अलङ्कारों की उनकी वास्तविक सूची[1] में एक विचित्र प्रकार का सम्मिश्रण ह, जिसमें बहुत से ऐसे हैं जिनको विशिष्ट प्रकार के अलङ्कारों में नहीं गिना जाना चाहिए, और साथ ही ऐसे भी अलङ्कार हैं जिनका उस प्रकार से निर्देश अधिक स्वाभाविक है। उनके क्रम से हमें बत्तीस प्रकार की उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति (प्रयुक्त अर्थ की पुनरावृत्ति, यथा दीपक के आपाततः विपरीत, अभिन्नार्थक चार भिन्न भिन्न क्रियाओं की पुनरावृत्ति), आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, और तदनन्तर भामह द्वारा खण्डन किये गये तीन अलङ्कार, हेतु, सूक्ष्म और लेश, प्राप्त होते हैं। हेतु कारणता द्योतित करता है, सूक्ष्म में चतुरतापूर्ण इंगित अथवा आकार से कोई अर्थ सूचित किया जाता है, और लेश में लेशतः निर्भिन्न वस्तु के रूप का निगूहन किया जाता है; किन्तु दण्डी ने लेश की एक अन्य परिभाषा भी दी है, वह है निन्दा अथवा स्तुति। तदनन्तर आते हैं : क्रम (यथासंख्य); प्रेयस् (आनन्द की अभिव्यक्ति, प्रियतर आख्यान); रसवत् (रसों में से किसी एक या दूसरे की अभिव्यक्ति); ऊर्जस्विन् (अहङ्कार की अभिव्यक्ति); पर्यायोक्त (साक्षात् न कहे जा सकने वाले इष्टार्थ का प्रकारान्तर से अभिधान); समाहित (स्वोद्देश्य में सहायता पहुँचाने वाले किसी साधन का अकस्मात् संयोग); उदात्त (किसी उदात्त अथवा उत्कृष्ट वस्तु का वर्णन); अपह्नुति (प्रकृतार्थ को अधिक दृढतापूर्वक स्थापित करने के उद्देश्य से उसका आपाततः अपह्नव या अपलाप); श्लेष (अनेकार्थक वचन); विशेषोक्ति (विशेष की उक्ति के लिए गुण, जाति, क्रिया इत्यादि का वैकल्य-प्रतिपादन); तुल्ययोगिता (सदृश वस्तुओं का समीकरण); विरोध (आपाततः प्रतीयमान विरोध); अप्रस्तुतस्तोत्र (अप्रस्तुतप्रशंसा); व्याजस्तुति (निन्दा के रूप में प्रच्छन्न स्तुति); निदर्शन (सदृश फल की ओर निर्देश); सहोक्ति (दो वस्तुओं के साथ साथ होने का कथन); परिवृत्ति (पदार्थों का विनिमय);

१. तु० Kane, साहित्यदर्पण, pp. 1 ff. Nobel (*Beitr. z. ält. Gesch. d. Alaṁkāraśāstra* (1911); ZDMG. lxvi. 283 ff.; lxvii. 1 ff.; lxxii. 189) ने कुछ अलङ्कारों पर विचार किया है, किन्तु वह सदा सन्तोषजनक नहीं है; भामह को कालिदास का पूर्ववर्ती मानने की उनकी इच्छा उन्हें मेघदूत के प्रति भामह के स्पष्ट सङ्केत को अस्वीकार करने के लिये प्रेरित करती है (*Indian Poetry*, p. 15), यद्यपि वे समझते हैं कि कालिदास वस्तुतः अधिक प्राचीन थे।

आशिस् (आशीर्वाद); संकीर्ण (नाना अलंकारों की संसृष्टि); और भाविक। भाविक सम्पूर्ण प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाला गुण है और कवि के अभिप्राय और उसके भाव को अभिव्यक्त करता है; यह अपने को ग्रन्थ की समाप्ति-पर्यन्त इतिवृत्त के विभिन्न पर्वो के परस्परोपकारित्व में, व्यर्थ विशेषणों के अप्रयोग में, वस्तुओं का यथास्थान वर्णन करने में, और व्यवस्थित अभिव्यक्ति का ध्यान रखते हुए गम्भीर वस्तु के भी प्रकाशन में प्रकट करता है। हम देख सकते हैं कि यदि दण्डी को क्रम का कोई विचार होता तो यह गुण स्वभावोक्ति के साथ संयुक्त कर दिया जाना चाहिए था; हम Aristotle[1] की energeia की तुलना कर सकते हैं। इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि दण्डी स्पष्ट रूप से कुछ लेखकों के मत का उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक अलङ्कार में अतिशयोक्ति गर्भित रहनी चाहिए, और उन्होंने स्वयं यह प्रतिपादित किया है कि वक्रोक्ति के प्रत्येक रूप में श्लेष का प्रयोग शोभा को बढ़ाता है; इस प्रकार उन्होंने सुबन्धु और बाण की प्रवृत्ति का तथा **दशकुमारचरित** में अपने कुछ कम अमर्यादित कार्य का भी समर्थन किया है।

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में यमक-सिद्धान्त का बड़े विस्तार के साथ विकास किया गया है; तदनन्तर केवल एक व्यञ्जनः 'न' से बना हुआ पद्य प्राप्त होता है; तब प्रहेलिकाएँ आती हैं और अन्त में काव्य के दस दोषों का वर्णन है, जो बहुत कुछ **नाट्यशास्त्र** से मिलता जुलता है। किन्तु इस परिच्छेद में वस्तुतः मूल्यवान् कुछ भी नहीं है।

दण्डी के सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि और पूर्णता वामन[2] के सिद्धान्तों म उपलब्ध होती है, जिनको निश्चय ही आठवीं शताब्दी के अन्त में[3] रखा जाना चाहिए। वामन में हमें एक नवीन विचार का प्रादुर्भाव प्राप्त होता है और वह है काव्य के केवल शरीर के विपरीत उसकी आत्मा का विचार। दण्डी और भामह, दोनों के परवर्ती होने के कारण, काव्य के स्वरूप के विषय में वामन का विचार अधिक परिपक्व है; केवल शब्द और अर्थ ही काव्य नहीं है, किन्तु साथ ही गुणों और अलङ्कारों का होना भी आवश्यक है। दण्डी में प्राप्त होने वाले समस्त तत्त्वों को उन्होंने रीति के सिद्धान्त पर आधारित एक योजना

---

१. *Rhet.* iii. 10, 16. Metaphor पर तु० परिच्छेद २।

२. वृत्ति के साथ **काव्यालङ्कार**, ed. KM. 15, 1895; वाणीविलास प्रेस, 1909; trans. G. Jhā, IT. iii and iv.

३. कश्मीर के जयापीड के मन्त्री (779-813); Jacobi, ZDMG, lxiv. 138 f.

में यथास्थान सन्निविष्ट करने का प्रयत्न किया है; शैली के लिए 'रीति' एक नया शब्द है। काव्य की आत्मा रीति है, जो एक विशिष्ट पदरचना है; इसमें 'विशिष्ट' पद विद्यमान गुणों के आधार पर रीतियों के भेद की ओर सङ्केत करता है। गुण काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म हैं, जब कि अलङ्कारों को उस शोभा का अतिशय करने वाली वस्तुओं की श्रेणी में रखा गया है। वामन ने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली, ये तीन प्रकार की रीतियाँ मानी हैं; इनका यह नामकरण इसलिए है क्योंकि ये तत्तत्-स्थानीय कवियों में पाई जाती हैं, किन्तु स्थानीय कारणों से इस नामकरण का कोई सम्बन्ध नहीं है। वैदर्भी सर्वोत्तम रीति है और उसमें समस्त गुण विद्यमान रहते हैं। गौडी कान्ति और ओजस् गुणों से युक्त रहती है, जिसका अर्थ यहाँ दीर्घ समासों की बहुलता और अत्युल्वणपदत्व समझा जाता है; इस बात को भवभूति के एक प्रसिद्ध पद्य द्वारा प्रदर्शित किया गया है। पाञ्चाली में पुराणों की शैली के समान माधुर्य और सौकुमार्य रहता है। वैदर्भी के योग पर बलपूर्वक आग्रह किया गया है, और अन्य दो रीतियों को हतोत्साहित किया गया है, तथा शुद्ध वैदर्भी की स्पष्टतया प्रशंसा की गई है, जिसमें समासों का बिलकुल प्रयोग नहीं होता और इस प्रकार अर्थ-सम्बन्धी गुणों को प्रकाश में आने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वामन में गुणों को शब्दगुणों और अर्थगुणों के रूप में पुनः व्यवस्थित किया गया है, जिसमें प्रत्येक गुण के दो पक्ष हैं। जहाँ तक स्पष्टता का सम्बन्ध है, इसका फल सर्वथा असन्तोषजनक है, और यह व्यवस्था असुविधाजनक भी है क्योंकि इसमें दण्डी के काव्यादर्श में स्थापित शब्दों के सामान्य प्रयोग से दूर हट जाना पड़ता है। कान्ति गुण के अन्तर्गत वामन ने दीप्तरसत्व को सम्मिलित किया है, जिसको दण्डी ने प्रेयस्, रसवत् और ऊर्जस्विन् अलङ्कारों, तथा सम्भवतः माधुर्य गुण के अन्तर्गत रखा है, जब कि उनका अर्थव्यक्ति गुण दण्डी की स्वभावोक्ति को अन्तर्निविष्ट कर लेता है,। गुणों के अन्तर्गत ही बेतुके अलङ्कार भाविक को भी स्थान मिल गया है, जिसकी दण्डी के मत में बेढङ्गी स्थिति को दिखलाया जा चुका है।

वामन का अलङ्कार-निरूपण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि काव्य-तत्त्वों के रूप में उन्होंने अलङ्कारों के महत्त्व को कम कर दिया है; आवश्यक तत्त्व गुण हैं, अलङ्कार नहीं; अलङ्कारों का सम्बन्ध काव्य की आत्मा, रीति, की अपेक्षा काव्य के शरीर, शब्द और अर्थ, से होता है। पुनः, उनका यह आग्रह है कि सारे अलङ्कार उपमा के ही प्रपञ्च हैं, और इस फल की उपलब्धि के लिए उन्हें उदात्त, पर्यायोक्त, और सूक्ष्म जैसे उपर्युक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त और भी अनेक अलङ्कार छोड़ देने पड़े हैं, जब कि अन्य अलङ्कारों का उन्होंने भिन्नतया लक्षण कर दिया है; वक्रोक्ति को

उन्होंने एक विशेष प्रकार की लाक्षणिक उक्ति माना है, दण्डी की भाँति सभी प्रकार की आलङ्कारिक भणिति के लिए एक सामान्य शब्द नहीं।

दण्डी के विपरीत, भामह के काव्यालङ्कार[1] में हमें उस प्रस्थान को ओर एक निश्चित अभिरुचि मिलती , जो शब्दार्थरूपी शरीर वाले काव्य के आवश्यक अङ्ग के रूप में अलङ्कारों पर बल देता है। भामह ने निश्चित रूप से दो मार्गों के भेद का पूर्णतया खण्डन किया है, और जिन गुणों को उन्होंने स्वीकार किया है उनका सम्बन्ध सामान्यतया काव्य से है, किसी मार्गविशेष से नहीं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने गुणों की संख्या घटा कर तीन कर दी है, जो उत्तरकालीन विचारधारा की विशेषता है, यद्यपि उन्होंने उत्तरकालीन लेखकों की भाँति, जिन्होंने दण्डी के दस गुणों को घटा कर अपने द्वारा माने गये गुणों में आत्मसात् कर लिया है, इस बात पर विशेष रूप से विचार नहीं किया है। वे उस कविता को मधुर कहते हैं जो श्रुतिमधुर हो और जिसमें बहुत अधिक समास न हों, और प्रसाद-युक्त कविता वह है जिसे स्त्रियाँ और बच्चे भी समझ सकें; जैसा कि साधारणतः प्रचलित है, वे ओजस् को दीर्घ समासों से सम्बन्धित समझते हैं, और अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हैं कि ओजस् का प्रसाद और माधुर्य के साथ विरोध है। तथापि, वे गुणों और अलङ्कारों का स्पष्ट भेद नहीं कर सके हैं; उन्होंने प्रसाद और माधुर्य गुणों का उल्लेख अपने अलङ्कारों के वर्णन के अत्यधिक निकट किया है, और भाविकत्व का वर्णन अलङ्कार अथवा गुण के रूप में निरपेक्षतया किया है। वे शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में अलङ्कारों का भेद करने पर निश्चित रूप से आग्रह करते हैं, और वे वक्रोक्ति को काव्य का आवश्यक अङ्ग मानने वाले सिद्धान्त से कुछ न कुछ अस्पष्ट रूप से परिचित प्रतीत होते हैं। प्रख्यात और उत्पाद्य वस्तु के रूप में दण्डी द्वारा समर्थित काव्य की वस्तु के द्विविध विभाग के स्थान में, वे कला-शास्त्राश्रय भेद को भी मान कर, त्रिविध विभाग की स्थापना करते हैं। उन्होंने काव्य का पञ्चधा विभाग किया है, यथा सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध काव्यादि, तथा बिलकुल निस्सार आधारों पर कथा और आख्यायिका के भेद का समर्थन किया है। उनका यह आग्रह है कि समस्त काव्य में एक सामान्य तत्त्व विद्यमान रहता है और वह है वक्रोक्ति, और उन्होंने अपने इस कथन के अनुकूल ही किसी भी प्रकार स्वभावोक्ति के अलङ्कार कहे जाने के अधिकार का खण्डन किया है। इस वक्रोक्ति को उन्होंने अतिशयोक्ति से अभिन्न माना है और अतिशयोक्ति का लक्षण 'लोकातिक्रान्तगोचर वचन' किया है,

---

१. Ed. as App. viii to K. P. Trivedi's ed. of प्रतापराजयशोभूषण, BSS. 1909.

जिसका अर्थ निस्सन्देह वस्तुओं के प्रतिदिन के नीरस विचार के विपरीत काव्यात्मक कल्पना है। भामह ने विभिन्न अलङ्कारों की इसी दृष्टिकोण से परीक्षा की है, और इस सम्बन्ध में उनके कार्य का निर्वाह वामन के समकालीन उद्भट द्वारा होता रहा, जिनके **अलङ्कारसंग्रह**[1] में, अनुप्रास के तीन भेदों को लेकर, इकतालीस अलङ्कारों पर विचार किया गया है। उनका **भामहविवरण** नष्ट हो चुका है, और मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज से, जिन्होंने ९५० ई० के आस पास ग्रन्थ-रचना की और उद्भट पर टीका लिखी, हमें कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात ज्ञात नहीं होती। भामह का दोष-निरूपण किसी ऐतिहासिक महत्त्व का नहीं है, जिसमें उन्होंने परम्परागत दोषों के अतिरिक्त दस दोषों की एक नयी सूची भी दी है (चतुर्थ परिच्छेद), जबकि पञ्चम और षष्ठ परिच्छेदों में उन्होंने काव्य में न्याय-शास्त्र-सम्बन्धी और व्याकरण-सम्बन्धी दोषों का वर्णन किया है।

उद्भट में नये विचारों के संकेत विद्यमान हैं जिनका बाद में कुछ प्रभाव पड़ा। 'रस काव्य की आत्मा है' इस सिद्धान्त का उनको प्रवर्त्तक मानना भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि प्रतिहारेन्दुराज द्वारा उद्धृत एक पद्य ग़लती से उनका लिखा बताया गया है। किन्तु उन्होंने काव्य में रस-तत्त्व पर कुछ बल अवश्य दिया और नाट्य-शास्त्र के आठ रसों की सूची में उन्होंने एक नवाँ रस शान्त और जोड़ दिया। पुनश्च, उन्होंने भामह की भाँति दण्डी के मार्गों की उपेक्षा की, और तीन वृत्तियों के सिद्धान्त के रूप में पूर्णतया ध्वनियों के प्रभाव पर, मुख्यतः अनुप्रास पर, आधारित एक नवीन वर्गीकरण का सन्निवेश किया; इन वृत्तियों का विभाजन उन्होंने उपनागरिका, ग्राम्या और परुषा के रूप में किया। अलङ्कार-निरूपण में वे दृष्टान्त और काव्यलिङ्ग को और जोड़ देते हैं, उक्तियों के व्याकरणसम्बन्धी रूपों के अनुसार उपमा के भेद करते हैं, यथा वत् जैसे प्रत्ययों द्वारा, और श्लेष का अन्य अलङ्कारों के साथ सम्बन्ध का अनुसन्धान आरम्भ करते हैं, जिसका परवर्ती काल में विकास किया गया है, और साथ ही वे भिन्न भिन्न प्रकार के अलङ्कारों के मिश्रण, संसृष्टि और सङ्कर, की जटिल समस्या को भी प्रारम्भ करते हैं।

रुद्रट ने, जिन्होंने ९०० ई० के पूर्व और सम्भवतः नवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में आर्या छन्द में सोलह अध्यायों में अपने **काव्यालङ्कार**[2] की रचना की,

१. Ed. Jacobi, JRAS. 1897, pp. 829-53; BSS. 1925.

२. Ed., एक जैन, नमिसाधु (1068), की टीका के साथ, KM. 2, 1909. रुद्रट वामुक के पुत्र हैं और उनको शतानन्द भी कहा जाता है। Jacobi द्वारा रुद्र-भट्ट से उनकी भिन्नता सिद्ध कर दी गई थी, WZKM. ii. 151 ff.; ZDMG. xlii. 425. रुद्रभट्ट हेमचन्द्र को ज्ञात हैं (p. 110); उनके **शृङ्गारतिलक** का सम्पादन किया गया है, Pischel, Kiel, 1886.

किसी सैद्धान्तिक नवीनता को जन्म नहीं दिया। वे मूलतः उस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, जो बिना किसी वैज्ञानिक अनुसंधान के ही अलङ्कारों के परिगणन को अपना कर्त्तव्य मानता था। उन्होंने अलङ्कारों का शब्द और अर्थ के आधार पर विभाजन करने का प्रयत्न किया है, और तदनन्तर अपने ही माने हुए सिद्धान्तों के के आधार पर उनके अवान्तर भेद किये हैं; शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत उन्होंने वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र, अनुप्रास और यमक को रखा है; अर्थालङ्कार वास्तविकता, औपम्य, अतिशय और श्लेष पर आश्रित हैं। इसका फल यह हुआ है कि कुछ अलङ्कार भिन्न भिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत दुहरा दिये गये हैं। अलङ्कारों के वर्गीकरण की उनकी योजना को सामान्य स्वीकृति नहीं मिली, यद्यपि मम्मट ने उनके कुछ अलङ्कारों को स्वीकार कर लिया। श्लेष अथवा काकु पर आधारित सन्दिग्धार्थक उक्ति के रूप में वक्रोक्ति की उनकी नवीन व्याख्या को यद्यपि हेमचन्द्र ने स्वीकार नहीं किया, तो भी, दण्डी द्वारा किये अये वक्रोक्ति के अतिव्यापक अर्थ को और सादृश्य पर आधारित एक अलङ्कार के रूप में वामन की अधिक संकुचित व्याख्या को दबा कर, रुद्रट की यही व्याख्या मम्मट से लेकर आगे चलती रही है। जो वृत्तियाँ उद्भट में अनुप्रास-सम्बन्धी प्रभावों तक ही सीमित प्रतीत होती हैं, रुद्रट ने उनके क्षेत्र को अधिक व्यापक बना दिया है, और वर्णों की पाँच वृत्तियाँ, मधुरा, परुषा, प्रौढा, ललिता और भद्रा, मान कर उनकी संख्या का भी विस्तार कर दिया है। किन्तु उन्होंने वामन की रीतियों को भी स्वीकार किया है, यद्यपि भामह से प्रभावित होने के कारण हम उनको एक नई दृष्टि से देखा गया पाते हैं। रुद्रट में उन रीतियों की संख्या चार हो गई है, और उनके पारस्परिक भेद का आधार समासों का प्रयोग है। वैदर्भी में बिलकुल समास नहीं होते; उपसर्गों को समास-विधायक पदों की श्रेणी में नहीं रखा जाता। पाञ्चाली में तीन पदों तक के समास बनते हैं, लाटीया में पाँच से सात पदों तक के, और गौडीया में किसी भी संख्या में पदों का समास किया जा सकता है। बड़े विस्तार के साथ यमकों पर विचार करने में और चित्रकाव्य के विचार का विकास करने में, जिसको माघ ने अपने समय में काव्य की प्रसिद्धि करने वाला उद्घोषित किया है, किन्तु भामह और उद्भट ने जिसकी उपेक्षा की है,जब कि उद्भट ने भी यमकों को छोड़ दिया है, वे दण्डी के प्रति ऋणी दिखाई देते हैं। उनके ग्रन्थ की एक नवीन विशेषता चार अध्यायों में रस-सिद्धान्त का प्रस्तुत किया जाना है, जिसका उनके ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय के साथ किसी भी तरह से आवश्यक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया है, किन्तु जो उसके साथ केवल एक रूपगत विन्यास में स्थित है। रुद्रट ने शान्त और प्रेयस् को रसों की परम्परागत सूची में सम्मिलित करके दस रसों को स्वीकार किया है।

नाट्यकार राजशेखर (लगभग ९०० ई०) की **काव्यमीमांसा** सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से और भी कम महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि अन्य दृष्टियों से वह कुछ कम रोचक और मौलिक ग्रन्थ नहीं है। उन्होंने सरस्वती के पुत्र काव्यपुरुष की और साहित्य-विद्या की कल्पना की है, जो काव्यपुरुष की वधू बन जाती है। हम ऐसा मान सकते हैं कि काव्य-रचना के लिए अपेक्षित शब्द और अर्थ के साहित्य के प्राचीन सिद्धान्त से, जिसको भामह, माघ, और अन्य लेखकों ने प्रतिपादन किया है, 'साहित्य' शब्द व्युत्पन्न किया गया है। राजशेखर ने शास्त्र और काव्य का सावधानी से भेद किया है, और शास्त्र के भेदों का विश्लेषण किया है; उन्होंने कवि-कर्म के लिए शक्ति, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सम्बन्ध पर विस्तार के साथ विवेचन किया है, और इसी आधार पर कवियों का वर्गीकरण किया है। पुनः एक वर्गीकरण इस तथ्य पर आधारित है कि कवि शास्त्र की अथवा काव्य की रचना करे, (शास्त्र-कवि अथवा काव्यकवि), या उन दोनों का विभिन्न अनुपातों में मिश्रण कर दे (उभयकवि), और संकुचित दृष्टि से उन्होंने कवियों (अर्थात् काव्य-कवियों), के आठ असङ्गत भेद किये हैं। काव्यसम्बन्धी उनके स्वयं के विचार परम्परागत प्रतीत होते हैं; उन्होंने काव्य का लक्षण 'गुणों और अलङ्कारों से युक्त वाक्य' किया है, और उन्होंने वामन के रीतियों के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया है, जिनको उन्होंने विभिन्न देशों में साहित्यविद्या के पर्यटन का फल बताया है। काव्यार्थ की योनियों अथवा स्रोतों का मनाग् निरूपण किया गया है, और मानुष, दिव्य और पातालीय के भेद से काव्य के वर्ण्यविषयों का परीक्षण किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों से शब्दार्थ के आदान का विवेचन बड़ा रोचक है; यह आदान विचार और अभिव्यक्ति का अभिनवत्व होने पर न्याय्य ठहराया गया है, और अनुचित काव्यचौर्य्य का अपलाप करने के लिए बत्तीस विभिन्न प्रकारों का उदाहरण दिया गया है। कविसमयों का विचार भी महत्त्वपूर्ण है, और हमें भारतवर्ष का भूगोल, तथा तत्तद् ऋतुओं के लिए उपयुक्त पवन, पक्षी, पुष्प और उनके प्रभाव के साथ उन ऋतुओं के विषय में अनेक बातें उपलब्ध होती हैं। राजशेखर ने कुछ विशिष्ट भाषाओं के सम्बन्ध में भारत के भिन्न-भिन्न भागों की अभिरुचि का और संस्कृत भाषा का अशुद्ध उच्चारण करने के उनके ढंगों का भी विचित्र विवरण दिया है। मगधनिवासी और वाराणसी के पूर्व में रहने वाले अन्य लोग संस्कृत में अच्छे हैं, किन्तु प्राकृत में कुण्ठमति हैं, और गौडदेशीय लोग तो प्राकृत में पूर्णतया अव्युत्पन्न हैं; लाटनिवासी व्यक्ति संस्कृत से द्वेष करते हैं, किन्तु प्राकृत का बड़ी सुन्दरतापूर्वक प्रयोग करते हैं; सौराष्ट्र और त्रवण देशों के लोग संस्कृत के साथ अपभ्रंश का मिश्रण कर देते हैं; द्रविड़देशीय लोग गाकर पाठ करते हैं; कश्मीर-

देशीय लोगों का उच्चारण वैसा ही बुरा है जैसी उनकी काव्य-रचना अच्छी है; कर्णाट देश के लोग अपने वाक्यों को टङ्कारध्वनि के साथ समाप्त करते हैं; उत्तरापथ के निवासी सानुनासिक पाठ करते हैं; पञ्चाल देश के लोग मधुवत् और मधुर पाठ करते हैं। नारी-कवियों को भी मान्यता दी गई है, और इस सम्बन्ध में लिङ्ग (sex) सम्बन्धी अड़चनों की निन्दा की गई है। कवियों की दस अवस्थाओं में राजशेखर द्वारा धारण किये गये कविराज के पद का महाकवि से भी ऊपर सातवाँ स्थान है। कविसमाजों पर बड़ा जोर दिया गया है, जिनमें कवियों की परीक्षा की जाती थी और जिनमें राजा द्वारा दिये गये पारितोषिकों में पट्टबन्ध और ब्रह्मरथयान भी सम्मिलित हैं। कवि की अपेक्षित सामग्री इस प्रकार दी गई है—खड़िया-मिट्टी, फलक, ताडपत्र, भूर्जत्वक्, लेखनी और मषीभाजन।[1] भाषा के चारों रूपों के समानाधिकार पर आग्रह करना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है: संस्कृत; प्राकृत, परिष्कृत, मधुर और श्लक्षण; अपभ्रंश भी परिष्कृत रूप में, जैसी मारवाड़, टक्क और भादानक में पसन्द की जाती थी; और भूतभाषा जो अवन्ती, पारियात्र और दशपुर में प्रचलित थी, जब कि मध्यदेश के लोग सब भाषाओं का समान नैपुण्य के साथ प्रयोग करते थे। मध्यदेश के लोगों में सब वर्णों का मिश्रण भी दिखाई पड़ता है; वे पौरस्त्यों की भाँति श्याम, दाक्षिणात्यों की भाँति कृष्ण, पाश्चात्त्यों की भाँति पाण्डु और उदीच्यों की भाँति गौर वर्ण के होते हैं। राजशेखर के ग्रन्थ के गुणों को तब अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है, जब हम यह और जोड़ दें कि उन्होंने व्यापक क्षेत्र से उद्धरण दिये हैं जिसमें महिम्नः-स्तोत्र भी सम्मिलित है, अनेक सुन्दर पद्य और कुछ छोटी-छोटी घटनाएँ दी हैं, और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के होने पर भी उनमें सजीवता विद्यमान है।[2]

---

१. इन बातों के लिए देखिये Bühler, *Indische Palaeographie*; Hoernle, JASB. lix. pt. i. no. 2; कागज के प्रयोग के लिए, Waddell, JRAS. 1914, pp. 136 f.; Haraprasād, *Report*, i. p. 7; इस दावे के सम्बन्ध में कि भारतीय लिपि स्वदेशी है, सेमेटिक (Semitic) उत्पत्ति की नहीं, देखिये Bhandarkar, POCP. 1919, ii. 305 ff.

२. Ed. *Gaekwad's Oriental Series*, 1916. राजशेखर द्वारा कवियों के विषय में उद्धृत अनेक पद्य सम्भवतः किसी नष्ट हुये ग्रन्थ से लिये गये थे, शायद हरविलास से; तु० Bhandarkar, *Report*, 1887-91, pp. ix ff; Peterson, JBRAS. xvii. 57-71; भास के लेखक होने के विरुद्ध आक्षेप का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत किये गये प्रक्षिप्त पद्यों के भण्डाफोड़ के लिए देखिये G. Harihar Sastri IHQ. i. 370 ff.; K. G. Sesha Aiyar, 361; एक दुर्बल पक्ष के समर्थन में दिये गये तर्क और भी अधिक सारहीन होते हैं; तु० Keith, BSOS. iii. 623 f.; T. Ganapati Śāstrī, 627 ff.

३. ध्वनि का सिद्धान्त

राजशेखर एक ऐसे समय में विद्यमान थे जब ध्वनि का नूतन सिद्धान्त बराबर प्रमुखता प्राप्त करता जा रहा था। यह सिद्धान्त अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गई उत्तम टीका **लोचन**[१] के साथ कश्मीरी आनन्दवर्धन (लगभग ८५० ई०) के **ध्वन्यालोक**[२] में सुरक्षित छन्दोबद्ध कारिकाओं में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है। कारिकाओं में कहा गया है कि यह सिद्धान्त प्राचीन है, किन्तु यदि ऐसी बात है तो हमें यह मान लेना चाहिए कि इसको विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो पाई थी; यह भी सम्भव है कि लेखक वस्तुतः काल में अपने से अनतिविप्रकृष्ट किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थकार की ओर सङ्केत कर रहा है और इस दृष्टि से अपनी पुष्टि कर रहा है कि ध्वनि का सिद्धान्त प्राचीन लेखकों को अभिप्रेत था। निश्चयात्मक रूप से तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु सम्भवतः उसका नाम सहृदय था, जो अधिक से अधिक केवल एक उपाधि है, और उसने नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ग्रन्थ-रचना की होगी। जो भी हो, अपने टीकाकारों की योग्यता से और मम्मट द्वारा इस सिद्धान्त के अपनाये जाने से इस नयी दृष्टि ने भारतीय अलङ्कारशास्त्र में सामान्यतः प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया।

ध्वनि-सिद्धान्त की उत्पत्ति भाषा और उसके अर्थ के विश्लेषण से हुई। **गङ्गायां घोषः** (गङ्गा में ग्वालों की बस्ती है), यह वाक्य अपने यथावस्थित रूप में स्पष्टतः असङ्गत है; अभिधा से इसका कोई अर्थ नहीं निकलता, और इसलिए हमें लक्षणाजन्य अर्थ ढूंढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जिससे हमें गङ्गा के तीर पर घोष के होने का अर्थ प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि मुख्यार्थ का बाध लक्षणा करने का प्रथम हेतु है और उस मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ देने की सम्भावना दूसरा हेतु है। किन्तु इतना ही सब कुछ नहीं है; बुद्धिपूर्वक कविता में प्रयुक्त इस प्रकार के वाक्य द्वारा पवित्रता के समस्त सम्बन्धों से युक्त गङ्गा की पावन धारा पर स्थित ऐसे घोष की पवित्रतायुक्त शान्ति का अभिप्राय भी हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। ऐसा तर्क किया जाता है कि यह अभिप्राय अनुमान से नहीं निकलता, किन्तु व्यञ्जना शक्ति से प्राप्त होता है जो इस वाक्य का प्रयोग करने में कवि के प्रयोजन पर आधारित है। व्यञ्जना का यह सिद्धान्त, जिसको वैयाकरणों ने स्वीकार नहीं किया, स्वयं वैयाकरणों के ही एक दार्शनिक मत पर आश्रित माना जा सकता है। वे एक

१. Ed. KM. 25 (i-iii); Dé, Calcutta, 1923 (iv).

२. Ed. KM. 25, 1911; trans. H. Jacobi, ZDMG. lvi and lvii.

रहस्यमय तत्त्व, स्फोट,[1] को स्वीकार करते हैं, जो एक प्रकार की शब्द के नित्य स्वरूप की स्थापना है और कार्य-शब्द जिसकी अभिव्यक्तियाँ हैं । व्यंजना (किसी अन्तर्निहित पदार्थ की अभिव्यक्ति) का यही विचार वेदान्तदर्शन में भी पाया जाता है, जिस के अनुसार यह सारा विश्व ब्रह्म-स्वरूप मौलिक सत्य की अभिव्यक्ति है । व्यावहारिक बुद्धि के लोग[2] ऐसा मानते थे कि अभिधा से ही सारा काम चल सकता है; शब्द को एक इषु के समान माना जा सकता है जो एक ही गति में, व्यापारान्तर की उत्पत्ति के बिना, रिपु के वर्म को भेद सकता है और रिपु का प्राण-हरण भी कर सकता है । इसके अतिरिक्त, दूसरे लोगों[3] का ऐसा दावा था कि वाक्यान्तर्गत पदों के एक साथ बोध से समुत्पन्न तात्पर्य द्वारा अपेक्षित व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, दूसरों[4] का ऐसा मत था कि तात्पर्य-वृत्ति का उपर्युक्त विचार अनावश्यक है, क्योंकि पदों में स्वतः ऐसी शक्ति रहती है जिससे वे समस्त वाक्यार्थ में अपेक्षित पदान्तरों के साथ अपने सम्बन्धों का बोध करा देते हैं। एक दूसरे सम्प्रदाय का, जिसने आगे चल कर अपने पक्ष के प्रतिपादन में अधिक आग्रह दिखलाया, कहना था कि व्यञ्जना कोई वास्तविक वृत्ति नहीं है, और जिस अर्थ की व्यञ्जना द्वारा व्याख्या की जाती है उसकी सिद्धि अनुमान द्वारा की जानी चाहिए । 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा में घोष) यह कहते ही कोई भी व्यक्ति तत्काल अनुमान कर लेता है कि वक्ता का अभिप्राय पावनत्व आदि के विचार को प्रकट करने से है ।

परन्तु ध्वनि के सिद्धान्त को मानने वालों का उपर्युक्त युक्तियों से समाधान नहीं हुआ । अपने वाद के आधार पर उन्होंने घोषित किया कि काव्य की आत्मा, रीति या रस न होकर, ध्वनि है, जिससे उनका अभिप्राय था कि व्यङ्ग्यार्थ ही कविता का सार होता है । व्यङ्ग्यार्थ तीन प्रकार का हो सकता है: वस्तु, अलंकार, या रस (अर्थात् रस, भाव, रसाभासादि)। जब कि व्यङ्ग्यार्थ के संबन्ध में उक्त संप्रदाय के अपेक्षाकृत अधिक परम्परावादी सदस्य, जिनमें आनन्दवर्धन और मम्मट सम्मिलित हैं, ऊपर की तीनों सम्भावनाओं को स्वीकार करते हैं, अभिनवगुप्त उनसे बहुत आगे चले गये । उनका कहना है कि वास्तव में

---

१. E. Abegg, *Festschrift Windisch*, pp. 188 ff.; ZDMG. lxxvii. 207 ff.

२. दीर्घव्यापारवादी संप्रदाय, जो संदिग्ध रूप में लोल्लट का बतलाया जाता है (Dé, *Sanskrit Poetics*, ii. 192, n. 16).

३. मीमांसा का अभिहितान्वयवादी संप्रदाय ।

४. अन्विताभिधानवादी सम्प्रदाय ।

समस्त व्यञ्जना रसादि की ही होनी चाहिए ; वे मानते हैं कि अन्ततोगत्वा वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि का पर्यवसान रसादि-ध्वनि में ही हो जाता है। **साहित्यदर्पण** के ग्रन्थकार विश्वनाथ ने उनके मार्ग-प्रदर्शन का अनुसरण किया, परन्तु यह कभी स्वीकृत सिद्धान्त नहीं बना, क्योंकि लेखकों ने अनुभव किया कि इस प्रकार व्यञ्जना के क्षेत्र को सीमित करने के प्रयत्न से अभिमत कविता के बहुत से अंश को हमें छोड़ देना पड़ेगा । पर व्यङ्ग्यार्थ को दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि पदों के लाक्षणिक अर्थ पर इस का आधार हो सकता है, जिस अवस्था में हम ध्वनिकाव्य के उस प्रकार को पाते हैं जिसमें वाच्यार्थ की नितरां विवक्षा नहीं होती (**अविवक्षित-वाच्य**), और इस प्रकार उस सामान्य दृष्टि को स्थान मिल जाता है जो कविता के आधार के रूप में रूपक या उपमा को अधिक महत्त्व देती है। अथवा, पक्षान्तर में, वाच्यार्थ विवक्षित हो, परन्तु एक गम्भीरतर व्यङ्ग्यार्थ अभिप्रेत हो ; इस अवस्था में हम उस प्रकार को पाते हैं जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित होता है परन्तु अन्ततः वह किसी गम्भीरतर रूप को ग्रहण कर लेता है (**विवक्षितान्यपरवाच्य**) । यहाँ, फिर, हम दो विभिन्न अवस्थाओं को पाते हैं, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थप्रतीति का क्रम अव्यवहित-कालीन अथवा तात्कालिक (**असंलक्ष्य-क्रम**) हो सकता है, यह बात रसध्वनि के संबन्ध में नियत रूप से विद्यमान रहती है । अथवा, व्यङ्ग्यप्रतीति का क्रम संलक्ष्य हो सकता है (**संलक्ष्य-क्रम**), जैसा वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि में होता है। रस (रसादि) की प्रतीति के क्रम की तुलना एक सूची द्वारा शतपत्र-पत्र-शत के भेदन से की जा सकती है ; विभावादि कारणों द्वारा जो रस-निष्पत्ति होती है उस में पूर्वापर का क्रम रहता है, पर वह इतनी शीघ्रता से होती है जिससे वह तात्कालिक प्रतीत होती है। यह बात भी स्पष्ट है कि रस का उदय अनुमान-जन्य नहीं होता । रस का उदय केवल उसी व्यक्ति में हो सकता है जो अपने पूर्व जन्मों में ऐसा अनुभव कर चुका है जो उस को सौन्दर्य-सम्बन्धी संवेदन-शीलता प्रदान करता है, जो उसको सहृदय बनाता है। उसी व्यक्ति में एक पूर्णतया अद्भुत भावात्मक अनुभव के रूप में रस का उदय होता है, जिसकी तुलना केवल परब्रह्मज्ञान के आनन्द[1] से की जा सकती है, जो स्वयं एक अलौकिक आनन्द है। जो कोई व्यक्ति रस से सम्बद्ध विभावादि कारणों को प्रस्तुत किये जाते हुए रङ्ग-मंच पर देखता है, या कविता में पढ़ता है, वह उनको, चाहे नट की चाहे नाट्य अथवा काव्य के नायक की वस्तु के रूप में, अपने से बाह्य नहीं समझता,

१. यह स्मर्तव्य है कि यह सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म के आनन्द से अभिन्न है।

न वह उनको आत्मसात् करता है; वह उनको साधारणीकृत रूप (universality) में देखता है, और इसी कारण से रस में लोकोत्तर-चमत्कार और सुखमयता आ जाती है, फिर तत्सम्बन्धी स्थायिभाव (emotion), एक वैयक्तिक वस्तु के रूप में, चाहे कैसा ही हो। तथा च, वास्तविक जीवन में जो रौद्र होगा, वह रस की अवस्था में उत्कृष्ट आनन्द का रूप धारण कर लेता है। यह स्पष्ट है कि एक वास्तविक प्रभाव को हम अनुभव करते हैं जिसके द्वारा साहित्य से उत्पन्न होने वाले स्वार्थ-निरपेक्ष सौन्दर्यानुभव-संबन्धी सुख के स्वभाव की व्याख्या की जा सकती है।

परन्तु ध्वनि-सम्प्रदाय उस काव्य को काव्यत्व के पद के अधिकार से वञ्चित नहीं करता जिसमें व्यङ्ग्य केवल गुणीभूत होकर ही रहता है। गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य के शीर्षक से ध्वनि-सम्प्रदाय के लेखकों को उन प्राचीनतर लेखकों के सिद्धान्तों के लिए समाश्रय देने में सहायता मिल गई जो दण्डी के प्रेयस्, रसवत्, और ऊर्जस्विन् जैसे अलंकारों में रसाभिव्यक्ति को स्वीकार करते थे। इसके अतिरिक्त, उसका उपयोग उन उदाहरणों को भी संमिलित करने में किया गया जिनमें इन लेखकों के अनुसार एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कारों के मूल में रहता है, जैसे कि वामन के अनुसार उपमा सब अलंकारों में विद्यमान रहती है, और भामह के मत में सब अलङ्कारों में अतिशयोक्ति रहती है, जिस मत का निर्देश दण्डी ने भी किया है। अन्त में इस संप्रदाय ने, यद्यपि उसके अधिक कट्टर समर्थकों ने नहीं, यह भी मान लिया कि उन्हें ऐसे चित्र-काव्य को भी मान्यता देनी चाहिए, जिसमें किसी भी प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ के बिना केवल सौन्दर्य ही रहता है। वह सौन्दर्य अर्थ अथवा शब्द का हो सकता है।

इस बात का भी प्रयत्न किया गया कि गुणों और अलङ्कारों और प्रचीनतर लेखकों की रीतियों अथवा वृत्तियों का प्रतिपादन किसी एसे ढंग से किया जाय कि उनके लिए भी एक समुचित स्थान (ध्वनि-संप्रदाय में) दिया जा सके। गुणों की संख्या को घटा कर उनके क्षेत्र को शाब्दिक प्रभावों तक सीमित करके, और उनमें वामन की रीतियों और उद्भट की वृत्तियों दोनों का, जिनको साथ ही व्यावहारिक दृष्टि से अभिन्न मान लिया गया, गुणों में अन्तर्भाव करके एक बड़ा सरलीकरण लाया गया। काव्य के साथ गुणों के संबन्ध के विषय में एक नये सिद्धान्त की स्वीकृति द्वारा ही यह संभव हुआ; जीवनाधायक तत्त्व के रूप में रस के माने जाने से, काव्य की आत्मा के रूप में उसके साथ गुणों का संबन्ध है, उसी प्रकार जैसे शौर्य मनुष्य की आत्मा का एक गुण है। परन्तु यह बात हमें गुणों को प्राचीन पद्धति के अनुसार अपरिवर्तनीय-रूप मानने से रोकती है; सब कुछ रस पर निर्भर रहता है,

और जिसको रस के संबन्ध में हम गुण कहेंगे वही अपने पृथक् रूप में दोष हो सकता है। ऐसी दशा में, यदि हम गुणों को स्वीकार करते हैं तो वे ऐसे होने चाहिए जो दोष कभी न हों, और उनका स्वरूप, दोषों का केवल अभाव न होकर, निश्चयात्मक होना चाहिए, और उनका स्वभाव भी परस्पर विविक्त होना चाहिए। इस आधार पर हम, ओजस् के केवल विशिष्ट रूप मान कर, वामन के श्लेष, समाधि, और उदारता को निकाल सकते हैं; सौकुमार्य और कान्ति दुःश्रवत्व और ग्राम्य दोषों के अभाव-मात्र हैं; और समता कुछ अवस्थाओं में निश्चय रूप से एक दोष रहती है। इस प्रकार केवल तीन गुण अवशिष्ट रहते हैं, ओर ये केवल शब्द-संबन्धी हैं, क्योंकि इस संप्रदाय की दृष्टि में, जिसको मम्मट ने विशेष रूप से बहुत स्पष्टता के साथ विकसित किया है, अर्थ-संबन्धी गुणों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे तीन गुण हैं: **ओजस्**, जिसको चित्त के विस्तार का हेतु, अथवा जैसा कि विश्वनाथ का आग्रह है, चित्त का विस्तार-रूप माना जाता है, और जिसकी समुचित स्थिति वीर, रौद्र, और बीभत्स रसों में होती है; **माधुर्य**, जिसका उसी प्रकार का संबन्ध चित्त की द्रुति से है; और जो साधारणतःया संभोग-शृङ्गार में, पर क्रमशः अतिशय को प्राप्त होता हुआ करुण, विप्रलम्भ, और शान्त में भी रहता है; और **प्रसाद**, जिसमें प्राचीनतर अर्थ-व्यक्ति सम्मिलित है, और जिसका संबन्ध चित्त के फैलाव या विकास से है। इन मनोवैज्ञानिक साम्यों का विचार संभवतः भट्ट नायक से लिया गया था, जिन्होंने रस-भोग-विषयक अपने सिद्धान्त के प्रसङ्ग में चित्त की इन तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है। शब्द-संबन्धी इन तीन गुणों के विशिष्ट शब्दों में लक्षण मम्मट ने इस रूप में दिये हैं कि उनका आधार वर्णों की संघटना, समासों, और रचना की रीति (style) पर होता है; तथा च, माधुर्य स्ववर्गीय अनुनासिक वर्णों के साथ (मूर्धन्यों के अतिरिक्त) समस्त स्पर्श वर्णों के तथा लघु स्वरों के साथ र् और ण् के प्रयोग पर ओर समासों के राहित्य अथवा अल्प-समासों पर आश्रित होता है; द्विरुच्चरित व्यञ्जन, अथवा ऐसे (वर्गीय प्रथम तथा तृतीय) व्यञ्जन जिनसे परे स्ववर्गीय द्वितीय या चतुर्थ व्यञ्जन (aspirate) हो, सरेफ संयुक्तवर्ण, ण्-वर्ज टवर्गीय व्यञ्जन, श् और ष्, दीर्घसमास और औद्धत्यशालिनी रचना—इनसे ओजस् की व्यञ्जना होती है। प्रसाद के विषय में कोई विशेष नियम नहीं दिये गये हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रसङ्ग में मम्मट ने, उपनागरिका और परुषा वृत्तियों के लक्षणों में यथाक्रम माधुर्य और ओजस् गुणों के साथ अधिक सादृश्य होने से उद्भट ने स्वामिमत वृत्तियों के संबन्ध में जो कुछ प्रतिपादन किया था, उसके बहुत अंश को यहाँ ले लिया है, और उक्त सादृश्य के कारण ही मम्मट के लिए यह सम्भव हुआ

है कि वे वृत्तियों को गुणों के अन्दर ला सके हैं। रुद्रट द्वारा समासों के साथ घने सम्बन्ध में लाई हुई वामन की रीतियों को भी अपने गुणों में संमिलित करने में मम्मट कठिनता का अनुभव नहीं करते हैं, क्योंकि गुणों के अपने प्रतिपादन में वे समासों के प्रयोग को संनिविष्ट कर लेते हैं। निस्संदेह यह सब कुछ कृत्रिम-जैसा और सामञ्जस्य-स्थापन का ऐसा प्रयत्न दीखता है जिसमें तथ्यों की ओर वास्तविक ध्यान नहीं दिया गया है, परन्तु यह स्वाभाविक और पर्याप्तरूपेण ग्राह्य है।

जहाँ तक अलङ्कारों की बात है, उनके और गुणों के बीच में एक निश्चित अन्तर दिखलाया गया है। अलङ्कारों का महत्त्व वहीं तक है जहाँ तक वे रस का उत्कर्ष करते हैं; परन्तु उनका प्रभाव रस पर साक्षाद्रूप से नहीं होता, प्रत्युत वे रस के अङ्ग-भूत शब्द और अर्थ की शोभा द्वारा ही रस की सहायता करते हैं, ठीक उसी तरह जैसे (शौर्यादि) गुण विशेषण-रूप से मनुष्य की आत्मा में रहते हैं, जबकि हारादि अलङ्कार साक्षाद्रूप से उसके शरीर की ही शोभा को बढ़ाते हैं। अलङ्कार यदि रस का उत्कर्ष नहीं करते, तो वे केवल भङ्गी-भणिति का ही संपादन करते हैं, और उस दशा में उनका काव्य में स्थान चित्र-काव्य-रूप तृतीय कोटि का ही होता है, जिसको विश्वनाथ काव्य का नाम देने का भी नितरां निषेध करते हैं।

इस संबन्ध में आनन्द-वर्धन विशेष रोचक अन्य बहुत बातें कहते हैं, और समासों के सम्बन्ध में उनका कथन बुद्धियुक्त और समुचित है; आख्यायिकाओं में उनका खुला प्रयोग उनको अनुमत है, परन्तु वे निर्देश करते हैं कि आख्यायिकाओं में भी जहाँ करुण या विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रभाव अभिप्रेत हों वहाँ अधिक समासों का औचित्य नहीं होता है, और कथा में उनका प्रयोग संयत होना चाहिए। दोषों के सिद्धान्त का प्रतिपादन गुणों के सिद्धान्त की दृष्टि से ही किया गया है; उदाहरणार्थ, पुनरुक्त शोभाधायक हो सकता है, यदि उसके द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अधिक प्रभाव के साथ होती है। परन्तु गुणों की तरह ऐसे वास्तविक दोष भी हो सकते हैं जो सदा दोष ही रहते हैं; ध्वनिकार आग्रहपूर्वक कहते हैं कि शृङ्गार में श्रुतिदुष्ट पदावली का प्रयोग सदा ही एक दोष होता है, यद्यपि वीर रस अथवा रौद्र रस में उसका प्रयोग सुरुचि का परिचायक माना जाता है।

४. ध्वनि-सिद्धान्त के आलोचक और समर्थक

यह बात नहीं है कि ध्वनि के विचार का किसी ने विरोध न किया हो।

भट्ट नायक अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती ग्रन्थकार हैं; उन्होंने अपने 'हृदय-दर्पण' में, जो कदाचित् एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था, यद्यपि कुछ साक्ष्य के अनुसार वह नाट्यशास्त्र की एक टीका कही जा सकती है, शब्दों के व्यापार (effect) के संबन्ध में बल-पूर्वक अपने वाद का प्रतिपादन किया। **अभिधा** के अतिरिक्त, उन्होंने शब्दों का एक **भावकत्व** व्यापार भी बतलाया, जिसके द्वारा सामाजिकों को अर्थ साधारणी-कृत रूप में प्रतीत होने लगता है, जबकि शब्दों की एक तीसरी शक्ति (अर्थात् व्यापार) भोजकत्व से सामाजिकों को काव्य का रसास्वाद होने लगता है। आनन्दोपभोग की यह स्थिति ऐसी है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, परन्तु जिसमें, जैसा हम देख चुके हैं, चित्त की द्रुति, विस्तार और विकास उपलक्षित होते हैं। भट्ट नायक के ग्रन्थ के विनष्ट हो जाने से वे जो कुछ प्रतिपादन करना चाहते थे उसके स्वरूप को ठीक-ठीक समझना कठिन है।

कुन्तल अधिक भाग्यशाली हैं। संभवतः वे अभिनवगुप्त के समकालीन थे। उनके **वक्रोक्तिजीवित**[२] में भामह और उन लेखकों के, जो काव्य के मौलिक स्वरूप के रूप में अलङ्कारों पर बल देते थे, समक्ष अस्पष्ट रूप में उपस्थित विचार को एक नवीन और परिष्कृत रूप में प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है। उनका साग्रह कथन है कि वक्रोक्ति (वक्र अथवा सालंकार उक्ति) काव्य का जीवन है, और उनके अनुसार वह शास्त्र और किसी प्रकार के तथ्यों को प्रकट करने के केवल लौकिक अथवा स्वाभाविक ढंग से भिन्न है। अतः इसमें विच्छित्ति-विशेष अथवा भङ्गी-भणिति को उत्पन्न करने के प्रयोजन से लोक की साधारण भाषा की अपेक्षा दूसरे मार्ग का अनुसरण किया जाता है। इसलिए शोभातिशयशुक्त शब्द और अर्थ के रूप में ही काव्य का लक्षण करना चाहिए, और सालंकार उक्ति के शोभाधायक होने से, और यतः केवल यही अलङ्कार संभव है, और यतः काव्य के लिए इसकी मौलिक आवश्यकता है, अलङ्कारों को छोड़ कर या उनको गौण स्थान देकर काव्य का लक्षण करना हास्यास्पद है। यह दिखाने के उद्देश्य से कि वक्रोक्ति के सिद्धान्त में काव्य के समस्त विकासों को पर्याप्ततया समाश्रय मिल जाता है, कुन्तक अधिक विस्तार के साथ काव्य के समस्त रूपों का दिग्दर्शन कराते

---

१. तु० M. Hiriyanna, POPC. 1919, ii. 246 ff., जो समझते हैं कि भट्ट नायक, सांख्यमत के अनुसार, रसास्वाद से उस उत्कृष्टतर-जैसी स्थिति को कहते हैं जो वास्तविक न होते हुए भी प्रकृति से ऊपर उठने पर उत्पन्न होती है, जबकि वेदान्त की दृष्टि का आधार निश्चय रूप से वास्तविक उस स्थिति की अभिव्यक्ति पर है जो आनन्द-रूप है।

२. Ed. S. K. Dé, Calcutta, 1923.

हैं और ऐसा करते हुए कवियों से, और विशेषतः कालिदास से, बहुत-से उदाहरणों को उद्धृत करते हैं। कवि की प्रतिभा अथवा वैदग्ध्य—**कवि-कर्म**—के कारण ही किसी काव्य में वक्रोक्ति की विद्यमानता स्वीकार की जाती है, और इस कविकर्म-वक्रत्व के वर्ण-विन्यास-वक्रत्व, पद-पूर्वार्ध-वक्रत्व, पद-परार्ध-वक्रत्व, वाक्य-वक्रत्व, प्रकरण-वक्रत्व और प्रबन्ध-वक्रत्व—ये भेद किये जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि यहाँ हम अंशतः भामह द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की अनुस्मृति पाते हैं कि समस्त काव्य में अतिशयोक्ति का अंश विद्यमान रहता है। अपने उत्कृष्ट रूप में काव्य में लोकोत्तर-वैचित्र्य विद्यमान रहता है, अन्ततोगत्वा इसका निर्णय सहृदय जन ही कर सकता है। इस निष्कर्ष में कुन्तक का उस ध्वनिवाद के साथ बहुत कुछ ऐकमत्य है जिस पर वे आक्षेप करते हैं।

वक्रोक्ति-वाद का बल स्पष्टतः इस आधार पर है कि उसमें अलङ्कारों को अपनी ही विशेषताओं के कारण, न कि रस को काव्य का मौलिक स्वरूप मान कर उसके उपकारक होने के नाते, स्वीकार करने का अवकाश मिल जाता है; अलङ्कारों का कारण हमें कविप्रतिभा में मिलता है, और उनसे उत्पन्न होने वाला वैचित्र्य-विशेष एक निश्चित तथ्य है। मम्मट इस बात को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं और, जब अलङ्कार रस का उपकार नहीं करते, उस दशा में भी उनका कहना है कि उनमें वैचित्र्य रहता है, और रुय्यक ने अलङ्कार-संबन्धी अपने विचार का प्रासाद इसी आधार पर खड़ा किया था। अपने वाद में पूर्णता लाने के उद्देश्य से कुन्तल स्वभावतः रस और व्यञ्जना दोनों को अपने सिद्धान्त की परिधि के अन्दर लाने का प्रयत्न करते हैं, और इस प्रयत्न में उनको ठीक उतनी ही सफलता प्राप्त हुई है जितनी कि उनके विरोधियों को अपने प्रयत्न में।

महिमभट्ट ने[1], जो अभिनवगुप्त के उत्तरवर्ती थे, उपर्युक्त वाद के स्थान में एक सिद्धान्त की उद्भावना की जिसमें कुन्तल के विचारों को न मान कर यह दावा किया गया कि ध्वनि को सदा अनुमान के अन्तर्गत दिखलाया जा सकता है, और यह कि रस की प्रतीति कभी सद्यः नहीं होती, किन्तु विभावादि कारणों के और रस-निष्पत्ति-रूप फल के बीच में कुछ अन्तर, चाहे कितना ही थोड़ा, रहता है, जिसमें अनुमान (inference not 'inherence') का व्यापार क्रियाशील रहता है। उन्होंने निष्ठुरता-पूर्वक ध्वनिकार पर इसलिए आक्षेप किया है कि वे काव्य का ऐसा लक्षण करने में सफल नहीं हुए हैं, जो व्यापक हो। अपने ग्रन्थ के द्वितीय विमर्श में, अपने मुख्य लक्ष्य की दृष्टि से प्रसङ्गतः, वे विस्तार के साथ

---

१. टीका के सहित **व्यक्तिविवेक** (टीका के कर्ता संभवतः रुय्यक हैं), TSS. 5, 1909.

औचित्य का वर्णन करते हैं। उस वर्णन में वे अर्थ-दोषों पर (यथा कारणों का अथवा अयथा-प्रयोग, इत्यादि) और शब्द-दोषों पर (यथा किसी वाक्य के अवयवों में समन्वय की स्थापना का अभाव, नियत-क्रम-भङ्ग, वाक्य-रचना का व्यतिक्रम, और अधिक-पदत्व) विचार करते हैं। परन्तु उनके ग्रन्थ का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि उसमें केवल —रसप्रतीति का स्वरूप क्या है—इसी प्रश्न पर, जिसका कलात्मक दृष्टि से केवल उपेक्षणीय महत्त्व है, विचार किया गया है।

दूसरे ग्रन्थकार ध्वनि के नवीन सिद्धान्त के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर ही रहे। तथा च **अग्नि-पुराण** के, जिसका समय अनिश्चित है, अलङ्कार-शास्त्र-विषयक भाग[1] से, तथा भोज के बृहद् ग्रन्थ **सरस्वतीकण्ठाभरण**[2] से ज्ञात होता है कि अन्य वाद भी प्रचलित थे, यद्यपि उनके विषय-विस्तार में केवल अप्रधान बातें ही आती थीं। **अग्निपुराण** में—गुण और अलङ्कारों से युक्त तथा दोषों से रहित पदावली—इसी रूप में काव्य का साधारण लक्षण दिया है, जब कि भोज के अनुसार उसे रसान्वित भी होना चाहिए। परन्तु दोनों में से किसी में भी काव्य के मौलिक स्वरूप के संबन्ध में कोई वास्तविक विवेचन नहीं किया है। परन्तु **अग्निपुराण** ने रीतियों के सिद्धान्त को स्वीकार किया है; रुद्रट की तरह उसमें चार रीतियाँ दी हैं और उनके विशेष लक्षणों को व्यापक रूप से ऐसा दिया है कि उनमें प्रयुक्त वर्णप्रकारों का, समासों की लम्बाई का, और उपचार (metaphors) के प्रयोग का समावेश हो जाता है।* भोज ने दो और रीतियों को बढ़ा दिया है: आवन्तिका, जिसका स्थान वैदर्भी और पाञ्चाली के मध्य में आता है, और मागधी, जो कि एक दोषयुक्त रीति (खण्ड-रीति) है। **अग्निपुराण** विशेष और सामान्य गुणों के भेद के रूप में एक नवीन जटिलता को उपस्थित करता है; सामान्य गुणों में सात शब्दगत, छः अर्थगत, और छः शब्दार्थोभयगत माने गये हैं, जबकि अलङ्कारों का वर्गीकरण शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, तथा शब्दार्थोभयालङ्कार इस रूप में किया गया है। भोज इसे स्वीकार करते हैं और आपाततः बिना किसी उपपत्ति के प्रत्येक वर्ग के चौबीस अलङ्कार देते हैं। उनके बिस्तृत उद्धरणों और प्रमाणों से उनको कुछ लोकप्रियता प्राप्त हुई थी, परन्तु इससे काव्य-संबन्धी

---

१. अध्याय ३३६–३४६। De के विचार (*Sanskrit Poetics*, i. 103) के विरुद्ध, Kane (साहित्यदर्पण, pp.iii.-v) उसको आनन्दवर्धन के पश्चात् रखते हैं।

२. Ed. A. Borooah, Calcutta, 1883-4.

* तु० 'रीतिः सापि चतुर्विधा। पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा। उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा। etc. (अग्निपुराण ३३९।१-२) (मं० दे० शास्त्री)

वाद पर कोई वास्तविक प्रभाव नहीं पड़ा। **सरस्वतीकण्ठाभरण** में दिये हुए उनके रस-निरूपण की शेष-पूर्ति **शृङ्गारप्रकाश** से होती है जिसमें, रुद्रभट्ट के **शृङ्गार-तिलक** के समान, प्रधान रूप से शृङ्गार रस का विचार किया गया है।

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त को अपना लिया, और उन्होंने अलट (अलक, अल्लट) के साथ में पूर्ण और सुचिन्तित रूप में टीकासहित सूत्रों के रूप में ११०० के लगभग **काव्यप्रकाश**[1] में उस वाद का प्रतिपादन किया। सूत्रों और टीका के भिन्न-कर्तृकत्व की स्थापना निराधार है, और उनके सहायक (अलट) ने या तो उनके कार्य में सहायता दी थी या कम से कम सप्तम और दशम उल्लासों के कुछ भागों को लिखा था। मम्मट ने **व्यक्तिविवेक** द्वारा दोष-रूप से प्रदर्शित त्रुटि की पूर्त्ति का प्रयत्न किया और दोषों से रहित, तथा गुणों से और क्वापि अलंकारों से युक्त शब्द और अर्थ के रूप में काव्य का लक्षण किया। उन्होंने काव्य के लिए रस की आवश्यकता की उपेक्षा की, यद्यपि वे गुणों को मौलिक रूप से एकमात्र रस का धर्म मानते हैं। इस दोष के परिमार्जन का यत्न विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य के रूप में काव्य का लक्षण देकर किया, और इस प्रकार उन्होंने व्यञ्जना के वास्तविक व्यङ्ग्यार्थ के रूप में वस्तु अथवा अलङ्कार को अस्वीकार कर दिया। मम्मट तीन गुणों को मानते हैं; वे दूसरे गुणों का उन्हींमें अन्तर्भाव कर देते हैं और प्राचीन लेखकों की रीतियों और वृत्तियों को भी उन्हीं में सन्नि-विष्ट कर देते हैं। दोषों का वर्गीकरण वे रस-दोष, पद-दोष, वाक्य-दोष, और अर्थ-दोष इस रूप में करते हैं। इसी प्रकार के वर्गीकरण का अनुसरण प्रायेण उनके उत्तरकाल में किया गया है। अलङ्कारों का निरूपण वे शब्द, अर्थ, और थोड़े अलङ्कारों का, शब्दार्थोभय के आधार पर करते हैं। विश्वनाथ का **साहित्य-दर्पण**[2] (लगभग १३५०) अधिकांश में मम्मट का अनुसरण करता है, परन्तु इसमें नाट्य-विषयक ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है, जो विषय इसमें सम्मिलित हैं। परन्तु विश्वनाथ रीतियों के सिद्धान्त को, जिनको वे पद-संघटना-रूप में समझते ह, एक विशेष प्रकार से स्वीकार करते हैं। उसके अनुसार रीतियाँ चार हैं: **वैदर्भी** अथवा ललिता, जो माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों से युक्त और समासों से रहित अथवा अल्प-समास-युक्त होती है; **गौडी** ओजःप्रकाशक वर्णों से युक्त और दीर्घ-

---

१. Ed. विभिन्न टीकाओं के सहित, कलकत्ता, १८६६; बनारस, १८६६; BSS. 1917; ĀnSS. 1911; KM. 63, 1897. Cf. Sukthankar, ZDMG. lxvi. 477 ff., 533 ff. Trans. G. Jhā, बनारस, 1918. माणिक्यचन्द्र की टीका (1160 A.D.) का सम्पादन, माइसोर, 1922।

२. Ed. तथा अनुवाद, BI. 1851-75; Kane, Bombay, 1923. Cf. Keith, JRAS. 1911, pp. 848 f.

समासों वाली होती है; **पाञ्चाली**, जिसमें उपरि-निर्दिष्ट वर्णों से भिन्न वर्ण होते हैं और पाँच या छः पदों वाले समास होते हैं; और **लाटी**, जो पाञ्चाली और वैदर्भी के अन्तर में स्थित होती है। अलङ्कारों पर वे प्रायः रुय्यक का प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। उनका ग्रन्थ भी उनके काल की प्रचलित सूत्र और टीका की शैली में लिखा गया है। विद्याधर की **एकावली**[1] और विद्यानाथ का **प्रतापरुद्रयशोभूषण**[2], दोनों भाव और पद्धति में **साहित्यदर्पण** के समान हैं। दोनों की रचना १३०० के लगभग हुई थी, प्रथम की उड़ीसा के नृपति नरसिंह के लिए, और दूसरे की वरांगल के प्रतापरुद्र के लिए, जिसकी कीर्त्ति की उपवर्णना एक नाटक में की गई है, जो नाट्य-शास्त्र के नियमों के उदाहरणों को दिखाने के लिए उक्त ग्रन्थ में सम्मिलित कर दिया गया है। व्यङ्ग्यार्थ के रूप में रस की तरह वस्तु और अलङ्कार को भी स्वीकारकर ने में ये दोनों ग्रन्थकार विश्वनाथ की अपेक्षा अधिक परम्परावादी हैं। प्रकृत संप्रदाय ने भोज के चौबीस गुणों को केवल शब्द-गत तीन गुणों में घटा दिया था। इसकी अवज्ञा करके विद्याधर उक्त चौबीस गुणों के संख्यान में भोज का अनुसरण करते हैं।

मम्मट के समकालीन हेमचन्द्र में हम मम्मट, अभिनवगुप्त, राजशेखर, वक्रोक्तिजीवित आदि से अक्षुब्ध आदान पाते हैं। स्वकीय **विवेक** नाम की टीका के साथ उनके **काव्यानुशासन**[3] में कोई मौलिकता नहीं है, परन्तु उसका एक परिच्छेद नाट्यशास्त्र पर है। वाग्भट-द्वय के ग्रन्थ, जो क्रमशः बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में हुए थे, और भी कम मूल्यवान् हैं। उन्होंने क्रमशः गद्य में **वाग्भटालंकार**[4] और प्रचलित रूप में **काव्यानुशासन**[5] ग्रन्थों को लिखा। गण, अलङ्कार, रस, और रीति को सम्मिलित करने की दृष्टि से प्रथम वाग्भट काव्य का एक नवीन लक्षण उपस्थित करते हैं, परन्तु वे इन सब को एक समष्टि (whole) में सुसंयुक्त करने का यत्न नहीं करते। साथ ही वे दस गुणों के प्राचीन गण को स्वीकार कर लेते हैं। वाग्भट द्वितीय हेमचन्द्र के लक्षण को स्वीकार कर लेते हैं, जो कि केवल मम्मट के ही शब्दों का अधिक भद्दे ढंग में रूपान्तर है। वे केवल तीन गुणों को मानते हैं। दोनों में से कोई भी ध्वनि को आवश्यक रूप में स्वीकार नहीं करता; वाग्भट द्वितीय ध्वनि का उल्लेख पर्यायोक्त अलंकार में करते हैं और पाठकों के लिए आनन्दवर्धन का निर्देश कर देते हैं।

१. Ed. BSS. 63, 1903.
२. Bd. BSS. 65, 1909.
३. Ed. KM. 71, 1901.
४. Ed. KM. 48, 1915.
५. Ed. KM. 43, 1894.

मंख के गुरु रुय्यक का ग्रन्थ बिलकुल दूसरे महत्त्व का है। उन्होंने अलङ्कार-सर्वस्व,[1] मूलग्रन्थ, और उसकी टीका को (लगभग ११००) लिखा, यद्यपि टीकाकार समुद्रबन्धु[2] (लगभग १३००) मंख को टीका का लेखक बतलाते हैं, जिन्होंने हो सकता है अपने गुरु के कार्य में सहायता की हो। रुय्यक नैपुण्य-पूर्वक समस्त प्राग्वर्त्ती सिद्धान्तों का संक्षेप देते हैं और ध्वनिकार की दृष्टि की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करते हैं। उनका अपना लक्ष्य केवल किसी प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ से रहित चित्रकाव्य का और इसीलिए उसके सर्वस्व-भूत अलंकारों का निरूपण करना है। ऐसा करते हुए वे स्पष्टतः वक्रोक्तिजीवित के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि वैचित्र्य विशेष ही किसी अलङ्कार को उसका अस्तित्व और महत्त्व प्रदान करता है। ऐसे वैचित्र्य का ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि कवि की कल्पना के समान जिससे इसका जन्म होता है यह भी अनन्त है, परन्तु वह पदार्थ वैचित्र्य ही है जिस पर किसी भी अलङ्कार का अलङ्कारत्व निर्भर होता है, और इसी के आधार पर हमारे इस कथन का औचित्य होता है कि वह एक अलङ्कार है और अलङ्कारेतर तत्त्वों से भिन्न है। अलङ्कार-विशेषों के वर्णन में वे परिष्कारों के साथ उद्भट का, जिनके वे विशेष प्रशंसक थे, अनुसरण करते हैं। वे श्लेष के क्लेश-प्रद प्रश्न के संबन्ध में मम्मट से सहमत नहीं हैं; मम्मट ने शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष दोनों अलङ्कारों को स्वीकार किया था, दोनों का भेद उनके अनुसार इस आधार पर है कि शब्द-श्लेष में समानार्थक शब्द के परिवर्तन से उस का श्लेषत्व नष्ट हो जायगा, और अर्थ-श्लेष में उससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। रुय्यक की दृष्टि यह है कि इस संबन्ध में वस्तुतः विचारणीय बात यह है कि क्या प्रसक्त शब्द रूप-परिवर्तन के बिना, अर्थात् अर्थान्तर द्वारा, श्लिष्टार्थ को प्रकट करता है, जब कि वह अर्थश्लेष है, अथवा क्या उस शब्द का प्रकारान्तर से विभाग किया जाना और पढ़ा जाना आवश्यक है, जब कि वह शब्द-श्लेष है। दूसरी ओर वे उद्भट की इस स्थापना का निराकरण करते हैं कि श्लेष अपने साथ प्रयुक्त अलङ्कारान्तर की प्रवृत्ति को नष्ट कर देता है। जयदेव का चन्द्रालोक,[3] यद्यपि उसका समय अपेक्षाकृत प्राचीन है, उपर्युक्त उदाहरणों के सहित अलङ्कारों की केवल एक सुविधाजनक हस्तपुस्तक है। सुप्रसिद्ध बहुशास्त्रज्ञ अप्पय्य दीक्षित ने अपना ग्रन्थ कुवलयानन्द[4] (लगभग १६००) उसी पर आधारित किया है। जगन्नाथ का रसगङ्गाधर[5]

---

१. KM. 35, 1893; Trans. H. Jacobi, ZDMG. lxii.
२. TSS. 40, 1915.
३. Ed. कलकत्ता, १९१७।
४. Ed. and trans. कलकत्ता, 1903. Cf. IOC. ii. 340 ff.
५. Ed. KM. 12, 1913. Cf. Jacobi, GN. 1908, pp. 1 ff.

(लगभग १६५०) उससे बहुत भिन्न है। उसमें काव्य का पुनःशोधित लक्षण 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द' इस रूप में दिया है। लोकोत्तर आह्लाद के जनक ज्ञान का विषय होना ही रमणीयता है; आह्लाद का यह वैशिष्ट्य एक विशिष्ट वस्तु है जिसका साक्षात्कार अनुभव से ही होता है, और उसका वोध 'चमत्कारत्व' इस शब्द से भी होता है। इस प्रकार के आह्लाद का कारण एक विशेष प्रकार की भावना होती है। वह भावना आह्लाद से उपलक्षित पदार्थ के प्रति पुनः पुनः अनुसंधान स्वरूप होती है। वह आल्हाद किसी के प्रति 'पुत्रस्ते जातः' (तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है) जैसे कहे गये वाक्य के अर्थबोध से होने वाली प्रसन्नता से बिलकुल भिन्न है। इसलिए काव्य का लक्षण फिर से 'लोकोत्तर आह्लाद की जनक भावना के विषयीभूत अर्थ का प्रतिपादक शब्द' (**चमत्कारजनक-भावना-विषयार्थ-प्रतिपादक-शब्दत्वम्**) इस रूप में किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि यह रसास्वाद के सिद्धान्त का ही यौक्तिक (logical) परिणाम तक ले जाने वाला विकास है; रसास्वाद मूलतः साधारणी-भाव से युक्त और वैयक्तिकता से रहित और अतएव विशुद्ध रूप से सुखावह माना गया था, और इसी कसौटी को अब जगन्नाथ काव्य के समस्त क्षेत्र पर लागू कर देते हैं। इसी प्रकार अपने अलङ्कार-निरूपण में भी वे, रुय्यक की अपेक्षा भी अधिक योग्यता से, और प्राचीन लेखकों की दृष्टि से विशेष आलोचनात्मकता के साथ, इसी कसौटी का उपयोग करते ह कि क्या कोई तथाकथित अलंकार किसी स्वीकृत अलङ्कारान्तर की अपेक्षा वचित्र्य-विशेष को उत्पन्न करता है।

अन्य ग्रन्थों म बहुशास्त्राभिज्ञ क्षेमेन्द्र के **औचित्यविचार**[1] और **कविकण्ठाभरण**[2] इन ग्रन्थों का उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि कुछ सीमा तक वे साधारण ग्रन्थों से अपना वैशिष्ट्य रखते हैं। **औचित्यविचार** में उन्होंने रस के लिए आवश्यक अङ्गों के रूप में औचित्य का विचार किया है। वे औचित्य को निश्चय रूप से रस का जीवन और रसास्वाद में अन्तर्निहित सौन्दर्य पर आधारित समझते ह। उनके अनुसार सत्ताईस अवस्थाओं में औचित्य की स्थिति अथवा उल्लंघन दिखाया जा सकता है, और उनकी इस कृति का महत्त्व उनके द्वारा उपस्थापित उदाहरणों की बहुलता में और जिनको वे दोष समझते हैं, उनकी आलोचनाओं में निहित है। एक विस्तृत पमाने पर एसी आलोचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं, और क्षेमेन्द्र कवि होने की अपेक्षा श्रेष्ठतर आलोचक ह। **कविकण्ठाभरण** जिन विषयों

---

१. Ed. KM. i. 115 ff.; Peterson, JBRAS. xvi. 167 ff.

२. Ed. KM. iv. 122 ff.; I. Schönberg, SWA. 1884.

पर विचार करता है वे हैं : कवि की कवित्व-प्राप्ति की संभावना, लघु अथवा गुरु परिमाण में आदान का प्रश्न, पौराणिक काव्य तथा तत्सदृश ग्रन्थों के सम्बन्ध में आदान की वैधता, अपने दस रूपों के उदाहरणों के साथ काव्य का वैचित्र्य, अर्थ, शब्द अथवा रस की दृष्टि से दोष और गुण, और वे विभिन्न कलाएँ जिनका परिचय कवि के लिए आवश्यक है। अरिसिंह और अमरचन्द्र (तेरहवीं शताब्दी) द्वारा निर्मित टीका-सहित **काव्य-कल्प-लता**[1] और भी अधिक व्यवहारोपयोगी पुस्तक है जिसका विषय कवि-शिक्षा है, जब कि भानुदत्त ने चौदहवीं शताब्दी में अपने **रसमञ्जरी**[2] और **रस-तरङ्गिणी**[3] ग्रन्थों में रस पर लिखा है।

सरस्वतीकण्ठाभरण[4] में भाषा-समावेश विषय पर विस्तृत विचार किया गया है; यह ऐसा विषय है जिसका निरूपण प्राचीन ग्रन्थकारों में से केवल रुद्रट ने ही कुछ विस्तार से किया था। तथा च, जहाँ किसी ग्रन्थ में आद्योपान्त हम एक ही भाषा का प्रयोग पा सकते हैं या साधारण नियमानुसार पाते हैं, वहाँ एसे भी प्रयोग मिलते हैं जिनमें एक ही शब्द, उदाहरणार्थ, संस्कृत और प्राकृत दोनों रूपों में हूबहू एक ही अर्थ में पढ़ा जा सकता है; अथवा, पुनः, एक पद्य के विशिष्ट भाग विभिन्न भाषाओं में हो सकते हैं, अथवा विभिन्न भाषाएँ इस प्रकार परस्पर मिली-जुली हो सकती हैं कि उनका अर्थ भी क्रमशः संबद्ध हो, अथवा एक के अनन्तर आने वाली विभिन्न भाषाएँ उस प्रकार के अर्थ के बिना ही प्रयुक्त हो सकती हैं, अथवा व्यङ्ग्यकाव्य या अनुकरण में प्राकृत के विकृत रूपों का अथवा अपभ्रंश का प्रयोग किया जा सकता है। रुद्रट[5] केवल दो सादा प्रकारों का निर्देश करते हैं जिनमें वही शब्द किसी दूसरी भाषा में एक ही अर्थ में अथवा दूसरे अर्थ में पढ़े जा सकते हैं। इसका एक प्राचीन उदाहरण भट्टि काव्य के तेरहवें सर्ग में हम पाते हैं, जहाँ पद्यों को अर्थ-परिवर्तन के बिना प्राकृत तथा संस्कृत रूप में पढ़ा जा सकता है। इन हास्यास्पद प्रयोगों के विषय में हमें विशेष कुछ कहना नहीं है, यद्यपि इन पद्धतियों के सत्प्रयोग के कादाचित्क उदाहरण भी उद्धृत किये जा सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अलङ्कारों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में कोई गम्भीर

---

१. Ed. Benaras, 1886. Cf. IOC. i. 339 ff.; ii. 337 f.

२. Ed. BenSS. 83, 1904.

३. Ed. Benaras, 1885; Regnaud, *Rhétorique Sanscrite* (1884).

४. ii. 17 रत्नेश्वर की व्याख्या के साथ. Cf. राम तर्कवागीश, iii. 15. 4 ff. (AMJV. III. i. 138 ff.); Schubring, *Festgabe Jacobi*, pp. 89 ff.

५. iv. 10-23. Cf. साहित्यदर्पण, १०।१० (६४२)।

विचार नहीं किया गया। मम्मट, तत्तद् अलङ्कारों के विषय में जिनके निरूपण का बड़ा प्रभाव रुय्यक पर दिखाई देता है, इस संबन्ध में कोई मार्ग-प्रदर्शन नहीं करते, जब कि रुय्यक[1] औपम्य, विरोध, शृंखला, न्याय, वाक्य-न्याय, लोक-न्याय, गूढार्थ-प्रतीति और संसृष्टि या सङ्कर के सिद्धान्तों पर आधारित अर्थालङ्कारों का विभाजन प्रस्तुत करते हैं। उत्तर-वर्ती ग्रन्थों में विद्याधर और विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में कोई वास्तविक नई बात नहीं कही है। इस विभाजन का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, इस विषय में अनुसंधान का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, विशेषतः इस कारण से कि इन विभाजनों में सम्मिलित यथासंख्य (जिसमें, उदाहरणार्थ, विषयों के उद्देश-क्रम से विशेषणों का कथन किया जाता है) जैसे अलङ्कारों में जयरथ और जगन्नाथ द्वारा वैचित्र्य के किसी भी वास्तविक गुण का निषेध किया गया है। रुय्यक में भी अलङ्कारों का विभाजन तर्क-संगत नहीं है, जिससे संस्कृत अनुसंधान का एक स्वरूप-गत दोष स्पष्ट हो जाता है। साथ ही रुय्यक के ग्रन्थ में कई एक स्थलों में अलङ्कारों के सम्बन्ध में उनके विशिष्ट अलङ्कार होने की उपपत्ति का बिलकुल अभाव है। दूसरे स्थलों में उनके विविक्त-विषयत्व की प्रामाणिकता अवश्य विद्यमान है, और वहाँ वास्तविक आलोचना यह है कि उनके विभिन्न रूपों के लिए विशष शब्दों के बनाने से कोई विशेष लाभ नहीं है। तथा च, 'प्रिया का मुख चन्द्र के समान है' इस विचार का उपयोग सादृश्य-मूलक अलङ्कारों की एक लम्बी परम्परा के उदाहरणों के प्रदर्शनार्थ किया जा सकता है। 'तुम्हारा मुख चन्द्र के सदृश है' यह उपमा है; 'चन्द्र तुम्हारे मुख के सदृश है' यह प्रतीप है; परन्तु 'तुम्हारा मुख सदैव भासित होता है, चन्द्र केवल रात्रि में' यहाँ व्यतिरेक है। 'चन्द्र द्युलोक में राज्य करता (भासित होता) है, तुम्हारा मुख पृथ्वी पर' यह प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण है, जबकि 'द्युलोक में चन्द्र, पृथ्वी पर तुम्हारा मुख' यह दृष्टान्त का उदाहरण है; 'तुम्हारा मुख चन्द्र-श्री को धारण कर रहा है' यह निदर्शना का उदाहरण है, और 'तुम्हारे मुख के सामने चन्द्र निष्प्रभ हो जाता है' यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा है। अथवा उपमा की (क्रम से) आवृत्ति हो सकती है, उपमेयोपमा, 'चन्द्र तुम्हारे मुख के सदृश है, तुम्हारा मुख चन्द्र के सदृश है', अथवा हम स्मरण कर सकते हैं; स्मरण, 'चन्द्र को देख कर मुझे तुम्हारे मुख का स्मरण हो आता है'। अथवा 'तुम्हारा मुख-चन्द्र' यहाँ रूपक है, वहीं 'तुम्हारे मुख-चन्द्र से मनस्ताप शान्त हो जाता है' यहाँ परिणाम का रूप ग्रहण कर लेता है। 'क्या यह तुम्हारा मुख है अथवा चन्द्र है' यहाँ सन्देह है; 'यह चन्द्र है, ऐसा मानते हुए

१. Cf. Kane, साहित्यदर्पण, pp. 336 f.; Trivedi, एकावली, pp. 526 f.; रुय्यक, पृ० १४३, १४८, १६४।

चकोर तुम्हारे मुख की ओर दौड़ती है' यहाँ भ्रान्तिमान् है; जबकि उल्लेख का उदाहरण है : 'यह चन्द्र है, यह कमल है; इसीलिए चकोर और भ्रमर तुम्हारे मुख की ओर उड़ कर जाते हैं'। 'यह चन्द्र है, तुम्हारा मुख नहीं' यहाँ अपह्नुति है; तथा 'तुम्हारा मुख केवल तुम्हारे मुख के सदृश है' यहाँ अनन्वय है। इसके साथ रामायण[1] के पूर्वोद्धृत प्रसिद्ध पद्य की तुलना की जा सकती है। अथवा उत्प्रेक्षा भी हो सकती है, यथा 'निश्चय यह चन्द्र है'; अथवा अतिशयोक्ति, जैसे 'यह दूसरा चन्द्र है'। अथवा तुल्ययोगिता देखी जा सकती है, यथा 'चन्द्र और कमल तुम्हारे मुख से पराजित हैं'; अथवा दीपक, जैसे 'रात्रि में तुम्हारा मुख और चन्द्र प्रसन्न होते हैं'।[2] अथवा, अन्त में, हम प्रतिवस्तूपमा को पाते हैं, जिसका उदाहरण, पूर्वोक्त नीरस उदाहरणों की अपेक्षा एक अभिनन्दनीय परिवर्तन के रूप में, शकुन्तला के एक सुन्दर पद्य द्वारा दिया जा सकता है :

मानुषीषु कथं वा स्या-
दस्य रूपस्य संभवः ?
न प्रभातरलं ज्योति-
रुदेति वसुधातलात् ॥

'अथवा ऐसे सुन्दर रूप की उत्पत्ति मानुषी महिलाओं में कैसे हो सकती है ? विद्युत् की चञ्चल प्रभा पृथ्वी-तल से नहीं निकलती।'

---

१. ऊपर, परिच्छेद २, § ३।
२. Dé, *Sanskrit Poetics*, ii. 87 f.

भाग ३

शास्त्रीय वाङ्मय

१६
शास्त्रीय वाङ्मय का प्रारम्भ और विशेषताएँ
१. शास्त्रों का प्रारम्भ

कम से कम भारतवर्ष में शास्त्र (science) या विद्या का प्रारम्भ धर्म (religion) के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध में होता है। वैदिक काल में तत्तद् याज्ञिक सम्प्रदायों (schools) का विकास हुआ था, जिनके द्वारा चारों वेदों में से किसी न किसी की परम्परा की रक्षा होती रही। उसके द्वारा कभी तो स्व-सम्बन्धी वेद की किसी विशेष शाखा (recension) का विकास हुआ, कभी उनका व्यक्तित्व किसी ब्राह्मण-विशेष की, अथवा, प्राचुर्येण, अपने ही एक सूत्र-विशेष की रचना द्वारा देखने में आता है। परन्तु ये वैदिक चरण (schools) धीरे-धीरे विलुप्त हो गये, यद्यपि इस बात का साक्ष्य हमारे पास है कि उनके महत्त्व के प्रायेण घट जाने के अनन्तर भी वे अनेक शताब्दियों तक क्षीण रूप में चलते रहे। जिस स्थिति का यह परिणाम था वह थी विशेषज्ञता का अनिवार्य उदय। जीवन की यात्रा के साथ-साथ नये-नये विषय उपस्थित होने लगे जिनका पर्याप्त रूप से विचार वैदिक चरण नहीं कर सकते थे, साथ ही विशेष चरणों का उदय हुआ जो पुराने भेदों के अवान्तर भेद न होकर उनको बीच से काटते थे, यद्यपि ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि अपनी उत्पत्ति के समय उनका निर्माण वैदिक चरणों के अन्दर ही तत्तत् चरणों के स्वकीय अध्येतव्य विषय की एक शाखा के विशेषज्ञों के रूप में हुआ था। ऐसी दशा में, यह अनिवार्य था कि उनमें विस्तार की प्रवृत्ति हो और वे दूसरे चरणों के कार्य-क्षेत्र के संबन्ध में उत्पन्न होने वाले उसी प्रकार के प्रश्नों पर भी विचार करें। उदाहरणार्थ, किसी ऋग्वेदीय चरण में व्याकरण-सम्बन्धी अध्ययन की आवश्यकतावश वैयाकरणों के एक विशेष संप्रदाय के चल पड़ने पर उनमें इस प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक था कि यजुर्वेद का अध्ययन करने वाले वैयाकरणों के साथ मिल कर एक हो जावें और अपनी रुचि को सामान्य रूपेण सब वेदों तक विस्तृत कर दें। कम से कम यास्क (कदाचित् लगभग ५०० ई० पू०) वैयाकरणों के, नैरुक्तों के, और याज्ञिकों के, जिनका संबन्ध यज्ञ से था, संप्रदायों से परिचित है, और पाणिनि के व्याकरण से पर्याप्त प्रमाण इस बात

का मिल जाता है कि व्याकरण का एक ऐसा सम्प्रदाय वर्त्तमान था जो अपने कार्य-क्षेत्र में विभिन्न वेदों और एक ही वेद के विभिन्न चरणों के प्रयोगों को सम्मिलित करने के लिए उद्यत था। ये ही वैयाकरण, निश्चित रूप से, लौकिक-संस्कृत-कालीन, व्याकरण-शास्त्र के साक्षात् पूर्वज हैं; नैरुक्त लोगों को, यद्यपि वे कोश-संबन्धी अध्ययन को प्रेरणा देते हैं, कोशों के अस्तित्व का साक्षात् कारण नहीं कहा जा सकता। कोशों पर आधिक्येन प्रभाव काव्यों के लेखकों की आवश्यकता का पड़ा, जिनको अपनी कविता की रचना में सहायतार्थ शब्द-संग्रहों का काम पड़ता था।

वैदिक काल के अन्दर एक और दूसरा प्राचीन विकास धर्म के संप्रदायों के निर्माण के रूप में हुआ। इस प्रसङ्ग में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अपने विस्तृत अर्थ में है और उसमें धार्मिक, व्यावहारिक (civil) और आपराधिक (criminal) विधि (law) संमिलित है। समाज के विकास एवं शासकवर्ग के परामर्शदाता तथा न्यायाधीशों के रूप में काम करने वाले ब्राह्मणों के मार्ग-प्रदर्शनार्थ कुछ नियमों के होने की आवश्यकता के साथ-साथ ही धर्म के उक्त संप्रदायों का निर्माण हुआ होगा। मनु की स्मृति से पहले विकास का ऐसा काफ़ी समय रहा होगा जिसमें व्यावसायिक संप्रदायों का उदय हो गया था; उनमें से एक संप्रदाय द्वारा ही **मनुस्मृति** जैसे ग्रन्थ का निर्माण हुआ, जिसका दावा है कि वह, किसी समुदाय-विशेष की जीवन-चर्या की मार्ग-प्रदर्शिका न होकर, राष्ट्र के समस्त वर्गों के लिए समान रूप से मार्ग प्रदर्शन करती है। इन संप्रदायों के अन्दर धार्मिक और लौकिक (secular) विधि (law) का भेद, जो कभी भी पूरा-पूरा नहीं था, केवल धीरे-धीरे और अपूर्णता के साथ ही विकसित हुआ था।

अध्ययन के एक दूसरे क्षेत्र में विशिष्ट ज्ञान का विकास हम स्पष्टतया देख सकते हैं। वैदिक यज्ञों के लिए तिथि-पत्र (calendar) का प्रारम्भिक परिचय और मिति (mensuration) का प्राथमिक ज्ञान आवश्यक था। इन विषयों के संबन्ध में निश्चयात्मक विचारों का विकास धीरे-धीरे ही हुआ, और उनकी परम्परा प्रारम्भ में प्रत्येक वेद के साथ घने सम्बन्ध में ही चलती रही। आज भी हमें खगोल-विद्या (astronomy) पर **ज्योतिष** की और यज्ञ-वेदि के निर्माण तथा तत्सम्बद्ध विषयों पर **शुल्ब-सूत्रों** की विभिन्न शाखाएँ या पाठ (recensions) उपलब्ध हैं। परन्तु इन प्रारम्भिक अवस्थाओं से अनिवार्य-रूप से रेखा-गणित-सम्बन्धी, खगोल-विद्या-संबन्धी, और फलित-ज्योतिष-संबन्धी एक बृहत्तर शास्त्र का विकास हुआ, जिसको अब 'ज्योतिष' यह व्यापक नाम दिया जाता है और जिसका अध्ययन विभिन्न शाखाओं में

किया जाता है। आयुर्वेद भी प्रारम्भ में अथर्ववेद के अभिचार-मन्त्रों में देखने में आता है, और उसकी पुष्टि ऐन्द्रजालिक प्रयोगों के सम्प्रदायों में हुई थी जिनके द्वारा उसी वेद के **कौशिक-सूत्र** जैसे ग्रन्थ का निर्माण किया गया; परन्तु पूर्व-निर्दिष्ट शास्त्रों में से बहुतों की अपेक्षा इसका वैदिक सम्बन्ध कम घना है, और यह अनुमान संदेहास्पद ही है कि जो कुछ शस्त्र-चिकित्सा और शरीर-रचना-सम्बन्धी ज्ञान उसमें पाये जाते हैं उनकी वृद्धि यज्ञ के लिए जानवरों के, और उससे कम मात्रा में पुरुषमेध में मनुष्य के भी, विशसन की प्रवृत्ति द्वारा हुई होगी।

वैदिक चरणों में रहस्यवाद (mysticism) की प्रवृत्ति का भी विकास हुआ, जो आरण्यकों और उपनिषदों में दृष्टिगोचर होती है। आरण्यक और उपनिषद् बड़े ब्राह्मणों के साथ थोड़े-बहुत श्लिष्ट रूप में संलग्न हैं। इन ग्रन्थों में हम अपने को वैदिक शाखाओं में ही विभक्त करने की प्रवृत्ति पाते हैं: इनमें से कुछ यज्ञों और कर्मकाण्ड को पसन्द करते थे, दूसरे कर्मकाण्ड के पीछे जाकर उसके, उन देवताओं के जिनके निमित्त यज्ञ किये जाते थे, जीवन और मनुष्य के, और विश्व के वास्तविक अभिप्राय की ओर जाना चाहते थे। उपनिषद् अपने उद्गम की दृष्टि से स्पष्टतया वैदिक शाखाओं से श्लिष्ट सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु उनके विचार अनिवार्य रूप से शाखाओं की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं और बौद्धिक विनिमय (exchange) के उस युग के लिए मार्ग तैयार करते हैं जिसका उद्भव दार्शनिक प्रस्थानों में होता है, जिनका प्रारम्भ, यह निश्चय है, किसी वैदिक शाखा से उसके अपने रूप में नहीं हुआ था। वैदिक पद्धति के शनैः-शनैः रूपान्तर के साथ अध्यात्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या स्वभावतः प्राचीन चरणों के क्षेत्र को अतिक्रमण कर गईं और रचना या संस्थान के नवीन रूपों में (अर्थात् नए ढंग की परम्परा से) चलने लगीं।

यह भी निश्चय नहीं है कि हम **काम-शास्त्र** को वैदिक उद्गमों से पृथक कर सकते हैं या नहीं। वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध संकेतों से[1] हम निश्चय ही इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि प्रजनन-शास्त्र की ओर उक्त चरणों के मनीषियों का ध्यान गया था, यद्यपि उनका तद्विषयक ज्ञान हमारे लिए सुरक्षित नहीं है। स्वभावतः इस विषय की प्रवृत्ति किसी भी विशिष्ट चरण की सीमा से बाहर फैल जाने की और, जैसा कि बराबर भविष्य में रहा, विशेष अध्ययन का विषय बन जाने की रही होगी; इस रूप में किसी भी दूसरे शास्त्रीय विषय के समान ही सावधानता और विस्तार के साथ इसका प्रतिपादन किया गया।

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ६।४।

वैदिक काल में वैदिक संहिताओं के छन्दों को जो रहस्यात्मक महत्त्व दिया जाता था निस्संदेह उसके कारण छन्दों के अध्ययन को प्रोत्साहन मिलता था, और छन्दस् छः वेदाङ्गों में से एक वेदाङ्ग माना जाता है। परन्तु प्राचीन काल में ही काव्य तथा साहित्य के दूसरे प्रकारों के लेखकों के लिए पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता का छन्दस् के महत्त्व और स्वरूप दोनों पर प्रभाव पड़ा। उसके फलस्वरूप वेदाङ्ग (पिङ्गल-कृत छन्दःसूत्र) को भी हम आधिक्येन लौकिक छन्दों से सम्बद्ध पाते हैं। **अलङ्कार-शास्त्र**, दूसरी ओर, किसी भी अर्थ में वैदिक नहीं था, और उसे एक स्वतन्त्र लौकिक शास्त्र ही समझना चाहिए। अधिकांश में यही बात **अर्थशास्त्र** या **नीति-शास्त्र** के विषय में कही जा सकती है, परन्तु उसका और **धर्मशास्त्र** का परस्पर कुछ सम्बन्ध है, भले ही ये दोनों पृथक्त्वेन विकसित हुए हों, और हम बिलकुल औचित्य के साथ ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि **धर्मशास्त्र** के मौलिक संप्रदायों की अपनी परिधि में वे पदार्थ भी सम्मिलित थे जो आगे चल कर विशेष रूप से **अर्थशास्त्र** के विषय बने, जैसे राजनीति, व्यावहारिक ज्ञान अथवा मुख्यतः याज्ञिक विषयों से भिन्न विषयों की प्रायोगिक कला। यह बात कम निश्चित है कि उन्हीं सम्प्रदायों में धर्मशास्त्र की छत्रच्छाया में प्रारम्भिक अर्थशास्त्र के साथ-साथ **कामशास्त्र** भी पढ़ाया जाता था, यद्यपि ऐसा होता रहा हो ऐसी संभावना हो सकती है। परन्तु कम से कम संस्कृत के शास्त्रीय वाङ्मय के विकास पर धर्म के प्रबल प्रभाव के विषय में कोई सन्देह नहीं है।

३. शास्त्रीय वाङमय की विशेषताएं

वैदिक परम्परा से उसके उत्तराधिकारित्व के कारण, संस्कृत शास्त्र (science) ने रचना के सूत्र रूप को अत्यन्त प्रभावित किया। वैदिक वाङमय में इस विकास के ठीक-ठीक क्या कारण थे, यह अस्पष्ट ही रहेगा; लेखन-सामग्री की कमी, उसके संघटित करने में व्यय, अथवा ऐसे ही अन्य कारणों को गंभीरता-पूर्वक उपस्थित नहीं किया जा सकता है। इसकी अपेक्षा यह कहना कहीं अधिक ठीक होगा कि चरणों या शाखाध्यायियों में प्रचलित अध्यापन का स्वरूप उसका कारण हो सकता है, जो मौखिक और एक अर्थ में सदा रहस्यात्मक होता था। अध्यापक अपने विषय की व्याख्या मौखिक करता था, और यह सुविधाजनक होने के साथ-साथ पर्याप्त भी होता था कि उसके प्रवचन के सारांश को छोटे-छोटे वाक्यों में संक्षिप्त कर दिया जाय; ये वाक्य उनके अर्थों की कुंजी के ज्ञाता के लिए तो अर्थवत् होते थे और दूसरों के लिए कोई अर्थ न देते थे। यह योजना

सबसे अधिक दार्शनिक संप्रदायों में प्रचलित रही,[1] जिनके सिद्धान्त उपनिषदों के समान बहुत-कुछ पवित्र और रहस्यात्मक थे, और वास्तव में अपने इसी स्वरूप के कारण दार्शनिक सम्प्रदायों के सूत्र इतने गूढ़ार्थक हैं, और **ब्रह्म-सूत्र** की, उदाहरणार्थ, ऐसी स्थिति है कि वह बिलकुल विभिन्न और परस्पर विरुद्ध भी सिद्धान्तों का स्रोत बन गया है। परन्तु एक निर्णायक कदम लिया गया जबकि एक नवीन और रोचक शैली में लिखे गये **भाष्यों** की रचना द्वारा सूत्रों की शेष-पूर्ति की गई। उसका आधार गुरु और शिष्य के संवाद को लिपिबद्ध करने के सिद्धान्त पर रखा गया है, और, साथ ही, प्रायेण उसके रूप का प्रकार है: विषय की स्थापना तदनन्तर एक आंशिक समाधान का अथवा पूर्वपक्ष का उपस्थापन, और उसका परीक्षण, परिशोधन और सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना। ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए कि जिन आक्षेपों पर विचार किया जाता था वे सदा ही वास्तव में किन्हीं के निश्चित मत होते थे; वास्तव में बात यह थी कि उक्त शैली-विशेष के एक बार प्रचलित हो जाने पर संभावित आक्षेपों को लाकर रखा जाना स्वाभाविक था, और निश्चय ही प्रतिपाद्य विषय का यह रूप बिलकुल विरल नहीं है। उक्त स्थलों में प्रयुक्त **'इति चेन्न'** इस संक्षिप्त शब्द-समुदाय का अर्थ होता है: 'यदि ऐसा आक्षेप किया जाता है, तो हमारा उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है, जिस कारण से, उसका निदश तदनन्तर किया जाता है।

भाष्यों की शैली में एक स्पष्ट विकास दृष्टि-गोचर होता है; शंकर, उदाहरणार्थ, पाणिनि के व्याकरण पर **महाभाष्य** अथवा **न्यायसूत्र** पर **वात्स्यायन-भाष्य** से अधिक आगे बढ़े हुए हैं। विचारात्मक संवाद को लिपि-बद्ध करने की स्थिति से आगे बढ़ कर हम एक निबन्धात्मक अथवा व्याख्यानात्मक शैली में आ जाते हैं, और उससे भी आगे बढ़ कर वह दुरूह शास्त्रीय तथा दार्शनिक शैली विकसित होती है जो समान रूप से अलङ्कार-शास्त्रीय ग्रन्थों में तथा दर्शन और धर्मशास्त्र जैसे शास्त्रीय विषयों में भी दृष्टि-गोचर होती है। इस शैली का विशिष्ट-स्वरूप[2] इस बात में है कि इसमें केवल नामों के प्रयोग पर ही आग्रह रहता है, व्यवहारतः क्रिया का प्रयोग नहीं किया जाता, और निपातों तथा कारकों का प्रयोग साभिप्राय किया जाता है, साथ ही समासों का भी, जो कभी-कभी बहुत लम्बे होते

---

१. दे०, उदाहरणार्थ, उत्तरकालीन आयुर्वेद-सूत्र (मद्रास, १९२२), जिसका आधार प्राचीन और १५वीं शताब्दी के एक ग्रन्थ पर है।

२. Jacobi, IF. xiv. 236 ff.; V. G. Parānjpe, *le Vārtika de Kātyāyana*, pp. 50 ff., जिन्होंने मीमांसासूत्र और महाभाष्य की तुलना की है।

हैं, प्रयोग किया जाता है। यह माना जा सकता है कि इस प्रकार से अर्थ के प्रकट करने में अत्यन्त सूक्ष्मता लाई जा सकती है, क्योंकि विशेष-विद्या-सम्बन्धी (technical) प्रतिपाद्य विषय में समासों का प्रयोग ऐसी कड़ाई के साथ किया जा सकता है कि उससे अर्थ में स्पष्टता रह सकती है, भले ही वे समास लम्बे और जटिल हों; परन्तु दूसरी ओर ऐसी रचनाओं को साहित्य नहीं माना जा सकता। आगे होने वाले काम पर भी सूत्रों का गंभीर प्रभाव पड़ा है, क्योंकि साधारणतः उनको निर्णायक (definitive) माना जाता है, और इसलिए उनका रूपान्तर अथवा परिवर्तन नहीं हो सकता। फलतः शास्त्रीय तत्त्व के विकास को वे रोकते हैं। व्याकरण के विषय में कुछ अंशों में एक मार्ग निकाला गया था, जिसमें पाणिनि के सूत्रों के सुधारने या कुछ परिवर्तन के उद्देश्य से वार्त्तिक बने थे। परन्तु 'वार्त्तिक' शब्द का व्यवहार दूसरे शास्त्रों में नहीं किया जाता, यद्यपि वात्स्यायन में हमें यत्र-तत्र ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनको न्याय-सूत्र[1] के वार्त्तिक माना जा सकता है। दूसरी ओर सूत्रों पर लिखे गये दार्शनिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र हमें ऐसे सूत्र भी मिलते हैं जो हमारे उपलब्ध सूत्र-ग्रन्थों में सुरक्षित नहीं हैं।

स्वरूपतः सूत्र-शैली कभी लुप्त नहीं हुई;[2] यह व्याकरण में अपने प्रधानरूप में वर्त्तमान है, छन्दः-शास्त्र के आकर-ग्रन्थ में यह दिखाई देती है, अलङ्कार-शास्त्र में प्रायेण इसको अपनाया गया था, दर्शन के बड़े संप्रदायों में इसका सामान्येन प्रयोग किया गया था। **अर्थशास्त्र** भी एक सूत्रग्रन्थ माना जाता है; परन्तु उसके मुख्य भाग में एक ही ग्रन्थकार के सूत्र और भाष्य का संमिश्रण पाया जाता है जो स्पष्टतः पारम्परिक शैली से भिन्न है। **काम-सूत्र** के विषय में भी यही बात है। **भारतीय-नाट्य-शास्त्र** में यत्र-तत्र सूत्र-शैली की छाया पाई जाती है, परन्तु सामान्येन इसकी रचना श्लोकों की एक दूसरी शैली में ही की गई है।

राजाओं और धनवान् आश्रयदाताओं द्वारा आमन्त्रित सभाओं में होने वाले शास्त्रीय संवादों या शास्त्रार्थों का प्रभाव निःसन्देह कुछ परिमाण में व्याख्या के रूप पर पड़ता था। कोई नया मत, जो अपने को स्थापित करना चाहता था, ऐसा तभी कर सकता था, जबकि उसका समर्थक उक्त जैसे अवसर पर सामने

---

१. तु० Windisch, *über das Nyāyabhōshya* (1888).

२. तथा च **आयुर्वेद-सत्र** (*Bibl. Sansk.*, 61), जैसाकि उसके विद्वान् संपादक डा० R. Shamasastri, ने सिद्ध कर दिया है, बिलकुल वर्तमान काल की रचना है। आयुर्वेद, स्थापत्य, फलित ज्योतिष के शास्त्रीय ग्रन्थों में अशुद्ध और भ्रष्ट संस्कृत प्रायेण उपलब्ध होती है; तु० **विद्यामाधवीय,** भूमिका।

आकर अपने मन्तव्य के समर्थन द्वारा अपने पक्ष में सभा में उपस्थित सभ्यों के निर्णय को और राजा अथवा सभा के संरक्षक की कृपा को प्राप्त कर सकता था। निस्सन्देह भारतीय शास्त्रीय साहित्य के पाण्डित्यपूर्ण और तार्किक स्वरूप का, उसके अत्यन्त निकृष्ट लक्षणों के साथ, बहुत अंशों तक, यही कारण था। उदाहरणार्थ, उस समय चित्त को बड़ा क्लेश होता है जब हम दर्शन (philosophy) में पाते हैं कि वस्तुतः गम्भीर विचारों की धारा में ऐसी तर्कों से जो केवल पाण्डित्यपूर्ण और विद्वत्ता की प्रदर्शक होती हैं विघ्न उपस्थित हो जाता है। ऐसे स्थलों में पाश्चात्त्य रुचि के लिए स्पष्ट व्याख्या कहीं अधिक आकर्षक होती। परन्तु दार्शनिक लेखकों के ग्रन्थों के पाठकों के लिए साहित्य का ऐसा रूप नीरस और आवश्यकता से अधिक सरल प्रतीत होता, यद्यपि पाण्डित्य-पूर्ण सूक्ष्मता (subtlity) के भयङ्कर परिणाम इस तथ्य से प्रकट हो जाते हैं कि संस्कृत साहित्य की किसी वास्तविक हानि के बिना हम गङ्गेश के पश्चात् आने वाले समस्त तार्किक साहित्य की तथा उदयन के पश्चात्-कालीन वैशेषिक दर्शन पर लिखे गये समस्त टीका ग्रन्थों की उपेक्षा अथवा परित्याग कर सकते हैं।

संस्कृत साहित्य के महान् युग में कम से कम परीक्षणापेक्षी (experimental) शास्त्र अत्यन्त हीन स्थिति में था, और उन क्षेत्रों में जिन में परीक्षण आवश्यक होता है कोई महत्त्व की प्रगति नहीं हो पाई थी।[1] वैद्यक-शास्त्र में रोग-लक्षण तथा रोगों की चिकित्सा के सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान का विकास हुआ था; परन्तु शल्य-चिकित्सा अभिशप्त थी, क्योंकि शव के संपर्क से होने वाली अपवित्रता से ब्राह्मणों को और साधारण भारतीयों को भी एक प्रकार से भय लगता था। साथ ही रोग के राक्षस-पिशाचादि-मूलक स्रोतों को स्वीकार कर लेने से गम्भीर अनुसंधान में बाधा उपस्थित हो गई थी। भारत की गणित-विद्या-सम्बन्धी उपलब्धियों का क्षेत्र था रेखागणित तथा अङ्कन (notation) की एक महत्त्व-युक्त पद्धति का आविष्कार। मानवीय कर्म के क्षेत्र में कहीं अधिक उन्नति हुई थी; यह ठीक है कि राजनीतिक सिद्धान्त ने कोई उच्च विकास नहीं प्राप्त किया था, परन्तु विधि-सम्बन्धी (legal) अध्ययन का अनुसरण विशिष्ट वैदग्ध्य के साथ किया जाता था। धर्मशास्त्रों का रूप (शैली) एक रोचक ढंग में

---

१. इस सम्बन्ध में B. Seal (*The Positive Sciences of the Ancient Hindus*) की दृष्टि बहुत अधिक अनुकूल है, परन्तु वे प्राचीन ग्रन्थों में नये विचारों को पढ़ते हैं। पाश्चात्त्य विज्ञान ने भारत में आजकल एक उज्ज्वल प्रतिक्रिया को जन्म दिया है, जिसमें वनस्पति-जीवन-विषयक हमारे विचारों की एक क्रान्ति भी सम्मिलित है।

उनके अपने प्रतिपाद्य विषयोंके अपेक्षाकृत अधिक करुणाई (humane) स्वभाव के अनुरूप है। वे परम्परया श्लोकों में चले आ रहे हैं, जिनके स्थान में हमें धर्म-सूत्रों में, अन्ततः जिनके वे वंशज हैं, यत्र-तत्र स्मृति-रूप में पद्य उपलब्ध होते हैं जो सिद्धान्तों का संग्रह अथवा स्पष्टीकरण करते हैं। मानवीय जीवन के संबन्ध में पद्यात्मक नीतिवचनों का प्रसार गद्यात्मक सूत्रों की अपेक्षा स्वभावतः कहीं अधिक हो जाता था, और रचना का यह (अर्थात् श्लोकात्मक) रूप प्रायेण शास्त्रीय ग्रन्थों में, विद्या की उन शाखाओं में भी जिनका संबन्ध मानवीय भावना से नहीं है, अपना लिया जाता था। इसमें भी सन्देह नहीं है कि पद्यात्मक रचना को पौराणिक काव्य के उदाहरण से समर्थन मिला था। श्लोक की रचना और स्मरण रखना दोनों सरल होते थे, परन्तु स्वभावतः सब ग्रन्थकारों के लिए वह संतोषप्रद नहीं था। अतः, फलित ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में वराहमिहिर और भास्कर के समान कुछ ग्रन्थकारों ने अपने शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन सुललित और जटिल छन्दों में किया है। दूसरी ओर आर्या को, जो, श्लोक के समान ही, अपेक्षाकृत एक सादा छन्द है, स्वीकार किया गया, यथा सांख्य-कारिका में, जिसमें सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों को संक्षेप में दिखलाया गया है। शिल्प-संबन्धी (technical) शास्त्र प्रायेण वैसे ही अपरिष्कृत श्लोकों में लिखा जाता था, जिनका वैद्यक योगों (recipes) के लिए विशेष प्रचलन था, यद्यपि उन योगों के लिए भी हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें अपेक्षाकृत अधिक जटिल छन्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक दूसरा विकल्प ऐसे गद्यात्मक प्रतिपादन का था जिसके साथ बीच-बीच में यत्र-तत्र पद्य मिले रहते थे। उन पद्यों का प्रयोजन ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों का समर्थन, संग्रहण अथवा स्पष्टीकरण होता था, जैसा कि आयुर्वेद की संहिताओं में देखा जाता है।

गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से प्राप्त होने वाला एक रोचक दृश्य घरेलू रूपकों अथवा उपमाओं के प्रयोग की तथा साधारण जीवन के तथ्यों द्वारा दृष्टान्त देकर सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति के रूप में उपलब्ध होता है। ऐसे निदर्शनों से संभाव्य आशंका का, यह निश्चय है, बचाव नहीं किया जाता था; प्रकृत स्थलों में उपमाओं की चतुरस्रता का विचार किये बिना ही, कठिनताओं की व्याख्या के उद्देश्य से उनका उपयोग किया जाता था; आत्म-चैतन्य को स्पष्ट करने के लिए दीपक की उपमा दी जाती है जो अपने को प्रकाशित करता है, ऐसा करते हुए यह नहीं सोचा जाता कि यह सादृश्य वास्तव में भ्रान्ति का जनक है। परन्तु कुछ लोक-प्रचलित दृष्टान्त नियत व्यवहार में रूढ हो गये, और वे लोक-

न्यायों[1] के रूप में आ गये ह। उदाहरणार्थ, दो चीज़ों को साथ-साथ दिखाने वाले (द्वन्द्व) समास में प्रधानतर वस्तु का पूर्व-निपात होना चाहिए—इस व्याकरण के नियम को लोक-न्याय का रूप दे दिया जाता है और साधारणतः '**अभ्यर्हितं पूर्वम्**' इस प्रकार शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में प्रयोग किया जाता है। '**अवतप्ते नकुल-स्थितम्**' ('तपी हुई भूमि पर नेउले की स्थिति') इस मनोविनोदी कहावत द्वारा उस मनुष्य का वर्णन किया जाता है जो अपने उठाये हुए काम में दृढ नहीं रहता। जो कुशल व्यक्ति अपने ही नियमों को विस्मृत कर देता है उस पर '**अश्वारूढाः कथं चाश्वान् विस्मरेयुः सचेतसः**' ('घोड़ों पर बैठे हुए बुद्धिमान् लोग अपने घोड़ों को ही कैसे भूल सकते हैं?') इस कहावत द्वारा आक्षेप किया जाता है। एक संकट-पूर्ण दुविधा (dilemma) को '**इतो व्याघ्र इतस्तटी**' ('एक ओर व्याघ्र और दूसरी ओर तटी') इस कहावत द्वारा अच्छी तरह व्यक्त किया जाता है। एक व्यग्र करने वाली स्थिति का '**उभयतःपाशा रज्जुः**' ('दोनों सिरों पर बाँधने वाली रज्जु') के रूप में वर्णन बुरा नहीं है। '**तृणभक्षणन्याय**' से अधीनता को प्रकट किया जाता है, क्योंकि प्राचीन भारतीय रिवाज के अनुसार उस मनुष्य का वध नहीं किया जाता था जो इस बात को प्रकट करने के लिए कि उसने विजेता की दया पर अपने को छोड़ दिया है अपने मुख में तृण रख लेता था। निष्फल प्रयत्न को '**श्वपुच्छोन्नमन**' ('कुत्ते की पूंछको सीधा करनेका प्रयत्न करना') इस न्याय द्वारा व्यक्त किया जाता है। अर्थाभिव्यक्ति में शब्दों के संयुक्त प्रभाव के लिए एक पालकी के उठाने में आदमियों के संमिलित कार्य की उपमा दी जाती है, '**शिबिकोद्यच्छन्-नरवत्**'। '**महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणन्याय**' ('महासमुद्र में तैरते हुए यूग या जुए के छिद्र में कछुए का प्रसङ्गवश अपनी गर्दन का डाल देना') यह एक बड़ा प्राचीन, विचित्र और रोचक न्याय है। इसका संकेत बड़ी कठिनता से होने वाली बात से है, जिसको इस दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है कि कछुआ, जो सौ वर्षों में केवल एक बार पानी के ऊपर आता है, उपरि-निर्दिष्ट कार्य को केवल प्रसङ्ग-वश ही कर पाता है।

थोड़ी वहुत मात्रा में समस्त शास्त्रीय साहित्य में व्याप्त होनेवाली उसकी एक विशेषता उपविभाजन का तथा भेदोंके आविष्कारका अनुराग है। प्रत्येक वस्तु को, प्रतिपाद्य विषय के स्वभाव पर ध्यान दिये बिना, एक योजना में बाँध कर प्रस्तुत करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ,कामसूत्र में भी विस्तार-सम्बन्धी इसी प्रकार का सावधानता-पुरस्सर किया गया विशेषताओं का निर्देश पूर्ण गंभीरता के साथ किया गया ह, और अर्थशास्त्र में निरूपित अन्तरर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में, ऐतिहासिक तत्तद् जातियों (tribes) में वर्तमान पारस्परिक वास्तविक संबन्धों के

---

१. दे० Jacobi, लौकिकन्यायाञ्जलि, तीन भाग, १९०८ आदि।

विषय में विशिष्ट अनुसन्धान के स्थान में, पड़ोसी तथा अपेक्षाकृत दूरावस्थित राज्यों के साथ संबन्धों की संभाव्यता पर आधारित सैद्धान्तिक सम्पर्कों की एक पूर्ण योजना दी गई है।[१] ऐतिहासिक पद्धति का, वास्तव में, नियत रूप से अभाव है, और उस के स्थान में कुछ अंशों में केवल बाह्य-तल-स्पर्शी स्वभाव के विश्लेषण की तथा पर्याप्त रूप से अस्थापित आधारों से किसी परिणाम पर पहुँचने की अधिक आकर्षक प्रवृत्ति पाई जाती है। उपविभागीकरणों में, जिनके प्रति भारत में अधिक मात्रा में अनुराग पाया जाता है, वर्गीकरण के न्याय्य आधारों के प्राप्त करने में प्रायेण अत्यन्त वदग्ध्य पाया जाता है, परन्तु, सूक्ष्मताओं पर विशेष ध्यान देते हुए भी, सदैव विभाजन की स्पष्ट और आवश्यक रेखाओं को उपेक्षित कर देने की प्रवृत्ति वर्तमान रहती है। इसके अतिरिक्त, परम्परा से प्राप्त बातों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति भी अपना गंभीर प्रभाव रखती है। इसका परिणाम प्रायेण, प्राचीन बातों को छोड़ देने के स्थान में, उनकी नवीन रूप में व्याख्या करने के चातुर्य-पूर्ण प्रयत्नों में होता है, और इससे सूक्ष्मताओं के विवेचन में शक्ति का अपव्यय होता है, जैसा कि हम देखते हैं कि अनुमान प्रमाण के संवन्ध में परम्परा-प्राप्त निरूपण की विलकुल विभिन्न व्याख्या समान विश्वास के साथ प्रत्येक टीकाकार करता है।[२] दूसरे उदाहरणों में जो पक्ष स्पष्टतः स्थापना के योग्य नहीं है उसकी उक्त कारणवश हेत्वाभास-रूप आधारों पर स्वीकृति और पुष्टि के लिए यत्न किया जाता है। उदाहरणार्थ, विधि अथवा धर्मशास्त्र (law) के क्षेत्र में वस्तुतः बराबर प्रगति होती रही, परन्तु उस प्रगति में वाधा इस कारण पड़ती रहती थी क्योंकि यह सिद्ध करना आवश्यक समझा जाता था कि वास्तव में कोई परिवर्त्तन नहीं हो रहा है और यह कि जिन रीति-रिवाजों को नवीन समझा जाता है उनकी विधि मनु या दूसरी स्मृति में विद्यमान है। सिद्धान्त ज्योतिष में हम देखते हैं कि ब्रह्मगुप्त ज से योग्य ग्रन्थकार भी आर्यभट की बुद्धिमत्ता-युक्त नवीन बातों पर इस आधार पर आक्षेप करते हैं कि वे पारम्परिक ज्ञान से भिन्न हैं।

साथ ही, काव्यात्मक शैली भी प्रायः हानि-कारक होती थी। उसके कारण व्यर्थ शब्दों का प्रयोग केवल पद्यों की पूर्त्ति के लिए करना पड़ता था, अथवा दूसरी ओर अतिमात्रा में संक्षिप्त और अध्याहारसापेक्ष पदावली का प्रयोग किया जाता था, जिसका फल अस्पष्टता होती थी। उत्तरवर्त्ती शास्त्रीय शैली के अपनाये जाने से स्पष्टार्थता को बहुत साहाय्य मिला था। वह शैली अपने उत्कृष्टतम रूप में संभवतः

---

१. Narendranath Law, *Inter-State Relations in Ancient India* (1920)

२. Cf. A. B. Dhruva, POCP. 1919, ii. 251 ff.

धर्मशास्त्रीय व्याख्याओं और अलङ्कार-शास्त्रीय ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती हैं; विज्ञानेश्वर, आनन्दवर्धन और रुय्यक अपनी गद्यात्मक व्याख्याओं में निर्णयात्मक रूप में पद्य के प्रयोग से होने वाली अस्पष्टार्थता की अपेक्षा उक्त शैली की उत्कृष्टता को सिद्ध कर देते हैं। आख्यायिका और कथा के सम्बन्ध में भामह के वर्णन के वास्तविक अर्थ के विषय में वर्तमान विवाद को कोई अवकाश ही नहीं मिलता, यदि उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना गद्य में की होती।[1]

१. i. 27 में, Dè (BSOS. iii. 507) के अनुसार, कवि की कल्पना से लक्षित होना, कन्या-हरण, संग्राम, विप्रलम्भ और नायक का उदय—इनका सम्बन्ध आख्यायिका से है। Nobel (*Indian Poetry*, p. 157) के अनुसार इन लक्षणों द्वारा कथा का निर्देश किया गया है। दोनों दण्डी पर भामह को न समझने का दोषारोपण करते हैं, जो उपरिनिर्दिष्ट परिस्थितियों में परिहास-जनक है।

२०.

कोश-ग्रन्थ और छन्दः-शास्त्र

१. संस्कृतकोशों का प्रारम्भ और विशेषताएँ

भारत में सम्पादित प्राचीनतम कोशात्मक कार्य[1] वैदिक शब्दों के संग्रह-रूप **निघण्टवः** में अंकित है। **निघण्टवः** की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्दावलि यास्क के **निरुक्त**[2] के साथ परम्परया उपलब्ध है। यह शब्दावलि अनेक दृष्टियों से लौकिक संस्कृत के कोषों से भिन्न है। पिछले कोशों के समान ही निघण्टु-गत शब्द-सूचियाँ भी व्यावहारिक उद्देश्य से तैयार की गई थीं, परन्तु जब कि कोशों का निर्माण शब्दों को जुटा कर कवियों की सहायता करना था, वहाँ निघण्टु-साहित्य का उद्देश्य मौलिक दृष्टि से पवित्र (वैदिक) संहिताओं की व्याख्या करना था, जो उत्तरोत्तर अस्पष्ट होती जा रहीं थीं। उक्त दृष्टि के अनुसार बाण, मयूर, मुरारि और श्रीहर्ष जैसे कवियोंके नाम से प्रसिद्ध कोशों का पता हमको मिलता है; श्रीहर्ष ने **श्लेषार्थपदसंग्रह**[3]-नामक कोश की रचना की थी, जिसमें श्लेषों में प्रयोक्तव्य शब्दों का संग्रह था। निघण्टु-गत शब्द-सूचियों में नाम और धातु दोनों सम्मिलित थे, कोशों में केवल नाम और अव्यय संगृहीत किये गये। साथ ही, जहाँ पहली सूचियों का संबन्ध केवल एक विशेष ग्रन्थ (अर्थात् वेद) से था, वहाँ कोशों का आधार किसी ग्रन्थ-विशेष पर नहीं है। नई भावना के अनुसार कोश पद्यात्मक हैं, प्रायेण श्लोकों में परन्तु कभी कभी आर्या में भी। उनमें उन अनेक कलाओं के शब्दों का भी संनिवेश रहता था, जिनके अभ्यास के संबन्ध में एक कवि से आशा की जाती थी। इसीलिए उनसे उसके श्रम की बचत होती थी। ऐसी संभावना की

---

१. इस विषय में दे० Th. Zachariae, *Die indischen Worterbücher* (1897). कोश और कोष दोनों मिलते हैं।

२. दे० S. Varma, POCP. 1919, ii. 68 ff. Cf. R. D. Karmarkar, वहीं, 62 ff.

३. Burnell, *Tanjore Catal.*, pp. 48 ff. इसी प्रकार अमर कवि-रूप में भी वर्णित हैं, Thomas, *Kav.*, p. 22; तु० ऊपर, पृ० ४००।

जा सकती है कि कोशों की रचना में विभिन्न धातुपाठों तथा वैयाकरणों की अन्य शब्द-सूचियों की विद्यमानता से प्रेरणा मिली हो, पर यह केवल अनुमान ही है।

कोशों के दो वर्ग हैं—**समानार्थक**, जिनमें विषय की दृष्टि से शब्दों को विभिन्न वर्गों में संगृहीत किया जाता है, और **अनेकार्थ** अथवा **नानार्थ**; परन्तु महत्त्व-युक्त समानार्थ कोशों में एक नानार्थक शब्दों का परिच्छेद भी सामान्य रूप से रहता है। ये ग्रन्थ केवल यदा कदाचित् देखने के ही उपयोग के लिए नहीं बनाये गये थे, किन्तु इनको कण्ठस्थ भी किया जाता था, अतः अकारादिक्रम का सिद्धान्त इनके लिए आवश्यक नहीं समझा जाता था। इसलिए उनका अवान्तर विभाजन विभिन्न, और प्रायण एक से अधिक, सिद्धान्तों पर किया गया है; तथा च ऐसा हो सकता है कि अपेक्षाकृत बड़े भाग पहले आ जावें, अथवा शब्दों का क्रम अन्तिम व्यंजनों के अनुसार या प्रारम्भिक वर्णों के अनुसार रखा गया हो, अथवा इन दोनों रूपों का मिश्रण हो, अथवा वर्णों की संख्या को आधार माना गया हो। कहीं शब्दों के लिङ्गों की सूचना भी रहती है, कभी-कभी इस विषय के लिए एक परिशिष्ट होता है, और (समानार्थक) शब्दों के क्रम के निर्धारण में लिङ्ग का ध्यान रखा जाता है। समानार्थक शब्द प्रथमा विभक्ति में ही पठित होते हैं; वे सुविधा तथा छन्द के अनुसार समस्त अथवा असमस्त भी रखे जाते हैं। नानार्थ शब्द भी इसी प्रकार दिये जा सकते हैं, अथवा उनके विभिन्न अर्थों का निर्देश सप्तमी विभक्ति में किया जा सकता है। प्रचीन कोशकार, जिनकी कृतियों के केवल खण्डित अंश ही उपलब्ध हैं, क्रम की उपेक्षा करते थे और उनकी प्रवृत्ति लम्बे लक्षणों को देने की ओर थी; उत्तरवर्ती कोशकार स्थान का अपव्यय नितरां नहीं चाहते और उसी अनुपात में उनकी रचना में अस्पष्टता है। इसके अतिरिक्त, कोशों के पाठों की स्थिति कदाचित् ही सन्तोषजनक पाई जाती है।

२. उपलब्ध कोश

जैसा कि भारत में प्रायः देखा जाता है, उत्तरवर्ती कोशों से प्राचीन कोश-ग्रन्थ अन्तरित हो गये। इसीलिए कात्यायन, जिनको एक **नाममाला** का कर्ता बतलाया जाता है, वाचस्पति और विक्रमादित्य, जो एक **शब्दार्णव** और एक **संसारावर्त** के लेखक थे, और व्याडि, जिनकी **उत्पलिनी** प्रायेण उद्धृत की जाती है और जिसमें बौद्ध शब्दावली सम्मिलित थी, जैसे महत्त्व-युक्त प्राचीन कोशकारों के केवल नामों का उल्लेख और असामान्य उद्धरणों को ही हम पाते हैं। काशगर (Kashgar) में प्राप्त वेबर-हस्तलेख (Weber manuscript) में किसी कोश के खण्डित अंश विद्यमान हैं।[1] परन्तु प्राचीनतम कोशों में से एक,

---

1. Hoernle, JASB. lxii i. 26 ff.

जो हमारे लिए सुरक्षित है, अमरसिंह का **नामलिङ्गानुशासन**[1] है, जिसको सामान्यतः **अमर-कोश** कहा जाता है। इसका लेखक एक कवि-रूप में भी ज्ञात है। वह निश्चय ही बौद्ध था, महायान से परिचित था और कालिदास के ग्रन्थों का उसने उपयोग किया था। उनके समय की निम्नतर सीमा संदिग्ध है, वे जिनेन्द्र-बुद्धि (७०० ई०) के **न्यास** को निश्चित रूप से अज्ञात हैं, परन्तु भारत में बौद्ध धर्म के अधःपतन के कारण यह असंभाव्य है कि वे आठवीं शताब्दी के पश्चात जीवित थे; छठी शताब्दी में, उनकी स्थिति को बतलाना, वे विक्रमादित्य की राजसभा के एक रत्न थे—इस कथन की अपेक्षा किसी दृढतर प्रमाण पर आधृत नहीं है।[2] **अमरकोश** में समानार्थक शब्दों का संग्रह है, और विषयों की दृष्टि से उसका विन्यास तीन काण्डों में किया गया है। तृतीय काण्ड में परिशिष्ट रूप से नानार्थक शब्दों, अव्ययों और लिङ्गों को दिया गया है। इसकी नाना टीकाओं में क्षीरस्वामी (ग्यारहवीं शताब्दी), वन्द्यघटीय सर्वानन्द (११५९) और राय-मुकुटमणि (१४३१), जिन्होंने अपने से पहले सोलह लेखकों का उपयोग किया था, इनकी कृतियों का विशेष महत्त्व है। पुरुषोत्तमदेव के **त्रिकाण्ड-शेष** में हमें विरल-प्रयोग शब्दों का एक महत्त्व-युक्त **अमरकोश** का परिशिष्ट मिलता है। उन्होंने, बारह वर्ष के श्रम के पश्चात्, लघुतर **हारावली** को भी लिखा था, जिसमें समानार्थक और नानार्थक शब्दों का संग्रह है। उक्त दोनों में अधिक विरल-प्रयोग शब्दों का एक विपुल संग्रह दिया हुआ है, जिनमें से अधिक शब्द बौद्ध ग्रन्थों से लिये गये हैं।[3] कदाचित् अमर के समान ही प्राचीन शाश्वत हैं; उनके **अनेकार्थसमुच्चय**[4] से उनके समय का संकेत मिलता है, जिसमें पूर्ण-पद्य, पद्यार्ध तथा पद्य-चतुर्थांश में दी हुई व्याख्या (अर्थात् अर्थनिरूपण) के अनुसार तद्गत अनेकार्थ-वाची शब्दों का क्रम-विन्यास दिया हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में अव्यय दिये हुए हैं।

अन्यकोश निर्णीतरूप से उत्तर-वर्ती हैं। कवि तथा वैयाकरण हलायुध की लघु **अभिधानरत्नमाला**[5] का समय लगभग ९५० है। एक शताब्दी के अनन्तर यादवप्रकाश की **वैजयन्ती**[6] लिखी गई; यह एक वृहदाकार कोश है, जिसमें शब्दों को अक्षर, लिङ्ग तथा प्रारम्भिक वर्णों के क्रम से रखा गया है। बारहवीं शताब्दी से हमें विभिन्न प्रकार के अनेक कोश प्राप्त होते हैं। उनमें से

१. Ed. TSS. 1914-17.
२. Cf. Bhandarkar, *Vaiṣṇavism*, p. 45; Keith, IOC. ii. 303.
३. Cf. Zachariae, *Bezz. Beitr.* x. 122 ff. (before 1150).
४. Ed. Zachariae, Berlin, 1882.
५. Ed. Th. Aufrecht, London, 1861.
६. Ed. G. Oppert, Madras, 1893.

सर्वोत्कृष्ट हेमचन्द्र के कोश हैं; **अभिधानचिन्तामणि**[1] में छः काण्डों में समानार्थक शब्दों का संग्रह है, जिनका प्रारम्भ जैन देवताओं से और अन्त भाव-वाचक शब्दों (abstracts), विशेषणों और अव्ययों (particles) से होता है। **अभिधान-चिन्तामणि** का ही परिशिष्ट **निघण्टुशेष** है, जो एक वनौषधियों का कोश है; **अनेकार्थ-संग्रह**[2] में छः काण्डों में अनेकार्थक शब्दों का संग्रह है, जिनका प्रारम्भ एकाक्षर शब्दों से और अन्त षडक्षर शब्दों से होता है। शब्दों का क्रम आदिम अकारादि वर्णों और अन्तिम ककारादि व्यञ्जनों के अनुसार चलता है। ११२३ और ११४० के बीच में धनञ्जय जैन ने **नाम-माला** की रचना की थी। महेश्वर के **विश्वप्रकाश**[3] का समय ११११ है; जब कि मंख के **अनेकार्थकोश**[4] के निर्माण का समय उसके कुछ पीछे है। उस पर स्वयं मंख की टीका भी है जिसमें अमर, शाश्वत, हलायुध और धन्वन्तरि का उपयोग किया गया है। केशवस्वामी के **नानार्थार्णवसंक्षेप**[5] का समय लगभग १२०० है। मेदिनीकर का **अनेकार्थशब्दकोश**[6] चौदहवीं शताब्दी की रचना है। टीकाकार प्रायः इसका उद्धरण देते हैं। हरिहर के सेनापति, इरुगप, के द्वारा, अथवा लिए, विरचित **नानार्थरत्नमाला** का संबन्ध भी चौदहवीं शताब्दी से ही है।[7]

एकाक्षरकोश, जिसमें एकाक्षर शब्दों का अर्थ दिया गया है, **द्विरूप-अथवा त्रिरूप-कोश**, जिनमें क्रमशः द्विरूप और त्रिरूप शब्दों का संग्रह है, आयुर्वेद-सम्बन्धी अथवा सिद्धान्त-ज्योतिष या फलित-ज्योतिष के शब्द-संग्रहों को देने वाले लघु कोशों का समय अनिश्चित है। बौद्ध ग्रन्थों ने वैदिक निघण्टुओं जैसी रचनाओं को पुनरुज्जीवित किया था, क्योंकि उन्होंने ऐसी रचनाओं को जन्म दिया जो विशेषतः उन्हीं की व्याख्या के लिए और गद्यात्मक रूप में लिखी गई थीं। तथा च उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध, **महाव्युत्पत्ति**,[8] में अनेक बौद्ध-धर्म-संबन्धी विषयों की विस्तृत चर्चा की गई है, और साथ ही उसमें धातु-रूप, शब्द-समूह और वाक्य भी दिये हुए हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों के कटु सम्बन्धके अनुरूप ही यह बात है कि फ़ारसी-संस्कृत-कोश **पारसीक-प्रकाश**[9] को हम अकबर के समय से पहले नहीं पाते हैं। सिद्धान्त ज्योतिष और फलित ज्योतिष के शब्दों पर वेदाङ्गराय का उपर्युक्त नाम (**पारसीकप्रकाश**) का ग्रन्थ भी १६४३ में लिखा गया था।

---

१. Ed. St. Petersburg, 1847.
२. Ed. Vienna, 1893.
३. Ed. ChSS. 1911.
४. Ed. Vienna, 1897; cf. SWA. cxli. 16 ff.
५. Ed. TSS. 1913.
६. Ed. Calcutta, 1884.
७. Śeshagiri, *Report*, 1893-4, pp. 41 f.
८. Ed. J. P. Minayeff, BB. 13, 1911.
९. A. Weber, *Über den Pārasīprakāśa* (ABA. 1887).

धनपाल ने ९७२ में अपनी भगिनी सुन्दरी के लिए **पाइयलच्छी (प्राकृत-लक्ष्मी) नाममाला**[1] नाम का एक प्राकृतकोश लिखा था। उसका उपयोग हेमचन्द्र ने अपनी **देशीनाममाला**[2] के निर्माण में किया था। इस पर उनकी अपनी टीका भी है। इस कोश में उन्होंने देशी शब्दों को, अर्थात् ऐसे शब्दों को जो न तो तत्सम हैं और न तद्भव, देने का यत्न किया है। इन शब्दों में से कुछ संस्कृत से संबद्ध दिखलाये जा सकते हैं, परन्तु अधिकतर ऐसे नहीं हैं, और उनके निर्वचन का स्रोत अब भी नितरां अनिश्चित है।[3]

इन कोशों का शास्त्रीय (या वैज्ञानिक) दृष्टि से बड़ा मूल्य नहीं कहा जा सकता है, और ऐसी आशा भी ऐसे लेखकों से नहीं की जा सकती थी जिनका लक्ष्य केवल औपयोगिक फल ही था। विशेष रूप से उत्तरवर्ती कोशों में ऐसे शब्द संनिविष्ट किये गये पाये जाते हैं जिनका आधार केवल ग्रन्थों के अशुद्ध पाठों पर अथवा उनके ग़लत अर्थों पर है, और प्रायेण ऐसा भी हुआ है कि कवियों ने शब्दों को ग़लत अर्थों में इस कारण से प्रयुक्त कर दिया है कि वे शब्द किसी अन्य शब्द के किसी विशिष्ट अर्थ को लेकर समानार्थक के रूप में दिये गये थे, पर उस समानार्थकता को सामान्य रूप में मान लिया गया। परन्तु ऐसी बातों के सम्बन्ध में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना हमारे लिए कदाचित् ही संभव होता है।

३. छन्दो-विषयक ग्रन्थ

पहले से ही ब्राह्मण-ग्रन्थों में छन्दो-विषयक बातों में रुचि दीख पड़ती है,[4] और **शाङ्खायन-श्रौतसूत्र, निदान-सूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य,** और कात्यायन की **ऋग्वेद** तथा **यजुर्वेद की अनुक्रमणियों** के खण्डों में छन्द का विचार विद्यमान है। इस विषय को **वेदाङ्ग छन्दस्** का पद दिया जाता है, और इसी नाम का एक सूत्रग्रन्थ पिङ्गल-कृत बतलाया जाता है।[5] इस ग्रन्थ का लौकिक (संस्कृत) साहित्य की दृष्टि से महत्त्व पहले ही दिखलाया जा चुका है, क्योंकि इसका संबन्ध वैदिक ग्रन्थों की अपेक्षा लौकिक संस्कृत ग्रन्थों से कहीं अधिकतर है। पिङ्गल के नाम से प्रसिद्ध

---

१. Ed. G. Bühler, *Bezz. Beitr.*, iv. 70 ff.

२. Ed. R. Pischel, BSS. 17, 1880.

३. Jacobi, *Bhavisattakaha*, pp. 62 f., 65 f., 69; Grierson, MASB. viii. 2 (*The Prakrit Dhātvādeśas*). अर्धतत्समों के संबन्ध में उनकी स्थापना (JRAS. 1925, pp. 221 f.) निश्चित रूप से आवश्यकता से अधिक विस्तृत क्षेत्र को लेकर रखी गई है।

४. तु० Weber, IS. viii; SIFI. viii; H. Jacobi, ZDMG. xxxviii. 590 ff.; xl. 336 ff.

५. Ed. हलायुध की टीका (लगभग ९५०) के साथ M. 81, 1908.

प्राकृत[1]-छन्दो-विषयक ग्रन्थ[2] बहुत पीछे का है। पिङ्गल बीजगणित-जैसे संकेतों की प्रक्रिया का अवलम्बन करते हैं: उदाहरणार्थ वे लघु अक्षर के लिए ल्, गुरु के लिए ग्, और त्रि-गुरु के लिए म् का प्रयोग करते हैं। स्पष्टत: वे नाट्यशास्त्र के छन्दो-विषयक चौदहवें और पन्द्रहवें परिच्छेदों से पूर्ववर्ती हैं, और अग्निपुराण का छन्दोविषयक भाग[3] पिङ्गल से लिया गया है। तो भी इस बात को बतलाना आवश्यक है कि ग्रन्थों में आने वाले श्लोक छन्द का पूर्णत: अथवा ठीक-ठीक वर्णन न तो पिङ्गल में और न उक्त ग्रन्थों में पाया जाता है। इसलिए निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कवियों द्वारा अपने मार्ग के अनुसरण में पिङ्गल की कृति ने मार्ग-प्रदर्शक का कार्य अवश्य किया था। जो बात स्पष्ट है वह यह है कि निश्चित रूप से पिङ्गल-सूत्र से पूर्ववर्ती ग्रन्थ हमारे पास नहीं हैं। श्रुतबोध[4] कालिदास के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु इसका कोई आधार नहीं है। इसमें लक्षण में ही उदाहरण गतार्थ हो जाता है। कभी-कभी वररुचि भी इसके कर्ता बतलाये जाते हैं। पर यह बात निश्चिततर है कि वराहमिहिर की बृहत्संहिता के एक परिच्छेद (१०४) में ग्रहों की गतियों के साथ-साथ छन्दों का वर्णन दिया गया है, और भट्टोत्पल ने अपनी टीका में एक आचार्य के ग्रन्थ को उद्धृत किया है। दण्डी ने छन्दों पर कोई ग्रन्थ लिखा था, यह मत[5] अनिश्चित है, तो भी भामह ने ग्रन्थ लिखा था यह संभव है। क्षेमेन्द्र का सुवृत्त-तिलक[6] उपलब्ध है। प्रथम-विन्यास में उन्होंने वृत्तों का वर्णन दिया है, जिसके साथ में अपने ही ग्रन्थों से उदाहरण रूप में पद्य भी दिये गये हैं; द्वितीय विन्यास में अनेक उपयोगी उद्धरणों के साथ वृत्तों के दोषों का निरूपण किया गया है; और तृतीय विन्यास में ग्रन्थ—काव्य और शास्त्र, अथवा दोनों का मिला हुआ रूप जिसमें दोनों में से एक का प्राधान्य हो—के स्वरूप के अनुसार वृत्तों के विनियोग पर विचार किया गया है। अन्त में उनका कहना है कि कवियों को विभिन्न वृत्तों का प्रयोग करना चाहिए; साथ ही वे स्वीकार करते हैं कि बड़े कवियों में प्रायेण किसी विशेष वृत्त के प्रति अपनी-अपनी अभिरुचि दीख पड़ती है, जैसे कि उपजाति के प्रति पाणिनि की, मन्दाक्रान्ता के प्रति कालिदास की, वंशस्था के प्रति भारवि की, शिखरिणी के प्रति भवभूति की, इत्यादि।

१. Cf. रत्नशेखर का छन्द:कोश; Schubring, ZDMG. Lxxv. 97 ff.

२. Ed. KM. 41, 1894. Jacobi के अनुसार इसका समय चौदहवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं है, भविसत्तकह, p. 5.

३. अध्याय ३२८—३४. भरत के संबन्ध में दे० Regnaud, AMG. ii.

४. Ed. Haeberlin, 9-14.

५. Jacobi, IS. xvii. 442 ff.

६. Ed. KM. ii. 29 ff.

हेमचन्द्र ने सामान्य रीति के अनुसार **छन्दोऽनुशासन**[1] नाम से संग्रहात्मक ग्रन्थ लिखा है, जब कि केदारभट्ट का **वृत्तरत्नाकर**[2], जिसमें १३६ वृत्तों का निरूपण किया गया है, पन्दरहवीं शताब्दी से पूर्व लिखा गया था और इसका उपयोग विस्तार से किया गया है। गङ्गादास की **छन्दोमञ्जरी**[3] भी खूब प्रसिद्ध है।[4]

४. लौकिक संस्कृत काव्य के छन्द

हमारे ग्रन्थकार वैदिककाल और लौकिक संस्कृतकाल के बीच में होने वाले छन्दोविकास के संबन्ध में हमें पूर्णतः अन्धकार में ही छोड़ देते हैं, और इस विषय में विशेष विचार करने से कोई लाभ नहीं दीखता कि ठीक-ठीक किन कारणों से संस्कृत काव्यों में वृत्तों का ऐसा प्रयोग चल पड़ा कि उनके चतुर्थांशों अथवा पादों की लंबाई निर्धारित हो गई और उनका प्रत्येक पाद बिलकुल एक ही नमूने का होने लगा, और साथ ही यह भी कि प्रथम दो और अन्तिम दो पादों में प्रत्येक का अवान्तर संबन्ध उससे कहीं अधिक घनिष्ठ रहता है जो कि द्वितीय और तृतीय पादों के बीच में होता है, जिनके मध्य में पूर्ण विराम आवश्यक होता है। यह ठीक है कि श्लोक[5] की और त्रिष्टुभ् और जगती की शैलियों में[6] दृढता अथवा अशैथिल्य की धीरे-धीरे आगे बढ़ने वाली प्रवृत्ति को हम वैदिक और पौराणिक काव्यों के साहित्य में देख सकते हैं। निस्संदेह इसका कारण सुडौलपन (symmetry) के लिए बढ़ती हुई इच्छा ही थी, जिसको वैदिक और पौराणिक काव्यों के पद्यों की रचना में स्वतन्त्रता से आघात पहुंचता था। पाद के अवसान के संबन्ध में निश्चित नियम बराबर प्रयोग में लाये जाने लगे, और जब इसमें पूर्णता आ गई, इसी आधार पर अपेक्षाकृत दीर्घतर पादों की रचना की जाने लगी। इन दीर्घतर पादों में नियत स्थानों में यतियों का नियम लागू होता है; परन्तु त्रिष्टुभ् और जगती के प्रकारों में ऐसा नहीं होता। पद्यों के स्वरूप में सौन्दर्य की रक्षा के लिए यतियों की आवश्यकता अनुभव की गई थी। वृत्तों के लक्षणों में ध्यान-पूर्वक यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि कहाँ यतियाँ रहनी चाहिएँ, और अच्छे कवियों को उन स्थानों पर पूर्ण यतियों

---

१. Bühler, *Hemachandra*, pp. 33, 82

२. Ed. Bombay, 1908. Mallinātha इसका उपयोग करते हैं।

३. BSGW. vi. (1854), 209.

४. नारायण ने **वृत्तरत्नाकर** १५४५ में लिखा था; दामोदर **वाणीभूषण** (IOC. i. 305) के रचयिता हैं।

५. GN. 1909, pp. 219 ff.; तु० Hopkins, *Great Epic*, pp 219 ff.

६. GN. 1915, pp. 490 ff.; तु० Hopkins, उपरि निर्दिष्ट ग्रन्थ में pp. 273 ff.; GN. 1919, pp. 170 ff

के रखने का नियमतः आग्रह होता है। पूर्ण यति का स्थान विभक्त्यन्त शब्द के अन्त में होता है, यद्यपि दुर्बल यतियां समास के किसी अङ्ग (पद) के अथवा एक उपसर्ग के अन्त में न्याय्यतः आ सकती हैं[1]। यतियों का स्वरूप सन्धि के कारण अस्पष्ट भी हो सकता है।

तथा च, अक्षरों (syllables) की संख्या से निर्धारित, और, श्लोक को छोड़ कर, अक्षरों की मात्रा (quantity) के सम्बन्ध में कड़ाई के साथ नियन्त्रित वृत्तों का लौकिक संस्कृत काव्य में प्राधान्य देखने में आता है। परन्तु, संभवतः लोक-प्रचलित काव्य के आधार पर, ऐसे छन्द—**मात्राछन्द**—भी प्रयोग में आने लगे जिनमें केवल मात्राओं की पूर्ण संख्या निश्चितरूप से नियत होती थी। इन मात्राओं की गणना करने के प्रकार के संवन्ध में कुछ नियम अवश्य होते हैं, परन्तु इन नियमों के अन्दर अक्षरों की संख्या में भेद हो सकता है। मात्रा छन्दों का सवसे अधिक सामान्य रूप अति सरल **वैतालीय** है, जिसमें ३०, ३० मात्राओं के दो पद्यार्ध होते हैं और प्रत्येक पद्यार्ध में क्रम से १४ और १६ मात्राओं के दो चरण होते हैं। उसका रूप इस प्रकार का होता है:—◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ – ◡ – ◡ ⏓ ॥ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ – ◡ ◡ – ◡ – ◡ ⏓. प्रत्येक चरण में एक गुरु अक्षर के अधिक होने पर **औपच्छन्दसिक** मात्राछन्द होता है। **आर्या**[2] में अधिक जटिलता होती है। छन्दो-ग्रन्थों में इसको एक **गणच्छन्द** माना गया है, क्योंकि इसमें मात्राओं की संख्या के साथ-साथ **गणों** की संख्या भी नियत होती है। तथा च आर्या के सामान्य रूप में पद्यार्ध में चार चार मात्राओं के ७॥ गण, अर्थात् ३० मात्राएँ होती हैं; चार-चार मात्राएँ इन रूपों में हो सकती हैं: ◡ ◡ ◡ ◡, – –, – ◡ ◡, ◡ ◡ –; द्वितीय और चतुर्थ गणों में ◡ – ◡ यह क्रम भी हो सकता है; छठे में केवल ◡। ◡ ◡ ◡ अथवा ◡ – ◡, जब कि अन्तिम एकाक्षरात्मक होता है। सबसे अधिक प्रयुक्त रूप में, द्वितीय पद्यार्ध के छठे गण में एक लघु अक्षर होता है, जिससे उसमें केवल २७ मात्राएँ रह जाती हैं। परन्तु पद्यार्धों की उक्त स्थिति में परिवर्तन द्वारा २७ और ३० मात्राओं के क्रम से **उद्गीति** हो सकती है। इसी प्रकार **गीति** में ३० और ३०, **उपगीति** में २७ और २७, **आर्या-गीति** में ३२ और ३२ मात्राएँ होती हैं।

---

१. *Halāyudha*, IS. viii. 462-6. उनको ऐसे उदाहरण भी अनुमत हैं, जैसे—कमलेन्/आलोक्यते; Jackson, *Priyadarśikā*, pp. xcvi f.

२. आपाततः प्रारम्भ में यह गाई जाती थी; cf. Jacobi, ZDMG. xxxviii. 599 ff.; cf. xl. 336 ff.; SIFI. VIII. ii. 84 ff.

तृतीय गण के पश्चात् यति के न होने पर पद्य को **विपुला** कहते हैं; द्वितीय, चतुर्थ और छठे गणों का यदि जगण होना आवश्यक हो तो वह **चपला** कहलाती है।

अक्षरच्छन्दों में से लौकिक संस्कृत काव्यों में पाये जाने वाले निम्नलिखित वृत्त निर्दिष्ट किये गये हैं। उनकी क्रम-योजनाएँ भी नीचे दी गई हैं। उनमें से प्रत्येक में नियमतः निर्दिष्ट प्रकार के चार चरण होते हैं। उनकी यतियों को यहाँ खड़ी रेखाओं द्वारा दिखलाया गया है :

अचलधृति: ∪∪∪∪∪∪∪∪∪∪∪∪∪∪∪∪(१६)
अनवसिता: ∪∪∪∪–––∪∪––(११)
अपरवक्त्र[1]: ∪∪∪∪∪∪–∪–∪–(११) ॥ ∪∪∪∪–
∪∪–∪–∪–(१२) दो बार
अश्वललित: ∪∪∪∪–∪–∪∪∪–|–∪∪∪∪–∪–∪
∪∪–(२३)
इन्द्रवज्रा: ––∪––∪∪–∪–⏓(११)
उपेन्द्रवज्रा: ∪–∪––∪∪–∪–⏓(११)
उपजाति: इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के पादों के पद्यों का मिश्रण
उत्सर: –∪–∪∪∪–∪∪–∪∪–∪–(१५)
उद्गता[2]: ∪∪–∪–∪∪∪–∪ | ∪∪∪∪∪–∪–∪–
(१०+१०)=a+b
–∪∪∪∪∪∪–∪∪–|∪∪–
∪–∪∪∪–∪–∪–(११+१३)=c+d
उपजाति: इन्द्रवज्रा और वंशस्था पादों का मिश्रण।
कलहंस: ∪∪–∪–∪∪∪–∪∪––(१३)
कुसुमविचित्रा: ∪∪∪∪––|∪∪∪∪––(१२)
कोकिलक (नर्कुटक, अवितथ): ∪∪∪∪–∪–∪|∪∪–∪∪|–
∪∪–(१७)
∪∪∪∪–∪–|∪∪
∪–∪∪–∪∪–∪∪∪∪–∪–
∪∪∪–∪∪–∪∪–
क्षमा: ∪∪∪∪∪∪–|–∪––∪–(१३)
चित्रलेखा: ∪∪–∪∪–∪–∪–|∪∪∪–∪–∪(१७)
जलधरमाला: ––––|∪∪∪∪––––(१२)

---

१. पुष्पिताग्रा से इस छन्द की उत्पत्ति के विषय में, तु० Hopkins, *Great Epic of India*, p. 340.

२. Cf. Jacobi, ZDMG. xliii. 464 ff.; SIFI VIII.. ii. 108 ff

जलोद्धतगतिः ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – । ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – (१२)
ततुमध्याः – – ᴗ ᴗ – – (६)
तामरस (ललितपद) : ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – – (१२)
तूणकः – ᴗ – ᴗ – ᴗ – (७) ॥ ᴗ – ᴗ – ᴗ – ᴗ – (८) दो बार
तोटकः ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – (१२)
त्रिष्टुभ्, वातोर्मी, शालिनी, इन्द्रवज्रा, वंशस्था पादों का मिश्रण
दण्डकः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ + १७ (– ᴗ –) और भेद
दोधकः – ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – – (११)
द्रुतपदः ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – – (१२)
द्रुतविलम्बितः ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ – (१२)
धीरललिताः – ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – (१६)
धृतश्रीः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ – (२१)
नन्दनः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – । ᴗ – ᴗ – – ᴗ – (१८)
पुष्पिताग्राः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ – – (१२) ॥ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ – – (१३) दो बार
पृथ्वीः ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – । ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – – ᴗ – (१७)
प्रभाः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – – ᴗ – (१२)
प्रभावतीः – – ᴗ – । ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ – (१३)
प्रमदाः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – (१४)
प्रमाणिकाः ᴗ – ᴗ – ᴗ – ᴗ – (८)
प्रमिताक्षराः ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ ᴗ – (१२)
प्रहरणकलिताः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – । ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – (१४)
प्रहर्षिणीः – – – । ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ – – (१३)
भद्रिकाः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ – (११)
भुजङ्गप्रयातः ᴗ – – ᴗ – – ᴗ – – ᴗ – – (१२)
भुजङ्गविजृम्भितः – – – – – – – – । ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – । ᴗ – ᴗ ᴗ – ᴗ – (२६)
भ्रमरविलसितः – – – – । ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – (११)
मञ्जरीः ᴗ ᴗ – ᴗ – । ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – – ᴗ – (१४)
मञ्जुभाषिणीः ᴗ ᴗ – ᴗ – । ᴗ ᴗ ᴗ – ᴗ – ᴗ – (१३)
मणिगुणनिकरः ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ । ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ ᴗ – (१५)

मत्तमयूरः ––––।–⏑⏑––⏑⏑––(१३)
मत्ता: ––––।⏑⏑⏑⏑––(१०)
मध्यक्षामा: ––––।⏑⏑⏑⏑⏑⏑।––––(१४)
मन्दाक्रान्ता:––––।⏑⏑⏑⏑⏑–।–⏑––⏑––(१७)
महामालिका (वनमाला): ⏑⏑⏑⏑⏑⏑–⏑––।⏑––⏑––⏑
–(१८)
मालती: ⏑⏑⏑⏑–⏑⏑–⏑–⏑–(१२)
मालिनी: ⏑⏑⏑⏑⏑⏑––।–⏑––⏑––(१५)
मेघवितान: ⏑⏑–⏑⏑–⏑⏑––(१०)
मेघविस्फूर्जित: ⏑–––––।⏑⏑⏑⏑⏑–।–⏑––⏑––(१९)
रथोद्धता: –⏑–⏑⏑⏑–⏑–⏑–(११)
रुक्मवती: –⏑⏑––।–⏑⏑––(१०)
रुचिरा: ⏑–⏑–।⏑⏑⏑⏑–⏑–⏑–(१३)
ललिता: ––⏑–⏑⏑⏑–⏑–⏑–(१२)
वंशपत्रपतित: –⏑⏑–⏑–⏑⏑⏑–।⏑⏑⏑⏑⏑⏑–(१७)
वंशस्था: ⏑–⏑––⏑⏑–⏑–⏑⏑(१२)
उपजाति, इंद्रवंशा(?-वज्रा) और वंशस्था पादों के पद्य
वसन्ततिलक: ––⏑–⏑⏑⏑–⏑⏑–⏑––(१४)
वातोर्मी: ––––।⏑⏑––⏑––(११)
विद्युन्माला: ––––।––––(८)
विलासिनी: ⏑⏑⏑⏑–⏑–⏑⏑⏑–⏑–⏑⏑⏑–(१७)
वैश्वदेवी: –––––।–⏑––⏑––(१२)
शार्दूलविक्रीडित: –––⏑⏑–⏑–⏑⏑⏑–।––⏑––⏑–(१९)
शालिनी: ––––।–⏑––⏑––(११)
शिखरिणी: ⏑–––––।⏑⏑⏑⏑⏑––⏑⏑⏑–(१७)
शुद्धविराज्: –––⏑⏑–⏑–⏑–(१०)
श्रीपुट: ⏑⏑⏑⏑⏑⏑––।–⏑––(१२)
सुमानिका: –⏑–⏑–⏑–(७)
सुवदना: ––––⏑––।⏑⏑⏑⏑⏑⏑–।––⏑⏑⏑–(२०)
स्रग्धरा: ––––⏑––।⏑⏑⏑⏑⏑⏑–।–⏑––⏑––(२१)
स्रग्विणी: –⏑––⏑––⏑––⏑–(१२)
स्वागता: –⏑–⏑⏑⏑–⏑⏑––(११)

हरिणप्लुत: ⏑⏑–⏑⏑–⏑⏑–⏑–॥⏑⏑⏑–⏑⏑–⏑⏑–⏑–(a=११; b=१२) दोबार

हरिणी: ⏑⏑⏑⏑⏑–।––––।⏑–⏑⏑–⏑–(१७)

श्लोक में कठिन नियमों का पालन किया जाता है। प्रत्येक अर्ध-श्लोक में आठ-आठ अक्षरों के दो पाद होते हैं, और स्वभावतः पूरा अर्ध-श्लोक चार-चार अक्षरों के चार गणों में विभक्त होता है। उनमें से चतुर्थ गण ⏑–⏑– इस रूप में होना चाहिए; यदि दूसरा ⏑––⏓ है, तो तृतीय के ⏓⏓–⏓ को छोड़कर सब संभव रूप हो सकते हैं, जबकि इस दशा में प्रथम के विषय में केवल इतना ही नियन्त्रण है कि उसका रूप –⏑⏑⏓ या ⏑⏑⏑⏓ न होना चाहिए। परन्तु यदि दूसरा गण किसी दूसरे रूप को ग्रहण करता है, उस दशा में प्रथम गण के संबन्ध में निश्चित नियन्त्रण इस इच्छा के कारण होते हैं कि कहीं छन्द में अनुचित रूप में एकरूपता न आ जाये। इन अवस्थाओं में तृतीय गण के संबन्ध में नियमानुसारी रूप जैसे ही नियन्त्रण रहते हैं। इस प्रकार अनियमित रूपों के प्रथम दो गणों के लिए हमें ये रूप प्राप्त होते हैं :

विपुला १ ⏓–⏑–
⏓⏓––⏑⏑⏑⏓

" २ ⏓–⏑––⏑⏑⏓

" ३ ⏓–⏑––।––⏓

" ४ ⏓⏓⏓–।–⏑–⏓

ऐसा लगता है कि विपुलाओं का प्रयोग मुख्यतः वैयक्तिक रुचि और शैली का प्रश्न रहा है, और, जैसा कि निर्देश किया जा चुका है, छन्द पर लिखने वाले छन्द के नियमों का वास्तविक ज्ञान प्रदर्शित नहीं करते हैं।[1]

---

१. तत्तत् छन्दों के विशिष्ट स्वरूप के संबन्ध में देखिए, A. S. Bhandarkar, POCP. 1919, i. pp. clvi f. प्रथम और द्वितीय विपुलाओं में नियमानुसार अन्तिम अक्षर गुरु होता है।

२१

व्याकरण

१. व्याकरण-संबन्धी अध्ययन का प्रारम्भ

वैदिक युग के ब्राह्मण-ग्रन्थों में हमें पर्याप्त प्रमाण[1] इसका मिलता है कि, ग्रीस देश के समान, भारत में भी व्याकरण-सम्बन्धी अध्ययन का प्रारम्भ ऐसी बातों के विचार से हुआ था जैसे उच्चारण और वर्णों की सन्धि, और वाणी के अवयवों का विवेचन जिससे हमें **विभक्ति, वचन, कुर्वन्त्** (वर्त्तमान-काल) जैसे शब्द प्राप्त होते हैं। संभवतः उसी विवेचन से उस अध्ययन का **व्याकरण** यह नाम निकला है, यद्यपि प्रायेण इसका निर्वचन पिछले काल की शब्द-रूपों के विश्लेषण की प्रवृत्ति के आधार पर दिया जाता है। यास्क के ग्रन्थ **निरुक्त** में ही हम **नाम, सर्वनाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात** इन पारिभाषिक शब्दों को पाते हैं।[2] उपर्युक्त अध्ययन की अगली अवस्था ब्राह्मण-ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु यास्क के समय में वह पूर्णतः वर्त्तमान है; उसका स्वरूप है—शब्दरूपों का विश्लेषण, जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के और Plato के असावधान अथवा मनमाने निर्वचनों से विपरीत है। हम नहीं जानते कि यह स्थिति कैसे प्राप्त हुई थी, यद्यपि यह अनुमान आपाततः ठीक प्रतीत होता है कि उसकी प्रेरणा इस तथ्य से मिली होगी कि संस्कृत के समासों में तदन्तर्गत पूर्वपद निर्विभक्तिक प्रातिपदिक रूप में आता है। इससे नामों में विभक्ति और प्रातिपदिक का विभेद करना, और तब आख्यातों में धातु, तिङ्-प्रत्यय और काल और दूसरी प्रत्ययों के विभेद की ओर प्रगति करना, और तद्धित-प्रत्ययों द्वारा नामों से तद्धितान्त नामों की और कृत्-प्रत्ययों द्वारा धातुओं से नामों की व्युत्पत्ति के सिद्धान्त तक पहुँचना बहुत-कुछ सरल था। अगला क़दम इस घोषणा का था, जैसा कि शाकटायन का कहना था, कि समस्त नाम आख्यातों से निकले हैं। इस पर गार्ग्य की आपत्ति थी कि यदि ऐसा है तो प्रत्येक वस्तु के उतने ही नाम होने चाहिए जितनी क्रियाओं से उसका संबन्ध है, और साथ ही प्रत्येक नाम उस प्रत्येक वस्तु का होना चाहिए जिस-जिसमें

---

१. दे० Wackernagel, *Altind. Gramm.*, i, pp. lix ff.; Oldenberg, *Vorwissensch. Wissenschaft*, pp. 79 f., 238 ff.

२. दे० Lakshman Sarup, *The Nighaṇṭu and the Nirukta*, pp. 54 ff. Cf. Prabhatchandra Chakrabarti, *Linguistic Speculations of the Hindus* (1924-5); S. Varma, JRAS. 1925, pp. 21 f f. (अर्थ के विवेचन पर).

उससे अभिव्यक्त क्रिया पाई जाती हो। परन्तु शाकटायन के समर्थकों ने अपने सिद्धान्त को कार्यान्वित किया, और उणादिसूत्र का, अपने वर्त्तमान रूप में नहीं, किन्तु अपने मूलरूप में इसी समय से संबन्ध है। उणादिसूत्र को, जिसमें ऐसे शब्द दिये गये हैं जिनको असाधारण प्रत्ययों से निष्पन्न किया गया है, स्पष्टतः किसी रूप में पाणिनि जानते थे।

अध्ययन के इस महत्त्व-युक्त काल का संवन्ध बहुत अंशों में वैदिक संहिताओं की रक्षा और व्याख्या से था; इस समय का कार्य शाकल्य द्वारा, जिनसे पाणिनि परिचित हैं, ऋग्वेद के पदपाठ के निर्माण में, दूसरी वैदिक संहिताओं पर रचे गये इसी प्रकार के अन्य पदपाठों में, प्रातिशाख्यों में, जो अपने मूलरूप में, कम से कम जहाँ तक उनका संवन्ध ऋग्वेद-, तैत्तिरीय- और वाजसनेयि-संहिताओं[1] से है, पाणिनि से पहले के हैं, और शिक्षाओं में देखने में आता है। शिक्षाएँ अपने वर्त्तमान रूप में संभवतः पाणिनि से पीछे की हैं, तो भी वे किसी न-किसी रूप में उनके समय में विद्यमान थीं। उनसे वह सावधानता प्रमाणित होती है जिसका उपयोग वैदिक संहिताओं के यथार्थ शुद्ध उच्चारण में किया जाता था। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि वैयाकरणों के अध्ययन का संबन्ध भाषा, अर्थात् तात्कालिक बोलचाल की भाषा से भी था। उसी भाषा के संबन्ध में, विशेषतः जैसे उसका विकास एक ओर तो वैदिक संहिताओं से और दूसरी ओर निम्नतर वर्गों की बोलियों से पृथक् रूप में होता गया, लौकिक संस्कृत व्याकरण बना। पाणिनि अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों से परिचित थे और नाम-निर्देश-पूर्वक उनका निर्देश करते हैं। उनमें शाकटायन, आपिशलि, और शौनक, तथा कुछ गौण नाम भी संमिलित हैं। उन्होंने प्राच्यों और उदीच्यों का भी उल्लेख किया है। यदि इससे भाषा के प्राच्य और उदीच्य रूपों की ओर संकेत है तो इससे उन रूपों को अध्ययन करने वाले वैयाकरणों की विद्यमानता भी प्रमाणित होती है। इसके स्थान में ऐसी कल्पना[2] करना कि स्वयं उदीच्य होते हुए भी पाणिनि पूरब में रहे थे और उन्होंने स्वयं भाषा के प्राच्य और उदीच्य भेदों का अध्ययन किया था नितरां अग्राह्य है। स्वयं पाणिनि के ग्रन्थ से जो बात स्पष्ट है वह यह है कि उन्होंने अपने अनेक पूर्ववर्ती लेखकों के प्रयत्नों का संक्षेप किया है। निश्चय ही उन्होंने उनसे अपने ग्रन्थ के स्वरूप का तथा अनेक तथ्यों का आदान किया था।

---

१. तु० Liebich, *Einführung in die ind. einheim Sprachwissenschaft.* ii. 35ff., Keith के साथ, HOS. xviii, pp. xxxix—xli, clxxi.

२. Franke, GGA. 1891, pp. 957, 975 ff.

२. पाणिनि और उनके अनुयायी

पाणिनि की अष्टाध्यायी[१] में लगभग ४००० छोटे-छोटे सूत्र हैं, जो आठ अध्यायों में विभक्त हैं। उनमें संज्ञा-शब्दों तथा परिभाषाओं का (१), रचना (समास-रचना) तथा कारक-संबन्धों में नामों का (२); धातुओं से प्रत्ययों के विधान का (३) और नामों से प्रत्ययों के विधान का (४, ५), स्वर का तथा शब्दों की रचना में वर्ण-परिवर्तन का (६, ७) और वाक्यान्तर्गत शब्द का (८) निरूपण किया गया है। परन्तु इस योजना में बराबर गड़बड़ देखने में आती है; बिना किसी न्याय्य संगति के सूत्र बीच-बीच में रख दिये गये हैं, क्योंकि ऐसा करना सुविधाजनक समझा गया था, अथवा क्योंकि इस प्रकार ग्रन्थ में संक्षेप लाया जा सकता था, क्योंकि समस्त ग्रन्थ में यथासम्भव संक्षप करने का लक्ष्य प्रधानतया वर्तमान है। हमें ग्रन्थ का क्रम युक्ति से रहित और साथ ही प्रकृत व्याकरण-शास्त्र के आधार पर संस्कृत के अध्ययन की अव्यावहारिकता भी प्रतीत होती है। पर इस आपत्ति के समाधानार्थ हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस ग्रन्थ (अष्टाध्यायी) को पढ़ने वाले इसको कण्ठस्थ किया करते थे और वे पहले से ही बोलचाल में संस्कृत के प्रयोग के आदी होते थे। ऐसी स्थिति में उन्हें संस्कृत-भाषण के सीखने की आवश्यकता न होती थी, उनका लक्ष्य केवल यही होता था कि वे शब्द-रूपों में शुद्ध शब्द और अपभ्रंश (या अपशब्द) के भेद को समझ सकें। परन्तु ग्रन्थ के क्रम में पाई जाने वाली असंगति का अंशतः असंदिग्ध रूप से यह भी कारण है कि पाणिनि को केवल परम्परा-प्राप्त सामग्री की एक राशि को अपने ग्रन्थ में स्थान देना था, जैसा कि न केवल कारकों के प्रयोग में कुछ व्यतिक्रमों से[२], अपि तु वैदिक प्रयोग को व्यक्त करने के उद्देश्य से छन्दसि,, निगमे, और मन्त्रे इन तीन शब्दों के प्रयोग से भी, विदित होता है। उक्त तीनों शब्दों में से, उनके अनुयायियों में, प्रथम शब्द अधिक प्रचलित है। उक्त व्याकरण का मुख्य लक्ष्य भाषा, उस समय की जीवित भाषा, का निरूपण करना है; परन्तु उसमें वैदिक व्याकरण का अंश भी संनिविष्ट कर दिया गया है। वैदिक व्याकरण के अंश सर्वत्र एक-से मूल्य के नहीं हैं, इससे प्रतीत होता है कि उनका आधार ऐसे विशेष अध्ययनों पर है जिनमें परस्पर पूर्णतया सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया गया है; तथा च जहाँ काठक अथवा मैत्रायणीय संहिताओं में से छोटी-छोटी बातों को भी दिया गया है, वहाँ

---

१. Ed. and trans. O. Böhtlingk, Leipzig, 1887; श्रीशचन्द्रवसु, इलाहाबाद १८९१–८.

२. Cf. Weber, IS. xviii. 508 ff.

अन्य प्रसङ्गों में वैदिक व्यतिक्रमों का 'बहुलं छन्दसि' के रूप में केवल अस्पष्ट निर्देश ही कर दिया गया है, वैदिक शब्द निपातन-रूप से उद्धृत कर दिये गये हैं, और शब्द-रूपों के निर्हेतुक अपवाद वैदिकत्वेन साधु मान लिये गये हैं।

व्याकरण का आधारीभूत सिद्धान्त है—नामों की आख्यातों से व्युत्पत्ति; इस दृष्टि से कठिन शब्दों का निरूपण पाणिनि स्वयं न करके उनके लिए वे अपने समय में वर्त्तमान उणादि-सूची (तु० 'उणादयो बहुलम्' ३।३।१) का उल्लेख कर देते हैं। समस्त व्युत्पत्तियाँ प्रत्ययों द्वारा की जाती हैं, और, इसी लिए, जब कोई शब्द-विशेष किसी आख्यात की धातु के समान ही होता है, अथवा एक नाम-शब्द उस शब्द से अभिन्न होता है जिससे उसकी व्युत्पत्ति की जाती है, उस दशा में लुप्त प्रत्ययों की कल्पना कर ली जाती है, उदाहरणार्थ—बदर का अर्थ है बदर-वृक्ष का फल। शब्द-व्युत्पत्ति की प्रक्रिया में शब्दों में आनुषङ्गिक रूप से होने वाले वर्ण-परिवर्तनों को छोड़कर वर्ण-विज्ञान (phonetics)-संबन्धी कोई विवेचना नहीं की जाती है। परन्तु इस क्षेत्र में पाणिनि, अथवा अधिक ठीक रूप में उनके पूर्ववर्ती आचार्य-गण, विशेषतया उल्लेखनीय परिणामों तक पहुँचे थे, जैसे कि गुण और वृद्धि के परिवर्तन, दीर्घ ॠ से युक्त रूप, ऐकारान्त धातुएँ, मज्ज् (गोता लगाना) का मौलिक रूप मस्ज्, विभक्तियों के अन्त में स्—इन के विषय में स्वीकृत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में। शब्दों का विश्लेषण नियमानुसार बड़ी बुद्धिसूक्ष्मता के साथ किया जाता है; लुट् लकार के कर्तास्मि जैसे प्रयोग का एक सादा धातु-रूप में निरूपण बहुत ही कम देखने में आता है। इस दृष्टि से ग्रीक वैयाकरणों के काम की तुलना में पाणिनि का स्तर पूर्णतः भिन्न है। यह प्रस्तावना, कि पाणिनि और उनके पूर्ववर्ती आचार्य एक नवीन भाषा के निर्माण में प्रवृत्त थे, अथवा वे शब्द-रूप जो प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुए हैं आपाततः प्रामाणिक नहीं माने जा सकते, अब छोड़ दी गई है।

ग्रन्थ में अभिप्रेत लाघव को लाने के लिए अनेक उपायों का अवलम्बन किया गया है; विभक्तियों का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया गया है, तिङन्तों को छोड़ दिया गया है, अधिकार-सूत्र अपने से आगे आने वाले सूत्रों के अर्थ को अनुवृत्ति-द्वारा नियन्त्रित करते हैं; सबसे बड़ी बात यह है कि वास्तविक शब्दों का स्थान बीज-गणित-जैसे सांकेतिक संज्ञा-शब्द ले लेते हैं; 'इको यणचि' इस सूत्र का अर्थ है— अपने से भिन्न स्वर के परे होने पर (इक्) स्वर के स्थान में स्व-संबन्धी अन्तःस्था (या 'यण्') हो जाता है; अष्टाध्यायी के अन्तिम सूत्र 'अ अ' का अर्थ है—अष्टाध्यायी की प्रक्रिया-दशा में जिस अ को एक विवृत वर्ण माना गया है, जिसका सादृश्य दीर्घ आ में पाया जाता है, वास्तव में एक संवृत

वर्ण है और उसका उच्चारण '*but*' के *u* के समान होता है। **परस्मैपद, आत्मनेपद, नपुंसक** जैसे व्याकरण के नियमों के विरुद्ध बने हुए कुछ पारिभाषिक शब्द संभवतः पाणिनि से अधिक प्राचीन हैं; दूसरे ऐसे भी शब्द हैं जो मौलिक शब्दों के संक्षिप्त रूप हैं जैसे **इति** से **इत्**, जिससे ऐसे वर्ण को द्योतित किया जाता है जो उच्चारण में नहीं आता और जो किसी शब्द में तद्विषयक किसी वैशिष्ट्य के निरूपण के लिए लगा दिया जाता है। ऐसे **अनुबन्धों** का प्रयोग निस्संदेह पाणिनि से पूर्व का है, जैसा कि **उणादि** इस शब्द से सिद्ध होता है।

यह दुःख की बात है कि पाणिनि का समय अनिश्चित है।[१] वे यास्क और शौनक से उत्तरकालीन थे, संभवतः वे न केवल ब्राह्मणों के ही किन्तु प्राचीन उपनिषदों के भी पश्चात् हुए थे और वैदिक साहित्य के सूत्र-काल में जीवित थे, परन्तु दुर्भाग्यवश इन तथ्यों से हमें सापेक्ष ऐतिहासिक क्रम के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता। हम जानते हैं कि वे सांप्रतिक अटक के पास शलातुर के रहने वाले थे, जहाँ ह्वेन् त्सांग (Hiuen Tsang) ने उनकी स्मृति में स्थापित एक मूर्त्ति को देखा था; उनकी माता दाक्षी थीं, और एक आख्यान के अनुसार उनकी मृत्यु एक सिंह से हुई थी। उत्तर-पश्चिम के साथ उनके संबन्ध का महत्त्व है, जबकि हम उनके ग्रन्थ में **यवनानी** शब्द पाते हैं, जिसका अर्थ संभवतः ग्रीक (Ionian) लिपि है। हाँ, यह एक प्रक्षेप भी हो सकता है, और ऐसा होने पर इस शब्द का कोई महत्त्व नहीं है। यदि नहीं, तो भी यह हमें संदेह में ही रखता है, क्योंकि महान् अलेग्ज़ेंडर (Alexander the Great) के आक्रमण के पश्चात् पाणिनि ने ग्रन्थ-रचना की थी—यह कल्पना, यद्यपि **गणपाठ** में **आम्भि** और **भगल**, Omphis और *Phegelas* के आने से उसकी पुष्टि की गई है[२], इस कारण से स्पष्टतः निराधार है कि भारत का ग्रीस के साथ संपर्क ऐसा ही प्राचीन है जैसा कि Xerxes का अभियान। तो भी, सामान्यतः चतुर्थ शताब्दी (ई० पू०) से पहले पाणिनि को ले जाना आवश्यक नहीं दीखता। यदि वे ३५० (ई०पू०) के लगभग विद्यमान थे, तो उस दशा में कात्यायन, जिनको हम २५०–२०० (ई० पू०) के लगभग रख सकते हैं, अपने संशोधनों के औचित्य के प्रदर्शनार्थ भाषा में पर्याप्त

---

१. Keith, HOS. xviii, pp. clxviii f.; *Aitareya Āraṇyaka*, pp. 21ff; Lüders, SBA. 1919, p. 744; Liebich, *Pāṇini* (1891); Kielhorn, GN. 1885, pp. 185 ff.; Wecker, *Bezz. Beitr.* xxx. 1 ff., 177 ff. Belvalkar (*Systems of Sanskrit Grammar*, p. 15) लगभग ७००-६०० का समर्थन करते हैं; cf. Bhandarkar, JBRAS. xvi. 340 f.; Keith, IOC. ii. 242.

२. Lévi, JA. 1890, ii. 234 ff.

विभिन्नता सरलता से पा सकते थे। जैसा हम देख चुके हैं, निश्चय ही इस बात के प्रमाण हैं कि भाषा में परिवर्तन आ चुके थे; परन्तु उस आधार पर पाणिनि को छठी या सातवीं ई० पू० शताब्दी में रखने में कोई ग्राह्यता नहीं प्रतीत होती।

कात्यायन संभवतः ई० पू० तृतीय शताब्दी में वर्त्तमान थे,[1] यद्यपि इस विषय में पक्का प्रमाण संभव नहीं है; और वास्तव में उक्त तिथि का आधार इस तथ्य पर है कि आपाततः वे पतञ्जलि से बहुत पहले नहीं हुए थे। कात्यायन के वार्त्तिकों से जो निश्चित रूप से प्रभाव मन पर पड़ता है वह यही है कि वे कभी-कभी, सदैव नहीं, भाषा-गत व्यवहार के उन भेदों को लेकर जो उनके और पाणिनि के अवान्तरकाल में उत्पन्न हो गये थे, पाणिनि पर आक्षेप करते हैं अथवा उनकी अशुद्धियों का शोधन करते हैं, जबकि पतञ्जलि के साथ में ऐसा प्रतीत होता है कि उनके और कात्यायन के बीच में समय का बड़ा अन्तर नहीं था। कात्यायन पाणिनि के छिद्रान्वेषी आलोचक नहीं थे; वे उनके सूत्रों पर प्रश्न उठाने वाले पहले व्यक्ति भी नहीं थे; उन्होंने जो काम किया वह था आलोचनाओं का परीक्षण, उनमें से कुछ का परिहार, कुछ की स्वीकृति, और इसलिए पाणिनि के सूत्रों की न्यूनता की पूर्त्ति और उनका संकोचीकरण। परन्तु, उनको हम पाणिनि का विरोधी न मानते हुए भी, ऐसा कह सकते हैं कि पाणिनि की भूलों के दिखाने में वे खेद का अनुभव नहीं करते थे। पतञ्जलि, जिनके महाभाष्य में कोई १२४५ सूत्रों पर कात्यायन के वार्त्तिक हमारे लिए सुरक्षित हैं, कात्यायन की आलोचनाओं पर विचार करते हैं, और अनेक जगहों पर वे पाणिनि की पुष्टि करते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि केवल पुष्टि करना ही उनका निश्चय है। इसके अतिरिक्त, पाणिनि के अन्य सूत्रों के परीक्षण और उनके संशोधन अथवा उनके व्याख्यान के रूप में वे अपने पूर्ववर्ती कात्यायन के काम की भी बड़े परिमाण में पूर्त्ति करते हैं। यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि के सामने कात्यायन के वार्त्तिक के अतिरिक्त अन्य अनेक आलोचनाएँ और ग्रन्थ भी विद्यमान थे; महाभाष्य में पद्यात्मक वार्त्तिक, जो सबके सब आवश्यक रूप से कात्यायन के नहीं हैं, और कारिकाएँ, जो संभवतः पतञ्जलि और अन्य अनेक आचार्यों की कृति हैं, भी पाई जाती हैं; इन पद्यों में प्रयुक्त छन्दों का वैविध्य उल्लेखनीय है, जिनमें कुछ उत्तरकालीन नितरां विरल, परन्तु जटिल, छन्द भी सम्मिलित हैं। अन्य आचार्यों के साथ-

---

१. वार्त्तिक, २।१।६०, के आधार पर २४८–२०० के समय के पक्ष में जायसवाल की युक्तियाँ (IA. xlvii. 138; xlviii. 12) प्रामाणिक नहीं है। उनकी शैली के संबन्ध में दे० V. G. Paranjpe, *Le Vārtika de Kātyāyana* (1922), जो एक अधिक प्राचीन तिथि को प्रस्तुत करते हैं; तु० Smith, EHI. p. 470.

साथ पतञ्जलि व्याडि, जिनके ग्रन्थ—संग्रह—के संबंध में बहुत-कुछ अन्दाज़ा लगाया गया है परन्तु बहुत कम परिज्ञात है, वाजप्यायन, पौष्करसादि, गोणिकापुत्र, और गोनर्दीय, जिनके साथ पहले पतञ्जलि का अयथार्थतः तादात्म्य माना जाता था,[1] का भी निर्देश करते हैं।

कात्यायन और पतञ्जलि के व्यक्तित्व के संबन्ध में हमारी जानकारी उपेक्षणीय है। कात्यायन का या तो वररुचि यह दूसरा नाम था अथवा प्राचीन काल से ही इस नाम के दूसरे व्यक्ति के साथ भ्रान्तिवश उनको मिला दिया गया था; और अनेक ग्रन्थ किसी वररुचि की रचना बतलाये जाते हैं, जिनमें प्रथम उपलब्ध प्राकृत व्याकरण, प्राकृतप्रकाश, कातन्त्र का चतुर्थ अध्याय और लिङ्गानुशासन[2], वाररुचसंग्रह[3] जिसमें पच्चीस कारिकाओं में कारक, समास, धातुएँ और नामसिद्धि का निरूपण किया गया है, एक शब्दकोश, वैदिक पुष्पसूत्र, और काव्यात्मक पद्य संमिलित हैं। पतञ्जलि ने एक वाररुचकाव्य का उल्लेख किया है। इसलिए हम किसी प्राचीन वररुचि-नामक कवि की स्थिति में विश्वास कर सकते हैं, पर उनको उक्त कारिकाओं के रचयिता के साथ एक करके मानना आवश्यक नहीं है। प्राकृत-प्रकाश के रचयिता के साथ उनका तादात्म्य अत्यन्त अग्राह्य है, क्योंकि उस ग्रन्थ की प्राकृत का स्वरूप बहुत पीछे का है, और हम यह कल्पना कर सकते हैं कि अन्य रचनाओं को तत्कर्तृक बतलाने का कोई मूल्य नहीं है। उत्तरकालीन अनुश्रुति के अनुसार वररुचि पाणिनि के समकालीन तथा पाटलिपुत्र के नन्दों के एक अमात्य थे; कुमारलात[4] वास्तव में इस बात की पुष्टि करते हैं। परन्तु यदि यह कवि वर्त्तमान थे, तो भी इससे वैयाकरण वररुचि के सम्बन्ध में कुछ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कुमारलात केवल एक कवि के संबंध में कहते हैं। इससे अधिक मूल्यवान् पतञ्जलि का यह प्रमाण है कि कात्यायन एक दाक्षिणात्य थे।

पतञ्जलि विष्णु की निद्रा के समय उनके विश्राम स्थान शेषनाग के अवतार माने जाते हैं, और वे योगसूत्र के रचयिता भी माने जाते हैं, जो मत योगसूत्र के ग्रन्थकार की कुछ व्याकरण-संबन्धी अशुद्धियों के तथा दार्शनिक शब्दावली में

---

१. Kielhorn, IA. xv. 81 f.; xvi. 101 f.; GN. 1885, pp. 189 ff., जो कात्यायन और पतञ्जलि के बीच में एक लंबे काल की स्थापना करते हैं; *Kātyāyana and Patañjali* (1876).

२. Liebich, *Einführung in die ind. einheim. Sprachwissenschaft*, i. II. दे० Winternitz, GIL. iii. 391.

३. Ed. TSS. 33, 1913.

४. सूत्रालंकार, trans. E. Huber, p. 88.

कुछ विभेद के आधार पर ग्राह्य नहीं है। साथ ही यह तथ्य भी है कि उक्त अनुश्रुति बहुत पीछे की है और स्पष्टतः उसका कारण नाम का सादृश्य ही है।[1] उनका समय[2] अब भी विवादास्पद है। इसके साक्ष्य में उनके **महाभाष्य** में वे कथन हैं जिनमें निस्संदेह रूप से पुष्यमित्र के लिए, जिसका राज्य लगभग १८५ या १७८ ई० पू० में शुरू हुआ था, किये गये एक यज्ञ का, तथा एक यवन द्वारा, जिसको अधिक ग्राह्य-रूपेण ग्रीक Menander (लगभग १५६–१५३) से अभिन्न कहा जाता है, साकेत और मध्यमिका पर एक आसन्न-कालीन आक्रमण का उल्लेख है। इन तिथियों से **महाभाष्य** की रचना के लिए लगभग १५०–१४९ का समय, अभी तक अनिश्चित, इस संभाव्य कल्पना के आधार पर प्राप्त होता है, कि उक्त उल्लेख स्वयं पतञ्जलि के ही हैं। कुछ थोड़ी सी पुष्टि इस बात से मिल सकती है कि कात्यायन, परन्तु पाणिनि नहीं, अशोक के अभिलेखों में प्रसिद्ध **देवानां प्रिय** इस उपाधि का जिक्र करते हैं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि उनका काल २५० ई० पू० के बाद का है, और यह बात पतञ्जलि के काल १५० ई० पू० के साथ ठीक बैठती है। इसके परित्याग कर देने पर हमें अपने को इसी से संतुष्ट करना होगा कि कल्हण ने अभिमन्यु के, जिसके समय को हम नहीं जानते, शासन-काल में कश्मीर में **महाभाष्य** के अध्ययन के पुनरुज्जीवन की बात को अंकित किया है, और यह कि भर्तृहरि (लगभग ६५०) से उनके अपने समय से पहले उस ग्रन्थ के अध्ययन की लम्बी परम्परा सिद्ध होती है।

महाभाष्य[3] की रोचकता अपनी शैली के कारण है, जिससे हमें तत्कालीन शास्त्रीय विवाद की पद्धति का जीवित चित्र प्राप्त होता है। एक प्रश्न उठाया जाता ह; एक आचार्य-देशीय, बिलकुल अयोग्यता से नहीं परन्तु पर्याप्त रूप से संतोषजनक रीति से भी नहीं, उसका उत्तर देता है, और एक आचार्य प्रकृत विषय का समाधान करता है। इसलिए शैली सजीव, सरल और ओजस्वी है, और अशोक के अभिलेखों के समान—जिससे संभवतः प्रस्तावित समय की पुष्टि होती है—उसमें प्रायण **'कुतः'**, **'कथम्'**, अथवा **'किन्तर्हि'** इस प्रकार प्रश्न उठा कर उसका उत्तर दिया जाता है। लोकोक्तियाँ और दैनिक जीवन की बातों के उल्लेख ग्रन्थ में आते हैं और उनसे शास्त्रीय विवादों में सजीवता के साथ-साथ पतञ्जलि के काल में चिन्तन और जीवन की अवस्थाओं के सम्बन्ध में मूल्यवान् संकेत भी हमें

---

१. Cf. Woods, HOS. xvii, pp. xv ff.; Jacobi, GGA. 1919, pp. 14 ff.; DLZ. 1922, p. 271.

२. Cf. Smith, EHI. pp. 227-9; Winternitz, GIL., iii. 389; Bühler, *Di indischen Inschriften*, p. 72; Keith, IOC. ii. 243 f.

३. Ed. Kielhorn, BSS. 1906 ff.

प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार पतञ्जलि धार्मिक और सामाजिक इतिहास तथा साहित्य के सम्बन्ध में जानकारी के एक स्रोत ह। उनकी शैली का एक अच्छा उदाहरण मौर्यों के संबन्ध में एक प्रसिद्ध उल्लेख[१] से प्राप्त होता है: पाणिनि का एक सूत्र किसी व्यक्ति की प्रतिकृति के अर्थ में उसके नाम से क प्रत्यय का विधान करता है, परन्तु साथ ही वे कहते हैं कि उस प्रतिकृति के जीविकार्थ और अपण्य होने पर उस प्रत्यय का लोप हो जाता है। पतञ्जलि कहते हैं: **"अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति शिवः स्कन्दो विशाख इति। किं कारणम्? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत् तासु न स्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।"** 'पाणिनि की इस शर्त पर कि प्रतिकृतियाँ पण्य न हों यह आपत्ति उठाई गई है कि इस सिद्धान्त के मानने पर शिव, स्कन्द, विशाख ये रूप अशुद्ध माने जावेंगे। ऐसा क्यों है? क्योंकि मौर्यों ने धन की लालच में उसके लिए देवताओं की मूर्त्तियों का उपयोग किया था (अर्थात्, उन्होंने उनका व्यापार किया था, और इसलिए शिवक आदि जसे रूप होने चाहिए)। (अन्तिम उत्तर।) बहुत अच्छा, माना कि क के लोप का नियम मौर्यों की उपर्युक्त मूर्त्तियों में नहीं लगता है; तो भी वह नियम उन मूर्त्तियों में लगता है जो अब पूजार्थ प्रयुक्त होती हैं।' यह स्पष्ट है कि ऐसी पंक्तियों को बोध-गम्य बनाने के लिए जिस अंश को गतार्थ मानना आवश्यक होता है उससे एक प्रकार से पाठक पर भार ही पड़ता है।[२] और वस्तु-स्थिति तो यह है कि पिछले काल के अध्येताओं के लिए **महाभाष्य** निस्सन्देह गम्भीर कष्ट देता रहा है। भर्तृहरि ने, जिनकी मृत्यु ६५१ के लगभग हुई थी, उस पर एक टीका लिखी थी जो प्रायेण नष्ट हो चुकी है। उन्होंने पद्यात्मक तीन काण्डों में **वाक्यपदीय**[३] की भी रचना की थी, जिसमें मुख्यतः भाषा के दर्शन का निरूपण है। यह एक कठिन ग्रन्थ है, जिसमें समकालीन दार्शनिक विवादों से पूर्ण परिचय का पुष्कल साक्ष्य वर्त्तमान है। **महाभाष्य** पर कैयट[४] की टीका, जिसका संबन्ध बारहवीं शताब्दी से हो सकता है परन्तु जिसको अनुश्रुति अधिक पहले रखती है, भर्तृहरि से आधिक्येन आदान करती है, और स्वयं उस पर अनेक ग्रन्थों के रचयिता नागोजी भट्ट (लगभग १७००) ने टीका लिखी है। दोनों यह दिखाते हैं कि पतञ्जलि के समझने में उनको प्रायेण हमारे समान ही अधिक कष्ट उठाना पड़ा था।

---

१. Bhandarkar, JBRAS. xvi. 206 ff.

२. Cf. B. Geiger, *Mahābhāṣya zu P. vi. 4.22 und 132* (SWA. 1908).

३. Ed. पुण्यराज की टीका के सहित, BenSS. 1887-1907; Kielhorn, IA. xii. 226 ff.; Pathak, JBRAS. xviii. 341 ff.

४. Bühler, *Report*, pp. 71 f.; Peterson, *Report*, i, p. 26.

भर्तृहरि को छोड़कर, महान् वैयाकरणों की पंक्ति पतञ्जलि पर समाप्त हो जाती है। इस में सन्देह नहीं है कि अपने समय की भाषा को उन्होंने सामने रखा था; उनकी भूमिका अप्रयुक्त शब्दों के ज्ञान की असंभाव्यता पर बल देती है, और कात्यायन के समान वे भी पाणिनि को एक जीवित भाषा के प्रकाश में ही देखते हैं। तदनन्तर तीनों महान् वैयाकरणों का उपयोग किया गया है, उनकी व्याख्या के लिए, अथवा अपेक्षाकृत अधिक कार्य-कर विवरण के उद्देश्य से उनके सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या के लिए, प्रयत्न किये गये हैं। परन्तु जीवित भाषा की दृष्टि से भाषा के तथ्यों के पुनः प्रतिपादन की दिशा में कुछ भी नहीं किया गया है। कुछ कारणों से जिनको निश्चित रूप से हम नहीं समझा सकते, पाणिनि और उनके अनन्तर भावी अनुयायियों के प्रामाण्य को प्रधानता दी गई; कालिदास जैसे महान् कवियों में भी उनके सूत्रों से विरुद्ध प्रयोग अशुद्ध समझे जाते थे;

पाणिनि की एक टीका, जयादित्य और वामन की **काशिकावृत्ति**,[1] अपनी जानकारी के परिमाण, सापेक्ष दृष्टि से अपनी स्पष्टता, और पाणिनि के ग्रन्थ में होने वाले परिवर्तनों के संबन्ध में अपने साक्ष्य के लिए, प्रशंसा के योग्य है। यह वृत्ति इत्सिंग (I-tsing) की भारत-यात्रा से पहले लिखी गई थी। उन्होंने अपनी यात्रा में देखा कि संस्कृत व्याकरण के अध्ययन के लिए चीनी छात्र नियमतः इसी को काम में लाते थे। वे यह भी लिखते हैं कि पन्दरह वर्ष की अवस्था हो जाने के बाद पाठशालाओं में छात्र पाँच वर्ष तक इसका अभ्यास करते थे। इस वृत्ति के अध्याय १—५ जयादित्य के लिखे हुए प्रतीत होते हैं; ऐसी कल्पना की जा सकती है कि उनकी मृत्यु के कारण वामन ने इसको समाप्त किया था। बौद्ध जिनेन्द्रबुद्धि ने ७०० के लगभग इस पर एक टीका लिखी थी, और माघ द्वारा उल्लिखित **न्यास**[2] से इसी टीका का अभिप्राय प्रतीत होता है। एक दूसरे बौद्ध, शान्तिदेव, ने ११७२ में सर्वरक्षित के निरीक्षण में एक **दुर्घटवृत्ति**[3] की रचना की थी, जिसमें पाणिनि के ग्रन्थ के कठिन स्थलों पर विचार किया गया था। उनके अनेक उद्धरणों में से किसी पाणिनि के **जाम्बवती-विजय** के तीन पद्य भी हैं। वैयाकरण पाणिनि के साथ उनके तादात्म्य के प्रश्न को हम बिना किसी

---

१. Ed. Benares, 1898; B. Liebich, *Zwei Kapitel der Kāśikā* (1892); पाणिनि के ग्रन्थ पर, Kielhorn, IA. xvi. 178 ff.

२. २।११२ (माघ), Ed. by Srish Chandra Chakravarti (Rājshahi, 1914 ff.), see i. 47, 48 on the authorship of the *Kāśikā*. इसी पर पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति (लगभग ११५०) आधृत हैं; ed. 1918.

३. Ed. TSS. 6, 1909.

आपत्ति के अप्रामाणिक रूप में हटा सकते हैं। परन्तु पाणिनि संस्कृत की शिक्षा नहीं दे सकते थे, जिस उद्देश्य से उनके व्याकरण की रचना भी नहीं की गई थी। इस प्रयोजन के लिए उनके व्याकरण का पुनर्लेखन और एक नया क्रम आवश्यक था। इस आवश्यकता की पूर्त्ति रामचन्द्र की **प्रक्रियाकौमुदी**[१] (लगभग १४००) से हुई। भट्टोजि दीक्षित की सुप्रसिद्ध **सिद्धान्तकौमुदी**[२], जो असन्तोषजनक नहीं है, उसी के आधार पर लिखी गई है। उस पर स्वयं ग्रन्थकार ने **प्रौढमनोरमा** नाम की टीका लिखी है। उसी के आधार पर **मध्यसिद्धान्तकौमुदी** और **लघुकौमुदी**[३] नाम की दो पाठशालोपयोगी व्याकरण की पुस्तकें लिखी गईं।

जैसा हम देख चुके हैं, पाणिनि एक पूर्व-निर्मित **उणादिसूत्र**[४] को मानते हैं। उसके उपलब्ध पाठ में **दीनार** अथवा **मिहिर** जैसे परवर्ती शब्द संमिलित हैं, और पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट **पान्थ** जैसे कुछ शब्द छोड़ भी दिये गये हैं। उसका रचयिता शाकटायन अथवा वररुचि को बतलाया जाता है। **धातुपाठ** अपने तत्त्विक रूप में पाणिनि की रचना है; इसमें गणों के अनुसार धातुएँ पठित हैं, जिनमें लगे हुए अनुबन्धों द्वारा उनके रूपों की रचना के संबन्ध में सूचना का निर्देश किया गया है। मैत्रेयरक्षित के **धातुप्रदीप** की, देव के **दैव** की, कृष्ण-लीला-शुक के, जो हेमचन्द्र के पश्चाद्भावी थे, **पुरुषकार**[५] की, जिस नाम में उपहास का पुट है, और चौदहवीं शताब्दी के सायण के भाई माधव के नाम से प्रसिद्ध **माधवीय-धातुवृत्ति**[६] की रचना इसी (धातुपाठ) के आधार पर हुई है। **गणपाठ** में प्रक्षिप्त अंश मिला हुआ है, और वर्धमान की **गणरत्नमहोदधि**[७] (११४०) का आधार उक्त **गणपाठ** पर न होकर किसी दूसरे व्याकरण पर है। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के संबन्ध में स्वरों के नियमों का निरूपण शान्तनव के, जो पतञ्जलि से परवर्ती हैं, **फिट्सूत्र**[८] में किया गया है। **अष्टाध्यायी** के सूत्रों की रचना से संबन्ध रखने वाली परिभाषाओं के स्वरूप का निर्धारण, यदि स्वयं पाणिनि ने उनको शब्दतः नहीं पठित किया था तो, प्रारम्भ से ही कर लिया गया

१. S. C. Vidyabhusana, JPASB. 1908, pp. 593 ff.

२. Ed. Bombay, 1882. समय—सत्तरहवीं शताब्दी.

३. Ed. and trans. J. R. Ballantyne, Benares, 1867.

४. Ed. Böhtlingk, St. Petersburg, 1844; उज्ज्वलदत्त की टीका, ed. London, 1859.

५. Ed. TSS. I, 1905.

६. Ed. *Pandit*, iv-viii, xvii-xix.

७. Ed. J. Eggeling, London, 1879.

८. Ed. F. Kielhorn, AKM. IV. 2, 1866.

होगा। परिभाषाओं के अनेक संग्रहों में से वह संग्रह जिस पर नागोजी भट्ट ने अपने परिभाषेन्दुशेखर[1] में टीका की है सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

३. परवर्त्ती संप्रदाय

परवर्ती संप्रदायों में वास्तविक रुचि की कोई बात नहीं है और उनका सर्वेक्षण संक्षेप में किया जा सकता है। संभवतः प्राचीनतम कातन्त्र[2] 'लघुतन्त्र' था, जिसको कौमार और कालाप भी कहा जाता है। पिछले दोनों नामों से इस आख्यान की स्वीकृति द्योतित होती है कि उसके ग्रन्थकार शर्ववर्मा ने उसे शिव के विशेष वर को पाकर लिखा था। सातवाहन के साथ उनके संबन्ध को स्थापित करने वाले आख्यान पर भी ध्यान दिया गया है, पर उसकी प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट किया गया है।[3] जो बात निश्चित है वह यह है कि उक्त ग्रन्थ का कश्मीर और बंगाल में अधिक प्रभाव था, और यह कि उसने कच्चायन के पालिव्याकरण और द्राविड वैयाकरणों को गंभीर रूप में प्रभावित किया था। मूल में उसमें चार अध्याय थे, परन्तु तिब्बती अनुवाद में और दुर्गसिंह की वृत्ति में उसके साथ परिशिष्ट भी जोड़े हुए मिलते हैं; मध्य एशिया में उनके खण्ड प्राप्त हुए हैं,[4] और उसका धातुपाठ केवल तिब्बती अनुवाद में ही उपलब्ध है। दुर्गसिंह की वृत्ति के अतिरिक्त जिस पर स्वयं उन्होंने एक टीका लिखी थी, एक प्रकार की टीका उग्रभूति की शिष्यहितान्यास (१०००)[5] में भी उपलब्ध है। तिब्बती परम्परा के अनुसार शर्ववर्मा ने इन्द्रगोमी, के व्याकरण का उपयोग किया था, और ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ नेपाल के बौद्धों में लोक-प्रिय था, परन्तु अब यह नष्ट हो चुका है, यद्यपि उसके ग्रन्थकार की कभी विद्यमानता की वास्तविकता निश्चित है।

काशिकावृत्ति में, नाम-निर्देश के बिना, चन्द्र के व्याकरण, चान्द्रव्याकरण,[6] का उपयोग किया गया है। यह ग्रन्थ बौद्ध देशों, कश्मीर, तिब्बत और नेपाल, में लोकप्रिय था और वह सीलौन (लंका) में भी पहुँचा था। उसका समय अनिश्चित है, क्योंकि

---

१. Ed. and trans. Kielhorn, BSS. 1868; ed. AnSS. 72.

२. Ed. with Durgasiṁha's comm., J. Eggeling, BI. 1874-8. दे० B. Liebich, *Einführung in die ind. einheim. Sprachwissenschaft* (Heidelberg, 1919). उन्होंने, संप्रति अनुपलब्ध, इन्द्रगोमी के ग्रन्थ की उपेक्षा की है; तु० Kielhorn, IA. xv. 181 f.

३. Winternitz. (GIL. iii. 379) तीसरी ई० शताब्दी का सुझाव देते हैं।

४. Cf. L. Finot, *Muséon*, 1911, p. 192.

५. Sachau, *Alberuni*, i. 135; *Bodleian Catal.* ii. 129.

६. Ed. B. Liebich, Liepzig, 1902; comm., 1918.

जहाँ भर्तृहरि और कल्हण के अनुसार चन्द्र ने **महाभाष्य** का अध्ययन किया था, वहाँ दक्षिण भारतीय परम्परा उनको वररुचि से संबद्ध करती है और उनको **महाभाष्य** की, विचारों से शून्य और व्यर्थ की वार्ता से युक्त, एक ग्रन्थ के रूप में निन्दा करने वाला दिखलाती है। वे अपने व्याकरण में हूणों पर किसी जर्त (जरट) की विजय का उल्लेख करते हैं, जिससे उनकी प्राचीनतम तिथि के रूप में ४७०ई० का संकेत मिलता है, और यदि हम चीनी स्रोतों का विकास कर सकें तो कम से कम ६०० ई० की भी उतनी ही संभावना हो सकती है। उन्होंने अपने ही व्याकरण पर एक वृत्ति लिखी थी। उनकी पारिभाषिक शब्दावली पाणिनि से भिन्न है, यद्यपि मौलिक रूप में वे पाणिनि पर ही आश्रित हैं। उनके ग्रन्थ के साथ एक **धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र,** और **परिभाषासूत्र** भी संबद्ध है। १२०० के लगभग भिक्खु काश्यप ने एक **बालावबोधन**-नामक ग्रन्थ की रचना की थी जो लंका में लोक-प्रिय हुआ।

जैनाचार्यों ने, अपनी बारी में, अपने ही व्याकरण लिखे। **जैनेन्द्रव्याकरण,**[1] जो जिनेन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है, वास्तव में पूज्यपाद देवनन्दी की कृति है, और कदाचित् ६७८ के लगभग लिखा गया था। **शाकटायन व्याकरण**[2] का संबन्ध अमोघवर्ष के राज्यकाल (८१४–७७) से है, जबकि शाकटायन ने, पाणिनि की, चन्द्र की, और जैनेन्द्र की भी, पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग करते हुए, उसकी रचना की थी। इस व्याकरण में एक पूर्ण टीका (भाष्य) के साथ-साथ, जिसका संक्षेप यक्षवर्मा ने अपनी **चिन्तामणि** में किया है, धातु, गण, उणादि, **परिभाषा** पर ग्रन्थ और एक **लिङ्गानुशासन** भी विद्यमान हैं। **सिद्धहेमचन्द्र** अथवा **हैमव्याकरण**[3] उक्त व्याकरण पर ही आधृत है, जिसकी रचना जयसिंह सिद्धार्थ के लिए की गई थी, जो अपने उपयोग के लिए आठ प्राचीनतर ग्रन्थों को पहले कश्मीर से ला चुका था। अपने क्रम और पारिभाषिक शब्दावली में, जो मुख्यतया **कातन्त्र** के अनुसार है, यह ग्रन्थ प्रायोगिक है, और इसमें वैदिक व्याकरण और स्वर के विषय नहीं हैं। हेमचन्द्र ने **उणादिगणसूत्र** और **धातुपाठ**[4] ये दो टीकाएँ लिखी थीं।

दूसरे व्याकरणों ने, अधिकतर उत्तरकाल में, स्थानीय प्रचलन प्राप्त किया। क्रमदीश्वर के **संक्षिप्तसार**[5] में, जिसकी टीका का परिष्कार जूमरनन्दी ने किया

---

१. Ed. *Pandit*, N. S. xxxi-xxxiv.
२. Ed. London, 1913. Cf. Pathak, ABI. i. 7 ff.
३. Kielhorn, WZKM. ii. 18 ff.
४. Ed. J. Kirste, Vienna, 1895-9.
५. See Zachariae, *Bezz. Beitr.*, V. 22 ff.; IOC. i. 218 ff.; ii. 278.

था, सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का, और आठवें में प्राकृत व्याकरण का, निरूपण किया गया है। इसकी लोकप्रियता पश्चिम-बंगाल में थी, और यह ११५० के पश्चात् लिखा गया था। वोपदेव के **मुग्धबोध**[1] और धातु-विषयक **कविकल्पद्रुम** को सर्वाधिक लोक-प्रियता बंगाल में प्राप्त हुई। ये दोनों ग्रन्थ देवगिरि के राजा महादेव के आश्रय में १२५० के पश्चात् लिखे गये थे। पूर्वी बंगाल में पद्मनाभदत्त के **सुपद्मव्याकरण** (१३७५) का प्रचलन था। विहार और बनारस में अनुभूतिस्वरूप की टीका के साथ **सारस्वती प्रक्रिया** का प्रचार था।

लिङ्गानुशासनों[2] का महत्त्व व्याकरण और शब्दकोश की दृष्टि से है। उनमें लिङ्ग का निरूपण किया गया है और उनका सादृश्य कोशों में परिशिष्ट-रूप से दिये हुए लिङ्ग-विषयक प्रकरणों से है। पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध **लिङ्गानुशासन** इतना प्राचीन नहीं हो सकता; वररुचि के नाम से प्रसिद्ध आर्या-छन्द का **लिङ्गानुशासन** हर्षदेव (६०६–६४७) के तथा वामन (लगभग ८००) के लिङ्गानुशासनों को परिज्ञात है। शाकटायन और हेमचन्द्र[3] के नामों से प्रसिद्ध **लिङ्गानुशासन** भी उपलब्ध हैं।

४. प्राकृत के व्याकरण

यह स्पष्ट है कि उपलब्ध प्राकृत व्याकरण[4] संस्कृत व्याकरणों के साक्षात् प्रभाव के अन्दर लिखे गये थे। यह परम्परा कि पाणिनि ने किसी प्राकृत व्याकरण की रचना की थी प्राकृत को सम्मानित करने के उद्देश्य से केवल एक कल्पना है, और यह कथन भी कि वररुचि के **प्राकृत-प्रकाश**[5] की रचना कात्यायन ने की थी वैसा ही उपहासास्पद है। उस व्याकरण में, नौ परिच्छेदों में, अत्यन्त पूर्णता के साथ, माहाराष्ट्री का निरूपण किया है, तदनन्तर माहाराष्ट्री को सर्वोत्कृष्ट प्राकृत मानते हुए पैशाची, मागधी, और शौरसेनी का एक-एक परिच्छेद में निरूपण किया गया है, परन्तु साथ ही संस्कृत को सब प्राकृतों का मूल माना गया है। इन प्राकृतों के रूप अश्वघोष की प्राकृत के रूपों से स्पष्टतया पीछे के हैं और वे कदाचित् प्राचीन से प्राचीन तृतीय ई० शताब्दी के ग्रन्थों को प्रतिबिम्बित करते हैं। जो बात निश्चित है वह यह है कि वररुचि पर, यदि हम यह नाम **प्राकृत-प्रकाश** के ग्रन्थकार को देते हैं तो, अलङ्कार-शास्त्र के लेखक भामह (लगभग ७००)

---

१. Ed. Böhtlingk, St. Petersburg, 1847; IOC. i. 230 ff.
२. Franke, *Die indischen Genusregeln* (Kiel, 1890).
३. Ed. Göttingen, 1886.
४. Pischel, *Grammatik der Prakrit-Sprachen* (1900).
५. Ed. and trans. E. B. Cowell, Hertford, 1854.

ने एक वृत्ति लिखी थी। वररुचि और **प्राकृत-लक्षण**[1] के ग्रन्थकार चण्ड का आपेक्षिक समय विवाद-ग्रस्त है। दुर्भाग्यवश **प्राकृत-लक्षण** दो पाठों में हमें उपलब्ध है, और, इन दोनों में से यदि एक वररुचि से प्राचीनतर भी है, तो दूसरा उनके बाद का है, जबकि दो स्वरों के बीच में आने वाले व्यञ्जनों के लोपाभाव के संबन्ध में अनेक विशिष्ट बातों पर उसके मौलिक मतों का आधार संदिग्ध पाठ हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ से हमें जैनों की प्राकृत, आर्ष अथवा अर्धमागधी, की वह अवस्था प्राप्त होती है जिसका वर्णन अन्यत्र नहीं है। अपभ्रंश, पैशाची, और मागधी में से प्रत्येक के लिए केवल एक सूत्र इसमें रखा गया है। जैसा कि हम देख चुके हैं, किसी प्राकृत के विषय में अन्य साक्ष्य **नाट्य-शास्त्र** के प्राकृत-विषयक परिच्छेद में उपलब्ध है।

वररुचि पूर्व-दिशा के रहने वाले प्रतीत होते हैं; जिससे दक्षिणात्य कात्यायन से उनके भेद का एक दूसरा संकेत मिलता है। ऐसा कहा जाता है कि उनकी परम्परा का अनुसरण एक रहस्यमय व्यक्ति लङ्केश्वर या रावण[2] ने किया था, जिन्होंने एक **प्राकृतकामधेनु** की रचना की थी जिस पर राम तर्कवागीश का सत्तरहवीं शताब्दी में लिखा गया **प्राकृतकल्पतरु** आधृत है। उसका उपयोग उसी शताब्दी में मार्कण्डेय के **प्राकृतसर्वस्व** में किया गया। क्रमदीश्वर का प्राकृत-व्याकरण-विषयक भाग इसी संप्रदाय का अनुसरण करता है। लङ्केश्वर के विषय में ऐसा भी कहा जाता है कि उन्होंने शेषनाग के **प्राकृतव्याकरणसूत्र** पर—न कि अपने ही ग्रन्थ पर, जैसा कि ग्रियर्सन (Grierson) का कहना है—एक वृत्ति लिखी थी, परन्तु उनके ग्रन्थों के तथाकथित हस्तलेखों के नष्ट हो जाने से उनका ऐतिहासिक अस्तित्व निश्चित रूप से एक हवाई बात है।

ऐसा माना जाता है कि पश्चिमी संप्रदाय का प्रातिनिध्य **वाल्मीकि-सूत्र** करते हैं जो अपने मूलरूप में नष्ट हो गये हैं और केवल एक अधिक विस्तृत उत्तर-कालीन रूपान्तर में सुरक्षित हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण[3] में, आठवें अध्याय में प्राकृत का निरूपण है। जैसा कि एक अच्छे जैन का कर्त्तव्य था, वे प्राकृत भाषाओं की सूची में आर्ष को जोड़ देते हैं, और कवियों की सामान्य माहाराष्ट्री के साथ-साथ जैन माहाराष्ट्री पर भी विचार करते हैं; पैशाची के साथ वे चूलिका पैशाची को भी स्थान देते हैं, और अज्ञात स्रोत से पद्यों को देते हुए अपभ्रंश का भी निरूपण करते हैं। माहाराष्ट्री के लिए और वे हाल को और सेतुबन्ध को उद्धृत करते हैं, और

---

१. Ed. A. F. R. Hoernle, BI. 1880.

२. Grierson, AMJV. III. i. 120 ff.; Mitra, *Notices*, ix, nos. 3157, 3158; किसी भी स्थापना के लिए ये नोटिस (सूचनाएं) बिलकुल अपर्याप्त आधार हैं।

३. Ed. Pischel, Halle, 1877-80.

पैशाची के लिए, आपाततः प्रतीत होता है, वे **बृहत्कथा** को, परन्तु संभवतः उसके मूलरूप में नहीं, उद्धृत करते हैं। त्रिविक्रम ने, जो **वाल्मीकिसूत्र** की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करते हैं, अपने **प्राकृत-शब्दानुशासन**[1] में, सिंहराज (१४वीं शताब्दी) ने अपने **प्राकृतरूपावतार**[2] में, और लक्ष्मीधर (१६वीं शताब्दी) ने अपनी **षड्भाषाचन्द्रिका** में तथा औरों ने भी हेमचन्द्र का अनुसरण किया है।

परन्तु उपर्युक्त संप्रदायों का यह वर्णन अपर्याप्त आधारों पर आश्रित है, क्योंकि हमारे लिए रावण केवल एक नाममात्र है। **वाल्मीकिसूत्र** के संबन्ध में हमारे सामने अपेक्षाकृत अधिक साक्ष्य है, क्योंकि विभिन्न रूपों में सूत्रों को त्रिविक्रम, सिंहराज, और लक्ष्मीधर ने स्वीकार किया है। परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या उनको हेमचन्द्र से प्राचीनतर मानना ठीक है। हेमचन्द्र के सूत्रों के साथ विस्तृत तुलना के आधार पर त्रिवेदी[3] का मत है कि **वाल्मीकिसूत्र** हेमचन्द्र के ग्रन्थ का एक परिष्कृत रूपान्तर है। उनके सिद्धान्त का आधार इस तथ्य पर है कि **वाल्मीकिसूत्र** कभी कभी हेमचन्द्र की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह व्यक्त किये गये हैं, और कभी-कभी उनसे संक्षिप्त किये हुए हैं। इसके विरुद्ध हुल्ट्श (Hultzsch)[4] इस तथ्य को रखते हैं कि, यतः **वाल्मीकिसूत्र** का मूलग्रन्थ, जबकि वह केवल मूलरूप में सुरक्षित मिलता है, और लक्ष्मीधर ये दोनों, जिनके साथ हम **शम्भुरहस्य** को भी जोड़ सकते हैं, उक्त सूत्र-ग्रन्थ को **रामायण** के ग्रन्थकार की कृति बतलाते हैं, ऐसा मुश्किल से ही हो सकता है कि उक्त ग्रन्थ हेमचन्द्र के समय के पश्चात् बना हो। परन्तु यह मत निश्चित रूप से कल्पना-मूलक है, क्योंकि हमें त्रिविक्रम के समय का कोई निश्चय नहीं है। जो कुछ निश्चित है वह यह है कि उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना हेमचन्द्र के पश्चात् और लक्ष्मीधर से तथा कुमारस्वामी के, जो मल्लिनाथ के पुत्र थे, **रत्नापण** से पहले की थी। ऐसा दीखता है कि लक्ष्मीधर विजयनगर के तृतीय राजवंश के राजा तिरुमलराज[5] के आश्रित थे, जो सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग के लगभग विद्यमान थे, और कुमारस्वामी के पिता मल्लिनाथ १५३२ ई० से पहले, जबकि उनका एक पद्य एक अभिलेख[6] में आता है, और १४०० ई० के बाद, हुए थे, क्योंकि उन्होंने

---

१. T. Laddu, *Prolegomena zu Trivikrama's Prākrit-Grammatik* (1912).

२. Ed. E. Hultzsch, London, 1909. Cf. Keith, IOC. ii. 299.

३. **षड्भाषाचन्द्रिका**, pp. 6 ff.

४. प्राकृतरूपावतार, p. vii.

५. Hultzsch, *Report* III, p. viii; EI. iii. 238.

६. IA. V. 20 *n*.

वसन्तराजीय (लगभग १४००)[1] को उद्धृत किया है। कुमारस्वामी लक्ष्मीधर को भी जानते हैं, इसलिए लक्ष्मीधर के समय के संवन्ध में कोई वास्तविक सन्देह नहीं हो सकता। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि वाल्मीकिसूत्र का निर्माण हेमचन्द्र के पीछे का नहीं हो सकता है, और इस समय सबसे अधिक संभावित सिद्धान्त यही दीखता है। सिंहराज का समय भी विलकुल संदिग्ध है; इस संवन्ध में चौदहवीं शताब्दी का उल्लेख[2] कल्पनामूलक है, और यह संभव है कि वे वास्तव में भट्टोजि दीक्षित से पीछे के हैं। सर्वश्रेष्ठ प्राकृत के रूप में माहाराष्ट्री के निरूपण में और तव शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश के लक्षणों को संक्षेप में देने में लक्ष्मीधर का और उनका ऐकमत्य है। दूसरे वैयाकरणों में मार्कण्डेय की विशेषता इस वात के लिए है कि वे नाटकीय प्राकृत के भेदों की परम्परा के परिष्कार के परिणामस्वरूप प्राकृत के रूपों (भेदों) की एक वड़ी संख्या का निरूपण करते हैं। वे माहाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, वाह्लीकी के साथ आवन्ती, और अर्धमागधी के साथ मागधी—इन पांच मुख्य भेदों के साथ-साथ, शाकारी, चाण्डाली, आभीरी तथा औढ्री के साथ शावरी, टाक्की, नागर और उपनागर अपभ्रंश, और पैशाची इनका भी निरूपण करते हैं। इस वात को जानना रोचक होगा कि उनके ग्रन्थ का आधार कहाँ तक प्राकृत-व्याकरण के पूर्ववर्ती लेखकों पर था, और कहाँ तक ग्रन्थों के अध्ययन पर; इनमें से दूसरी वात की संभावना तो सत्तरहवीं शताब्दी में, जवकि प्राकृत संस्कृत की तुलना में कहीं अधिक एक मृत भाषा थी, पूर्णतः अग्राह्य माननी चाहिए, यद्यपि इसके विरुद्ध ग्रियर्सन (Grierson) ने ऐसा माना है[3] कि मार्कण्डेय पिशेल (Pischel) के 'पूर्वज' थे। साथ ही इस वात से भी, कि रामतर्कवागीश मार्कण्डेय के कथनों से सर्वथा सहमत नहीं होते, यह प्रतीत होता है कि दोनों न्यूनाधिक रूप में बुद्धिमान् संग्रहीता थे, मौलिक अनुसंधानकर्ता नहीं।

प्राकृत वैयाकरणों के मूल्य को Bloch[4] और Gawronski[5] ने वल-पूर्वक घटाकर दिखाया है, जवकि औरों के साथ-साथ पिशेल[6] (Pischel) ने उसका समर्थन किया है। सामान्यतः वे अपने पक्ष में कोई अधिक अनुकूल प्रभाव नहीं डालते; उनके नियम (सूत्र) प्रायेण स्पष्टतः आवश्यकता से अधिक व्यापक (अर्थात् अतिव्याप्त) होते हैं, जो दोष संस्कृत वैया-

१. EI. iv. 327; Hultzsch, p. iv, n. 4.
२. Winternitz, GIL. iii. 406, n. 2.
३. AMJV. III. i. 123.
४. *Vararuci und Hemacandra* (1893), pp. 30 ff.
५. KZ. xliv. 247 ff.
६. *Gramm. der Prakrit-Sprachen*, pp. 45 f.

करणों के समान ही उनमें पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, प्रायेण वे स्पष्टतः उनको सामान्य रूप में देते हैं, जबकि अनेक कठिनताओं के संबन्ध में वे कोई साहाय्य प्रदान नहीं करते। दूसरी ओर, अपभ्रंश[1] के सम्बन्ध में हाल के अनुसंधानों से सिद्ध हो चुका है कि उन रूपों के लिए जिनको वे देते हैं प्रायेण उनके सामने वास्तविक आधार थे, और यह भी स्मरण में रखने की बात है कि प्रायेण उनकी रक्षा बुरी तरह हुई है और उनकी व्याख्या भी ठीक तरह नहीं की गई है।

पालि-वैयाकरण, यद्यपि उन पर संस्कृत का गंभीर प्रभाव पड़ा है, तो भी यह नहीं मानते हैं कि संस्कृत वह स्रोत है जिससे पालि निकली है, और वे पालि में ही लिखते हैं, संस्कृत में नहीं। प्राकृत-वैयाकरणों के समान वे भी अपने उदाहरणों को साहित्य से लेते हैं, बोल-चाल की भाषाओं से नहीं। उनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध कच्चायन हैं, और वे बुद्धघोष से उत्तरकालीन हैं, और कदाचित् उनका समय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व नहीं है। वे कातन्त्र और पाणिनि का खुले रूप में उपयोग करते हैं। मोग्गलान पर, जिन्होंने बारहवीं शताब्दी में एक प्रतिद्वन्दी व्याकरण को बनाया, चन्द्र का प्रभाव भी दिखाई देता है। बर्मी भिक्खु अग्गवंस की सद्दनीति (११५४), जिसने वर्मा और सीलोन में भी ख्याति प्राप्त की है, कच्चायन पर आश्रित है।[2]

---

१. Jacobi, *Sanatkumāracarita*, pp. xxiv ff.

२. Franke, *Zur Geschichte und Kritik der einheimischen Pāli-Grammatik und Lexikographie* and Geiger, *Pāli*, भट्टाकलङ्कदेव के कर्णाटकशब्दानुशासन (ed. Bangalore, 1993) में, जो लगभग १६०० ई० में लिखा गया था, कनारी भाषा के एक व्याकरण के लिए संस्कृत का प्रयोग किया गया है।

२२

धर्मशास्त्र

(व्यवहार-विधि तथा धर्म-विधि)

१. धर्मशास्त्रों का प्रारम्भ

यह वात विल्कुल स्वाभाविक थी कि जव कर्मकाण्ड-विषयक सूत्रों का वनना प्रारम्भ हुआ तब उनमें कर्मकाण्ड से घनिष्ठ संबन्ध रखने वाले ऐसे विषयों पर निर्देशों को भी संमिलित कर लेने की पद्धति को अपना लिया जाय, जैसे लोगों की दैनिक चर्या, उनके हर प्रकार के कर्त्तव्य जिनमें ऐसे विषय भी संमिलित हों जिनको अधिक उत्कृष्ट सभ्यता शिष्टाचार और सामाजिक व्यवहार, नैतिक, विधि-संबंधी अथवा धार्मिक प्रश्नों के रूप में वर्गीकृत करेगी। ऐसे निर्देशों में जाति पर प्रभाव डालने वाली सब बातों का, विशेषत: विवाह-संवन्धी अत्यन्त आवश्यक प्रश्न का, नियमन आवश्यक रूप से संमिलित होना चाहिए। और यत: विवादों में मध्यस्थों के रूप में काम कराने के लिए अथवा समुचित रिवाज के विषयमें सलाह लेने के लिए जनता का ब्राह्मणों के पास उपस्थित होना स्पष्टत: रिवाज में था, ये पुस्तकें कुछ हद तक विधि-विषयक प्राथमिक ग्रन्थों का काम देने लगीं। इस प्रकार के सूत्र श्रौत सूत्रों और गृह्य सूत्रों से, अर्थात् अधिक विशिष्ट (श्रौत) और गृह्य कर्मों का निरूपण करने वाले सूत्रों से, धर्मसूत्रों के रूप में पृथक् मान लिये गये, परन्तु हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि उक्त विभिन्न सूत्रों में मूल में कोई तात्त्विक भेद नहीं समझा जाता था, और उन सवको एक कल्पसूत्र का पद दिया जा सकता था। सामान्यत: सूत्रों के समान उनकी रचना गद्यात्मक होती थी, जो साधारणत: यथासंभव संक्षिप्त होती थी, परन्तु उसके मध्य में यत्र-तत्र श्लोक अथवा त्रिष्टभ् पद्य भी किसी सिद्धान्त के समर्थन के लिए अथवा सफलता-पूर्वक उसके संग्रहार्थ डाल दिये जाते थे।

इन प्राचीन सूत्रों में से कुछ सुरक्षित हैं, परन्तु विभिन्न अवस्थाओं में। प्राचीनतमों में से एक है **गौतमीय-धर्मशास्त्र**[१]— और स्थलों के समान यहाँ भी 'धर्मसूत्र' यह नाम अधिक व्यापक नाम में विलीन हो गया है। ऐसा लगता है कि इसका संबन्ध

१. Ed. London, 1876; ĀnSS. 61, 1910; BS. 50, 1917; trans. G. Bühler, SBE. ii. इन सब ग्रन्थों के विषय में दे० J. Jolly, *Recht und Sitte* (1896).

सामवेद की राणायनीय शाखा से है, और इसका पाठ प्रक्षिप्तांश से मुक्त नहीं है। दूसरा प्राचीन ग्रन्थ है—तीस अध्यायों में **हारीत-धर्मशास्त्र**[1], जो केवल एक हस्तलेख में सुरक्षित है। इन दोनों का निर्देश **वासिष्ठ-धर्मशास्त्र**[2] में आता है, जो या तो खंडित अथवा प्रक्षिप्तांशों से युक्त हस्तलेखों में सुरक्षित है। यह प्रमाण-रूप में मनु का उल्लेख करता है, साथ ही **मनुस्मृति** में इसको उद्धृत किया गया है। आपाततः हम कुमारिल के इस कथन में विश्वास कर सकते हैं कि इसका संवन्ध **ऋग्वेद** की वासिष्ठ शाखा से था जो अब नष्ट हो गई है। इसमें यम और प्रजापति का ग्रन्थकार के रूप में उल्लेख आता है। **बौधायन-धर्मशास्त्र**[3] और **आपस्तम्ब-धर्मशास्त्र**[4] ये दोनों **कृष्ण-यजुर्वेद** की तत्तद् नाम की शाखाओं के वृहत्तर सूत्रों के भाग हैं, जिनमें से पहला प्रक्षिप्तांशों से युक्त है, जबकि दूसरा सुरक्षित है। हिरण्य-केशि-शाखा (सूत्र) का आपस्तम्बीय शाखा (सूत्र) के साथ सामान्यतः घनिष्ठ संवन्ध है। इन ग्रन्थों के समय प्रायेण इस कल्पना के आधार पर निर्धारित कर लिए गये हैं[5] कि **आपस्तम्बीय-धर्मशास्त्र** को हम चतुर्थ अथवा पञ्चम शताब्दी ई० पू० से पहले नहीं रख सकते, क्योंकि उसकी भाषा अशुद्ध है, और क्योंकि उसमें आसन्न-कालीन व्यक्तियों में **शतपथ-ब्राह्मण** के वैदिक श्वेतकेतु का भी उल्लेख पाया जाता है। परन्तु स्वभावतः यह अनेक कल्पनाओं पर आश्रित है जिनमें पाणिनि के समय से सम्बन्ध रखने वाली कल्पना भी संमिलित है। इसलिए अधिक बुद्धि-मत्ता कदाचित् इसी में होगी कि उनका समय द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी ई० पू० तक इधर ही रखा जावे।

वैष्णव-धर्मशास्त्र[6] और भी अधिक उल्लेखनीय रूप में प्रक्षेपों से युक्त है, क्योंकि वैष्णवों ने इसे विष्णु और पृथ्वी के परस्पर संवाद के रूप में बदल दिया है। परन्तु वास्तव में इसका मूल **कृष्ण-यजुर्वेद** की काठक शाखा के एक धर्मसूत्र में पाया जाता है, ठीक उसी तरह जैसे हारीत (धर्मशास्त्र) का, जो अपने वर्त्तमान रूप में अधिक पद्य से संमिश्रित गद्य में लिखा हुआ है, मैत्रायणीय शाखा से संबन्ध है। **वैष्णव-धर्मशास्त्र** के परिवर्धित पाठ में फलित ज्योतिष तथा 'सिद्धान्त ज्योतिष की ग्रीक शब्दावली से परिज्ञान दिखाई पड़ता है और इसीलिए उसको

---

१. Jolly, IA. xxv. 147 f.; OC. x. ii. 117 ff.

२. Ed. BSS. 23, 1916; trans. SBE. xiv.

३. Ed. AKM. 8, 1884 and 1922; trans. SBE. xiv.

४. Ed. BSS. 1892-4; trans. SBE. ii.

५. दे० Winternitz, GIL. iii. 480 f.

६. Ed. BI. 1881; trans. SBE. vii.

तृतीय शताब्दी ई० से पहले नहीं रखा जा सकता है। **वैखानस-धर्मशास्त्र**[1] तीन अध्यायों में वर्णों (castes) के कर्त्तव्यों का तथा ब्राह्मण के जीवन के विभिन्न आश्रमों का निरूपण करता है, परन्तु प्रधान रूप से उसमें जीवन के उस काल का निरूपण किया गया है जबकि वैराग्य और तपस्या का अभ्यास करना चाहिए। देखने में यह सूत्र-शैली में लिखा हुआ एक उत्तरकालीन ग्रन्थ प्रतीत होता है, परन्तु हो सकता है कि इसमें कुछ सामग्री ऐसी भी संमिलित है जो इसी नाम के उस प्राचीनतर ग्रन्थ में विद्यमान थी जिससे बौधायन परिचित हैं।[2] **अथर्ववेद** से संबद्ध पैठीनसि के, **शुक्लयजुर्वेद** से संबद्ध शंख-लिखित[3] के, उशनस्, काश्यप, बृहस्पति, और दूसरों के तथाकथित धर्मसूत्रों की प्राचीनता के संबन्ध में गम्भीर सन्देह विद्यमान है। हम युक्ति-युक्त रूप में सन्देह कर सकते हैं कि उक्त नामों से प्रसिद्ध ग्रन्थ सूत्रों की प्राचीनतर शैली के उत्तरकालीन अनुकरण हैं; शङ्ख लिखित के विषय में यह निश्चित रूप से दीखता है कि मनुष्यों के मस्तकों में देवताओं द्वारा लिखित भाग्य या निर्यति के प्राचीन विचार की भ्रान्ति ही शंख और लिखित इन मुनियों की सत्ता का कारण है।

इन ग्रन्थों के पाठ की असंतोष-जनक स्थिति प्राचीन वैदिक संप्रदायों के, जो पहले उस पाठ को विशुद्ध रूप में सुरक्षित रखते थे, महत्त्व की अवनति का, जो अनिवार्य थी, एक प्रमाण है। तथा च, उदाहरणार्थ, एक वैष्णव संप्रदाय द्वारा प्राचीन **काठक-धर्म-सूत्र** को अपना लेना संभव था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ विशिष्ट वैदिक संप्रदायों में, प्राचीन समय में ही, विधि (law) के, उस के अत्यन्त व्यापक अर्थ में, अध्ययन की प्रवृत्ति का विकास हो गया था, और इसीलिए वे किसी एक वैदिक संप्रदाय या शाखा की रीतियों को स्वीकार करने से सन्तुष्ट नहीं थे। **महाभारत**[4] में तथा पिछले काल की धर्मशास्त्र की पुस्तकों में पाये जाने वाले उपदेश-प्रद पद्यों की विशाल संख्या के मूल में निस्सन्देह उक्त विशिष्ट संप्रदायों की कार्य-तत्परता ही थी। परन्तु इन संप्रदायों का संबन्ध नितरां ब्राह्मणों से ही था, और उनका दृष्टिकोण **अर्थ-शास्त्र** के संप्रदायों से, जिनका विचार हमें आगे करना है, पृथक् था। अर्थशास्त्र में राजनीति तथा व्यावहारिक जीवन का विचार, ब्राह्मणों के प्राचीन विधि-संग्रह (code) की दृष्टि से नहीं, अपितु

---

१. Ed. TSS. 28, 1913. तु० Th. Bloch, *Über das Gṛhya- und Dharmasūtra der Vaikhānasa* (1896).

२. ii. 6. 11. 14.

३. Ludwig, WZKM. xv. 307 ff.

४. तु० पौराणिक काव्य, विधि-संबन्धी काव्य और धार्मिक पुस्तकों के घनिष्ठ संबन्ध के विषय में जर्मन साक्ष्य; R. Koegel, *Gesch. der deutschen Litt.*, i. I. 97, 242 ff.

तदीय विभिन्न शाखाओं को लेकर शासन के साथ वास्तविक संपर्क से समुत्पन्न व्यावहारिक सामान्य-बुद्धि की दृष्टि से किया जाता था। इन अर्थशास्त्रीय संप्रदायों के मुक़ाबले में, वे (उक्त वैदिक संप्रदाय) ब्राह्मणों के आदर्शों को, कार्यों की दिशा में वास्तविक भाग लेने से उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यों के दबाव से उनके ही रूपान्तरित आदर्शों से भिन्न रूप में, उनके अत्यन्त विस्तृत अर्थ में दिखाते हैं। एक अर्थ में वे पुरोहितों और उनके सहवर्त्तियों की वस्तु-स्थिति-परक संकीर्ण बुद्धि के मुक़ाबले में ब्राह्मणों की सामान्य भावना को दिखलाते हैं।

२. मनुस्मृति

उक्त दृष्टिकोण से ही हम **मानव-धर्मशास्त्र** अथवा **मनुस्मृति** और उत्तरकालीन स्मृतियों के प्रारम्भ को बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं। इन ग्रन्थों की सामान्य विशेषता यह है कि उनका दावा है कि सामान्यतः वे समस्त सनातनी हिन्दुओं पर लागू हैं और सब जातियों (castes : सान्तराल वर्णों) के धर्मों (duties) का उनमें विधान किया गया है। वास्तविक धर्मसूत्रों से उन की भिन्नता इस बात में है कि उनमें राजा के धर्मों (कर्त्तव्यों) का बहुत अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और साथ ही उस विषय का जिसको हम व्यवहार—और दण्ड-विधि (civil and criminal law) कहते हैं स्पष्टतया अधिक प्रोन्नत निरूपण किया गया है। यह स्पष्ट है कि उनके संकलन-कर्ताओं ने लोक-प्रिय सिद्धान्तों की लोक-प्रचलित राशि का अधिकता के साथ उपयोग किया और साथ ही उस पद्यात्मक रूप को भी स्वीकार कर लिया जिसमें वह राशि निहित थी। उन पर महाभारत का भी प्रभाव था, जिसमें राज्य-पद्धति (polity) के सिद्धान्तों का प्रायोगिक प्रदर्शन वर्त्तमान है और जिसकी पद्यात्मक रचना भी सरल है और इसीलिए जिसका अपेक्षाकृत सादगी के साथ अनुकरण किया जा सकता है। उत्तरकालीन धर्मशास्त्र भी श्रुति और स्मृतियों के साथ-साथ शिष्टाचार को तथा तत्तत् स्थानों, जातियों और कुलों (families) की रीतियों को धर्म (law) के स्रोतों के रूप में स्वीकार करते हैं। स्मृतियों के रचयिताओं ने स्वभावतः इन सबका उपयोग किया था। इसके अतिरिक्त, अपनी रचनाओं के प्रामाण्य-स्थापन के प्रयोजन से, वे उनका ईश्वरीय उद्गम प्रसिद्ध करने के लिए और उनको प्राचीन मुनियों के प्रवचनों के रूप में प्रचारित करने के लिए अत्यधिक चिन्तित थे।

उन मुनियों में से एक मनु थे, यह बात स्वभावतः इस तथ्य से निकलती है कि प्रसिद्ध जल-प्लावन से बचने वाले मनुष्य[1] के रूप में, जिसको कम से कम

१. शतपथ-ब्राह्मण १।५।१।७।

कुछ ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है, उन्होंने ही याज्ञिक विधियों का पुनरुद्धार और न्याय के सिद्धान्तों का निर्माण किया था। **तैत्तिरीयसंहिता**[1] का कहना है कि जो कुछ मनु ने कहा है वह भेषज है। या एक[2] दाय-विधि के संवन्ध में उनको, उपलब्ध **मनुस्मृति** को नहीं, उद्धृत करते हैं। गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और **महाभारत** बार बार कहते हैं कि मनु ने ऐसा और ऐसा कहा है। ये कथन केवल अंशतः **मनुस्मृति** से मिलते हैं। अश्वघोष द्वारा[3] एक **मानवधर्मशास्त्र** से दिये गये उद्धरण भी केवल दो स्थलों में **मनुस्मृति** के अनुरूप हैं। **महाभारत** के अनुसंधान से[4] प्रकट होता है कि, मनु के उल्लेख के बिना ही, उसमें, विशेषतः तीसरे, बारहवें और सोलहवें पर्वों में, २६०, अर्थात् **मनुस्मृति** के दशमांशरूप, ऐसे पद्य हैं जो, अर्थतः और अधिकतया शब्दतः भी, बिलकुल उक्त स्मृति के पद्यों के समान हैं। यतः कुछ स्थलों में **महाभारत** में, और कुछ स्थलों में **मनुस्मृति** में, अधिक मौलिक पाठ पाया जाता है, दोनों में से किसी एक की प्राथमिकता का प्रश्न नहीं उठता और इसलिए उन पद्यों को किसी अन्य समानस्रोत से लिया हुआ मानना चाहिए। इसकी पुष्टि इसी तरह के अन्यत्र उपलब्ध उदाहरणों से होती है; उदाहरणार्थ **वासिष्ठ-धर्मशास्त्र** में ३९, और **विष्णु-स्मृति** में १६० समान पद्य पाये जाते हैं। दूसरी ओर, विशेषकर **महाभारत** के तेरहवें पर्व में, हम प्रमाण-रूप से मनु का नाम लेकर दिये हुए उद्धरणों में **मनुस्मृति** का वास्तविक ज्ञान पाते हैं; बारहवें पर्व के नारायणीयोपाख्यान में निस्सन्देह रूप से मनु के धर्मशास्त्र का तथा उशनस् और बृहस्पति के नाम से प्रसिद्ध स्मृतियों का उपयोग किया गया है। फिर **मनुस्मृति** भी **महाभारत** के उपाख्यानों और शूरवीरों से परिचित है, इसलिए यह स्पष्ट है कि जहाँ **महाभारत** के प्राचीनतर भागों की रचना **मनुस्मृति** से पहले हुई थी और उसके उपदेशात्मक भागों के स्रोत प्रायेण **मनुस्मृति** के स्रोतों से अभिन्न हैं, तो भी **महाभारत** के अपने उपलब्ध रूप में अन्ततः आने से पहले **मनुस्मृति** बहुत-कुछ उसी रूप में जिसमें कि वह अब है वर्त्तमान थी। दुर्भाग्य-वश इससे उसके वास्तविक समय के विषय में हमें कोई सहायता नहीं मिलती। इसलिए अब भी न्याय्यतः २०० ई० पू० से २०० ई० तक की विस्तृत सीमाओं का ही निर्देश किया जा सकता है। पहली सीमा का आधार यवनों, शकों, काम्बोजों और पह्लवों के उल्लेख पर है, जिससे यह प्रतीत होता है कि उक्त ग्रन्थ की रचना उस समय हुई

---

१. ii. 2. 10. 2.

२. iii. 4.

३. **वज्रसूची** में, यदि वह ग्रन्थ अश्वघोष का है।

४. दे० Bühler, SBE. xxv, जिनका अनुवाद अत्यन्त मूल्यवान् है।

थी जबकि आक्रमण से सीमाएँ सुरक्षित नहीं रही थीं। दूसरी सीमा का आधार सामान्य संभावना के अतिरिक्त अन्य स्मृतियों से उसकी पूर्ववर्त्तिता पर है।

जबकि हम तुरन्त विश्वास कर सकते हैं कि कुछ मात्रा में **मनुस्मृति** के अन्तर्बीज के निर्माण का आधार एक प्राचीनतम धर्म-सूत्र था, और, जबकि उसको हम कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा की एक उपशाखा के **मानव-धर्म-सूत्र** का रूपान्तर मान सकते हैं, यह मानना पड़ेगा कि इसके लिए किसी पक्के प्रमाण की संभावना नहीं है। **वासिष्ठ-धर्मशास्त्र**[1] में **मानव-धर्मशास्त्र** से गद्य-पद्य-मय एक लंबा प्रबन्ध उद्धृत किया गया है जो अंशतः **मनुस्मृति** से मिलता है, और कुछ छोटी-छोटी विस्तृत समानताओं का पता **मनुस्मृति** और सौभाग्य-वश उपलब्ध **मानव-गृह्यसूत्र**[2] के बीच में लगाया जा सकता है। ग्रन्थ के पाठ में यत्र-तत्र आनेवाली कठिनताओं का तथा कादाचित्क असंबद्धताओं का सबसे अच्छा समाधान किसी प्राचीन सूत्र के उपयोग के आधार पर ही किया जा सकता है। उक्त स्मृति अपना प्रारम्भ ब्रह्मा से बतलाती है, जिनसे वह मनु और भृगु के द्वारा मनुष्यों को प्राप्त हुई; जबकि **नारद-स्मृति** मनु द्वारा निर्मित एक एकलक्षात्मक स्मृति को नारद द्वारा १२००० और मार्कण्डेय द्वारा ८००० और भृगु के पुत्र सुमति द्वारा ४००० पद्यों में संक्षिप्त करने की बात कहती है। इससे मूल सूत्र के उत्तरोत्तर होने वाले अनेक संस्करणों का संकेत मिल सकता है, और **मनुस्मृति** के अवान्तर विरोधों तथा **वृद्धमनु** और **बृहन्मनु**[3] के उत्तरकालीन उल्लेखों को इस दृष्टि के समर्थन में उपस्थित किया गया है। परन्तु यह कहीं अधिक संभव दीखता है कि यह स्मृति स्वतन्त्र रचना का एक प्रारम्भिक प्रयत्न है और उसके दोषों का यही कारण है, जबकि उसके बृहत्तर पाठ (बृहन्मनु आदि) लोकप्रिय मूल ग्रन्थ के परिवर्धित संस्करण थे। दुर्भाग्यवश हम किसी ऐतिहासिक घटना का पता नहीं लगा सकते जिससे इस प्रश्न का ठीक ठीक समाधान हो सकता कि यह नया प्रयत्न विशेष रूप से क्यों उपयुक्त हो गया; ई० पू० प्रथम शताब्दी में ब्राह्मणों का पुनरभ्युत्थान[4] हुआ था, जो कि छोटे परिमाण में और अचिरस्थायी था, और चौथी शताब्दी का गुप्त-कालीन पुनर्जागरण उक्त ग्रन्थ की

१. IV. 5-8.

२. P. von Bradke, ZDMG. xxxvi. 417 ff.; G. B. Beaman, *On the Sources of the Dharma-Śāstras of Manu and Yājñavalkya* (1895).

३. G. Herberich, *Zitate aus Vṛddhamanu und Bṛhanmanu* (1893).

४. तु० विक्रमादित्य का युग; ई० पू० द्वितीय शताब्दी में पुष्यमित्र का शासन निश्चित रूप से ब्राह्मणपक्षीय था, और Wema Kadphises माहेश्वर, शिव का भक्त, था; भण्डारकर (*Early History of India*, pp. 63 ff.) मनु को गुप्त संवत् में रखना चाहते हैं।

रचना के लिए संभवतः कुछ अधिक उत्तरकालीन है। किस अर्थ में यह व्यक्ति-विशेष की रचना अथवा एक समुदाय-विशेष की कृति है, यह हम नहीं कह सकते।

प्रथम अध्याय में सांख्य की शब्दावली से मिश्रित जगत् की वास्तविक सत्ता को मानने वाले वेदान्त के लोक-प्रिय पौराणिक ढंग में सृष्टि का रोचक दार्शनिक-जैसा वर्णन दिया गया है। सांख्य शब्दावली में प्रकृति के तीन गुणों का मौलिक सिद्धान्त भी सम्मिलित है। परन्तु वह प्रकृति स्वतन्त्र न होकर यहां सृष्टि के रूप में दी गई है; वैसी ही स्थिति जीवों (souls) की भी है। दूसरे अध्याय में धर्म (law) के स्रोतों को तथा ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों को बतलाया गया है। तीसरे से पाँचवें अध्याय तक गृहस्थ के धर्मों का वर्णन दिया गया है: विवाह, दैनिक धार्मिक कृत्य (पञ्चयज्ञादि), तथा और्ध्वदेहिक पिण्डदानादि (तृतीय अध्याय में), आजीविका तथा जीवनचर्या के सामान्य नियम (चतुर्थ अध्याय में), भक्ष्याभक्ष्य, शौच तथा अशौच, और स्त्री-धर्म (पञ्चम अध्याय में)। छठे अध्याय में अगले दोनों आश्रमों का, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम का, निरूपण किया गया है। सप्तम अध्याय में राजनीतिक सामान्य सिद्धान्तों के साथ राजधर्मों का वर्णन किया गया है। आठवें और नौवें अध्यायों के प्रतिपाद्य विषय हैं: व्यवहार-विधि और दण्ड-विधि के साथ-साथ प्रक्रिया (procedure) और साक्ष्य, विशेषतः दिव्य-परीक्षण (ordeals); विवाद-पद (topics) अठारह दिये गये हैं, ऐसे निश्चित कथन का कोई सादृश्य धर्म-सूत्रों में नहीं मिलेगा; ऋणों का पुनरादान; निक्षेप; अस्वामिविक्रय; संभूयसमुत्थान; दत्त का अनपकर्म; वेतन का अदान; संविद् का व्यतिक्रम; क्रय-विक्रय का अनुशय; स्वामी और पशुपाल का विवाद; सीमा-विवाद; वाक्पारुष्य; दण्डपारुष्य; स्तेय; साहस; स्त्री-संग्रहण; स्त्रीपुंधर्म; दाय और विभाग; द्यूत और आह्वय। नौवें अध्याय में राजधर्मों के साथ-साथ वैश्यों और शूद्रों की कर्म-विधि का भी वर्णन किया गया है। दसवें अध्याय में वर्णसंकरों का, तत्तद् वर्णों की वृत्ति के नियमों का, और आपत्तिकाल के धर्मों का, जब कि यथाविधि धर्मों का पालन नहीं हो सकता है, निरूपण किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में दानों, यज्ञों और प्रायश्चित्तों के नियमों को दिया गया है, जबकि बारहवें अध्याय में देहान्तर-प्राप्ति के नियमों द्वारा पुनर्जन्म में पापी के लिए अपने दुष्कर्म की फल-प्राप्ति के वर्णन के साथ-साथ मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का उपदेश भी दिया गया है। प्रथम अध्याय की तरह इस अध्याय में भी सांख्य और योग के प्रबल प्रभावों से युक्त लोक-प्रिय वेदान्त का पुट पाया जाता है।

परन्तु मनुस्मृति का महत्त्व केवल एक धर्मशास्त्र की पुस्तक के रूप

नहीं है; वरन उसकी निश्चित रूप से तुलना Lucretius के महान् काव्य से करनी चाहिए, जिसके साथ जीवन के दर्शन की अभिव्यक्ति के रूप में भी इसका स्थान है। परन्तु उस काव्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जिन विचारों को उसमें दिखलाया गया है वे केवल एक विस्तृत, न कि निर्देश-प्रद (commanding), प्रभाव वाले एक संप्रदाय के थे; मनुस्मृति में एक जाति (या राष्ट्र) के एक बड़े विभाग की अन्तरात्मा (soul) प्रतिफलित है। वैयक्तिकता का अभाव भी ग्रन्थ की एक विशेषता है, जो पारम्परिक मिथ्याविश्वास की निष्ठुरता के विरुद्ध Lucretius के **'केवल धार्मिक संप्रदाय ही बुराइयों को समाश्रय दे सकता है'**, जैसे भावोद्वेग से पूर्ण कथनों के साथ अतीव वैसादृश्य का संपादक है। इसके स्थान में मनुस्मृति के ग्रन्थकार के लिए दैवी शक्ति द्वारा सृष्ट इस संसार में सब कुछ पूर्णतया व्यवस्थित है, आत्यन्तिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार उस शक्ति द्वारा नियन्त्रित है। नास्तिक लोग विद्यमान थे, परन्तु तीक्ष्ण भर्त्सना के साथ उनकी उपेक्षा कर दी जाती है; लेखक के विचारों में नागरिक और व्यावहारिक जीवन के लिए कोई स्थान नहीं है। उसके स्थान में वह एक ऐसे सादे राज्य को अपने समक्ष में रखता है जिसमें प्रधान स्थान ब्राह्मणों का है और जिसमें राजा उनके साथ घनिष्ठ ऐकमत्य में उन्हीं के अनुशासन को कार्यान्वित करता हुआ रहता है; वैश्यों और शूद्रों को, जो जनता के विशाल परिमाण को बनाते हैं, अभिस्वीकार किया गया है, परन्तु उनके विषय को एक विचित्र संक्षिप्तता के साथ समाप्त कर दिया गया है, और जनता की उस विशाल संख्या की आख्या के लिए, जिसकी वैश्यों और शूद्रों में भी गणना नहीं की जा सकती थी, वर्ण-सांकर्य के सिद्धान्त से बढ़ कर, जिसके अन्दर ही यवनों और शकों को भी ठूस दिया गया है, कोई और समाधान उपस्थित नहीं किया गया है। ग्रन्थ पर संकीर्ण मतवाद का भारी दबाव वर्त्तमान है, और उसका पाण्डित्य-प्रदर्शन सदाचार के अत्यन्त लघु व्यतिक्रमों को ऐसे अपराधों के रूप में दिखाने में दृष्टिगोचर होता है जिनके लिए गम्भीर दण्ड, यदि इस लोक में नहीं तो, परलोक में आवश्यक होता है, परन्तु जिनका प्रतीकार ब्राह्मणों द्वारा आदिष्ट प्रायश्चित्तों से किया जा सकता है—जो लाभप्रद व्यापार का एक स्रोत था। किसी स्पष्ट योजना को विकसित करने में असफलता प्रत्यक्ष है, परन्तु यह बात विचार के भारतीय ढंगों के सर्वथा अनुरूप है। विधि के विचारणीय विषयों के वर्गीकरण में, कुछ उन्नति भी देखने में आती है, जो निःसन्देह विधि के विभिन्न संप्रदायों पर आधारित है, क्योंकि वे पांच विषय जिनका संबन्ध दण्डविधि से है इकट्ठे एक साथ दिये हुए हैं, यद्यपि वे व्यवहारविधि के प्रकरणों के बीच में आते हैं। किञ्च, आदिम विधि की प्राचीन कठोर क्रूरता के साथ-साथ, ग्रन्थ में, केवल कृत्य ही नहीं, अपितु

कर्ता के अभिप्राय के भी विचार की आवश्यकता की मान्यता दिखाई देती है। परन्तु विधि, जनता के स्वत्वाधिकार के रूप में नहीं, किन्तु राजा के विशेषाधिकार के रूप में, दृष्टिगोचर होती है, और राजा की पवित्रता केवल ब्राह्मण की पवित्रता से ही कम है। देवताओं के अंशों से उसकी सृष्टि की गई है; निस्संदेह यह विचार-पूर्वक बौद्धों के इस सिद्धान्त पर आक्रमण है कि सामाजिक संविदा (social contract) के आधार पर राजा केवल अपने वेतन को पाने वाला है। उक्त सिद्धान्त को अपेक्षाकृत अधिक वास्तविकता-वादी अर्थशास्त्र ने वास्तव में घोषित भी किया है। राजा गम्भीरतम अपराधों को छोड़कर अन्य सब अपराधों के दण्डां से उनके मुक्ति के दावों को मान कर अपनी सहायता करने वालों को पुरस्कृत करता है, और ग्रन्थ में उच्च स्थिति वालों से चारित्र्य-विषयक उदात्ततर मान (standard) की साग्रह मांग के बदले में निम्न कोटि के लोगों की अपेक्षा उच्चकोटि के लोगों को अधिक सन्मान देने का बराबर आग्रह किया गया है। ब्राह्मणों के लिए की गई इन मांगों में, और विधिपरक भागों में बराबर देखने में आने वाली अस्पष्टता में, एक व्यवहार-प्रवीण विधिज्ञ की अपेक्षा एक सिद्धान्तवादी (theorist) का हाथ सरलता से देखा जा सकता है। हम विधि को निश्चय ही देखते हैं, परन्तु थोड़ा-बहुत आकार को विकृत करने वाले माध्यम के द्वारा, जिसमें नैतिक विचार हमारी दृष्टि को तिरोहित कर देते हैं; तथा च, दिव्य (ordeal) के पक्ष में यातना के उपयोग की, जिसके लिए अर्थशास्त्र का आग्रह है, उपेक्षा कर दी गई है। ब्राह्मण लोग आदर्श के आधार पर तथा इस प्रकार शासन में उनकी सहायता की आवश्यकता होने से यातना की अपेक्षा दिव्य-परीक्षण को पसन्द करते थे। लेखक की भावना से बौद्धिक दृष्टि निश्चित रूप से बिलकुल बाहर की वस्तु है; परन्तु उसका भाषा पर अधिकार, उसकी उद्युक्तता (अथवा निश्छद्मता), उसकी प्रसन्न उपमाएँ, उसका अवधानता-पुरस्सर प्रयुक्त छन्द जो लगभग संस्कृत महाकवियों की शुद्धता के मान तक पहुँच जाता है, पर साथ ही पौराणिक काव्य के वैलक्षण्य के कुछ प्रभाव को भी सुरक्षित रखता है—ये सब बातें मिलकर ग्रन्थ को एक उल्लेखनीय वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं, भले ही निट्शे (Nietzsche)[१] द्वारा बाइबल की अपेक्षा इस ग्रन्थ को अधिक उत्कर्ष प्रदान करना हमें कितना ही उपहासास्पद क्यों न दीखता हो।

मनुस्मृति सिद्धान्त की प्रसन्न अभिव्यक्तियों से समृद्ध हैं; अरण्य में जाकर

---

१. *Antichrist*, § 56; *Wille Zur Macht*, § 194, विन्टर्निट्स (Winternitz) द्वारा उद्धृत, GIL. iii. 492, n. I. छन्द पर दे० Oldenberg, ZDMG. xxxv. 181 ff.

रहने का समय इस प्रकार दिया गया है :

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

'गृहस्थ जब अपने चेहरे पर झुर्रियां और सफेद बाल देखे और अपने पुत्र के पुत्र को देखे तब उसे अरण्य में जाकर निवास करना चाहिए।' राजा का देवत्व निरंकुश है :

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

'बालक होते हुए भी किसी राजा का—यह मनुष्य है—ऐसा समझकर अपमान न करना चाहिए । क्योंकि उसमें एक महान् देवता मनुष्य के रूप में स्थित है ।' धर्म की संमानार्हता का प्रभावशाली ढंग में चित्रण किया गया है:

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं भुवि ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

'प्राणी (मनुष्य) अकेला ही पैदा होता, अकेला ही मरता है। अकेला ही वह सुकृत और दुष्कृत के फल का उपभोग करता है। काष्ठ और लोष्ठ के समान मृत शरीर को भूमि पर छोड़ कर बन्धु-बान्धव विमुख होकर चले जाते हैं। केवल धर्म ही उसके साथ जाता है।' दार्शनिक भागों में ध्वनि प्रायेण गम्भीर महत्त्व तक उठ जाती है, और भगवद्गीता का स्मरण दिलाती है ।

मनुस्मृति पर अनेक टीकाएँ विद्यमान हैं; मेधातिथि की टीका नौवीं शताब्दी से पीछे की नहीं है, गोविन्दराज की बारहवीं शताब्दी की है, और लोकप्रिय कुल्लूक, जो उनके पीछे आते हैं, पन्द्रहवीं शताब्दी से सम्बन्ध रखते हैं। इस स्मृति का प्रभाव, बर्मा, स्याम और जावा में उसके प्रमाणिक माने जाने से, और उसके आधार पर अन्य ग्रन्थों के निर्माण से, सिद्ध होता है ।

३. परवर्ती स्मृतियां

यदि हम नारद-स्मृति[1] का विश्वास करें, तब तो यह मानना होगा कि मनुस्मृति की अपेक्षा उसमें मनु के विचारों का प्राचीनतर वर्णन दिया हुआ है। परन्तु तदन्तर्गत विषयों से यह बात सिद्ध नहीं होती। इसमें विधि के विषयों (titles) को १३२ भागों में विभाजित किया है; दासों के १५ भेद, संपत्ति-लब्धि के २१प्रकार, ५ दिव्य, तथा साक्षियों की ११ श्रेणियां दी हैं; और साथ ही प्रक्रिया

१. बृहत्पाठ का संस्करण, J. Jolly, BI. 1885; trans. SBE. xxxiii.

(procedure) में अभिलेखों पर और लिखित प्रमाणों पर विशेष बल दिया गया है। दीनार इस शब्द से संकेत मिलता है कि इसका समय द्वितीय शताब्दी ई० से पूर्व नहीं है; सातवीं शताब्दी में बाण इससे परिचित है; और असहाय ने आठवीं शताब्दी में इस पर टीका लिखी थी। यह दो पाठों में उपलब्ध है। एक पाठ की गद्यात्मक भूमिका के अनुसार यह स्मृति मनु के नारदीय संस्करण का नवम अध्याय है। एक प्राचीन नेपाली हस्तलेख इस दावे की पुष्टि करता है, परन्तु इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। यह ग्रन्थ महत्त्व में मनु के साथ स्पर्धा नहीं कर सकता; परन्तु यत्र-तत्र इसमें ऐसे स्थल आ जाते हैं जिनमें वैसा ही अभिनिवेश (earnestness) पाया जाता है, जैसा कि साक्षियों को दिये गये प्रबोधन में जिसमें उनको उपदेश दिया गया है कि 'सत्य पवित्रता की प्राप्ति का अकेला मार्ग है, सत्य ही वह पोत है जो मनुष्यों को स्वर्ग पहुँचाता है, एक सहस्र अश्वमेधों के साथ तोले जाने पर सत्य ही भारी बैठता है, सत्य सर्व-श्रेष्ठ देवोपायन, सबसे बड़ा तप, सबसे बड़ी नैतिकता, और परमानन्द का शिखर है, सत्य-भाषण द्वारा मनुष्य परमात्म-पद को प्राप्त हो जाता है जो स्वयं सत्य-स्वरूप है।'

बृहस्पति-स्मृति[1] खंडित अवस्था में ही उपलब्ध है, परन्तु उसका स्वरूप स्पष्ट है; यह लगभग मनु पर एक वार्त्तिक है और उसकी पूर्त्ति करता है। परन्तु विधि-सम्बन्धी विचार में यह स्पष्टतया नारद से भी आगे बढ़ी हुई है; यह अभिलेखों (records) के निरूपण को और भी अधिक विकसित करती है, और मनु के साथ किसी प्रकार के सामञ्जस्य के बिना, सती-प्रदाह की प्रथा का अनुमोदन करती है। इसका समय छठी या सातवीं शताब्दी में रखा जा सकता है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति[2] की तुलना में उक्त स्मृतियों का महत्त्व कहीं कम है। उसके नाम से **शुक्लयजुर्वेद** के बड़े प्रामाण्य का स्मरण हो आता है। वास्तव में, **मानव-गृह्यसूत्र** के साथ-साथ, उस वेद के **पारस्कर-गृह्यसूत्र** में इस स्मृति की समानताओं का पता लगाया गया है। इसमें **बृहदारण्यकोपनिषद्** का उल्लेख मिलता है, तथा च उक्त सम्बन्ध की प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है। मनु की अपेक्षा इसके महत्त्व अथवा इसकी उत्तर-वर्त्तिता के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता। मनु के प्रमाण-साधनों के साथ यह लिखित पत्रों (documents) को भी जोड़ देती है, अग्नि और जल के दो दिव्यों के स्थान में यह पांच दिव्यों को स्वीकार करती है। ग्रीक (यवन) ज्योतिष से यह परिचित है। इसमें मुद्रांकित सुवर्ण के लिए **नाणक** शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे इसका समय ३०० ई० से

१. Trans. J. Jolly, SBE. xxxiii.; cf. WZKM. i. 275 ff.

२. Ed. and trans. A. F. Stenzler, Berlin, 1849; मिताक्षरा के साथ, Bombay, 1882; trans. SBH. 2, 1909.

पूर्व न होने का संकेत मिलता है। इसका विषय-क्रम मनु से उत्कृष्टतर है; लगभग एक ही परिमाण के तीन अध्यायों में आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्तों का निरूपण किया गया है। मनु के अठारह विवाद-पदों को, यद्यपि शब्दतः उनकी संख्या नहीं दी गई है, कार्यतः मान लिया गया है और उनके साथ एक विवाद-पद सेवा के सम्बन्धों पर और दूसरा विविध विषयों पर जोड़ दिया गया है। याज्ञवल्क्य में मनु के अनेक लक्षण पाये जाते हैं; उनकी दृष्टि अधिकतर मनु के समान है, और जीवात्माकी गति पर दार्शनिक कथनों में वे मनु के सदृश ही वेदान्त-योग-सांख्य की मिली-जुली भाषा का प्रयोग करते हैं। भ्रूण-विज्ञान का विषय उसकी नवीनता है, जो किसी आयर्वेदिक ग्रन्थ से लिया हुआ है।[1] शैली में मनु के साथ बहुत सादृश्य है, परन्तु अपेक्षाकृत विस्तार कम है। मनुष्य का समस्त धर्म इस प्रकार बतलाया गया है:

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः॥

'सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लज्जा, पवित्रता, बुद्धि, धैर्य, आत्म-संयम, इन्द्रिय-निग्रह, विद्या—यह समस्त धर्म कहा गया है।' मोक्ष आत्मज्ञान से प्राप्त होता है: नाडियों के मध्य में एक मण्डल है:

मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः।
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु॥

'उस मण्डल के मध्य में निश्चल दीपक के समान आत्मा स्थित है; उसको जानना चाहिए, और उसको जानकर किसी का फिर इस लोक में जन्म नहीं होता।' परन्तु राजाओं के लिए एक बहुत ही सरल कर्त्तव्य का उपदेश दिया गया है:

नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम्।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा॥

'रणों में प्राप्त किये हुए धन को ब्राह्मणों के लिए देने से और प्रजाओं के लिए सदा अभय देने से कोई बड़ा धर्म राजाओं के लिए नहीं है।' भाषा और छन्द के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य नितरां मनु की शैली के अनुरूप हैं।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के ऊपर महत्त्वपूर्ण टीकाओं की एक बड़ी भारी संख्या लिखी गई है। उनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध विज्ञानेश्वर-कृत मिताक्षरा है, जो ग्यारहवीं शताब्दी में दक्षिण में लिखी गई थी। विधि (law) के विषय पर यह एक महत्त्वशाली ग्रन्थ है, जिसने दक्षिण में, और बनारस तथा उत्तर भारत में भी मान्यता को प्राप्त किया। कोलब्रुक (Colebrooke) के भाषान्तर[2]

१. उनके शरीर-रचना-विज्ञान के लिए तु० Hoernle, *Osteology*, pp. 37ff.

२. *Two Treatises on the Hindu Law of Inheritance* (1810).

द्वारा इसके दाय-विभाग-प्रकरण को भारत के अंग्रेज़ी कोर्टों में प्रचलन प्राप्त हो गया। विज्ञानेश्वर ने विश्वरूप के ग्रन्थ[1] (टीका) का उपयोग किया था। अपरार्क[2] ने बारहवीं शताब्दी में उक्त स्मृति पर एक टीका लिखी, जब कि बालम्भट्ट वैद्यनाथ और उनकी पत्नी लक्ष्मीदेवी[3] ने एक रोचक ढंग पर **मिताक्षरा** पर एक टीका लिखी जिसमें पैतृक सम्पत्ति पर स्त्रियों के अधिकारों पर बल दिया गया है।

अन्य स्मृतियाँ अनिश्चित संख्या में[4] उपलब्ध हैं—एक सूची में १५२ का उल्लेख है; अनेक अवस्थाओं में एक ही ग्रन्थ के लघु, बृहत्, अथवा वृद्ध रूप उपलब्ध हैं, अथवा नितरां विभिन्न ग्रन्थों को एक ही नाम दे दिया गया है। याज्ञवल्क्य में एक पराशर का धर्म-शास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लेख आता है, और मेधातिथि ने भी किसी पराशर को उद्धृत किया है, परन्तु वह **पराशर-स्मृति**[5] जिस पर माधव ने चौदहवीं शताब्दी में एक विस्तृत टीका लिखी थी और मूलग्रन्थ के आचार–तथा प्रायश्चित्त-परक अध्यायों के साथ विधि पर भी एक अध्याय जोड़ दिया था, निश्चित रूप से उक्त दोनों ग्रन्थकारों से पश्चात्कालीन है। इसी ग्रन्थ का एक बृहत् पाठान्तर उससे पाँच गुना बड़ा है। अत्रि, उशनस्, आपस्तम्ब, दक्ष, शंख, लिखित, संवर्त इत्यादि नामों से प्रसिद्ध स्मृति-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें वस्तुतः विधि पर विचार नहीं किया गया है। इनसे कहीं अधिक आकर्षक कुछ, स्मृतिकार हैं जिनके केवल खंडित अंश ही हमको उपलब्ध हैं; प्राचीनकाल में ही **बृहस्पति-स्मृति** में पितामह[6] का दिव्यों पर प्रमाण के रूप में उल्लेख आता है; नारद और बृहस्पति के साथ कात्यायन और व्यास का प्रायेण ऐकमत्य देखने में आता है। हारीत द्वारा निर्मित व्यवहार-विधि-विषयक (Juristic) पद्य पाये जाते हैं, जो **हारीत-धर्मशास्त्र** में उपलब्ध नहीं हैं। स्मृतियों की संख्या **महाभारत** और पुराणों के आधार पर और भी बढ़ाई जा सकती है, क्योंकि इन ग्रन्थों के ऐसे बड़े बड़े भाग हैं जिनको स्मृतियाँ कहा जा सकता है; तथा च **महाभारत** के एक हस्तलेख में एक **बृहद्गौतम-स्मृति** पाई जाती है जो गौतम के प्राचीन स्मृति-ग्रन्थ से बिलकुल भिन्न है।

४. धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थ

उक्त स्मृतियों की बड़ी संख्या का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि

---

१. Jolly, GN. 1904, pp. 402 ff. ; ed. TSS. 74 and 81.
२. Ed. ĀnSS. 46, 1903-4.
३. Ed. BI, 1904 ff.
४. 28 ed. Bombay, 1883; 27 in ĀnSS. 48. Cf. IOC. i. 372 ff.; ii.367ff.
५. Ed. BI. 1890-2; BSS. 1893.-1919; trans BI. 1887.
६. K. Scriba, *Die Fragmente des Pitāmaha* (1902).

संग्रह-ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा, और हम बाहरवीं शताब्दी से लेकर राजाओं के आदेश पर तैयार किये गये ऐसे ही धर्म-निबन्धों को पाते हैं। प्राचीनतम निबन्धों में से एक स्मृतिकल्पतरु है जिसकी कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र (११०५–४३) के पर-राष्ट्र-मन्त्री लक्ष्मीधर ने रचना की थी। इसमें धर्म-विधि, व्यवहार-विधि, दण्ड-विधि और प्रक्रिया-विधि सम्मिलित हैं। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के लिए लिखे गये हलायध के **ब्राह्मण-सर्वस्व**[1] में ब्राह्मण के समस्त कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया है। इसको कुछ अंशों में ही एक विधि-ग्रन्थ (law-book) कहा जा सकता है। यही बात देवण्ण भट्ट की **स्मृतिचन्द्रिका** (लगभग १२००) के सम्बन्ध में, जो कि एक दाक्षिणात्य ग्रन्थकार की कृति है, और हेमाद्रि के **चतुर्वर्ग-चिन्तामणि**[2] के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। **चतुर्वर्ग-चिन्तामणि** में, जो यादव राजाओं के लिए १२६० और १३०९ के मध्य में लिखा गया था, ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार के साथ व्रत, दान, तीर्थयात्रा, मोक्ष-प्राप्ति और श्राद्ध के नियमों का निरूपण किया है। यह ग्रन्थ स्मृति-ग्रन्थों से विस्तृत रूप में लिये हुए उद्धरणों से विशेष रूप से समृद्ध है। **मदनपारिजात**[3] के सम्बन्ध में भी यही बात है, जिसको विश्वेश्वर ने मदनपाल (१३६०–७०) के लिए मुख्यतः धार्मिक कर्त्तव्यों पर, परन्तु उत्तराधिकार-विधि पर भी, लिखा था। विधि (law) की दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वशाली ग्रन्थ हैं: हरिसिंहदेव (लगभग १३२५) के मन्त्री चण्डेश्वर का **स्मृतिरत्नाकर**[4], और मिथिला के हरिनारायण (लगभग १५१०) के लिए लिखे गये वाचस्पति के **चिन्तामणि**[5]—नामक अनेक निबन्ध ग्रन्थ। ऐसी पूर्ण सम्भावना है कि पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व ही जीमूतवाहन ने अपने विधि-परक (legal) ग्रन्थ **धर्मरत्न** की रचना की थी, जिसमें प्रसिद्ध **दायभाग**[6] सम्मिलित है जिसका दाय-सम्बन्धी बंगाल के विचारों पर सर्वाधिक प्रभाव है। अगली शताब्दी में रघुनन्दन ने अपने अट्ठाईस **तत्त्वों** को लिखा, जिनको दिव्यों, प्रक्रिया, और दाय के विषयों में विशेष मान्यता प्राप्त हुई। सत्तरहवीं शताब्दी में कमलाकर के **निर्णयसिन्धु** की रचना हुई, जिसको मराठा प्रदेश में धर्म के विषय में अब भी एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। उसी शताब्दी में नीलकण्ठ के **भगवन्त-भास्कर** की तथा मित्रमिश्र के विश्वज्ञानकोश-सदृश

१. Ed. Calcutta, 1893.
२. Ed. BI. 1873-95.
३. Ed. BI. 1893.
४. *Vivādaratnākara*, ed. BI. 1887.
५. *Vivāda-cintāmaṇi*, ed. Calcutta, 1837.
६. Ed. Calcutta, 1863-6; तिथि के लिए, दे० Keith, *Bodl. Cat.*, i, App., p. 89; वाचस्पति के लिए, p. 81.

वीर-मित्रोदय[1] की रचना हुई। **वीर-मित्रोदय** में फलित ज्योतिष, आयुर्वेद, और मोक्ष के सिद्धान्त पर भी कुछ विचार किया गया है। मित्र मिश्र ने **मिताक्षरा** पर भी टीका की थी।

उक्त ग्रन्थकारों की रचनाएँ अपने ढंग पर प्रशंसनीय हैं, परन्तु वे विधि-सम्बन्धी व्याख्या के उत्कृष्टतम गुणों को बिलकुल नहीं दिखाती हैं। वे आवश्यक-रूप से शब्द-प्रमाण (अथवा प्रमाणभूत-ग्रन्थों) का अनुसरण करती हैं, और उस प्रमाण के प्रति स्वतन्त्र दृष्टि का विकास नहीं कर पातीं; अथवा संगति के अयोग्य बातों को संगत रूप देने में, और स्पष्टतः अर्थान्तर रखने वाले प्राचीन प्रमाणों के उत्पीडन से अपने स्थान-विशेष की किसी प्रथा की न्याय्यता की स्थापना में अत्यधिक योग्यता दिखाने से अधिक वे कुछ नहीं करतीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा दिये गये उद्धरण कहाँ तक वास्तविक प्राचीन ग्रन्थों से लिये जाते थे। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि खुले रूप में नवीन पद्य गढ़ लिये जाते थे, जब कि इस प्रवृत्ति का नियन्त्रण करना असम्भव था। उक्त नियन्त्रण न कर सकने का विशेष कारण यह था कि **महाभारत** एक उत्कृष्ट प्रमाण-भूत ग्रन्थ माना जाता था और कोई भी तब, या अब, निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता था कि उस ग्रन्थ में क्या है और क्या नहीं है।

---

१. Ed. ChSS. 1906 ff.

२३

अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र

(राजनीति-शास्त्र तथा व्यावहारिक जीवन-शास्त्र)

१. अर्थशास्त्र का प्रारम्भ

वैदिक वाङ्मय, धर्म से अभिव्याप्त होने के कारण, वैदिक भारतीय के विषय में विलकुल मिथ्या संस्कार उत्पन्न कर देता है कि वह ऐसा मानव था कि जो चिन्तन और धार्मिक कर्मकाण्ड में रत रहता था और व्यावहारिक जीवन से विमुख था; परन्तु कोई बात सत्य से इससे अधिक दूर नहीं हो सकती। पूर्व ने पश्चिम के सम्मुख अवज्ञा से अथवा दूसरे कारणों से सिर नहीं झुकाया, प्रत्युत सिकन्दर का ऐसे विरोध के साथ सामना किया जिसको छिन्न-भिन्न करने का उसने प्रयत्न नहीं किया, और उसकी मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही उसकी सेनाओं को मैदान छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। यदि हम भारत को ठीक-ठीक समझना चाहते हैं, तो हमें धर्म और नैतिक कर्त्तव्य (अर्थात् सदाचार) के साथ, जिनका विचार वैदिक ग्रन्थों में किया गया है, दो और लक्ष्यों (पुरुषार्थों) को जोड़ना आवश्यक है। पहले से ही **हिरण्य-केशि-गृह्यसूत्र**[1] धर्म, अर्थ (राजनीति तथा सामान्यतः व्यावहारिक जीवन), और काम इन तीन पुरुषार्थों से परिचित है। **महाभारत**[2] पुरुषार्थ-त्रय के इस वर्ग को मानती है, **विष्णु-स्मृति**[3] और मनु इसे स्वीकार करते हैं, पतञ्जलि में,[4] अश्वघोष में, और **पञ्चतन्त्र** में यह विद्यमान है। परन्तु प्राचीनतर विचार-पद्धति में व्यापक अर्थ में उक्त पुरुषार्थों को धर्म के अङ्ग के रूप में निस्संदेह सम्मिलित समझा जाता था। धर्मसूत्रों में, न्याय (justice) के समान ही राज-धर्म, राजधानियों और देशों, अधिकारियों, करों और युद्ध-सम्बन्धी तैयारियों का भी विचार किया गया है; और **महाभारत**[5] में दी हुई राजशास्त्र के प्रमाण-भूत आचार्यों की एक सूची में वृहस्पति, विशालाक्ष, उशनस्, मनु, प्रचेतस् के पुत्र, और गौरशिरस् सम्मिलित हैं, जो धर्म के विषय में भी प्रमाण माने जाते हैं।

---

१. ii. 19. 6.
२. i. 2. 381.
३. lix. 30.
४. पाणिनि २।२।३४ पर वार्त्तिक ९.
५. xii. 58. 1 ff.

बृहदारण्यकोपनिषद्[1] प्रसङ्गतः दिखलाती है कि ब्राह्मणों की मण्डलियों में कामशास्त्र के रहस्यों की विस्तृत जानकारी फैली हुई थी, और उत्तरकाल में मुनि श्वेतकेतु कामशास्त्र के एक प्रामाणिक आचार्य बन गये। क्रमशः ऐसे सम्प्रदायों[2] का प्रारम्भ अवश्य हो गया होगा जो स्वयं अर्थ और काम का अध्ययन करते थे। स्मृतियों और **महाभारत** से भी यह बात सिद्ध होती है।

ऐसा दीखता है कि धर्म की तरह अर्थ के सिद्धान्त भी प्रारम्भ में उपदेशात्मक पद्य में व्यक्त किये गये थे। **महाभारत**[3] हमें विश्वास दिलाती है कि ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ और काम इन तीन विषयों पर एक लाख अध्यायों में एक ग्रन्थ निर्माण किया था, विशालाक्ष के नाम से शिव ने आयुष्य की न्यूनता को ध्यान में रखते हुए उसको १०००० अध्यायों में संक्षिप्त किया, इन्द्र ने उसे ५००० में घटा दिया, और अन्त में, इन्द्र के एक नाम के आधार पर, उसके **बाहुदन्तक**-नामक ग्रन्थ को संक्षिप्त करके बृहस्पति ने ३००० अध्यायों में, और उशनस् ने १००० अध्यायों में कर दिया। **कौटिलीय-अर्थशास्त्र** आचार्यों के रूप में बृहस्पति, बाहुदन्तीपुत्र, विशालाक्ष, और उशनस्, का निर्देश करता है, और **कामसूत्र** धर्म का मनु से, अर्थ का बृहस्पति से, और काम का नन्दी से सम्बन्ध बतलाता है। स्वयं महाभारत में कुछ अध्यायों में राज्य-व्यवस्था (polity) का निरूपण किया गया है, जैसे शत्रुओं के निर्दय विनाश के सम्बन्ध में धृतराष्ट्र के प्रति कणिक का उपदेश,[4] विदुर के कतिपय भाषण,[5] तथा दूसरे यत्र-तत्र बिखरे हुए प्रकरण, जबकि एक या दो स्थलों में किसी निश्चित **अर्थशास्त्र** के वास्तविक उपयोग के चिन्ह[6] भी दिखाई देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनु,[7] याज्ञवल्क्य,[8] और विष्णु[9] की स्मृतियों ने अपने विषयों के संकलन में इसी प्रकार के ग्रन्थों का उपयोग किया था, और याज्ञवल्क्य[10] और नारद[11] दोनों स्पष्टतः कहते हैं कि अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में परस्पर

१. VI. 3.

२. इसके विरुद्ध, Jacobi, SBA. 1912, pp. 838ff.; cf. Hillebrandt, ZDMG. Lxix. 360; Jolly, ZDMG. Lxvii. 95.

३. xii. 59. 28 ff.

४. i. 140.

५. v. 33. 36 ff., 39.

६. xv. 5-7.

७. vii. 155 ff.

८. i. 344 ff.

९. iii. 38 ff.

१०. ii. 21.

११. i. 39.

विरोध होने पर धर्मशास्त्र को प्रधानता देनी चाहिए। वास्तव में ऐसा ही होता था, वास्तव में यह बिलकुल भिन्न प्रश्न है; जैसा हम देख चुके हैं, अर्थशास्त्र की तुलना में धर्मशास्त्र आदर्श को लेकर चलते हैं; अन्ततोगत्वा वे विधि (law) के आधार के रूप में धर्म (duty) और सदाचार (morality) का निरूपण करते हैं; अर्थशास्त्र का सम्बन्ध लाभ से है, और उसका धर्म से सम्बन्ध वहीं तक है जहाँ तक वह धर्म का उपयोग राजा के हित की अभिवृद्धि के लिए कर सकता है, अथवा जहाँ तक, उदाहरणार्थ, एक विजित देश में, सदाचरण जनता के अनुराग की प्राप्ति के लिए अच्छी नीति है। परन्तु तो भी राजाओं के दरबारों में रहने वाले कविजन **अर्थशास्त्र** को, जिसको **नीतिशास्त्र** (व्यवहार-शास्त्र), **राजनीति** (राजाओं की नीति) अथवा **दण्डनीति** (दण्ड की नीति) भी कहते हैं, आदर की दृष्टि से देखते थे। भास अपने **प्रतिज्ञायौगन्धरायण** और **प्रतिमा नाटक** में, कालिदास, भारवि, माघ और उनके अनुवर्ती अन्य कवि काम के सदृश नीति में भी अपनी-अपनी दक्षता दिखाते हैं। हाँ, केवल बौद्धों ने उस (राजनीति) का विरोध किया था, जैसा कि **जातकमाला**[1] में राजनीति के इस सिद्धान्त की, कि न्याय का अनुसरण वहीं तक करना चाहिए जहाँ तक कि उसका लाभ के साथ विरोध नहीं होता, उग्रता के साथ भर्त्सना की है और **नीतिशास्त्र** को निन्दित ठहराया है। परन्तु इस विषय में बौद्ध धर्म ने जीवन और चिन्तन की भारतीय परिस्थितियों के साथ सफलतापूर्वक सामञ्जस्य के स्थापित करने में अपनी अक्षमता को ही दिखाया था।

जैसा हम देख चुके हैं, **महाभारत** में अर्थशास्त्र के संस्थापक के रूप में बृहस्पति का स्थान है, और भास ब्राह्मणों के अध्ययन के एक विषय के रूप में एक **बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र**[2] को उद्धृत करते हैं। परन्तु इस नाम से जो ग्रन्थ परम्परया हमें उपलब्ध हैं वह वर्त्तमान समय की कृति है। अनिश्चित होते हुए भी उसका समय परवर्ती है। उसमें इस सम्प्रदाय के प्राचीन सिद्धान्तों का, उनके उस रूप में भी जिसे हम **कौटिलीय अर्थशास्त्र** से जानते हैं, कोई अवशेष नहीं है। इसमें जो नास्तिकों की निन्दा की गई है उससे प्रतीत होता है कि यह अर्थ के आदर्श की अपेक्षा धर्म के आदर्श की ओर अग्रसर हो चुका है।

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय और रूप

जैसा कि सामान्यतः देखने में आता है, प्राचीनतम सुरक्षित ग्रन्थ के रूप में हम एक ऐसी कृति को पाते हैं जो अपने से पूर्ववर्ती एक लम्बे विकास को दिखाती है,

---

१. ix. 10; xxxi. 52.
२. Thomas, *Le Muséon*, 1916, i. no. 2.

परन्तु जिसने अपनी पूर्णता के कारण अपने से प्राचीनतर ग्रन्थों को अतिजीवित रहने की संभावना से वंचित कर दिया है। अर्थशास्त्र[१], जिसका ज्ञान हमको १९०९ में हुआ था, निस्सन्देह संस्कृत के सबसे अधिक आकर्षक ग्रन्थों में से एक है, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन से भिन्न भारतीय जीवन के व्यावहारिक पक्ष की बड़ी भारी विस्तृत जानकारी इससे हमें प्राप्त होती है; और जबकि यह धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित विषयों का भी अंशतः प्रतिपादन करता है, इसके प्रतिपादन में विस्तार की ऐसी शुद्धता और संपत्ति पाई जाती है जो इन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की सर्वस्व-भूत प्रायेणोपलब्ध अस्पष्ट सामान्यताओं से पूर्णतः भिन्न है। उपलब्ध अर्थशास्त्र की पुस्तक पन्द्रह अधिकरणों में और १८० प्रकरणों में विभक्त है; परन्तु यह विभाग अध्यायों के विभाग से व्यत्यस्त (crossed) हो जाता है। गद्यात्मक ग्रन्थ में व्याख्या किये गये सिद्धान्त को संग्रह करने वाले पद्यों के दिये जाने से अध्यायों का विभाग लक्षित हो जाता है। ऐसी संभावना की जा सकती है कि यह विभाग मौलिक नहीं है, और संभवतः यही बात उन पद्यों के विषय में भी ठीक है जो अध्यायों के विभाग को लक्षित करते हैं।

अधिकरण१ में एक राजकुमार के विनयन और शिक्षण का निरूपण किया गया है। उसको दर्शन (आन्वीक्षिकी), जिसमें सांख्य योग और और लोकायत सम्मिलित हैं, धर्म (अथवा त्रयी), जिसमें वेद और वेदाङ्ग सम्मिलित हैं—अर्थ-शास्त्र वर्णों और उनके धर्मों के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार करता है—, संपत्ति-शास्त्र, कृषि, ग्राम्य व्यवसाय, व्यापार और उद्योग, और दण्डनीति इन विषयों का अध्ययन करना चाहिए। राजा के मन्त्रियों का, उसकी परिषद् का वर्णन दिया गया है; और विशेषतः उसके गुप्तचरों (spies) का वर्णन दिया गया है जो राज्य के अन्दर अपने ही घर के उन राजकुमारों से लेकर, जो उसकी मृत्यु चाहते हैं, अत्यन्त प्राकृत जन तक, सब बड़ों और छोटों के ऊपर राजा के सुदृढ़ अधिकार के रखने में उसकी सेवा करते हैं। राज्य के बाहर जाने

१. Ed. R. Shama Sastri, Mysore, 1909 (2nd ed. 1919); trans. Banglore, 1915 (2nd ed. 1923). Also ed. T. Gaṇapati Śāstri, TSS. 79, 80, and 82 ; J. Jolly and R. Schmidt, Lahore, 1923-95; trans. J. J. Mayer, Hanover, 1915 f. इस पर लिखे गए विभिन्न प्रकार के और प्रायेण उत्कृष्ट ग्रन्थों के विषय में, दे० Jolly, *Zeit. f. vergl. Rechtswissenschaft*, xli. 305-18. See also G. B. Bottazzi. *Precursori di Nicolo Machiavelli in India ed in Grecia, Kauṭilya e Tucidide* (1914). यह ग्रन्थकार इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि Thucydides का निजी आदर्श वास्तव में Perikles (ii. 34 ff.) का आदर्श है जो नितरां कौटिलीय आदर्श से भिन्न है ; cf. Grote, *Hist.*, ch. xlviii.

वाले उसके वार्ताहर (emissaries) उसके गुप्तचर तथा राजदूत भी होते हैं, और गुप्तचर उसके पड़ोसियों के समाचारों से उसे सूचित करते रहते हैं। उसके कर्त्तव्यों को गिनाया गया है, जो आपाततः दुःसह भार-रूप प्रतीत होते हैं। उसके अन्तःपुर पर बड़ा भारी ध्यान दिया गया है, और उन उत्पातों पर जिनका कि उसे अन्तःपुर में सदा डर रहता है बल दिया गया है। साथ ही अन्तःपुर में निहत राजाओं के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण भी दिये गये हैं। परन्तु केवल राज-प्रासाद में ही नहीं, किन्तु सड़कों और सार्वजनिक स्थानों में भी, गुप्त-हत्या से राजा की रक्षा के लिए विस्तृत पूर्वविधान की आवश्यकता होती है। दूसरे अधिकरण में निरीक्षकों (inspectors) के एक विशाल समूह के कर्त्तव्य विस्तार के साथ दिये गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि एक भारतीय राज्य के शासन पर विस्तृत नियन्त्रण रखा जाता था। अधिकरण ३ में विधि (law) पर विचार किया गया है। अधिकरण ४ में पुलिस की कार्रवाई और भारी दण्डों द्वारा दुष्टकर्मियों के दमन के विषय को लिया गया है। जिनकी प्रत्यक्षतः भर्त्सना की गई है उनमें धोखा देने वाले वैद्य और व्यापारी भी हैं। साथ ही मूल्यों में कृत्रिम वृद्धि, अशुद्धीकरण (मिलावट) मिथ्या बाटों का प्रयोग आदि के प्रतीकार के लिए उपाय बतलाये गये हैं। अधिकरण ५ शिक्षा-प्रद है; इसमें समझाया गया है कि राजा उस मन्त्री से अपना छुटकारा कैसे पा सकता है जिससे उसका मन भर गया है। वह उसको किसी अभियान पर भेज सकता है और उसके साथ ही बदमाशों को भी भेज सकता है जो रणक्षेत्र में उस पर आक्रमण करके उसका वध कर सकते हैं। वह इन बदमाशों को इसलिए भी तैयार कर सकता है कि वे अपने को राजा के सम्मुख ही शस्त्रों के साथ पकड़वा दें, और तब इस बात को स्वीकार करें कि वे उसी द्वेषी मन्त्री के ही विनियुक्त आदमी हैं। तब मन्त्री का तत्काल सफ़ाया कर दिया जाता है। परन्तु कोष को पूर्ण करने के लिए करों के बलाद्-ग्रहण के उपाय कम-चातुर्यपूर्ण नहीं हैं। कृषक-वर्ग और हाथ से काम करने वालों को अपनी वस्तुओं को देने के लिए चाटूक्तियों द्वारा अथवा धमका कर उद्यत करना चाहिए; गुप्तचरों द्वारा धनवानों को सौजन्य प्रकट करने के लिए फुसलाना चाहिए। देव-मन्दिरों और प्रतिमाओं के आश्चर्यजनक दृश्यों द्वारा जनता के समूहों को और उनसे प्राप्त करों[1] (tolls) को एकत्रित करना चाहिए। अथवा गुप्त कार्यकर्ता ऐसा बहाना करें कि वृक्षों पर पिशाचों का वास है और इस प्रकार उन पिशाचों को वहाँ से भगाने के लिए स्वर्ण को इकट्ठा करें। अथवा धनवानों पर कोई अपराध लगाया जा सकता है, और उनकी वस्तुओं और प्राणों का भी अपहरण किया जा सकता है। पाखंडियों को

१. पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित प्रतिमाओं के क्रय-विक्रय पर यहाँ कोई दृष्टि नहीं दी गई है; तु० परिच्छेद २१, § २.

भी लूटा जा सकता है। इसके पश्चात् एक परिच्छेद में उत्कृष्ट रुचि के साथ राजकीय अनुचर-वर्ग के वेतन का विचार किया गया है, जो ४८००० से ६० पणों तक वार्षिक हो सकता है। अधिकरण ६ में हम और अधिक गम्भीर विषयों पर आते हैं; राजनीति के सात अङ्गों (अथवा प्रकृतियों) का वर्णन किया गया है, वे हैं—राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल (army), और सुहृत् (ally)। इसके अनन्तर अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों का, बड़े विस्तार के साथ, परन्तु किसी रोचकता अथवा वास्तविकता के बिना, बिलकुल औपचारिक विश्लेषण किया गया है। अधिकरण ७ में कार्य के छः सम्भव कारणों (अर्थात् 'षड्गुणों') का निरूपण किया गया है, वे हैं—संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव। अधिकरण ८ में उन बुराइयों को जो मृगया, द्यूत, स्त्रियाँ, और मद्य-पान इनमें राजा की आसक्ति से उत्पन्न हो सकती हैं, तथा राष्ट्र में अग्नि जल तथा दूसरे कारणों से आने वाली आपत्तियों को गिनाया गया है। अधिकरण ९ तथा १० में युद्ध का निरूपण है। वास्तविक युद्ध से बचने के लिए राजा को पर्याप्त उपाय बतलाये गये हैं; यदि उसे युद्ध करना ही पड़ता है, उस दशा में वह योद्धाओं को यह विश्वास दिला कर प्रोत्साहित करता है कि उन्हीं के समान वह स्वयं भी राज्य का वैतनिक सेवक है, वह उनसे अपने नमक के प्रति सच्चा रहने को कहता है, और साथ ही उसके अपने अभिक्रम में ज्योतिषी लोग, पुरोहित-वर्ग और चारण-गण उसकी सहायता करते हैं। पर धूर्तता का अधिक महत्त्व है, और अधिकरण ११ में बतलाया गया है कि राजा को किस प्रकार अपने विरोधी योद्धाओं की सामन्तशाही में परस्पर भेद उत्पन्न करके उसके ऐक्य को नष्ट करना चाहिए, और इस उद्देश्य में स्त्रियाँ बहुत ठीक काम कर सकती हैं। अधिकरण १२ में अन्य उपायों का निरूपण किया गया है जिनके द्वारा एक दुर्बल राजा अपने महत्त्व को बढ़ा सकता है; चारगण, गूढ़ कार्यकर्ता, साहसी-लोग, विष देने वाले तथा स्त्रियाँ ये सब चाहे शत्रु राजा की हत्या द्वारा, या भोजन में विष मिला कर, अथवा यात्रा के स्थानों में दीवारों को गिराकर सहायता कर सकते हैं। अधिकरण १३ में बतलाया गया है कि किस प्रकार राजा अपनी सर्वज्ञता और दैवी प्रसाद के लाभ की बात को फैला कर एक दुर्ग-पुर को हस्तगत कर सकता है। चारों से गुप्तरूप में परिज्ञात बातों को कह कर वह सर्वज्ञता की ख्याति प्राप्त कर सकता है, और किसी प्रतिमा से जिसमें अपना आदमी छिपा हुआ है प्रश्नोत्तर करके वह दैवी-प्रसाद-लाभ की ख्याति प्राप्त कर सकता है। अथवा शत्रु-राजा को एक तथाकथित तपस्वी के साथ, जो लगभग चार सौ वर्ष की आयु वाला है और अपने जीवन के पुनर्नवीकरण के लिए अग्नि-प्रवेश करने को तैयार है, वार्तालाप करने के लिए उद्यत करना चाहिए; उस राजा से कहा जाता है कि

वह उस आश्चर्यजनक दृश्य को सपरिवार देखे, और जब वह इस तरह बेसुध हो जाता है उसका सफ़ाया कर दिया जाता है, और वास्तव में वह इसी व्यवहार के योग्य होता है। परन्तु हम शस्त्रों के बल द्वारा दूसरे राष्ट्र पर वास्तविक अधिकार करने की बात भी सुनते हैं, और साथ ही नीतिवचन दिये गये हैं जिनमें विजित लोगों के स्नेह और राजभक्ति पाने की आवश्यकता दिखलाई गई है। राजा को उनकी वेष-भूषा और रीतियों को अपनाना चाहिए; उनके धर्म के प्रति आदर-प्रदर्शन के साथ-साथ उसमें भाग भी लेना चाहिए, भूमिदान और कर से मुक्ति द्वारा उच्च वर्ग की अनुकूलता को आकृष्ट करना चाहिए, और अपने विजित शत्रु के जो भी गुण हों उन में अपने को सर्वथा उत्कृष्टतर दिखाना चाहिए। यह सब इसलिए, क्योंकि इन्हीं उपायों द्वारा उसके अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। अधिकरण १४ में हम **औपनिषदिक** अर्थात् रहस्यात्मक विषय को पाते हैं, जिसमें हत्या करने, अन्धा करने आदि के योग दिये हुए हैं। यह भी बतलाया गया है कि मनुष्य कैसे अपने को अदृश्य कर सकता है, अन्धकार में देख सकता है, एक मास पर्यन्त उपवास कर सकता है, बिना हानि के अग्नि में चल सकता है, अपने वर्ण को बदल सकता है, मनुष्यों को और पशुओं को सुला सकता है। इस प्रकरण का ग्रन्थ अत्यन्त अस्पष्ट है, परन्तु इस कारण से अथवा उसके स्वरूप के कारण, जिसका हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है, हम उसका निरास नहीं कर सकते। अन्तिम अधिकरण में ग्रन्थ की योजना दी गई है और उसमें सोदाहरण बत्तीस तन्त्रयुक्तियों का वर्णन भी किया गया है जिनका उपयोग अर्थ-विचार में किया जाता है। अन्यत्र देखे गये पाँच या छः ऐसे सिद्धान्तों के साम्मुख्य में यह बत्तीस संख्या उल्लेखनीय है।

प्रायेण **अर्थशास्त्र**[1] को Machiavelli के ग्रन्थों के साथ तुलना के योग्य समझा जाता रहा है। परन्तु इस दृष्टि में कुछ भ्रान्ति है। **अर्थशास्त्र** का अभिप्राय किसी भी अर्थ में एक राजनीतिक दर्शन के ग्रन्थ का नहीं है; ग्रन्थकार का आधार बराबर ब्राह्मणों के धार्मिक विश्वास पर रहता है। धर्म और शक्ति (right and might) और दैव और पुरुषकार का परस्पर सम्बन्ध, अथवा राजसंस्था का प्रारम्भ, इस प्रकार के प्रश्नों के विचार के लिए हमको **महाभारत** या बौद्ध ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ता है।[2] **अर्थशास्त्र** जीवन के धर्म, अर्थ, और काम इन तीन लक्ष्यों की स्थिति को स्वीकार करता है; यह अर्थ को सबसे अधिक महत्त्व-युक्त मानता है, परन्तु उक्त तीनों लक्ष्यों के सम्बन्ध को निर्धारित करने का अथवा किसी बौद्धिक आधार पर उनको खड़ा करने का कोई प्रयत्न नहीं करता।

१. C. Formichi, *Solus Populi, Saggio di scienza politica* (1908). Cf. meinecke, *Die Idee der Staatsräson* (1924).

२. दे० Hillebrandt, *Altindische Politik* (1923).

इसको यह स्वीकार करने में ही संतोष है कि शासन की उन सबके लिए मौलिक आवश्यकता है; शासन के बिना सर्वत्र अराजकता हो जायगी, जिसमें मछली मछली को खा जाती है; राजशक्ति के आश्रय में चातुर्वर्ण्य और उनकी व्यवस्थित जीवन-पद्धतियाँ समृद्ध होती हैं, और धर्म, अर्थ और काम सम्पन्न होते हैं। Machiavelli और Mussolini के अनुसार राष्ट्र ही सब कुछ है, परन्तु अर्थशास्त्र का राज्य से जो भी अभिप्राय है वह बिलकुल निश्चित है, अर्थात् समाज की ऐसी व्यवस्था जिसको राज्य नहीं बनाता, किन्तु जिसको ठीक रखने के लिए ही राज्य की स्थिति होती है। राजा की कार्य-पद्धतियाँ, क्योंकि यह ग्रन्थ पहले से ही मान लेता है कि शासन के लिए राजकीय होना आवश्यक है, उसकी अपनी शक्ति की सुरक्षा की आवश्यकता से आदिष्ट होती हैं; हाब्स (Hobbes) ने जिस बात को युक्तिपूर्वक और विचार-पूर्वक कहा था, अर्थशास्त्र भी उसी बात को निस्सन्देह प्रमाणित करता है, कि उस व्यवस्था का, जिसका कि वह संरक्षक है, हित सम्पादन करने का कर्त्तव्य ही राजा की अपनी विशिष्ट नैतिकता के स्वरूप का निर्माण करता है। इसके साथ स्पाइनोज़ा (Spinoza)[१] के 'प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार उसकी अपनी ही शक्ति से निर्धारित और स्थापित होता है' इस कथन की, अथवा राज्य के सम्बन्ध में हीगेल (Hegal) के सिद्धान्त की तुलना करने से कोई विशेष लाभ नहीं है। ये दार्शनिक सिद्धान्त हैं जो कि तर्कों पर आवृत हैं, पर जिनका अर्थशास्त्र स्पर्श भी नहीं करता है। उनके स्थान में जो बात हम पाते हैं वह है इस सिद्धान्त का बिलकुल स्थिरता के साथ पालन कि लक्ष्य, अर्थात् दृढ़ शासन को स्थिर रखना, साधनों की न्याय्यता का सम्पादन करता है। उसके साथ ही यह बात भी मान ली गई है कि पड़ोसी राज्यों के मध्य में शान्ति की स्थिति का स्वप्न भी नहीं देखना चाहिए। इसलिए राज्य के अन्दर बराबर शान्ति के रखने के साथ-साथ राजा को सदा दूसरे देश के साथ युद्ध के लिए तैयार रहना चाहिए। दूसरों को अपना आज्ञानुवर्ती बनाने में और शत्रु को पराजित करने में अर्थशास्त्र ऐसा ही निर्दय है जैसा कि Machiavelli : चारों की बहुतायत है, अन्तःपुर और राज-परिवार भी सन्देह से खाली नहीं हैं, राजकुमारों को जान-बूझ कर चरित्र-भ्रष्ट कर दिया जाता है जिससे कि वे, केकड़ों की तरह, अपने माता-पिता को मार न डालें। यद्यपि अर्थशास्त्र शास्त्रीय परम्परा का अनुवर्ती है, तो भी वह निकृष्टता के व्याज के रूप में धर्म के निर्लज्ज उपयोग का समर्थन करता है। इसके अतिरिक्त, इसमें Machiavelli की उस ऐतिहासिक पद्धति का अभाव है जो कि उसका दोषों का परिमार्जन करनेवाला गुण है और जो उसको बात-बात में ऐतिहासिक तथ्यों की ओर प्रवृत्त करता है। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के विषय में अधिक से

१. Eth. iv. 37 sch.

अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वह उन राजाओं की नामावली हमको बतलाता है जो किसी न किसी दोष के कारण विपत्ति में ग्रस्त हुए थे। अर्थशास्त्र में ऐसी भी कोई बात नहीं है जिसकी हम Machiavelli के राज्य के लिए शासन के सर्वोत्कृष्ट रूप के सम्बन्ध में अनुसंधानों से तुलना कर सकें, जिनमें वे लोकतान्त्रिक शासन की एक मात्रा के प्रति अपनी अभिरुचि प्रकट करते हैं। अर्थशास्त्र उन संकटों को स्वीकार करता है जिनकी संभावना राजा को दरबारी षड्यन्त्रों से, सैनिक विशिष्टवर्गीय (oligarchical) गुटों से, कपटी मन्त्रियों से, और श्रेणियों (gilds) के उच्छृंखल मुखियों से हुआ करती है। यह ऐसा भी स्वीकार करते हुए दीखता है कि राजा राज्य का एक सेवक ही है, अधिक कुछ नहीं; परन्तु जनता द्वारा नियन्त्रण की अथवा संवैधानिक परिसीमन की कोई भावना इसमें नहीं पाई जाती।

ग्रन्थ के रूप के विषय में कहा जाता है कि उसमें गद्यात्मक सूत्र और भाष्य दोनों हैं और दोनों का कर्ता एक ही था। परन्तु हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि उसका कौन-सा अंश सूत्र है और कौन-सा भाष्य; तत्तत् प्रकरणों के शीर्षक स्पष्टतः इतने नगण्य हैं कि वे सूत्र नहीं हो सकते, और चाणक्य के नाम से प्रसिद्ध सूत्रों का संग्रह केवल ऐसे नीति-वचनों की एक सूची है जो अर्थशास्त्र के विषय के अनुकूल होने की अपेक्षा अधिकतर उपदेशात्मक नैतिक ढंग के हैं। इसलिए यह ग्रन्थ बहुत-कुछ दोनों अशों का एक सम्मिश्रण है। यत्र-तत्र पद्य, सामान्यतः श्लोक, परन्तु कभी-कभी त्रिष्टुभ्, बीच बीच में डाल दिये गये हैं, और उपलब्ध ग्रन्थ में प्रत्येक परिच्छेद का अन्त कुछ पद्यों से होता है जो कि उसके प्रतिपाद्य विषय को संगृहीत कर देते हैं। केवल आदेशात्मक (dogmatic) ढंग के विवरण की रुक्षता यत्र-तत्र विभिन्न आचार्यों के मतों के विवरण से विघटित हो जाती है; उदाहरणार्थ, मन्त्रियों के चुनने के विषय में विस्तार से भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र, और कौटिल्य के विभिन्न मतों को उपस्थापित किया गया है, और यहाँ कौटिल्य बाहुदन्तीपुत्र के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। यह दृष्टि कि यह वास्तविक मतों का ही विचार-पूर्वक उपस्थापन है किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं मानी जा सकती। प्रायेण निस्सन्देह रूप से यह एक प्रक्रिया है, जिसका जीवन-स्फूर्ति लाने के उद्देश्य से और परस्पर-विरुद्ध विचारों को, जिनको वास्तव में अथवा अधिकतः प्रायेण संभावनारूप में स्वीकार किया जा सकता है, सामने रखने के लिए, ग्रन्थ में उपयोग किया गया है। इसी प्रक्रिया का अवलम्बन बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है; उनके सम्बन्ध में बल-पूर्वक कहा जाता है कि वे सम्भावित विभिन्न दार्शनिक मत वास्तव में माने जाते थे।

ग्रन्थ की भाषा नियमतः शुद्ध है, यत्र-तत्र पाई जाने वाली अनियमितताएँ

प्रायेण सम्भवतः ग्रन्थकार की अपेक्षा हस्तलेखों की परम्परा के कारण हैं। स्वभावतः इसमें विरल-प्रयोग अर्थशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का प्रचुरमात्रा में प्रयोग किया गया है, और इसीलिए अर्थ प्रायेण अस्पष्ट है। ग्रन्थ में चातुर्य-पूर्ण और कठोर सामान्य-बुद्धि का प्रभावकारी व्यक्तीकरण अधिक विद्यमान है, और यथारीति ग्रन्थकार का परम वैशिष्ट्य सार-पूर्ण पद्यों में दृष्टिगोचर होता है :

> **प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।**
> **नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥**

'प्रजाओं के सुख में राजा का सुख होता है, और उनके हित में उसका हित होता है। अपना प्रिय राजा का हित नहीं होता, किन्तु प्रजाओं का प्रिय ही उसका हित होता है।'

> **यथा ह्यनास्वादयितुं न शक्यं**
> **जिह्वातलस्थं मधु वा विषं वा ।**
> **अर्थस्तथा ह्यर्थचरेण राज्ञः**
> **स्वल्पोऽप्यनास्वादयितुं न शक्यः ॥**
> **मत्स्या यथान्तःसलिले चरन्तो**
> **ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः ।**
> **युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता**
> **ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः ॥**

'जैसे जिह्वा पर रखे हुए मधु या विष का स्वाद न लिया जावे, ऐसा नहीं हो सकता। इसी तरह धन-सम्बन्धी कार्य में नियुक्त मन्त्री द्वारा राजा का थोड़ा धन भी आस्वादित न किया जाय ऐसा नहीं हो सकता। जिस प्रकार जल के अन्दर घूमने वाली मछलियाँ पानी पीती हुई नहीं जानी जा सकती हैं, इसी प्रकार कार्य के संचालन में नियुक्त मन्त्रिजन भी धन को आत्मसात् करते हुए नहीं जाने जा सकते।'

> **नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते ।**
> **अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः ?**

'जो मूढ़ नक्षत्र के विषय में अधिक पूछता है, धन उसके पास से निकल जाता है; अर्थ का अर्थ ही नक्षत्र है; ताराएँ क्या करेंगी ?'

> **साधनाः(?)प्राप्नुवन्त्यर्थान् नरा यत्नशतैरपि ।**
> **अर्थैरर्थाः प्रबध्यन्ते गजाः प्रतिगजैरिव ॥**

'कर्मशील(?)मनुष्य प्रयत्न-शतों से भी धनों को प्राप्त कर लेते हैं ; धनों से धन प्राप्त किये जाते हैं, जैसे गज प्रतिगजों द्वारा।'

येन शस्त्रं च शास्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

'जिसने अमर्ष से शस्त्र, शास्त्र, और राजा नन्द के हाथों में गई हुई भूमि का झटिति उद्धार किया उसी ने इस शास्त्र की रचना की है।'

३. अर्थशास्त्र की वास्तविकता

अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य वा विष्णुगुप्त वा कौटिल्य की कृति है, इस प्रचलित विश्वास[1] का आधार ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य पर, और १।१ तथा २।१० के अन्त में दिये हुए कथनों पर है, जिनमें कौटल्य का—कौटल्य इस पाठान्तर का कोई मूल्य नहीं है, जो स्पष्टतः शुद्ध किया हुआ पाठ है— ग्रन्थकार के रूप में निर्देश किया गया है, और उन्हीं स्थलों में से दूसरे में उनका कहना है कि उन्होंने सब शास्त्रों को पढ़ा था और उनके प्रयोग को समझा था, और साथ ही ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका के बिलकुल अन्त में जोड़े हुए पद्य में कहा गया है कि विष्णुगुप्त ने सूत्र (मूल) और भाष्य दोनों का निर्माण यह देख कर किया है कि अन्यत्र एक ही शास्त्रीय ग्रन्थ के उक्त दोनों महत्त्वपूर्ण भागों में परस्पर विरोध देखने में आता है। ये कथन इस तथ्य के उत्तर में उपस्थित किये जाते हैं कि किसी विषय पर उपस्थापित विभिन्न विचारों के प्रसङ्ग में नियमतः निर्णायक सम्मति के देने में **इति कौटिल्यः** इन शब्दों के प्रयोग से यही परिणाम निकलता है कि **अर्थशास्त्र**, स्वयं ग्रन्थकार (कौटिल्य) की रचना न होकर, उनके विचारों के अनुवर्ती एक सम्प्रदाय-विशेष की कृति है, जैसी कि स्थिति जैमिनि या बादरायण की उनके नाम से प्रसिद्ध दार्शनिक सूत्रों में है। तो भी, यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्तिम अधिकरण में **अपदेश** की व्याख्या करते हुए कौटिल्य का एक वाक्य उद्धृत किया गया है। उससे आपाततः यही परिणाम निकलता है कि वहाँ कौटिल्य का उद्धरण एक प्रामाणिक आचार्य के रूप में है, न कि ग्रन्थकार के रूप में। इसलिए प्रकृत प्रश्न का समाधान, हम चाणक्य के विषय में जो कुछ जानते हैं, और जो कुछ हम **अर्थशास्त्र** में पाते हैं अथवा उसके विषय में जो कुछ हम जानते हैं, उन्हीं बातों पर आश्रित सामान्य सम्भावनाओं के विचारों से करना चाहिए।

यह बात अर्थपूर्ण है कि यद्यपि पुराणों में और परवर्ती ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त के मंत्री के रूप में चाणक्य के विषय में हम सुनते हैं, और यद्यपि **मुद्राराक्षस** एक रोचक

१. Jacobi, SBA. 1911, pp. 732 ff., 954 ff.; 1912, pp. 832 ff.; ZDMG. Lxxiv. 248 ff., 254, और Jolly से अतिरिक्त दूसरे संपादक। इस दृष्टि के विरुद्ध दे० Winternitz, GIL. iii. 518 f.; Bhandarkar, POCP. 1919, i. 24 ff.; Keith, JRAS. 1916, pp. 130 ff.; 1920, p. 628; EHR. 1925, pp. 420 f.; JCL. vii. 275 f.

व्यक्ति के रूप में उनका चित्रण करता है, तो भी इन ग्रन्थों में अथवा अन्यत्र भी उनकी साहित्यिक तत्परता के सम्बन्ध में किञ्चिन्मात्र भी उल्लेख नहीं मिलता। उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व के विषय में भी सन्देह किया गया है, क्योंकि Seleukos के राजदूत Megasthenes ने, जिन्होंने चन्द्रगुप्त के दरबार में काफ़ी समय व्यतीत किया था, उनका ज़िक्र नहीं किया है; Megasthenes के सम्बन्ध में हमारी जानकारी के खंडित (या अपूर्ण) होने से इस युक्ति पर बल नहीं दिया जा सकता। एक भारतीय राजनीतिज्ञ विस्मार्क (Bismark) की तरह स्मृति-मूलक वृत्तान्त-परक लेख (memoirs) लिखना चाहेगा या नहीं, इस सम्भावना पर जहस से भी हम इस विषय में अधिक प्रगति नहीं कर सकते, क्योंकि, यद्यपि दोनों समान रूप से इस बात को मानते हैं कि बुद्धिमान् राजा में नैतिकता के प्रति उपेक्षा का और अविश्वास पर आग्रह का गुण होना चाहिए, तो भी बिस्मार्क के *Gedanken und Erinnerungen*[१] में दिये हुए उन वास्तविक घटनाओं के, जिनमें उन्होंने स्वयं भाग लिया था, विस्तृत वर्णनों में, और **अर्थशास्त्र** के, जो कभी कहीं भी संकेत नहीं करता कि उसके ग्रन्थकार को नन्दों के उन्मूलन का और उन युद्धों का, जिनसे चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को और Seleukos द्वारा किये गये प्रत्यर्पणों को पाया था, कुछ भी परिज्ञान था, एकान्ततः सामान्य और अत्यन्त पाण्डित्य-प्रदर्शी कथनों में अत्यन्त महान् अन्तर है। इस तथा-कथित प्राचीन कालीन राजनीतिज्ञ ने, जो अपने विश्रान्ति के दिनों में राजनीति के सिद्धान्तों के चिन्तन में व्यस्त था, अत्यन्त चुप्पी के साथ, अपने महाराजा का नाम, उसका परिवार, जो और भी आश्चर्य की बात है उसका देश, उसकी राजधानी, इन सबकी उपेक्षा कर दी है। जिन नियमों का उक्त ग्रन्थ में विधान किया गया है वे ऐसे हैं जो एक आधुनिक समय के अनुसार संघटित राज्य के लिए भी मूल्यवान् हो सकते हैं, और चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के समान साम्राज्य के शासन के प्रश्न को पूर्णतः उपेक्षित कर सकते हैं। ऐसी चुप्पी की असंभाव्यता इतनी पूर्ण दिखाई देती है कि एक समालोचक,[२] **अर्थशास्त्र** की कौटिल्य द्वारा रचना की प्रसिद्धि की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए, उसकी व्याख्या इस रूप में करते हैं कि उसकी रचना चन्द्रगुप्त द्वारा साम्राज्य की प्राप्ति से पहले हुई थी। यह एक निष्कपट स्वीकृति है, परन्तु वास्तव में इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रकृत दावा हास्यास्पद है।

अर्थशास्त्र में और Megasthenes के खण्डित लेखों में दिये हुए हुए वर्णनों में परस्पर कम से कम उल्लेखनीय समानताओं का पता लगाने के लिए

१. Stuttgart, 1898.

२. Smith, EHI. p. 146.

स्वभावत: प्रयत्न किये गये हैं। उक्त प्रयत्न पूर्णतः असफल रहा है[1]; एक सी स्थितियाँ दोनों में अनेकानेक विद्यमान हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध ऐसी बातों से है जो क्राइस्ट के पहले और पीछे के समय में भारत में सामान्यतः पाई जाती हैं। ग्रीक ग्रन्थकार के उन सब कथनों की उपेक्षा कर देने पर भी जिनका निस्सन्देह रूप से आधार भ्रम पर है अथवा जिनकी स्पष्ट सूचना हमको नहीं मिली है, आवश्यक विवरण से युक्त महत्त्वशाली समानताओं का नितान्त अभाव है। **अर्थशास्त्र** पाटलिपुत्र के काष्ठ की क़िलेबन्दी के विषय में कुछ नहीं जानता; बल्कि वह पत्थर के काम का प्रावधान करता है। यह नगर के अधिकारियों के उन मण्डलों (boards) की उपेक्षा करता है, जिनमें से किसी का कोई अध्यक्ष नहीं होता था, फिर भी वे परस्पर सहकारिता से काम करते थे और जिनका विशेषरूप से Megasthenes उल्लेख करता है। यह ज़हाज़ी बेड़े के मुख्य सेनाधिपति के विषय में भी कुछ नहीं जानता; स्थायी नौ-सेना के विषय में भी यही बात है, जिसका उपयोग चन्द्रगुप्त अवश्य ही करता होगा, परन्तु जिसका बहुत से राज्यों में सम्भवतः विशेष महत्त्व नहीं था। परदेसियों की देखरेख करना, उनको रक्षकों के साथ सीमा तक पहुँचाना, उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके सामान की देख-भाल करना, ये बातें **अर्थशास्त्र** को अज्ञात हैं; वह जन्म और मृत्यु के निबन्धन (registration) के लिए भी कोई प्रावधान (provision) नहीं करता है। साथ ही Megasthenes के मण्डल (board) का हाथ या शिल्प-विद्या द्वारा निर्माण की हुई नई और पुरानी वस्तुओं को बेचने का काम **अर्थशास्त्र** द्वारा विचारित अत्यन्त विकसित व्यापारिक और औद्योगिक अवस्थाओं के साथ उल्लेखनीय रूप में वैसादृश्य रखता है। भूमि के सम्बन्ध में राजा के स्वामित्व के विषय में Megasthenes के कथन की पुष्टि अन्य भारतीय साक्ष्य से भी होती है; परन्तु **अर्थशास्त्र** का मत ऐसा नहीं है। Megasthenes द्वारा वर्णित खनिज पदार्थों का परिज्ञान **अर्थशास्त्र** के, जो कीमिया के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानता है, परिज्ञान की अपेक्षा बहुत ही कम उन्नत है। Megasthenes के कर **अर्थशास्त्र** के अनेक प्रकार के करों की तुलना में सादे हैं, और जबकि Megasthenes लिपि की उपेक्षा करता है, **अर्थशास्त्र** निबन्धन तथा राजकीय लेखों की तैयारी के नियमों से पूर्ण है, और पार-पत्रों को भी मानता है।[2]

यदि हम उपरि-निर्दिष्ट अप्रसन्न प्रत्यभिज्ञा का परित्याग कर दें, तो **अर्थशास्त्र** का समय-निर्धारण कठिन हो जाता है। तो भी, हम इन बातों पर ध्यान दे सकते

१. Stein, *Megasthenes und Kauṭilya*, SWA. 1921.

२. इस ग्रन्थ का छन्द प्राचीन नहीं है; और उसकी व्याकरण-संबन्धी अनियमितताएँ भी आदिकालीन नहीं हैं; Keith, JRAS. 1916, pp. 136 f.

हैं कि पतञ्जलि इस ग्रन्थ को नहीं जानते, यह कि कीमिया की जानकारी से ग्रीक विज्ञान से परिचय का संकेत मिलता है[1], और यह कि सुरङ्ग (खान) यह शब्द निस्संदेह रूप में ग्रीक syrinx से, सम्भवतः ईस्वी संवत् के वाद तक नहीं, आदान किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त, यह अत्यन्त सम्भव दीखता है कि **अर्थशास्त्र** कम से कम मनु, याज्ञवल्क्य, और नारद की स्मृतियों से परिचित था और उनका उसने उपयोग भी किया था। याज्ञवल्क्य के सम्बन्ध में यह बात आपाततः सिद्ध है;[3] जहाँ याज्ञवल्क्य-स्मृति फोड़ों की चीरफाड़ को दण्डनीय कहती है, वहां **अर्थशास्त्र** बुद्धिमत्ता-पूर्वक भयानक फोड़ों की चीरफाड़ को छोड़ देता है, और दूसरी अवस्थाओं में यह उक्त स्मृति की ही भाषा का प्रयोग करता है। योद्धाओं के प्रोत्साहन में भास के एक पद्य के साथ **अर्थशास्त्र** की अभिन्नता आदान का बोध करा सकती है, परन्तु, यतः भास की तिथि अनिश्चित है, इससे किसी निश्चित परिणाम तक पहुँचने में विशेष सहायता नहीं मिलती। **अर्थशास्त्र** का परिज्ञान दण्डी को अवश्य था; वे उसके विस्तार, ६००० श्लोकों (अर्थात्, ३२ अक्षरों की इकाइयों), का उल्लेख करते हैं, और साथ ही उसे आसन्नकालीन समझते हैं; हाँ यदि इसका कारण हम उनके उल्लेख के नाटकीय औचित्य को समझें तो दूसरी बात है। वाण **अर्थशास्त्र** को जानते हैं, और मृगया पर कालिदास के शब्द कदाचित् उससे ही लिये गये थे। यह बात इस तथ्य के साथ भी ठीक मेल खाती है कि **कौटलीय** और चाणक्य पाँचवीं शताब्दी ई० के मध्य में जैन धर्म-ग्रन्थ के **नन्दीसूत्र** और **अनुयोगद्वारसूत्र** को परिज्ञात हैं, और यह कि वराहमिहिर की बृहत्संहिता में **अर्थशास्त्र** जैसा ही विषय पाया जाता है, और साथ ही यह बात भी कि **अर्थशास्त्र** के अन्तिम अधिकरण की बत्तीस तन्त्र-युक्तियों की तुलना में चरक की आयुर्वेदीय संहिता में छत्तीस विशेष युक्तियाँ गिनाई गई हैं। किञ्च, **अर्थशास्त्र कामसूत्र** से पहले का है, जिसका समय, जैसा कि हम आगे देखेंगे, चतुर्थ

---

१. Jolly's ed., pp. 42 f. against Ray, *Hist. of Hindu Chemistry*, ii. 31; R. V. Patvardhan, POCP. 1919, i.p. clv.

२. Stein, ZII.iii. 280 ff.; Winternitz, IHQ. i. 429 ff.

३. जैसाकि टी० गणपति शास्त्री ने दिखलाया है, TSS 79, pp. 8 ff. ग्रन्थ की प्राचीनता का समर्थन नरेन्द्रनाथ ला (*Calc. Review*, Sept. Dec. 1924) ने और के० पी० जायसवाल (*Hindu Polity*, App. C.) ने किया है। परन्तु इन दोनों ग्रन्थकारों में से किसी ने भी इस बात का समाधान नहीं दिया है कि **अर्थशास्त्र** का ग्रन्थकार एक साम्राज्य अथवा पाटलिपुत्र के विषय में क्यों कुछ नहीं जानता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'मैं विश्वास करता हूं क्योंकि यह असम्भव है' यह उक्ति अभी तक अप्रचलित नहीं हुई है।

शताब्दी ई० हो सकता है, वात्स्यायन के न्यायभाष्य से पहले, और तन्त्राख्यायिका अथवा पञ्चतन्त्र से भी पहले, कदाचित् इनका और अर्थशास्त्र का समय एक ही हो। यह बात, यदि इसको सिद्ध नहीं कर सकती तो, कम से कम ग्राह्य हो सकती है कि अर्थशास्त्र लगभग ३०० की कृति है और किसी राजदरबार से सम्बद्ध एक अधिकारी ने इसे लिखा था। इसका कोई अंश या रूप चाणक्य द्वारा लिखा हुआ था, इस प्रश्न का समाधान नहीं किया जा सकता। उसके ग्रन्थकार का निवास दक्षिण में हो सकता है, क्योंकि वह उस भाग के मोतियों, मणियों, शुक्तियों और रत्नों का उल्लेख करता है, और रत्नों की परीक्षा के प्रकरण में दक्षिणभारतीय और सीलोन के रत्नों का अधिकतर प्राधान्य है। परन्तु यह अन्दाज़ा ही है, क्योंकि यह बात कि ग्रन्थ के हस्तलेख केवल दक्षिण में ही उपलब्ध हैं, विशेष महत्त्व नहीं रखती।

अर्थशास्त्र के परिज्ञात वाङ्मय में वेद, वेदाङ्ग, उपदेशात्मक और आख्यानात्मक महाभारत, पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिकाएँ, और सम्भवतः रत्न-परीक्षा, कृषि, खनिक विषय, वास्तु-विद्या, कीमिया, पशु-चिकित्सा-कला और अन्य विषयों से सम्बद्ध विशिष्ट विद्याओं पर अनेकानेक ग्रन्थ सम्मिलित थे। ग्रन्थ में दी हुई तत्तद् विषयों की जानकारी केवल उन विषयों के विशेषज्ञों से ली गई थी, इस स्थापना का खण्डन अर्थशास्त्र के ही स्पष्ट कथनों से और पूरी संभावना से हो जाता है। प्रकृत ग्रन्थ को जैन आख्यानों, जैन देवताओं और जैन शब्दावली से परिचय है, जब कि महाभारतीय आख्यानों के सम्बन्ध में उसका वर्णन सर्वथा महाभारत से ही लिया गया हो ऐसा किसी प्रकार नहीं है, प्रत्युत उसका सादृश्य वैदिक और बौद्ध साहित्य में भी पाया जा सकता है। यह सारी बातें ऊपर सम्भावित रूप में सुझाई गई ग्रन्थ की तिथि के साथ बराबर ठीक बैठती हैं।

४. उत्तरकालीन ग्रन्थ

उत्तरकालीन ग्रन्थों का महत्त्व कम है। कामन्दकि का नीतिसार[1] मुख्यतः अर्थशास्त्र पर आधृत है, और वह अपने गुरु के रूप में चाणक्य को नमस्कार करता है। परन्तु यह अर्थशास्त्र का केवल एक परिष्कृत संस्करण ही नहीं है। अर्थशास्त्र के प्रशासन-सम्बन्धी अधिकरण २–४ के विस्तार के तथा अन्तिम दो अधिकरणों के विषय के छोड़ देने से इसको सरलीकृत रूप भी दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त, सर्ग ३ में और अन्यत्र भी इसको उपदेशात्मक नैतिकता में प्रसन्नता का अनुभव होता है, जिसका अर्थशास्त्र में अभाव है। दूसरी ओर, मूल-पुस्तक के कुछ भागों को इसमें विशेष अभिरुचि के साथ ले लिया गया है, जैसा कि सर्ग ९–११ में। उक्त सर्गों में वैदेशिक नीति को, इतिहास के साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध के

1. Ed. BI. 1849-84; TSS. 14, 1912.

बिना, उसकी सैद्धान्तिक जटिलता की पूर्णता में विकसित किया गया है। सर्ग १६–२० में हम अर्थशास्त्र की इस शिक्षा की पुनरावृत्ति पाते हैं कि जहां-कहीं सम्भव हो कपट-युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि, जैसा कि उसी ग्रन्थ में कहा गया है और तन्त्राख्यायिका में दुहराया गया है :

एकं हन्यान्नवा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता ।
प्राज्ञेन तु मतिः क्षिप्ता हन्याद् गर्भगतानपि ॥

'धनुष्मान् द्वारा फेंका गया बाण किसी एक को मारे अथवा न मारे। परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त की गई मति गर्भगतों को भी मार सकती है।' कामन्दकीय सरल पद्यों में लिखा गया है, और यही नहीं कि एक महाकाव्य की भाँति इसको सर्गों में विभक्त किया गया है, इसका टीकाकार एक महान् काव्य के लक्षण का भी इस पर आरोप करता है।[1] स्वभावतः यह प्रशंसा इसके योग्य नहीं है, और जब से इसके मूल का पता लगा लिया गया है, इसका महत्त्व, जो स्वतः अधिक बड़ा नहीं है, बहुत घट गया है।

इसका समय नितरां अस्पष्टता के साथ ही निर्धारित किया जा सकता है। इसका ज्ञान न तो पञ्चतन्त्र को उसके प्राचीनतम रूप में है, और न कालिदास को है। ये दोनों प्रायेण अर्थशास्त्र का ही उपयोग करते हैं। दण्डी भी इससे परिचित नहीं दीखते हैं। परन्तु भवभूति द्वारा एक तपस्विनी कामन्दकी का उल्लेख कुछ अर्थ रख सकता है, यद्यपि उस नाटककार ने, मुद्राराक्षस में विशाखदत्त की तरह, अर्थशास्त्र का उपयोग किया था। वामन[2] (लगभग ८००) भी उसको जानते हैं। इसलिए उसका समय लगभग ७०० हो सकता है, यद्यपि दूसरों ने उसे वराहमिहिर का समकालीन कहा है। बालि द्वीप के कवि (Kawi) साहित्य में इसका अस्तित्व कोई महत्त्व नहीं रखता है, क्योंकि अपने अत्यधिक विस्तार में उस साहित्य की समृद्धि दसवीं शताब्दी से पहले नहीं देखी जाती।[3]

यशस्तिलक के रोचक ग्रन्थकार सोमदेव सूरि का नीतिवाक्यामृत[4] कहीं अधिक आकर्षक है। वे स्वयं हमें बतलाते हैं कि उन्होंने यशस्तिलक की रचना राजाओं के कर्त्तव्य-परक इस ग्रन्थ से पहले की थी। यद्यपि वे अर्थशास्त्र के अत्यन्त ऋणी हैं, उनकी अपनी भावना बिलकुल दूसरे प्रकार की है। उनको प्रशासन और युद्ध के विवरण में बिलकुल रुचि नहीं है, और उनमें निश्चित रूप से एक नैतिक शिक्षक का स्वरूप कहीं अधिक प्रतीयमान होता है और जो राजाओं को

---

१. Jacobi, SBA. 1912, p. 836.
२. iv. I. 2.
३. Kuhn, *Der Einfluss des arischen Indiens auf die Nachbarländer* (1903), p. 19.
४. Ed. Bombay, 1887-8; Jolly, ZDMG. lxix. 369 ff.

कापटिक व्यवहार के स्थान में अच्छे और बुद्धिमत्तापूर्ण आचरण का उपदेश देता है। तथाच, स्मृति-ग्रन्थों के समान वे दिव्य के प्रयोग का विधान करते हैं, अर्थशास्त्र के समान यन्त्रणा का नहीं। सारे ग्रन्थ में उनकी दृष्टि पर उनके जैन विचारों का वहुत थोड़ा ही प्रभाव पड़ा है। वे पूर्णतः वर्ण-धर्म को स्वीकार करते हैं, अन्तरजातीय विवाहों की निन्दा करते हैं, और प्रत्येक वर्ण से अपने-अपने धर्म में निष्ठा और अपने-अपने कर्त्तव्य में तत्परता चाहते हैं। वे अहिंसा की प्रशंसा करते हैं, परन्तु किसी विशेष आग्रह के बिना, और एक राजा के लिए वे लोकायत दर्शन की इस आधार पर प्रशंसा करते हैं कि तपस्वियों के सिद्धान्त और आचार उसके लिए हास्यास्पद हैं।

सोमदेव की शैली अपनी ही है; उस शैली में छोटे-छोटे अर्थ-बहुल वाक्य होते हैं जो संक्षिप्त सूत्रों से नितरां भिन्न होते हैं, क्योंकि उनका अर्थ सदा स्पष्ट होता है और कामन्दकि के एक-रस सरल पद्यों से उनमें स्फूर्ति-प्रदता भी अधिक होती है। यशस्तिलक के समान इस ग्रन्थ में भी वे अध्ययन की उल्लेखनीय गम्भीरता को प्रकट करते हैं, उदाहरणार्थ, वे पञ्चतन्त्र की उस कथा का उल्लेख करते हैं जिसमें एक याजक को बदमाशों ने धोखा देकर यह विश्वास दिला दिया था कि जिस बकरे को वह ले जा रहा है वह वास्तव में एक कुत्ता है। वे भवभूति के मालतीमाधव के कथावस्तु का भी उल्लेख करते हैं। वे पशुओं की कृतज्ञता के विरोध में मनुष्य की कृतघ्नता की प्रसिद्ध कहानी भी इस कथा के रूप में कहते हैं कि किस प्रकार एक वानर, एक सर्प, एक सिंह, और एक अभिलेख-रक्षक को काङ्क्षायन ने एक कूप से बचाया था, और किस तरह, जब कि और सबने अपनी कृतज्ञता को सिद्ध किया, वह मनुष्य अपने हितकर्ता की मृत्यु का कारण बना। परन्तु साहित्यिक सम्पत्ति के प्रति भारत में किस ढंग से व्यवहार किया जाता था, इस सम्बन्ध में यह बात अर्थ-पूर्ण है कि ग्रन्थकार चाणक्य का उल्लेख, जिनसे अत्यधिक रूप में उन्होंने अपनी जानकारी को प्राप्त किया था, केवल असाक्षात् रूप से ही करते हैं।

हेमचन्द्र (१०८८–११७२) की लघु अर्हन्नीति[1] उनके प्राकृत में लिखित एतद्विषयक बड़े ग्रन्थ का संक्षेप है। जैन राजनीतिज्ञ ब्राह्मणों के इस शास्त्र पर पूर्णतः आश्रित थे, इस दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ की भी रोचकता है। पद्यों में इसकी रचना की गई है। इसमें जिन विषयों का निरूपण किया गया है, वे हैं: युद्ध (१), दण्ड (२), तृतीय परिच्छेद में व्यवहार, और प्रायश्चित्त (४)। हेमचन्द्र पर जैन धर्म के प्रभाव के संकेत के रूप में यह बात रोचक है कि वे युद्ध की, तन्निबद्ध प्राण-हानि के कारण, अवाञ्छनीयता पर और साथ ही युद्ध के संचालन में मानवता

---

१. Ed. Ahmedabad, 1906.

पर बल देते हैं; वे विषाक्त अथवा प्रतप्त शस्त्रों, पत्थरों, अथवा मृद्राशियों के प्रयोग की निन्दा करते हैं, और तपस्वियों, ब्राह्मणों, आत्म-समर्पण करने वालों और सब प्रकार के दुर्वलों के लिए शरण देने को कहते हैं। व्यवहार में वे मनुस्मृति के अठारह विवाद-पदों का अनुसरण करते हैं। प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में वे बिलकुल परम्परा-वादी हैं, और अयोग्य व्यक्तियों के साथ भोजन करने के कारण भी उनका विधान करते हैं।

ब्राह्मण-परम्परा के ग्रन्थों में भोज के नाम से प्रसिद्ध **युक्ति-कल्पतरु**[१] का और धर्मशास्त्री चण्डेश्वर के **नीतिरत्नाकर**[२] का भी उल्लेख किया जा सकता है। **नीतिप्रकाशिका** के समान, **शुक्रनीति**[३] भी बिलकुल पिछले काल की रचना है। वह बारूद के प्रयोग का निर्देश करती है। प्राचीन भारतीय रीति अथवा दर्शन के लिए साक्ष्य के रूप में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है।

५. अप्रधान विद्याएँ

अर्थशास्त्र इस शब्द में, कम से कम परवर्ती भारतीय दृष्टि में, कुछ अप्रधान विद्याएँ भी आ जाती हैं जिनके परिणाम अंशतः उक्त अर्थशास्त्र ग्रन्थ में दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव में इन सबके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, और जो उपलब्ध हैं वे सम्भवतः लम्बे विकासों के परिणाम हैं, उन विकासों के जिन्होंने उत्कृष्ट प्रभाव की कोई चीज़ उत्पन्न नहीं की। धनुर्वेद स्वभावतः एक रण-प्रिय जाति में एक प्राचीन और आदरास्पद विद्या थी। पर इस विषय के उपलब्ध ग्रन्थों में से कोई भी किसी निश्चय के साथ प्राचीन समय का नहीं बतलाया जा सकता। इनके ग्रन्थकारों में से कुछ ये हैं: विक्रमादित्य, सदाशिव, और शार्ङ्गदत्त। शिल्प—अथवा शिल्पि-शास्त्र, वास्तु-विद्या के विषय पर विभिन्न अनिर्दिष्ट-कर्तृक ग्रन्थ पाये जाते हैं, जिनमें **मयमत**, **सनत्कुमारवास्तुशास्त्र**, **मानसार**, और श्रीकुमार का **शिल्परत्न** (१६वीं शताब्दी) ये ग्रन्थ सम्मिलित हैं; अधिकतर ये ग्रन्थ नाममात्र की संस्कृत में लिखे गये हैं और उनके पद्य अत्यन्त अपरिष्कृत हैं।[४] हस्ती इस दृष्टि से अधिक भाग्यशाली रहे हैं कि अङ्ग के राजा रोमपाद और प्राचीन मुनि पालकाप्य के संवाद-रूप में **हस्त्यायुर्वेद**[५] सुरक्षित रहा है; इस विचित्र संकलन का समय बिलकुल अनिश्चित है। दूसरी ओर नारायण की **मातङ्गलीला**[६]

१. Cf. Sarkar, *Hindu Sociology*, i. 12 f.

२. Haraprasād, Report I. p. 12.

३. Ed. Sarkar, New York, 1915

४. एक वास्तुविद्या का संपादन: TSS. 30, 1913; cf, *Madras Catal.*, xxiii., 8755 ff.

५. Ed. ĀnSS. 26.

६. Ed. TSS. 10, 1910.

का स्वरूप स्पष्टतः सांप्रतिक है; वह अंशतः जटिल छन्द में लिखी हुई है। यह पालकाप्य के इस विद्या के प्रवर्त्तक होने के दावे को स्वीकार करती है। **अश्व-शास्त्र** एक दूसरे मुनि शालिहोत्र के नाम से प्रसिद्ध है, जिनका कभी-कभी अधिक सामान्य ढंग से हस्ती तथा अन्य पशुओं के सम्बन्धी ज्ञान के संरक्षक के रूप में भी वर्णन आता है। इसमें अश्वों के रोगों पर विचार होने से, इसके **अश्व-चिकित्सा, अश्व-वैद्यक** अथवा **अश्वायुर्वेद** ये नाम भी पाये जाते हैं। वैयक्तिक ग्रन्थकारों के ग्रन्थ ये हैं: गण का **अश्वायुर्वेद**, जयदत्त और दीपंकर का **अश्व-वैद्यक**, वर्धमान की **योगमञ्जरी**, और नकुल का **अश्व-चिकित्सित**।[1] भोज ने भी एक **शालिहोत्र**[2] की रचना की थी, ऐसा कहा जाता है, जिसमें १३८ पद्यों में अश्वों के पालन-पोषण और रोगों पर विचार किया गया है।

रत्नों के महत्त्व के कारण रत्न-शास्त्र, रत्न-परीक्षा का विकास स्वाभाविक था, और वराहमिहिर अपने को रत्नों की परीक्षा से सुपरिचित दिखलाते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों का समय अज्ञात है, परन्तु अधिक सम्भावना ऐसी है कि वे उत्तर-कालीन हैं। उनसे हमें रत्नों के सम्बन्ध में अधिक विभिन्न प्रकार की जानकारी तथा तत्सम्बन्धी आख्यान भी प्राप्त होते हैं। उनमें **अगस्तिमत**, बुद्धभट्ट की **रत्नपरीक्षा**, नारायण पण्डित की **नवरत्नपरीक्षा** और कुछ छोटे ग्रन्थ सम्मिलित हैं।[3] यहां चौर्य के विलोम शास्त्र का उल्लेख करना अनुचित न होगा, क्योंकि **मृच्छकटिक** तथा अन्य ग्रन्थ भी चोरों के लिए अभ्यास की एक व्यवस्थित हस्त-पुस्तक के अस्तित्व का हमें स्मरण दिलाते हैं। एक ग्रन्थ, **षण्मुखकल्प**,[4] जो कि उपलब्ध है, इस सम्बन्ध में एक चोर के लिए जादू के सम्यक् ज्ञान पर बल देता है, ठीक उसी तरह जैसा कि हम देख चुके हैं कि **अर्थशास्त्र** एक राजनीतिज्ञ के लिए उसी नैपुण्य के महत्त्व पर बल देता है।

संगीत-शास्त्र पर, **नाट्यशास्त्र** में दिये हुए अस्पष्ट होते हुए भी महत्त्व-पूर्ण परिज्ञान के साथ-साथ, अधिक परवर्त्ती साहित्य भी हमें उपलब्ध है, जिसमें व्यापक दृष्टि से संगीत के सम्पूर्ण विषय का, यथा गान-सम्बन्धी विषय, संगीत-गोष्ठियों की व्यवस्था आदि का, निरूपण किया गया है। इनमें शार्ङ्गदेव (१३वीं शताब्दी) का **संगीतरत्नाकर**,[5] और दामोदर का **संगीतदर्पण**[6]—ये ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

१. Ed. BI. 1887. Cf. Haraprasād, Report I, p. 10.
२. Jolly, *Munich Catal.*, p. 68; G. Mukherji, IHQ. i. 532 ff.
३. Ed. L. Finot, *Les Lapidaires indiens* (1896)
४. Haraprasād, *Report*, p. 8.
५. Ed. AnSS. 35, कल्लिनाथ की टीका के साथ (1950)
६. Simon, ZDMG. lvi. 129 ff.; comm. by Śiṅga (1330); P. R. Bhandarkar, POCP. 1919, ii. 421 f.

संगीतदर्पण में दूसरे स्रोतों से लिया हुआ और भी अधिक विषय दिया गया है। सोमनाथ (१६०९) के परवर्ती रागविबोध[1] में रागों का निरूपण किया गया है। साथ ही इसमें स्वर-लिपि के साथ वीणा के लिए ग्रन्थकार की अपनी ही पचास रचनाएँ दी हुई हैं। परन्तु अपेक्षाकृत प्राचीन समय के सम्बन्ध में भारतीय संगीत-शास्त्र-विषयक हमारा ज्ञान सीमित है।[2]

चित्रकला के सम्बन्ध में कोई भी प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; विष्णु-धर्मोत्तर[3] में, जिसका समय अनिश्चित पर प्राचीन नहीं है, एक अध्याय इस विषय पर दिया हुआ है।

---

१. Simon, SBayA. 1903, pp. 447 ff.; ZII. i. 153 ff. See also V. G. Paranjpe, POCP. 1919, ii. 427 ff.

२. दे० F. Felber, *Die indische Musik der vedischen und der klassischen Zeit* (1912); H. A. Popley, *The Music of India*; R. Simon, ZDMG. lx. 520 ff.; WZKM. xxvii. 305 ff. भरत के नाट्यशास्त्र, 28, तु० T. Grosset, *Contribution à l'étude de la musique hindoue* (1888); P. R. Bhandarkar, IA. xli. 157 ff. परवर्ती ग्रन्थों के लिए दे० *Madras Catal.*, xxii. 8717 ff. A. B. F. Rahamin, *The Music of India* (1925) को भी देखिए।

३. Trans. S. Kramrisch (Calcutta, 1925). P. Brown के *Indian Painting* में साहित्य-विषयक उल्लेख अशुद्ध हैं। इन ग्रन्थों को भी देखिए: V. Smith, *History of Fine Art in India and Ceylon* (1911); Havell, *Indian Sculpture and Painting* (1908); Lady Herringham, *Ajanta Frescos* (1915); A.K. Coomaraswamy, *Arts and Crafts of India and Ceylon* (1913); *Rajput Painting* (1916); *Mediaeval Sinhalese Art* (cf. Kramrisch, IHQ. i. III ff.); *The Influence of Indian Art* (1925); G. Roerich, *Tibetan Painting* (1925); L. Binyon, *L'Art asiatique au British Museum* (1924). Cf. the *Sādhanamālā*, ed. Bhattacharya (1925), उनकी *Buddhist Iconography*, आदि।

२४

कामशास्त्र

मनुष्य का तीसरा पुरुषार्थ काम है, और भारतीय लेखकों ने इस विषय का बिलकुल उसी तरह गम्भीरता से प्रतिपादन किया है जिस तरह धर्म या अर्थ का। जिस प्रकार अर्थशास्त्र का प्रयोजन राजाओं और मन्त्रियों के लिए है, इसी प्रकार कामशास्त्र का अध्ययन शौकीन लोगों को, नागरिकों को, करना चाहिए, जो व्यवहार में परिष्कृत रुचि को बरतना चाहते हैं और काम के यावद्विषयक ज्ञान से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। ऐसी स्त्रियाँ भी जिनका सम्पर्क भद्रजनों से होता है, अर्थात् गणिकाएँ, राजकुमारियाँ और बड़े अधिकारियों की पुत्रियाँ, उसका अध्ययन कर सकती हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि वात्स्यायन मल्लनाग के **कामसूत्र**[1] में, जो कामशास्त्र पर हमारा सबसे पहला बड़ा ग्रन्थ है, हम **अर्थशास्त्र** का घनिष्ठ अनुकरण पाते हैं; **अर्थशास्त्र** के समान इसमें भी मनुष्य के तीनों पुरुषार्थों के महत्त्व से हमें परिचित कराया जाता है; **कामसूत्र** में भी एक अध्याय में विद्याओं का उस रूप में उल्लेख है जिस रूप में वे ग्रन्थकार के समय में विद्यमान थीं, और पुस्तक का अन्त भी **अर्थशास्त्र** के समान एक औपनिषदिक अधिकरण से होता है। इसके अतिरिक्त, ग्रन्थकार हमें गंभीरतापूर्वक विश्वास दिलाता है कि कामशास्त्र का अध्ययन काम के आसेवन में लगे हुए मनुष्य को साथ ही उसकी प्रवृत्ति के अन्य पक्षों के, अर्थात् धर्म और अर्थ के, अधिकारों को स्मरण रखने में भी प्रवृत्त कर सकेगा, और इस प्रकार वह उचित संयम का पालन कर सकेगा। इसके अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ की नैतिकता **अर्थशास्त्र** की नैतिकता से अभिन्न है; 'प्रेम में और युद्ध में सब-कुछ ठीक है, इस सिद्धान्त के अनुसार, ग्रन्थकार सन्तुष्ट रूप में कुमारियों के छलने और पर-स्त्रियों के फुसलाने के प्रकारों का उपदेश उतने ही 'शान्त भाव' के साथ देता है जितने 'शान्त भाव' के साथ **अर्थशास्त्र** कपट द्वारा शत्रु को पराजित करने के लाभों को समझाता है। धर्म-परायण मधुसूदन सरस्वती[2], जो कामशास्त्र को आयुर्वेद के अन्तर्गत बतलाते हैं, हमें विश्वास दिलाते हैं कि पाँच अध्यायों वाला—जो कथन हमारे ग्रन्थ से विरुद्ध है—**कामसूत्र** केवल यही शिक्षा देता है कि उसके बतलाये हुए समस्त प्रसाधनों का भी केवल दुःख में ही पर्यवसान

---

१. Ed. Bombay, 1891; Benares, 1912; trans. R. Schmidt, Leipzig, 1897; cf. *Beiträge zur indischen Erotik* (1911).

२. प्रस्थानभेद।

होता है; पर निश्चयरूप से **कामसूत्र** यह प्रभाव हमारे मन पर नहीं डालता है। शैली की दृष्टि से भी ग्रन्थ की **अर्थशास्त्र** के साथ समानता बिलकुल स्पष्ट है। **कामसूत्र** की रचना एक शुष्क उपदेशात्मक शैली में की गई है, जो एक अर्थ में सूत्रों और भाष्य की शैलियों के बीच में आती है, और अध्यायों की समाप्ति भी **अर्थशास्त्र** के ढङ्ग पर पद्यों द्वारा की गई है।[1]

कामसूत्र सात भागों (अधिकरणों) में विभक्त है; प्रथम में सामान्य बातों की चर्चा है: ग्रन्थ का प्रयोजन, मनुष्य के तीन पुरुषार्थ (त्रिवर्ग), विद्याएँ, नागरक-वृत्त, नायक के गुप्त-प्रणयों में उसके सहायकों और दूतों का वर्णन। द्वितीय अधि-करण में कामोपभोग के प्रकारों का विचार किया गया है। तीसरे में कुमारियों के साथ गुप्त सम्बन्धों पर विचार किया गया है, जिनके प्रसङ्ग में वर्णित प्रेम-व्यापार के संकेतों से समाज की ऐसी स्थिति सिद्ध होती है जिसमें बाल-विवाह किसी प्रकार भी सामान्यतः प्रचलित नहीं थे; विवाह-विधियों पर भी विचार किया गया है, जिनसे गृह्यसूत्रों से प्राप्त जानकारी की शेष-पूर्ति होती है। चतुर्थ अधिकरण में पत्नियों के साथ सम्बन्धों पर विचार किया गया है। पञ्चम का विषय पार-दारिक है। छठे में वेश्याओं पर विचार है; और सातवें में वशीकरण के औपनिष-दिक योगों का विचार किया गया है। समाज-विज्ञान को तथा आयुर्वेद की दृष्टियों से **कामसूत्र** का निस्सन्देह पर्याप्त महत्त्व है। यह बात निश्चित है कि प्रेम-सम्बन्धी दृश्यों के वर्णनों में मार्ग-प्रदर्शन के लिए कविजन इस ग्रन्थ का मुक्त रूप से उपयोग किया करते थे।

परन्तु ग्रन्थ से स्पष्ट है कि अपने विषय में यह सबसे प्रथम कृति होने का दावा नहीं कर सकता। ग्रन्थ की अवतरणिका में इसका उल्लेख है कि वैदिक विद्वान् श्वेतकेतु ने कोई ग्रन्थ इस विषय पर लिखा था। उसको बाभ्रव्य पाञ्चाल ने सात अधिकरणों में संक्षिप्त किया। उनमें से, पाटलिपुत्र की वेश्याओं के नियोग से, छठे अधिकरण को दत्तक ने एक विशेष विषय पर ग्रन्थ रचना के लिए चुन लिया। उनके उदाहरण का अनुसरण चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, गोणिका-पुत्र, और कुचुमार ने किया। इन सब ने एक-एक अधिकरण को लेकर उसके विषय पर अपने-अपने ग्रन्थ की रचना की। तदनन्तर, बाभ्रव्य के ग्रन्थ के बृहत् परिमाण के कारण उसको काम-सूत्रकार ने समुचित आकार में संक्षिप्त कर दिया। वस्तुतः वे और उनका टीकाकार दोनों इन आचार्यों का उल्लेख करते हैं और उनके पद्यों का उद्धरण देते हैं। इससे हम विश्वास कर सकते हैं कि उनके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ वास्तव में प्रचलित थे। इन नामों में से चारायण और घोटकमुख **अर्थशास्त्र**

---

१. Jacobi, SBA. 1911, pp. 962 ff., 1912, p. 840. Cf. E. Müller-Hess, *Festschrift Kuhn*, pp. 162 ff.; Jolly, ZDMG. lxviii. 351 ff.

में पाये जाते हैं, गोनर्दीय और गोणिका-पुत्र पतञ्जलि के **महाभाष्य** में, कौटिलीय के साथ घोटकमुख जैन सूचियों में पाये जाते हैं। बाभ्रव्य ने एक शिष्य-परम्परा को चलाया था, इसका युक्ति-पुरस्सर निश्चय इस आधार पर किया जा सकता है कि **कामसूत्र** में बाभ्रवीयों के मतों को उद्धृत किया गया है। बौद्ध लोग भी स्वीकार करते हैं कि कामशास्त्र उन कलाओं में से एक है जिनकी शिक्षा युवक बुद्ध को दी गई थी। अश्वघोष भी इस प्रकार के किसी प्राचीन ग्रन्थ से स्पष्टतः परिचित थे।

वात्स्यायन के इस ग्रन्थ का वास्तविक समय-निर्धारण करना कठिन है। अश्वघोष के समान, कालिदास भी किसी प्राचीन कामशास्त्र से परिचित थे, और हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि उन्होंने अपने नाटकों में, **रघुवंश** के अन्तिम सर्ग में, अथवा **कुमारसंभव** के सातवें और आठवें सर्गों में अपने वर्णनों के लिए वास्तव में वात्स्यायन का ही उपयोग किया था।[1] वे इन दोनों काव्यों में से किसी में भी **कामसूत्र** में विद्यमान कामशास्त्र के नियमों के साथ पूर्णतः एकमत नहीं हैं। परन्तु सुबन्धु के साथ दूसरी बात है। वे वास्तव में मल्लनाग या मलनाग और उनके ग्रन्थ का निर्देश करते हैं; साथ ही कुसुमपुर की वेश्याओं के सम्बन्ध में उनका वर्णन **कामसूत्र** का अनुसरण करता हुआ दीखता है। माघ को, भवभूति को, और वराहमिहिर को निश्चय ही उसका ज्ञान था। वराहमिहिर की **बृहत्संहिता** में उसके उपयोग के स्पष्ट चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। राज्य करने वालों के रूप में आन्ध्रों और आभीरों के निर्देश से यह सिद्ध करने का प्रयत्न[2] किया गया है कि **कामसूत्र** का समय २२५ ई० के बाद होना चाहिए, क्योंकि उस समय से पहले आन्ध्र आभीरों के साथ एक ही स्तर पर न होकर राजाधिराज थे। परन्तु उक्त प्रयत्न की अनिश्चायक होने से उपेक्षा की जा सकती है। यही बात कुन्तल शातकर्णि सातवाहन के, जिसने अकस्मात् अपनी महिषी का प्राणान्त कर दिया था, निर्देश के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस प्रकार **कामसूत्र** के लिए चौथी शताब्दी ई० का समय रखना, यदि यह कदाचित् सत्य से दूर नहीं है तो भी, केवल संभावना-मूलक ही है। परन्तु यह हो सकता है कि यह समय अत्यधिक ऊपर है, और यह कि ५०० ई०

---

१. इसके विरुद्ध दे० Peterson, JBRAS. xviii. 109 ff; R. Narasimhachar, JRAS. 1911, p. 183, जो **कामसूत्र**, पृ० ३२८,३२९, के साथ **रघुवंश** १९।३१ और **शकुन्तला** ४।१७ की तुलना करते हैं। परन्तु **कुमार०** ३।६८; ७।७७ और **रघु०** ६।८१ **कामसूत्र** पृ० २६६, के विरुद्ध पड़ते हैं।

२. H. Chakladar, *Vātsyāyana* (1921); cf. Jolly, Arthaśāstra, i. 26 ff. Bhandarkar (POCP. 1919, i. 25) लगभग १०० ई० का समय रखते हैं। वात्स्यायन ने आपस्तम्ब का और महाभाष्य का उपयोग किया था, और वे पश्चिमी थे; ABI. vii. 129 ff.; viii. 43 ff.; AMSJV. iii. I. 327 ff.

का समय युक्तियुक्त है, क्योंकि ऐसा हो सकता है कि स्वयं अर्थशास्त्र का समय लगभग ४०० ई० से पहले न हो, अथवा उसका समय इससे भी बाद का हो।

यशोधर द्वारा अपनी टीका **जयमङ्गला** में दी हुई अप्रसिद्ध शब्दों की व्याख्या के बिना **कामसूत्र** बहुत ही दुर्बोध होता। यशोधर ने उक्त टीका का निर्माण वीसलदेव के (१२४३–६१) के शासन में किया था। अन्य समस्त ग्रन्थ परवर्ती काल के होने के साथ-साथ अप्रधान महत्त्व के हैं। उनमें ये ग्रन्थ[1] सम्मिलित हैं—ज्योतिरीश्वर का, जो क्षेमेन्द्र को जानते हैं, **पञ्चसायक**; कोक्कोक का **रतिरहस्य**, जिनका समय १२०० से पूर्व है, जिन्होंने जटिल वृत्तों का व्यवहार किया है, और जिनका दावा है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ के संकलन में नन्दिकेश्वर और गोणिकापुत्र तथा वात्स्यायन का उपयोग किया था; जयदेव का लघु ग्रन्थ **रतिमञ्जरी**,[2] जिनको आपाततः **गीतगोविन्द** के रचयिता कवि से अभिन्न नहीं कहा जा सकता; और सोलहवीं शताब्दी में कल्याणमल्ल का **अनङ्गरङ्ग**[3]। एक **रतिशास्त्र**[4] भी किसी नागार्जुन की रचना बतलाया जाता है। परन्तु इन नागार्जुन को हम आवश्यक रूप से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् नागार्जुन से अभिन्न नहीं मान सकते, जो दुर्भाग्यवश अनिश्चित-विषयक अनेक ग्रन्थों के प्रसिद्ध ग्रन्थकार बन गये हैं।

---

१. इन ग्रन्थों के विषय में दे० Schmidt, *Beiträge zur ind. Erotik*, pp. 35 ff,

२. Ed. Pavolini, GSAI. xvii. 317 ff.

३. Ed. Lahore, 1920; trans. London, 1885.

४. Cf. Schmidt, WZKM. xxiii. 180 ff. and on the comm., *Smaratattvaprakāśikā* of Revaṇārādhya, WZKM. xviii. 261 ff.

२५

दर्शन और धर्म

१. भारतीय दर्शन का प्रारम्भ

भारत की धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्ति को, जिसका स्पष्ट विकास पहले से ऋग्वेद में ही दिखाई देता है, अत्यन्त समुज्ज्वल साहित्यिक स्पष्टीकरण उपनिषदों में प्राप्त हुआ। परन्तु उपनिषद् नियमित क्रम-बद्धता के समय से स्पष्टतः पूर्व हैं। दूसरी ओर, एक अज्ञात समय में हम भारतीय दर्शन को, जहाँ तक वह परम्परावादी है, कुछ सूत्रों में ग्रन्थीकृत पाते हैं, जिनको तत्तद् दर्शन के सम्प्रदाय अधिक प्राचीन वतलाते ह, साथ ही जैन और बौद्ध भी यही बात अपने ग्रन्थों के विषय में कहते हैं, और भौतिकवादी भी अपने सिद्धान्तों को एक कल्पित बृहस्पति द्वारा प्रतिपादित बतलाते हैं। प्राचीनता-सम्बन्धी इन दावों की हम न्याय्यतः उपेक्षा कर सकते हैं, और ऐसा मान सकते हैं कि उपनिषदों के युग के पश्चात् वह समय आया जब कि प्राचीन चिन्तकों के विचारों को लेकर उन्हें एक निश्चित व्यवस्थित दर्शन[1] का रूप दिया गया, जिसकी शिक्षा आचार्यों की परम्परा के रूप में एक दार्शनिक सम्प्रदाय में होती थी। उन्हीं आचार्यों ने सिद्धान्त के एक निश्चित निकाय (या स्वरूप) को विकसित किया या कम से कम उसकी व्याख्या की। इस विकास के कुछ समय तक अस्तित्व में रह चुकने के पश्चात् अन्त में तत्तत् दार्शनिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को निश्चित रूप में स्थिर करने की इच्छा उत्पन्न हुई, और इसी से सूत्रों की रचना को प्रेरणा प्राप्त हुई। ये सूत्र-ग्रन्थ स्वल्प उपक्षेपक-शब्दों (catch-words) के सिद्धान्त पर आधृत हैं, जिनके साथ प्रारम्भ से ही मौखिक व्याख्याएँ चलती रही होंगी। इन मौखिक व्याख्याओं की परम्परा नष्ट हो चुकी है, और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक अवस्था में तत्तत् सूत्र की रचना के हो चुकने पर पर्याप्त समय के पश्चात् ही किसी टीका के लिखे जाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। हमारी उपलब्ध प्राचीनतम टीकाओं म अनेकानेक संकेत मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वे प्रथम आचार्य से लेकर एक ऐसी अविच्छिन्न परम्परा का, जिसका स्वरूप निश्चित है, प्रातिनिध्य नहीं करती हैं। आगे चल कर हम विभिन्न दार्शनिक्त सम्प्रदायों के स्वतन्त्र ग्रन्थों को पाते हैं, परन्तु ये सूत्रों की प्रामाणिकता को मानते हैं। उनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा माना जाता

---

१. यह शब्द वैशेषिक-सूत्र ९।२।१३ में तथा महाभारत के परवर्ती काल के भाग में पाया जाता है।

था कि तत्तत् दार्शनिक सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धान्त उन सूत्रों में सन्निविष्ट हैं, जिनका विस्तार और व्याख्यान तो किया जा सकता है, परन्तु उनका खण्डन नहीं किया जा सकता।

उक्त सूत्रों को व्यवस्थित रूप तब दिया गया जबकि विभिन्न सम्प्रदाय परस्पर सम्पर्क में रह चुके थे। इसी कारण सापेक्ष रूप में भी उनके समयों के निर्धारण करने की कोई भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि ऐसा लगता है कि **पूर्व-मीमांसा-, वेदान्त-, न्याय-** और **वैशेषिक-** सूत्रों की रचना, उनके वर्त्तमान रूप में, एक दूसरे से समय की बहुत दूरी में नहीं हो सकी होगी। याकोबी (Jacobi)[१] के अनुसन्धानों से यह विश्वास उत्पन्न हो गया है कि **न्यायसूत्र** और **ब्रह्मसूत्र** की रचना बौद्धों के शून्यवादी सम्प्रदाय के पश्चात् और विज्ञानास्त्विमात्रवादी सम्प्रदाय के उदय से पूर्व, अर्थात् २०० ई० और ४५० ई० के मध्य में, हुई थी, जबकि **पूर्वमीमांसा-सूत्र** और **वैशेषिक-सूत्र** का समय इससे कुछ पहले हो सकता है। दूसरी ओर, उन्होंने **योग-सूत्र** के लिए विज्ञानवादी सम्प्रदाय के पीछे का समय रखा है और **सांख्य** के लिए और भी परवर्ती समय। अन्तिम परिणाम स्पष्टतः ठीक है, परन्तु विज्ञानवाद का समय बहुत ही पीछे रखा है, जिसको अधिक से अधिक चौथी शताब्दी में रखना आवश्यक है। उन्होंने शून्यवादी सम्प्रदाय को सम्भवतः एक शताब्दी और भी परवर्ती कर दिया है। **अर्थशास्त्र** में आन्वीक्षिकी के अन्दर केवल **लोकायत, सांख्य** और **योग** के निर्देश से याकोबी[२] ने यह अर्थ भी निकाला है कि ३०० ई० पूर्व तक दर्शन की केवल उक्त तीन शाखाओं का ही निश्चित रूप से विकास हुआ था, दूसरी शाखाओं का नहीं। परन्तु यह विचार अवश्य ही असत्य है, क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, **अर्थशास्त्र** प्रस्तावित समय से बहुत बाद का है, और उसमें दिये हुए दर्शन के वर्गीकरणों की व्याख्या उसके अपने सिद्धान्तों की दृष्टि से ही करनी चाहिए। हमको इस विश्वास से अपने को सन्तुष्ट कर लेना चाहिए कि मुख्य उपनिषदों के समय और तीसरी या चौथी शताब्दी ई० के बीच दार्शनिक अनुसंधान की एक गतिशील धारा चलती रही और वह केवल अपने अन्तिम रूप में हम तक पहुँची है।

---

१. JAOS. xxxi. 1 ff.; DLZ. 1922, p.270. Dasgupta(*Indian Phil.* i. 370, 418f., 280) तिथियों को अति ऊपर रखते हैं। V.G.Paranjpe(*Le Vārtika du Kātyāyana*, pp. 76 ff.) का भी ऐसा ही विचार है। वे शैलियों के आधार पर तर्क करते हैं, जिसमें यह कल्पना मान ली गई है कि व्याकरण और दर्शन के ग्रन्थों की शैली में सूक्ष्म सादृश्य विद्यमान है। उक्त सूत्रों के प्रारम्भिक रूपों की तिथियों का प्रश्न दूसरा है, जिसका समाधान नहीं किया जा सकता।

२. SBA. 1911, pp. 732 ff.

२. पूर्वमीमांसा

दर्शनों में पूर्वमीमांसा अपने स्वरूप के आधार पर पर्याप्त प्राचीनता का दावा कर सकती है। वैदिक कर्मकाण्ड के करने वालों ने ग्रन्थों की भूल-भुलैयों में अपने मार्ग प्रदर्शन के लिए व्याख्या करने के नियमों (न्यायों) की आवश्यकता का अनुभव किया, और **आपस्तम्बीय धर्मसूत्र**[1] पहले से ही न्यायों के जानने वालों का उल्लेख करता है। **पूर्वमीमांसा-सूत्र** का मौलिक लक्ष्य वैदिक कर्मकाण्ड के करने के सम्बन्ध में ग्रन्थों के व्याख्या-विषयक नियमों का विन्यास है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह यथोचित रीति से यज्ञ का अनुष्ठान करे, और इसके लिए वेद ही एक-मात्र प्रमाण है। इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक प्रसङ्ग-प्राप्त समस्या है। देवताओं के वैयक्तिक अस्तित्व की समस्या भी वैसी ही है। परन्तु व्याख्याकारों ने, जिन्होंने दर्शन के वास्तविक प्रस्थानों का विकास किया, गम्भीरतर दार्शनिक प्रश्नों का भी प्रवेश कर दिया। परन्तु सूत्र एक पद्धति का विकास करता है, जो सामान्यतः सब भारतीय शास्त्रों में मानी जाती है, और जिसको धर्मशास्त्र के लेखकों ने भी अपना लिया था; विषय को उपस्थित किया जाता है, और संशय को उठाया जाता है; पूर्वपक्ष को रखा जाता है; तदनन्तर सत्य निर्णय का उपबृंहण किया जाता है, और प्रकृत विषय का दूसरे सम्बद्ध सिद्धान्तों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। मेघातिथि से लेकर ऐसी धर्मशास्त्रीय कठिनताओं के निर्णय में मीमांसा के नियमों का बराबर उपयोग किया गया है, जो परस्पर-विरुद्ध, पर प्रमाण-भूत, अनेक ग्रन्थों की धर्मशास्त्रीय सम्प्रदायों में मान्यता के कारण उठा करती थीं, ठीक उसी तरह जैसे वैदिक ग्रन्थ मीमांसा का संकलन करने वालों के सामने असंख्य असंगतियों को सामने लाते थे।

पूर्वमीमांसा-सूत्रों के बारह अध्याय[2] प्रायः उनके कोई विशेष सफल संकलन न होने का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। उनपर उपवर्ष ने और तत्पश्चात् शबरस्वामी ने टीका की थी; उन दोनों ने वेदान्त के **ब्रह्मसूत्र** पर भी लिखा था। याकोबी (Jacobi) का कहना है कि प्रारम्भ से ही पूर्वमीमांसा और वेदान्त, अथवा उत्तरमीमांसा दोनों का सम्बन्ध एक ही सम्प्रदाय से था और यह कि परकाल में ही उनमें कुमारिल और शंकर द्वारा भेद हो गया। इस मत के अनुसार, निश्चय ही, पूर्वमीमांसा का एक दूसरा ही रूप हो जायगा, वह एक स्वतन्त्र पूर्ण दर्शन होने के स्थान में, एक दर्शन का एक भाग ही समझी जायगी। परन्तु यह स्थापना संदिग्ध ही दीखती है, और इन दोनों

---

१. ii. 4.8. 13; 6.14.3

२. Ed. BI. 1873 ff.; trans. by Gangānāth Jhā, SBH. 10, 1910. See Keith, *The Karma-Mīmāṁsā* (1921); K. A. Nilakantha Sastri, IA. l. 211 ff.; 340 ff.

दर्शनों के एकत्रीकरण की प्रवृत्ति प्रायेण टीकाकारों के कारण ही दीखती है। ऐसा दीखता है कि शबरस्वामी बौद्धों के शून्यवाद से परिचित थे, कदाचित् वे विज्ञानवाद को भी जानते थे, और जीवात्मा के विषय में उनकी एक निश्चित स्थापना[1] है जो ऐसा लगता है उसको निरुपाधिक ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, परन्तु तदनन्तर सदा के लिए स्वतन्त्र रूप में रहनेवाला, मानती है; यह विचार रामानुज के मत में भी पुनः देखने में आता है। वास्तव में इसी सिद्धान्त का याज्ञवल्क्य के नाम पर बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रतिपादन किया गया है, इस कथन का बलपूर्वक निषेध करना चाहिए।

शबरस्वामी के भाष्य पर दो विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की गई, एक तो प्रभाकर (लगभग ६००) द्वारा उनकी **बृहती**[2] नाम की टीका में, और दूसरा कुमारिल द्वारा जिन्होंने कदाचित् ७०० के लगभग लिखा था। कुमारिल की टीका[3] के तीन भाग हैं, **श्लोकवार्त्तिक पूर्वमीमांसा-सूत्र** के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद पर, **तन्त्र वार्त्तिक** प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीयाध्याय पर्यन्त, और **टुप्टीका** अध्याय ४ से १२ तक। जनश्रुति के आधार पर कहा जाता है कि कुमारिल ने बौद्धों के संपीडन के लिए उत्तेजना दी थी, परन्तु इस विचार के समर्थन का आधार केवल वेदों के मुख्य शत्रु के रूप में बौद्धों के विरुद्ध उनकी कटु भावना ही हो सकती है। वे बुद्ध को सर्वज्ञ मानने के सिद्धान्त की हँसी उड़ाते हैं, जिसको समझने की योग्यता कोई भी उनका समकालीन नहीं रखता था। और बुद्ध का अनुसरण करने वालों की भी वे हँसी करते हैं; यदि दूसरों को सुखप्रद होने से ही न्याय्य का निर्णय किया जा सकता है, तब तो गुरु की पत्नी के सतीत्व का विलोप भी उसके लिए सुखप्रद होने के कारण महापाप होने के स्थान में न्याय्य ही होगा। कुमारिल दक्खिन के रहने वाले थे; वे द्राविड़ भाषाओं के अपने ज्ञान का परिचय देते हैं, इसके लिए अपनी संस्तुति करते हैं कि आदान किये गये शब्दों के साथ संस्कृत प्रत्ययों का प्रयोग करना चाहिए; वे साहित्य का और साथ ही प्रचलित रीतियों का उल्लेख करते हैं, और उनकी प्रतिभा अतीव महान् है। प्रभाकर से उनके दार्शनिक भेद पर्याप्त हैं, परन्तु वे दोनों शबरस्वामी के साथ इस मान्यता में सहमत हैं कि एक अर्थ में जीवात्मा नित्य है; और दोनों ही **माया** के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। मण्डन मिश्र को कोई कुमारिल का शिष्य मानते हैं, और दूसरे शंकर का उन्होंने **मीमांसानुक्रमणी** और एक **विधिविवेक**[4] की रचना की थी। वाचस्पति मिश्र

१. Jacobi, *Festschrift Windisch*, pp. 153 ff,

२. Trans. G. Jhā, IT. ii and iii.

३. Ed. ChSS. 1898-9; BenSS. 1890, 1903; trans. G. Jhā, BI. 1900 ff.

४. Ed. *Pandit*, N.S. xxv-xxviii. परम्परा के अनुसार उनको सुरेश्वर से अभिन्न माना जाता है, Hiriyanna ने भी इसका खण्डन नहीं किया है, JRAS. 1924, p 96.

(लगभग ८५०) ने **न्यायकणिका** नाम से **विधिविवेक** पर टीका लिखी है। उन्होंने कुमारिल के विचारों का अपने **तत्त्वबिन्दु**[1] में निरूपण किया है। परवर्ती ग्रन्थों में माधव (चौदहवीं शताब्दी) का **न्यायमाला-विस्तर**[2], आपदेव का **मीमांसा-न्यायप्रकाश**[3] और लौगाक्षि का **अर्थसंग्रह**[4] सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं; परन्तु दार्शनिक दृष्टि से अधिक रोचक ग्रन्थ है—नारायणभट्ट का **मानमेयोदय**[5] (लगभग १६००), जिसमें कुमारिल के प्रमाणवाद और दर्शन को रोचक ढंग से संगृहीत कर दिया गया है।

३. वेदान्त

जबकि पूर्वमीमांसा ऐसी अत्यन्त आदिकालीन आवश्यकता का प्रातिनिध्य करती है जिससे किसी अधिक दार्शनिक बुद्धि का सम्बन्ध नहीं है, वहाँ उत्तरमीमांसा या वेदान्त उपनिषदों के समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों को अपने अन्दर संनिविष्ट करने वाले एक ही दर्शन के निर्माण के उद्देश्य से उन सिद्धान्तों को समन्वित रूप में दिखाता है। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के सूत्रों के निर्माण की समकालीनता का संकेत इस बात से मिलता है कि जहाँ पूर्वमीमांसा आत्रेय, बादरि और बादरायण का निर्देश करती है, वहाँ **ब्रह्मसूत्र**,[6] जिसको **वेदान्तसूत्र**, **उत्तरमीमांसा-सूत्र**, अथवा **शारीरकमीमांसा-सत्र** भी कहा जाता है, प्रायेण जैमिनि का तथा आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि, और स्वयं बादरायण का भी उल्लेख करता है। इससे यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों सूत्रों की रचना, स्वयं बादरायण या जैमिनि[7] ने नहीं, अपितु उनके विचारों को मानने वाले सम्प्रदायों ने की थी। पूर्वमीमांसा में जिन बातों पर पर्याप्त विस्तार किया गया है उनको **ब्रह्मसूत्र** में जानबूझ कर छोड़ दिया गया है, और ऐसा हो सकता है कि वेदान्त-सम्प्रदाय वाले पूर्वमीमांसा की बातों को यथेच्छ अपनाने में और दार्शनिक सिद्धान्त को विशेष

---

१. Ed. *Pandit* N. S. xiv.

२. Ed. London, 1878.

३. Ed. *Pandit*. N. S. xxvi, xxvii.

४. Ed. BenSS. 1882.

५. Ed. TSS. 19, 1912.

६. **भगवद्गीता** (१३।४) में आपाततः उल्लेख निस्सन्देह एक प्रक्षेप है।

७. इसलिए K. A. Nilakantha ने जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न (IA. I. 67 ff.) किया है कि अनेक जैमिनि और बादरायण हुए हैं वह प्रायेण निरर्थक ही है।

समुन्नत करने के साथ-साथ जैमिनि के उन विचारों को जो उनको रुचिकर नहीं थे छोड़ने में भी अपने को स्वतन्त्र समझते थे।

यह स्पष्ट है कि वादरायण का सिद्धान्त विशेषतः सांख्य-दर्शन और वैशेषिकों के परमाणुवाद के विरोध में प्रवृत्त हुआ था, परन्तु संक्षिप्त उपक्षेपक-शब्दों (catch words) द्वारा उसके अप्रसन्न प्रतिपादन के कारण हम उसके वास्तविक स्वरूप की अटकल लगाने में ही रह जाते हैं। जो बात स्पष्टतया दीखती है वह यह है कि वादरायण शांकर सम्प्रदाय के मायावाद को नहीं मानते थे, यह भी कि उनके मत में जीवात्माएँ, ब्रह्म से उत्पन्न होने पर भी, ब्रह्म से पृथक् हैं और उनकी वास्तविक सत्ता है, और यह भी कि यद्यपि प्रकृति ब्रह्म से उत्पन्न होती है तो भी उसकी अपनी पृथक् वास्तविकता है। सम्भावित होते हुए भी इन बातों को हम सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि हमारे पास अब वे मौखिक व्याख्याएँ नहीं हैं जिनकी परम्परा मूल में सूत्र के साथ वर्तमान थी, पर जो कभी लेख-बद्ध नहीं की गई, और इसी कारण ग्रन्थ की विभिन्न व्याख्याएँ चल पड़ीं।

(क) अद्वैत तथा माया का सिद्धान्त

इन व्याख्याओं में से सबसे अधिक रोचक वह व्याख्या है जिसके अनुसार समस्त सत्ता जिससे हम परिचित हैं केवल एक माया है। यह मत एक निश्चित रूप में २१५ **गौडपादीय कारिकाओं**[१] में सुरक्षित हैं, जिनकी रचना गौडपाद ने की थी। परम्परा के अनुसार वे शंकर के गुरु गोविन्द के गुरु थे। इसीलिए उनका समय लगभग ७०० ई० है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके ग्रन्थ पर, जिसके प्रथम भाग का सम्बन्ध लघु **माण्डूक्योपनिषद्** से है, बौद्धों के शून्यवादी सम्प्रदाय का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। अनेकानेक रूपक और उपमाएँ, जिनकी परिकल्पना मायावाद को ग्राह्य बनाने के लिए की गई थी, दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं; उदाहरणार्थ, स्वप्नों के दृश्य, मृग-मरीचिका, अन्धकार में रज्जु में यष्टिका (? सर्प) की भ्रान्ति, शुक्ति में रजत की भ्रान्ति, दर्पण में प्रतिविम्ब। उसके **'अलातशान्ति'**-नामक अन्तिम प्रकरण में एक उज्ज्वल चित्र वह्नि-कणों के चक्र का दिया गया है, जिसको कोई बालक एक अलात (उल्का) को, उसके प्रकाशमान सिरे को

---

१. Ed. ĀnSS. 10, 1911; trans. P. Deussen, *Sechzig Upanishad's des Veda*, pp. 537 ff. Cf. Vidhusekhara Bhattacarya, IHQ. i. 119ff., 295 ff., जिनका यह पक्ष है कि उक्त उपनिषद् **कारिकाओं** पर आधृत है। इस संप्रदाय के संबन्ध में दे० M. Sarkar, *System of Vedantic Thought and Culture*; Hiriyanna, POCM. 1924, pp. 439 ff., on *Bhartr-Prapañca*.

अपरिवर्तित रखते हुए, घुमाने से बनाता है, और उसके द्वारा निरुपाधिक सद्वस्तु से अवास्तविक दृश्यों के आभास का दृष्टान्त उपस्थित किया गया है। यह विचार बौद्धों के लङ्कावतार में और मैत्रायणीयोपनिषद् में पाया जाता है, परन्तु हमारे लिए इस मत को मानना आवश्यक नहीं है कि माया का यह सिद्धान्त बौद्धों से लिया गया है। उपनिषदों के कुछ स्थलों से इस विचार की प्रबल ध्वनि निकलती है; संभवतः किसी औपनिषद सम्प्रदाय ने ही इसे विकसित किया था, इसने बौद्ध धर्म के विकास को प्रभावित किया, और फिर यह स्वयं नागार्जुन के देदीप्यमान पर निष्फल तर्क से प्रभावित हुआ। गौडपाद के अस्तित्व के विषय में शंका की गई है और उनकी कारिकाओं को उत्तर-पश्चिम बंगाल के गौडपाद की कृति बतलाया गया है, और साथ उनको सूत्र से पहले रखा जाता है; परन्तु स्पष्टतः इन विचारों की पुष्टि नहीं की जा सकती।[१]

अद्वैत के सिद्धान्त पर आग्रह के साथ-साथ मायावाद का पूरा समर्थन और स्पष्टीकरण शंकर ने किया। उनका जन्म सम्भवतः ७८८ में हुआ था और ८२० में या तो उनकी मृत्यु हो गई या वे संन्यासी हो गये। कम से कम उन्होंने ८०० ई० के लगभग कार्य किया। उनका जीवन-चरित्र **शंकर-विजय**[२], जिसको मूर्खतावश उनके शिष्य आनन्दगिरि की कृति कहा जाता है, और माधव का **शंकरदिग्विजय**[३] दोनों निकम्मे हैं। साथ ही अनेक ग्रन्थ जो उनके वतलाये जाते हैं संभवतः उनके नहीं हैं। परन्तु उपनिषदों पर अनेक व्याख्याएँ, **भगवद्गीता** पर व्याख्या[४], और **ब्रह्मसूत्र** पर भाष्य[५] ये सब वास्तविक हैं। परन्तु **उपदेशसाहस्री**[६], जिनमें तीन परिच्छेद गद्य में हैं और उन्नीस पद्य में, और अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ, जिनमें पर्याप्त प्रभाव वाली गीति-काव्यात्मक रचनाएँ (स्तोत्र) तथा सटीक सरसठ पद्यों से युक्त **आत्मबोध**[७] भी सम्मिलित है, इनके शंकर की कृति होने में सन्देह की आवश्यकता नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से उपनिषदों की अपनी मर्मभेदिनी व्याख्या में शंकर

---

१. M. Walleser, *Der ältere Vedānta* (1910).

२. Ed. BI. 1864-8.

३. Ed. ĀnSS. 22.

४. B. Faddegon, *Śaṃkara's Gītā-bhāṣya* (1906).

५. Ed. ĀnSS. 21; trans. G. Thibaut, SBE. xxxiv और xxxviii; cf. Kokileswar Sastri, *Advaita Philosophy* (1924); ii. 1 और 2 ed. ओर trans. Belvalkar, Poona, 1923.

६. Ed. *Pandit*, iii-v.

७. Ed. Hall, Mirzapore, 1852.

उल्लेखनीय रूप में मौलिक हैं। पर-विद्या और अपर-विद्या के विचार को ही हम उसका मर्म कह सकते हैं। इस विभेद के सहारे ही जहाँ वे नीचे के धरातल पर हिन्दू-धर्म की समस्त मान्यताओं को स्वीकार कर सकते हैं, वहाँ ऊँचे धरातल पर वे किसी में भी सच्ची वास्तविकता को नहीं मानते। यह ठीक ही कहा गया है कि उनका तर्क 'अ या तो ब् है या ब नहीं है' इस प्रतिज्ञा की सत्यता के निषेध से प्रारम्भ होता है। उनकी तार्किक बुद्धि अतीव महान् है, और यद्यपि वे बादरायण के अभिप्राय को अन्यथा प्रदर्शित करते हैं, वे उपनिषदों के साथ कम से कम इस अर्थ में अधिक न्याय करते हैं कि उपनिपदों का मन्तव्य ऐसा दीखता है कि मृत्यु के समय मुक्त होने पर जीवात्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है और तदनन्तर उसकी ब्रह्म से पृथक् स्थिति नहीं रहती। शैली की दृष्टि से **ब्रह्मसूत्रों पर शांकर-भाष्य** निःसंदेह **महाभाष्य** के संवादात्मक ढंग से अथवा वात्स्यायन या शवरस्वामी के **भाष्यों** से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। उसकी शैली एक व्याख्यान जैसी है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक लम्बे वाक्यों का, लम्बे और संख्या में अधिक समासों का, अधिक जटिल रचनाओं का, तथा न्यूनतर आख्यातिक और अधिकतर नामिक रूपों का प्रयोग किया गया है। तिस पर भी यह शैली अपने समय तक परवर्ती दार्शनिक ग्रन्थों के शैली-गत नियत-रूप से बहुत दूर है। साथ ही भाष्यकार (शंकर) को कठिनतर और सामान्यतः अप्रयुक्त व्याकरण-सम्बन्धी प्रयोगों पर अपना अधिकार दिखाना भी अनभिमत नहीं है।

ऐसा माना जाता है कि **हस्तामलक**[1] के मूलग्रन्थ के अथवा उस पर एक व्याख्या के ग्रन्थकार शंकर ही थे। उक्त ग्रन्थ में चौदह पद्य हैं जिनके टेक में इस बात पर ही बल दिया गया है कि नित्य-बोध-स्वरूप आत्मा ही सब कुछ है। उनके दर्शन की व्याख्याएँ उनके शिष्यों द्वारा लिखी गई बतलाई जाती हैं; तथा च पद्मपाद ने प्रारम्भिक पाँच पादों पर **पंचपादिका**[2] को लिखा और उस पर प्रकाशात्मा ने अपनी टीका की। सुरेश्वर ने यह सिद्ध करने के लिए कि केवल ज्ञान से ही मुक्ति होती है गद्य और कारिकाओं के रूप में **नैष्कर्म्य-सिद्धि**[3] की और अपने गुरु के **दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र** पर **मानसोल्लास**[4]—नामक वार्तिक की रचना की। उनके शिष्य सर्वज्ञात्मा ने भाष्य के संग्रह रूप में **संक्षेपशारीरक**[5] को लिखा,

---

१. Ed. and trans. IA. ix. 25 ff.

२. Ed. VizSS. 2, 1891-2.

३. Ed. BSS. 38, 1891; 2nd ed. by Hiriyanna, 1925.

४. Cf. JPASB. 1908, pp. 97 f.

५. Bhandarkar, *Report*, 1882-3, pp. 14 f., 202.

और ८५० के लगभग वाचस्पति मिश्र ने **भामती**[1] की रचना की, जो अन्य बातों के साथ-साथ बौद्ध सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपनी जानकारी के लिए अमूल्य है। माधव भी अपनी **पंचदशी**[2] में, जिसको उन्होंने अंशतः भारतीतीर्थ के साथ में लिखा था, और **जीवनमुक्तिविवेक**[3] में निश्चित रूप से शंकर के विचारों का समर्थन करते हैं। श्रीहर्ष कवि ने एक दूसरे ही दृष्टिकोण से अपने **खण्डनखण्डखाद्य**[4] में, दूसरे समस्त मतों को परस्पर विरुद्ध सिद्ध करके, यह स्थापित करना चाहा है कि समस्त ज्ञान व्यर्थ है और इसीलिए शंकर का सिद्धान्त अखण्डनीय है। अन्य ग्रन्थ असंख्येय हैं, विशेषकर परवर्ती मध्ययुग में; परन्तु सदानन्द के **वेदान्तसार**[5] का अपना महत्त्व है, क्योंकि इसमें हमें एक जटिल और प्रतिभा-सम्पन्न परन्तु नितरां अदार्शनिक समस्त रूप की निष्पत्ति के उद्देश्य से वेदान्त के साथ सांख्य के सिद्धान्तों का विस्तृत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। सांप्रतिक सम्प्रदाय की हस्तपुस्तक के रूप में धर्मराज की **वेदान्तपरिभाषा**[6] सुप्रसिद्ध है।

(ख) रामानुज

उपनिषदों और **ब्रह्मसूत्र** के सम्बन्ध में एक अत्यन्त भिन्न दृष्टि का प्रतिपादन रामानुज ने किया है। उनकी मृत्यु ११३७ के लगभग हुई थी। उनके पिता का नाम केशव और माता का कान्तिमती था। उन्होंने अद्वैतवादी दार्शनिक यादवप्रकाश से कांची में अध्ययन किया था; पर उन्होंने उनके मार्ग-प्रदर्शन को छोड़ कर यामुन का शिष्यत्व स्वीकार किया और उनके पश्चात् उनके स्थान पर एक वैष्णव सम्प्रदाय के गुरु या महन्त बन गये। उनके कहने पर ही उन्होंने **ब्रह्मसूत्र** पर अपने **श्रीभाष्य**[7] की रचना की। उन्होंने अन्य ग्रन्थ भी लिखे, जैसे **गीताभाष्य**[8], **वेदार्थसंग्रह**[9], जिसमें मायावाद का खण्डन किया गया है, **वेदान्तदीप**,[10] जिसमें **श्रीभाष्य** का संक्षेप किया हुआ है, और **वेदान्तसार**, जिसमें अपने सिद्धान्तों का

---

१. Ed. BI. 1876-80.
२. Ed. *Pandit*, N. S. v, vi, and viii.
३. Ed. ĀnSS. 20, 1889.
४. Trans. IT. i-v.
५. Trans. G.A. Jacob, London, 1904.
६. Ed. and trans. A. Veniz, *Pandit*, N. S. iv-vii.
७. Ed. BI 1888 ff.; trans. G. Thibaut, SBE. xlviii; cf. xxxiv.
८. Ed. Bombay, 1893.
९. Ed. *Pandit*, N. S. xv-xvii.
१०. Ed. BenSS. 69-71.

सरल संक्षेप दिया गया है। **वेदान्ततत्त्वसार**[1] में सुदर्शनसूरि ने शंकर के विरोध में उनके विचारों का समर्थन किया, और **यतीन्द्रमतदीपिका**[2] में श्रीनिवास ने उन्हीं विचारों की विशेष रूप से व्याख्या की। रामानुज का दावा है कि वे एक लम्बी परम्परा का प्रातिनिध्य करते हैं, और इस प्रसङ्ग में वाक्यकार, वृत्तिकार बोधायन और द्रमिडाचार्य (जिनका शंकर को ज्ञान था) इन आचार्यों का उल्लेख करते हैं। साथ ही वे **शाण्डिल्य-सूत्र** का, उसे **ब्रह्मसूत्र** के वास्तविक सिद्धान्त का प्रकट करने वाला समझते हुए, आश्रय लेते हैं। उनका शंकर से मौलिक बातों में भेद है; यदि कोई निरुपाधिक मूलतत्त्व (absolute) ऐसा है जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, तो भी यह मानना चाहिए कि जीव और प्रकृति अपनी वास्तविकता रखते हैं और जीवन का चरम लक्ष्य उस मूलतत्त्व में लीन होना न होकर शाश्वतिक आनन्दमय स्थिति ही है। इस स्थिति की प्राप्ति भक्ति अर्थात् ईश्वर का विश्वास और आराधना से ही हो सकती है। प्रकृति के सम्बन्ध में उनके विचार अधिक अंशों में सांख्य सिद्धान्तों के अपनाने में बाधक नहीं हैं।[3]

(ग) अन्य व्याख्याकार

महत्त्व की दृष्टि से किसी अन्य व्याख्या की तुलना शंकर और रामानुज की व्याख्याओं के साथ नहीं की जा सकती। शंकर की व्याख्या में हमें भारतीय चिन्तन की दिशा में सबसे अधिक युक्ति और तर्क से संवलित बौद्धिक प्रयत्न के दर्शन होते हैं, और रामानुज की व्याख्या संसार के विषय में जिस मत का प्रतिपादन करती है उसमें प्रचलित क्रिश्चियन विश्वास के साथ बहुत सी समानताएँ पाई जाती हैं और हो सकता है कि क्रिश्चियन विचार-धारा ने न्यस्टोरियनों (Nestorians) द्वारा वास्तव में उस मत को प्रभावित किया हो। निम्बार्क ने, जिनकी रामानुज के शिष्य के रूप में प्रसिद्धि है, **ब्रह्मसूत्र** पर **वेदान्तपारिजातसौरभ** नाम की व्याख्या लिखी और दश-श्लोकात्मक **सिद्धान्तरत्न** में अपने दर्शन को संक्षिप्त किया। तेरहवीं शताब्दी में विष्णुस्वामी ने इस सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टि का विकास किया, जिसका उपयोग वल्लभ (१३७६–१४३०) ने **ब्रह्मसूत्र** पर लिखे गये अपने **अणुभाष्य**[4] में किया। वल्लभ ने भक्ति के जिस सिद्धान्त की स्थापना की उसके अनुसार गुरु को पृथ्वी पर भगवान् के तुल्य माना जाता है और

---

१. Ed. *Pandit*, N. S. ix-xii.
२. Ed. ĀnSS. 50; trans. R. Otto, Tübingen, 1916.
३. Cf. Keith, ERE. x. 572 ff.
४. Ed. BI. 1888-97.

उसी रूप में उसकी पूजा की जाती है। मध्व[1] अथवा आनन्दतीर्थ के द्वैतवाद में द्वैत की भावना अधिक है। उन्होंने सात महत्त्वपूर्ण उपनिषदों पर, **भगवद्गीता** पर, **ब्रह्मसूत्र** पर, और **भागवतपुराण** पर व्याख्या लिखी है; और कुछ छोटे-छोटे स्वतन्त्र ग्रन्थों में, जिनमें **तत्त्वसंख्यान**[2] भी सम्मिलित है, संक्षेप में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनको पाँच मौलिक द्वैतों की सत्ता पर आग्रह है; इसीलिए उनके दर्शन को, शंकर के **अद्वैतवाद** और रामानुज के **विशिष्टाद्वैतवाद** (अर्थात् चेतनाचेतनविभागविशिष्ट अद्वैत अथवा चेतना चेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म का अद्वैत या अभेद) के विरोध में **द्वैतवाद** कहते हैं। रामानुज, विष्णुस्वामी, निम्बार्क, और मध्व के मतों का संग्रह श्रीनिवास के **सकलाचार्यमतसंग्रह**[3] में दिया गया है।

(४) अध्यात्म-विद्या (Theology) और रहस्यवाद (Mysticism)

जिसका प्रायेण वेदान्त के विचारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु वेदान्त-सम्बन्धी विकासों की तरह जो सांख्य से अतिशयेन प्रभावित है और जिसकी उन विचारों के साथ प्रबल समानताएँ हैं जिनकी व्यवस्थित व्याख्या योगदर्शन में पर्यवसित होती है, ऐसी अध्यात्म-विद्या-सम्बन्धी और रहस्यवादसम्बन्धी विमर्श की बड़ी भारी सामग्री विद्यमान है। उक्त सामग्री का एक अपेक्षाकृत प्राचीन नमूना, जिसका वेदान्त से विशिष्ट पार्थक्य नहीं है, **योगवासिष्ठ**[4] है। रामायणके एक परिशिष्ट रूप में उसकी प्रसिद्धि है; उसमें मोक्ष को लेकर सब तरह के विषयों पर विचार किया गया है। यह साधारणतया प्राचीन ग्रन्थ है, क्योंकि नवम शताब्दी में **योगवासिष्ठसार** में गौड अभिनन्द ने इसका संक्षेप किया था। **महाभारत** का अनुकरण-रूप **जैमिनि-भारत**[5], जिसका केवल चौदहवाँ पर्व, **आश्वमेधिकपर्व**, ही उपलब्ध है, प्रायेण किसी वैष्णव सम्प्रदाय का पाठ्य-पुस्तक-रूप से बनाया गया ग्रन्थ है।

---

१. समय कदाचित् ११९७-१२७६; परन्तु तु० EI. vi. 260 (१२३८-१३१७)। उनके ग्रन्थों का संस्करण Kumbhakonam से १९११ में प्रकाशित हुआ है।

२. Ed. and trans. H. von Glasenapp, *Festschrift Kuhn*, pp. 326 ff.; *Madhva's Philosophie* (1913).

३. दे० R. Otto, *Visnu-Nārāyana*, pp. 57 ff.

४. Ed. Bombay, 1911; trans. Calcutta, 1909.

५. तु० Weber, *Monatsber. BA.* 1869, pp. 10 ff., 369 ff.

वैष्णवों के पञ्चरात्र सम्प्रदाय का सबसे अच्छा परिचय चिरकाल से हमें उत्तरकालीन **नारदपाञ्चरात्र**[1] (कदाचित् १६वीं शताब्दी) से प्राप्त है। उस सम्प्रदाय के साहित्य का प्रातिनिध्य अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छे ढंग से अनकानेक संहिताओं द्वारा किया जाता है जिनकी पर्याप्त प्राचीनता हो सकती है। **अहिर्बुध्न्यसंहिता**[2], जिसका सम्बन्ध **महाभारत** के उत्तरकालीन भागों के समय के साथ बतलाया जाता है, उक्त साहित्य के विषय में बहुत अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं करती है, क्योंकि उसमें एक विचित्र ढंग पर वेदान्त और सांख्य के विचारों का मिश्रण पाया जाता है। **ईश्वर-संहिता** के उद्धरण दसवीं शताब्दी में मिलते हैं; परन्तु दूसरी संहिताएँ, अर्थतः वास्तव में प्राचीन होते हुए भी, कम से कम कुछ रूपान्तरित कर दी गयी हैं। तथा च, **बृहद्ब्रह्म-संहिता** में रामानुज के सिद्धान्तों का उल्लेख पाया जाता ह। नारद के नाम से प्रसिद्ध **भक्तिशास्त्र** उत्तरकालीन रचना है। इसी प्रकार शाण्डिल्य के, जिनका उल्लेख पञ्चरात्रसिद्धान्त के आचार्य रूप से शंकर और रामानुज में आता है, नाम से प्रख्यात **भक्तिसूत्र**[3] भी उत्तरकालीन रचना है। हिन्दी भाषा में लिखित **भक्तमाल**[4] बिलकुल आधुनिक है; साम्प्रदायिक मान्यता की अपनी पारिभाषिक व्याख्याओं के अतिरिक्त, अपने आख्यानों की दृष्टि से भी इसकी रोचकता है। भारतवर्ष में क्रिश्चियन चर्च की चिरकालीन विद्यमानता की दृष्टि से इस पर क्रिश्चियन प्रभाव का असर तत्काल स्वीकार किया जा सकता है।[5]

रामानुज के सिद्धान्त से विचार-मूलक विभिन्न सम्प्रदाय उत्पन्न हुए : उनके पारस्परिक विभेद अधिकतर छोटी-छोटी बातों को लेकर थे, यथा लक्ष्मी का स्थान, अथवा मुमुक्षु जीव के लिए कर्म की आवश्यकता का प्रश्न। इस आन्तरिक विभेद से जो साहित्य बना उसका अंशतः उत्तर और दक्षिण से स्थानीय सम्बन्ध ह और उसका कुछ अंश ही संस्कृत में है। धर्म या दर्शन के लिए उसका उत्कृष्ट महत्त्व भी नहीं है।

दूसरी ओर कश्मीर में, जहां शैव सम्प्रदाय का प्रामुख्य था, दो दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ जिनका अनेक प्रकार से वेदान्त के साथ सम्बन्ध था।

---

१. Ed. BI. 1865.

२. Ed. Madras, 1916. दे० F. O. Schrader, *Intr. to the Pāñcarātra* (1916); Govindācārya, JRAS. 1901, pp. 951 ff.

३. Ed. BI. 1861; trans. BI. 1878.

४. Grierson, JRAS. 1910, pp. 87 ff.; 269 ff.

५. Grierson, JRAS. 1907, pp. 314 ff.; cf. ERE. ii. 548 ff.

उनमें से प्रथम का, जिसका अपेक्षाकृत कम महत्त्व है, प्रतिपादन नवीं शताब्दी में वसुगुप्त के **शिवसूत्र**[1] में और कल्लट की **स्पन्दकारिका** में किया गया है। उक्त शिवसूत्र पर ग्यारहवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने व्याख्या की थी। इस दर्शन में उपादान कारण तथा पूर्वजन्म के कर्म (या अदृष्ट) के विना ही ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है; ईश्वर अपनी इच्छा के प्रयत्नमात्र से ही सृष्टि को उत्पन्न कर देता है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की कीर्ति का आधार जिन ग्रन्थों पर था वे हैं—सोमनाथ की **शिवदृष्टि** (लगभग ९००), उनके शिष्य और उदयाकर के पुत्र उत्पलदेव का **ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र**, और अभिनवगुप्त की उक्त ग्रन्थ पर व्याख्या[2] (लगभग १०००) तथा उन्हीं का १०० आर्याओं में निबद्ध **परमार्थसार**,[3] जिसमें वे आदिशेष अथवा पतञ्जलि के नाम से प्रसिद्ध कुछ लोक-प्रचलित कारिकाओं को अपनी विचित्र दृष्टि के अनुकूल दिखलाते हैं। इस दर्शन की, जिसको विरूपाक्षनाथ की **विरूपाक्षपञ्चाशिका**[4] में भी संक्षिप्त रूप से संगृहीत किया गया है, विशिष्ट बात इस आग्रह में है कि, ईश्वर के साथ अभिन्नता के आनन्द का अनुभव करने के लिए, मनुष्य को आवश्यक है कि वह इसका साक्षात् अनुभव करे कि ईश्वर की पूर्णताएँ उसके अपने अन्दर ही विद्यमान हैं, ठीक उसी तरह जैसे एक युवती अपने प्रेमी के साथ आनन्द का अनुभव तभी कर सकती है जब वह ऐसा समझ लेती है कि उसमें वे गुणोत्कर्ष विद्यमान हैं जिनको उसने सुन रखा है।

अन्य शैव दर्शन भी थे; श्रीकण्ठ शिवाचार्य का सम्बन्ध, जिन्होंने **ब्रह्मसूत्र** पर एक **शैवभाष्य**[5] की रचना की थी, दक्षिण भारत के वीरशैव या लिङ्गायत सम्प्रदाय से था जिसमें शिव के प्रति भक्ति पर विशेष रूप से बल दिया गया है। सोलहवीं शताब्दी के बहुशास्त्रज्ञ अप्पय्य दीक्षित भी इसी मत के थे।

तन्त्रों का कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं है, परन्तु पारम्परिक मूढ-विश्वासों के इतिहास के लिए उनकी विशेष रोचकता है। कामवासना के तत्त्वों को रहस्यवाद अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म के साथ जीवात्मा के ऐक्य के जामे का पहिनाना ही तन्त्रों का सारांश है। तान्त्रिक साहित्य की युक्तियुक्त प्राचीनता पर्ण सम्भावना के साथ

---

१. Trans. IT. iii and iv.

२. Ed. *Pandit*, ii and iii.

३. Ed. Barnett, JRAS. 1910, pp. 707 ff.; 1912, p. 474; Sovani, pp. 257 ff.; Winternitz, GIL. iii, 446.

४. Ed. TSS. 9, 1910. भोजकृत **तत्त्वप्रकाश** का संपादन १९२० में TSS. ६८ में हुआ है।

५. Ed. *Pandit*, vi and vii. सब शैव संप्रदायों के संवन्ध में दे० Bhandarkar, *Vaiṣṇavism, Śaivism*, etc.; Carpenter, *Theism in Mediaeval India*.

इस बात से सिद्ध हो जाती है कि तत्सम्बन्धी हस्तलिखित ग्रन्थ ६०९ से लेकर आगे उपलब्ध होते हैं; परन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में से प्रत्येक के ठीक-ठीक समय का निर्धारण करना कठिन है। उन ग्रन्थों में **कुलचूडामणितन्त्र कुलार्णव, ज्ञानार्णव, तन्त्रराज, महानिर्वाण** आदि सम्मिलित हैं। दक्षिण के लिङ्गायतों का एक **वीरमहेश्वरतन्त्र** है। सांस्कृतिक दृष्टि से इन ग्रन्थों की रोचकता के पक्ष में बड़ी बातें कही गई हैं, परन्तु वास्तविक तथ्य तों यह है कि जहाँ तक उनका दार्शनिक अंश है, उसका अधिक अच्छे रूप में प्रतिपादन दूसरे ग्रन्थों में विद्यमान है, और जहाँ तक वे मौलिक हैं, वे विभिन्न प्रकार की ऐन्द्रजालिक प्रवृत्तियों के उपदेश के साथ-साथ, मांसाशन, मद्यपान, और संकीर्ण मैथुन के सिद्धान्त की, तन्त्रशास्त्र के परमतत्त्व के साथ सायुज्य-रूपी लक्ष्य के साधन के रूप में, शिक्षा देते हैं। ऐसा माना जाता था कि उक्त संकीर्ण मैथुन में देवता का सान्निध्य स्त्री उपासिका के रूप में रहता था। अपनी शैली के रूप में भी उनमें कोई आकर्षण नहीं है; मौलिक ग्रन्थ प्रायेण भ्रष्ट संस्कृत में लिखे गये दिखाई देते हैं, जबकि परवर्तीकाल वाले बुरी तरह व्यवस्थित और संगृहीत संकलन-रूप ही हैं। परन्तु यह सत्य है कि तान्त्रिक सम्प्रदाय का समाज के ऊँचे वर्गों और उत्कृष्ट संस्कृति के भारतीयों के भी मन पर अत्यधिक प्रभाव रहता रहा है और अब भी वर्त्तमान है।[1]

५. न्याय और परमाणुवाद

मीमांसा-दर्शन के अनुसंधान में हम बहुत-कुछ न्याय[2] की ओर प्रेरणा को पा सकते हैं; न्याय इस शब्द से इस परिणाम का सुझाव मिलता है, और यह बात सामान्य बुद्धि से भी पूर्णतः मेल खाती है, यद्यपि यह ठीक है कि जिसको हम बहुत-कुछ न्याय-शास्त्र समझते हैं उसकी ओर प्रगति करना एक विशिष्ट कर्म था। न्याय की प्राचीनता के विषय में हमें वास्तविक ज्ञान नहीं है; प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में उसको पाने के प्रयत्न बौद्ध ग्रन्थों की उत्तरवर्त्तिता के कारण विफल हो जाते हैं। **न्यायसूत्र**[3] के उपक्रमों को किसी गोतम (लगभग ५०० ई० पू०) से सम्बद्ध करने के प्रयत्नों का, जबकि वास्तविक न्याय का प्रारम्भ अक्षपाद (लगभग १५० ई०) से

---

१. दे० 'A. Avalon', *Principles of Tantra* (1914-16); *Mahānirvāṇa Tantra* (1913), तथा अन्य बहुत से ग्रन्थ। Cf. Das Gupta, AMSJV. III. i. 253 ff.

२. Keith, *Indian Logic and Atomism* (1921); S. C. Vidyabhusana, *History of Indian Logic* (1921); B. Faddegon, *The Vaiśeṣika System* (1918); G. Jhā in *Indian Thought* and POCP. 1919. ii. 281-5 (न्याय के मौलिक नास्तिक-वाद पर).

३. Vidyabhusana, p. 47.

बतलाया जाता है, कोई पर्याप्त आधार नहीं है। इस तर्क[1] से भी हम किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते हैं कि न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन सांख्य-कारिका की व्याख्या माठरवृत्ति से पहले हैं, और माठरवृत्ति जैनियों के अनुयोगद्वार-सूत्र से प्राचीनतर है; क्योंकि, इस तथ्य के अतिरिक्त भी कि उक्त जैनसूत्र अपने वर्त्तमानरूप में अधिक से अधिक पाँचवीं शताब्दी के लिए ही प्रमाण हो सकता है, उपलब्ध माठरवृत्ति कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं है।[2] जो कुछ हम वस्तुतः जानते हैं वह यह है कि न्यायसूत्र अपने वर्त्तमान रूप में, जो निश्चय ही प्राचीनतर विचार का प्रतिपादन करने वाला एक संकलन है, बौद्ध दर्शन के शून्यवादी सम्प्रदाय से, जैसा कि सम्भवतः उसका ईसवी प्रथम शताब्दी में विकास हुआ था, अपनी जानकारी को दिखाता है। और यह परिणाम भी अनिश्चित है। वैशेषिकसूत्र का समय भी इसी प्रकार अनिश्चित है, यद्यपि न्यायसूत्र के साथ वह सम्भवतः थोड़ा-बहुत समान-कालीन है। जहाँ न्याय-सूत्र मूलतः न्याय या तर्क (logic) का प्रतिपादन करता है, वहाँ वैशेषिक-सूत्र में ऐसे भौतिकवाद का निरूपण है जिसके अनुसार भौतिक जगत् का आधार परमाणुओं में है; परन्तु दोनों सूत्र कुछ मात्रा में एक दूसरे की दृष्टि को स्वीकार करते हैं। वैशेषिकसूत्र के तथा-कथित ग्रन्थकार कणाद केवल एक कल्पित नाम है, और इस सूत्र की रचना में अधिक वैषम्य दिखाई देता है। वैशेषिक के प्रारम्भ का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० बतलाया जाता है, और इसके आधार दो हैं। प्रथम तो यह कि इसका खण्डन अश्वघोष ने किया है। द्वितीय यह कि अनेक बातों में जैन दार्शनिक विचारों के साथ इसका मेल है; तथा च जीवात्मा की वास्तविक कर्मशीलता को जिसका शांकर वेदान्त निषेध करता है यह मानता है, कारण से कार्य को और द्रव्य से गुणों को भिन्न मानता है, और परमाणुओं को भी स्वीकार करता है। परन्तु यह बिलकुल निश्चायक नहीं है, और हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि वैशेषिक कभी—जीवात्मा का विकास प्रकृति (या भूतों) से हुआ है—इस लोकायत अर्थ में भौतिकवादी था। ईश्वर के विषय में दोनों सूत्रों की मौलिक दृष्टि का प्रश्न विवाद का विषय है, परन्तु कम से कम दोनों इस विषय पर बहुत कम कहते हैं, और जो कुछ थोड़ी बात वे इस विषय पर कहते हैं वह उनके ईश्वरास्तित्व-वादी दर्शन बन जाने के बाद किये गये परिवर्तन के कारण हो सकता है।

न्यायसूत्र के व्याख्याता पक्षिलस्वामी वात्स्यायन हुए, जिन्होंने बौद्ध तार्किक

---

१. A.B. Dhruva, POCP. 1919, ii. 264 ff. ३०० ई० पू० के लिए जैन ग्रन्थों के साक्ष्य पर विश्वास के कारण उनका तर्क दोषपूर्ण हो जाता है।

२. दे० Keith, BSOS. iii. 551 ff.

दिग्नाग से पहले **न्यायभाष्य**[1] की रचना की। शैली में उनका भाष्य महाभाष्य से मिलता-जुलता है, और वे वार्तिकों के समान छोटे-छोटे वाक्यों में सूत्रों के परिवर्त्तनों को प्रस्तुत करते हैं; परन्तु यह उनको द्वितीय शताब्दी ई० पू० में रखने के समर्थन के लिए पर्याप्त होने से बहुत दूर है। चौथी शताब्दी अधिक ग्राह्य है, यद्यपि अपेक्षाकृत कुछ पहला समय भी बहिष्कृत नहीं है। उद्योतकर भारद्वाज ने, जो पाशपत मत के एक उत्साही साम्प्रदायिक थे, अपने **न्यायवार्त्तिक**[2] में वात्स्यायन का समर्थन करते हुए सूत्र और भाष्य की व्याख्या की है। उनका समय लगभग ६२० ई० है। न्यायवार्त्तिक पर भी एक व्याख्या **न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका**[3] इस नाम से वाचस्पतिमिश्र (लगभग ८५०) ने लिखी थी, जिस पर दसवीं शताब्दी में उदयन ने **तात्पर्य-परिशुद्धि**[4] की रचना की थी। उदयन ने, एक विश्वासी ईश्वरवादी के रूप में, गद्यात्मक व्याख्या से युक्त कारिकाओं में उपनिबद्ध अपनी **कुसुमाञ्जलि**[5] में ईश्वरास्तित्व की सिद्धि की है, और **बौद्धधिक्कार**[6] में बौद्धों का खण्डन किया है। इससे पहले बौद्ध लोग विचार-जगत् में एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय का विकास कर चुके थे जिसने स्पष्टतः स्वयं न्याय को अधिक प्रभावित किया था।

प्राचीन बौद्ध तार्किकों में प्रमुख दिग्नाग सम्भवतः ४०० ई० से पहले विद्यमान थे; उन्होंने **प्रमाणसमुच्चय**, **न्यायप्रवेश** और दूसरे ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से अधिकतर केवल भाषान्तरों में सुरक्षित हैं।[7] धर्मकीर्ति ने सातवीं शताब्दी में दिग्नाग का समर्थन करते हुए उद्योतकर का खण्डन किया। उनका **न्याय-बिन्दु**[8], धर्मोत्तर (लगभग ८००) की टीका और सम्भवतः उसके कुछ ही बाद लिखी गई मल्लवादी की प्रटीका, **न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी**,[9] के साथ सौभाग्यवश सुरक्षित है। जैनियों के ग्रन्थों का महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत कम है; उनमें से सिद्धसेन दिवाकर के **न्यायावतार**[10] का समय संदिग्ध रूप से ५३३ ई० बतलाया जाता है, जबकि

---

१. E. Windisch, *Über das Nyāyabhāshya* (1888).
२. Ed. BI. 1907,
३. Ed. VizSS. 12, 1898.
४. Ed. BI. 1911-24.
५. Ed. BI. 1888-95.
६. Ed. Calcutta, 1849 and 1873, **आत्मतत्त्वविवेक** के नाम से।
७. S. C. Vidyabhusana, *Indian Logic*, pp. 27 ff. **न्यायप्रवेश** का संपादन, १९२७ में, बड़ौदा में हुआ था।
८. Ed. BI. 1889. धर्मोत्तर के समय पर, Hultzsch, ZDMG. lxix. 278 f.
९. Ed. BB. xi. 1909.
१०. Ed. Calcutta, 1908.

माणिक्यनन्दी के **परीक्षामुखसूत्र**[1] का समय, जिस पर ग्यारहवीं शताब्दी में अनन्तवीर्य ने व्याख्या लिखी थी, लगभग ८०० हो सकता है। हेमचन्द्र (१०८८–११७२) ने सूत्रशैली में **प्रमाणमीमांसा** को लिखा था। इन बौद्ध, और कुछ कम मात्रा में जैन, प्रतिपादनों के विरुद्ध शास्त्रार्थी विषय जिन ग्रन्थों में पाया जाता है वे हैं—जयन्त की **न्यायमञ्जरी**[2] (९वीं शताब्दी), जो न्यायसूत्रों की व्याख्या है, भासर्वज्ञ का **न्यायसार**[3] (लगभग ९००), जिसमें उल्लेखनीय शैव प्रवृत्ति दिखाई देती है और वैशेषिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, और वरदराज की **तार्किकरक्षा**[4] जिसको कुमारिल ज्ञात हैं और **सर्वदर्शनसंग्रह** (लगभग १३५०) में जिसका उपयोग किया गया है।

गङ्गेश की चतुःखण्डात्मक **तत्वचिन्तामणि**[5] (लगभग १२००) का उदय न्याय के इतिहास में एक निश्चित प्रगति का द्योतक है। इस ग्रन्थ में न्याय में अभिमत प्रमाणों की बड़ी सूक्ष्मता के साथ व्याख्या की गई है और साथ ही साथ प्रसङ्गतः उसके दार्शनिक पक्ष का भी स्पष्टीकरण किया गया है। गङ्गेश कोई साधारण दार्शनिक नहीं थे, यद्यपि उनके गद्य को स्पष्ट और सरल कहना कठिन प्रतीत होता है, यद्यपि अपने टीकाकारों की भाषा की तुलना में वह स्पष्ट और सरल दोनों है। उनके टीकाकारों में सम्मिलित विद्वान् हैं—उनके ही पुत्र वर्धमान, नाटककार जयदेव, और, सबसे अधिक प्रसिद्ध, रघुनाथ शिरोमणि[6] (लगभग १५००), जिनके टीकाकार गदाधर (लगभग १७००) थे, और मथुरानाथ। ये टीकाएँ पाण्डित्यपूर्ण मध्यकालीन विचार-पद्धति का निकृष्टतम प्रकार है, जिसमें केवल लक्षणों पर ही रुचि केन्द्रित रहती थी, और यह खेद का स्थान है कि सोलहवीं शताब्दी में नवद्वीप की संस्कृत पाठशालाएँ देश के बौद्धिक जीवन की केन्द्र बन गई थीं, क्योंकि यदि इन ग्रन्थों ने गङ्गेश के सिद्धान्त को अत्यधिक बोझिल न कर दिया होता, तो गङ्गेश के वास्तविक गुणों को अधिक विस्तृत रूप में मान्यता प्राप्त हो सकती थी। तथ्य तो यह है कि भारतीय न्याय-शास्त्र या तर्क-शास्त्र (logic) ने उदाहरणों के आधार पर तर्क की अपरिष्कृत पद्धति की स्थिति से ऊपर उठ कर

---

१. Ed. BI. 1909.
२. Ed. VizSS. 1895.
३. Ed. BI. 1910.
४. Ed. *Pandit*, N. S. xxi-xxv.
५. Ed. BI. 1888-1901.
६. गादाधरी के साथ दीधिति का संपादन, ChSS. nos. 186, 187. पाण्डित्य पूर्ण मध्यकालीन विचारपद्धति के नमूने के लिए दे० S. Sen *A Study on Mathurānātha's Tattvacintāmaṇirahasya* (1924).

व्यापक सिद्धान्तों (universals) पर आश्रित अनुमान की विकसित और योग्यतापूर्ण योजना के रूप में उन्नति को प्राप्त किया, और उस योजना में व्यापक सिद्धान्तों के निर्माण की व्याख्या सुचिन्तित दार्शनिक सिद्धान्त द्वारा की गई। बौद्ध न्याय ने भी दिग्नाग के हाथों में ज्ञान-विषयक एक सिद्धान्त को विकसित किया जिसका सावधानतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए और जिसमें कुछ दृष्टियों से कैन्ट के विचारों के साथ घना सादृश्य दिखाई देता है, यद्यपि कभी-कभी उस सादृश्य को अत्यधिक बढ़ा दिया जाता है।

वैशेषिकसूत्र[1] कहीं कम भाग्यशाली था। प्रशस्तपाद ने इसको लेकर अपने **पदार्थधर्मसंग्रह**[2] में नया जीवन प्रदान किया; यह ग्रन्थ **वैशेषिक-सूत्र** की एक टीका न होकर उसी के प्रतिपाद्य विषय का, महत्त्वपूर्ण परिवर्धनों के साथ, एक नवीन स्पष्टीकरण या व्याख्यान है। ग्रन्थकार का समय दिग्नाग के साथ उनके सम्बन्ध पर निर्भर है। ऐसा लगता है कि दिग्नाग ने उनके न्याय-सम्बन्धी विचारों को प्रभावित किया है; ऐसी दशा में उनको हम पाँचवीं शताब्दी ई० में रख सकते हैं। उनके ग्रन्थ पर श्रीधर की **न्यायकन्दली** नाम की टीका का समय ९९१ है। उनमें हम ईश्वर-वाद के सम्बन्ध में वही सिद्धान्त और वैशेषिक के छः पदार्थों—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, जिससे प्रायेण इस दर्शन के नाम की व्युत्पत्ति की जाती है, और समवाय के साथ एक सप्तम पदार्थ अभाव का योग पाते हैं। उदयन ने भी प्रशस्तपाद के भाष्य पर **किरणावली**[3] नाम की एक टीका और एक स्वतन्त्र ग्रन्थ **लक्षणावली**[4] की रचना की थी। यह स्पष्ट है कि **वैशेषिक-सूत्र** में कुछ ऐसा विषय है जो उक्त टीकाकारों के सामने नहीं था, और उनको कुछ ऐसे सूत्र विदित थे जो **वैशेषिक-सूत्र** में नहीं मिलते हैं। **वैशेषिक-सूत्र** पर एक रीत्यनुसारी टीका शंकर-मिश्र का **शङ्करोपस्कार**[5] है, जिसका समय लगभग १६०० है और जिसमें किसी प्रकार व्याख्या रूप में पर्याप्तता नहीं है।

कुछ लघु हस्त-पुस्तकें, जो उपर्युक्त दोनों दर्शनों के लिए प्रायोगिक मार्ग-दर्शकों का काम करती हैं, समष्टि रूप से दोनों के सिद्धान्तों का निरूपण करती हैं और उनकी परम्पराओं के सम्मिश्रण को दिखाती हैं। उनमें से जो प्राचीनतम हैं

---

१. चन्द्रकान्त तर्कालंकार का संपादन, कलकत्ता, १८८७; तथा BI. 1861; BenSS. 1885 ff.

२. Ed. VizSS. 1895; trans. G. Jha, *Pandit*, N. S. xxv-xxxiv.

३. Ed. in part BenSS.

४. Ed. *Pandit*, N. S. xxi and xxii.

५. Ed. BI. 1861.

उनमें से एक है—शिवादित्य की **सप्तपदार्थी**[१], जो गङ्गेश से पहले की है; केशव-मिश्र की **तर्कभाषा**[२] विभिन्न मतों के अनुसार तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी में रखी जाती है; लौगाक्षि-भास्कर की **तर्ककौमुदी**[३] मीमांसा-विषयक **अर्थसंग्रह** के साथ एककर्तृक है, और उसका समय १४०० के पीछे हो सकता है; अन्नम् भट्ट ने, जो दक्षिण भारत के रहने वाले थे, **तर्कसंग्रह**[४] की रचना एक महत्त्वपूर्ण टीका के साथ १५८५ से पहले की थी; और जगदीश के **तर्कामृत**[५] का समय लगभग १७०० है। विश्वनाथ के **भाषापरिच्छेद**[६] का लगभग समय इस तथ्य पर आश्रित है कि उसके ग्रन्थकार ने **न्यायसूत्र** पर अपनी व्याख्या १६३४ में लिखी थी; **भाषापरिच्छेद** में १६६ कारिकाएँ हैं, जिनमें से कुछ पुराने ग्रन्थों से ली गई हैं, जैसा कि इस बात से प्रतीत होता है कि वे सुरेश्वर के **मानसोल्लास** में भी दी हुई हैं, और वहाँ वे निश्चित रूप से किसी समकालीन ग्रन्थ से उद्धृत दीख पड़ती हैं। इस युग में वैशेषिक और न्याय के बीच में विचारमूलक भेद घटकर बहुत गौण बातों तक ही परिमित रह गये थे, जिनको मध्ययुगीय पाण्डित्य-पूर्ण विचार-पद्धति के अनुकूल भी नहीं कहा जा सकता। अब उक्त दोनों दर्शन पूर्णतः ईश्वरवादी हो गये थे, जैसी कि स्थिति उनके अनुयायी तत्तद् व्यक्तियों की चिरकाल से रही थी; उद्योतकर के सदृश उदयन भी शैव थे, और ईश्वर को शिव से अभिन्न मानते थे, और बौद्ध लेखक गुणरत्न और राजशेखर अपने समय में शैव सम्प्रदाय के साथ न्याय और वैशेषिक सम्प्रदायों के सम्बन्धों की सूचना देते हैं।

वैशेषिक के भौतिक विज्ञान (physics) की व्याख्या में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, और यह अत्यन्त संदिग्ध है कि क्या हम, भारतीय और पाश्चात्त्य आधुनिक विद्वानों के साथ,[७] उक्त प्राचीन ग्रन्थ (**वैशेषिक-सूत्र**) के, जिसके टीकाकारों ने उसमें परिष्कार लाने के लिए कुछ भी नहीं किया है, सादा और प्रायेण अपरिष्कृत विचारों में आधुनिक वैज्ञानिक परिणामों को पढ़ने के प्रयत्न में न्याय्य पथ का अवलम्बन करते हैं। उन टीकाकारों की रुचि दार्शनिक थी, और विज्ञान और दर्शन को सफलतापूर्वक सम्मिलित करना प्रायेण देखने में नहीं आता।

---

१. Ed. A. Winter, Leipzig, 1893; trans. ZDMG. Liii. 328 ff.

२. Ed. S. M. Paranjape, Poona, 1909; trans. G. Jhā, IT. ii.

३. Ed. M. N. Dvivedī, BSS. 32, 1886; trans. E. Hultzsch, ZDMG. lxi. 763 ff.

४. Ed. BSS. 55, 1918; trans. E. Hultzsch, AGGW. ix. 5, 1907.

५. Ed. Calcutta, 1880.

६. Ed. BI 1850; trans. E. Hultzsch. ZDMG. Lxxiv. 145 ff.

७. R. Stübe, *Ann. d. Naturphil.*, viii. 483 ff.

आयुर्वेदीय चरकसंहिता का समय लगभग ८० ई० मान कर उसके मूल में वैशेषिक दर्शन के आधार को दिखाने का प्रयत्न और इससे वैशेषिक के प्राचीन समय का निष्कर्ष बिलकुल अप्रामाणिक प्रतीत होता है; क्योंकि इसका आधार दो भूलों पर है : यह मान लेना कि वैशेषिक दर्शन चरक का जीवनाधायक है, और यह कल्पना कि चरक के ग्रन्थ का समय प्रथम शताब्दी ई० है। वैशेषिक दर्शन बौद्धों से पहले का है और वह पूर्व-मीमांसा से निकला है, यह सिद्ध करने का प्रयत्न और भी अधिक उपहासास्पद है ।

६. सांख्य और योगदर्शन

जबकि वेदान्त औपनिषद विचार-धारा का साक्षात् वंशज है, और न्याय और परमाणुवादी दर्शन अपने प्रतिपाद्य विषय से बाहर जाकर परम्परागत विचार-धारा को कम से कम चुनौती नहीं देते हैं, और अन्ततोगत्वा वेद के प्रामाण्य को क्रमशः स्वीकार कर लेते हैं, वहां सांख्यदर्शन अपने मूलरूप में निस्सन्देह परम्परा से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है। परन्तु यह बात इस दावे से बिलकुल भिन्न है कि यह दर्शन विकास की न्याय्य प्रक्रिया के अनुसार उपनिषदों में पाये जाने वाले विचारों से नहीं निकला है। अन्त में यह विषय इस बात पर निर्भर रह जाता है कि कुछ उपनिषदों में, विशेषतः कठ में, ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जिनको या तो हम सांख्य के विकास में प्रारम्भिक अवस्था मान सकते हैं, या पहले से ही विद्यमान सांख्य का उपनिषदों पर प्रभाव कह सकते हैं। पुरोहित-वर्ग के विरुद्ध क्षत्रियों द्वारा एक स्वतन्त्र विचार-धारा के निर्माण का विचार वास्तव में असंगत है, और इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि कुछ औपनिषद स्थितियों से उनके पूर्णतः विकसित होने पर वैधरूप से सांख्य का उद्भव होता है। उपनिषदों का ब्रह्म निरर्थक होने लगता है, और सांख्य पुरुषों की केवल अनन्त संख्या मान कर उस ब्रह्म से अपना पीछा छुड़ा लेता है, जबकि प्रकृति में ही विकास की शक्ति मान कर वह उसे ब्रह्म से पृथक् कर देता है; बोध की व्याख्या प्रकृति और पुरुष के बीच में किसी प्रकार के सम्पर्क से की जाती है, और मुक्ति की प्राप्ति प्रकृति और पुरुष के बीच में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की अवास्तविकता के समझ लेने पर होती है। यह निस्सन्देह रूप में एक असंगत और अव्यवस्थित दर्शन है, क्योंकि इसमें पुरुष का कोई अर्थ नहीं है और उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध, असत् होनेके कारण, बन्ध का कारण नहीं हो सकता। विचार की इस प्रकार की अस्त-व्यस्तता सांख्य का विकास उपनिषदों से हुआ है—इस स्थापना के साथ ठीक बैठती है, उसकी मौलिकता के विचार के साथ नहीं।

भारतीय चिन्तन के लिए सांख्य की सबसे महत्त्वपूर्ण देन तीन 'गुण' हैं, जो गुण होने की अपेक्षा बहुत-कुछ निर्माण-साधक अङ्ग हैं, और जो प्रकृति और पुरुष दोनों में समान रूप से अभिव्याप्त हैं। इस विचार के लिए भी हम उपनिषदों में आधार पाते हैं, जहाँ प्रजापति से निकले हुए अथवा उससे व्याप्त अप्, अग्नि और पृथिवी इनका तीन मूल तत्त्वों के रूप में वर्णन आता है।[1]

सांख्य से बौद्ध दर्शन के उद्गम पर आधृत युक्तियों से सांख्य का समय निश्चित किया गया है, परन्तु तदपेक्षया हमें बौद्धदर्शन का उद्गम उपनिषदों के प्राचीन सिद्धान्त से मानना चाहिए; उपनिषदों से ही अन्त में सांख्य का विकास हुआ, परन्तु बौद्धदर्शन के विकास में वैदिक दृष्टियों का कहीं अधिक जानबूझ कर परित्याग किया गया। तो भी, प्रत्येक दशा में, बौद्धदर्शन के विकास का समय इतना अत्यधिक अस्पष्ट है कि सांख्य के समय के निश्चित करने में उससे कोई वास्तविक सहायता नहीं ली जा सकती और इसीलिए यह कथन[2] कि सांख्य ८००–५५० ई० पू० के दर्शन का प्रातिनिध्य करता है बिलकुल अस्वीकार्य दीखता है।

सांख्य के सब प्राचीन आचार्य आख्यान के वेश में हमारे सामने आते हैं; इस दर्शन के तथाकथित प्रतिष्ठापयिता कपिल की वास्तविकता का याकोबी (Jacobi) ने परित्याग कर दिया है; आसुरि केवल एक नाम है, और पञ्चशिख का समय, जिनके विचारों का उल्लेख हमें मिलता है, नितरां अनिश्चित है। सांख्य के विषय में कुछ जानकारी हमें **महाभारत** से प्राप्त होती है, यद्यपि साधारणतया इससे हमें सामासिक (composite) दर्शन ही प्राप्त होता है; परन्तु सांख्य के विषय में हमारा निश्चित ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका**[3] ही है। बौद्ध स्रोतों से हमें वसुबन्धु (लगभग ३२०) के एक प्राचीनतर समकालीन[4] आचार्य वार्षगण्य का पता लगता है, जिन्होंने सांख्य पर **षष्टितन्त्र**-नामक एक ग्रन्थ लिखा था। उनके शिष्य विन्ध्यवास ने उनके विचारों का परिष्कार **सौवर्ण-सप्तति-कारिका** (Golden Seventy Verses) नाम से प्रसिद्ध अपने सत्तर पद्यों में किया। इनका खण्डन वसुबन्धु ने अपनी **परमार्थसप्तति** में किया। ईश्वर-

---

१. Keith, *The Sāṁkhya System* (2nd ed. 1924); *Religion and Philosophy of the Veda* (1925).

२. Cf. Winternitz, GIL. iii. 450. सांख्य के एक प्राचीन स्रोत के रूप में चरक का उपयोग बिलकुल अप्रामाणिक है।

३. Ed. BenSS. 1883; trans. J. Davies, London, 1881; P. Deussen, *Gesch. d. Phil.*, I. iii. 413 ff.

४. N. Péri, BEFEO. xi. 311 ff.

कृष्ण के साथ विन्ध्यवास को अभिन्न समझना स्वाभाविक है, और उनकी अभिन्नता, सिद्ध न होने पर भी, असंभावित नहीं है। अन्यथा जो निश्चित तथ्य है वह यह है कि टीका के सहित उक्त कारिका का चीनी भाषा में अनुवाद परमार्थ ने ५५७–६९ ई० में किया था, और इसीलिए उसका अस्तित्व इस समय से पहले रहा होगा। यह मत कि उक्त टीका का मूल रूप हाल ही में आविष्कृत **माठर-वृत्ति** में विद्यमान है निश्चित रूप से ग़लत है।[1] परन्तु उस टीका का उससे निकला हुआ रूपान्तर गौडपाद-कृत उपलब्ध है। गौडपाद का समय एवं वेदान्त-विषयक **गौडपादीय-कारिका** के ग्रन्थकार के साथ उनकी अभिन्नता दोनों अनिश्चित हैं। **गौडपादीय-कारिका** के ग्रन्थकार गौडपाद कहीं अधिकतर योग्यता के व्यक्ति प्रतीत होते हैं। वाचस्पतिमिश्र की **सांख्यतत्त्वकौमुदी** अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व का ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध निष्पक्षपातता तथा व्याख्या करने की क्षमता को दिखलाया है। वे रणरङ्गमल्ल या भोज के किसी **राजवार्त्तिक** का उल्लेख करते हैं। **सांख्य-कारिका** स्वयं निश्चित रूप से अपने प्रतिपाद्य विषय के लिए प्राचीनतर ग्रन्थों की ऋणी है। उस विषय का प्रतिपादन नीरस आर्या-पद्यों में किया गया है, जो संक्षेप में सांख्य दर्शन के विशिष्ट स्वरूप को दिखाने वाले ऐसे सुप्रसन्न दृष्टान्तों को भी उद्धृत करते हैं, जसे कि प्रकृति और एक लज्जाशील युवती के सादृश्य का प्रदर्शन, क्योंकि उस युवती के समान पुरुष से एक बार देखी गई प्रकृति फिर उसके सामने नहीं आती।

सांख्य-सूत्र[2] परवर्ती काल का ग्रन्थ है; **सर्वदर्शनसंग्रह** में इसका उपयोग नहीं किया गया है और इसकी व्याख्या अनिरुद्ध (लगभग १४५०) ने की है। हो सकता है कि इसमें प्राचीनतर सामग्री सम्मिलित है, परन्तु सिद्धर्षि द्वारा अपनी **उपमितिभव-प्रपंचा कथा** में दिये हुए सूत्र इसमें उपलब्ध नहीं हैं। हम नहीं जानते कि वे सूत्र उन्हीं की कल्पना नहीं हैं, यद्यपि यह बात अधिक सम्भव नहीं है। इसमें सांख्य दर्शन अपने पूर्णतः विकसित रूप में विद्यमान है और उसकी पुष्टि में श्रुति की भी सहायता ली गई है। चतुर्थ अध्याय रोचक है जिसमें निदर्शक आख्यायिकाओं का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है; व्याख्या में इन उल्लेखों को स्पष्ट कर दिया गया है; पुरुष और प्रकृति के विवेक का ज्ञान तत्त्वोपदेश से उस राजपुत्र के समान हो जाता है, जिसका पालन-पोषण एक शबर ने किया था और जो 'तू शबर नहीं है, किन्तु राजपुत्र है' इस प्रकार प्रबोधित किये जाने पर तत्काल राजा की चाल-ढाल को

१. Keith, BSOS. iii. 551 f.

२. Ed. BI. 1865; trans. SHB. II, 1912.

ग्रहण कर लेता है। इसी तरह सत्य-वचन की विस्मृति उस सुन्दरी कन्या के रूप में वर्तमान भेकी के समान शोक का कारण होती है, जिसके साथ किसी राजा ने यह वचन देकर विवाह कर लिया था कि कभी भी उसे जल नहीं देखने दिया जायगा; एक दिन, दुर्भाग्य से, राजा भूल गया और उसके श्रान्त होने पर उसे जल दे दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने भेक-रूप में चली गई और राजा को उसके वियोग का दुःख उठाना पड़ा। अनिरुद्ध की टीका[1] के अतिरिक्त, **सांख्यसूत्र** पर विज्ञानभिक्षु का विचित्र भाष्य[2] भी है, जिसमें वे, बहुत-सी आधुनिक विचार-धारा की अगुआई करते हुए, सांख्य का निरूपण वेदान्त के विरोधी रूप में न करके उस दर्शन के सत्य की एक दृष्टि का प्रातिनिध्य करते हुए ही करते हैं। उन्होंने **सांख्यसार**[3] को भी लिखा, जो सांख्य-दर्शन की एक संक्षिप्त भूमिका रूप में है। उनका समय लगभग १६५० है। प्रश्नोत्तर रूप में वर्तमान **तत्त्वसमास**[4] १६०० से पहले लिखा गया था। उसको एक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु उसका कम से कम कोई विशेष दार्शनिक महत्त्व नहीं है।

योग का एक दर्शन के रूप में सांख्य से घना सम्बन्ध है। योग का स्वयं अर्थ चित्त की एकाग्रता पर इच्छा-शक्ति का प्रयोग-मात्र है; जिससे इसका अर्थ चित्त की एकाग्रता अथवा समाधि हो जाता है। फिर उस एकाग्रता का लक्ष्य यदि किसी देवता के साथ ऐक्य होता है, जैसा कि प्रायः हुआ होगा, उस दशा में योग का अर्थ मेल अथवा ऐक्य हो सकता है; तब योग से प्रयत्न के स्थान में उसका परिणाम अभिप्रेत होता है। परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में योग का उद्देश्य निस्सन्देह रूप से प्रायेण प्राणायाम, आसन, और गम्भीर चित्तैकाग्रता के अभ्यास द्वारा ऐसी लोकोत्तर शक्तियों का प्राप्त करना था जैसी कि बराबर भारतीय विचारधारा में ऐसे अभ्यासों का फल मानी जाती रही हैं, क्योंकि इसी मान्यता को हम बौद्ध और जैन धर्मों में भी पाते हैं। इसलिए एक अर्थ में सब दर्शनों में योग के लिए स्थान है; परन्तु एक दर्शन के रूप में इसको सांख्य के प्रभाव के अन्दर ही विकसित किया गया है; सांख्य से इसका वास्तविक भेद केवल इतना ही है कि प्रारम्भ से ही किसी देवता के साथ ऐक्य-प्राप्ति की इच्छा से सम्बन्ध होने के फलस्वरूप, योग, सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के साथ छब्बीसवें तत्त्व के रूप में, उपास्य देव (ईश्वर) के लिए भी

१. Ed. and trans. R. Garbe, BI. 1888-92.
२. Ed. R. Garbe, HOS. 2, 1895; trans. AKM. ix. 3, 1889.
३. Ed. BI. 1865.
४. Max Müller, *Six Systems*, pp. 224 ff.

एक स्थान देने का आग्रह करता है। इस पुरुष या ईश्वर का सूक्ष्म प्रकृति के साथ नित्य सम्बन्ध रहता है और वह शक्ति, ज्ञान और कारुण्य (goodness) का स्थान है। इस प्रकार योग को सेश्वर सांख्य, और सांख्य को निरीश्वर सांख्य माना जाता है। ये दोनों दर्शन वेदान्त के विचारों के साथ मिले-जुले महाभारतीय दर्शन में और फिर पुराणों में और मनुस्मृति में दृष्टिगोचर होते हैं।[1]

योगसूत्र[2] पतञ्जलि के नाम से प्रसिद्ध है, और नाम की समानता के कारण महाभाष्य के ग्रन्थकर्ता के साथ दार्शनिक पतञ्जलि की मूर्खतापूर्ण अभिन्नता समझी जाती रही है। योगसूत्र पर यह दोषारोपण किया जाता रहा है कि वह अनेक ग्रन्थों की केवल जोड़-तोड़ का फल है; यद्यपि इसमें अतिशयोक्ति है, तो भी यह सत्य है कि वह एक अव्यवस्थित ग्रन्थ है, जिस को व्यास के नाम से प्रसिद्ध योगभाष्य की सहायता से ही समझा जा सकता है। हो सकता है कि व्यास ने मूल अर्थ को ठीक-ठीक व्यक्त किया हो अथवा न किया हो; अधिक सम्भावना इसी बात की है कि उन्होंने अपने विचारों के अनुसार ही उस अर्थ को दिया है। सम्भवत: उनका समय माघ से पहले है, परन्तु निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है, सिवाय इस बात के कि भाष्य पर वाचस्पतिमिश्र (लगभग ८५०) ने और विज्ञानभिक्षु[3] ने भी व्याख्या की है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि भाष्य में रहस्यात्मक वार्षगण्य का उल्लेख आता है। सूत्रों पर एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या राजमार्तण्ड[4] के लेखक भोज कहे जाते हैं। योगसूत्र चार भागों (पादों) में विभक्त है, जिनमें क्रमश: समाधि का स्वरूप, उसका साधन, उसके द्वारा अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति, पूर्ण समाधि से प्राप्तव्य कैवल्य—इन विषयों का निरूपण किया गया है। ईश्वर के साथ जीव के सम्बन्ध का निरूपण क्रियायोग अथवा योग की आचार-नीति के भाग के रूप में किया जाता है। अभीष्ट समाधि की अवस्था में पहुँचने के लिए जिन अभ्यासों की आवश्यकता होती है विस्तार से उनकी जानकारी के लिए हमें स्वात्माराम योगीन्द्र की हठयोगप्रदीपिका[5] जैसे परवर्ती काल के ग्रन्थों को देखना चाहिए।

---

१. P. Tuxen, *Yoga* (1911); J. W. Hauer, *Die Anfänge der Yogapraxis* (1922); Keith, *Religion and Philosophy of the Veda* (1925).

२. Ed. with Vyāsa and Vācaspati, BSS. 46, 1892; trans. J. H. Woods, HOS. 17, 1914; Rāmaprasāda, SBH. 1910.

३. Ed. *Pandit*. N. S. v and vi. उनके योगसारसंग्रह का संपादन और अनुवाद गं० झा ने किया है; बम्बई, १८९४.

४. Ed. and trans. R. Mitra, BI. 1883.

५. Ed. and trans. Bombay, 1893.

उक्त ग्रन्थ में उसकी सामान्य शैली के विपरीत यह देख कर आश्चर्य होता है कि ग्रन्थकार संदिग्धात्मक ढंग से श्लेष का प्रयोग करते हैं। दूसरे ग्रन्थ हैं—**गोरक्षशतक** और **घेरण्डसंहिता**, जिनका समय और ग्रन्थकर्तृत्व दोनों संदिग्ध हैं।

७. बौद्ध दर्शन

बौद्ध सिद्धान्तों का समर्थन करने वाले ग्रन्थों के लिए प्राकृत भाषाओं अथवा पालि के स्थान में संस्कृत के प्रयोग का समय अनिश्चित है। जो बात साधारणतया स्पष्ट है वह यह है कि मूलसर्वास्तिवादियों ने अपनी क्रियाशीलता के प्रथम युग से ही संस्कृत को अपने प्रस्थान (school) की भाषा के रूप में अपना लिया था, और उनके धर्माम्नाय (canon) के ऐसे खण्ड **उदानवर्ग**, **धर्मपद**, **एकोत्तरागम**, और **मध्यमागम** से तथा **विनय** से भी उपलब्ध हैं जिनसे पता लगता है कि उनका उद्गम कुछ मात्रा में पालि धम्म-पिटक में उपलब्ध ग्रन्थों के समान ग्रन्थों से हुआ है। परन्तु इन उपलब्ध बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का समय पूर्णतः अनिश्चित है, और उसको तृतीय शताब्दी ई० तक परवर्ती काल में रखा गया है, जो कि सम्भवतः अत्यधिक नीचे है।[1]

महावस्तु[2] कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो कि महासांघिकों के लोकोत्तरवादी सम्प्रदाय का एक विनय ग्रन्थ है। उसमें बुद्ध के पूर्वजन्मों की अनेक जातक कथाओं के सहित बहुत संकीर्ण विषय से मिला हुआ बुद्ध का आंशिक जीवन-वृत्तान्त दिया हुआ है। उन दस अवस्थाओं के वर्णन में जिनमें बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए एक बोधिसत्त्व को गुज़रना आवश्यक होता है, माता-पिता के द्वार के बिना बोधिसत्त्वों के अद्भुत जन्म पर तथा बुद्धों की बड़ी संख्या पर अपने आग्रह में, तथा **बुद्धानुस्मृति** जैसी घटनाओं में, जो कि काव्यात्मक साहित्य के साधारण स्तोत्र रूप में बुद्ध की एक प्रशस्ति है, उक्त ग्रन्थ एक नई प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। इसका समय नितान्त अनिश्चित है, क्योंकि उसका ढांचा जटिल है, जैसा कि उसकी शैली और भाषा से स्पष्ट हो जाता है; चीनी भाषा और लिपि, एक होरापाठक, और हूणों जैसे परवर्ती विषयों के उल्लेख से स्पष्ट है कि उसका अन्तिम संस्करण चौथी

---

१. Cf. Oldenberg, ZDMG. lii. 654 ff.; and see Keith, *Buddhist Philosophy* (1923). Przyluski (*La Légende de L'empereur Aśoka*, pp. 166 ff.) का मत है कि इस साहित्य का प्रारम्भ लगभग १५०ई०पू० के मथुरा में हुआ था और वह Menander तथा पतञ्जलि का समकालीन था।

२. Ed. E. Senart, Paris, 1882-97. See Oldenberg, GN. 1912, pp. 113 ff.

शताब्दी ई० से पहले हुआ हो यह आवश्यक नहीं है। भाषा मिश्रित संस्कृत है, जो कि गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों है, क्योंकि गद्य का स्थान पद्य प्रायः ले लेता है, कभी-कभी एक ही विषय को लेकर उसके गद्यात्मक और पद्यात्मक रूप से दो वर्णन साथ-साथ दिये गये हैं। अधिक अवस्थाओं में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत जितनी ही कम अच्छी है वह स्थल उतना ही अधिक पुराना है, परन्तु कोई एकान्ततः निश्चित निर्णायक प्रमाण असम्भव है। सिद्धान्त के दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ से हमें कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं प्राप्त होती है।

ललितविस्तर[1] में, जिसका सम्बन्ध भी मूल में सर्वास्तिवादी प्रस्थान से था, बुद्ध की जीवनी दी हुई है, परन्तु उसको बौद्ध धर्म के महायानीय विकास की दृष्टि से परिवर्तित कर दिया गया है। यह पुस्तक आश्चर्यजनक घटनाओं से पूर्ण है, जिनमें ऐसी कथाएं भी सम्मिलित हैं जिनके विषय में कहा गया है कि वे पश्चिम तक फैल चुकी हैं, यथा जब छोटे शिशु के रूप में बुद्ध देव-मन्दिर में गये तब देवमूर्त्तियां अवनत हो गईं, और यह भी कि उस शिशु ने अपने गुरु को चीनी और हूणी लिपियों के साथ-साथ लिपि के चौसठ प्रकारों की शिक्षा दी थी। शैली और प्रतिपाद्य विषय दोनों की दृष्टि से उक्त ग्रन्थ एक अव्यवस्थित रचना है। यह गद्यात्मक संस्कृत में लिखा गया है जिसके साथ में मिश्रित संस्कृत में लिखे पद्यात्मक भाग मिले हुए हैं; इन पद्यात्मक भागों में गद्यात्मक वर्णन को नियमतः आगे नहीं बढ़ाया गया है, उसी वर्णन को संक्षेप में देते हुए ये भाग समानान्तर रूप से गद्यात्मक वर्णन के साथ-साथ चलते हैं। इस प्रकार के लघु संगीत (ballads) प्रायेण स्पष्टतः प्राचीन हैं, जैसा कि असिताख्यान (७), बिम्बिसारकथा (१६), बुद्ध और मार का संवाद (१८) जैसे स्थलों में पालि-परम्परा के साथ तुलना से प्रतीत होता है। परन्तु प्राचीन विषय में कभी-कभी गद्य भी प्रयुक्त हुआ है, यथा बनारस के धर्मोपदेश के रूपान्तर (२६) में। साथ ही पद्यात्मक भागों में पीछे की पद्यात्मक रचनाएँ मिली हुई मिलती हैं जिनमें शार्दूलविक्रीडित और वसन्ततिलक जैसे छन्दों का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ का समय बिलकुल अनिश्चित है। नवीं शताब्दी में इसका तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया था और जावा में बोरो बोदुर (Boro Bodur) के कलाकार (८५०–९००) इससे अच्छी तरह परिचित थे। बुद्ध के प्रति इसकी सम्मान की भावना गान्धार कला की उस कला-सम्बन्धी क्रान्ति के अनुरूप है जिस ने बुद्ध की प्रतिमा को व्यक्त किया था, जबकि सांची और भरहुत की अपेक्षाकृत

---

१. Ed. S. Lefmann, Halle, 1902-8; trans. F. Foucaux, AMG. vi and xix. See F. Weller, *Zum Lalitavistara* (1915).

प्राचीन परम्परा में भगवान् के केवल प्रतीक ही दिखाये गये थे। इसलिए उक्त ग्रन्थ का सम्बन्ध मुख्यतः द्वितीय शताब्दी ई० से प्रारम्भ होने वाले समय से हो सकता है।

महाकाव्य और गीतिकाव्य अथवा नैतिक और धार्मिक उद्देश्यों को लेकर कथा के प्रयोग के रूपों में अश्वघोष के ग्रन्थों का विचार पहले ही किया जा चुका है। **महायानश्रद्धोत्पाद**[1], यदि यह वास्तव में उनकी ही रचना है, अधिकतर केवल दार्शनिक ग्रन्थ है, और इसमें विचार की एक अतीव जटिल पद्धति का उपबृंहण किया गया है जिसमें ब्राह्मणों के निरुपाधि ब्रह्म का प्रभाव स्पष्टतः कार्यकर प्रतीत होता है। अवदान बहुसंख्यक हैं, पृथक्-पृथक् और संग्रहों में भी। पूर्व-निर्दिष्ट **अवदानशतक** और **दिव्यावदान** के अतिरिक्त, अन्य अवदान इस प्रकार हैं: **द्वाविंशत्यवदान**[2], जो यत्र-तत्र डाले हुए पद्यों से युक्त बाईस गद्यात्मक कथाओं का एक संग्रह है; **भद्रकल्पावदान**[3], जिसमें गद्यात्मक चौंतीस आख्यान हैं; **व्रतावदानमाला**[4], जो कर्म-काण्ड सम्बन्धी व्रतों की व्याख्या के उद्देश्य से आख्यानों का एक संग्रह है; और काव्य की शैली में लिखित कश्मीर के बहुशास्त्रज्ञ क्षेमेन्द्र की **अवदानकल्पलता**[5] जिसमें एक सौ-आठवीं कथा ग्रन्थकार के पुत्र सोमेन्द्र द्वारा जोड़ी गई है, और उन्होंने ही एक भूमिका भी प्रस्तुत की है। जैसा कि क्षेमेन्द्र में प्रायः देखने में आता है, उनकी रचना विषय की दृष्टि से मूल्यवान् है, रूप की दृष्टि से नहीं।

वास्तविक महायान-सूत्रों में **सद्धर्मपुण्डरीक**[6] का प्रमुखतम स्थान है। यह बराबर बोधिसत्त्व के आदर्श को प्रकाशित करता है और अवर्णनीय यश और सामर्थ्य से सम्पन्न एक सत्त्व के रूप में बुद्ध की स्तुतियों से समृद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल में यह बीच-बीच में छोटे-छोटे गद्यात्मक अंशों से युक्त मिश्रित संस्कृत के पद्यों में लिखा गया था; परन्तु अपने वर्त्तमान रूप में यह गद्य में है, जिसके साथ में, इसके प्राचीनतर परिच्छेदों में, मिश्रित संस्कृत के पद्यों के स्थल भी विद्यमान हैं, जबकि २१ से २६ तक के परिच्छेद, जिनमें बोधिसत्त्वों की उपासना का उपदेश दिया गया है, केवल गद्यात्मक हैं; इन परिच्छेदों का अपेक्षाकृत परकालवर्ती होना

---

१. Trans. T. Suzuki, Chicago, 1900.

२. Mitra, *Nep. Buddh Lit.*, pp. 85 ff; ग्रन्थ की भाषा के विषय में, दे० Turner, JRAS. 1913, pp. 289 ff.

३. S. d' Oldenburg, JRAS. 1893, pp. 331 ff. के अनुसार क्षेमेन्द्र से परवर्ती।

४. Mitra, उपरि-निर्दिष्ट ग्रन्थ में, pp. 102 ff., 221 ff., 275 ff.

५. Ed. BI. 1888 ff.

६. Ed. BB. X. 1908 ff.; trans. SBE. xxi.

३१६ से पहले किये गये चीनी रूपान्तर से परिपुष्ट हो जाता है जिसमें वे परिच्छेद अपने स्थान से अन्यत्र परिशिष्ट रूप में ही दिये गये हैं। उक्त ग्रन्थ का अपने समस्त रूप में, २०० ई० से पहले का होना आवश्यक नहीं है और इससे अधिक प्राचीनतर होना सम्भावित भी नहीं है। दूसरे आख्यानों के साथ इसमें उस पिता की भी कथा[१] दी हुई है जिसका पुत्र उसके घर में एक भिखारी के रूप में रहता रहा परन्तु अन्त में मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए पिता ने उसे धनवान् बना दिया। बुद्ध क्रमशः मानव-जाति को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, यह दिखाने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है। इसकी तुलना अबुद्धिमत्ता-पूर्वक **बाइबिल** की उस लड़के की कहानी से की गई है जो पहले खो गया था और फिर उसका पता लग गया।

सद्धर्मपुण्डरीक के परिच्छेद २४ के विषय वोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर **अवलोकितेश्वरगुणकारण्डव्यूह** के भी नायक हैं, जो गद्यात्मक रूप में उपलब्ध है और पद्यात्मक रूप में भी, जो निस्सन्देह रूप में पीछे का है और जो एक आदि बुद्ध अथवा सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्वीकार करता है। उक्त सूत्र के एक रूप का चीनी भाषा में अनुवाद २७० ई० में किया गया था, परन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में से सब का समय अनिश्चित है। इसमें यमलोक (abode of the dead) में अवलोकितेश्वर की यात्रा की कथा दी हुई है, जिसकी तुलना Nikodemos के आख्यान से की गई है जिससे, निस्सन्देह, इसका निकास सम्भावित है। **सुखावती-व्यूह**[२] में अमिताभ के स्वर्ग का और स्वयं अमिताभ का भी स्तुति-गान किया गया है। यह एक बृहद्रूप में विद्यमान है, और लघुरूप में भी, जो आपाततः बृहद्रूप से निकला है। **अमितायुर्ध्यानसूत्र**[३], जो चीनी रूपान्तर में उपलब्ध है, इसकी व्याख्या करता है कि ईश्वर या देवता (the god) के ध्यान से उक्त स्वर्ग की प्राप्ति कैसे की जा सकती है। **सुखावतीव्यूह** के अनुवाद चीनी भाषा में १७० ई० से पूर्व किये गये थे और उक्त तीन ग्रन्थों पर **जो-दो-शू** (Jo-do-shu) और **शिन्-शू** (Shin-shū) इन दोनों जापानी सम्प्रदायों का आधार है। **करुणापुण्डरीक**[४] में, जिसको चीनी भाषा में ६०० ई० से पहले अनूदित कर लिया गया था, पद्मोत्तर के एक दूसरे स्वर्ग का वर्णन दिया गया है। मञ्जुश्री की उपासना का वर्णन **अवतंसकसूत्र**[५]

---

१. Cf. Poussin, *Bouddhisme*, pp. 317 ff.
२. Ed. Oxford, 1883; trans. SBE. xlix.
३. Trans. SBE. xlix.
४. Ed. Calcutta, 1898.
५. Winternitz, GIL. ii. 242.

अथवा **गण्डव्यूह** में किया गया है, जिसका चीनी भाषान्तर ४२० ई० में किया गया था, और जो जापान के **के-गोन** (Ke-gon) सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ है।

लङ्कावतारसूत्र[१] का विषय अधिक दार्शनिक है। इसमें शून्यवादी और विज्ञानवादी सिद्धान्तों की चर्चा है, परन्तु ऐतिहासिक काल-क्रम-सम्बन्धी परिणामों के लिए यह ग्रन्थ किसी काम का नहीं है, क्योंकि इसमें गुप्तों का और तदनन्तर आने वाले म्लेच्छों (barbarians) का उल्लेख है, और इसलिए अपने वर्तमान रूप में इसकी रचना लगभग ६०० ई० से पहले नहीं हो सकती थी, यद्यपि इसका एक भाषान्तर चीनी भाषा में ४४३ में किया गया था। **दशभूमीश्वर-महायानसूत्र**[२] में बुद्धत्व-प्राप्ति की दस अवस्थाओं का निरूपण किया गया है, और इसका (चीनी) भाषान्तर ४०० में किया गया था। **समाधिराज**[३] में समाधि का निरूपण है। **सुवर्णप्रभास**[४], यद्यपि नेपाल, तिब्बत और मंगोलिया में इसकी बड़ी प्रसिद्धि है, एक निम्नतर कोटि का ग्रन्थ है। उसमें अनेक धारणियाँ, मन्त्रात्मक वाक्य, दिये हुए हैं और वह एक तन्त्र की तरह का ग्रन्थ है। उसका चीनी भाषान्तर छठी शताब्दी में किया गया था। **राष्ट्रपालपरिपृच्छा**[५] में, जिसका (चीनी) अनुवाद ६१८ से पूर्व हुआ था, समकालीन बौद्ध धर्म की, जो उस समय शक्तिहीन हो गया था, शिथिलता पर एक रोचक व्यङ्ग्य पाया जाता है। यह ग्रन्थ निम्नकोटि की संस्कृत में लिखा गया है जिसमें प्राकृत तथा और भी भद्दी संस्कृत के पद्य भी दिये हुए हैं।

उक्त नवीन सिद्धान्त का सारांश बहुसंख्याक **प्रज्ञापारमिताओं** में भी दिया गया है, जिनके ७०० से १००००० 'श्लोकों' में,[६] अर्थात् गद्य में बत्तीस अक्षरों की लम्बाई की इकाइयों में, पाठ उपलब्ध हैं। इनमें केवल इसी बात पर बल दिया गया है कि बुद्ध की बोधि का, जो कि पारमिताओं, पूर्णताओं, में सर्वोत्कृष्ट है, स्वरूप प्रत्येक वस्तु की शून्यता के समझ लेने में ही है। उनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध **वज्रच्छेदिका**[७] है, जिसका प्रचार मध्यएशिया,[८] चीन और जापान में

---

१. Ed. Calcutta, 1900; London, 1925.
२. Mitra, *Nep. Buddh. Lit.*, pp. 81 ff.
३. Mitra, उपरि-निर्दिष्ट ग्रंथ में, pp. 207-21.
४. Ed. Calcutta, 1898.
५. Ed. L. Finot, BB. ii. 1901.
६. Ed. BI. 1902 ff. Trans. 405 से प्रथम. **अष्टसाहस्रिका**, BI. 1888.
७. Ed., Oxford, 1881; trans. SBE. xlix.
८. Leumann; *Zur nordarischen Sprache*, pp. 56 ff., 84 ff.

हुआ था। जापान में **प्रज्ञापारमिताहृदय** और **वज्रच्छेदिका** **शिन-गोन** (Shin-gon) सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ माने जाते हैं।

प्रज्ञापारमिताओं में व्यक्त किये गये विचारों का कहीं अधिक अच्छी तरह प्रतिपादन नागार्जुन के **माध्यमिकसूत्र**[१] में किया गया है। वे कदाचित् दक्षिण भारत के ब्राह्मण प्रतीत होते हैं, जिन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। उनका शून्यवाद अथवा नास्तित्ववाद, वेदान्त के समान, दो प्रकार के सत्यों को मानता है, एक तो परमार्थ सत्य जिसका पर्यवसान परस्पर विरोध के कारण समस्त विचारों की शून्यता में होता है, और दूसरा निम्नतर कोटि का सत्य जो व्यावहारिक जीवन की यथार्थता को मान लेता है। नागार्जुन को अश्वघोष का परवर्ती समकालीन माना जा सकता है। उक्त ग्रन्थ पर उनकी अपनी ही व्याख्या तिब्बती भाषा में उपलब्ध है; यही बात बुद्धपालित और भावविवेक की व्याख्याओं की है; सातवीं शताब्दी ई० के चन्द्रकीर्ति की टीका संस्कृत में उपलब्ध है। **धर्मसंग्रह**[२], जिसमें पारिभाषिक शब्दों का संग्रह है, और एक **सुहृल्लेख** जो तिब्बत में उपलब्ध है, ये दोनों ग्रन्थ भी नागार्जुन के बतलाए जाते हैं। आर्यदेव के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं।

विज्ञानवादी प्रस्थान का प्रतिपादन असङ्ग के **बोधिसत्त्वभूमि**, **योगाचार-भूमिकाशास्त्र**[३] का भाग, और पद्यात्मक पर टीकारहित **महायानसूत्रालंकार**[४] में पाया जाता है। उनके भाई वसुबन्धु ने **गाथासंग्रह** और **अभिधर्मकोश**[५] की रचना की थी। **अभिधर्मकोश** की यशोमित्र द्वारा संस्कृत में लिखी हुई व्याख्या उपलब्ध है। यह ग्रन्थ हीनयान की सर्वास्तिवादी तथा दूसरी शाखाओं के मन्तव्यों के ज्ञान के लिए हमारे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोतों में से एक है। महायान धर्म के स्वीकार कर लेने पर उन्होंने अनेक व्याख्याएँ लिखीं; कारिकाओं में लिखी हुई एक छोटी कविता तिब्बती भाषा से भाषान्तरित की गई है। उनकी **परमार्थसप्तति** में सांख्य दर्शन का खण्डन किया गया है। चन्द्रगोमी की अनेक रचनाओं में से केवल एक कविता हमें उपलब्ध है; और शान्तिदेव एक गद्यात्मक ग्रन्थ **शिक्षासमुच्चय**[६] के

---

१. Ed. de la Vallée Poussin, BB. iv.
२. Ed. Oxford, 1885.
३. U. Wogihara, *Asaṅga's Bodhisattvabhūmi* (1908).
४. Ed. and trans. S. Lévi, Paris, 1907-11.
५. Trans. de la Vallée Poussin, 1918 ff.
६. Ed. C. Bendall, BB. i. 1902; trans. London, 1922.

ग्रन्थकार हैं, जिसका उसमें दिये हुए उद्धरणों की बड़ी संख्या के कारण विशेष मूल्य है। परन्तु इसमें उनके **बोधिचर्यावतार** की वास्तविक योग्यता का नितरां अभाव है।

बौद्ध धर्म के स्तोत्रों का निर्देश हम पहले ही कर चुके हैं; विभिन्न प्रकार के जादू के मन्त्रों के सदृश धारणीयों का उपयोग प्राचीन काल से ही होता हुआ दीखता है, क्योंकि वे चौथी शताब्दी के चीनी भाषान्तरों में पाई जाती हैं; कभी-कभी वे **मेघसूत्र** जैसे समुच्चयों में संगृहीत भी मिलती हैं। दार्शनिक सिद्धान्त भी इस रूप में संक्षिप्त कर दिये जाते थे, जैसे कि **प्रज्ञापारमिताहृदयस्तोत्र**[1] में, जो जापान में ६०९ से अब तक सुरक्षित है। धारणीयों के इस प्रकार के उपयोग में हम सामान्य हिन्दु धर्म के पूर्ण संस्पर्श में हैं, और तन्त्रों के सम्बन्ध में यही स्थिति और भी अधिक पाई जाती है। तन्त्रों का विषय कर्म-पद्धति और धार्मिक-संस्कार अथवा योग होता है। पहले प्रकार के तन्त्र सीधे-साधे और अहानिकारक हैं, और उनकी तुलना हिन्दुओं के कर्म-काण्ड के ग्रन्थों से की जा सकती है। **आदिकर्मप्रदीप**[2] इसी प्रकार का ग्रन्थ है। योग-विषयक तन्त्रों में जादू, कामवासना, और सामान्य तन्त्रों के ढंग पर गुप्त-विद्या का निरूपण होता है। उनमें सम्मिलित ग्रन्थ हैं: **कालचक्र**, जिसमें मक्का का उल्लेख है; **महाकाल**, जो बतलाता है कि गुप्तनिधि को कैसे ढूंढना चाहिए, स्त्री को कैसे प्राप्त करना चाहिए, शत्रु को कैसे पागल बना देना चाहिए अथवा उसको कैसे मार देना चाहिए; **तथागतगुह्यक**, जिसमें हाथियों, घोड़ों और कुत्तों के मांस के खाने का तथा चण्डाल लड़कियों के साथ सम्भोग का विधान किया गया है; **मञ्जुश्रीमूलतन्त्र**, जिसमें नागार्जुन के आगमन की भविष्यवाणी की गई है, और **संवरोदय**, जिसकी ध्वनि शैव है। **पञ्चक्रम**[3] के छः खण्डों में से पाँच वास्तव में नागार्जुन की कृति बतलाये जाते हैं, परन्तु, यतः उनमें से एक खण्ड शाक्यमित्र का बतलाया जाता है जिनका समय सम्भवतः लगभग ८५० ई० है, हम इन नागार्जुन की महान् दार्शनिक नागार्जुन से अभिन्नता का विचार छोड़ सकते हैं। उक्त ग्रन्थों का रूप ऐसा ही असन्तोषजनक है जैसा कि उनका विषय, तो भी उनके प्रभाव का निषेध करना कोई अर्थ नहीं रखता; जापान का **शिन-गोन** (Shin-gon) सम्प्रदाय तन्त्रों पर आधृत है।

---

१. Ed. Oxford, 1884.
२. de la Vallée Poussin, *Bouddhisme* (1898), pp. 177 ff.
३. de la Vallée Poussin, *Études* (1896).

८. जैन दर्शन

जैन दर्शन मूल में प्राकृत में था, पर संस्कृत भाषा के प्रयोग के लाभों को देख कर वह संस्कृत में भी विवश होकर लिखा जाने लगा। उमास्वाति के **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र**[१] के सूत्रों और टीका में जैन दर्शन का एक अतीव सावधान संक्षेप हम पाते हैं। उनके उदाहरण का विस्तृत ढंग से अनुसरण किया गया; सातवीं शताब्दी में समन्तभद्र ने **आप्तमीमांसा**[२] लिखी, जिस पर अकलङ्क ने व्याख्या की; कुमारिल ने दोनों का खण्डन किया, पर विद्यानन्द ने **आप्तमीमांसा** पर अपनी टीका में, और प्रभाचन्द्र ने, जो दिगम्बर जैन थे और जिनकी समाधि पर यह लेख है कि उनकी मृत्यु प्रायोपवेशन से हुई थी, अपने **न्यायकुमुदचन्द्रोदय** और **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में कुमारिल के विरुद्ध उन दोनों का समर्थन किया। शुभचन्द्र के **ज्ञानार्णव**[३] का समय लगभग ८०० है। आठवीं शताब्दी में अनेक ग्रन्थों के लेखक हरिभद्र ने **षड्दर्शनसमुच्चय** और **लोकतत्त्वनिर्णय**[४] ग्रन्थों की रचना की; इन दोनों ग्रन्थों का विशिष्ट रूप से जैन धर्म के साथ उतना सम्बन्ध नहीं है जितना कि उनके अन्य ग्रन्थों का। वे ग्रन्थ हैं: **योगदृष्टिसमुच्चय**, **योगबिन्दु**,[५] और **धर्मबिन्दु**,[६] जिसमें साधारण लोगों और साधुओं के लिए सदाचार का तथा निर्वाण के प्रसाद का निरूपण किया गया है। हेमचन्द्र के **योगशास्त्र** और अन्य ग्रन्थों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। उनकी **वीतरागस्तुति** पर मल्लिषेण ने १२९२ में **स्याद्वादमञ्जरी**[७] को लिखा था, जो जैन दर्शन पर एक महत्त्वपूर्ण रचना है। आशाधर के **धर्मामृत** का समय तेरहवीं शताब्दी बतलाई जाती है; इसमें अपने समस्त विषय का पूर्ण विवरण दिया गया है। परन्तु उनके समय के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे सुप्रसिद्ध कवि बिल्हण के समकालीन थे। पन्दरहवीं शताब्दी में सकलकीर्ति ने **तत्त्वार्थसारदीपिका** की रचना की, जिसमें दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पवित्र पुस्तकों का पूरा

---

१. Ed. BI. 1903-5; trans. H. Jacobi, ZDMG. lx. 287 ff., 372 ff., जो उनको ६०० ई० से पहले रखते हैं। S. C. Vidyabhusana (*Indian Logic*, pp. 168 f.) द्वारा इस ग्रन्थकार के लिए दी हुई परम्परानुसारी तिथि को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। See H. Von Glasenapp, *Der Jainismus* (1925).

२. Cf. Fleet, EI. iv. 22 ff.

३. Weber, *Berlin Catal.*, ii. 907 ff.

४. Ed. and trans. L. Suali, GSAI. xviii. 263 ff.

५. Ed. Bhavnagar, 1911.

६. Ed. and trans. GSAI. xxi. 223 ff.

७. Ed. Benares, 1900.

वर्णन दिया हुआ है। उन्हीं की दूसरी रचना **प्रश्नोत्तरोपासकाचार** है, जिसमें प्रश्न और उत्तर के रोचक ढंग से साधारण उपासकों के आचार का निरूपण किया गया है।

दूसरे ग्रन्थों का, यद्यपि वे जैन धर्म के उपदेश के अभिप्राय से लिखे गये हैं, अधिक गहरा सम्बन्ध अपेक्षाकृत साहित्य के अधिक संकुचित अर्थ में उसकी शाखाओं से है, और इनका, जैसे कि सिद्धर्षि की **उपमितिभवप्रपञ्चा कथा** का और अमितगति के **सुभाषितसन्दोह** तथा **धर्मपरीक्षा** का, वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। बहुसंख्यक चरित्रों, मुनियों के आख्यानों का, जिनमें कुछ संस्कृत में हैं, निर्देश करना आवश्यक है। यही बात पुराणों के विषय में है, जिनमें सम्मिलित हैं: जिनसेन का **हरिवंशपुराण** (७८४) और दूसरे जिनसेन का **आदिपुराण**; इन जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने **आदिपुराण** की पूर्ति में **उत्तरपुराण** लिखा था, जिसमें ऋषभ के पश्चात् आने वाले तीर्थंकरों की जीवनियां दी गई हैं। इसी विषय को ८९८ में लोकसेन ने आगे बढ़ाया। चौदह सर्गों में काव्यशैली में लिखा गया शत्रुंजय पर्वत का प्रशस्तिरूप **शत्रुंजयमाहात्म्य** बहुत पीछे की रचना है। रविषेण का **पद्मपुराण** लगभग ६६० ई० का बतलाया जाता है।

दर्शन के प्रति जैनियों की देन, जहां तक वह मौलिक थी, इस प्रयत्न के रूप में है कि जो स्थिर वस्तु है और जो अस्थिर है उन दोनों के विरोध का समाधान कैसे किया जाय। उनका समाधान इस रूप में है कि एक स्थिर सत्ता के रहते हुए भी, वह बराबर परिवर्तनशील है। यही सिद्धान्त न्याय में प्रसिद्ध स्याद्वाद का रूप धारण कर लेता है। इस वाद को मूलतः इस रूप में कह सकते हैं कि एक अर्थ में किसी बात को कहा जा सकता है, जबकि दूसरे अर्थ में उसी का निषेध भी किया जा सकता है। परन्तु जैन दर्शन का कोई गम्भीर विकास नहीं हो सका, क्योंकि यह आवश्यक समझा गया कि जैन दर्शन जिस रूप में परम्परा से प्राप्त था उसको वैसा ही मान लेना चाहिए, और इस अवस्था में उसे बौद्धिक आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता था।

९. चार्वाक अथवा लोकायत

प्राचीन भारत में भौतिकवादी वर्त्तमान थे, इस विषय में हमें सन्देह नहीं करना चाहिए, यद्यपि यह विचित्र बात है कि व्याख्या द्वारा लोकायत दर्शन के महत्त्व को कम करने के प्रयत्न किये गये हैं[1]। लोकायत दर्शन की समानरूप से बौद्धों

---

१. Jacobi, GGA. 1919, p. 22.

ौर ब्राह्मणों ने ऐसा मान कर निन्दा की है कि वह मूल में केवल सामान्य बुद्धि का एक लोक-प्रिय दर्शन है। इन भौतिक-वादियों के कोई भी ग्रन्थ परम्परया हम तक नहीं आने दिये गये हैं; हमें उनके विरोधियों द्वारा तैयार किये गये उनके सिद्धान्तों के केवल संक्षेप ही प्राप्त हैं। उन संक्षेपों से हमें ज्ञात होता है कि वे रसायन-विज्ञान के दृष्टान्तों से पृथिव्यादिभूतों से ही चैतन्य की उत्पत्ति को सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे, और उनका कहना था कि यतः शरीर की उत्पत्ति इस प्रकार होती है, उस दशा में मृत्यु के अनन्तर शरीरोच्छेद के हो जाने पर, चैतन्य या आत्मा का भी उपराम हो जाता है। इसलिए वे केवल शारीरिक सुख को ही पुरुषार्थ मानते थे, और ऐसे सिद्धान्तों की हँसी उड़ाते थे कि यज्ञ करने वाले अथवा लोभी और धूर्त्त पुरोहितों को दक्षिणा देने वाले परलोक में पुरस्कार रूप में सुख का उपभोग करते हैं। उन पुरोहितों के वेदों और यज्ञादि कर्मकाण्ड को वे उनकी आजीविका के केवल छलयुक्त साधन कहकर निन्दा किया करते थे। इसमें सन्देह नहीं है कि बृहस्पति के नाम से इस विषय के ग्रन्थ प्रचलित थे; प्राचीन-परम्परावादी आस्तिक लोगों में असुरों के गुरु के रूप में बृहस्पति बदनाम थे। ऐसे कुछ वचन जिनको हम आसानी से चार्वाक मत से सम्बद्ध कह सकते हैं उक्त ग्रन्थों में से किसी-न-किसी से आये हुए हो सकते हैं।[१] इस दर्शन या मत के लिए प्रयुक्त चार्वाक शब्द इसी नाम के आचार्य के कारण हो सकता है, अथवा यह शब्द किसी प्रसिद्ध नास्तिक का, जो उक्त मत का चाहे एक सदस्य न भी रहा हो, एक निन्दात्मक कल्पित नाम हो सकता है। परन्तु उक्त मत के लेखों की विस्मृति बहुत कर के उस वास्तविक महत्त्व के बिलकुल अनुरूप नहीं है जो कि उसको प्राप्त था।

१०. दर्शन के इतिहास—लेखक

भारतीय दर्शन के इतिहास के लिखने का भारत में कभी प्रयत्न नहीं किया गया; अधिक से अधिक जो काम किया गया वह था—दर्शनों का उनकी समानताओं के कारण वर्गीकरण, और विरुद्ध विचारों का इस इच्छा पर आधृत वर्णन कि इस उपाय से किसी एक या दूसरे सिद्धान्त का उत्कर्ष सिद्ध किया जा सकता है। पूर्व-मीमांसा और वेदान्त, सांख्य और योग, और न्याय और वैशेषिक इस प्रकार दो-दो में वर्गीकृत, और परम्परावादी रूप में माने गये, क्योंकि वे वेद को प्रामाणिक स्वीकार करते हैं, षड्-दर्शनों का सामान्य विचार निश्चित रूप से प्राचीन नहीं है, यद्यपि इन छः का एक रेखाचित्र सिद्धर्षि की **उपमिति-भव-प्रपञ्चा कथा** (९०६

१. Hillebrandt, *Festschrift Kuhn*, pp. 14 ff.; ERE. viii. 403 f.

ई०) में पाया जाता है। हरिभद्र के आठवीं शताब्दी में लिखे हुए **षड्दर्शनसमुच्चय**[1] में बौद्ध विचार, न्याय, सांख्य, वैशेषिक, और पूर्वमीमांसा तथा जैन अध्यात्मविद्या का, और बहुत संक्षेप में चार्वाकीय विचारों का निरूपण है। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि छः की संख्या परम्परा प्राप्त थी, परन्तु उसका अर्थ कड़ाई के साथ निश्चित नहीं था। **सर्वदर्शनसिद्धान्तसंग्रह**[2] में, जिसको भूल से शंकर-कृत समझा जाता है, हम लोकायतिक, जैन-दर्शन, माध्यमिक योगाचार सौत्रान्तिक और वैभाषिक ये बौद्ध प्रस्थान, वैशेषिक, न्याय, प्रभाकर और कुमारिल के अनुसार पूर्वमीमांसा, सांख्य, पतञ्जलि, वेदव्यास अर्थात् महाभारत, और वेदान्त, जो कि स्वयं ग्रन्थकार का मत है, इन सबका वर्णन पाते हैं। उसका समय संदिग्ध है, परन्तु **भागवतपुराण** उसको ज्ञात है जबकि रामानुज उसमें उपेक्षित हैं, और उसमें तुर्कों का तथा-कथित[3] उल्लेख अनिश्चित है। सुप्रसिद्ध **सर्वदर्शनसंग्रह** सम्भवतः उससे परवर्ती है; इसमें जिन दर्शनों का निरूपण किया गया है उनको आपेक्षिक भ्रान्ति के दृष्टिकोण से क्रमबद्ध किया गया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ चार्वाकों से होता है; उनके बाद दिये गये दर्शनों का क्रम इस प्रकार है: बौद्ध, जैन, रामानुज—एक प्रतिद्वन्द्वी दर्शन पर यहाँ बहुत ही स्पष्ट प्रहार है, विभिन्न शैव दर्शन, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा, पाणिनिदर्शन, सांख्य, और योग। ऐसा लगता है कि वेदान्त-विषयक परिच्छेद मूलग्रन्थ का भाग नहीं था, अपि तु पीछे से जोड़ दिया गया है, संभवतः ग्रन्थकार के पिता सायण द्वारा, यदि ग्रन्थकार सायण के पुत्र, भाई नहीं, माधव[4] हैं। ग्रन्थकार-विषयक यह विचार केवल कल्पना-मूलक है और कभी-कभी यह ग्रन्थ सायण का ही बतलाया जाता है। ग्रन्थ का समय चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। **सर्वमतसंग्रह**[5] के ग्रन्थकार और समय का पता नहीं है। इसमें तीन अवैदिक दर्शनों के सांमुख्य में तीन वैदिक दर्शन रखे गये हैं। जैन, बौद्ध और भौतिक-वादियों के मतों का वर्णन करने के अनन्तर यह वैशेषिक और न्याय का

---

१. Ed. L. Suali, BI. 1905 ff.

२. Ed. and trans. M. Raṅgācārya, Madras, 1910.

३. Jacobi, DLZ. 1921, p. 724. इसके विरोध में दे० Liebich, DLZ. 1922, pp. 100 f.

४. Cf. R. Narasimhachar, IA. xlv. 1 ff., 17 ff. परन्तु यह सिद्ध नहीं हुआ है, और सायण के पुत्र का नाम मायण है। इस ग्रन्थ का संपादन १९०८ में कलकत्ता में हुआ था; AnSS. 51, 1906; Poona, 1924; trans. E.B. Cowell and A. E. Gough, London, 1894.

५. Ed. TSS. 62, 1918.

तर्क के रूप में, सेश्वर और अनीश्वर सांख्य का, और मीमांसा के रूप में मीमांसा और वेदान्त का वर्णन करता ह।

११. ग्रीस और भारतीय दर्शन

भारतीय और ग्रीक दर्शन में सादृश्यों का अनुसन्धान अपना मूल्य रखता है। परन्तु यह संदिग्ध है कि उन सादृश्यों के आधार पर किसी भी ओर आदान का निष्कर्ष निकालना कहाँ तक बुद्धियुक्त है। वेदान्त और Elea (दक्षिण इटली का एक ग्रीक नगर) के दार्शनिकों तथा Plato का सादृश्य ध्यान देने योग्य है, परन्तु यह बात यहीं समाप्त हो जाती है। यह दावा भी कि Pythagoras ने अपने दार्शनिक विचारों को भारत से सीखा था, यद्यपि इसको अधिकतया स्वीकार किया जाता है, अत्यन्त दुर्बल आधारों पर आश्रित है।[१] ग्रीस पर सांख्य के विस्तृत प्रभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न अंशतः इस विश्वास पर निर्भर है कि उसका समय अतीव प्राचीन है, और यदि, जैसा हम देख चुके हैं, यह सन्दिग्ध है, तो इस बात को बलपूर्वक कहना असम्भव है कि Herakleitos, Empedokles, Anaxagoras, Demokritos, और Epikuros पर प्रभाव की सम्भावना अप्रतिषेध्य है। परन्तु जो बात निश्चित है वह यह है कि किसी विवरण में ऐसा सन्तोषप्रद सादृश्य कोई नहीं है जिसके आधार पर इन कल्पनाओं को केवल अटकल लगाने के क्षेत्र से ऊपर उठाया जा सके। भारतीय विचार का 'नास्टिकों'[२] (Gnostics) और 'नेओप्लैटोनिस्टों' (Neoplatonists) पर प्रभाव अधिक सम्भावित माना जा सकता है, और इसकी उपेक्षा कर देना अन्याय्य होगा। परन्तु इस पर ध्यान देना आवश्यक है कि 'नेओप्लैटोनिज़म' स्पष्टतः ग्रीक दर्शन का एक वैध्र और स्वाभाविक विकास है, और यह कि जो कुछ उसमें भारतीय विचार के सदृश है उसकी व्याख्या सरलता से ग्रीक दर्शन से की जा सकती है; विशेष बातों में उल्लेखनीय सादृश्य का अभाव है, क्योंकि जो कोई बात प्रस्तुत की गई है वह स्पष्टतः संतोषप्रद होने से बहुत दूर है, और अंशतः ग्रीस में पाये जाने से पहले उसकी भारत

---

१. दे० Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, Chap. xxix; JRAS. 1909, pp. 579 ff.

२. Cf. Kennedy, JRAS. 1907, pp. 477 ff.; Legge, *Forerunners and Rivals of Christianity*, ii; I. Scheftelowitz, *Die Entstehung der manichäischen Religion* (1922); Lévi, RHR. xxiii. 45 ff.; E. de Faye, *Gnostiques et Gnosticisme* (1925); Wesendonk, *Urmensch und Seele in d. iran. Überlieferung* (1925); L. Troja, *Die Dreizehn und die Zwölf im Traktat Pelliot* (1925): F. C. Burkitt, *The Religion of the Manichees* (1925): *Festgabe Garbe*, pp. 74-7.

में स्थिति सिद्ध नहीं की जा सकती। 'नास्टिकों' (Gnostics) की बात[1] अधिक अस्पष्ट है, और उसमें इस तथ्य से जटिलता आ जाती है कि पर्शिया में भारतीय सिद्धान्त का निस्सन्देह बड़ा प्रभाव था, परन्तु उन विचारों को भारत से सम्बद्ध कहना जिनका उद्‌गम पर्शिया या एशिया माइनर से नहीं हुआ था अत्यन्त कठिन है। 'एओन' (Aion) के सिद्धान्त (doctrine of the Aion) का संवत्सर के, जिसकी प्रजापति से अभिन्नता स्थापित की जाती है, सम्बन्ध में ब्राह्मणों की कल्पनाओं से ऐतिहासिक सम्बन्ध जोड़ना आकर्षक हो सकता है, परन्तु इस प्रकार के विचार उतनी ही अच्छी तरह से ईरानी माने जा सकते हैं जैसे कि भारतीय, और वे भारतीयों और ईरानियों दोनों के समान दाय के अंश हो सकते हैं। वास्तव में इस प्रकार की कल्पनाओं में हम ऐसे क्षेत्र में पहुँच जाते हैं जिसमें वस्तुतः कार्यक्षम प्रमाणों का अभाव होता है। इसी प्रकार भारतीय न्याय के मूल को अथवा उसके विकास पर प्रबल प्रभावों को[2], अथवा जैनों और वैशेषिक दर्शन द्वारा स्वीकृत परमाणु-सिद्धान्त के स्रोत को भी ग्रीस में ढूंढ़ने के विषय में बहुधा किये गये सुझावों के पक्ष में भी और अधिक कहना सम्भव नहीं है। हम ऐसे प्रभावों को युक्ति-युक्त मान सकते हैं, परन्तु हमें स्वीकार करना चाहिए कि उनके पक्ष में वास्तविक प्रमाण का अभाव है। यदि भारत ने आदान किया था, तो वह अपने ऋणित्व को अपना निजी विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने की क्षमता भी रखता था; साथ ही उन विषयों से जिनमें भारतीय आदान निस्संदिग्ध है उपर्युक्त विषय में उसके ऋणित्व के विरोध में एक विशेष तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है; खगोल-विद्या और फलित ज्योतिष के सम्बन्ध में आदान का प्रमाण पूर्णतः संतोषजनक है, और दर्शन के सम्बन्ध में यदि आदान वास्तविक होता, तो हम सन्देह कर सकते हैं कि क्या वह इस प्रकार सफलतापूर्वक छिपाया जा सकता था।

परन्तु दोनों पालि और संस्कृत के ग्रन्थों में पाये जाने वाले बौद्ध आख्यानों को लेकर ईसाइयों की इंजील और उसके खिलात्मक (apocryphal) भागों में उपलब्ध घटनाओं को भारत से लिया हुआ सिद्ध करने के लिए विशेष बलपूर्वक प्रयत्न किया गया है। उक्त तर्क की पुष्टि प्राचीन-विधान (Old Testament) के अन्तिम-भाग (hagiographa) के आख्यानों से, विशेषकर Barlaam और Josaphat की कहानी से, भी होती है, क्योंकि सामान्य रूप से यह माना

१ Cf. Weber, SBA. 1890, p. 925; on Basilides, Kennedy, JRAS. 1902, pp. 377 ff.

२. Cf. S. C. Vidyabhusana, JRAS. 1918, pp, 469 ff.; *Indian Logic*, pp. 497 ff.

जाता है कि बोधिसत्त्व ही वह चरित्र (figure) है जिससे Josaphat का निकास हुआ है। परन्तु इस चरित्र के अतिरिक्त उक्त आख्यानों में सादृश्य स्पष्टतः अतीव थोड़ा है, और उक्त कथा के परवर्ती काल से यह बात अत्यन्त सम्भावित हो जाती है कि भारत का सम्बन्ध केवल दूर का है।[1] यह नितरां सम्भावित है कि बोधिसत्त्व का चरित्र मुसलमानी काल में पर्शिया की विचारधारा द्वारा गृहीत किया गया, उसे एक आदर्श सूफ़ी में परिवर्तित किया गया, वहाँ से उसे बग़दाद और सीरिया ले जाया गया, जहाँ ईसाइयों के हाथों उसको एक 'सेन्ट' (सन्त) के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। दूसरे उदाहरण कहीं कम ग्राह्य हैं;[2] मानुषादी राक्षस Christophoros की ठीक-ठीक तुलना बोधिसत्त्व को ले जाने वाले ब्रह्मदत्त से नहीं की जा सकती; परस्पर सम्बन्धी समझे जाने वाले आख्यानों में जो चरित्र हैं उनमें कुछ समानता नहीं है, और ऐसी कल्पना बरबस करनी पड़ती है कि विचार के स्थानान्तरण का कारण अन्यथा समझा हुआ चित्रगत रेखांकन था। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि Christophoros के आख्यान की व्याख्या उसे अधिक बलशाली की लोक-कथा—सबसे अधिक बलवान् कौन है इसको जानने का प्रयत्न—का एक रूपान्तर मान कर और नामों की काल्पनिक व्याख्याओं के रूप में की जा सकती है। इसी प्रकार, Placidas के आख्यान को, जो एक मृग के अनुसरण के फलस्वरूप पवित्रात्मा Eustachios बन जाता है, अपनी पत्नी और बच्चों को खोकर फिर पा लेता है, उस मृग के जातक के साथ जो एक राजा के स्वभाव में परिवर्तन ला देता है, उस स्त्री के जातक के साथ जिसके बच्चे नष्ट हो गये थे, और वेस्सन्तरजातक के नायक के कष्टों के साथ, मिला कर उनमें सादृश्यप्रदर्शन का प्रयत्न स्पष्टतः भ्रान्ति-जनक है। उक्त आख्यानों के आवश्यक भागों का सम्बन्ध कल्पित कथा अथवा लोककथा के क्षेत्र से है, और आदान के पक्ष में उनमें कोई साक्ष्य नहीं है।

इंजील के वृत्तान्तों की स्थिति भी इससे अच्छी नहीं है।[3] एक कुमारी से क्राइस्ट के जन्म की तुलना बुद्ध के जन्म से नहीं की जा सकती है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों

---

१. दे० Günter, *Buddha*, pp. 32 ff. Cf. Kuhn, *Barlaam and Joasaph* (1894).

२. Günter, उपरि-निर्दिष्ट ग्रन्थ में, pp. 8 ff.; Kennedy, JRAS. 1917, pp. 213 ff.; 504 ff.

३. Günter, उपरि-निर्दिष्ट ग्रन्थ में, pp. 74 ff. Cf. Winternitz, GIL. ii. 277 ff.; Garbe, *Indien und das Christentum*; Kennedy, JRAS. 1917, pp. 508 ff. वे बुद्ध के यौवन और शिशु कृष्ण दोनों के सम्बन्ध में पश्चिम से आदान का समर्थन

में कहीं भी उनकी माता को एक कुमारी के रूप में नहीं दिखाया गया है, और उनके जन्म और मृत्यु दोनों के साथ होने वाली आश्चर्य-जनक घटनाएँ महापुरुषों के, चाहे वे दिव्य हों या अंशत: मानव हों, आविर्भाव की सामान्य बातें हैं। मार का प्रलोभन भी मानव-जातीय (ethnic) अथवा भारत-यूरोपीय है, जैसा कि पारसी-धर्म में दुष्ट आत्मा (evil spirit) द्वारा अहुर के प्रलोभन में देखने में आता है। देव-मूर्त्तियों का आख्यान, जो कि ईजिप्ट में शिशु क्राइस्ट के सामने तोड़ दी जाती हैं, स्पष्टत: Isaiah की भविष्य-वाणी को पूर्ण करने वाला है; **ललितविस्तर** में वे सम्मान करने के लिए केवल अवनत हो जाती हैं, क्योंकि बुद्ध का आगमन देवताओं के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए नहीं है, वे बुद्ध से कम महत्त्व रखते हैं, पर झूठे नहीं हैं। इसी प्रकार, वर्णमाला के समझाने में शिश क्राइस्ट और शिशु बुद्ध का चातुर्य एक साधारण विचार है, और दोनों के साथ उनके गुरुओं का बर्ताव बिलकुल एक दूसरे से भिन्न है; बुद्ध का गुरु सम्मान-प्रदर्शन में उनके सामने नमस्कार करता है, और क्राइस्ट का गुरु उनको ताड़ना देता है और उनके सामने केवल इस कारण गिर पड़ता है क्योंकि क्राइस्ट उसको शाप देते हैं। इसी प्रकार का अन्तर शिशु क्राइस्ट के प्रति जंगली जानवरों की आज्ञानुवर्तिता और उनके प्रति बुद्ध की परोपकारिता में है; यह भेद विभिन्न जाति के लोगों के मनों के मनोविज्ञान के भेद के अनुकूल है। मानवीय चित्त के सादृश्य से ही हम इसकी व्याख्या कर सकते हैं कि ईजिप्ट की यात्रा में मैरी (Mary) की क्षुन्निवृत्ति के लिए खजूर-वृक्ष क्यों अवनत हो जाता है, और **वेस्सन्तर-जातक** में अभागे परिवार को इसी प्रकार क्यों भोजन प्राप्त होता है। बुद्ध और क्राइस्ट के जन्म के समय प्रकृति का निद्रावस्था में होना एक प्राचीन 'अभिप्राय' (motif) है; यही ऐन्द्रजालिक निद्रा का अभिप्राय सुप्तावस्थापन्न सौन्दर्य की कहानियों के सम्पूर्ण चक्र में बार-बार दृष्टिगोचर होता है। **ललित-विस्तर** में शिशु बुद्ध की और क्राइस्ट की भावी माता की सप्त-पदी (या सात क़दम) भी मानव-जातीय है। रोटियों और मछलियों (loaves and fishes) की आश्चर्यमयी घटना की तुलना बुद्ध द्वारा ५०० भिक्षुओं को भोजन

करते हैं और आपातत: अच्छे रूप में अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हैं, परन्तु उसे सिद्ध नहीं कर पाते। गर्भावस्था का काल (दस मास), वृक्ष का अभिप्राय (Leto और Apollo), जन्मते ही बोल उठना (Zoroaster का हास्य और Vergil का ग्राम्य-गीत), इनके सादृश्य के लिए दे० Printz, ZDMG. lxxix. 119 ff. कला-विषयक—ग्रीक प्रभाव परन्तु तदनन्तर भारतीय प्रतिक्रिया—साक्ष्य के लिए, दे० Foucher, *L'Art Gréco-Bouddhique*, ii. 564 ff., 787 ff.

कराने के साथ की गई है, परन्तु ऐसे ऐन्द्रजालिक भोजन साधारण बातें हैं। पानी पर पीटर (Peter) के चलने के आख्यान का एक बौद्ध सादृश्य वर्तमान है, पर इस उदाहरण में समय-गत साक्ष्य बहुत-कुछ क्रिश्चियन कहानी की पूर्ववर्तिता के पक्ष में है। इसी प्रकार, विधवा की कपर्दिका (mite) का सादृश्य भारत में परवर्ती-काल से पहले उपलब्ध नहीं होता है,और उस पुत्र के दो वर्णनों में, जो पहले खो गया था और फिर मिल गया था, वास्तविक समानता बहुत ही कम है। Simeon के आख्यान और असित के आख्यान में परस्पर सादृश्य पर बड़ा बल दिया गया है, परन्तु इसका औचित्य बिलकुल नहीं दीखता; उनके अन्तर बड़े-बड़े हैं, और उनमें से प्रत्येक की कल्पना में कुछ ऐसी निजी स्वाभाविकता दिखाई पड़ती है जो मानवीय चित्त के सादृश्य को प्रमाणित करती है।[१] इस तथ्य-मात्र को हम और भी कम गम्भीरता से ले सकते हैं कि शिशु बुद्ध गम्भीर ध्यान की मुद्रा में प्राप्त हुए थे जबकि शिशु क्राइस्ट देव मन्दिर में गुरुओं से बातचीत करने के लिए रुक गये थे; क्रिया का उपरि-निर्दिष्ट भेद दोनों सभ्यताओं के भेद के स्वरूप के अनुरूप है। इसी प्रकार मैरी (Mary) के भगवत्प्रसाद-युक्त होने या कल्याण के विषय में एक स्त्री की घोषणा में और बुद्ध की माता द्वारा किये गये वैसे ही कथन में, इस बात को यदि छोड़ भी दिया जाय कि यहाँ पश्चिम की कथा दूसरी कथा से कहीं अधिक प्राचीन है, पारस्परिक सम्बन्ध थोड़ा है, और यदि एक देवता या आत्मा को क्राइस्ट या बुद्ध की सहायता करनी है, तो यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वह उस समय की जाय जब कि वे उपवास में हों। इसी प्रकार बौद्ध, जैन और ब्राह्मण सन्तों के आख्यानों में तथा क्रिश्चियन पुण्यात्माओं[२] के आख्यानों में बराबर ऐसे सादृश्य उपलब्ध होते हैं जिनका उदय उस तपस्वी जीवन के स्वभाव से ही होता है जिसके गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर समझा जाता है, पाप के प्रति जिसमें घृणा रहती है, और पाप से बचने के प्रयत्न में जो सतत तत्पर है। इस प्रकार हम तात्कालिक और पूर्ण स्वभाव-परिवर्तन के उदाहरणों को पाते हैं; लुटेरे अङ्गुलिमाल के सदृश पुण्यात्मा बन जानेवाले पापात्मा मनुष्यों के; सन्त को पथभ्रष्ट करने के लिए स्त्रियों के प्रयत्नों के; ऐसी स्त्रियों के भी जो मनुष्यों के समान तपस्वी जीवन व्यतीत करना चाहती हैं; दूसरों के लिए अपने को बेंच कर दास्य में डालने के; शारीरिक सौन्दर्य के प्रेम को रोकने

---

१. Cf. O. Wecker, *Christus und Buddha*, pp. 15 ff,; K. Beth, DLZ. 1915, p.898. Kennedy (JRAS. 1917, pp. 523 ff.) के मत में असित-आख्यान क्रिश्चियन आख्यान से पीछे का है।

२. Cf. Günter, उपरि-निर्दिष्ट पुस्तक में, chap. ii.

के लिए एक आँख के परित्याग के; यह समझ लेने से कि वह देवता जिसके लिए पशु-बलि दी जाने को थी उस पशु की भी रक्षा नहीं कर सकता, एक ब्राह्मण के धर्म-परिवर्तन के, इसी तरह और भी उदाहरणों को पाते हैं। विभिन्न जाति के लोगों में विचार की समानता के लिए अधिक गुंजायश देनी चाहिए। चौथी शताब्दी ई० पू० के ताओ-धर्म (Taoism) के अनुयायी Chuang Tse और कैल्डेरोन (Calderon) और शेक्सपियर (Shakespeare) में विचित्र और प्रकाश-प्रद सादृश्यों को बतलाया गया है, जिनकी आदान-मूलक व्याख्या नहीं की जा सकती है।[1]

---

१. Cf. A, Forke, *Die indischen Märchen*, pp. 46 ff.; cf. Kennedy, JRAS. 1917, p. 216, n. 1.

२६
आयुर्वेद
१. भारतीय आयुर्वेद का विकास

साधारण लोगों में भैषज्य-कला के व्यवहार के पूर्ववर्ती अथवा सहवर्ती जादू-टोना के अस्तित्व का पुष्कल साक्ष्य वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। बीमारी को उत्पन्न करने वाली रक्षस् आदि दुष्ट देवयोनियों का विश्वास, जिसकी अथर्ववेद और कर्मकाण्डीय पाठ्य-ग्रन्थों में प्रधानता है, भारतीय आयुर्वेद में भी सुरक्षित है, क्योंकि उसका एक विषय उक्त स्रोत से होने वाली बीमारियों की चिकित्सा भी है। पशु-याग के लिए सम्भवतः ऋत्विजों द्वारा बलि-पशुओं के बराबर विशसन (slaughter) के फलस्वरूप शरीर-रचना का अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था;[1] भ्रूण-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान से सम्बद्ध वैदिक विचारों का ज्ञान भी हमको है। परवर्ती परम्परा आयुर्वेद को, जिसको वैद्यशास्त्र अथवा आदर्श डाक्टर का विज्ञान भी कहा जाता है, अथर्ववेद का एक उपाङ्ग मानती है और उसके आठ प्रतिपाद्य वषय बतलाती है: **शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद-तन्त्र, रसायन-तन्त्र,** और **वाजीकरण-तन्त्र**। वेदाङ्गों, और इतिहास, पुराण, और वाकोवाक्य के साथ-साथ वैद्यक के भी निर्देश से पतञ्जलि इस शास्त्र के प्राचीन काल में अध्ययन को सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त, अनेक प्राचीन ऋषि-मुनियों के नाम भी उपलब्ध हैं जिन्होंने इस विषय की शिक्षा दी थी, जैसे आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश, और भेड। यद्यपि इन महान् व्यक्तियों के नाम से संहिताएँ उपलब्ध हैं, हमें युक्ति-पुरःसर निश्चय है कि प्रायेण वे संहिताएँ मौलिक ग्रन्थ नहीं हैं। यह बहुत सम्भव है, यद्यपि ठीक-ठीक अर्थों में यह सिद्ध नहीं है, कि आयुर्वेद-विषयक साहित्यिक रचनाओं के प्राचीनतम युग में ग्रन्थों को तन्त्र या कल्प कहा जाता था और वे संहिताओं के रूप में न होकर विशिष्ट प्रतिपाद्य विषयों पर व्यवस्थित निबन्धों (monographs) के रूप में होते थे। संहिताएँ अनेक विषयों के प्रतिपादक व्यापक ग्रन्थ होते हैं। उक्त ऋषियों में से आत्रेय को प्रायेण इस शास्त्र

---

१. **शतपथ-ब्राह्मण**, १०।५।४।१२; १२।३।२।३ f.; **अथर्ववेद**, १०।२। दे० J. Jolly, *Medicin* (1901); Girindranath Mukhopadhyay, *History of Indian Medicine and Surgical Instruments of the Hindus*, परन्तु जिनके विचार प्रायेण ग्राह्य नहीं हैं।

का प्रतिष्ठापयिता कहा जाता है. परन्तु ऐसा समझा जाता है कि चाणक्य (?)* ने भी आयुर्वेद पर रचना की थी।[1] बौद्ध परम्परा में जीवक का उल्लेख आता है, जिन्होंने आत्रेय से अध्ययन किया था और जो बच्चों के रोगों के विशेषज्ञ थे। **विनय-पिटक**[2] और दूसरे ग्रन्थों से प्रारम्भिक आयुर्वेद, शस्त्र-चिकित्सा के यन्त्र, उष्ण स्नानों का उपयोग, इत्यादि विषयों के विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है। निश्चय ही बौद्धों के लिए, जो समुदायों में एकत्र होकर रहा करते थे, अपने रुग्ण सदस्यों की देख-भाल का विचार करना प्रारम्भ से ही आवश्यक था।[3]

२: प्राचीनतर संहिताएँ

उपलब्ध संहिताओं में चरक के नाम से प्रसिद्ध संहिता[4] सबसे प्राचीन मानी जाती है। अनुश्रुति के अनुसार वे कनिष्क के वैद्य थे और एक कठिन बीमारी की संदिग्धावस्था में उनकी पत्नी को उन्होंने अच्छा किया था। दुर्भाग्य-वश ऐसी अनु-श्रुतियों के मूल्य के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, जबकि वे हमें परवर्तीकाल में प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त, हमें उक्त ग्रन्थ से ही ज्ञात है कि, अपनी वर्त्तमान अवस्था में, वह चरक की कृति नहीं है, क्योंकि दृढ़बल ने इसका संशोधन किया था। वे स्वयं कहते हैं कि अन्तिम दो अध्यायों (? स्थानों) को उन्होंने जोड़ा है और षष्ठ स्थान के २८ या ३० अध्यायों में से १७ अध्याय उन्हीं की कृति हैं। दृढ़बल को, जो एक काश्मीरी और कपिलबल के पुत्र थे, आठवीं या नवीं शताब्दी में रखा जाता है। अपने उपर्युक्त अधिक मूल्यवान् कार्य के साथ-साथ, उन्होंने **चरक-संहिता** का संशोधन किया और उसके पाठ को परिवर्तित भी किया; फिर भी वह बड़े असंतोष-जनक रूप में परम्परया हम को प्राप्त हुआ है। यह संहिता अपने मौलिक रूप में होने का दावा नहीं करती; ऐसा प्रतीत होता है कि भेड या भेल के सहपाठी और पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य अग्निवेश द्वारा विशिष्ट विषयों पर लिखे गये कुछ तन्त्रों का यह एक परिवर्त्तित अथवा प्रतिसंस्कृत रूप है। उक्त आधार पर ही कुछ लोगों का कहना है कि **भेल-संहिता चरक-संहिता** से प्राचीनतर है। अपने वर्त्तमान रूप में, **चरक-संहिता** के प्रथम भाग, **सूत्रस्थान**, में औषधादि रोग-प्रतीकार, भोजन, और वैद्य के कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया है; (२) **निदान स्थान** का सम्बन्ध आठ मुख्य

* यहाँ पाद-टिप्पण में दिये हुए Sănaq का संबन्ध, वास्तव में, चाणक्य से न होकर शौनक से प्रतीत होता है। (मं० दे० शास्त्री)

१. C. Zachariae, WZKM. xxviii. 206 f.; अरबी लेखक उनको Sănaq इस नाम से जानते हैं।

२. **महावग्ग**, ६।१-१४।; **मज्झिमनिकाय**, १०१ और १०५।

३. Cf. Takakusu, I-tsing, pp. 130 ff, 222 ff.; Jolly, ZDMG. Lvi, 565 ff.

४. Trans. Calcutta, 1890-1911; अनेक संस्करण निकल चुके हैं।

रोगों से है; (३) **विमान-स्थान** का सम्बन्ध सामान्य रोग-विज्ञान और आयुर्वेदिक अध्ययन से है; इसमें नवोपनीत छात्र के आचरण-सम्बन्धी नियम दिये गये हैं: उसे अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को अपने अध्ययन में लगाना चाहिए, अपने जीवन के लिए भय उपस्थित होने पर भी रोगी को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए, रोगी की स्त्री के प्रति अथवा उसकी वस्तुओं के प्रति बुरे विचार नहीं करने चाहिए, अपने आचार-व्यवहार में गम्भीर और संयत होना चाहिए, अपने रोगी को अच्छा करने में मनसा वचसा कर्मणा तत्पर होना चाहिए, रोगी के घर की प्रवृत्तियों को बाहर प्रकाशित नहीं करना चाहिए, रोगी के सम्मुख ऐसी कोई बात न कहने का ध्यान रखना चाहिए जिससे उसके स्वास्थ्य-लाभ में बाधा पड़ सकती है। (४) **शरीर-स्थान** में शरीर-रचना-विज्ञान और भ्रूण-विज्ञान का निरूपण किया गया है; (५) **इन्द्रिय-स्थान** में निदान और पूर्व-कथन अथवा साध्यासाध्यविचार (prognosis) का निरूपण है; (६) **चिकित्सा-स्थान** में विशिष्ट चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है; और (७) **कल्पस्थान** तथा (८) **सिद्धिस्थान** में सामान्य चिकित्सा का निरूपण किया गया है। परन्तु चरक, जिस रूप में वे हमारे सामने आते हैं, केवल आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थकर्ता से अधिक हैं; वे हमें दर्शन-विषयक अनेक बातों की सूचना देते हैं और सांख्य के एक रूप को उपबृंहित करते हैं जिसको भ्रम-वश प्राचीन मान लिया गया है, जबकि वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके कारण इसको ग्रन्थ में अपेक्षाकृत परवर्तीकाल में बढ़ाया हुआ अंश न माना जा सके। वे न्याय और वैशेषिक के विचारों से भी परिचित हैं, जिससे विशेष रूप से प्राचीन समय न होने का संकेत मिलता है।[1] ग्रन्थ का रूप यत्र-तत्र पद्यों से मिश्रित गद्यात्मक है, और, कदाचित् दृढबल द्वारा संशोधित होने के कारण, इसका स्वरूप भी एक अतीव प्राचीन ग्रन्थ का नहीं है। हमें विदित है कि बहुत-कुछ पुराने समय में इसको फ़ारसी भाषा में अनूदित किया गया था, और यह भी कि इसका एक अरबी अनुवाद ८०० के लगभग किया गया था।

सुश्रुत चरक के समान ही प्रसिद्ध हैं, और **बावर हस्तलेख** (Bower Manuscript) में हारीत और आत्रेय के साथ उनका भी उल्लेख है। **महाभारत**[2]

१. दासगुप्त (*Ind. Phil.*. i. 280 ff.) चरक की प्राचीनता (लगभग ८०ई.) सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु चीन में कही जाने वाली (Lévi, I A. xxxii. 282; WZKM. xi. 164) कनिष्क के साथ उनकी समानकालीनता यदि ठीक है, तो भी हमारे ग्रन्थ का समय संदिग्ध है। दृढबल पर दे० Hoernle, *Osteology*, p. 11; JRAS. 1908, pp. 997 ff.; 1909, pp. 857 ff.

२. xiii. 4. 55.

में उनको विश्वामित्र का एक पुत्र दिखलाया गया है; ऐसा भी समझा जाता है कि नागार्जुन ने[1] उनके ग्रन्थ का प्रतिसंस्कार किया था। किञ्च, चरक के समान, उनकी भी प्रसिद्धि भारत से बाहर हो गई थी, क्योंकि नवीं और दसवीं शताब्दियों में वे पूर्व में कम्बोडिया में और पश्चिम में अरब देश में सुप्रसिद्ध थे। परन्तु, चरक की तरह, उनके ग्रन्थ का स्वरूप भी ग्यारहवीं शताब्दी में चक्रपाणिदत्त की टीका की रचना से पहले तक सुनिश्चित नहीं हो पाता है। जैय्यट और गयदास की प्राचीनतर टीकाओं के विषय में हमें ज्ञान है, और चक्रपाणिदत्त के पश्चात् तेरहवीं शताब्दी के डल्लन[2] ने भी एक टीका लिखी थी। जैय्यट की टीका के आधार पर चन्द्रट द्वारा संशोधित सुश्रुत का एक पाठ भी उपलब्ध है।[3]

सुश्रुत-संहिता का प्रारम्भ **सूत्रस्थान** से होता है, जिसमें सामान्य विषयों का निरूपण किया गया है और ऐसा कहा गया है कि सुश्रुत के गुरु बनारस के राजा दिवोदास थे, जो स्वयं देवताओं के भिषक् धन्वन्तरि के अवतार थे। **निदान-स्थान** (२) में रोग-विज्ञान का उपबृंहण किया गया है; **शारीरस्थान** (३) में शरीर-रचना-विज्ञान और भ्रूण-विज्ञान का विषय है; **चिकित्सा-स्थान** (४) में रोग-चिकित्सा; **कल्पस्थान** (५) में विष-विद्या; और **उत्तरस्थान** में, जो स्पष्टतः पीछे से जोड़ा गया है, ग्रन्थ की शेष-पूर्त्ति की गई है। हेर्नले (Hoernle) का यह मत[4] कि अपेक्षाकृत पिछले काल का यह ग्रन्थ भी **चरक** और **भेल-संहिता** के समान प्राचीन है बिलकुल स्थापनीय नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसका आधार उनके इस भ्रान्त विचार पर है कि सुश्रुत के शरीर-रचना-सम्बन्धी विचार **शतपथ-ब्राह्मण** के ग्रन्थकार को विदित थे; यह ऐसा विचार है जिसका खण्डन किया जा चुका है।[5] इस बात पर ध्यान देना रोचक है कि सुश्रुत एक वैद्य से उत्कृष्ट सदाचार का पालन चाहते हैं; शिष्य का उपनयन द्विजत्व-प्राप्ति के लिए एक नव-युवक के विध्यनुसारी उपनयन पर आधृत है; उसे अग्नि की प्रदक्षिणा करनी पड़ती है, और उसको अनेक उपदेश दिये जाते हैं जिनमें शरीर और जीवन की पवित्रता सम्मिलित है; उसे लाल रंग का वस्त्र धारण करना पड़ता है—जिस विचार के

---

१. Cordier, *Récentes* Découvertes, p. 12.

२. Ed. Calcutta, 1891. दे० Hoernle, JRAS. 1906, pp. 283 ff.; Jolly, ZDMG. Lviii. 114 ff.; lx. 403 ff.

३. Eggeling, IOC. i. 928. Trans. Calcutta, 1907-16.

४. Hoernle, *Osteology*, pp. 8 ff.

५. Keith, ZDMG. Lxii. 136 ff.

अनेक सादृश्य मिलते हैं; उसके नख और केश छोटे-छोटे कटे हुए होने चाहिए; उसे चाहिए कि वह धर्मात्मा मनुष्यों, मित्रों, पड़ोसियों, विधवा, अनाथ, निर्धन और यात्रियों (अतिथियों) के साथ अपने सगे-सम्बन्धियों के समान व्यवहार करे, परन्तु अपनी विद्या के लाभ से शिकारियों, चिड़ीमारों, जाति-बहिष्कृतों, और पापियों को वञ्चित रखे।

भेल-संहिता[1] केवल एक अत्यन्त भ्रष्ट हस्त-लेख में सुरक्षित है। इसके विभाग **चरक-संहिता** के ही समान हैं, और जितना अंश सुरक्षित है वह मुख्यतया श्लोकों में है, जिनके साथ में कुछ सीमित गद्य सम्मिलित है। जिन अंशों में **चरक-संहिता** के साथ तुलना सम्भव है, वहाँ निःसन्देह रूप से **भेल-संहिता**, जिसको सुश्रुत की जानकारी है, एक हीनतर परम्परा को उपस्थित करती है। अस्थि-विज्ञान के सम्बन्ध में हेर्नले (Hoernle)[2] का मत है कि, चरक और भेल के संस्करणों (या वर्णनों) के अतिरिक्त, आत्रेय के प्रस्थान का एक तीसरा संस्करण (या वर्णन) **याज्ञवल्क्य-स्मृति, विष्णु-स्मृति, विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण** और **अग्नि-पुराण** में पाया जाता है; परन्तु इस सूची का **याज्ञवल्क्य-स्मृति** में उद्गम-स्थान मानना पूर्णतः अनिश्चित है। इसके अतिरिक्त, आत्रेय के मौलिक वर्णन के विषय में और उपर्युक्त पिछले काल के वर्णनों के साथ उसके सम्बन्धों के विषय में हेर्नले ने जिन निष्कर्षों को निकाला है वे मानव-शरीर की अस्थियों की ठीक संख्या और प्रकारों के विषय में आधुनिक ज्ञान के आधार पर सुझाये गये अत्यधिक संख्या के संशोधनों से दोषयुक्त हो जाते हैं ऐसा मानना पड़ता है।[3]

३. बावर हस्तलेख के आयुर्वेदिक अंश

१८९० में अपने अनुसन्धान-कर्ता के नाम से प्रख्यात काशगर से प्राप्त हस्त-लेख[4] में सन्निविष्ट आयुर्वेदिक अंशों (tracts) के समय के सम्बन्ध में हम कुछ निश्चितता तक पहुँच जाते हैं। प्राचीन-लिपि विज्ञान की दृष्टि से बहुत-कुछ निश्चय के साथ हम इसे चौथी शताब्दी ई० का मान सकते हैं, और इसके सात[5] निबन्धों

१. Ed. Calcutta, 1921; Hoernle, उपरि-निर्दिष्ट ग्रन्थ में, pp. 37 ff.; *Bower MS.*, pp. 54 ff.

२. उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ में, pp. 40 ff.

३. एक **काश्यपसंहिता** भी ज्ञात है, जिसका समय अनिश्चित है; Haraprasād, *Report*, I, p. 9. इसी प्रकार **हारीत-संहिता** अथवा **आत्रेय-संहिता**, और **आश्विन-संहिता** भी ज्ञात हैं।

४. Hoernle, *The Bower Manuscript* (1914)

५. भाग १–३ आयुर्वेदिक हैं, ४ और ५ **पाशककेवली** (cubomancy) पर, और ६ और ७ में **महामायूरी विद्याराज्ञी**, सर्प-दंश के प्रतीकारार्थ एक टोना, है।

या प्रकरणों में से पहले के एक अंश[1] में लशुन का और दीर्घायुष्य के लिए उसके गुणों का निरूपण है; एक दूसरे में एक सहस्र वर्ष की आयु की प्राप्ति के लिए एक रसायन का योग दिया हुआ है, और साथ ही उसमें अन्य अनेक विषयों के साथ आँख धोने की औषधों (आश्च्योतनों) और नेत्राञ्जनों पर भी विचार किया गया है। एक दूसरे (३) अंश में बाह्य और आन्तरिक प्रयोग के लिए चौदह योग दिये हैं, जबकि **नावनीतक** (२) को बड़ा महत्त्व दिया गया है, जो निबन्ध या प्रकरण अपने नाम द्वारा अपने को पिछले ग्रन्थों का नवनीत ही बतलाता है। सोलह अध्यायों में विभक्त इस निबन्ध या प्रकरण में चूर्णों, क्वाथों, तैलों, रसायनों, वाजीकरणीय औषधों, और दूसरे योगों की जानकारी दी गई है; उसमें एक (चौदहवाँ) अध्याय बच्चों की बीमारियों पर भी है जिसको प्रायः उद्धृत किया जाता है और जो विभिन्न रूपों में हस्तलेख में सुरक्षित मिलता है। ये निबन्ध या प्रकरण पद्यात्मक हैं, जिनमें अपेक्षाकृत अधिक जटिल छन्दों का भी प्रयोग किया गया है, और यह विशेपता अविरल रूप में परवर्ती योगों में सुरक्षित पाई जाती है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस पद्धति का लाभ यह था कि, अक्षरों की मात्रा और संख्या के नियत होने से, महत्त्वपूर्ण योगों की शुद्धता की कुछ हद तक रक्षा की जा सकती थी।

उद्धृत ग्रन्थकारों में आत्रेय, क्षारपाणि, जातूकर्ण, पराशर, भेड, और हारीत हैं, जो सब पुनर्वसु आत्रेय के पुत्र (?) हैं, परन्तु चरक का निर्देश नहीं है, यद्यपि सुश्रुत का नाम आता है। परन्तु यह **चरकसंहिता** के उपयोग किये जाने के विरुद्ध साक्ष्य नहीं है, जो कि निश्चित रूप में माना जा सकता है, क्योंकि आत्रेय को चरक का गुरु माना जाता था, और इसलिए गुरु के नाम से शिष्य स्वयं गतार्थ थे। **भेल-संहिता** का भी उपयोग किया गया था।

बावर हस्तलेख की भाषा[2] विचित्र प्रकार की है, जिसमें प्रचलित संस्कृत पर प्राकृतप्रभावों की अत्यधिक छाप पाई जाती है, और इस प्रकार बौद्ध संस्कृत की मिश्रित भाषा से उसकी तुलना की जा सकती है। दोनों में यह समानता हो सकती

---

१. तेंतालीस पद्यों में अठारह और उन्नीस छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें औपच्छन्दसिक, शार्दूलविक्रीडित, सुवदना, पृथ्वी, वंशस्थविल, मन्दाक्रान्ता, प्रमाणिका, प्रमिताक्षरा, तोटक, स्रग्धरा, सुधा, मालिनी, शालिनी, मत्तमयूर, कुसुमितलतावेल्लिता सम्मिलित हैं। अन्य भागों में श्लोक, आर्या, और त्रिष्टुभ् रूपों के अतिरिक्त अन्य छन्द प्रयुक्त नहीं हुए हैं।

२. भाग १—३ में प्राकृत-प्रभाव बहुत विरल हैं, भाग ४–७ में बहुत सामान्य हैं।

है कि वे संस्कृत-लेखन में उन लोगों के प्रयत्न-स्वरूप हैं जो प्राकृत में लिखने के आदी थे। पूर्वी तुर्किस्तान में ढूँढ़े गये आयुर्वेदिक योगों में भी एक म्लेच्छ (अथवा भ्रष्ट) संस्कृत मिलती है, और उसके साथ में एक ईरानी बोली में भाषान्तर भी दिया हुआ है।[1] निश्चय ही इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि वैद्य लोग प्रायेण सीमित शिक्षा वाले हुआ करते थे और उनसे संस्कृत की सूक्ष्मताओं से सुपरिचित होने की आशा नहीं की जा सकती थी; यह दृश्य वास्तु-विद्या-विषयक ग्रन्थों में कहीं अधिक उग्रता के साथ देखने में आता है।

४. परवर्ती आयुर्वेदिक ग्रन्थ

यह मानकर कि वाग्भट सुश्रुत के परवर्ती हैं, भारतीय परम्परा आयुर्वेद के महान् नामों में उनको तीसरा स्थान देती है। इस नाम के दो ग्रन्थकारों का परस्पर भेद करना आवश्यक है, यद्यपि दोनों ग्रन्थकार अपने **अष्टाङ्ग-संग्रह**[2] और **अष्टाङ्ग हृदय-संहिता**[3] नाम के ग्रन्थों में, जैसे कि वे हमें उपलब्ध हैं, अपने-अपने पिता का नाम समान ही बतलाते हैं। वृद्ध वाग्भट सिंहगुप्त के पुत्र और वाग्भट के पौत्र हैं, और उनके गुरु थे बौद्ध अवलोकित। छोटे वाग्भट ने उनके ग्रन्थ का स्पष्टतया उपयोग किया था; अपने पूर्ववर्ती वृद्ध वाग्भट की पद्यों से मिश्रित गद्यात्मक शैली के विरोध में उनकी विशुद्ध पद्यात्मक शैली उनके परवर्ती समय की पुष्टि करती है। वृद्ध वाग्भट के समय के सम्बन्ध में एक महत्त्वयुक्त संकेत हम इत्सिंग (I-tsing) के उस उल्लेख[4] में पाते हैं जिसमें वे कहते हैं कि उनसे कुछ ही पहले एक व्यक्ति ने आयुर्वेदिक आठ विषयों का एक संग्रह तैयार किया था; उस व्यक्ति को वाग्भट से अभिन्न मानना, जो स्पष्टतया एक बौद्ध था, सर्वथा युक्ति-युक्त दीखता है। वाग्भट का प्राकृत रूप बाहट भी उपलब्ध है, और सिंहगुप्त के लिए सङ्घगुप्त। यह अतीव सम्भव है कि छोटे वाग्भट वृद्ध वाग्भट के ही एक वंशज थे, यद्यपि इस कल्पना के लिए हमारे पास कोई प्रमाण इस बात के अतिरिक्त नहीं है कि इस प्रकार उनकी गड़बड़ की व्याख्या हो जाती है। उनका ग्रन्थ भी सम्भवत: एक बौद्ध की कृति है; उसका तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ था, और कोई ऐसा कारण नहीं दीखता जिससे उन्हें अपने सम-नामधारी के एक शताब्दी से अधिक पीछे रखा जावे।

१. Hoernle, *Bhandarkar Comm. Vol.*, pp. 416 ff.; cf. JRAS. 1925, pp. 110 f., 623 ff.

२. Ed. Bombay, 1880.

३. Ed. Bombay, 1891.

४. Hoernle, JRAS. 1907, pp. 413 ff.; Keith, IOC. ii. 740.

चरक और सुश्रुत को उद्धृत करने में दोनों में समानता है, और सुश्रुत का **उत्तर-तन्त्र** भी दोनों में उद्धृत किया गया है।[1]

इन्दुकर के पुत्र माधवकर के **रुग्विनिश्चय**[2] का समय आठवीं या नवीं शताब्दी है। रोग-निदान पर यह एक महत्त्व-युक्त ग्रन्थ है और परवर्ती भारतीय आयुर्वेद पर इसका निर्णायक महत्त्व रहा है। सिद्ध न होने पर भी, यह संभावित है कि माधव दृढवल से प्राचीनतर हैं। वृन्द के **सिद्धियोग**[3] या **वृन्दमाधव** में व्याधियों के क्रम में **रुग्विनिश्चय** के क्रम का अनुसरण किया गया है, और इसमें ज्वर से लेकर विष-प्रयोग तक की बीमारियों की बड़ी संख्या के निवारणार्थ योग दिये हुए हैं। यह सुझाव कि **रुग्विनिश्चय** के ग्रन्थकार का वास्तविक नाम वृन्द है संभाव्य है पर प्रमाणों से सिद्ध नहीं है। चक्रपाणिदत्त के चिकित्सा-विषयक ग्रन्थ **चिकित्सा-सारसंग्रह** (लगभग १०६०) में वृन्द का अधिकतया उपयोग किया गया है, और गदाधर के पुत्र वङ्गसेन के उसी नाम के ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दी के ग्रन्थ में माधव और सुश्रुत का उपयोग किया गया है। १२२४ में मिल्हण ने दिल्ली में २५०० पद्यों में **चिकित्सामृत** की रचना की। **योगसार** और **योगशतक**[4] नाम के ग्रन्थ किसी नागार्जुन के नाम से प्रसिद्ध हैं। शार्ङ्गधर की संहिता पर केशव वैद्य के पुत्र और राजा हेमाद्रि (लगभग १३००) के आश्रित वोपदेव ने व्याख्या की थी। उन्हीं ने चूर्णों और गुटिकाओं आदि पर एक **शतश्लोकी** की भी रचना की थी। शार्ङ्गधर ने अफ़ीम और पारे के उपयोग का और रोग-निर्णय में नाड़ी के उपयोग का भी विधान किया है; इन पद्धतियों का सम्बन्ध फ़ारसी और अरबी स्रोतों से स्थापित किया गया है। अपेक्षाकृत परवर्ती ग्रन्थ बहुसंख्यक होने के साथ-साथ विस्तृत भी हैं; विशेषरूप से लोक-प्रिय हैं: तीसट की **चिकित्साकलिका** (१४वीं शताब्दी), भाव मिश्र का **भावप्रकाश** (१६वीं शताब्दी), लोलिम्बराज का **वैद्यजीवन** (१७वीं शताब्दी)।[5] विभिन्न प्रकार की व्याधियों पर लिखे गये बहुसंख्यक व्यवस्थित

---

१. Cordier (JA. 1901, ii. 147 ff.) उक्त दोनों ग्रन्थों को एक ही मूल के दो संस्करण मानते हैं।

२. Cf. Hoernle, *Osteology*, p. 14; JRAS. 1906, pp. 288 f.; 1908, p. 998; Vallauri, GSAI. xxvi. 253 ff.

३. Ed. ĀnSS, 27, 1894.

४. Cf. Haraprasād, *Report* 1, pp. 9 f.; *Nepal Catal.*, p. xxii.

५. **आयुर्वेदसूत्र** (*Bibl. Sansk.*, 61, Mysore) प्राचीन शैली का एक उत्तरकालीन पुनरुज्जीवन है; JRAS. 1925, p. 355 की 'पर्याप्त प्राचीनता' स्पष्टतः एक भूल है

निबन्धों के, जिनमें छोटे-बड़े वृक्षों की व्याधियों पर लिखा गया सुरपाल का **वृक्षायुर्वेद** भी सम्मिलित है, उल्लेख मिलते हैं, पर इन निबन्धों में से कोई भी प्राचीन नहीं है।

भारतीय साहित्य की उस शाखा का ऐतिहासिक महत्त्व है जिसका सम्बन्ध धातुसम्बन्धी रसों के गुणों से है, जिनमें **रसेश्वर** का महत्त्व की दृष्टि से प्रमुख स्थान है। शरीर और धातुओं पर समान रूप से रसेश्वर का प्रभाव माना जाता है, और इसका उपयोग पारस पत्थर के समान हल्की धातुओं (base metals) को रूपान्तरित करने में होता है, जिसके साथ उनका परिमाण (bulk) भी अत्यन्त बढ़ जाता है—इस विचार को **राजतरङ्गिणी के कोटिवेधीरस** में व्यक्त किया गया है। ऐसा समझा जाता है कि इस प्रकार के रसायनों से स्थिर यौवन, एक सहस्र वर्ष की आयु, अदृश्य और अभेद्य होने की शक्ति, और अन्य स्पृहणीय बातें प्राप्त हो जाती हैं। इस विषय की प्राचीनतम रचनाओं का समय अनिश्चित है; राय ने नागार्जुन के **रसरत्नाकर**[1] को सातवीं या आठवीं शताब्दी में रखा है, परन्तु उनका यह कथन पूर्णतया समाधान-प्रद आधारों पर स्थित नहीं है। अलबेरूनी[2] (१०३०) समस्त रसायन-शास्त्र की, उसे निकम्मा कहते हुए, खिल्ली उड़ाते हैं। **रसार्णव**[3] के सम्पादक उसको १२०० के लगभग रखते हैं, और **सर्वदर्शनसंग्रह**[4] के रसेश्वर-दर्शन के वर्णन में मध्ययुगीन रसायन-विद्या के प्रति अनुराग का वहुत-कुछ प्राचीन प्रमाण हमें प्राप्त है। ये साधक लोग शैव होते थे, परन्तु उनका यह भी विश्वास था कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए शरीर-रक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। रसेश्वर-दर्शन के उक्त वर्णन में **रसार्णव, रसहृदय,** और **रसेश्वरसिद्धान्त** से उद्धरण दिये हुए हैं। **रसरत्नसमुच्चय**[5] को किन्हीं ग्रन्थों में वाग्भट-कृत वतलाया गया है, दूसरे ग्रन्थों में अश्विनीकुमार-कृत अथवा नित्यनाथ-कृत; अनुमान के आधार पर इसे १३०० का वतलाया जाता है। नित्यनाथ **रसरत्नाकर** के ग्रन्थकार हैं। रामचन्द्र द्वारा

---

१. Ray, *History of Hindu Chemistry*, ii. Sanskrit Texts, p. 14. प्रारम्भ के प्रश्न के सम्वन्ध में तु० chap. xxiii, § 3. अरवी मध्ययुगीन रसायन-विद्या के परवर्तीकाल को J. Ruska ने सिद्ध किया है, *Arabische Alchemisten* (1924)

२, Schau, *Alberuni's India*, i. 188 ff.

३. Ed. BI. 1908-10.

४. Chap. ix. गोविन्द के २१ परिच्छेदों वाले **रसहृदय** पर, दे० Haraprasād, *Nepal Catal.*, pp. xxii, 239 ff.

५. Ed. ĀnSS. 19, 1910; समय के विषय में तु० Jolly, *Festschrift Windisch*, p. 192, n. 1.

निर्मित **रसेन्द्रचिन्तामणि** उपलब्ध है। जैन मेरुतुङ्ग ने **रसाध्याय** पर एक व्याख्या लिखी थी। परन्तु इन ग्रन्थों का आकर्षण पूर्णतः उनके मुख्य विषय (पारद) पर अवलम्बित है।

आयुर्वेदिक निघण्टु प्राचीन हो सकते है; जो सुरक्षित हैं उनमें से कोई भी प्राचीन नहीं है। **धन्वन्तरि-निघण्टु**[1] सिद्धान्ततः अमर से प्राचीनतर हो सकता है; परन्तु इसमें पारद का उल्लेख है और इसलिए ऐसी कल्पना की जा सकती है कि इसका समय अमर के--संदिग्ध—समय से पीछे का है। अमर का समय वाग्भट के पश्चात् जत्रु[2] इस शब्द के प्रयोग के आधार पर रखा गया है। बंगाल के राजा भीमपाल के लिए सुरेश्वर ने १०७५ में **शब्दप्रदीप** की रचना की थी। नरहरि के **राजनिघण्टु**[3] का समय १२३५–५० है, और मदनपाल का **मदनविनोदनिघण्टु**[4] औषध-गुण वर्णन-परक एक विस्तृत निघण्टु है और इसका समय १३७४ है। पथ्या-पथ्य-विषयक और पाक-विद्या-विषयक शब्दों पर लिखित, **पथ्यापथ्यनिघण्टु**[5] जैसे ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है।

५. ग्रीसदेशीय और भारतीय भैषज्य

ग्रीस-देशीय और भारतीय भैषज्य-प्रणालियों[6] की अनेक दृष्टियों से उल्लेख-नीय समानता बहुत दिनों से सुविदित रही है। दोनों में हम ऐसी बातें पाते हैं जैसे कि त्रिदोष (humours) का सिद्धान्त, जिनके बिगड़ जाने से व्याधि, ज्वर की तीन अवस्थाएँ और दूसरे विकार जो *ἀπεψία*, *πέψις* और *κρίσις* की ग्रीक त्रयी से मिलते-जुलते हैं, उनकी व्याख्या की जा सकती है; रोग-निवृत्ति के साधनों का उष्ण और शीत, अथवा शुष्क और स्निग्ध रूप में विभाग; व्याधियों

---

१. Ed. ĀnSS. 33. किसी बौद्ध का **सारोत्तरनिघंण्ट** १०८० के एक हस्त-लेख में उपलब्ध है; Haraprasād, *Report I*. p. 6.

२. Hoernle, JRAS. 1906. pp. 929 ff.

३. Ed. ĀnSS. 33.

४. Ed. Benares, 1875.

५. परवर्ती काल के अनेक ग्रन्थों के लिए तु० *Madras Catal.*, xxiii (1918) और the *I. O. Catal.* i. 973 ff.; ii. 750 ff.

६. दे० Jolly, *Medicin*, pp. 17 f. स्थल-निर्देशों के सहित। उन्होंने पर्शिया, चीन आदि के साथ भारतीय संबन्धों पर भी विचार किया है। तु० G. N. Banerjee, *Hellenism in Ancient India*, pp. 220 ff. जन्म के विषय में विश्वासों के सादृश्य के लिए दे० Printz, ZDMG. lxxix. 119 ff.

का विरुद्ध स्वभाव की औषधों से प्रतीकार; Hippokrates के ढंग पर पूर्वकथन अथवा साध्यासाध्य-विचार (prognosis) पर आग्रह; वैद्यों द्वारा शपथ-ग्रहण और शिष्टाचार तथा अपने व्यावसायिक कर्म के नियमों की चिकित्सकों के लिये अवश्यकरणीयता। तत्तद्विषयों को लेकर भी उनमें अनेक समानताएँ हैं; दोनों प्रणालियां (systems) स्वास्थ्य पर ऋतुओं के प्रभाव पर वल देती हैं, और भारतीय भावना के विरुद्ध कुछ अवस्थाओं में हम औषध के रूप में तेज़ मद्य के उपयोग पर आग्रह पाते हैं। दैनिक, तृतीयक और चतुर्थक ज्वरों का उल्लेख किया गया है, क्षयरोग का निरूपण प्रमुख रूप से किया गया है, जव कि हृदय के रोगों का अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा वर्णन दिया गया है। भ्रूण-विज्ञान के विषय में भी दोनों में समानताएँ हैं; अङ्गों की युगपद् वृद्धि के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, दहनी कुक्षि के साथ पुरुष-जाति के बच्चे के सम्वन्ध का उल्लेख किया गया है, और यमलों (twins) की उत्पत्ति के लिए भी समान कारण वतलाया गया है; अठमासे गर्भ की जीवन-योग्यता को वलपूर्वक कहा गया है, और सत-मासे की जीवन-योग्यता का निषेध किया गया है; मृत-गर्भ के निकालने के विषय में भी समानता है। शस्त्र-चिकित्सा के क्षेत्र में पथरी की शस्त्र-क्रिया में, रक्त-ववासीर की चिकित्सा के प्रकार में, खून के निकालने में, जोकों के उपयोग में, जिनमें सुश्रुत[1] के अनुसार वे भी सम्मिलित हैं जो ग्रीस से लाई जाती थीं, दागने वाली लोहे की गरम छड़ों के उपयोग में, शस्त्र-क्रिया के अनेक औज़ारों में, और नेत्र-विज्ञान में दक्षिण आँख के काम में बाँयें हाथ के उपयोग में समानता है। परन्तु यह स्वीकार करना आवश्यक है कि इस वात का निर्धारण करना बहुत कठिन है कि उक्त समानता में कितना अंश ग्रीक प्रभाव के कारण है और कितना केवल समानान्तर विकास है। त्रिदोष का सिद्धान्त, जो आपाततः निश्चित रूप से ग्रीस-देशीय माना जा सकता है, त्रिगुणवादी सांख्य दर्शन से घना सम्वन्ध रखता है; इसके अतिरिक्त, दोषों में से एक, वात, **अथर्ववेद** में पहले से ही ज्ञात है, और व्याख्या के, कदाचित् न्याय-पुरस्सर, कथन के अनुसार, **कौशिक-सूत्र**[2] ने भी वात, पित्त, और कफ इस त्रिदोष के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

दूसरी ओर,[3] यह स्वीकार करना आवश्यक है कि हमारे पास निश्चित जान-

---

१. १।१३। चरक में दी हुई वैद्य की शपथ (ZDMG. xxvi. 448 f.) की तुलना प्रायेण Hippokrates (iv. 629 ff.) द्वारा दी हुई शपथ के साथ की गई है; Jones, *The Doctor's Oath* (1924).

२. Bloomfield, SBE. xLii, 246, 483, 516 f.

३. Cf. Hoernle. *Osteology*, pp. iii ff.

कारी है कि Ktesias (लगभग ४०० ई० पू०) और Megasthenes (लगभग ३०० ई० पू०) दोनों ने उत्तर भारत की यात्रा की थी अथवा वहाँ निवास किया था, और दूसरी बातें भी उपस्थित की जा सकती हैं जिनसे ग्रीस से उद्गम के, विशेषतः शस्त्र-क्रिया के सिद्धान्त में, संकेत प्राप्त होते हैं। Hippokrates की बात जो कुछ रही हो, इसमें सन्देह नहीं कि तीसरी शताब्दी ई० पू० में Hero-philos और Erasistratos के अलेग्ज़ैन्ड्रियन विद्यालयों में मनुष्य-शरीर की चीर-फाड़ का प्रचलन था, जब कि भारत में हमें चरक में कोई मूल स्थल ऐसा प्राप्त नहीं है जिसमें इसको स्वीकार किया गया हो, यद्यपि सुश्रुत में दो अध्यायों में शस्त्र-क्रिया के औज़ारों का वर्णन है और एक में शस्त्र-क्रिया के प्रकार का निरूपण किया गया है। परन्तु भारत द्वारा आदान को सिद्धवत् स्वीकार कर लेने में भी कठिनता है, क्योंकि अलेग्ज़ैन्ड्रिया के वैद्यों ने, आपेक्षिक दृष्टि से कहने में, मांस-पेशी-सम्बन्धी (muscular) संस्थान तथा नाड़ी-सम्बन्धी (vascular) संस्थान के सम्बन्ध में ऐसे ठीक-ठीक ज्ञान को बढ़ाया था कि यह कल्पना करना कठिन प्रतीत होता है कि, ग्रीस से उसके शरीर-रचना-विज्ञान को लेकर भी, भारत ग्रीस में हुई अन्य प्रगतियों की ओर से उदासीन ही रहा होगा। ग्रीक शस्त्र-चिकित्सा में परिगणित मनुष्य-शरीर की अस्थियों की किसी प्राचीन ग्रीक सूची के अभाव के कारण उक्त सम्बन्ध-विषयक निश्चित साक्ष्य का जुटाना लगभग असम्भव हो जाता है। इस बात पर ध्यान दिया गया है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० के अस्थि-विज्ञान पर लिखते हुए Celsus कलाई की (carpus) और ऐंड़ी तथा टख़ने की (tarsus) अस्थियों के विषय में कहते हैं कि उनमें से प्रत्येक में अनेक छोटी-छोटी हड्डियां हैं जिनकी संख्या अनिश्चित है, परन्तु साथ ही उनका कहना है कि उनकी शक्ल, अन्दर की तरफ़ से, एक ही नतोदर (concave) हड्डी की बनी हुई दिखाई देती है, और सुश्रुत और चरक में उन्हीं के विषयमें क्रमशः छोटी-छोटी अनेक अस्थियों और केवल एक अस्थि के परस्पर विरुद्ध मत पाये जाते हैं। अन्यच्च, ग्रीक और भारतीय मत हाथ और पैर की अंगुलियों के सम्बन्ध में समान हैं, दोनों के अनुसार प्रत्येक अंगुली में तीन-तीन संधियाँ हैं जो कि क्रमशः करतल (हथेली) और पाद-तल की अस्थियों (metacarpal और metatar-sal) से शुरू होती हैं। इन बातों के विरुद्ध हेर्नले (Hoernle) का कहना है कि, यहूदियों की प्रमुख धार्मिक संहिता (Talmud) के संग्रह को यदि ग्रीक दृष्टियों का प्रदर्शक मान लिया जाय, जो कि सम्भव है, तो यह मानना पड़ेगा कि शरीर की अस्थियों की ग्रीक और भारतीय गणना में अवश्य अत्यन्त भेद रहा होगा। ग्रीस ने निश्चय ही, भारत से अनेक आयुर्वेदीय वनस्पतियों के उपयोग का आदान किया

था, परन्तु प्रारम्भिक समय में ग्रीक भैषज्य पर भारतीय प्रभाव की कल्पना के लिए स्पष्टतः कोई आधार नहीं है। शरीर-रचना-विज्ञान की अप्रतिष्ठा[1] ने शस्त्र-चिकित्सा के क्षेत्र में भारत की उन्नति में एक घातक रुकावट का काम किया और भैषज्य के क्षेत्र में भी उसकी सफलता में वाधा उपस्थित की।[2]

---

१. वाग्भट में यह पहले से ही स्पष्टतः प्रकट है।

२. ग्रीक भैषज्य पर तु० R. O. Moon, *Hippocrates and his Successors* (1923); T. C. Albutt, *Greek Medicine in Rome* (1921); C. Singer, *Greek Biology and Greek Medicine* (1924). और भी दे० H. Fichner, *Die Medizin im Avesta* (1925); D. Campbell; *Arabian Medicine* (1926), E. G. Browne, *Arabian Medicine* (1921), Neuburger, *History of Medicine*, i. (1910).

सिद्धान्तज्योतिष, फलितज्योतिष, और गणित-शास्त्र

१. प्राग्वैज्ञानिक युग

खगोल-विद्या अथवा सिद्धान्त-ज्योतिष (astronomy) के साथ फलित-ज्योतिष (astrology) और गणित-शास्त्र का सदा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। सिद्धान्त-ज्योतिष-विषयक भारतीय चिन्तन की अविच्छिन्न परम्परा में एक निश्चित दरार आ जाती है।[1] वैदिक युग में सिद्धान्त-ज्योतिष-विषयक अध्ययन के बहुत ही कम लक्षण दिखाई देते हैं; वर्ष की गणना अनिश्चित रूप से की जाती है, और सत्ताईस या अट्ठाईस नक्षत्रों का प्रारम्भ संदिग्ध है। वैदिक युग के अन्त में तिथिपत्र (calendar) पर अपेक्षा-कृत अधिक जटिल रचनाएँ सूत्रों के उल्लेखों में दृष्टिगत होती हैं, जो **ज्योतिष-वेदाङ्ग**[2] में संगृहीत हैं। **ज्योतिष-वेदाङ्ग** यजुर्वेद और ऋग्वेद के लिए दो पाठों में उपलब्ध है। इसमें तिथि-पत्र के क्रम-विन्यास का आधार पञ्च-वर्षात्मक युग के साथ-साथ ३६६ दिन के वर्ष, अयन-संपातों (solstices) पर और नक्षत्रों की दृष्टि से अमावास्या और पूर्णिमा पर सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति के निरीक्षण पर रखा गया है। विशुद्ध भारतीय ढंग का कुछ और अधिक विकास **गार्गी-संहिता**, जिसके कुछ खण्ड ही प्राप्त हैं, **वृद्धगर्गसंहिता** के सिद्धान्त-ज्योतिष-विषयक प्रतिपादन, वेबर-हस्तलेख में सुरक्षित पौष्करसादी का खण्डित भाग, **अथर्ववेद के नक्षत्र** और दूसरे परिशिष्ट, और वराहमिहिर द्वारा उल्लिखित **पैतामह-सिद्धान्त** जैसी रचनाओं में पाया जाता है। जैन ग्रन्थ भी, मुख्यतः **सूर्य-प्रज्ञप्ति**,[3] यद्यपि वे अपनी ही एक काल्पनिक दृष्टि को उपबृंहित करते हैं, मूलरूप से इसी ढंग के हैं। महाभारत, पुराण, स्मृतियाँ, और खण्डशः उपलब्ध पराशर जैसे प्राचीन ग्रन्थकार सब इसी ढंग के हैं।

इस युग की विशेषताएँ हैं: सूर्य और चन्द्रमा की मध्यम गतियों (mean motions) का सामान्य अज्ञान, जिसका परिणाम वर्षों और मासों की लम्बाई की

---

१. दे० G. Thibaut, *Astronomie, Astrologie und Mathematik* (1899), Kaye, *Hindu Astronomy* (1924).

२. Ed. A. Weber, ABA. 1862. *Pandit*, N. S. xxix.

३. दे० Thibaut, JASB. xlix, 108 ff.

भ्रान्त अवगति में होता है; मध्यम गति के मुक़ाबले में ठीक गति का नितान्त अपरिज्ञान; दिन की लम्बाई के सम्बन्ध में समान दैनिक वृद्धि अथवा ह्रास का प्रतिपादन; गोल का सत्ताईस अथवा अट्ठाईस नक्षत्रों में विभाजन; पृथ्वी और ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में निराधार काल्पनिक विचारों का रखना, और मिथ्या पूर्वोपन्यासों (premisses) के आधार पर बड़ी संख्याओं की गणना निकालने का आग्रह। जैन ग्रन्थों को छोड़कर सब यह मान लेते हैं कि उत्तरायण-बिन्दु अथवा मकर-संक्रान्ति (winter solstice) धनिष्ठा नक्षत्र के प्रारम्भ में पड़ती है, परन्तु यह तत्त्व ग्रन्थों का समय किसी भी प्रकार निश्चय करने के लिए हमारे लिए अपर्याप्त है। वे वैज्ञानिक युग के लिए, मूल्यवान् न होने पर भी, विशेष महत्त्व के दो विचारों को देते हैं: बड़े युगों की कल्पना, जिनके दौरान में नभःस्थ पिण्डों (heavenly bodies) का एक पूरा परिवर्त्तन हो जाता है, जिससे उन सबके पहले युग के समान उन्हीं स्थानों पर पुनः आ जाने पर नये युग का प्रारम्भ होता है; और चान्द्र दिवस, तिथि, की कल्पना, जो चान्द्र मास (synodical month) का तीसवाँ भाग होती है; यह इकाई विचित्र होने के साथ-साथ सुविधाजनक भी नहीं है।

परन्तु एक क्षेत्र में, रेखागणित में, यज्ञ-वेदियों की माप में रखी गई सावधानता के फलस्वरूप विशेषतया रोचक परिणाम प्राप्त हुए थे। ये परिणाम शुल्बसूत्रों में सुनिबद्ध किये गये हैं, जो परवर्ती सूत्र-युग, संभवतः लगभग २०० ई० पू०, की रचनाएँ हैं, यद्यपि यह केवल अन्दाज़ की बात है। वर्गों (squares) और आयतों (rectangles) का निर्माण; भुजाओं (sides) के साथ विकर्ण (diagonal) का सम्बन्ध, वर्गों और आयतों की तुल्यता, और समान वर्गों और वृत्तों (circles) की रचना—इन के साथ उनका (शुल्ब-सूत्रों का) सम्बन्ध है। पाइथागोरस का प्रश्न (Pythagorean problem अर्थात् जात्यत्रिभुज-सम्बन्धी प्रश्न) सामान्यतः कथित पाया जाता है, परन्तु उस कथन में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे यह प्रतीत होता हो कि उसको पूर्णतया कहाँ तक समझा जाता था और यह कि अपरिमेय (irrational) के सम्बन्ध में भारतीय विचार क्या था। भारत पर Pythagoras के प्रभाव के अथवा ग्रीस या ईजिप्ट के प्रभाव के प्रश्न पर बहुत विचार हो चुका है[1], परन्तु उससे किसी भी अवस्था में एक का दूसरे पर आश्रित होना सिद्ध न हो सका है। परन्तु प्रत्येक दशा में शुल्ब-

१. तु० Keith, JRAS. 1910, pp. 519-21; Kaye, JRAS. 1910, pp. 749-60; Thibaut, उपरि-निर्दिष्ट ग्रन्थ में, p. 78.

सूत्रों की स्थापनाओं ने रेखागणित की परवर्ती प्रगति पर, किसी भी कारण से क्यों न हो, आपाततः कोई प्रभाव नहीं डाला।

२. सिद्धान्तों का युग

वराहमिहिर ने, जिनके विषय में कहा जाता है कि उनकी मृत्यु ५८७ ई० में हुई थी, और जिन्होंने कदाचित् ५५० के लगभग ग्रन्थ-रचना की थी, अपने से पूर्ववर्ती समय के पाँच सिद्धान्तों के प्रतिपाद्य विषयों की जानकारी अपनी **पञ्चसिद्धान्तिका**[1] में सुरक्षित कर दी है। इनमें से **पैतामहसिद्धान्त** का सम्बन्ध प्राग्वैज्ञानिक युग से है, परन्तु शेष चार विभिन्न मात्राओं में एक नई भावना को दिखाते हैं, जिसका कारण ग्रीक प्रभाव नहीं है—ऐसा कहना असम्भव है; उस ग्रीक प्रभाव ने सिद्धान्त-ज्योतिष के विषय में भी अपने को अमिट रूप से प्रदर्शित किया था। यह वात अत्यन्त अर्थपूर्ण है कि इनमें से दो सिद्धान्तों का नाम अभारतीय है: **रोमक-सिद्धान्त**, जिसका सम्बन्ध रोम से होना चाहिए, और **पौलिश-सिद्धान्त**, जो हमें Paulus Alexandrinus के नाम का स्मरण दिलाता है; परन्तु उनका केवल एक ही फलित-ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ हमें उपलब्ध है। **सूर्य-सिद्धान्त**, उस रूप म जिसमें वह हमें उपलब्ध है, स्पष्टतः कहता ह कि रोमक में सूर्य द्वारा मय असुर पर उसका आविर्भाव हुआ था; यह कथन अर्थपूर्ण है। **रोमक-सिद्धान्त** भारतीय युग-प्रणाली के स्थान में एक अपनी ही प्रणाली को स्वीकार करता है, अर्थात् १५० से गुणित उन्नीस वर्ष के चान्द्र चक्र (Metonic period) को जिससे सबसे छोटा वह युग प्राप्त होता है जिसको चान्द्र मासों और रात्र्यर्ध से गिने जाने वाले दिनों के पूर्णाङ्कों में ठीक-ठीक विभाजित किया जा सकता है। किञ्च, यह यवनपुर, ग्रीक लोगों के नगर, के याम्योत्तर वृत्त[2] (meridian) के लिए गणना करता है। **पौलिशसिद्धान्त**, जो एक स्थिर यग को स्वीकार न करके विशेष रूप से कल्पित समय के छोटे-छोटे युगों के सहारे अपना कार्य चलाता है, देशान्तर के भेद को यवनपुर और उज्जैन के मध्य में देता है। पुनः, भारतीय ग्रन्थों में केवल **रोमक-सिद्धान्त** ही सूर्य और चन्द्रमा के परंमक्रान्ति-भगणों (tropical revolutions) से

---

१. Ed. G. Thibaut and Sudhākara Dvivedī, Benares, 1889. See also M, P. Kharegat, JBRAS, xix. 109 ff.; V. B. Ketkar, POCP. 1919, ii. 457 f., जिनका कहना है कि **सूर्यसिद्धान्त** द्वारा क्रान्तिवृत्तीय आदि-बिन्दु के नियत करने से लगभग २९० ई० का संकेत प्राप्त होता है; तु० Bhandarkar, *Earl History of India*, p. 69.

२. निःसन्देह अलेग्ज़ैन्ड्रिया. Kern, *Bṛhatsaṁhitā* ,p. 54.

सम्बन्ध रखता है, जब कि **सूर्यसिद्धान्त** और संभवतः **पौलिशसिद्धान्त** भी नाक्षत्र-भगणों (sidereal revolutions) का निरूपण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि **सूर्यसिद्धान्त** उक्त नवीन विज्ञान को भारतीय विचारों के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया को उसकी सबसे अधिक प्रकटीकृत स्थिति में दिखलाता है; तथा च, यह कल्प-प्रणाली को स्वीकार करता है, जब कि, दूसरी ओर, सिद्धान्त-विषय में अपने प्रतिस्पर्द्धियों की अपेक्षा यह अधिक सुनिश्चित है; केवल यही केन्द्र के समीकरण (equation of the centre) के लिए एक व्यापक नियम को देता है, और इसके ग्रहण-विषयक पूर्ण प्रतिपादनों का **रोमक-सिद्धान्त** के क्षीण नियमों से और **पौलिश-सिद्धान्त** के अपरिष्कृत सूत्रों से वैसादृश्य है। रोमक के निर्देश का, निश्चय ही, रोम के उल्लेख के रूप में अर्थ करना आवश्यक नहीं है; रोम के साम्राज्य की प्रसिद्धि के कारण ही प्रकृत ज्ञान का सम्बन्ध, जो सम्भवतः अलेग्ज़ैंड्रिया से आया था, उक्त महान् राजधानी के नाम से जोड़ दिया गया।

उक्त सिद्धान्तों में, और उनसे भी अधिक स्पष्टतया परवर्ती ग्रन्थों में, ग्रीक उद्गम के साक्ष्यों का संग्रह निम्नलिखित रीति से किया जा सकता है।[1] क्रान्ति-वृत्त (ecliptic) के नक्षत्रों में विभाग का स्थान मेषादि राशियां ले लेती हैं जिनके नाम ग्रीस देश से लिये गये हैं; ग्रहों की गतियों की व्याख्या, जो अब तक उपेक्षित रहीं, लघुवृत्तों (epicycles) के सिद्धान्त से की जाने लगती है; लम्बन (parallax) के विचार और उसकी गणना के प्रकारों का समावेश किया गया; ग्रहणों की गणना के नये प्रकार सामने आते हैं; सूर्य-सम्बन्धी उदय (अर्थात् सूर्य-सान्निध्य से अस्त के पश्चात् ग्रह-दर्शन (heliacal rising) और नभःस्थ पिण्डों के अस्त का अध्ययन किया गया, विशेषतः फलित-ज्योतिष की दृष्टि से; दिन और रात्रि के ठीक-ठीक मान प्राप्त किये गये; वर्ष की लम्बाई का परिष्कार किया गया; और ग्रह-सम्बन्धी सप्ताह के दिनों के नाम प्रचलित किये गये। हम पहले से ही भारतीय त्रिकोणमिति (trigonometry) को **पौलिश-सिद्धान्त** में—सम्भवतः दूसरे सिद्धान्तों में भी—एक महत्त्व-युक्त देन ज्या-सारणी (table of sines) की शक्ल में पाते हैं, जिसका आदान स्पष्टतः Ptolemy की चाप-सारणी (table of chords) से किया गया है; इस प्रकार व्यासार्ध (radius) को Ptolemy के अनुसार साठ भागों के स्थान में १२० भागों में विभाजित करने की पद्धति को अपनाया गया, जिससे चापों के दत्त मूल्य को कोणार्धों की ज्याओं के लिए उसी रूप में ले लिया

१. Kaye, *Hindu Astronomy*, pp. 39 ff,

जाना सम्भव हो सका। केवल आर्यभट में ही हम ज्या-मूल्यों के आवश्यक परिवर्त्तन के साथ व्यासार्ध को ३४३८′ रूप में पाते हैं।

इन ग्रीक तत्त्वों के लेने के प्रकार और समय के विषय में विद्वानों में विवाद रहा है, और ह्विटने[1] (Whitney) का सुझाव था कि उक्त आदान Ptolemy की पद्धति से पहले के समय का है; इस मत की पुष्टि तत्तद्विषयों में बराबर उपलब्ध भेद से होती है, जैसे कि ग्रहों के लघुवृत्तों की आकृतियों में। उक्त प्रश्न में विशेष रूप से अनिश्चितता इस कारण से आ जाती है कि हमको यह पता नहीं है कि Hipparchos और Ptolemy के मध्य-काल में ग्रीक सिद्धान्त-ज्योतिष की किस प्रकार की प्रगति हुई थी। यह सत्य है कि Hipparchos ने पहले से ही सूर्य और चन्द्रमा के सिद्धान्त को तय कर दिया था और उन्होंने ग्रहों के परिभ्रमणों के मध्यम परिक्रमा-कालों (mean periods) का पता लगा लिया था, और ऐसी कल्पना की जा सकती है कि **रोमक-सिद्धान्त** ने, तिथि-पत्र (calendar) की आवश्यकताओं और पुराने भारतीय युग की प्रवृत्ति के अनुसार, केवल सूर्य और चन्द्रमा के विचार से ही अपने को सन्तुष्ट कर लिया होगा। परन्तु Ptolemy का कहना है कि सबसे पहले उन्होंने ही सूर्य से ग्रहों की दूरी पर और मन्दोच्च (apsis) से उनकी दूरी पर आश्रित ग्रहों की गतियों की असंगतियों पर ध्यान दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि **वासिष्ठसिद्धान्त** और **पौलिश-सिद्धान्त** ने ग्रह-सम्बन्धी असंगतियों पर कुछ ध्यान दिया था, परन्तु उसका क्या रूप था यह निश्चय नहीं है। परन्तु उपरि-निर्दिष्ट ज्या-मूल्यों के विषय में समानता के अतिरिक्त भी, जो प्रबल रूप से Ptolemy के परिणामों के उपयोग के पक्ष में है, Ptolemy के विचारों के भारत में पहुँचने के द्वारों के सम्बन्ध में स्थिति की व्याख्या सबसे अच्छी तरह थीबो (Thibaut) के सुझावों के आधार पर की जा सकती है। भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिषी-गण, यदि वे Ptolemy के कार्य से वास्तव में परिचित थे तो, इतने अधिक रूप में और व्यर्थ में ही उनके मत से विपरीत मार्ग का अवलम्बन करते, यह बात निश्चय ही अविश्वसनीय है। परन्तु सम्भवतः उन्होंने अपने विचारों को बहुत अपकृष्ट ढंग की ऐसी पुस्तकों से सीखा था, जो उस हस्त-पुस्तक की तरह की थीं जिसका उपयोग फलित-ज्योतिषी-गण और तिथि-पत्र के बनाने वाले करते थे, जो अपने सारांशों (*résumés*) के आधार के विषय में कोई कष्ट नहीं उठाती थीं, और केवल व्यावहारिक प्रयोजनों की सुविधा की दृष्टि

१. JOAS. vi.470ff. Cf. Thibaut, *Pañchasiddhāntikā*, pp. li ff., *Astronomie* pp. 47 ff.

से अपने परिणामों को देती थीं। ऐसी दशा में यही मानना होगा कि सूर्य-सिद्धान्त जैसे भारतीय सिद्धान्त-ग्रन्थ न तो केवल आदान को और न अनुकूलन (adaptation) को ही दिखाते हैं, प्रत्युत वे केवल हस्त-पुस्तकों पर आश्रित प्रायोगिक नियमों और वाद-विशेष के अस्पष्ट संकेतों के रूप में लिये हुए तत्त्वों के स्वतन्त्र रूप से समायोजन और विकास के ही द्योतक हैं। उक्त आदान का समय निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। यदि, जैसा कि सम्भव है, लाट का, जिन्होंने **रोमक-सिद्धान्त** की व्याख्या की थी, समय ५०५ है, तो उस ग्रन्थ को अधिक से अधिक ४०० ई० के लगभग रखना स्वाभाविक है, और यदि हम ग्रहण का समय ३००–५०० ई० के मध्य में कहीं रखें, तो हम एक सम्भाव्य परिणाम तक पहुँच जाते हैं, यद्यपि उसके पक्ष में कोई पक्का प्रमाण नहीं है। यह उस युग से संगत हो जाता है जब कि गुप्त साम्राज्य रोम के साम्राज्य के साथ व्यवहार के दूसरे क्षेत्रों में सम्पर्क के अनेक लक्षणों को दिखा रहा था, और यह हो सकता है कि सैस्सैनियन राज-वंश के शासन द्वारा उक्त अन्योन्य संसर्ग में वृद्धि हुई हो। परन्तु प्राचीन **सूर्यसिद्धान्त** में हमें विशेष रूप से एक भारतीय प्रतिक्रिया दिखाई देती है; जहाँ यह उचित समझता है वहाँ नवीन विषय को स्वीकार कर लेता है, परन्तु उसे यह यथासम्भव प्राचीन के साथ जोड़ देता है; यह कल्पों के सिद्धान्त में बड़ा-चाव लेता है, उत्तरी ध्रुव में मेरु पर्वत की सर्व-प्रमुखता को पुनः-प्रतिष्ठापित करता है, नक्षत्रों के लिए ग्रन्थ में स्थान देता है, इत्यादि।

जो सिद्धान्त वराहमिहिर को उपलब्ध थे उनमें से कोई भी अपने मूलरूप में हमें प्राप्त नहीं हैं। हम जानते हैं कि भट्टोत्पल के सामने एक **पौलिश-सिद्धान्त** था, परन्तु वह अपने मूल रूप से इतना परिवर्त्तित हो चुका था कि उसके लिए पौलिश यह नाम जारी रखना असंगत हो गया था। वराहमिहिर के **पैतामह-सिद्धान्त** में प्राग्वैज्ञानिक युग से कोई भिन्नता नहीं थी; परन्तु इसमें एक युग का प्रारम्भ शक संवत् के तृतीय वर्ष से होता था, जिससे इसका समय प्राप्त हो सकता है। **विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण** के भाग-रूप **ब्रह्म-सिद्धान्त** से, जिस पर एक मत के अनसार ब्रह्मगुप्त का **स्फुट-ब्रह्म-सिद्धान्त** आधृत है, और **ब्रह्म-सिद्धान्त** अथवा **शाकल्य-सिद्धान्त**[1] से इसका भेद था; ये सब प्राचीन-परम्परानुवर्ती आधुनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं। **रोमक-सिद्धान्त** का कदाचित् लाट द्वारा ५०५ ई० के लगभग परिष्कार किया गया था, और तदनन्तर उसका आधुनिक अर्थ में मौलिक परिष्कार श्रीषेण ने किया, जिनकी रचना का काल लाट के पश्चात् और ब्रह्मगुप्त से पहले है। ऐसा लगता है

१. Eggeling, IOC. i. 998 ff.

कि ब्रह्मगुप्त के समय से पहले ही **वासिष्ठ-सिद्धान्त** का परिष्कार विजयनन्दी न और तदनन्तर विष्णुचन्द्र ने किया था; परन्तु उपलब्ध **लघु-वासिष्ठ-सिद्धान्त**[1] का सम्वन्ध स्पष्टतः न तो मूल **वासिष्ठ-सिद्धान्त** से है और न उसके परिष्कार से है, और **वृद्ध-वासिष्ठ-सिद्धान्त**[2] भी, जो हस्तलेखों में वर्त्तमान है, उतना ही उससे असम्वद्ध दीखता है। **सूर्य-सिद्धान्त**[3], जो हमें चौदह श्लोकात्मक अध्यायों में मिलता है, स्पष्टतः अनेक दृष्टियों से मूल से आधुनिक रूप में लाया हुआ है; सम्भवतः इसमें लाट का हाथ था, क्योंकि अल्वेरूनी इसको उन्हीं की कृति वतलाते हैं, और उन्होंने **रोमक-सिद्धान्त** और **पौलिश-सिद्धान्त** पर टीकाएँ भी लिखी थीं।

३. आर्यभट और परवर्त्ती सिद्धान्त-ज्योतिषी

पञ्चसिद्धान्तिका के पता लगने से पहले भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष में नवीन विचारों को लेने का संमान प्रायेण कुसुमपुर के आर्यभट को दिया जाता था, जो ४७६ ई० में उत्पन्न हुए थे और जिन्होंने ४९९ में अपने ग्रन्थों को लिखा। उनकी उपलब्ध रचनाएँ केवल ये हैं: १० आर्या-पद्यों के रूप में **आर्यभटीय**[4]; **दशगीतिकासूत्र**, जिसमें वे अपनी अंकों की संकेत-लिपि देते हैं; और १०८ आर्याओं में **आर्याष्टशत**, जिसके तीन भागों में से प्रथम भाग **गणित** में गणित पर ३३ पद्य हैं, द्वितीय भाग **कालक्रिया** में काल के माप पर २५ पद्य हैं, और तृतीय भाग **गोल** में गोल विषय पर ५० पद्य हैं। उनके अन्य ग्रन्थ नष्ट हो गय हैं; अल्वेरूनी अपने समय में भी उनकी योग्यता-विषयक अपने विचार केवल ब्रह्मगुप्त द्वारा उनके खण्डन के आधार पर ही बना सके थे। हमारे महत्तर ज्ञान के प्रकाश म उनकी ख्याति में मात्राधिक्य दिखाई देता है, क्योंकि वास्तव में वे प्राचीन **सूर्यसिद्धान्त** से आगे बहुत अधिक नहीं जाते हैं और उनके विचार प्रायेण **पौलिश-सिद्धान्त** के विचारों से मिलते हैं; परन्तु हो सकता है कि उनकी प्रशंसा का कारण उनकी रचना की संक्षिप्तता और सौन्दर्य रहा हो; इसके अतिरिक्त, उनके ग्रन्थ में ही पहले-पहल सिद्धान्त-ज्योतिष के सम्बन्ध में गणित पर विचार एक विशिष्ट अध्याय में दिया गया है, और हो सकता है कि उनके द्वारा सिद्धान्त-ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों का विभाजन प्रभावकर माना गया हो। जो कुछ भी हो, यह बात वास्तव में अत्यन्त रोचक है कि उनके मत म पृथ्वी एक गोल है और अपनी धुरी पर घूमती है; इस विचार को न तो वराहमिहिर

---

१. Ed. Benares, 1881.

२. Eggeling, IOC. i. 991.

३. Ed. BI. 1854-8 and 1909 ff.; trans. W.D.Whitney, JAOS. vi. 141 ff.; cf. S. B. Dikshit, IA. xix. 45 ff.; टीका के लिए IOC. i. 996 ff.; ii. 765 ff.

४. Ed. H. Kern, Leiden, 1874. Cf. Kaye, JPASB. 1908, pp. 111 ff.

ने, और न ब्रह्मगुप्त ने पसन्द किया था; यदि आर्यभट का मत ठीक है, तो यह कैसे होता है कि श्येन-पक्षी आकाश से अपने घोंसलों में लौट आते हैं, और ध्वजाएँ पृथ्वी की गति के परिणामस्वरूप सदा एक ही दिशा में क्यों नहीं उड़ती हैं ? ऐसा प्रलोभन होता है कि यहां आर्यभट द्वारा ग्रीस देश से आदान मान लिया जाय, परन्तु स्पष्टतः यह केवल एक कल्पना ही है। हमें ज्ञात होता है कि वे मेरु की ऊँचाई में विश्वास नहीं करते थे, चारों युगों की लम्बाई के विषय में परम्परा के अनुसार भेद माने जाने पर भी, उन्होंने उनकी लम्बाई बराबर की ही मानी, और उन्होंने ग्रहणों का कारण, राहु के व्यापार को न मान कर, चन्द्रमा और पृथ्वी की छाया को ही माना, जिसके लिए ब्रह्मगुप्त ने उनकी घोर निन्दा की है। आर्यभट से उसी नाम के एक दूसरे लेखक का भेद करना आवश्यक है; अल्बेरूनी उनसे परिचित थे और एक बड़े आकार का ग्रन्थ, **आर्यसिद्धान्त**[1], उपलब्ध है, जिसका समय लगभग ९५० बतलाया जाता है और जो अंकों की अपनी संकेत-लिपि में उपरिनिर्दिष्ट आर्यभट से बिल्कुल भिन्न है।

लाट और आर्यभट के अतिरिक्त, वराहमिहिर सिंह, प्रद्युम्न, और विजयनन्दी का भी उल्लेख करते हैं। उन्होंने अपना काम मुख्यतः फलित-ज्योतिष के क्षेत्र में ही किया था, परन्तु उनकी **पञ्चसिद्धान्तिका** का ऐतिहासिक महत्त्व अतीव महान् है, यद्यपि पाठ के भ्रष्ट होने से और प्राचीन टीकाओं के अभाव में उसमें अस्पष्टार्थता विद्यमान है। अल्बेरूनी की सम्मति उनके विषय में अच्छी थी, और वे अपनी सामान्य बुद्धि का परिचय देते हैं जब वे ग्रहणों की व्याख्या के लिए ग्रहों के संगम को कारण नहीं मानते हैं। ब्रह्मगुप्त का महत्त्व उनसे कहीं अधिक था; उनका जन्म ५९८ ई० में मुलतान के समीप भिल्लमल्ल में हुआ था; उनके पिता का नाम जिष्णु था; उन्होंने अपने **ब्राह्म-सिद्धान्त**[2] अथवा **स्फुटसिद्धान्त** की रचना ६२८ में की थी। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, अनुश्रुति के अनुसार ऐसा समझा जाता है कि इस ग्रन्थ का आधार **विष्णुधर्मोत्तर** का एक भाग है, परन्तु यह हो सकता है कि स्वयं **विष्णुधर्मोत्तर** का वर्णन ब्रह्मगुप्त से ही लिया गया हो। ६६५ में उन्होंने **खण्डखाद्यक**[3] की रचना की थी, जो कि एक **करण** अर्थात् व्यवहारोपयोगी ऐसा ग्रन्थ है जिसमें सिद्धान्त-ज्योतिष-सम्बन्धी गणनाओं के लिए सुविधाजनक ढंग में सामग्री दी हुई है। इसका आधार आर्यभट का एक ग्रन्थ था जो नष्ट हो चुका है, और जो **सूर्यसिद्धान्त**

१. Ed. Benares, 1910. Cf. Fleet, JRAS. 1911, pp. 788 ff.; 1912, pp. 459 ff.

२. Ed. *Pandit*, N. S. xxiii and xxiv.

३. Ed. Babuya Misra, Calcutta, 1925.

के साथ सहमत थे। मूलतः ब्रह्मगुप्त उसी ग्रन्थ के स्तर पर हैं, परन्तु उनमें व्यवस्थितता और पूर्णता कहीं अधिक है, और **सिद्धान्त** के ११वें परिच्छेद में वे बड़ी कठोरता के साथ ऐसे स्वर में आर्यभट का खण्डन करते हैं जिसके लिए समुचित रूप में अल्बेरूनी ने उनकी निन्दा की है। यह भी स्पष्ट है कि अपने उक्त पूर्ववर्ती की अपेक्षा उन पर परम्परानुवर्त्तिता का कहीं अधिक प्रभाव था। आर्यभट के समान वे भी गणित के विशेषज्ञ थे। **सिद्धान्त** के एक परिच्छेद में उन्होंने सिद्धान्त-ज्योतिष के प्रश्नों का समाधान किया है।

शिष्यधीवृद्धितन्त्र[1] के रचयिता लल्ल को, यद्यपि परम्परा के अनुसार वे आर्यभट के शिष्य माने जाते हैं, सम्भवतः ब्रह्मगुप्त के बाद ही रखना चाहिए। उनके ग्रन्थ पर भास्कर ने व्याख्या की थी। **राजमृगाङ्क**, जो कि १०४२ का एक **करण**-ग्रन्थ है, भोजकृत समझा जाता है। शतानन्द-कृत **भास्वती**[2] भी एक **करण** है; इसकी गणना १०९९ से प्रारम्भ होती है। ११५० में लिखा गया भास्कराचार्य-कृत **सिद्धान्त-शिरोमणि**[3] कहीं अधिक महत्त्व-युक्त है। इसके चार भाग हैं, **लीलावती**, **बीजगणित**, जिनमें कि उनके ग्रन्थ का गणित-सम्बन्धी भाग संनिविष्ट है, और **ग्रहगणित** तथा **गोल**, जिन अध्यायों में वास्तविक सिद्धान्त-ज्योतिष का निरूपण है। **गोल** में एक प्रकरण सिद्धान्त-ज्योतिष-सम्बन्धी प्रश्नों पर है, एक निबन्ध में सिद्धान्त-ज्योतिष-सम्बन्धी उपकरणों का निरूपण है, और अन्त में ऋतुओं का वर्णन है। उनके **करण-कुतूहल**[4] का समय ११७८ है। उनकी प्रवृत्ति **सूर्यसिद्धान्त** और **ब्रह्मगुप्त** की अनुगामिनी है, परन्तु वे अपने प्रतिपादन में स्पष्ट और यथार्थ हैं, जब कि उनकी अपने आर्या-पद्यों पर लिखित व्याख्या का यह गुण है कि वह उनकी संदिग्धार्थक शब्दावली को बोधगम्य कर देती है। भास्कर के बाद भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष में कोई प्रगति नहीं दिखाई जा सकती, यद्यपि उनके अनन्तर **मकरन्द-सारिणी** (१४७८), **तिथ्यादिपत्र**, अथवा केशव के पुत्र गणेश द्वारा १५२० में लिखा गया **ग्रहलाघव** जैसे लोक-प्रिय ग्रन्थ रचे गये थे। फ़ारसी और अरबी प्रभावों के आने से भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ, और न पाश्चात्य विज्ञान से कभी इसके विलोप का अवसर उपस्थित हुआ है।

---

१. Cf. Kern, *Āryabhaṭīya*, p. vi.

२. Ed. Benares, 1883.

३. Ed. Benares, 1866; M. Jhā, *Pandit*, N. S. xxx-xxxiii.

४. Ed. Benares, 1881.

४. आर्यभट और परवर्ती गणित-शास्त्रज्ञ

जैसा हम देख चुके हैं, आर्यभट प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अपने सिद्धान्त-ज्योतिष में निश्चित रूप से एक गणिताध्याय[1] का संनिवेश किया था। उसमें उन्होंने घातमूलक्रिया (evolution), घातक्रिया (involution), क्षेत्रफल (area) और आयतन (volumes) का निरूपण किया है; तब, वृत्त (circle), छाया-प्रश्न (shadow-problems), आदि का निरूपण करने वाले एक अर्ध-सिद्धान्त-ज्योतिषीय प्रकरण के अनन्तर, वे श्रेढियों (progressions) और वीजगणितीय ऐकात्म्यों (algebraic identities) का निरूपण करते हैं। गणित के अवशिष्टांश में उदाहरणों का विषय है, केवल अन्त में एक-घातीय अनिर्णीत समीकरण (indeterminate equations of the first degree) ($ax+by=c$) दिये गये हैं। हम 'पाई' (π) का उल्लेखनीय रूप से ठीक-ठीक मूल्य[2], अर्थात् ३·१४१६, पाते हैं। साथ ही epanthem[3] इस शब्द से परिज्ञात नियम को, और 'तीन बराबर संख्याओं का फल घन (cube) होता है और उसमें भी वारह कोने होते हैं', लक्षण करने के इस प्रकार के ढंग को भी, जो अन्यथा भारत में उपयोग में नहीं आता है, हम यहां पाते हैं। दूसरी ओर, हमें एक सूच्यग्रस्तम्भ (pyramid) तथा एक गोल (sphere) के आयतन (volume) में स्पष्ट अशुद्धियों को रखना चाहिए। उनकी संकेत-लिपि[4] अद्भुत है; यह क् से लेकर म् तक के व्यञ्जनों को १ से २५ तक के लिए काम में लाती है, शेष य् से ह् तक का उपयोग ३० से १०० तक के लिए होता है, जब कि स्वरों से १०० के घातांकों से गुणन का अर्थ लिया जाता है, इस प्रकार अ का अथ है $१००^०$ और औ का $१००^{१६}$।

ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में अति संक्षेप में जिन विषयों का निरूपण किया गया है वे ये हैं—अंकगणित की साधारण क्रियाएँ, वर्ग और घन-मूल, त्रैराशिक, व्याज, श्रेढियां (progressions), परिमेय जात्य-त्रिभुज-मीमांसा (treatment of the rational right-angled triangle) और वृत्त के तत्त्वांशों के सहित रेखागणित, घनों की आरम्भिक क्षेत्रमिति (elementary

---

१. दे० Kaye, *Indian Mathematics.* (1915); *Scientia.* xxv. 1 ff.

२. महाभारतीय मूल्य है ३·५; Hopkins, JAOS, xxiii. 154 f.

३. यह Thymaridas (३८० ई०) और Iamblichos (३५०) को परिज्ञात है।

४. Cf. Fleet, JRAS. 1911, pp. 109 ff.; IHQ. iii. 116.

mensuration of solids), छाया-सम्बन्धी प्रश्न, ऋण तथा धन मात्राएँ (negative and positive quantities), शून्य, करणियां (surds), साधारण बीजगणितीय ऐकात्म्य, पर्याप्त विस्तार के साथ प्रथम तथा द्वितीय घातीय अनिर्णीत समीकरण, और प्रथम तथा द्वितीय घातीय साधारण समीकरण, जिनका संक्षिप्त निरूपण ही किया गया है। चक्रिय चतुर्भुजों पर विशेष ध्यान दिया गया है। तदनन्तर, नवीं शताब्दी में, राष्ट्रकूट नृपति अमोघवर्ष के समाश्रय में हम महावीराचार्य के **गणितसारसंग्रह**[1] को पाते हैं। इसमें पाक-विद्या से लेकर तर्कशास्त्र पर्यन्त प्रत्येक प्रकार की विद्या के लिए गणित के महत्त्व पर बल दिया गया है, और अपने प्रतिपादन में उस सौन्दर्य को लाने का यत्न किया गया है जिसको और अधिक मात्रा में आगे चल कर भास्कर ने अपनी रचना में दिखाया था। यह ग्रन्थ ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ की अपेक्षा विषय की दृष्टि से अधिक विस्तृत और कुछ अधिक मात्रा में प्रारम्भिक है; इसमें अनिर्णीत समीकरणों के समाधानों के बहुत से उदाहरण दिये गये हैं, परन्तु ब्रह्मगुप्त की 'चक्रिय विधि' (cyclic method) को नहीं दिया है; इसमें रेखागणितीय श्रेढियों का समावेश किया गया है और दीर्घवृत्तों का केवल इसमें ही प्रतिपादन, अशुद्ध रीति से, पाया जाता है; परन्तु नियमित बीजगणित का इसमें अभाव है। श्रीधर का जन्म ९९१ में हुआ था। उनकी रचना **त्रिशती**[2] है, जिसमें उनका स्तर महावीर के जैसा ही है। परन्तु वर्ग-समीकरणों का भी उन्होंने निरूपण किया था, इस रूप में उनका उल्लेख मिलता है। भास्कर की **लीलावती**[3] श्रीधर के ग्रन्थ पर, ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों पर और किसी पद्मनाभ पर आधृत है, जिसमें एक सुन्दर युवती को सम्बोधित करते हुए प्रश्न किये गये हैं; इसमें संचयों (combinations) का भी निरूपण है। **बीजगणित** में, जिसमें ब्रह्मगुप्त के साथ अधिक साम्य है, भारतीय बीजगणित का सबसे अधिक पूर्ण और व्यवस्थित प्रतिपादन है। भास्कर के साथ ही भारतीय गणित-शास्त्र के क्रियाशील युग का अन्त हो जाता है; उनके पौत्र[4] चङ्गदेव ने १२०५ में उनकी रचनाओं के अध्ययन के लिए एक संस्था की स्थापना की थी, परन्तु ऐसा लगता है कि उसकी रुचि फलित-ज्योतिष की ओर ही रही। पेशावर में अपने अनुसन्धान

---

१. Ed. and trans. M. Raṅgācārya, Madras, 1912.

२. दे० N. Rāmānujācarya, *Bibl. Math.*, 1913, pp. 203 ff.

३. दे० H. T. Colebrooke. *Algebra* (1817); उनके अनुवाद का संपादन, H. Ch. Banerji, Calcutta, 1893. Cf. Brockhaus, BSGW. 1852, pp. 1-46.

४. दे० EI. i. 338 ff.

के स्थान पर 'बखशाली हस्तलेख'[1] (Bakhshali manuscript) इस नाम से परिज्ञात गणितीय हस्तलेख का समय संदिग्ध है। यह सूत्र-शैली में लिखा हुआ है, परन्तु दैनिक जीवन से लिये हुए इसके उदाहरण श्लोकों में हैं और उनकी व्याख्याएँ गद्य में हैं। इसकी मिश्रित संस्कृत के आधार पर हेर्नले (Hoernle) ने इस ग्रन्थ को तृतीय या चतुर्थ शताब्दी ई० की रचना ठहराया था, और प्राचीन-लिपि-शास्त्रीय आधारों पर उक्त हस्तलेख को आठवीं या नवीं शताब्दी का बतलाया था। परन्तु ये निष्कर्ष निश्चितता से दूर हैं; और उक्त ग्रन्थ अधिक परवर्ती काल का हो सकता है।

५. ग्रीस और भारतीय गणित-शास्त्र

इस युग में ग्रीसदेशीय गणित शास्त्र के साथ भारत के सम्बन्ध का प्रश्न जटिल और कठिन दोनों है, और उसका हल सिद्धान्त-ज्योतिष अथवा फलित-ज्योतिष में से किसी भी एक के विषय में ग्रीस के प्रति भारत के ऋणित्व के आग्रह से नहीं हो जाता है, क्योंकि दोनों विषयों में उस प्रभाव का ठीक-ठीक विस्तार स्पष्ट नहीं है।[2] उक्त प्रश्न में अस्पष्टता इस कारण से भी आ जाती है कि Hypatia के ग्रन्थ, जिसको अलैग्ज़ैंड्रिया की भीड़ ने मार डाला था, नष्ट हो चुके हैं और इसलिए Diophantos (लगभग २६०) के पश्चात् होने वाली गणित-शास्त्र की प्रगति का हम पता नहीं लगा सकते। Athens की दार्शनिक संस्थाओं से ५३० में निकाले गये दार्शनिकों का पर्शिया के राजा ख़ुसरो (Chosrau) के दरबार में ५३२ में आगमन संक्षिप्त था, और इसीलिए उसकी संभावनाओं के सम्बन्ध में अनुमान करने से कोई विशेष लाभ नहीं है, यद्यपि Damaskios और Simplikios भी, जिनकी गणित-शास्त्र में कुछ प्रसिद्धि थी, उक्त दार्शनिकों में सम्मिलित थे। यह तथ्य है कि अनिर्णीत समीकरणों के सम्बन्ध में ग्रीक लोगों ने चतुर्थ शताब्दी तक प्रथम और द्वितीय घातीय और कुछ अवस्थाओं में तृतीय घातीय

---

१. Hoernle, OC. VII, i. 128ff.; IA. xvii. 33 ff. इसके विरुद्ध दे० Kaye, JPASB. 1907, pp. 498 ff.; 1912. pp. 349 ff.

२. Kaye, (*Hindu Mathematics*) ग्रीस के पक्ष में अपेक्षाकृत दूर तक चले जाते हैं। इसके विरुद्ध रंगाचार्य के **गणितसारसंग्रह**, pp. xxi. ff., में दे० D. E. Smith. प्राचीनतर विचारों के लिए दे० Hankel. *Gesch. der Math.*, (1874) pp. 172 ff.; Cantor, *Gesch. der Math.*, i. 505 ff.; M. Simon, *Gesch. der Math.* (1909). और भी दे० J. L. Heiberg, *Mathematics and Physical Science in Classical Antiquity* (1922); D. E. Smith, *Hist. of Mathematics* (1925); Peet, *The Rhind Mathematical Papyrus* (1923); Heath, Hist. (1921).

समीकरणों के परिमेय हलों को प्राप्त कर लिया था, यद्यपि वे आवश्यक रूप से पूर्णांकीय हल नहीं थे। भारतीय लेख स्पष्टतः इससे आगे जाते हैं। ब्रह्मगुप्त $ax \pm by = c$ के पूर्णाङ्क हल के पूरे ज्ञान को दिखाते हैं, और वे $Du^2 + 1 = t^2$ के हल की एक विधि को भी द्योतित करते हैं, जिसको भास्कर भावना-विधि (method by composition) कहते हैं। भास्कर तथाकथित चक्रिय विधि को भी देते हैं, और इन दोनों विधियों के योग को, जिससे पूर्णाङ्क हल प्राप्त होते हैं, हैन्केल (Hankel) ने Lagrange से पूर्व अंक-सिद्धान्त (theory of numbers) में प्राप्त सर्वोत्कृष्ट पदार्थ कहा है। इन आविष्कारों के लिए एक अन्तिम ग्रीक उद्भव को ढूंढ़ना न्याय की अपेक्षा स्थिर आग्रह के कारण अधिक प्रतीत होता है।

दूसरी बात जिस पर भारत में विशेष ध्यान केन्द्रित था वह थी परिमेय जात्य-त्रिभुजों (the rational right-angled triangle) के विषय में पूर्णाङ्क हलों का प्रश्न। इस विषय में प्राप्त परिणाम रोचक हैं और उनकी तुलना Euclid और Diophantos के, तदभिन्न न होते हुए भी, तत्सम्मान कार्य से, तथा Proclus द्वारा Plato के नाम से प्रख्यात हलों से की जा सकती है। ब्रह्मगुप्त, महावीर, और भास्कर सबकी इस विषय में देन है, और उनमें से प्रथम (ब्रह्मगुप्त) प्रारम्भ में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ रोचक कृत्यों को देते हैं; भुजाओं का योग ४० और क्षेत्रफल ६० होता है; भुजाओं का योग ५६ और घातफल ७ × ६०० होता है; क्षेत्रफल संख्या की दृष्टि से (जात्य-त्रिभुज के) कर्ण (hypotenuse) के समान होता है; अथवा भुजाओं के घातफल के समान होता है। ब्रह्मगुप्त ने चक्रिय चतुर्भुजों के सम्बन्ध में भी महत्त्व-युक्त कार्य किया था, और इस प्रकार लब्ध परिणामों में से उनका एक प्रमेय (theorem) था : $x^2 = (ad+bc)(ac+bd)/(ab+cd)$, और $y^2 = (ab+cd)(ac+bd)/(ad+bc)$, जिसमें x और y चक्रिय चतुर्भुज a, b, c, d के विकर्ण (diagonals) हैं। महावीर और श्रीधर ने भी उनके कुछ विषय को दिया है, परन्तु उनके टीकाकारों ने उक्त-सिद्धान्त-विषयक अपना अज्ञान प्रकट किया है, और भास्कर ने जो ऐसा प्रश्न करता है और जो उसका उत्तर देता है दोनों की घोर निन्दा की है। यह रोचक बात है, पर किसी प्रकार भी आदान का प्रमाण नहीं है, कि ब्रह्मगुप्त का एक टीकाकार त्रिभुजों से नये त्रिभुजों को बनाता है और वास्तव में Diophantos द्वारा दिये गये उदाहरणों को ही देता है। इस बात से भी हम कोई निश्चित परिणाम नहीं निकाल सकते हैं कि रेखागणित के विषय में भारतीय गणित-शास्त्र में लक्षणों का अभाव दृष्टिगत होता है, उसमें कोणों का प्रतिपादन नहीं है, समानान्तरों का निर्देश भी

नहीं है, वह अनुपात-सिद्धान्त को भी नहीं देता है, जबकि परम्परागत अशुद्धियाँ उसमें साधारणतया पाई जाती हैं और परवर्ती युग में ज्ञान बराबर ह्रासोन्मुख दीखता है। ग्रीसदेशीय रेखा-गणित में भी ३०० ई० से लेकर यही बातें देखने में आती हैं, और सम्भवतः भारतीय तथ्यों को हम इसी प्रकार की किसी ह्रासोन्मुख ग्रीक संस्था से आदानों के द्योतक के रूप में सबसे अच्छी तरह समझ सकते हैं, परन्तु इस पक्षस्थापना में कोई बल नहीं है।

भारतीय गणित-शास्त्र की स्वतन्त्रता और मौलिकता का समर्थन इस आधार पर किया गया है कि लम्बी संख्याओं के निरूपण और उनकी गणना के सम्बन्ध में अनुराग का उल्लेख भारत में पहले से ही देखा जाता है, जहाँ ऐसा कहा जाता है कि अंक-गणक (abacus)[1] का आविष्कार हुआ था, और यह कि पश्चिम के अंक भारत से लिए गये थे, और जहाँ स्थान-मान-पद्धति (place value system)[2] का प्रारम्भ हुआ था। दूसरी ओर, अंकगणक को अपेक्षाकृत आधुनिक समय का बतलाया जाता है, और ऐसा भी सुझाव दिया गया है कि भारत ने उसे ग्रीस से लिया था। संख्याओं (अंकों) का प्रश्न बहुत संदिग्ध है; ब्राह्मी या खरोष्ठी संकेत-लिपि के अंकों में स्थान-मान नहीं है, परन्तु उनका प्रारम्भ कैसे हुआ यह अनिश्चित है। आर्यभट की विचित्र पद्धति के साथ-साथ, भारत को संख्याओं के लिए शब्दों का प्रयोग भी विदित है, और स्थान-मान वास्तव में नवीं शताब्दी से लेकर अभिलेखों में पाया जाता है, परन्तु ५९५ के एक अभिलेख में उसकी सबसे पहली स्थिति के विषय में सन्देह किया जाता है, यद्यपि **योगभाष्य** स्पष्टतः उससे परिचित है, उसी तरह आर्यभट और वराहमिहिर भी उससे परिचित थे।[3] परन्तु आदान की अनुश्रुति भी पर्याप्त प्राचीन है; भारतीय अंक सीरिया में ६६२ ई० में विदित थे, और Mascudi ब्रह्म राजा द्वारा आहूत ऋषियों के एक सम्मेलन से उनके प्रारम्भ को बतलाता है। ऐसी सम्भावना है कि इस विषय में भारत ने एक बड़ी सेवा की थी, और प्रत्येक दशा में ग्रीस से भारत उत्कृष्ट रहा था। निश्चय ही

---

१. इसके विरुद्ध दे० Kaye, JPASB. 1908, pp. 293 ff., पर दे० Fleet, JRAS. 1911, pp. 121, 518 ff. Cf. IHQ. iii. 357 ff.

२. See Kaye, JPASB. 1907, pp. 475 ff.; Bubnow, *Arithmetische Selbständigkeit der europäischen Kultur* (1914); तद्विरुद्ध D. E. Smith and L. C. Karpinski, *The Hindu Arabic Numerals* (1911); Nau, JA. *sér*. 10, xvi. 225-7; C. de Vaux, *Scientia*, 1917, pp. 273 f.; Sukumar Ranjan Das, IHQ. iii. 100 ff., 356 ff.

३. Woods, HOS. xvii. 216.

यह पूर्णतया सम्भव है, और सिद्धान्त-ज्योतिष तथा फलित-ज्योतिष से सम्बद्ध तथ्यों की दृष्टि से बिलकुल असंभावित भी नहीं है, कि भारत ने गणित-शास्त्र-विषयक अपनी प्रेरणा को ग्रीस से उन हस्त-पुस्तकों के रूप में लिया था जिनसे उसने अपने सिद्धान्त-ज्योतिष का आदान किया था। इस बात की पुष्टि निश्चित रूप से आर्यभट द्वारा π के मूल्य निर्धारण से होती है, जो पुलिश के नाम से भी प्रसिद्ध है, और Apollonios और Ptolemy को उसका ज्ञान था।

हाल में भारत के इस दावे पर भी कि अरबी गणित-शास्त्र को प्रेरणा उससे ही मिली थी आक्षेप किया गया है। उसका आधार यह है कि मुहम्मद इब्न मूसा (७८२) अपने Algebra (बीजगणित) में वास्तव में, जैसा चिरकाल से समझा जाता था, भारत से प्रभावित न होकर, ग्रीस से प्रभावित हैं, और इस विषय में भारत का कोई वास्तविक महत्त्व है—इसके विरोध में एक अच्छा पक्ष स्थापित किया गया प्रतीत होता है; परन्तु इस विरुद्ध स्थापना के पक्ष के लिए भी समानरूप में कोई दृढ़ आधार नहीं है कि ब्रह्मगुप्त के पश्चात् कम से कम भास्कर के समय तक भारत ने अरब-देशीय गणित-शास्त्र से आदान किया था। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ७७१ ई० से लेकर अरब-देशीय विज्ञान ने भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष से खुले रूप में आदान किया था[1] और ऐसा करने में आर्यभट और ब्रह्मगुप्त दोनों का अनुवाद और स्वानुरूपीकरण किया गया था। इसलिए, यदि हम यह मानते हैं कि गणित शास्त्र में अरब देश भारत पर अनाश्रित था, तो हमारे लिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि सिद्धान्त-ज्योतिष या फलित-ज्योतिष का आदान गणित-शास्त्र के आदान के लिए निश्चायकरूप में उपस्थित नहीं करना चाहिए। चीनी गणित-शास्त्र के साथ समानताएँ[2] बहुत-सी और रोचक भी हैं, और निश्चित रूप से यह बात बहुत दिनों से कही जाती रही है कि नक्षत्रों की प्रणाली का, जो प्राचीन भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष में पाई जाती है,[3] आविष्कार चीन ने किया था। परन्तु कम से कम वर्त्तमान स्थिति में चीन पर आश्रित होने की बात सिद्ध नहीं हो पाई है, और चीन पर भारतीय प्रभाव चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास से तथा मध्य एशिया की खोजों से पर्याप्त रूप से सिद्ध है।

---

१. Nallino, ERE. xii. 95.

२. दे० Yoshio Mikami, *Development of Mathematics in China and Japan* (1913); Kaye, *Indian Mathematics*, pp. 37-41; Smith, *Hist.*, i. 22ff., 138 ff, 148ff.

३. Cf. Oldenberg, GN. 1909, pp. 544 ff.

६. वराहमिहिर और प्राचीन फलित-ज्योतिषी

नभःस्थ पिण्ड मनुष्यों के भाग्य पर प्रभाव डालते हैं और उनकी दृष्टि से भविष्य को पहले से बतलाया जा सकता है, भारत में यह बहुत पुराना विश्वास है; यह दूसरी बात है कि उसको हम भारत की स्वतन्त्र उपज मानें या बैबिलन (Babylon) से आया हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्रों में हम पुण्य नक्षत्रों के विचार की मान्यता को पाते हैं, और धर्मसूत्रों में यह विधान पाया जाता है कि राजा को एक पुरोहित के समान एक फलित-ज्योतिषी भी अपने पास रखना चाहिए, जबकि अर्थशास्त्र में दरबारी भाट, पुरोहित के अनुचर-वर्ग, फलित-ज्योतिषी इन सबकी गणना निम्नकोटि के दरबारी कार्यकर्ताओं में की गई है। युद्ध में फलित-ज्योतिषी की आवश्यकता लक्षणों से परिणाम की भविष्यवाणी के लिए, और सेना के प्रोत्साहनार्थ और शत्रु को भयभीत करने के लिए होती है। दूसरी ओर, यह बात भी है कि एक ऐन्द्रजालिक के समान फलित-ज्योतिषी को कर्मकाण्डीय दृष्टि से अपवित्र माना जाता है, और बौद्ध लोग अन्य अनेक पेशों के समान उक्त पेशे की भी निन्दा करते हैं।

इस विषय में सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है कि फलित-ज्योतिष-विषयक पाठ्य-ग्रन्थों की भारी संख्या थी। वराहमिहिर, जिनके महान् ग्रन्थ के कारण समस्त पुराने ग्रन्थ तिरोहित हो गये, प्रामाणिक ग्रन्थकारों में, असित देवल, गर्ग, वृद्ध गर्ग, नारद और पराशर का उल्लेख करते हैं। इनके ग्रन्थों के संभवतः वास्तविक खण्डित अंश उपलब्ध हैं, परन्तु सबसे अधिक खण्डित अंश वृद्धगर्गसंहिता अथवा **गार्गीसंहिता**[1] के उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ कृत्रिम-भविष्यवाणी के रूप में भारत में ग्रीस-देशीय लोगों के राज्य के उल्लेख के लिए सुप्रसिद्ध है। ई० पू० प्रथम शताब्दी में यह ग्रन्थ मौजूद था, ऐसा सोचना केवल कल्पना-मूलक ही है। परन्तु इसका महत्त्व इस निश्चित कथन के कारण है कि यद्यपि ग्रीक लोग (यवनाः) म्लेच्छ हैं[2] तो भी फलित-ज्योतिष-शास्त्र उनमें सुप्रतिष्ठित है, और यह कि उस शास्त्र के जानने वाले ऋषियों के समान पूजित होते हैं; फिर उस शास्त्र में परिनिष्ठित ब्राह्मण तो और भी अधिक सम्मान के योग्य हैं।

---

१. इन ग्रन्थों का पारस्परिक संबन्ध अनिश्चित है; Kern, *Bṛhatsaṁhitā*, pp. 33 ff. Weber ने (ABA. 1862, pp. 33 ff., 40 ff.; IS. ix. 460 ff.) **गार्गीसंहिता** के सिद्धान्त-ज्योतिष-विषयक मन्तव्यों को दिया है; गर्ग को अथर्वपरिशिष्टों का ग्रन्थ-कर्ता कहा जाता है, li, lxii, lxiv. Weber हस्तलेख (JASB. lxii. 9) में सिद्धान्त-ज्योतिष पर पौष्करसादी के ग्रन्थ का एक अंश सम्मिलित है।

२. तु० बृहत्संहिता, २।१५।

वराहमिहिर स्वयं ज्योतिष-शास्त्र को तीन शाखाओं में विभक्त करते हैं। प्रथम, सिद्धान्त-ज्योतिष- और गणित-सम्बन्धी आधार, जिसको तन्त्र कहा जाता है; दूसरे होरा, जिसका सम्बन्ध जन्म-पत्रों से है, और उसका नाम प्रत्यक्षतः ग्रीक भाषा का है; तृतीय, संहिता, भौतिक फलित-ज्योतिष के क्षेत्र से सम्बद्ध है। सिद्धान्त-ज्योतिष पर उनके ग्रन्थ का उल्लेख किया जा चुका है, परन्तु, यद्यपि उसका महत्त्व है, तो भी उनकी बृहत्संहिता[1] से उसका महत्त्व कहीं कम है। इस ग्रन्थ में वे अपने को ज्ञान के विस्तृत क्षत्रों में अपने समय की विद्या का अधिकारी विद्वान्, और भाषा और छन्द में पूर्णतः प्रवीण प्रदर्शित करते हैं। उनकी रचना में कभी-कभी कवित्व-सम्बन्धी योग्यता का वास्तविक संस्पर्श भी देखने में आता है। ग्रन्थ की विषय-सीमा विशाल है। फलित-ज्योतिष के ज्ञान के माहात्म्य पर बल देने के पश्चात्, वे सूर्य की गतियों के प्रभावों का, चन्द्रमा में होने वाले परिवर्तनों का, ग्रहों के साथ उसके संयोगों और ग्रहणों का निरूपण करते हैं। तदनन्तर वे विभिन्न नक्षत्रों को लेते हैं और मनुष्य के भाग्य पर उनके प्रभावों का वर्णन करते हैं। प्रसङ्गतः चौदहवें अध्याय में भारतीय भूगोल का एक रेखा-चित्र दिया गया है, और साथ ही हमें पता लगता है कि प्रत्येक ग्रह के रक्षणात्मक प्रभाव में कौन-कौन से देश, लोग और वस्तुएँ आती हैं; ग्रहों की गतियाँ राजाओं के युद्धों का भी निर्धारण करती हैं; और प्रत्येक संवत्सर का शुभ फल अथवा अशुभ फल उस ग्रह के कारण होता है जो उसका स्वामी है। ऋतु के लक्षणों के साथ-साथ इस बात को भी बतलाया गया है कि केवल फ़सलों की ही नहीं किन्तु मूल्यों के चढ़ाव और उतार की भी भविष्य-वाणी कैसे की जा सकती है। इन्द्रध्वजोत्सव का कवित्वपूर्ण वर्णन दिया गया है (४३) और उसके अनन्तर और भी धार्मिक विषय का प्रतिपादन किया गया है। वास्तु-विद्या, तालाबों का खोदना, बाग-बगीचों का लगाना, और मूर्त्ति-निर्माण इन विषयों का, इनके सम्बन्ध में फलित-ज्योतिषी के महत्त्व के कारण, महत्त्व-पूर्ण अध्यायों (५३–६०) में निरूपण किया गया है। तदनन्तर बैलों, कुत्तों, मुर्ग़ों, कछुओं, घोड़ों, हाथियों, मनुष्य, स्त्री, आतपत्रों, इत्यादि के विशेष लक्षणों का वर्णन (६१–७३) दिया गया है। स्त्रियों की प्रशंसा, जो कि एक सुभाषित-संग्रह के योग्य है, ७४वें अध्याय में दी गई है, और तदनन्तर एक प्रकरण में अन्तःपुर के जीवन का वर्णन दिया गया है, जिसमें **कामसूत्र** और **अर्थशास्त्र** के साथ सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। शय्याओं और आस्तरणों को उसके बाद (७९) दिया गया है, तदनन्तर रत्नों[2] का (८०–

---

१. Ed. H. Kern, BI. 1865; *VizSS.* 1895-7; trans. C. Iyer, Madura, 1884.

२. Ed. and trans. L. Finot, *Les lapidaires indiens*, pp. 59 ff.

८३) वर्णन है; छोटे-छोटे अध्यायों में दीपकों और दन्त-धावनों का वर्णन है; तब एक लम्बा शाकुन प्रकरण ग्यारह अध्यायों में दिया गया ह; अवशिष्ट भाग में, दो अध्यायों (१०० और १०३) में विवाह का विषय है, जब कि अध्याय १०६ में ग्रन्थ समाप्त हो जाता है, तदनन्तर एक विषय-सूची दी हुई है। विवाह का विषय ग्रन्थकार के ही बृहद्-विवाह-पटल और स्वल्प-विवाह-पटल नामक ग्रन्थों में भी लिया गया है। अपने योग-यात्रा[1]-नामक ग्रन्थ में वे राजाओं के युद्धों का विचार करते हैं। यह ग्रन्थ दो रूपों में मिलता है। उसके प्रथम भाग में वे राजा और फलित-ज्योतिषी के सम्बन्ध के विषय पर, जिसका स्पर्श-मात्र बृहत्संहिता में किया गया है, फिर से विचार करते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि राजा और फलित-ज्योतिषी दोनों के अपने-अपने कर्त्तव्य हैं। बृहत्संहिता के समान, इन ग्रन्थों में भी हम स्वयं भारत में ही प्रचलित विचारों के विकास के अतिरिक्त किसी अन्य बात के देखने का कोई आधार नहीं पाते हैं।

७. ग्रीस और भारतीय फलित-ज्योतिष

परन्तु फलित-ज्योतिष के होरा प्रकरण की स्थिति स्पष्टतः भिन्न है, जिस विषय पर वराहमिहिर हमारे लिए बृहज्जातक[2] और लघु-जातक को छोड़ गये हैं। होरा इस नाम का और दूसरे शब्दों का ग्रीस से आदान सुस्पष्ट है और उन शब्दों को एक भारतीय रूप देने के प्रयत्न पर ध्यान देना पूर्णतः रोचक है; भावों (houses) के नाम किसी सन्देह के बिना उनके ग्रीक आधार को सिद्ध कर देते हैं: होरा, पणफर, आपोक्लिम, हिबुक, त्रिकोण, जामित्र, मेषूरण; क्रान्ति-वृत्त (राशिचक्र) के चिन्हों में अनुवादों के साथ-साथ क्रिय, तावुरि, जितुम, लेय, पाथोन, जुक, कौर्प्य, तौक्षिक, आनोकेरो, हृद्रोग, और इत्थ्य ये सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त, उनके मय, सत्याचार्य, विष्णुगुप्त, देवस्वामी, जीवशर्मा, पिण्डायु, पृथु, शक्ति-पूर्व, और सिद्धसेन इन प्रमाण-भूत ग्रन्थकारों के साथ में मणित्थ और यवनाचार्य के नाम भी आते हैं। सारी कठिनता उस समय के विषय में है जबकि आदान हुआ था। याकोबी[3] (Jacobi) के मतानुसार यह आदान चौथी शताब्दी से पहले नहीं हुआ होगा, क्योंकि उस आदान का स्तर वह प्रतीत होता है जो कि Firmicus

---

१. Ed. and trans. H. Kern, IS. x. 161 ff.; xiv. 312 ff. विभिन्न पाठ उपलब्ध हैं; IOC. i. 1057; *Nepal Catal.*, p. xxx.

२. Trans. N. Ch. Aiyar, Madras, 1905; SBH. 12, 1912. Cf. Haraprasād, *Nepal Catal.*, p. xxxi.

३. *De astrologiae Indicae 'Hora' appellatae originibus* (1872). Cf. Fleet, JRAS 1912, pp. 1039 ff.

Maternus (लगभग ३५०) के ग्रन्थों में प्राप्त हो चुका था, परन्तु यह किसी प्रकार निश्चित नहीं है कि यह मत अब भी स्वीकार किया जा सकता है। **यवन-जातक** के एक नेपाली हस्तलेख[1] में एक अतीव अस्पष्ट और खण्डित लेख पाया जाता है जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि किसी यवनाचार्य ने इस ग्रन्थ को अपनी ही भाषा से एक अनिर्दिष्ट सम्वत् के ९१वें वर्ष में अनुवाद किया था, जब कि एक दूसरे व्यक्ति, राजा स्फूजिध्वज, ने उसी ग्रन्थ को ४००० इन्द्रवज्रा पद्यों के रूप में १९१ में प्रकाशित किया। दूसरी ओर वराहमिहिर के टीकाकार भट्टोत्पल एक यवनेश्वर स्फुजिध्वज के विषय में हमें बतलाते हैं कि उन्होंने शक संवत् का उपयोग किया था, और इसीलिए उस व्यक्ति को हम उक्त दोनों लोगों के युग्म की थोड़ी बहुत अव्यवस्थित स्मृति मान सकते हैं—यह तभी हो सकता है जबकि उक्त खण्डित लेख ने वास्तविक तथ्यों को तिरोहित नहीं कर दिया है—ऐसा माना जावे। केर्न (Kern) के इस सुझाव[2] में कि यवनेश्वर वराहमिहिर के पश्चाद्भावी थे इस तथ्य की अवहेलना कर दी गई है कि वराहमिहिर एक यवनाचार्य का उल्लेख करते हैं, जिनसे इसी ग्रन्थकार का अभिप्राय हो सकता है, जिनका समय उस दशा में १६९ ई० होगा। **यवनजातक** के उत्तरकालीन पाठ भी उपलब्ध हैं, एक **वृद्धयवन-जातक** ८००० पद्यों में है, और एक दूसरा पाठ मीनराज यवनाचार्य[3] का बतलाया जाता ह, जो आवश्यक रूप से वराहमिहिर से पूर्व का हो ऐसा नहीं है, परन्तु साक्ष्य के आधार पर याकोवी की तिथि पर पूर्णतया विश्वास कर लेना स्पष्टतया कठिन हो जाता है। मणित्थ की तुलना *Apotelesmata* के ग्रन्थकार Manetho से की गई है, और इस मत की सबल पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि उनको प्राचीन ग्रीक आचार्यों से सहमत और वराहमिहिर तथा सत्याचार्य से असहमत बतलाया गया है। याकोवी की तिथि फ़्लीट (Fleet) द्वारा समर्थित की गई ह, जो वराहमिहिर के अनुसार ग्रहों के क्रम पर, जो सूर्य से शुरू होता है, बल देते हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि भारत ने एक यहूदी-क्रिश्चियन सप्ताह को अपनाया था—यहूदी क्रम की दृष्टि से और क्रिश्चियन नामों की दृष्टि से। हम जानते हैं कि, Dio Cassius के अनुसार, तिथि-पत्र के लिए ग्रहों के नामों का उपयोग उनके

---

१. Haraprasād, *Report I*, p. ৪; II, p. 6; *Magadhan Literature*, p. 129; *Nepal Catal.*, p. xxx.

२. **बृहत्संहिता**, पृ० ५१.

३. Eggeling, IOC. i. 1096. Brockhaus ने Minas के स्थान में Minos का सुझाव दिया ह, BSGW. 1852, p. 18.

समय में प्रचलित था, और यह भी कि ३२१ में Constantine ने रविवार को विश्राम का दिन नियत करके सात दिन के सप्ताह की निश्चित स्वीकृति दी थी। परन्तु इस बात को ध्यान में रखना समुचित होगा कि ग्रहों के नामों के उपयोग को हम Dio Cassius से और भी बहुत पीछे तक ले जा सकते हैं, और यह कि उक्त तर्क पूर्णतः निर्णायक नहीं है। तो भी कुछ सीमा तक इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि किसी अभिलेख में इस प्रकार के नाम के उपयोग का प्रथम उदाहरण ४८४ ई० में मिलता है, जिसके बाद भी ८०० ई० तक यह विरल है।

८. वराहमिहिर की कविता

वराहमिहिर शैली में प्रायेण प्रभाव-युक्त और ओजस्वी हैं, और उनकी रचनाओं की विद्यमानता उनके समय से पूर्व काव्य के अनुशीलन के लम्बे युग को सिद्ध करती है। निम्न पद्य चाहे उनका हो या गर्ग का, उसमें मार्ग-दर्शक के विना राजा की दुर्दशा का वर्णन अच्छे शब्दों में किया गया है :

अप्रदीपा यथारात्रिरनादित्यं यथा नभः।
तथासांवत्सरो राजा भ्रमत्यन्ध इवाध्वनि ॥

'जैसे प्रदीप के बिना रात्रि, जैसे आदित्य के विना आकाश, इसी प्रकार फलित-ज्योतिषी के बिना राजा अन्धे मनुष्य के समान मार्ग में घूमता है।' दुर्भाग्यों का चित्रण प्रभावशाली ढंग से किया गया है :

वातोद्धतश्चरति वह्निरतिप्रचण्डो
　ग्रामान् वनानि नगराणि च संदिधक्षुः।
हा हेति दस्युगणपातहता रटन्ति
　निःस्वीकृता विपशवो भुवि मर्त्यसंघाः ॥

'वायु से प्रेरित अतिप्रचण्ड अग्नि ग्रामों, वनों और नगरों को मानों भस्म करने की इच्छा वाला विचरता है। लुटेरों के गणों के आक्रमणों से पीड़ित मनुष्य धन से रहित और पशुओं से हीन होकर संसार में हा हा करते हुए रोते हैं।'

अभ्युन्नता वियति संहतमूर्त्तयोऽपि
　मुञ्चन्ति न क्वचिदपः प्रचुरं पयोदाः।
सीम्नि प्रजातमपि शोषमुपैति सस्यं
　निष्पन्नमप्यविनयादपरे हरन्ति ॥

'आकाश में अभ्युन्नत और खूब घने बादल भी कहीं अच्छी वर्षा नहीं करते हैं। खेत में उपजा हुआ भी अनाज सूख जाता है, और यदि तैयार भी हो जाता है, तो दूसरे लोग उसे चुरा ले जाते हैं।' सौभाग्य के दिनों में परिस्थिति अतीव भिन्न होती है

क्षत्रं क्षितौ क्षपितभूतिबलारिपक्षम्
उद्घुष्टनैकजयशब्दविरावितासम् ।
संहृष्टशिष्टजनदुष्टविनष्टवर्गां
गां पालयन्त्यवनिपा नगराकराढ्याम् ॥

'पृथ्वी पर राज्य-शक्ति शत्रुपक्ष के ऐश्वर्य और बल को विनष्ट कर देती है, और उस दशा में दिशाएँ उद्घुष्ट अनेक जय शब्दों से शब्दायमान हो उठती हैं। नृपति-गण नगरों और खज़ानों से आढ्य ऐसी पृथ्वी का पालन करते हैं जिसमें शिष्टजन प्रसन्न रहते हैं और दुष्टों के वर्ग नष्ट हो जाते हैं।' पहली पंक्ति में ध्वनि का प्रभाव पूर्णतया स्पष्ट है, और अगली पंक्ति में वह बहुत स्पष्ट है, और यङन्त-प्रयोग कवि के व्याकरण ज्ञान को प्रकट करते हैं :

पेपीयते मधु मधौ सह कामिनीभिर्
जेगीयते श्रवणहारि सवेणवीणम् ।]
बोभुज्यतेऽतिथिसुहृत्स्वजनैः सहान्न-
मब्दे सितस्य मदनस्य जयावघोषः ॥

'वसन्त में कामिनियों के साथ में अच्छी तरह मधु-पान किया जाता है; वेणु और वीणा के साथ श्रवण-सुखद गीतों का प्रचुर गान किया जाता है। अतिथियों, सुहृदों और स्वजनों के साथ खूब भोजन किये जाते हैं और सित के वर्ष में कामदेव का जय-घोष चलता है।' एक सुभाषित-संग्रह में उद्धृत निम्नस्थ पद्य प्रभावशाली और हृदय-स्पर्शी है :

लोकः शुभस्तिष्ठतु तावदन्यः
पराङ्मुखानां समरेषु पुंसाम् ।
पत्न्योऽपि तेषां न ह्रिया मुखानि
पुरः सखीनामिह दर्शयन्ति ॥

'युद्धों में पराङ्मुख मनुष्यों के दूसरे शुभ लोक (अच्छे परलोक) की बात जाने दो,* इस लोक में उनकी पत्नियाँ भी सखियों के सामने लज्जा से मुख नहीं दिखाती हैं।'

वराहमिहिर द्वारा प्रयुक्त छन्दों की संख्या[1] और भी अधिक रोचक है। बृहत्संहिता में कोई चौंसठ छन्द आते हैं, जिनमें से ग्यारह अत्यन्त विरल और सन्दिग्ध-रूप वाले हैं। आर्या का प्राधान्य है; उसके बाद इन्द्रवज्रा कोटि के पद्य आते हैं, उसके बाद श्लोक, वसन्ततिलक, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, शालिनी,

---

* पहले पद्यार्ध का कीथ द्वारा दिया हुआ अर्थ स्पष्टतः भ्रान्त है। (मं० दे० शास्त्री)

१. Stenzler, ZDMG. xliv. 4 ff.

वैतालीय, और औपच्छन्दसिकः इनके अतिरिक्त सब यत्र-तत्र ही आते हैं, और बहुत से केवल १०४ में ही आये हैं। उनमें अनवसिता, अपरवक्त्र, कुसुमविचित्रा, कोकिलक अथवा नर्कुटक, तामरस, तोटक, दण्डक, दोधक, द्रुतविलम्बित, धीरललिता, पुष्पिताग्रा, पृथ्वी, प्रभावती, प्रमाणिका, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, भद्रिका, भुजङ्गप्रयात, भुजङ्ग-विजृम्भित, भ्रमरविलसित, मणिगुणनिकर, मत्तमयूर, मत्ता, मन्द्राक्रान्ता, माल्ती या वरतनु, मालिनी, मेघवितान, मेघविस्फूर्जित, मोटनक, रुक्मवती, रुचिरा, वंशपत्रपतित, वंशस्था, वातोर्मी, विद्युन्माला, वैश्वदेवी, शिखरिणी, शुद्ध-विराज्, श्रीपुट, सुवदना, स्रग्धरा, स्वागता, हरिणप्लुप्त, हरिणी, और उद्गता, द्रुतपद, विलासिनी, सुमानिका, तूणक, और विद्युन्माला के भेद ये छन्द सम्मिलित हैं। बृहज्जातक में तेंतीस छन्द प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से आठ में नियमों का विरोध है। इस प्रकार इस विषय में वराहमिहिर का कौशल अत्यन्त निपुण काव्य-लेखकों के कौशल के समान है।

९. फलित-ज्योतिष-विषयक परवर्ती ग्रन्थ

इस संदेहास्पद अथवा अनिश्चित शास्त्र की व्याख्या करने वाले परवर्ती लेखकों के विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस् ने जन्म-पत्रिकाओं पर एक **होराषट्पञ्चाशिका**[1] की रचना की थी, जिसकी व्याख्या भटोत्पल ने की। उन्होंने वराहमिहिर के सब ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखीं; बृहज्जातक पर उनकी टीका का समय ९६६ है। उन्होंने स्वयं पचहत्तर पद्यों में एक **होराशास्त्र** भी लिखा था। नष्ट हुए ग्रन्थों से लिये हुए अपने उद्धरणों के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्त्व है। **विद्यामाधवीय** (१३५० से पूर्व) वसिष्ठ, बृहस्पति, गार्ग्य, तथा अन्यों के उपदेशों को अपशब्दों के स्थान में शुद्ध भाषा में रखने का दावा करता है।

संदिग्ध प्राचीनता के अन्य ग्रन्थ विरल नहीं हैं, जिनमें **वृद्धवासिष्ठसंहित** और हर्षकीर्त्ति सूरिका जैन ग्रन्थ **ज्योतिषसारोद्धार** सम्मिलित हैं। **ज्योतिर्विदाभरण**[2] का निर्देश किया जा सकता है, क्योंकि यही वह स्रोत है जिससे विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों का प्रचलित मत लिया गया था; यह बिल्कुल परवर्ती काल का है, अरबी प्रभाव इसमें दिखाई देता है, और इसका समय सोलहवीं शताब्दी से पहले का होना आवश्यक नहीं है; इस पर १६६१ में टीका लिखी गई थी। धार्मिक कृत्यों, विवाहों, यात्राओं आदि के लिए शुभ मुहूर्तों पर भी अनेक ग्रन्थों की रचना

---

१. Ed. Calcutta, 1875.

२. Weber, ZDMG. xxii. 708 ff.; xxiv. 393 ff.

की गई थी; उनके नामों के प्रारम्भ में मुहूर्त्त शब्द प्रचलित है। जब मुसलमानी शासन में अरबी और मुसलमानी प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होने लगा तब **ताजिक** ग्रन्थों की रचना होने लगी। यह नाम 'अरबी' के अर्थ में प्रयुक्त फ़ारसी शब्द **तैजी** (Taiji) से निकला है। नीलकण्ठ का **ताजिक, संज्ञातन्त्र और वर्षतन्त्र** इन दो भागों में, १५८७ में लिखा गया था और वह अनेकानेक हस्तलेखों तथा सम्पादनों में उपलब्ध है।

शकुन और भावि-सूचना पर भी अनेक परवर्ती ग्रन्थ उपलब्ध हैं; **अद्भुत-सागर**[१] का प्रारम्भ बंगाल के वल्लालसेन ने ११६८ में किया था और उसको समाप्त लक्ष्मणसेन ने किया। **समुद्रतिलक** का प्रारम्भ गुजरात के राजा कुमारपाल के शासन में ११६० में नरसिंह के पुत्र दुर्लभराज ने किया था, और उसकी समाप्ति उनके पुत्र जगद्देव ने की। जगद्देव ने **स्वप्नचिन्तामणि**[२] को भी लिखा, जिसमें स्वप्नों की व्याख्या की गई है; इसमें लोक-कथाओं के साथ स्वप्न 'अभिप्रायों' (motifs) की समानता ध्यान देने योग्य है। धारा के अमरदेव के पुत्र नरहरि ने गुजरात के अजयपाल (११७४–७) के समाश्रय में अणहिल्लपत्तन में **नरपतिजयचर्या-स्वरोदय**[३] की रचना की थी। इसमें सांग्रामिक व्यापारों और साहसिक कार्यों की दृष्टि से भाविसूचना के साधन के रूप में रहस्यमय अक्षरों से युक्त ऐन्द्रजालिक क्षेत्रों (magic diagrams) के उपयोग का विचार किया गया है। रेखाओं अथवा अंकों द्वारा भावि-सूचना (geomancy) की कला का आदान पर्शिया से किया हुआ प्रतीत होता है, और इस विषय का निरूपण भयभञ्जनशर्मा के **रमलरहस्य**[४] में तथा परवर्ती काल के अन्य अनेक ग्रन्थों में किया गया है। **पाशककेवली** इस नाम से घनों द्वारा भाविसूचना (cubomancy) पर लिखे गय दो निबन्ध कहीं बहुत अधिक प्राचीन समय के हैं; प्राकृतिक प्रभाव के अनेक लक्षणों से युक्त भ्रष्ट संस्कृत में लिखे हुये ये बावर हस्तलेख (Bower MS.)[५] के चतुर्थ और पञ्चम भागों में सुरक्षित

---

१. Bhandarkar, *Report*. 1887-91, pp. lxxxii ff. Cf. IHQ. iii. 186-9.

२. J. von Negelein, *Der Tramschlüssel der Jagaddeva* (1912); cf. WZKM. xxvi. 403 ff.

३. Eggeling, IOC. i. 1110 ff. जगज्ज्योतिर्मल्ल की टीका (1614) के लिए दे० Haraprasād, *Nepal Catal.*, p. lxiii. Cf. Keith, IOC. ii. 836 ff.

४. उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ में, i. 1121 ff.

५. Hoernle, *Bower MS.* pp. 84 ff.

है। गर्ग[1] के नाम से प्रख्यात परवर्ती काल के छोटे-छोटे ग्रन्थ भी ज्ञात हैं, जो होरा शब्द से अपना परिचय देते हैं, और इसीलिए ग्रीक प्रभाव के युग को स्वयंसिद्ध मान लेते हैं।

---

१. J. E. Schröter, *Pāśakakevali* (1900); Weber, *Ind. Streif.*, i. 274 ff. सामान्यतः फलित-ज्योतिष के विषय में *Madras Catal.*, xxiv (1918), को भी देखिए।

अनुक्रमणिका १

(विषय-विवेचन की दृष्टि से)

अनूची

(अनुक्रमणिका १—क)

अनुक्रमणिका २

(प्रमुख ग्रन्थों–ग्रन्थकारों, तथा रोचक संदर्भों–उक्तियों–प्रयोगों की)

सर्व प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—

मोतीलाल बनारसीदास

संस्कृत, हिन्दी पुस्तक विक्रेता

पो० बा० ७५

नेपाली खपरा, वाराणसी।